

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं
श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः
प्रदीपः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं
विवरणम्

द्वितीय-तृतीयाध्यायौ



श्रीवल्लभाधीशो जयति

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

कंसारा बजार, मांडवी-कच्छ,

गुजरात-३७०४६५

Tel. 02834-231463

Email:gosharad@rediffmail.com

www.vallabhacharyaavidyapeeth.org

www.pushtimarg.net

सम्पादक :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्लो)

गोस्वामी श्रीशरदकुमार (मांडवी-कच्छ)

प्रकाशन वर्ष :

वल्लभाब्द ५३८,

वि.सं.२०७२, सन.२०१५

प्रति : ५००

मुद्रक :

पूर्वी प्रेस्, राजकोट

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकः

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	१०	प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी)	निःशुल्क	पुष्टिप्रवेश-१, ले. : गो.शरद् (गुज)	१०
पुष्टिप्रवेश-२, ले. : गो.शरद् (गुज)	१०	पुष्टिप्रवेश-१-२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	१०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	२०	पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	२०
प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	२०		
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद्			६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा	१५	साधनाप्रणाली संगोष्ठी	५०
अधिकारपरिचर्चा	१००	पुष्टिभक्तिमू कथासाधना संगोष्ठी	५०
शरणागति विचारगोष्ठी	५०	सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी	५०
पुष्टिभक्तितथा-प्रपत्तिमू प्रतिबन्ध	१००	जघन्याधिकार	८०
पुष्टिफलमीमांसा	१००	पुष्टिसिद्धान्तर्चासभा (विस्तृत-संक्षिप्तविवरण)*	

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा	२००	अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी	२००	प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	२००		
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी			निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठः

पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	१०	पुष्टिपाठावली (गुजराती)	१०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद)			२०

सन्दर्भग्रन्थः

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका			१०
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच			२५
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद्			१५
अमृत वचनावली (गुजराती)	निःशुल्क	अमृत वचनावली (हिन्दी)	निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थः

पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थूका			
पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय			१००
पुष्टिविधानम्-३ (ब्रजभाषा)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थूका			
शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका			१५०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (ब्रजभाषाटीका)	साधारण/राजसंस्करण		५०/७०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (ब्रजभाषाटीका)	साधारण/राजसंस्करण		८०/१००
श्रीभागवतमहापुराण, चार खण्डमू (गुर्जरभाषानुवाद)			४००
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत)			१०
गृहसेवा और ब्रजलीला(ब्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी			निःशुल्क
गृहसेवा अने ब्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी			अप्राप्य
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती)			अप्राप्य
श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी)			२५

श्रीकृष्णचरित्र(दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद)अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी ८०
श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक : पूर्ववत्.

श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण गुजराती अनुवाद सहित ५०
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क

जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थकी टीकाअष्टका गुजराती अनुवाद. ७०

सेवाकौमुदी^(हिन्दी), विषय : नवधाभक्ति, लेखक : श्रीलालूभट्टजी,
व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य

ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क

सेवा^{हिन्दी} (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क
सेवा^{गुज.} (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क

षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ४०

षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ४०

कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद ०७

पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(संस्कृत-गुज.-हिन्दी, द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण) १००

पुरुषोत्तमग्रन्थावली ६(संस्कृत, उपनिषद्-गीताविवृति) २००

इतिहास

आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव^{गुज.},
लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव^{हिन्दी.},
लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद
प्रथमस्कन्ध* द्वितीयस्कन्ध*

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य नि:शुल्क श्रीगोपीनाथप्रभुचरण नि:शुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण नि:शुल्क

गोशाला

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ: अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक

आदि अत्यावश्यक सुविधाआसुं सुसज्ज. २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे,

हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५० <http://www.vallabhacharyaavidyapeeth.org/>

पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीआकेलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थका

अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजु द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स से : विशेष जानकारीकेलिये

फोनसम्पर्क योगेन्द्रभाई: (+91) 9323733796 नीरजभाई(यु.एस्.ए.): +7325424165

ईमेलसम्पर्क: gosharad@rediffmail.com

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित
शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ

संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

- खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

- खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
खंड ३. द्वितीयाध्याय
खंड ४. तृतीयाध्याय
खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

- खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध
खंड ४. जन्मप्रकरण
खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
खंड ७. तामसफलप्रकरण
खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
खंड ९. राजससाधन-फलप्रकरण
खंड १०. सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

- खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः

संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका
७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्
८. प्रस्थानरत्नाकर
९. विद्वन्मण्डनम्
१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली
११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि
१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः
१३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत)

१४. पुष्टिविधानम्

गुजराती, ब्रज तथा संस्कृत संस्करण

१५. वादावली : ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद,

ब्रह्मजीवतदैक्य-स्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः,
प्रश्नोत्तरसाहस्री-पर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधिकरणसमालोचनम्,
केवलाद्वैत-वादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद,
अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः,
भागवतस्वरूपविषयकशंकांनिरासवादः, उपदेशादिविषयकशंकांनिरासवादः, भगवत्प्रति-
कृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्र-धारणवादः,
भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णो-च्चारणवादः,
स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकांनिरासवादः.

४ क्र.१, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड़ कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेश्वर-प्रभुचरण
आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकृ

- वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी)
 - पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)
 - विवेक (हिन्दी)
 - विशोधनिका (४खंड) (गुजराती-हिन्दी)
 - पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
 - नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी)
 - श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी)
 - सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)
 - सिद्धान्तसुक्ति (गुजराती)
 - भगवद्गीतासु भक्तियोग
 - वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति
 - पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती)
 - चतुःश्लोकी(हिन्दी)
 - रसदृष्टिनी तरफेणमां (हिन्दी-गुजराती)
 - गृहसेवा और ब्रजलीला (गुजराती-हिन्दी)
 - ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय)
 - सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)
 - चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुजराती)
 - पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य
 - अणुभाष्य(साधनफलाध्याय)भूमिका
 - नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण(गुज-हिंदी)
 - श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
 - शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
 - धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
 - भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकारः एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
 - साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
 - तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
 - तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न,
सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
 - श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
- म्पर्क :** गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, ब्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी, ४ था रास्ता, जुहु स्कीम,
विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई

॥ अनुक्रमणिका ॥

द्वितीयो अध्यायः

प्रथमः चरणः

(१-३५)

स्मृत्यधिकरणम्	०१
इतरेषामित्यधिकारणम्	०४
योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्	०४
न विलक्षणत्वाद् अधिकरणम्	०५
असत्प्रतिषेधाधिकरणम्	०८
शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्	१३
भोक्त्रापत्तेः इति अधिकरणम्	१३
तदनन्यत्वाधिकरणम्	१५
असदव्यपदेशाधिकरणम्	१९
इतरव्यपदेशाधिकरणम्	२२
उपसंहारदर्शनाधिकरणम्	२४
सर्वोपेताधिकरणम्	२९

द्वितीयः चरणः

(३६-८७)

रचनानुपपत्तेः इति अधिकरणम्	३६
पुरुषाश्मवद् इति अधिकरणम्	४३
महद्दीर्घवद् वा इति अधिकरणम्	४४
समुदाय उभयहेतुकेऽपि इति अधिकरणम्	५६
नाभावः उपलब्धेः इति अधिकरणम्	६९
नैकस्मिन्नसम्भवाद् इति अधिकरणम्	७३
पत्युरसामञ्जस्याद् इति अधिकरणम्	८०
उत्पत्त्यसम्भवाद् इति अधिकरणम्	८३

तृतीयः चरणः

(८८-१६५)

वियदिति अधिकरणम्	८८
एतेन मातरिश्वा इति अधिकरणम्	९९
असम्भवाधिकरणम्	१००
तेजोऽत इति अधिकरणम्	१००
आपः इति अधिकरणम्	१०२
पृथिव्यधिकारः इति अधिकरणम्	१०२

तदभिध्यानादेव इति अधिकरणम्	१०६
विपर्ययेण इति अधिकरणम्	१०७
अन्तरा विज्ञानमनसी इत्यधिकरणम्	१०८
नात्माश्रुतेः इति अधिकरणम्	११३
ज्ञोऽतएव इति अधिकरणम्	११४
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् इति अधिकरणम्	११७
तद्गुणसारत्वाद् इति अधिकरणम्	१२८
कर्ताशास्त्रार्थवत्वाद् इति अधिकरणम्	१३७
परात् तच्छ्रुतेः इति अधिकरणम्	१४८
अंशो नानाव्यपदेशाद् इति अधिकरणम्	१५१

चतुर्थः चरणः

(१६६-१९४)

तथा प्राणः इति अधिकरणम्	१६६
हस्तादयः इति अधिकरणम्	१७१
अणवश्च इति अधिकरणम्	१७४
श्रेष्ठश्च इति अधिकरणम्	१७४
चक्षुरादिवद् अधिकरणम्	१७७
ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम्	१८०
प्राणवता इति अधिकरणम्	१८४
तदिन्द्रियाधिकरणम्	१८८
सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिः इति अधिकरणम्	१९०
मांसादिभौमम् इति अधिकरणम्	१९१

तृतीयो अध्यायः

प्रथमः चरणः

(१९५-२४६)

रंहत्यधिकरणम्	१९५
अनुशयाधिकरणम्	२१६
अनिष्टादिकारिणाम् इति अधिकरणम्	२२५
विद्याकर्मणोः इति अधिकरणम्	२३१
तृतीयशब्दावरोधाधिकरणम्	२३५
अन्याधिष्ठिते इति अधिकरणम्	२४०
रेतःसिग्योगाधिकरणम्	२४२

द्वितीयः चरणः

(२४७-३२४)

सन्ध्याधिकरणम्	२४७
तदभावो नाडीषु इति अधिकरणम्	२५९
अतःप्रबोधः इति अधिकरणम्	२६२
उभयलिङ्गम् अधिकरणम्	२७०
अरूपवदेव हि इति अधिकरणम्	२७७
अम्बुवदग्रहणाद् इति अधिकरणम्	१८७
तदव्यक्तम् आह हि इति अधिकरणम्	२९५
प्रकाशादिवच्च इति अधिकरणम्	२९७
प्रकाशाश्रयवद्वा इति अधिकरणम्	३०१
परमतः सेतून्मानेति अधिकरणम्	३०८
फलमत इति अधिकरणम्	३२०

तृतीयः चरणः

(३२५-४७२)

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्	३२५
आत्मगृहीति अधिकरणम्	३६५
कार्याख्यानाद् इति अधिकरणम्	३६८
पुरुषविद्यायाम् इति अधिकरणम्	३७८
वेधाद्यधिकरणम्	३७९
सम्परायाधिकरणम्	३८७
गतेरर्थवत्वम् इति अधिकरणम्	३९१
उपपन्नाधिकरणम्	३९७
अनियमाधिकरणम्	४०१
आधिकारिकाधिकरणम्	४०४
अक्षरधियाम् इति अधिकरणम्	४०६
अन्तरा भूतग्रामवद् इति अधिकरणम्	४१३
सत्यादयः इति अधिकरणम्	४२०
आदरादलोपः इति अधिकरणम्	४२३
तन्निर्धारणाधिकरणम्	४२७
प्रदानवद् इति अधिकरणम्	४३०
लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्	४३३
व्यतिरेकाधिकरणम्	४५४
भूम्नः इति अधिकरणम्	४६२
नानाशब्दादिभेदाद् इति अधिकरणम्	४६६
विकल्पाधिकरणम्	४६७

काम्याधिकरणम्	४६८
अङ्गेषु यथाश्रयभावाधिकरणम्	४६९
समाहाराधिकरणम्	४६९
न वा तत्सहभावाश्रुतेः इति अधिकरणम्	४७०

चतुर्थः चरणः

(४७३-५४१)

पुरुषार्थोऽतः शब्दाद् इति अधिकरणम्	४७३
सर्वापेक्षा इति अधिकरणम्	५११
विहितत्वाच्च आश्रमकर्म इति अधिकरणम्	५१७
तद्भूतस्य इति अधिकरणम्	५२२
नच अधिकारिकम् इति अधिकरणम्	२२४
बहिस्तूभयथा इति अधिकरणम्	५२६
सहकार्यन्तराधिकरणम्	५२७
गृहिणोपसंहाराधिकरणम्	५३३
मुक्तिफलानियमः इति अधिकरणम्	५३८

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं
श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
द्वितीयो अध्यायः

प्रथमः पादः

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः इति चेद्, न,

अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्॥१॥ (२।१।१)

प्रथमाध्याये वेदान्तवाक्यानां विवादास्पदानां ब्रह्मपरत्वेन समन्वयः
प्रतिपादितः. अधुना श्रुतिस्मृत्यविरोधः प्रतिपाद्यते.

भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः ।

न तद्विरोधाद् वचनं वैदिकं शङ्क्यतां व्रजेत्॥

श्रुतिविप्रतिषेधस्तु अवश्यं प्रतिविधेयः. प्रथम-चतुर्थपादे सर्वथा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुतिस्मृत्यविरोधः श्रुत्योः श्रुतिस्मृत्योश्च इति अर्थः. **सर्वसमयानां**
श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादकसर्वसंकेतानाम्. **शङ्क्यतां** सन्दिग्धताम्. **श्रुतिविप्रतिषेधस्तु**

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादनिरूपितां द्वितीयाध्यायाद्यपादे सामान्यविशेषभाव-
सङ्गतिरूपाम् उपोद्घातरूपाम् अध्यायसङ्गतिम् आहुः **प्रथमाध्यायेति. वेदान्त-
वाक्यानाम्** आकाशादिवाक्यानाम्. **विवादास्पदानाम्** भूताकाशचिदाकाशपरत्वेन
विवादग्रस्तानाम्. **अधुना** द्वितीयाध्याये. **श्रुतिस्मृत्यविरोधः** इति. श्रुतिस्मृत्योः
श्रुत्योश्च, परस्परम् अविरोधः इति अर्थः. ननु अस्तु विरोधः का हानिः? इत्यतः पद्यम्
आहुः **भ्रान्तिः** इति. स्मृतिविरोधो यत्र दृश्यते तस्मिन् वैदिकवचने अयुक्तार्थ-
वाचकत्वांशे शङ्का अवश्यम् उत्पद्यते इत्येव हानिः, स्मृतीनां वेदमूलत्वात्. एवञ्च
साङ्ख्यस्मृतेः भ्रान्तिमूलकत्वात् तद्विरोधपरिहारे प्रयोजनाभावः इति भावः. **सर्वेति.**
साङ्ख्योक्तसर्वयुक्तिनियमानाम्. अथवा सर्वसमयानां, सर्वसङ्केतानाम्. **अयुक्तितः**
अयुक्तत्वात्. अत्र हेतुः, **भ्रान्तीति** पूर्वेण अन्वयः. **तद्विरोधात्** साङ्ख्यस्मृतिविरोधाद्
इति अर्थः. **शङ्क्यताम्** शङ्काविषयताम् इति पदार्थः. **श्रुतीति.** 'श्रुतिविप्रतिषेधः'
इति सप्तमीसमासः. तथाच अत्र उपनिषद्वाक्ये परस्परं ब्रह्मकारणत्वरूपार्थे यो विरोधः

अनुपयोगे प्रतिपादिते, स्मृतिप्रतिपादिते स्मृतित्ववचनेन प्रामाण्ये च यावत् तदप्रामाण्यं न प्रतिपाद्यते तावत् तद् विरोधः परिहर्तुम् अशक्यइति तन्निराकरणार्थं प्रथमतः सूत्रत्रयम् आह. तुल्यबलानां परस्परविरोधे न प्रकारान्तरस्थितिः इति ततो युक्त्या श्रुतिविप्रतिषेधपरिहारः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति विरुद्धार्थप्रतिपादकस्मृतिलौकिकयुक्तिभिः श्रुत्यप्रामाण्यं दूरीकर्तव्यम् इति अर्थः. अनुपयोगे साङ्ख्यादिस्मृत्यनुपयोगे. स्मृतित्ववचनेन “स्मृतेश्च” (ब्रह्मसू. १।२।६) इत्यादिवचनेषु स्मृतिप्रामाण्यनिरूपणेन. तद् अप्रामाण्यं श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादकानां सर्वेषाम् अप्रामाण्यम्. तन्निराकरणार्थं विरुद्धार्थानां प्रामाण्यनिराकरणार्थम्. श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादकस्मृतीनां युक्तीनां च प्रामाण्यप्रकारम् आहुः तुल्येत्यादि. न प्रकारान्तरस्थितिः उभयोः अप्रामाण्यनिर्णयाद् अप्रामाण्यमेव इति अर्थः. ततः श्रुतिविरुद्धवाक्यानां सूत्रत्रयेण निराकरणानन्तरम्. युक्त्या करणीभूतया. परिहारः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सः सर्वथा परिहर्तव्यः इति अर्थः. ननु उक्तमेव तद्विरोधपरिहारे प्रयोजनाभावः इति किमर्थं साङ्ख्यमतनिराकरणार्थं प्रथमसूत्रत्रयम्? इत्यतः साङ्ख्यमते अप्रामाण्यकथनं विना भ्रान्तिमूलकत्वनिश्चयो न भविष्यति इति आहुः प्रथमेति. प्रतिपादिते इति. आनुमानिकाद्यधिकरणैः साङ्ख्यमतस्य अनुपयोगे प्रतिपादितः इति अर्थः. स्मृतीति. “स्मृतेश्च” इति सूत्रेण स्मृतेः प्रामाण्ये प्रतिपादित इति अर्थः. स्मृतित्ववचनेन इति. साङ्ख्यस्मृतौ इति शेषः. प्रामाण्ये इति. आत्मज्ञानादिषु तस्याः प्रामाण्ये प्रतिपादित इति अर्थः. ननु एवं चेद् आगतं साङ्ख्यप्रामाण्येन इत्यतः आहुः यावद् इति. तदप्रामाण्यम् इति. प्रकृतिकारणत्वांशे अप्रामाण्यम् इति अर्थः. तथाच पूर्वतन्त्रे “औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेद्” (लाट्या.श्रौ.सू.२।६।२) इति प्रत्यक्षश्रुतिः. “औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या” (.....) इति स्मृतिः. एवञ्च स्मृत्या सर्ववेष्टने विधीयमाने श्रुत्युक्तं स्पर्शनं न सम्भवति इति वेष्टनस्मृतेः लोभमूलकत्वेन अप्रामाण्यं यथा प्रतिपादितं तथा अत्रापि ब्रह्मकारणत्वप्रतिपादकश्रुत्या साङ्ख्यस्मृतेः भ्रान्तिमूलकत्वं कल्पनीयम्. एवञ्च अप्रामाण्यम् इति भावः. तन्निराकरणार्थम् स्मृतित्वप्रयुक्तप्रामाण्यनिराकरणार्थम्. निराकरणप्रकारम् आहुः तुल्यबलानाम् इति. साङ्ख्ययोगस्मृतीनाम् इति अर्थः. विरोधे इति. साङ्ख्यमते निरीश्वरत्वं योगमते च वेदप्रवर्तकत्वेन सेश्वरत्वम् इति विरोधे सति इति अर्थः. न प्रकारान्तरस्थितिः इति.

ततो द्वितीये पादे वेदबाधकत्वाभावेऽपि तैरपि स्वातन्त्र्येण कश्चन पुरुषार्थः सेत्स्यति इति आशङ्क्य बाह्याबाह्यमतानि एकीकृत्य निराकरोति, भ्रान्तेः तुल्यत्वात्. ततः सम्यग् वेदार्थविचारायैव वैदिकपदार्थानां क्रमस्वरूपविचारः पादद्वयेन. अतः सम्पूर्णेनापि अध्यायेन अविरोधः प्रतिपाद्यते.

कपिलादिमहर्षिकृतस्मृतेः न मन्वादिवद् अन्यत्र उपयोगः, मोक्षैकोप-योगित्वात्. तत्रापि अनवकाशे वैयर्थ्यापत्तेः **इति चेद्, न.** कपिलव्यतिरिक्त-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रत्रयातिरिक्तसूत्रकृतः. एवं प्रथमपादार्थः उक्तः. ततः प्रथमचरणेन उक्तविरोध-परिहारानन्तरम्. **वेदबाधकत्वाभावेऽपि** बाह्याबाह्यमतप्रतिपन्नार्थे वेदबाधकत्वा-भावेऽपि इति अर्थः. ततः द्वितीयचरणनिरूपणानन्तरम्. **पादद्वयेन** तृतीय-चतुर्थपादद्वयेन ॥१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सुन्दोपसुन्दन्यायेन एकस्यापि मतस्य स्थितिः निर्णयो न इति अर्थः. सूत्रत्रयानन्तरं वक्तव्यम् आहुः ततः इति. 'युक्त्या' इतिपदं श्रुतिविप्रतिषेधपरिहारेऽपि अन्वेति. द्वितीयपादार्थम् आहुः ततः इति. द्वितीये तर्कपादे. **वेदबाधकत्वाभावेऽपि** इति. भ्रान्तिमूलकत्वेन अप्रामाण्याद् इति शेषः. ननु बाह्यादिमतानां बाधकत्वाभावे निराकरणं किमर्थम्? अतः आहुः तैरपि इति. तन्मतोक्तसाधनैः इति अर्थः. **कश्चन पुरुषार्थः** यत्किञ्चित् मोक्षरूपः. **सेत्स्यति** सिद्धो भविष्यति. **बाह्याबाह्येति.** बाह्यास्तित्ववादिनो बाह्यबौद्धाः, आन्तरविज्ञानवादिनो अबाह्यबौद्धाः तेषां मतानि इति अर्थः. फलानुपयुक्तत्वात् तन्मतनिराकरणम् इति भावः. ततः इति. द्वितीयपादानन्तरम्. **क्रमस्वरूपविचारः** इति. तृतीये भूतोत्पत्तिक्रमः, चतुर्थे इन्द्रियोत्पत्तिक्रमः इति क्रमस्वरूपविचारः इति अर्थः. अतः एतादृशार्थप्रतिपादनात्. अध्यायप्रयोजनकथनानन्तरं सूत्रार्थं विवृण्वन्ति **कपिलादीति.** तथाच कपिलादि-स्मृतिस्तु वस्तुतत्त्वनिरूपणे प्रवृत्ता नतु धर्मं प्रतिपादयति मन्वादिस्मृतिवत्. श्रुतिस्तु धर्ममपि प्रतिपादयति. तथाच ब्रह्मणि बाध्यमाना श्रुतिः धर्मे सावकाशा भविष्यति इति दुर्बला. स्मृतिस्तु तत्त्वनिरूपणे बाध्यमाना निरवकाशा स्याद् इति प्रबला इति, निरवकाशं शास्त्रं प्रबलम् इति न्यायो अत्र प्रवर्तते इति पूर्वपक्ष्याशयः इति भावः. प्रतिबन्धा उत्तरम् आहुः **कपिलादिव्यतिरिक्तेति.** यस्यां स्मृतौ केवलं ब्रह्मैव जगत्कारणम् इति प्रतिपाद्यते तस्याः बाधे सा निरवकाशा स्यादिति

शुद्धब्रह्मकारणवाचक-स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः. “अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा” (भग.गीता ६।७) इति॥१॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे प्रथमं स्मृत्यधिकरणम्॥१॥

इतरेषां चानुपलब्धेः॥२॥ (२।१।२)

प्रकृतिव्यतिरिक्तानां महदादीनां लोके वेदे च अनुपलब्धेः॥२॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे द्वितीयम् इतरेषाम् इति अधिकारणम्॥२॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः॥३॥ (२।१।३)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लोके गीतापुराणादिस्मृतौ प्रश्नोपनिषच्छ्रुतौ च उपलभ्यमानत्वेऽपि कपिलोक्तप्रकारेण **अनुपलब्धेः** इति अर्थः. कपिलीय(?कपिलेय)प्रवचनसूत्रेषु तावत् पृथिव्यादि-पञ्चमहाभूतरूपस्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैः अहङ्कारस्य तेन अन्तःकरणस्य महत्तत्त्वरूपस्य ततः **प्रकृतेः** इति सूत्रयता पञ्चभूतव्यतिरिक्तानां भूतकारणमात्राणां मात्राकारणाहङ्कारस्य अहङ्कारकारणमहत्तत्त्वस्य महत्तत्त्वकारण-प्रकृतेः इत्येवंरीत्या स्थूलपञ्चभूतरूपकार्येण मात्राणां तत्कारणानाम् एवं मात्राभिः सकारणानुमानम् इत्येवं प्रयोगः प्रत्युक्तः. पञ्चभूतानां मध्ये आकाशस्य नित्यत्वाद् इतरभूतकारणतापि परमाणुगतैव आयास्यति नतु मात्रासु इति हेतोः इति अर्थः. इत्थं च **लोक-वेदयोः** सांख्यमूलासङ्गतिः व्याख्याता॥२॥१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अन्यस्मृत्यनवकाशदोषः स्यात्. तथाच वैतण्डिकत्वापातभिया स्वमते यो दोषः सः परमतेन उद्भावनीयः इति भावः. अन्यस्मृतिरूपं गीतावचनम् आहुः **अहम्** इति॥१॥

साङ्ख्यैः तावत् “**मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त**” (सांख्यका.३) इति वचनाद् महदादयोऽपि स्वीक्रियन्ते तद् निराकरोति **इतरेषां चानुपलब्धेः. लोके वेदे च** इति. लोके गीतादिस्मृतौ, वेदे उपनिषदि. पुराणादौ च उपलभ्यमानत्वेऽपि साङ्ख्यमतोक्तरीत्या उपलभ्यमानत्वाभावात्॥२॥

योगं निराकर्तुं योगाधिकरणम् अतिदेशसूत्रेण आहुः **एतेन योगः प्रत्युक्तः.** संशयस्तु योगस्मृत्या वैदिकसमन्वयसङ्कोचो भवति वा न वा? इति. अत्र संशयबीजन्तु योगस्मृतेः वेदमूलत्वं पतञ्जलिप्रणीतत्वं च. पूर्वपक्षस्तु श्वेताश्वतरोपनिषदि “**त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्**”(श्वेता.उप.२।८) इत्यादि-योगोक्तविषयाणां सत्त्वात् तस्याः वेदमूलत्वम्. तथाच तस्यां प्रधानस्य कारणत्वं

साङ्ख्यस्मृतिनिराकरणेन योगस्मृतिरपि निराकृता द्रष्टव्या. योगस्य वैदिकत्वशङ्कया भेदेन निराकरणम्॥३॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे तृतीयं योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्॥३॥

न विलक्षणत्वाद् अस्य तथात्वं च शब्दात्॥४॥ (२।१।४)

बाधको अयं तर्कः. अस्य जगतो विलक्षणत्वाद् अचेतनत्वात् चेतनं न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

योगस्मृतिः पातञ्जलदर्शनं हिरण्यगर्भस्मृतिश्च सापि प्रकृतिस्वातन्त्र्याद्यंशे सोपाधिकेश्वरस्वरूपांशे च निराकृता इति अर्थः. अत्र संशयः योगस्मृत्या उपनिषच्छ्रुतीनां सङ्कोचो भवति न वा? इत्याकारकः, श्वेताश्वतरोपनिषदि “त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदिन्द्रियाणि मनसा निवेश्य” (श्वेता.उप.२।८) इति, “पृथिव्यप्-तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते, न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्” (तत्रैव २।१२) इत्यादिमन्त्रार्थवादाद् वैदिकत्वात् सङ्कोचः कार्यः इति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तस्तु अब्रह्मात्मके प्रधाने उपादानताङ्गीकारात् सोपाधिकब्रह्मप्रतिपादनाच्च न तस्मृत्या श्रुतिसङ्कोचः इति भावः॥३॥२॥

मास्तु सांख्यस्मृत्या श्रुतिसमन्वयबाधः तथापि तदीयेन तर्केण बाधो भविष्यति इति आह सूत्रद्वयेन न इत्यादि. **बाधकः** इत्यादि. **विलक्षणत्वाद्** ब्रह्मगुणैः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

व्यवस्थापितमिति तथा समन्वयसङ्कोचो अयुक्तः इति. सिद्धान्तस्तु **साङ्ख्य-स्मृतीत्यादि**. यथा प्रधानकारणतास्वीकारेण साङ्ख्यस्मृतिनिराकरणं तथा योगस्मृतेः इति आशयेन आहुः **योगस्मृतिरपि** इति. **वैदिकत्वशङ्कया** इति. “दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या” (कठोप.३।१२) इति उपनिषदि दर्शनस्य बुद्धिसूक्ष्मतापि साधनत्वेन अभिहिता. तथाच सा योगं विना न सम्भवति इति किञ्चिद् योगप्रदर्शनं श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रतिपादितं, तेन च योगस्मृतेरपि वैदिकत्वशङ्का जायते इति भावः. **भेदेन** इति. पृथग् अतिदेशसूत्रेण इति अर्थः॥३॥

इतः परं साङ्ख्येन तर्केण प्रतिपादितं श्रुतिसमन्वयबाधं निराकर्तुं न विलक्षणत्वाधिकरणम् आहुः **न विलक्षणत्वाद् अस्य तथात्वं च शब्दात्**. समन्वय-बाधकः तर्को भवति न वा? इति संशयं मनसि निधाय सूत्रद्वयेन तर्कस्य बाधकत्वम् इति पूर्वपक्षम् आहुः **बाधको अयम्** इति. तर्कस्वरूपन्तु : अचेतनं जगत् चेतनाद् ब्रह्मणः सकाशाद् न जायते, विलक्षणत्वात्. यद् येन विलक्षणं तत् तस्माद् न जायते, यथा

कारणम्. विलक्षणत्वं शब्दात् “विज्ञातं च अविज्ञातं च” (तैत्ति.उप.२।६) इति. प्रत्यक्षस्य भ्रान्तित्वं मन्यामानस्य इदं वचनम्॥४॥

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्॥५॥

“मृदब्रवीद्, आपोब्रुवन्” (शत.ब्राह्म.६।१।३।२।४) “तत्तेज ऐक्षत” (छान्दो.उप.६।२।३) “ते ह वाचम् उचूस्त्वं न उद्गाय” (तत्रैव १।३।२) इत्येवमादिश्रुतिभिः भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वं प्रतिपाद्यते इति आशङ्क्य ‘तु’शब्देन निराकरोति, तत्तदभिमानिन्येव देवताः तथा वदन्ति. कुतः? वेदएव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विलक्षणत्वात्. चेतनम् अप्रधानम्. न कारणं न समवायिकारणम् इति साध्योपदेशः. कारणम् इति अंशित्वस्यापि उपलक्षणं दुःखजडत्वाज्ञत्वादीनां जीवजडानां विलक्षणत्वाद्, वैलक्षण्यप्रत्यक्षस्य भ्रान्तित्वसम्भवाद्. वैलक्षण्ये साधकान्तरं शब्दप्रमाणम् आह शब्दाद् इति. विज्ञातं जगद् अविज्ञातं ब्रह्म इति शाब्दं वैलक्षण्यम्. इदं वचनं शब्दप्रमाणप्रदर्शनम्॥४॥

निराकरोति वादी निराकरोति. वेदः इत्यादि. विशेषोक्तेः विभागोक्तेः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

मयूराद् बकः. इमं तर्कं सूत्रव्याख्यानेन विशदयन्ति अस्य इति. इदं च पूर्वोत्तरान्वयी. अस्य तथात्वं, विलक्षणत्वम् इति अर्थः. शब्दाद् वेदात्. वेदवाक्यमेव आहुः विज्ञातम् इति. इदं तैत्तिरीयोपनिषदि. ननु विशुद्धं सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्म वेदवाक्यात् श्रुतमेव अस्ति, जगत्तु जाड्यमोहात्मकं दृश्यतएवेति प्रत्यक्षं विहाय शाब्दपरोक्षपर्यन्तानुधावनम् अनुचितम् अतः आहुः प्रत्यक्षस्य इति. मन्यमानस्य इति. साङ्ख्येकदेशिनः इति शेषः. तथाच एकदेशिनां मते जगतोऽपि जीवजडात्मकत्वाद्, जीवांशे चेतनत्वाद्, ब्रह्मविलक्षणत्वाभावेन “इदं जगद् ब्रह्मविलक्षणम्” इति प्रत्यक्षस्य भ्रमात्मकत्वेन तर्के अप्राण्यं स्याद् इति श्रुतिपर्यन्तानुधावनम् इति भावः.

पूर्वपक्षी, उपनिषदि इन्द्रियाणां प्राणस्य च श्रेष्ठत्वांशे विवादः श्रूयते, तदनन्तरं च विवादग्रस्तानां ब्रह्मणः समीपे गमनं च श्रूयते, मृदादीनामपि वाग्व्यापारः श्रूयते इति जगतोऽपि चेतनत्वम् इति आशङ्का निराकरोति अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानु- गतिभ्याम्. अभिमानिनां तत्तद्देवतानां व्यपदेशः, श्रुतौ व्यवहारः स्वीक्रियते, नतु मृदादीनां चेतनत्वम्. कुतः? विशेषानुगतिभ्याम्. विशेषः विशेषवाक्यम्, अनुगतिः प्रवेशः इति. सूत्रार्थं विशदयन्ति तत्तदभिमानिन्यः इत्यादिना. पक्षान्तरे ‘विशेष’पदस्य

“विज्ञातं चाविज्ञातं च” (तैत्ति.उप.२।६) इति चेतनाचेतनविशेषोक्तेः, अनुगतत्वाच्च. “अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्” (ऐत.उप.२।४) इत्येवमादि-विशेषानुगतिभ्याम् अभिमानित्वम् इति अर्थः. ‘देवता’पदं च श्रुत्यन्तरे॥५॥

दृश्यते तु॥६॥

परिहरति. ‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. दृश्यते हि कार्यकारणयोः वैरूप्यं, केशगोमयवृश्चिकादौ. चेतनाद् अचेतनोत्पत्तिनिषेधे तदंशस्यैव निषेधः. तुल्यांशसम्पत्तिश्चेत् प्रकृतेऽपि सदंशः॥६॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे चतुर्थं न विलक्षणत्वाद् अधिकरणम्॥४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अनुगतत्वाद् अनुप्रविष्टत्वाद् इति अर्थः. तथाच यदि जगति अविशेषत्वं ब्रह्मणो अभिप्रेयाद् विभेदम् अनुप्रवेशं च वेदो न ब्रूयाद् इति अर्थः. देवतापदम् अभिमानिनां देवतात्वबोधकं पदम् इति अर्थः॥५॥

तदंशस्यैव चैतन्याद् जडांशस्यैव. ननु केश-गोमययोः जडांशस्यैव कारणत्वं न चैतन्यांशस्य वृश्चिकेऽपि जडस्य गोमयस्य जडांशएव कारणत्वं न चैतन्यांशेऽपि कार्यकारणयोः न साजात्यव्यभिचारः इत्यतः आहुः तुल्यांशेत्यादि. तथाच प्रकृतेऽपि जडं प्रति सदंशः, जीवं प्रति चिदंशः, अन्तर्यामिणं प्रति आनन्दांशः इति सजातीयानामेव कार्यकारणभावावगमाद् न व्यभिचारगन्धोऽपि इति अवसेयम्॥६॥३॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विशेषणत्वार्थकत्वम् आहुः देवतापदम् इति. श्रुत्यन्तरे छान्दोग्ये “हन्ताहम् इमाः तिस्रो देवता” (छान्दो.उप.६।३।२) इत्यनेन ‘देवता’पदं तेजोऽबन्धानां विशेषणं श्रूयते इति अर्थः॥५॥

एवञ्च जडस्य जगतः प्रधानकार्यत्वमेव इत्येवं प्राप्ते समाधानम् आहुः दृश्यतेतु. परिहरति इति. दृश्यते इत्यनेन पूर्वपक्षं परिहरति इति अर्थः. तुशब्दः इति. विलक्षणयोः कार्य-कारणभावो नास्ति इति इमं पक्षं दूरीकरोति इति अर्थः. कया युक्त्या दूरीकरोति? इत्यतः आहुः दृश्यते हि इत्यादिना. वैरूप्ये दृष्टान्तम् आहुः केशेति. दृश्यते इति पूर्वेण अन्वयः. तथाच चेतनात् केशानाम् उत्पत्तिः अचेतनाद् गोमयात् चेतनस्य वृश्चिकस्य उत्पत्तिः इति विलक्षण्यं दृश्यते इति अर्थः. ननु अस्तु विरूपयोरपि कार्य-कारणभावः. मयातु चेतनाद् अचेतनोत्पत्तिः बहुधा न दृष्टेति तावन्मात्रं निषिध्यते इत्यतः आहुः तदंशस्यैव इति. जडांशस्यैव इति अर्थः. तथाच

असद् इति चेद् न प्रतिषेधमात्रत्वात्॥७॥ (२।१।५)

श्रुतौ कारणत्वेन ‘असद्’ उक्तम् इति चेद्, न, प्रतिषेधार्थमेव वचनम्. “कथम् असतः सद् जायेत” (छान्दो.उप.६।२।२) इति कार्यस्य वा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रतिषेधेत्यादि. तथाच “असदेवेदमग्र आसीद्” (छान्दो.उप.३।१९।१) इति यत् श्रुतौ उक्तं तत् केषाञ्चिद् मते सत्कारणत्वेन उच्यमानं यत् तन्निषेधायैव. निषेधमेव अग्रे आह कथम् इत्यादिना. पूर्वं प्रतिषेधः इति पूर्वं कार्याविर्भावात् पूर्वम्. प्रतिषेधः अनाविर्भूतलक्षणः कारणावस्थया स्थितिरूपः. ब्रह्मकारणत्वाय ब्रह्मणः सकाशात् कार्यावस्थया कार्याणाम् आविर्भावाय इति अर्थः॥७॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

जगतः जडचिदन्तर्यामिरूपत्वेन एकांशनिषेधे न कापि क्षतिः इति भावः. ननु एवं चेत् प्रधानाद् जगदुत्पत्तिः स्वीकृतवता मया किमपराद्धम्? जडांशनिषेधो भवन्मते च मन्मते च चैतन्यांशनिषेधः. तुल्यांशसम्पत्तिस्तु मतद्वयेऽपि नास्ति इति आशङ्क्य समाधानम् आहुः तुल्यांशेति. चेद् इति. तव अपेक्षिता चेद् इति अर्थः. प्रकृतेऽपि मन्मतेऽपि. सदंशः. अस्ति इति शेषः. तथाच सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणः सदंशः जडे, चिदंशः जीवे, आनन्दांशः अन्तर्यामिणि इत्येवं रूपेण जडचिदन्तर्यामिरूपे जगति तुल्यांशसम्पत्तिः अस्ति इति मन्मतमेव समीचीनम्. न अत्र श्रुत्यननुगृहीतः शुष्कः तर्को बाधकः इति भावः॥६॥३॥

ननु इदानीं जगति सदंशसत्त्वेऽपि ब्रह्मणः श्रुतौ असत्त्वमेव उच्यते इति तुल्यांशसम्पत्तिः नास्ति इति आशङ्कापरिहारार्थम् असत्प्रतिषेधाधिकरणं सप्तभिः सूत्रैः आहुः असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्.

श्रुतौ “असद्वा इदमग्र आसीद्” (तैत्ति.उप.२।७) इति तैत्तिरीयश्रुतौ. प्रतिषेधार्थम् इति. पूर्वम् असद् इति अनुक्त्वा असद् न भवति किन्तु सदेवेति प्रतिषेधः कर्तुं न शक्यते इति प्रतिषेधार्थमेव श्रुतौ ‘असद्’ इति वचनं, नतु ब्रह्म असद् इति अर्थः. तथाच उक्तं छान्दोग्ये “तद्वैक आहुः असदेवेदम् अग्र आसीद्” (छान्दो.उप. ६।२।१) इति मतान्तरीयम् असद् अनूद्य “कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यात्” (तत्रैव ६।२। २) इति निषिध्यते. तथाच अनुवादं विना निषेधो न सम्भवतीति ‘असद्’ इत्यस्य अनुवादः श्रुतौ उक्तः इति भावः. श्रुतौ प्रतिषेधम् उक्त्वा युक्त्या प्रतिषेधम् आहुः कथम् इति. तस्माद् असद् न भवति इति अर्थः. “असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद्

पूर्वप्रतिषेधो ब्रह्मकारणत्वाय॥७॥

अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गाद् असमञ्जसम्॥८॥

पूर्वपक्षम् आह. अपीतिः लयः. कार्यस्य कारणलये तद्वत्प्रसङ्गः. स्थौल्य-सावयवत्व-परिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वादिधर्मसम्बन्धावश्यकत्वाद् असमञ्जसं ब्रह्मकारणवचनम्॥८॥

न तु दृष्टान्तभावात्॥९॥

नैव अस्मदीये दर्शने किञ्चिद् असमञ्जस्यम् अस्ति इति 'तु'शब्देन परिहरति. स्वपक्षस्थापन-परपक्षनिराकरणयोः विद्यमानत्वाद् 'न तु' वचनम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तद्वत्प्रसङ्गः कारणस्य कार्यसमानताप्रसङ्गः. समानतामेव आह स्थौल्ये-
त्यादिना. ब्रह्मकारणवचनं ब्रह्मणि कारणे कार्यस्य लयवचनम् इति अर्थः॥८॥

नतु वचनं सूत्रे 'नतु' इति पदद्वयवचनम्. प्रसिद्धः इति शरावरूचकानां मृदि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अजायत" (तैत्ति.उप.२।७) इत्यनेन इदं परिदृश्यमानं जगद् अग्रे प्रथमतः न स्थितं, ततः तदनन्तरं प्रकटीभूतम् इत्येव सदसदोः अर्थ इति आहुः कार्यस्य इति. इदं च किमर्थम् उक्तं श्रुतौ? इत्यतः आहुः ब्रह्म इति. एतेन अनादिरेव अयं प्रपञ्चः इति न कोऽपि अस्य कर्ता इति मीमांसकैकदेशिमतम् असत्कारणवादमतं च निरस्तम्. वा शब्दो अनास्थायाम्. इदन्तु समीचीनतया प्रतिभाति "सो अकामयद्" (तैत्ति.उप.२।६) इति पूर्वश्रुत्युक्तसृष्टेः समीचीनत्वबोधनाय असाधुवाचकः 'असच्छ'ब्दः उक्तो अत्र उत्तरश्रुत्युक्तसृष्टेः समीचीनत्वबोधनाय साधुवाचकसच्छब्दः उक्तः. अतएव अत्र ब्रह्मणः सुकृतत्वं, रसत्वं च उक्तम्. "तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते" (तैत्ति.उप.२।७) इति, "रसो वै सः" (पूर्ववत्) इत्यादिना. इदं चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे स्पष्टम्॥७॥

पूर्वपक्षम् इति. ब्रह्मणः कारणत्वे स्थिरीकृते, पुनः लौकिकीं युक्तिं प्रदर्श्य साङ्ख्यः पूर्वपक्षम् आह इति अर्थः. अपीतौ इत्यस्य अर्थम् आहुः कार्यस्य इति. ब्रह्म कारणं चेत् तत्र कार्यस्य जगतो लये अवश्यम् वक्तव्ये सति इति अर्थः. ननु लये सति किं दूषणम्? अतः आहुः तद्वत्प्रसङ्गाद् इति. जगद्वति धर्मवत्त्वप्रसङ्गाद् इति अर्थः. ननु के ते धर्माः? इत्यतः आहुः स्थौल्येति. तथाच एतादृशधर्मचतुष्टयसम्बन्धः स्याद् ब्रह्मणोऽपि, जगत्कारणं ब्रह्म इति त्वदीयं वचनम् असमञ्जसम् इति अर्थः॥८॥

समाधानम् आहुः नतु दृष्टान्तभावाद् इति. नतु इति पदद्वयेन असमञ्जस्य

ततः उत्पन्नस्य तत्र लये न कार्यावस्थाधर्मसम्बन्धः शराव-रुचकादिषु प्रसिद्धः.
भवतां परं न दृष्टान्तो अस्ति॥९॥

स्वपक्षदोषाच्च॥१०॥

स्वपक्षे च एते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः. निर्विशेषात् प्रधानात्
सविशेषस्य कार्यता. तस्य उत्पत्तिः. लये तद्धर्मसम्बन्धः असत्कार्यवादप्रसङ्गः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लये तेषां धर्माः मृदि प्रसिद्धाः इति न इति अर्थः. इत्थं च कार्याणां ब्रह्मणि लये अयम्
एकदृष्टान्तो अस्माकम्. **भवताम्** इत्यादि. लये यावत् कार्यधर्माणां कारणे दर्शने
दृष्टान्तो नास्ति इति अर्थः॥९॥

अथ शास्त्रीयकारणदृष्टान्तः उच्यते तदा स्वगृहं दृष्ट्वा पश्चाद् वाच्यम्.
तवापि निर्विशेषात् प्रधानात् सविशेषस्य शब्दादिमते उत्पत्तिः अतः कार्यकारणयोः
वैजात्यं कार्यस्य उत्पत्तिः न कारणस्य इत्यपि वैलक्षण्यम्. एवं विलक्षणकार्योत्पत्तेः पूर्वं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

स्पर्शोऽपि नास्ति इति सूचितम्. तत्र हेतुम् आहुः **स्वपक्षेति. नतु वचनम्** इति.
कारणवचनम् असमञ्जसं नास्ति इति अर्थः. लये कार्यधर्मसम्बन्धः कारणे इतितु शास्त्रे
क्वापि न दृष्टं, लोकेऽपि नास्ति इत्येवं रीत्या स्वपक्षस्थापनम् आहुः **ततः** इति. **तत्र**
लयः इति. कारणे कार्यस्य लयः इति अर्थः. **न कार्यावस्था** इति. लोके शरावादिषु
प्रसिद्धः कार्यावस्थाधर्मचतुष्टयसम्बन्धः कारणे नास्ति इति अर्थः. **शरावो** मृद्भाजनं
रुचकं सुवर्णभाजनं, शरावस्य मृद्भावे “**वातोद्धतं रजः शुचि**”(.....)
इति वचनात् शुचित्वम्. अन्ये स्थौल्यादयो धर्माः प्रत्यक्षतएव उपलभ्यन्ते. एवं
सुवर्णभाण्डेऽपि अग्निसम्बन्धेन द्रवीभूते शुचित्वं बोध्यम्. तथाच एवम् असमञ्जस्य
अभावाद् ब्रह्मैव जगत्कारणमिति स्वमतस्थापनम् इति भावः. परपक्षनिराकरणम् आहुः
भवताम् इति. लोके कारणे कार्यस्य लये जाते कार्यधर्माणां दर्शनाभावात् तवैव
असमञ्जस्यम् इति परमतखण्डनम् इति भावः॥९॥

स्वपक्षदोषाच्च. स्वमते दोषम् अनुद्धृत्य परमते दोषोद्भावनं वितण्डा इति
तव वैतण्डिकत्वम् इति आहुः **स्वपक्षे च एते** इति. **साधारणाः** इति. उभयपक्ष-
साधारणाः इति अर्थः. तेन, “यश्च उभयः समो दोषः” इति न्यायेन अनुद्भाव्या इति
अर्थः. “मूलप्रकृतिः अविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त” (सांख्यिका.३)
इति तव मतं, तत्र दोषम् आहुः **निर्विशेषाद्** इति. **सविशेषस्य** इति. महदादेः इति

तथैव कार्योत्पत्तौ कारणाभावेन नियमाभावः. भावे वा मुक्तानामपि पुनः
बन्धप्रसङ्गः॥१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादपि अन्यथानुमेयम् इति चेद्

एवमपि अविमोक्षप्रसङ्गः॥११॥

वेदोक्ते अर्थे शुष्कतर्केण प्रत्यवस्थानम् अयुक्तम्, तर्कस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वैलक्षण्याभावाद् असत्कार्यवादापत्तिः, वैलक्षण्यस्य पूर्वं सत्त्वाङ्गीकारे “एतद् अनन्तरम्
एतद् उत्पद्यते” इत्यत्र नियामकाभावः विनैव नियामकं क्रमाङ्गीकारे
आकस्मिकत्वापत्तिः. अथ क्रमेण कार्ये मिथ्याज्ञानजनिताविवेकादृष्टादिरूपं कारणम्
उरीक्रियते इति चेद्, बन्धकारणानां पूर्वतनानां शरीरान्तरावच्छेदेन सत्त्वाद् मुक्तानां पुनः
बन्धापत्तिः॥१०॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. एवञ्च कार्यकारणयोः वैलक्षण्यदोषः तवमतेऽपि दुरुद्धरः इति भावः. अन्यदपि
वैलक्षण्यम् आहुः तस्य इति. कार्यस्य इति अर्थः. तथाच कार्ये उत्पत्तिमत्त्वं कारणे
नास्ति इति वैलक्षण्यम् इति अर्थः. किञ्च, उत्पत्तेः पूर्वं कार्यगतवैलक्षण्यम् अस्ति न
वा? प्रथमे दूषणम् आहुः लयः इति. लये कारणे तद्धर्मसम्बन्धात् तद्वत्त्वप्रसङ्गः,
तथाच असामञ्जस्यम् इति अर्थः. द्वितीये दूषणम् आहुः असद् इति.
वैलक्षण्यरूपविशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावात् कारणे विलक्षणकार्यासत्त्वाद् वा
असत्कार्यवादः इति अर्थः. ननु विलक्षणकार्यं कारणे असदेव उत्पद्यते इति
असत्कार्यवादएव अस्तु इत्यतः आहुः तथैव इति. क्रमेणैव इति अर्थः. कारणाभावेन
क्रमनियामकारणाभावेन. नियमाभावः एतदनन्तरम् एतस्य उत्पत्तिः इति
क्रमनियमाभावः. ननु एतदर्थं क्रमनियामकारणं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः भावे इति.
तादृशकारणसत्त्वे इति अर्थः. तथाच लोके बन्धमोक्षयोरपि क्रमिकत्वात्
तन्नियामकारणसत्त्वेन कार्यस्य अवश्यम्भावित्वात् पुनर्बन्धप्रसङ्गापत्तिः इति
असत्कार्यवादिमते दूषणं बोध्यम् इति भावः. सत्कार्यवादिमते च सर्वेषाम्
अन्तिमकार्यपर्यन्तानां कार्याणां कारणे सत्त्वात् तथैव उत्पत्तिसम्भवेन
क्रमनियामकारणापेक्षाभावाद् न बन्धः इति हृदयम्॥१०॥

कार्यवैलक्षण्यादितर्कस्य प्रतिष्ठा नास्ति इति हेतोः अन्यथा अनुमीयते इति
त्वया स्वीक्रियते चेद्, एवमपि अविमोक्षप्रसङ्गः. तर्कस्य अप्रतिष्ठादोषाद्
अविमोक्षप्रसङ्गः इति सूत्रार्थः. तर्काः दुष्टाः इति उक्त्वा न अङ्गीक्रियन्ते इति अर्थः.

अप्रतिष्ठानात्. ‘तर्को’ नाम स्वोत्प्रेक्षिता युक्तिः. सा एकोक्ता न अन्यैः अङ्गीक्रियते. स्वतन्त्राणाम् ऋषीणां मतिभेदाद्, वस्तुनो द्वैरूप्यासम्भवाद्, नियामकाभावाच्च. अतो न तर्कस्य प्रतिष्ठा.

पूर्वपक्षिणः परिहारः अपि अन्यथानुमेयम् इति चेत्. एवमपि अन्यथा वयम् अनुमास्यामहे यथा न अप्रतिष्ठादोषो भविष्यति. न हि कोऽपि तर्कः प्रतिष्ठितो नास्ति इति वक्तुं शक्यते, व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्. “आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना, यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः” (मनुस्मृ.१.२।१०६) इति स्मृतिः.

सावद्यतर्कपरिहारेण निरवद्यः तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति इति चेद्, एवमपि अविमोक्षप्रसङ्गः. ब्रह्मवादिनो निरवद्यतर्कसद्भावेऽपि प्रकृतिवादिनः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

परिहारः तर्केण न वादिपरिहारः इति अर्थः॥११॥४॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कुतः? इत्यतः आहुः स्वतन्त्राणाम् इति. मतिभेदाद् इति. बुद्धिभेदाद् इति अर्थः. ननु ऐकमत्याभावे का क्षतिः? इत्यतः आहुः वस्तुनः इति. जगन्निर्मातुः इति अर्थः. तथाच जगत्कारणं द्वयं चेद् अन्यैः ब्रह्म उच्यते, प्रधानं च अन्यैः उच्यते इति विवादो न स्याद् अतः तथा नास्ति इति भावः. ननु अस्तु विवादः तथापि यस्य दृष्टान्तादिना युक्तिः प्रबला तस्यैव मतम् अस्तु इत्यतः आहुः नियामकाभावाद् इति. लोकस्य वैचित्याद् दृष्टान्तसौलभ्यम् उभयोरपि अस्ति इति एकतरपक्षपातियुक्त्यभावाद् इति अर्थः. अतः इति. यतः एवम् अतः श्रुत्युक्ते अर्थे शुष्कतर्कस्य प्रतिष्ठा नास्ति इति अर्थः. पूर्वपक्षिणः इति. साङ्ख्येन उच्यते, एवंरीत्या पूर्वपक्षिणो मम परिहारः क्रियते तथापि अन्यथा अनुमेयम् इति अर्थः. तर्कस्तु प्रतिष्ठितो नास्ति इति उक्तमेव, तर्कं विना अनुमितिरेव न जायते इति कथम् उच्यते अनुमेयम्? इत्यतः आहुः नहि इति. अत्र अर्थे स्मृतिप्रमाणम् आहुः आर्षम् इति. तथाच साङ्ख्यः स्वमतेन आह सावद्येति. दुष्टतर्क-परिहारेण इति अर्थः. तथाच अन्यथा अनुमेयम् इत्यनेन निर्दुष्टतर्कानुसन्धानं मया क्रियते इति भावः. प्रधानं जगदुपादानकारणं, जगत्सलक्षणत्वाद्, घटसलक्षण-मृद्वत्. अत्र अयं तर्कः प्रधानं जगदुपादानकारणं न स्यात् तर्हि जगत्सलक्षणं न स्याद्; अस्तितु जगत्सलक्षणम्, उभयोरपि जडत्वात्. तस्माद् जगदुपादानकारणं प्रधानम् इति असत्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति इति चेद् इति अर्थः. सिद्धान्ती वदति एवम् इति.

तर्कस्य दोषाविमोक्षप्रसङ्गः, मूलनियमाभावाद् वैमत्यस्य विद्यमानत्वात्॥११॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे पञ्चमम् असत्प्रतिषेधाधिकरणम्॥५॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥१२॥ (२।१।६)

साङ्ख्यमतस्य वैदिकप्रत्यासन्नत्वात् केषाञ्चित् शिष्टानां परिग्रहोऽपि अस्ति. अणु-माया-कारणवादास्तु सर्वथा न शिष्टैः परिगृह्यन्तइति तेषां तर्काः पूर्वोक्तन्यायेन सुतरामेव निरस्ता वेदितव्याः॥१२॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे षष्ठं शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्॥६॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्यात् लोकवत्॥१३॥ (२।१।७)

कारणदोषं परिहृत्य कार्यदोषपरिहारार्थम् आरम्भः. भोग्यस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तर्काप्रतिष्ठानदोषम् अन्येष्वपि बोध्यन् तत्रापि परिहारम् अतिदिशति एतेन इत्यादि. इदं च केवलं सूत्रमेव न अधिकरणम्, अधिकरणाङ्गानाम् अलाभात्॥१२॥

कारणेत्यादि. “दृश्यते तु” (ब्रह्मसू. २।१।६) इत्यनेन वैलक्षण्यं “प्रतिषेध-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अविमोक्षः इति. अप्रतिष्ठादोषाद् अविमोक्षः इति अर्थः. स्मृतिप्रमाणीभूत-तर्कः सर्वेषां मते अस्ति इति आह **ब्रह्मवादिनः** इति. मते इति शेषः. तर्हि कुतो न आद्रियते? इत्यतः आहुः **प्रतिवादिनः** इति. कुतः? इत्यतः आहुः **मूलेति**. श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रधानस्य कारणत्वम् उक्तम् इति त्वया स्वीक्रियते तस्मिन्नेव मूले प्रकृतिरेव हेतुः इति नियमो नास्ति इति अर्थः. तथाच प्रधानस्य ब्रह्मकार्यत्वमेव तत्र प्रतिपादितम् इति उक्तमेव अधस्ताद् प्रथमाध्याये “**योनिश्च हि गीयते**” (१।४।२७) इति सूत्रे इति न अत्र प्रपञ्च्यते इति बोध्यम्. श्वेताश्वतरोक्तं श्रौतं भवन्मते नास्ति इति स्मार्तं वक्तव्यम्. तथाच वैमत्यम् इति आहुः **वैमत्यस्य** इति. अत्र चतुर्थाधिकरण-समाप्तिम् इच्छन्ति केचित् ॥११॥

इदम् अतिदेशसूत्रं नतु अधिकरणम्. संशयादीनाम् असत्त्वात्. शिष्टापरिग्रहा वादाः के? इत्यतः आहुः **अणुः** इति. अणुः परमाणुः कारणम् इति काणादमतम्, माया कारणम् इत्यपि मायिकमतम्. **शिष्टैः** वैदिकैः. **एतेन** इति अस्य अर्थम् आहुः पूर्वोक्तेति. तर्काप्रतिष्ठानेन इति अर्थः. अत्र पञ्चमाधिकरणपूर्तिं केचन इच्छन्ति॥१२॥

सूत्रारम्भप्रयोजनम् आहुः **कारणेति**. अत्र तैत्तिरीयश्रुतौ ब्रह्मवित्प्रपाठके

भोक्त्रापत्तिः. ब्रह्मणो निर्विशेषस्य कारणत्वाद् भोक्तुः भोग्यत्वं, भोग्यस्य च

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मात्रत्वाद्” (ब्रह्मसू.२।१।७) इत्यनेन असत्कारणवादापत्तिं दृष्टान्तसद्भावाद् असामञ्जस्यं तर्काप्रतिष्ठानाद् अन्यानपि उत्प्रेक्षिष्यमाणान् कारणदोषान् परिहृत्य उत्प्रेक्ष्यमाणस्य कार्यदोषस्य परिहारार्थं सूत्रारम्भः इति अर्थः. कार्ये ब्रह्मरूपत्वोक्ति-दोषस्य इति अर्थः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति भोग्यस्य इत्यादि. भोक्त्रापत्तिः इति भावप्रधानो निर्देशः भोक्तृत्वापत्तिः इति अर्थः. अत्र एवं बोध्यं “सोऽकामयत” (तैत्ति.उप.२।६) इति तैत्तिरीये चेतनं ब्रह्म प्रकृत्य ततः सृष्टिम् उक्त्वा तन्तुन्यायेन तदनुप्रवेशाद् “विज्ञानं च अविज्ञानं च” (तत्रैव) इति कार्यविभागो दर्शितः, सः युज्यते न वा इति सन्देहः. सः न युज्यते यतः “अशब्दम् अस्पर्शम्” (कठोप.१।३।१५) इति “अस्थूलम् अनणुः” (बृहदा.उप.३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यो लौकिकविशेषरहितस्य ब्रह्मणः कारणत्वात् कार्यस्य लयदशायां भोक्तृभोग्यत्वकृतपरस्परविभागनिवृत्तिपूर्वकं कारणात्मतासम्पत्तौ सर्वथा कारणरूपत्वे जाते ततः पुनः उत्पत्तौ ब्रह्मात्मकार्यस्य स्थितिदशायां भोक्तुः चेतनस्य जीवस्य भोग्यत्वं स्रक्चन्दनवनितादिरूपत्वं स्याद्. भोग्यस्य स्रक्चन्दनवनितादेश्च भोक्तृत्वं जीवरूपो यो भोक्ता तत्त्वं स्याद् इति अर्थः. यथा लोके कटककुण्डलादेः उपमर्देन सुवर्णरूपतासम्पत्तौ सत्यां पुनः कारणदशायां कटकभागस्य कुण्डलत्वं कुण्डलभागस्य च कटकत्वं प्रसिद्धं तद्वत् स्यात्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

“सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय” (तैत्ति.उप. २।६) इति “स तपो अतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशद् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत् निरुक्तं च अनिरुक्तं च निलयनं च अनिलयनं च विज्ञानं च अविज्ञानं च” (तत्रैव) इति श्रूयते. अत्र कार्यस्य विज्ञानाविज्ञानविभागो अस्ति न वा? इति संशये न इति पूर्वपक्षम् आहुः भोग्यस्य इति. भोक्त्रापत्तेः. भावप्रधाननिर्देशेन भोक्तृत्वापत्तेः इति अर्थः. तदेव विशदयन्ति ब्रह्मणः इति. निर्विशेषस्य “अस्थूल...” (बृहदा.उप.४।८।८) इत्यादिश्रुत्या लौकिकविशेषरहितस्य इति अर्थः. कारणत्वाद् इति. तथाच कार्यस्य निर्विशेषकारणे लये जाते तद्गतद्वैधीभावस्यापि लयो वक्तव्यः इति विभागो न उचितः इति भावः.

ननु उत्पत्त्यनन्तरं स्थितिदशायां विभागसत्त्वे को दोषः? इत्यतः आहुः भोक्तुः इति. चेतनस्य इति अर्थः. भोग्यत्वं स्रक्चन्दनादिरूपत्वम्. आपद्येत इति.

भोक्तृत्वम् आपद्यते. *अतो न विभागः इति चेत्, स्यात् लोकवत्. यथा लोके कटककुण्डलादीनां सुवर्णकारणत्वेन सुवर्णानिन्यत्वेऽपि न कटकस्य कुण्डलत्वम् एवम् न भोग्यस्य भोक्तृत्वम्॥१३॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे सप्तमं भोक्त्रापत्तेः इति अधिकरणम्॥७॥

तदनन्यत्वम् ‘आरम्भण’शब्दादिभ्यः॥१४॥ (२।१।८)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

*अतो अविभागः विज्ञानाविज्ञानविभागाभावः. लोकवद् इति. तथाच अनेन दृष्टान्तेन इदं बुध्यते, वादिमतम् अभ्युपगम्य तद्वीत्या इदं समाधानम् उच्यते. अस्मत्सिद्धान्ते तु “बहुस्याम् प्रजायेय” इति इच्छया बहुभवनसामर्थ्यस्य तत्त्वात् चेतनाचेतनविभागस्यापि स्वरूपनिविष्टस्य स्वतएव सत्त्वाद् आविर्भावमात्रं परं स्वकृतिविषयइति न दूषण-समाधानयोः अवकाशलेशः इति भावः॥१३॥६॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विभागे सति पूर्वकल्पे यो विज्ञानभागः सः एतत्कल्पे अविज्ञानभागः स्याद्, उभयोः एकरूपत्वाद् इति. यथा कटककुण्डलादेः अग्निसंयोगेन हेमरूपत्वे सम्पन्ने पुनः उत्पत्तौ कटकभागस्य कुण्डलत्वं तस्य कटकत्वम् इति भावः. समाधानम् आहुः स्याद् इति. लौकिकदृष्टान्तेन पूर्वपक्षे, तेनैव दृष्टान्तेन उत्तरम् आहुः यथा लोके इति. पूर्वन्तु सुवर्णमेव, विभागएव नास्ति. कटकभागस्य कुण्डलत्वेन उत्पत्तौ तु कुण्डलत्वमेव न कटकत्वम् एवंरीत्या कटकस्य न कुण्डलत्वं, तथा, भोक्तुः भोग्यत्वं नास्ति इति भावः. प्रलयदशायां व्यवहाराभावद्वैधीभावाभावः इति तत्त्वम्. वस्तुतस्तु पूर्वम् एकमेव, सृष्टिकाले ‘बहुस्याम्’ इति इच्छया चेतनाचेतनविभागानन्तरं तेन-तेन रूपेण आविर्भावः. अतएव उक्तम् एकादशस्कन्धे “द्विधा समभवद् बृहद्” (भाग.पुरा.११। २४।३) इति, न अत्र शङ्कालेशोऽपि इति सर्वम् अनवद्यम्.

अत्र अधिकरणविभागस्तु अव्यवस्थितः. कैश्चिद् क्वचिद् अन्यैः अन्यत्र तत्समाप्त्यङ्गीकारात्. श्रीमदाचार्यचरणैस्तु एषां सूत्रत्वमेव अङ्गीक्रियते न अधिकरणत्वम्, क्वचिदपि अधिकरणाकथनात्. तथापि बोधसौकर्यार्थं विषयैक्यम् आदाय असत्सूत्राद् आरभ्य एतदवध्यैकाधिकरण्यं सप्तसूत्रात्मकम् अङ्गीक्रियते इति अदोषः. मध्ये अधिकरणविभागस्तु न भाष्यानुरोधी, किन्तु ऐच्छिकः. एतेन, अधिकरणविभागस्तु विवक्षाभेदेन इति प्रतिभाति इति निर्भयरामोक्तं परास्तम्॥१३॥४॥

श्रुतिविरोधं परिहरति. “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” (छान्दो.उप.६।१।१) इति. तत्र विकारो वाङ्मात्रेणैव आरभ्यते, न वस्तुतः इति अर्थः प्रतिभाति. तथाच सति कस्य ब्रह्म कारणं भवेत्? अतः श्रुतिवाक्यस्य अर्थम् आह आरम्भणशब्दादिभ्यः तदनन्यत्वं प्रतीयते. कार्यस्य कारणानन्यत्वं न पुनः मिथ्यात्वम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति श्रुतीत्यादि. प्रतिभाति इति वाचारम्भणम् अनूद्य तस्य विकारस्य विधानाद् अतः तस्यैव नामधेयत्वम् इति प्रतिभाति इति अर्थः. तथा सति कार्यमात्रस्य विकारत्वे वाच्ये विकारस्य च खपुष्पवद् वाङ्मात्रत्वेन अवस्तुत्वे सति इति अर्थः. प्रतीयते इत्यादि “अपि वा तमादेशम् अप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवति” (छान्दो.उप.६।१।३) इत्यादि “यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन” (तत्रैव ६।१।४) इत्यादि प्रतिज्ञादृष्टान्तश्रुतिबलेन प्रपञ्चसमवायित्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितं दृष्टान्तवाक्यशेषे च गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

परिहरति इति. कार्यबोधकश्रुत्यर्थकरणेन अन्यश्रुतिविरोधं परिहरति इति अर्थः. आभासीभूतश्रुत्यर्थम् आहुः तत्र इति. वाचारम्भणम् इति श्रुतौ इति अर्थः. विकारो जगद्, वाचा वाङ्मात्रेणैव आरभ्यते, नामधेयत्वमपि तथैव; वस्तुगत्या जगद् नास्ति नामधेयत्वमपि नास्ति इति अर्थः. एतादृशार्थे दूषणम् आहुः तथाच सति इति. जगतो अवस्तुत्वे सति इति अर्थः. भवेद् इति. जगतः खपुष्पायमानत्वाद् ब्रह्म कस्य कारणं भवेद् इति अर्थः. तथाच ब्रह्मणः कारणत्वाभावे “यतो वा इमानि” (तैत्ति.उप. ३।१) इत्यादिश्रुतिविरोधः इति अर्थः. अर्थम् आह इति तात्त्विकार्थम् आह इति अर्थः. शब्दादिभ्यः इति. ‘आदि’शब्देन अस्मिन् वाक्ये इति शब्दो नामधेयशब्दश्च संगृहीतः. तथाच सूत्रकारेण उच्यते विकारस्य वाचारम्भणत्वेन मिथ्यात्वं श्रुत्यभिप्रेतं स्यात् तदा “वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकैव सत्यम्” इत्येव वाक्यं स्यात्, तेनैव मिथ्यात्वसिद्धेः. तथातु नास्ति. वर्ततेतु “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्” (छान्दो.उप.६।१।३) इति वाक्यं; तदर्थस्तु यो विकारः तद्वाचारम्भणं वागारब्धं, कारणस्यैव नामधेयं, कारणमेव तेन-तेन नाम्ना व्यवहियते, इति कारणाद् अभिन्नमेव कार्यम्. नतु स्वेन रूपेण कारणाद् भिन्नम्. तद् आह “मृत्तिका इत्येव सत्यम्” इति, नतु ‘मिथ्या’ इति न ‘यतो वा’ इति श्रुतिविरोधः इति भावः. एतदेव आहुः तद् अनन्यत्वम् इति.

ये पुनः मिथ्यात्वं तामसबुद्ध्यः प्रतिपादयन्ति तैः ब्रह्मवादाः सूत्र-
श्रुतिनाशनेन तिलापः कृता वेदितव्याः. अन्तःप्रविष्टचोरवधार्थमेव एषः
आरम्भः. अलौकिकप्रमेये सूत्रानुसारेणैव निर्णयः उचितः, न स्वतन्त्रतया
किञ्चित् परिकल्पनम्. “**तर्काप्रतिष्ठानाद्**” इति निराकृतमेव. नवा अस्मिन्नपि
सूत्रे मिथ्यात्वार्थः सम्भवति, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमबाधात्
प्रकरणविरोधश्च. त्रयाविरोधभयपरित्यागेन एकम् इदं सूत्रम् अन्यथा योजयन्
अतिधृष्टः इति अलं विस्तरेण॥१४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वाचारम्भणवाक्यं श्रूयते तस्य च मिथ्यार्थप्रतिपादकतायां यद्वाक्येन जगदुपादानत्वं
ब्रह्मणि प्रतिपाद्यते तच्छेषेणैव तत्प्रतिषेधः क्रियते इति अर्थः प्रतीतः स्यात्. तथाच
जगदुपादानत्वप्रतिषेधो विषयः अस्ति न वा इति संशयः. पूर्वपक्षसिद्धान्तौ स्फुटौ.
सप्तसूत्रम् इदम् अधिकरणम्. वादिनां मते तु सूत्रमात्रम् इदं न अधिकरणम्.
आरम्भणशब्दादिभ्यः इति. ‘आदि’शब्देन ‘इति’शब्दो ‘नामधेय’पदं “सदेव
सौम्य” (तत्रैव ६।२।१) इत्यादिवाक्यानि च बोध्यानि. आरम्भः सूत्रारम्भः. त्रयं
श्रुतिसूत्रप्रकरणरूपं त्रयम् इति अर्थः॥१४॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र मायावादिमतं दूषयन्ति ये पुनः इति. तामसबुद्ध्यः मायिकबुद्ध्यः.
आरम्भः तन्मतनिराकरणार्थमेव इदं सूत्रम्. निराकरणप्रकारम् आहुः अलौकिकेति.
स्वतन्त्रतया परिकल्पने को दोषः? इत्यतः आहुः तर्केति. ननु यथा मिथ्यात्वं सम्भवति
तथैव सूत्रार्थः कर्तुं शक्यते इति सूत्रानुसारित्वं भविष्यति इत्यतः आहुः नच इति. कुतो
न सम्भवति? इत्यतः आहुः एकेति. एकस्य मिथ्यात्वात् तज्ज्ञानेन सर्वज्ञानं तात्त्विकं
कथं भवेद्? इति उपक्रमबाधः. प्रकरणेति. तथाच इदं ब्रह्मप्रकरणं, सृष्टिद्वारा ब्रह्म
ज्ञाप्यते बीजाङ्कुरन्यायेन, तत्र सृष्टिः खपुष्पायमाना चेत् प्रस्थितं ब्रह्मज्ञानेन इति
प्रकरणबाधः इति अर्थः. उपसंहरन्ति तत्त्रयेति. तत्त्रयविरोधः इत्येव पाठः. तस्मात्
त्रयाणां श्रुत्युपक्रमप्रकरणानां यः विरोधः तज्जन्यं यद् भयम् इति अर्थः. “तस्माद् वा
एतस्माद्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतिबाधो ज्ञेयः. तथाच एतादृशभयपरित्यागेन
मिथ्यात्वानुरोधेन सूत्रार्थं कर्तुं शक्यते इति वदन् अति धृष्टो असि इति अर्थः. “ये
पुनः” इत्यारभ्य “इति अलं विस्तरेण” इत्येतदन्तग्रन्थो मायावादिनिराकरणपरः इति
मध्ये “नच अस्मिन्” इति शङ्काग्रन्थेन अवगम्यते. अत्र यद् वक्तव्यं तदुक्तं प्रकाशे

भावे चोपलब्धेः॥१५॥

भावएव विद्यमानएव घटे घटोपलब्धिः, न अभावे. 'च'कारात् "मृत्तिकेत्येव" (छान्दो.उप.६।१।४) श्रुतिः परिगृहीता. वाङ्मात्रेण च उपलम्भे मिथ्यैव अत्र घटोपि अस्ति इति उक्ते उपलभ्येत.

इदं सूत्रं मिथ्यावादिना न ज्ञातमेव. अतएव पाठान्तरकल्पनम्॥१५॥

सत्वाच्च अवरस्य॥१६॥

अवरस्य प्रपञ्चस्य सत्वात् त्रैकालिकत्वाद् ब्रह्मत्वम्. "सदेव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवम् एकेन श्रुतिप्रतिषेधं परिहृत्य कार्यस्य कारणाद् अनन्यत्वे सत्त्वे च युक्तिम् आह "भावे च..." इति सूत्रेण. तद् व्याकुर्वन्ति भावएव इत्यादि. तथाच श्रुत्यनुगृहीतस्य प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वात् ततोऽपि मिथ्यात्वबाधसिद्धिः इति भावः. मृत्तिका इत्यनेन कारणरूपत्वोक्तिः स्फुटैव. उपलभ्येत इति खपुष्पवद् मिथ्यात्वम् उपलभ्येत नतु घटोऽपि उपलभ्येत इति अर्थः. न ज्ञातमेव एवम् अर्थकं न ज्ञातमेव इति अर्थः. अतएव एतादृशार्थस्य अज्ञातत्वादेव. पाठान्तरकल्पनम् इति "भावाच्चोपलब्धेः" इति पाठकल्पनम्॥१५॥

त्रैकालिकत्वे प्रत्यक्षविरोधात् प्रमाणम् आहुः "सदेव..." इत्यादिना. श्रुतौ

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

श्रीपुरुषोत्तमैः विस्तरभयाद् विरम्यते॥१४॥

भावे चोपलब्धेः. इतः परं युक्त्या जगतो वाङ्मात्रतां निराकरोति सूत्रकारः इति आहुः भावेएव इति. ननु जगतो वाङ्मात्रतया उपलब्धौ को दोषः? इत्यतः आहुः वाङ्मात्रेण इति. तथाच यत्र घटो नास्ति तत्र घटः उपलभ्येत इति वाङ्मात्रतया उपलब्धिरेव नास्ति इति भावः. अनेन सूत्रेण स्पष्टं कारणानन्यत्वं सत्यत्वं युक्त्या जगतः प्रतिपाद्यते इति दृढीकरणार्थम् आहुः इदम् इति. 'एव'शब्दो निश्चयोपालम्भे. तथाच इदं सूत्रं दृष्टं स्यात् तदा एवं न वदेद् इति अत्रैव तात्पर्यम् इति भावः. ननु सूत्रे 'भावोपलब्धेः' इति पाठं कल्पयित्वा भावस्य कार्यकारणयोः अनन्यभावस्य उपलब्धेः. तत्तु अनतिरिक्तपटवद् इति अर्थः. कृतएव इत्यतः आहुः अतएव इति. यतो न ज्ञातम्, अतएव इति अर्थः. तथाच अस्मदुक्तार्थे पर्यवसानाद् कथम् इदम् उक्तं त्वया? इति उपालम्भः इति अवधेयम्॥१५॥

त्रैकालिकसत्त्वे श्रुतिप्रमाणम् आहुः सदेव इति. सृष्टेः पूर्वं ब्रह्मत्वेन रूपेण

सौम्येदमग्र आसीत्. यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इत्याचक्षते” (छान्दो.उप.६।२।१)
इति श्रुतेः॥१६॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे अष्टमं तदनन्यत्वाधिकरणम्॥८॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेद्, न,

धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्॥१७॥ (२।१।९)

“असद् वा इदम् अग्र आसीद्” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या प्राग्
उत्पत्तेः कार्यस्य असत्त्वं बोध्यते इति चेद्, न. अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण
तथाव्यपदेशः. कुतः? वाक्यशेषात्. “तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत” (तैत्ति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इदं पदं प्रपञ्चबोधकम्. सूत्रे ‘च’कारः “विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया,
यथेदानीं तथाचाग्रे पश्चादपि एतद् ईदृशम्” (भाग.पुरा.३।१०।१२), “तदेतद् अक्षयं
नित्यं जगन्मुनिवर अखिलम्, आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्” (विष्णुपुरा.
१।२२।६०) इति श्रीभागवत-विष्णुपुराण-वाक्यसङ्ग्राहकः॥१६॥

अव्याकृतत्वेन इत्यादि. तथाच अव्याकृतत्वमेव असत्त्वं नतु वस्तुनो

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

इदं जगत् सत्यमेव इति उक्तम्. इदानीं स्थितिकाले तत्सत्यत्वे पुनः श्रुतिं प्रमाणयन्ति
यदिदम् इति. “तदेतद् अक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्, आविर्भाव-तिरोभाव-
जन्मनाशविकल्पवद्” (विष्णुपु.१।२२।६०) इति विष्णुपुराणोक्तं वाक्यं ‘च’कारेण
संगृह्यते॥१६॥५॥

प्रपञ्चमिथ्यात्वं निराकृत्य असत्कार्यवादं निराकर्तुं असद्व्यपदेशाधिकरणम्
आरचयन्ति असद्व्यपदेशाद् इति. पूर्वं विद्यमानं जगत् सत्यम् इति उक्तम्. तत्र एवं
संशयः, जगत् पूर्वं विद्यमानं वा अविद्यमानं वा इति. तत्र पूर्वपक्षम् आहुः असद्वा
इति. सिद्धान्तम् आहुः अव्याकृतत्वेन इति. इदानीं व्याकृतनामरूपत्वेन जगद् अस्ति
पूर्वन्तु अव्याकृतत्वरूपं यद् धर्मान्तरं तेन इति अर्थः. तथाव्यपदेशः. असद्वा इति
इदम् इति श्रुतौ पूर्वम् असद् इति व्यवहारः. वस्तुगत्या पूर्वं जगत् असत्त्वं नास्ति इति
अर्थः. कुतः इदं ज्ञायते? इत्यतः आहुः वाक्यशेषाद् इति. वाक्यशेषम् आहुः
तदात्मानम् इति. स्वस्यैव इति. तथाच पूर्वम् अव्याकृतत्वेन इदानीं व्याकृतत्वेन
ब्रह्मणएव सत्त्वाद् न असत्कार्यवादः इति अर्थः. अयम् अर्थः श्रुत्युक्तपदाभ्यामेव
ज्ञायते इति आहुः इदम् इति॥१७॥

उप.२।७) इति स्वस्यैव क्रियमाणात्वात्. “इदमासीत्”(तत्रैव) पदप्रयोगाच्च
॥१७॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च॥१८॥

युक्तिः तावत् समवेतमेव कार्यं सद् उत्पाद्यते इति सम्बन्धस्य
द्विनिष्ठत्वाद् नित्यत्वाच्च कारणान्तरेणापि परम्परया सम्बन्धः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अविद्यमानत्वम्. इदम् इत्यादि. तथाच अतीतकालवृत्तिसत्ताश्रयम् अव्याकृतं
प्रत्यक्षविषयः इति शाब्दबोधात् सत्त्वमेव आयाति प्रपञ्चस्य नतु असत्त्वम् इति अर्थः.
प्रत्यक्षं च भगवतो ग्राह्यं तदानीम् अन्यस्य अभावात्॥१७॥

कारणान्तरेणापि दण्डकुण्डलादिनापि. **परम्परासम्बन्धः** दण्डकुण्डलादि-
प्रभृतीनां स्वाभिन्नकारणघटित-सामानाधिकरण्यरूपः सम्बन्धः कार्येण सह अस्ति इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

युक्तिः तर्कः. सच “तर्काप्रतिष्ठानाद्” इति सूत्रे निराकृतएव इति पुनः सूत्रे
युक्तिग्रहणम् अनुचितम् इत्यतः आहुः युक्तिः तावद् इति. तथा च शुष्कतर्कस्यैव
अप्रतिष्ठानं न तु सत्तर्कस्य इति ‘तावत्’ पदेन व्यज्यते. युक्तिम् आहुः समवेतम् इति.
समवायसम्बन्धेन कारणे विद्यमानमेव कार्यं सद् इति. पूर्वं कारणे सद् विद्यमानं कार्यम्
इति अर्थः. उत्पाद्यते. कारणेन उत्पाद्यते इति अर्थः. इति इति युक्तिः इति अर्थः.

ननु उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य असत्त्वमेव स्वीकर्तव्यं केवलकारणेन
समवेतकार्योत्पत्तौ बाधकाभावात् किमर्थं सत्कार्यवादः? इत्यतः आहुः सम्बन्धस्य
इति. सम्बन्धमात्रस्य कार्यकारणोभयनिष्ठत्वाद् इति अर्थः. एवञ्च समवेतमेव कारणेन
कार्यम् उत्पाद्यते इति तवापि सम्मतम्. तथाच कार्यस्य पूर्वम् असत्त्वे आश्रयाभावात्
सम्बन्धएव कार्यात् पूर्वं नास्ति इति समवेतत्वमेव कार्ये न तिष्ठति इति भावः. ननु
कार्योत्पत्त्यनन्तरं कार्ये समवायसम्बन्धेन सम्बद्धत्वरूपं समवेतत्वं स्वीक्रियते इत्यतः
आहुः नित्यत्वात् च इति. नैयायिकमते समवायस्य नित्यत्वाद् न उत्पत्तिमत्त्वं
स्वीकर्तव्यम् इति अर्थः. ननु समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् कारणं त्रिविधम्. तत्र
समवायस्य समवायिकारणे सम्बद्धत्वेऽपि असमवायि-निमित्तयोः असम्बद्धत्वाद्
यावत्कारणकार्योभयसम्बद्धत्वाभावेन सम्बद्धत्वमेव न स्याद् इत्यतः आहुः
कारणान्तरेणापि इति. असमवायि-निमित्तकारणान्तरेणापि इति अर्थः. **परम्परया**
इति. स्वाश्रयाश्रितत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन इति अर्थः. स्वं समवायः, तदाश्रयः तन्तुः,

असम्बद्धोत्पत्तौ तु मिथ्यात्वमेव. प्रवृत्तिस्तु अभिव्यक्त्यर्थम् इति. शब्दान्तरं 'सत्'शब्दाद् 'आत्म'शब्दः. "आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७) इति॥१८॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भावः, कार्यसामानाधिकरण्याभावे जनकत्वासम्भवाद् इति अर्थः. शब्दान्तरं 'शब्दान्तराच्च' इत्यनेन सूत्रांशेन उक्तं शब्दान्तरवाक्यं च इति अर्थः. सच्छब्दाद् इत्यादि. "सदेव सौम्य" (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिना उक्तं 'सच्'छब्देन परमात्मैव उच्यते तद् अभेदश्च इदं पदार्थे बुध्यते इति अर्थः॥१८॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तदाश्रितत्वं तन्तुद्वयसंयोगरूपे असमवायिकारणे सम्बन्धः. एवं तुरीवेमादावपि निमित्तकारणे तदाश्रयत्वन्तु निरूपिताश्रितत्वम् अस्तीति तत्रापि सम्बन्धः समवायसम्बन्धः, इति यावत्कारणकार्योभयसम्बद्धत्वेन तस्य सम्बद्धत्वम् इति अर्थः. ननु कारणे समवेतमेव कार्यम् उत्पद्यते इति नियमः तव मतएव अस्तु न स्वीक्रियते इयं युक्तिः मया इत्यतः आहुः असम्बद्धोत्पत्तौ इति. मिथ्यात्वमेव इति. सर्वं घटपटादिरूपं कार्यं स्वकारणे कपालादौ सम्बद्धमेव दृश्यते, त्वया असम्बद्धोत्पत्तिः स्वीक्रियते चेद्, यथा शुक्त्यादौ रजतम् असम्बद्धं मिथ्या तथा सर्वकार्यस्य मिथ्यात्वमेव इति अर्थः.

ननु त्वया कारणे कार्यस्य सत्त्वमेव अङ्गीक्रियते तर्हि उत्पत्तौ प्रवृत्तिः किमर्थम्? अतः आहुः प्रवृत्तिः इति. अभिव्यक्त्यर्थम् इति. पूर्वं कारणे सदेव कार्यम् अनभिव्यक्तं, व्यवहारार्थं या अभिव्यक्तिः तदर्थं प्रवृत्तिः इति अर्थः. अतएव अनभिव्यक्तं नित्यम् अभिव्यक्तम् अनित्यम् इति व्यवहारोपपत्तिः इति. एतावता युक्तिरूपं हेतुम् उपपाद्य शब्दान्तरं हेत्वन्तरम् उपपादयन्ति शब्दान्तरम् इति. सच्छब्दाद् इति. द्वितीयवाक्यस्थसच्छब्दाद् इति अर्थः. आत्मशब्दः इति. तृतीयवाक्यस्थः आत्मशब्दः इति अर्थः. तैत्तिरीयोपनिषदि वाक्यत्रयं श्रूयते "असद्वा इदम् अग्र आसीत् ततो वै सद् अजायत" (तैत्ति.उप.२।७) "तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७) इति. तत्र द्वितीयवाक्ये 'सच्छ'ब्दः, अनन्तरं तृतीयवाक्ये 'आत्म'शब्दः पठितः, तेन कृत्वा किं ज्ञायते पूर्वम् असद् अनभिव्यक्तं तदनन्तरं सद् अभिव्यक्तं जगद्रूपम्, एतादृशम् आत्मानं स्वयम् अकुरुत इति उक्त्या पूर्वं सदेव इदं सर्वं कार्यम् इति सत्कार्यवादएव न असत्कार्यवादः इति सर्वं समञ्जसम् इति॥१८॥

पटवच्च॥१९॥

यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते, विस्तृतस्तु गृह्यते, तथा आविर्भावानाविर्भावेन जगतोऽपि॥१९॥

यथा च प्राणादिः॥२०॥

यथा प्राणापानानां नियमने जीवनमात्रम्, अनियमने आकुञ्चनादि. न एतावता प्राणभेदः, पूर्वम् असत्त्वं वा. तथा जगतोऽपि. ज्ञानक्रियाभेदात् सूत्रद्वयम् ॥२०॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे नवमम् असदव्यपदेशाधिकरणम्॥१९॥

इतरव्यपदेशाद्विताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥२१॥ (२१।१०)

ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे इतरस्य जीवस्यापि ब्रह्मत्वात् तद्वित्तं कर्तव्यम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

संवेष्टितः तन्तूनां पिण्डवद्गोलकीकृतः॥१९॥

आकुञ्चनादि मरणपदवाच्यता इति अर्थः. न एतावता इत्यादि. तथाच प्राणानां निर्गमनक्रियया पूर्वस्थितप्राणापेक्षया न भेदः तथा निर्गतप्रपञ्चस्यापि न पूर्वप्रपञ्चभेदः तिरोधानदशायाम् इति अर्थः. सूत्रद्वयं “पटवच्च” इति सूत्रम् इदं च इति अर्थः. तथाच पूर्वसूत्रे ज्ञान-तदभावयोः अभेदकत्वम् उक्तम्, अत्रतु क्रिया-तदभावयोः इति अर्थः॥२०॥७॥

तस्यैव इत्यादि. तथाच ‘जीव’ इति पदस्य ब्रह्मनामत्वाद् इति अर्थः. तथाच तद्विधताकरणं सांसारिकदुःखादिरूपं तत् तस्य ब्रह्मरूपत्वे न स्यादेव, दूरीकुर्याद् वा,

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु कारणे कार्यम् अस्ति चेत् कुतो न प्रतीयते? इत्यतो ग्रहणाग्रहणे दृष्टान्तसूत्रम् उक्त्वा व्याकुर्वन्ति यथा इति. जगतोऽपि इति. ग्रहणाग्रहणे भवतः इति शेषः. एवञ्च अग्रहणेन पूर्वं कार्यमेव नास्ति इति न मन्तव्यम् इति भावः॥१९॥

ज्ञाने दृष्टान्तम् उक्त्वा क्रियायां दृष्टान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति यथा इति. नियमन इति. तथाच येन पुरुषेण प्राणायामादिसाधनं यदा क्रियते तावत्पर्यन्तं शरीरे चेष्टा न जायते, जीवनमात्रम् अवशिष्यते, नियमनावध्यानन्तरम् आकुञ्चन-प्रसारणादिचेष्टा दृश्यते, एवं जगतोऽपि इति अर्थः. दृष्टान्तसूत्रद्वयप्रयोजनम् आहुः ज्ञानेति॥२०॥

ब्रह्मणः कारणत्वे प्रधानकारणतावादिप्रक्षिप्तं दोषं उद्धर्तुम् इतरव्यपदेशाधिकरणम् आरचयन्ति इतरव्यपदेशाद्विताकरणादिदोषप्रसक्तिः.

तद् न करोतीति तदकरणादिदोषप्रसक्तिः. “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्”
(तैत्ति.उप.२।६) “अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि”
(छान्दो.उप.६।३।२) इति तस्यैव जीवव्यपदेशात् ॥२१॥

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. यदि ब्रह्म तावन्मात्रं भवेत् तदा अयं
दोषः. तत् पुनः जीवाद् जगतश्च अधिकम्. कुतः ? भेदनिर्देशात्. द्रष्टव्यादि-
(बृहदा.उप.२।४।५)-वाक्येषु कर्मकर्तृव्यपदेशाद् विज्ञानानन्दव्यपदेशाद् वा.
नहि सम्पूर्णो अंशस्य हितं नियमेन करोति, सर्वेन्द्रियव्यापाराभावप्रसङ्गात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्तु न दृश्यते, अतो जीवो भिन्नएव अङ्गीकार्यः इति भावः ॥२१॥

पक्षं पूर्वसूत्रोक्तं पूर्वपक्षम्. “स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्सि” (भग.गीता
१०।१५) इत्यादौ अभेदे कर्तृकर्मभावदर्शनाद् न इदं भेदसाधकम् अतः आहुः
विज्ञानेत्यादि. ज्ञत्वम् आनन्दरूपत्वं च जडजीवभेदसाधने व्यभिचारी हेतुः. न हि
गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

दोषप्रसक्तिबीजाद् ब्रह्म कारणं न वा इति संशयः. तत्र पूर्वपक्षसूत्रम् आहुः
इतरव्यपदेशाद् इति. व्यपदेशाद् इत्यस्य अर्थम् आहुः ब्रह्मत्वाद् इति. श्रुतौ
ब्रह्मत्वेन व्यवहाराद् इति अर्थः. तदकरणाद् इति स्वहिताकरणाद् इति अर्थः. तथाच
जीवस्य सांसारिकदुःख-परिहाराकरणात् तद्दोषप्रसक्त्या ब्रह्म जगत्कारणं न भवति
इति अर्थः. इतरव्यपदेशे तैत्तिरीयश्रुतिप्रमाणम् आहुः तत्सृष्ट्वा इति ॥२१॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात्. अनेन सूत्रेण समाधानं सूचयन्ति. तुशब्दः इति.
पक्षम् इति पूर्वपक्षम् इति अर्थः. तावन्मात्रम् इति. जीवजगन्मात्रम् इति अर्थः. तत्पुनः
इति ब्रह्म पुनः इति अर्थः. द्रष्टव्यादिवाक्येषु इति. “स्वयमेव आत्मनात्मानं वेत्थ”
(भग.गीता.१०।१५) इत्यादिगीतावाक्येषु इति अर्थः. स्मृतिप्रमाणम् उक्त्वा
श्रुतिप्रमाणम् आहुः विज्ञानेति. जीवस्य विज्ञानस्वरूपत्वं ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वम् इति
तत्र-तत्र ब्रह्मवित्प्रपाठके विज्ञानमयानन्दमयविचारे व्यपदेशाद् इति अर्थः. तत्र अभेदो
भेदसहितः इति मतम् अस्मिन् सूत्रे प्रदर्शितमिति भेदाभेदएव न केवलम् अभेद इत्यपि
स्वीकुर्वन्ति. वस्तुतः अभेदएव. आधिक्यार्थं भेदनिर्देशः इति भेदेन आधिक्ये
पर्यवसानम् इति बोध्यम्. इदं च श्रीपुरुषोत्तमैः प्रकाशे ध्वनितम्. ननु अधिकस्य पूर्णत्वे
पर्यवसानात् तेन तु सुतरां हितं कर्तव्यम् इत्यतः आहुः न हि इति. हितं करोति इत्यत्र

स्वलीलया एकन्तु करोत्येव॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥२३॥

पार्थिवत्वाविशेषेऽपि हीर-माणिक्य-पाषाणानां पलाश-चम्पक-चन्दनानाम् उच्चनीचत्वम् एवं जीवस्य अंशत्वाविशेषेऽपि ब्रह्मादि-स्थावरान्तानाम् उच्चनीचत्वम्. कार्यवैलक्षण्यं तदननुरोधश्च दर्शितः॥२३॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे दशमम् इतरव्यपदेशाधिकरणम्॥१०॥

उपसंहारदर्शनाद् न इति चेद् न क्षीरवद्धि॥२४॥ (२११११)

ब्रह्म एकमेव जगत्कारणम् इति उक्तम्. तद् न उपपद्यते, कुलालादेः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. तथाच पूर्णो यदि नियमेन अंशस्य हितं कुर्यात् तदा नखकेशनिकृन्तनादि न कुर्यादेव इति अर्थः. सर्वेन्द्रियेत्यादि. यदि सर्वमेव अंशिरूपं स्यात् तदा अंशिनः स्वात्मातिरिक्तसुखस्य अभावाद् दुःखस्य च सुतराम् अभावाद् हिताहितप्राप्ति-परिहाराय इन्द्रियव्यापाराः लोकप्रसिद्धाः न स्युः. करोत्येव इन्द्रियव्यापारान् करोत्येव इति अर्थः. तथाच असङ्गता इयम् आशङ्का इति अर्थः॥२२॥

तदनुरोधः भगवदधीनत्वरूपः॥२३॥८॥

एवम् अधिकरणद्वयेन कार्यस्य अंशस्य च कारणानन्यत्वांश्यनन्यत्वे ये दोषाः ते परिहृताः. अतःपरं ब्रह्मणः एकस्यैव अन्यनिरपेक्षस्य कारणत्वे पुनः अन्यद् आशङ्क्य समाधत्ते ब्रह्म इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

नियमाभावः इति अर्थः. तत्र हेतुम् आहुः सर्वेति. लोकेऽपि दृश्यते अंशिना अंशस्य नख-केशादेः कृन्तनं क्रियते इति. ननु लोके अस्तु नाम, भगवता कथं क्रियते? इत्यतः आहुः स्वलीलया इति. लीलया कुत्रचिद् अंशं सुखं कुत्रचिद् दुःखं करोत्येव इति अर्थः. अन्यथा लीलासिद्धिः न स्याद् इति भावः. एवञ्च अयं दोषो भेददोषोऽपि नास्ति इति ध्वनितम्॥२२॥

सूत्रार्थम् आहुः पार्थिवत्वेति. अस्मादीति. आदिपदग्राह्यम् आहुः पलाशेति. वृक्षत्वाविशेषेऽपि इत्यादि. सूत्रप्रयोजनम् आहुः कार्येति. कारणापेक्षया इति शेषः. तदनुरोधश्च इति. कार्याधीनत्वम् इति अर्थः. दर्शितः. अनेन सूत्रेण दर्शितः. तथाच पूर्वसूत्रेण गतार्थत्वं नास्ति इति सूचितम्॥२३॥१०॥

निरपेक्षकारणत्वं ब्रह्मणः इति साधयितुं उपसंहाराधिकरणम् आहुः

चक्रादिसाधनान्तरस्य **उपसंहारदर्शनात्** सम्पादनदर्शनाद् इति चेद्, न, **क्षीरवद्धि**. यथा क्षीरं कतरिम् अनपेक्ष्य दधिभवनसमये दधि भवति. एवमेव ब्रह्मापि कार्यसमये स्वयमेव सर्वं भवति॥२४॥

देवादिवदपि लोके॥२५॥

स्वतो अभिन्नकरणे दृष्टान्तः. यथा देवर्षिपितरो बाह्यनिरपेक्षाएव स्वयोगबलेन सर्वं कुर्वन्ति एवं ब्रह्मापि अनपेक्ष्य तत्समवायं स्वतएव सर्वं करोति॥२५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

न क्षीरवद् हि इति. इयं आशङ्का न कर्तव्या. हि यतो हेतोः ब्रह्म न मृत्सूत्रादिवत् परिणमते येन उक्तरीत्या सामग्र्यपेक्षा स्यात् किन्तु क्षीरवत्. तदेतद् उक्तं यथा क्षीरम् इत्यादिना. तथाच लोकेऽपि इतरनैरपेक्ष्येण उपादानस्य कार्यजननदर्शनाद् न उक्तो बाधितोपदेशः इति अर्थः॥२४॥

ननु भवतु एवं परिणामे कर्तुः अनपेक्षा तथापि क्षीरस्य दधिभावे अधिश्रयणातञ्चनाद्यपेक्षा तु दृश्यतइति इतरानपेक्षं कथं कारणत्वम्? एवं दुग्धे दधिसमवायिकारणतापि विवादग्रस्तेति विषमो दृष्टान्तः इति द्वयं समाधातुम् आह देवादीत्यादि. ननु किम् अनेन दृष्टान्तेन? इत्यतः आहुः स्वतः इत्यादि. तथाच यथा कर्दमो “विमानं कामगं क्षत्तः तह्येव अविरचीकरद्” (भाग.पुरा.३।२३।१२) इति समवायि निमित्तानि वा अनपेक्ष्य विमानं कृतवान्, एवं ब्रह्मापि सर्वानपेक्षं जगत् सर्वं स्वसामर्थ्येन कृतवान्. अतो ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽपि न विरोधो लोकस्य, उक्तं च सूत्रद्वयं सांख्यानं प्रति औलूकान् प्रति च उत्तरं बोध्यम्॥२५॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

उपसंहारेति. कारणमात्रं सापेक्षम् इति संशयबीजम्. ब्रह्म सापेक्षं कारणं न वा इति संशयः. तत्र पूर्वपक्षम् आहुः ब्रह्मैकम् इति. तद् न उपपद्यते इति. लोके चक्रादिसहाये अन्यघटादिनिर्मितिः दृश्यते इति. वेदोऽपि न अलौकिकम् असहायं कारणत्वं वक्ति इत्यतो न उपपद्यते इति अर्थः. समाधानम् आहुः क्षीरवद्धि इति. तथाच निरपेक्षकारणत्वमपि क्वचिद् लोके दृश्यते इति भावः॥२४॥

क्षीरादावपि यत्किञ्चिद् दधिप्रक्षेपरूपम् आतञ्चनापेक्षा अस्ति इति न निरपेक्षे कारणे अयं दृष्टान्तः इति भिन्नं दृष्टान्तसूत्रं पठित्वा व्याकुर्वन्ति स्वतः इति. देवर्षिपितरः इति. देवाश्च ऋषयश्च पितरश्च देवर्षिपितरः इति द्वन्द्वः. यथा कर्दमप्रजापतिना विमानं कृतम् एवं गालवऋषिणापि. अनपेक्ष्य तत्समवायम् इति.

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा॥२६॥

यदि एकमेव ब्रह्म स्वात्मानमेव जगत् कुर्यात् तदा कृत्स्नं ब्रह्म एकमेव कार्यं भवेत्. अथ अंशभेदेन व्यवस्था, तथा सति **निरवयवत्वश्रुतिविरोधः**.
“निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्” (श्वेता.उप.६।१९) इति॥२६॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्॥२७॥

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. श्रुतेः श्रूयतएव द्वयमपि. नच श्रुतं युक्त्या बाधनीयम्, शब्दमूलत्वात् शब्दैकसमधिगम्यत्वात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवं लोकविरोधे परिहृते अत्रैव श्रुतिविरोधं आशङ्कते कृत्स्नेत्यादि॥२६॥

परिहरति श्रुतेस्तु इत्यादिना. अलौकिकाः “अचिन्त्या खलु ये भावा न तान् तर्केण योजयेत्” (महाभा.भीष्म.५।१२) “प्रकृतिभ्यः परं यच्च तद् अचिन्त्यस्य लक्षणम्” (मत्स्यपुरा.) इति मत्स्यपुराणवाक्यम्. क्वचित् “तान् तर्केण प्रसाधयेद्” इति पाठः. तथा सति मात्स्ये तर्काभ्यनुज्ञादर्शनाद् भ्रमः स्यादिति तन्निवारणाय
गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तत्समवायम् अनपेक्ष्य इति अन्वयः. ‘अनपेक्षितसमवायम्’ इति अपपाठः. समवायम् इत्यनेन निमित्तस्यापि परिग्रहः. स्वतएव इति स्वसामर्थ्यादेव इति अर्थः. अत्र न लोकविरोधः इति बोध्यम् ॥२५॥

“तदात्मानम्” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या सम्पूर्णं ब्रह्म कार्यरूपं भवति वा “पादो अस्य विश्वा भूतानि” (ऋग्वेद मं.१०।१०।३) इति श्रुत्या, “विष्टभ्य अहम्” (भग.गीता.१०।४२) इति स्मृत्या एकांशेन करोति इति उच्यते वा. आद्ये दूषणम् आहुः तदा इति. कृत्स्नं ब्रह्म इति. सम्पूर्णं ब्रह्म दुग्धदधिन्यायेन कार्यरूपमेव परिणमेत् तथाच अनित्यत्वापत्तिः. द्वितीये दूषणम् आहुः तथा सति इति. निरवयवत्वश्रुतिम् आहुः “निष्कलम्” (श्वेता.उप.६।१९) इति. कला अंशः तद्रहितम् इति अर्थः॥२६॥

समाधानसूत्रम् आहुः. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्. पक्षं पूर्वपक्षम्. श्रुतेः वेदात्. द्वयमपि इति कृत्स्नं ब्रह्म कार्यरूपं भवति नित्यं च. एकांशेन जगत्कर्तृत्वं निरवयवत्वं च इति विरुद्धधर्मद्वयमपि इति अर्थः. सर्वत्र शास्त्रे विरोधपरिहारो युक्त्या क्रियते इति अत्रापि कर्तव्यः इति आशयेन शङ्कते नच इति. श्रुतं वेदप्रतिपाद्यं युक्त्या तर्केण. उत्तरयन्ति शब्दः इति. विरुद्धं धर्मद्वयं वेदप्रमाणमूलकं ब्रह्मणि स्वीक्रियतइति न तत्र तर्कावकाशः इति अर्थः. अत्र तर्को न कर्तव्यः इत्यत्र

“अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्” (महाभा.५।२।१२)
 “अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क-विचार-कु तर्क -प्रमाणाभास-शास्त्र-
 कलिलान्तःकरण-दुरवग्रहवादिनां वादानवसरे सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि
 विरोधाभावाच्च” (भाग.पुरा.६।१।३६).

एवं परिहृतेऽपि दोषे स्वमत्या अनुपपत्तिम् उद्भाव्य सर्वसम्प्लवं वदन्
 मन्दमतिः सदिभः उपेक्ष्यः ॥२७॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रीभागवतवाक्योपन्यासः. तथाच मात्स्ये “प्रकृतिभ्यः” इति दर्शनात् पुरुषपर्यन्तएव
 तेषां विषयो नतु अग्रइति न दोषः. अर्वाचीनेत्यादि. तथाच शङ्कराचार्यैः उच्यते,
 निरवयवस्य ब्रह्मणो जगत्परिणामित्वे कृत्स्नप्रसक्तिः सावयवस्य एकदेशेन
 जगत्परिणामित्वे निरवयवत्वशब्दकोपः इति जगद् अविद्याकृतमेव इति तद्दूषयन्ति
 सर्वभवनेत्यादि ॥२७॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मत्स्यपुराणवाक्यं प्रमाणम् आहुः अचिन्त्या इति. “प्रकृतिभ्यः परं यच्च तद्
 अचिन्त्यस्य लक्षणम्” (मत्स्यपुरा.११३।६) इति उत्तरार्धम्. तथाच यः प्रकृतेः परः
 तत्र वेदोक्तमेव मन्तव्यं न वादावसरः इति अर्थः. इममेव अर्थम् आहुः अर्वाचीनः
 इति. वादिनाम् इत्यन्तम् एकं पदम्. प्रकृतिपर्यन्ते अर्वाचीने पदार्थे यो विकल्पः तत्र यो
 विचारः तत्र यः कुतर्कविदा सम्मता युक्तिः, सैव यत्र प्रमाणाभासः नतु प्रमाणम्.
 तत्प्रतिपादकं यच्छास्त्रं काणादं तेन कलिलं संवेष्टितम् अन्तःकरणं येषाम् एतादृशाः ये
 दुरवग्रहवादिनः. दुष्टः अवग्रहः आग्रहो येषाम् एतादृशाः ये वादिनः तेषाम् इति अर्थः.
 ननु वादो माऽस्तु परन्तु विरोधपरिहारः कथं कर्तव्यः? इत्यतः आहुः सर्वेति. “सति
 कुड्ये चित्रम्” इति न्यायेन विरोधएव नास्ति कुतः परिहारः इति अर्थः. अत्र अस्मन्मते
 कर्तृत्वम् अकर्तृत्वादिविरोधपरिहारार्थं तत्र-तत्र विरुद्धधर्माधारत्वं ब्रह्मणि स्वीकृतं
 तस्य इदमेव सूत्रं मूलम् इति मन्तव्यम्. अत्र शङ्कराचार्यैः यथा तिमिरोपहत-नयनेन
 अनेकचन्द्रो दृश्यते नतु सः अनेकः इति तथा अविद्याकल्पितरूपभेदेन सावयवत्वम्
 अनेकत्वं च नतु वास्तवम् एवं रीत्या निरवयवत्वशब्दकोपरूपदूषणं परिहृतम्. तन्मतं
 कटाक्षयितुम् आहुः एवम् इति. वेदोक्तं विरुद्धधर्माश्रयत्वं स्वीकृत्य इति अर्थः.
 सर्वसंप्लवः इति. सर्वं मायिकम् इति अर्थः. अत्र अधिकन्तु प्रकाशाद् अनुसन्धेयम्
 ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि॥२८॥

सृष्टौ देशकालापेक्षापि नास्ति, आत्मन्येव सृष्टत्वात्. देश-काल-सृष्टावपि आत्मन्येव साधिकरणस्य सृष्टत्वाच्च. बहिरन्तश्च जगत्सृष्टिं वा आह विशेषाभावेन, “अनन्तरो अबाह्यः” (बृ.उप.४।५।१३) इति. विरोधाभावो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रे प्रथमचकारो अवधारणार्थः, द्वितीयो अप्यर्थः. आत्मनि स्रष्टृत्वं च द्वितीयस्कन्धे “स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः, आत्मन्येवात्मनात्मानं संयच्छति च पाति च” (भाग.पुरा.२।६।३८) इति ब्रह्मवाक्ये. ब्रह्मणो जगत्सृष्टौ न स्वेतरापेक्षा इति ‘अपि’ शब्दाद् अवगतम्. प्रथमचकारम् अप्यर्थम् अङ्गीकृत्य पक्षान्तरम् आहुः बहिः इत्यादि. विशेषाभावेन इति तौल्येन इति अर्थः. तथाच यथा आत्मनि सृष्टौ “न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते” (बृहदा.उप.४।३।१०) इत्यत्र न देशकालाद्यपेक्षा एवं बहिःसृष्टावपि “अनन्तरो अबाह्यः” (तत्रैव ४।५।१३) इति श्रुत्या सर्वत्र ब्रह्मणः एकरूपताबोधनेन अन्तर्बहिः तुल्यत्वाद्, अतो बहिरपि सृजन् आत्मन्येव सृजति इति अर्थः. ननु सा सृष्टिः मायिकी तत्र तथा युक्तम्, इयन्तु सत्या इति कथम् अस्यां देशकालाद्यनपेक्षा? इत्यतः आह

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एकैव सृष्टिं करोति इत्यत्र ‘एक’ शब्दः सहायाभाववाची. तथाच लोके सर्वकार्येषु देशकालयोः अपेक्षा एवं सृष्टावपि अस्ति इति कथम् असहायत्वं भगवतः? इति आशङ्कायां सूत्रम् आहुः आत्मनि च इति. असहायैव सृष्टिं करोति इति आहुः. सृष्टौ इति. ‘च’ कारस्य एवार्थकत्वम्. एवम् इत्यस्य सृष्टत्वार्थकत्वं स्वीकृत्य सूत्रार्थं व्याकुर्वन्ति आत्मन्येव इति. स्वर्गादिलोके युगे च सृष्टिः श्रूयते दृश्यते च इति. कथं तयोः अपेक्षा नास्ति? इत्यतः आहुः देशकाले इति. विषयसप्तमी. तथाच देशकालसृष्टिविषयेऽपि देशकालाधिकरणसहितस्य जगतः आत्मन्येव सृष्टत्वाद् इति अर्थः. इदञ्च द्वितीयस्कन्धे “स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः, आत्मा आत्मनि आत्मना आत्मानं संयच्छति च पाति च” (भाग.पुरा.२।६।३८) इति उक्तम्. आत्मनि उक्ते न केवलम् अन्तः किन्तु उभयत्रापि इति आहुः बहिः इति. विशेषाभावेन समानेन. अत्र श्रुतिरपि प्रमाणम् आहुः अनन्तरेति. तथाच अन्तः यथा देशकालापेक्षा नास्ति तथा बहिरपि इति अर्थः. ननु यः अनन्तरः सः अबाह्यः कथम् इत्येवंरीत्या विरोधो दृश्यते इत्यतः आहुः विरोधाभावेति. विचित्रेति. एतेन उत्तरार्द्धं

विचित्रशक्तियुक्तत्वात् सर्वभवनसमर्थत्वाच्च॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च॥२९॥

प्रधानवादिनोऽपि सर्वपरिणाम-सावयवत्वानित्यत्वादिदोषो दुष्परिहरः,
वृत्तिमूलत्वाच्च तस्य, अचिन्त्यकल्पनायां प्रमाणाभावाच्च॥२९॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे एकादशम् उपसंहारदर्शनाधिकरणम्॥११॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥३०॥ (२।१।१२)

सर्वशक्तिभिः उपेता उपगतः. ‘च’कारात् सत्यादिगुणयुक्तश्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विचित्राश्च हि इति. हि यतो हेतोः. “परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी
ज्ञानबलक्रिया च” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेः तस्य शक्तयो विचित्राएव इति. अतएव
आहुः विरोधाभावः इति॥२८॥

स्फुटं भाष्यम्॥२९॥१॥

एवम् उपादानत्वे दोषशङ्काम् उद्धृत्य कर्तृत्वे ताम् उद्धरन् उपादानता-
निर्वाहकं सर्वशक्तिसाहित्यं प्रदर्शयति सर्वशक्तिभिः इत्यादिना. उपेता इति
तृजन्तशब्दः तेन उपगतः इति अर्थः. सत्यादीत्यादि. ते च गुणाः प्रथमस्कन्धे धरित्र्या धर्मं
प्रति उक्ताः

“सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।

शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रस्य व्याख्यातम्. तथाच “परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते” (श्वेता.उप.६।८) इति
श्रुत्या विचित्रशक्तिमति ब्रह्मणि विरोधो नास्ति इति अर्थः. अपरं हेतुम् आहुः सर्वेति.
अस्मन्मते विरुद्धधर्माश्रयत्वस्वीकारे इदमपि सूत्रं प्रमाणं बोध्यम् इति हृदयम्॥२८॥

दुष्परिहरः इति साङ्ख्यं प्रति उच्यते. यः स्वपक्षे दोषः सः परमते न
उद्भावनीयः इति उभयवादिसिद्धम्. तथाच अयं विरोधरूपो दोषः तव मते दुष्परिहरः
इति अर्थः. ननु कथं दुष्परिहरः? इत्यतः आहुः युक्तीति. तस्य साङ्ख्यमतस्य. ननु
एवं चेद् मयापि वक्तुं शक्यते “अचिन्त्या खलु ये भावाः” (महाभा.भीष्म.५।१२)
इत्यतः आहुः अचिन्त्या इति॥२९॥११॥

एवं ब्रह्मणः उपादानत्वे प्रसक्तान् दोषान् परिहृत्य कर्तृत्वे तान् परिहर्तुं
सर्वोपेताधिकरणम् आहुः सर्वोपेता च तद्दर्शनात्. ‘सर्वोपेतृ’शब्दो अयं तृजन्तः.

कुतः? तद्दर्शनात्. तथा वेदे दृश्यते. “यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्ता सर्वकामः” (छान्दो.उप.३।१४।२) इत्यादि॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम्॥३१॥

कर्ता इन्द्रियवान् लोके. ब्रह्मणो निरिन्द्रियत्वात् कथं कर्तृत्वम्? इति चेद्, न, अस्य परिहारः पूर्वमेव उक्तः “श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्” (ब्रह्मसू.२।१।२७) इत्यत्र. अनवगाह्यमाहात्म्ये श्रुतिरेव शरणं, न अन्या वाचोयुक्तिः इति॥३१॥

न प्रयोजनवत्त्वात्॥३२॥

न ब्रह्म जगत्कारणम्. कुतः? प्रयोजनवत्त्वात्. कार्यं हि प्रयोजनवद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।

स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिः धैर्यं मार्दवमेव च॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।

गाम्भीर्यं स्थैर्यम् आस्तिव्यं कीर्तिः मानोनहङ्कृतिः।

एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः॥३०॥

(भाग.पुरा.१।१६।२६-२९)

विकरणत्वात् करणशून्यत्वात् कर्तृत्वं न सम्भवति ब्रह्मणः इति चेद् इति शङ्केत चेत्, तदुक्तं ‘सर्वतःपाणिपादान्तत्व’वचनेन “सहस्रशीर्षा” इत्यादिना च तदुक्तम् इति अर्थः सूत्रस्य॥३१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विकरणम्

सत्यादीति. “सत्यं शौचं दया क्षान्तिः” (भाग.पुरा.१।१६।२६) इत्यादिना प्रथमस्कन्धे धरणीधर्मसंवादे उक्ताः॥३०॥

विगतं करणम् इन्द्रियं यस्मात् तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्. “न तस्य कार्यं करणं च विद्यते” (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुत्या कर्तृत्वनिषेधः. लोके इन्द्रियवान् कर्ता. ब्रह्मतु श्रुत्या “अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाङ्मनः” इति प्रतिपाद्यतइति कर्तृत्वनिषेधः इति पूर्वपक्षः. समाधानन्तु सूत्रे तदुक्तम्. तदेव आहुः अस्य इति. श्रुतिरेव इति. “अचक्षुर्विश्वतश्चक्षुः” (.....) “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता” (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादिश्रुतिरेव इति अर्थः. शरणम् इति. विरुद्धधर्माधारत्वे शरणम् इति अर्थः॥३१॥

न प्रयोजनवत्त्वाद् इति. कार्यस्य प्रयोजनवत्त्वाद् इति अर्थः. तदेव आहुः कार्यम् इति. न शक्यते इति. तथाच अर्थाद् ब्रह्मणि प्रयोजनत्वाभावे सिद्धे तेन हेतुना

दृष्टं लोके. ब्रह्मणि पुनः प्रयोजनवत्त्वं सम्भावयितुमपि न शक्यते,
आप्तकाम^(बृहदा.उप.४।३।२१)-श्रुतिविरोधात्. व्यधिकरणो हेतुः न समासो वा ॥३२॥

लोकवत् लीला कैवल्यम् ॥३३॥

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. लोकवद् लीला. नहि लीलायां किञ्चित्
प्रयोजनम् अस्ति, लीलायाएव प्रयोजनत्वात्. ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं
शक्या. सा लीला कैवल्यं मोक्षः. तस्य लीलात्वेऽपि अन्यस्य तत्कीर्तने मोक्षः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्यधिकरणो हेतुः कारणत्वाभावे साध्ये ब्रह्मणि प्रयोजनवत्त्वाद् इति हेतुः
व्यधिकरणे इति अर्थः. न समासः न विद्यते प्रयोजनम् अस्य इति न प्रयोजनवत् तस्य
भावः तत्त्वं तस्माद् इति रीत्या समासकरणे सामानाधिकरण्यमपि इति अर्थः. नैकधा
इतिवद् नशब्देन सह ‘सुप्सुपा’ (पाणि.सू.२।१।४) इति समासः ॥३२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

कर्तृत्वाभावसिद्धिः इति भावः. ननु सूत्रकारेण प्रयोजनवत्त्वाद् अयं हेतुप्रयोगः कथं
कृतः? इत्यतः आहुः व्यधिकरणेति. विभिन्नाधिकरणेति अर्थः. तथा च कार्यरूपे
विभिन्ने अधिकरणे हेतुसत्त्वे पक्षे तदभावहेतुना साध्यसिद्धिः इति आशयेन व्यधिकरणे
हेतुप्रयोगः इति भावः. ननु ‘द्रविडप्राणायाम’न्यायः किमर्थम्? अतः पक्षान्तरम् आहुः न
समासो वा इति. यथा नैकधा इत्यत्र ‘सुप्सुपा’ इत्यनेन शब्देन समासः तथा ‘न
प्रयोजनवत्त्वात्’ इत्यत्रापि समासे प्रयोजानाभाववत्त्वाद् इति अर्थः. तथाच अस्मिन् सूत्रे
पूर्वसूत्राद् ‘न’कारस्य अनुवृत्तौ ब्रह्म न जगत्कारणं, न प्रयोजनवत्त्वाद् इति अनुमानं
बोध्यम्. क्वचित् पुस्तके ‘व्यधिकरणे हेतुः’ इत्यपि पाठः ॥३२॥

इदं समाधानसूत्रम् इति सूचयन्ति ‘तु’शब्दः इति. लोकवद् इति. लोके
राजादिप्रभुवत्. लीलायाम् अक्षदेवनादिलीलायाम्. अस्ति इति काकूक्तिः. नास्ति इति
अर्थः. ननु “प्रयोजनम् अनुदिदृश्य” इति न्यायात् प्रवृत्तिरेव न स्याद् इत्यतः आहुः
लीलायाः इति. ननु लीलातिरिक्तं किञ्चिद् वक्तव्यं, नो चेत् सृष्ट्यादिलीला अस्तु
नाम, प्रलयादिलीला न कर्तव्या इत्यतः आहुः ईश्वरत्वाद् इति. ‘कैवल्य’पदप्रयोजनम्
आहुः सा इति. कीर्तने इति. इयं परिदृश्यमाना अपरिदृश्यमाना सर्वापि सृष्टिः
भगवल्लीलैवेति कीर्तनजन्येन “न अहं कस्य न कोऽपि मम” इति ज्ञानेन मोक्षे जाते
अहन्ताममतारूप-संसारनिवृत्तिरेव, नतु लीलात्मकप्रपञ्चलयः इति अर्थः. तथाच उक्तं
निबन्धे श्रीमदाचार्यचरणैः “संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचिद्”

इति अर्थः. लीलैव केवला इति वा॥३३॥

वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति॥३४॥

कांश्चित् सुखिनः कांश्चित् दुःखिनश्च, प्रलयञ्च कुर्वन् विषमो निर्घृणश्च इति चेद्, न, सापेक्षत्वात्. जीवानां कर्मानुरोधेन सुख-दुःखे प्रयच्छति इति. वादिबोधनाय एतद् उक्तम्. वस्तुतस्तु आत्मसृष्टेः वैषम्य-नैर्घृण्यसम्भावनैव नास्ति. वृष्टिवद् भगवान्, बीजवत् कर्म. श्रुतिरेव तथा दर्शयति. “एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति” (कौषी.उप.३।८), “पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा” (बृहदा.उप.३।२।१३) इति च. सापेक्षमपि कुर्वन् ईश्वरइति माहात्म्यम्॥३४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लीलैव केवलेति वा इति. तथाच लीलायाः स्वाभाविकमोक्षरूपत्व-प्रदर्शनाय केवलपदप्रयोगो वास्तविको नतु व्यावर्तकः इति अर्थः॥३३॥

ननु उत्तमाधमकर्मकारयितृत्वात् तथाफलदाने ‘प्रक्षालनादिध’ इतिन्यायः. तथाच कर्मणैव सर्वनिर्वाहे कृतम् ईश्वराङ्गीकारेण इति चेत्, परिहरति सापेक्षम् इत्यादिना. तथाच एवंविधमाहात्म्यज्ञापनेन लोकोद्धारार्थमेव एवं करणमिति ऐश्वर्यसाधकमेव इदं नतु उक्तन्यायः. तथाहि दर्शयति “एष ह्येव साधु कर्म कारयति”

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

(तत्त्वदी.नि.१।२४) इति. ऋजूनां बोधनाय पक्षान्तरम् आहुः लीलैव इति ॥३३॥

भगवतः वैषम्यनैर्घृण्ये न. कुतः? सापेक्षत्वात्. तथा श्रुतिः दर्शयति. हि प्रसिद्धम्. कांश्चिद् इत्यादिना वैषम्यं प्रलयं च इत्यनेन नैर्घृण्यं च निरूपितम्. समाधानम् आहुः सापेक्षत्वाद् इति. ननु एवं चेत् स्वातन्त्र्यहानिः नो चेद् वैषम्यादिप्रवृत्तिः इत्यतः आहुः वादीति. कर्मवादिनां मीमांसकानां बोधनाय इति अर्थः. आत्मसृष्टेः इति. “आत्मानं स्वयम् अकुरुत” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्युक्तात्मसृष्टेः इति अर्थः. नास्ति इति. परकीयाभावाद् इत्यादि. पक्षान्तरेण वैषम्यादिदोषं वारयन्ति वृष्टिवद् इति. वृष्टिः सर्वत्र, यत्र बीजं तत्र अङ्कुरोत्पत्तिः यथा, तथा भगवान् सर्वकर्ता. यत्र कर्म तत्र वैषम्यम् इति अर्थः. ननु वृष्टेः सस्यादिकर्तृत्वे बीजापेक्षा एवं भगवतोऽपि कर्मसापेक्षत्वे ईश्वरत्वहानिः इत्यतः आहुः श्रुतिरेव इति. तथाच लोके प्रभु भृत्यादिद्वारा धनं दण्डं च ददाति इत्येवं

न कर्माविभागाद् इति चेन्नानादित्वात्॥३५॥

न कर्म विभागात् कार्योद्गमात् पूर्वं सम्भवति, पश्चात्तु अन्योन्याश्रयः
इति चेद्, न, अनादित्वात्. बीजाङ्कुरवत् प्रवाहस्य अनादित्वात्॥३५॥

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च॥३६॥

कथम् अनादित्वम्? इति चेद्, उपपद्यते. अन्यथा कस्य संसारः?

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

(कौषी.उप.३।८) इति श्रुतिरेव तथा दर्शयति इति भावः॥३४॥

यदुक्तम् ईश्वरो जीवकर्मसापेक्षइति न वैषम्यादिदोषसम्बन्धः तत्र इति तद्
अयुक्तं सृष्ट्यादौ “सदेव सौम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्” (छान्दो.उप. ६।२।
१) इति ब्रह्मेतरनिषेधस्य सत्त्वाद् न सृष्टेः पूर्वं ब्रह्मेतरस्य कस्यापि सत्त्वम्,
अग्निविस्फुलिङ्गन्यायेन जीवोद्गमनानन्तरमेव सर्वेषाम् उद्भवः. इत्थं च पूर्वं जीवानामेव
असत्त्वेन तच्छरीरकर्मणामपि अभावात् कर्मसापेक्षतया वैषम्यनैर्घृण्यदोषोद्धारो
दुर्घटएव. अथ विभागोत्तरकर्मणा समाधानं, तदपि अयुक्तं, कर्मणः शरीरसाधकत्वेन
शरीरसम्बन्धस्य च कर्मसाध्यत्वेन अन्योन्याश्रयाद्, इत्येवं सूत्रांशेन आशङ्क्य समाधत्ते
इति चेद् न अनादित्वाद् इत्यनेन. तथाच जीवानामिव सर्वेषां कार्याणां कारणे लयाद्
उद्गमकाले पुनः नियम्य-नियामकभावसम्भवाद् न समाधानहानिः इति भावः॥३५॥

कथम् अनादित्वम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः उपपद्यते इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कर्मसापेक्षत्वेऽपि ईश्वरः इति माहात्म्यं श्रुतिः वदति इति अर्थः ॥३४॥

यदुक्तं पूर्वं सापेक्षमपि कुर्वन् ईश्वरः इति तद् न घटते, सृष्टेः पूर्वं कर्माभावाद्
इति आशयेन शङ्कते न कर्म इति. अविभागाद् इत्यत्र सृष्ट्यादौ इति पूरणीयम्.
तथाच सृष्ट्यादौ विभागाभावात् कर्माभावः इति सूत्रस्थम् अर्थं विशदयन्ति. न कर्म
इति. “एकाकी न रमते” (महोप.१।१) “बहु स्याम्” (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुत्या
विभागो नाम सृष्टिः. तदभावः. पूर्वं तत्र शरीराभावाद् न कर्म इति अर्थः. अविभागाद्
इत्यस्यैव फलितार्थम् आहुः. विभागात् कार्योद्गमात् पूर्वम् इति. ननु
विभागानन्तरमेव कर्म अस्ति इत्यतः आहुः पश्चात्तु इति. अन्योन्याश्रयः इति.
शरीरसाध्यं कर्म कर्मसाध्यं शरीरम् इति अन्योन्याश्रयः इति अर्थः. समाधानम् आहुः
अनादित्वाद् इति. प्रवाहानादित्वे अन्योन्याश्रयदोषो नास्ति इति अर्थः ॥३५॥

अनादित्वव्यवस्थापकम् इदं सूत्रम्. उपपद्यते इति. उपापादयति तर्कः. सोऽपि

कृतहानिः अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च. **उपलभ्यते च** श्रुतिस्मृत्योः. “अनेन जीवेन आत्मना” (छान्दो.उप.६।३।२) इति सर्गादौ ‘जीव’ प्रयोगाद् अनादित्वम्. “तपसैव यथा पूर्वं स्रष्टा विश्वम् इदं भवान्” (भाग.पुरा.३।१२।१८) इति च॥३६॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥३७॥

उपसंहरति. वेदोक्ताः धर्माः सर्वे ब्रह्मणि उपपद्यन्ते, सर्वसमर्थत्वाद् इति॥३७॥१२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्यथा इत्यादि. जीवाद्यनादित्वाभावे. प्रथमः चो अवधारणार्थः, द्वितीयः उक्तस्य समुच्चयार्थः. तथाच सदसत्कर्मणां प्रलयपूर्वतनानां जीवस्य कारणलयेन भोगाभावात् कृतहानिः पुनः सृष्ट्युत्तरम् आरम्भककर्मणाम् अभावात् सकलदुःखनिवहसाधनीभूत-शरीरप्राप्तिकश्च उच्चनीचसकलपदार्थलाभः अकृताभ्यागमरूपः स्याद् यदि अनादित्वं न उरीक्रियेत. “नामरूपे व्याकरवाणि” (छान्दो.उप.६।३।२) इति श्रुतावपि सिद्धानामेव व्याकरणसम्भवः उक्तः. जीवत्वम् अनाद्येव उक्तम्. स्मृतावपि यथापूर्वस्थितस्यैव सृष्टिः उक्ता ॥३६॥

उपसंहरति इत्यादि. तथाच नारदपरीक्षायां “चित्रं बत यदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्, गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहद्” इति उपक्रमे कथनात् “तमेव सर्वगृहेषु सन्तमेकं ददर्श ह” (भाग.पुरा.१०।६९।२) इति उपसंहारे कथनाद् नानागृहेषु नानाकार्याणि कुर्वतोऽपि यथा न स्वरूपभेदः तथा अत्रापि इति बोध्यम्॥३७॥१०॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अस्ति इति अर्थः. संसारः इति. अनादित्वाभावे जीवस्य संसारएव न स्यात्. अपरं दूषणम् आहुः कृतहानिः इति. जीवैः सदसत्कर्म कृतं, तदुत्तरं प्रलये जाते ब्रह्मरूपत्वेन तेषां कर्मफलभोगएव न जातः इति कृतस्य कर्मणः फलहानिः इति अर्थः. अकृताभ्यागमः इति. प्रलयकाले ब्रह्मभावं प्राप्तानाम् अतिशुद्धानां जीवानां कर्माभावादेव सुखदुःखसाधनीभूतशरीरप्राप्तिः इति अकृतस्य कर्मणः फलाभ्यागमः इति अर्थः. अस्य सत्कर्तृत्वं वक्तुं श्रुतिस्मृत्योरपि प्रमाणम् आहुः उपलभ्यते इति. श्रुतिम् आहुः अनेन इति. तृतीयस्कन्धीयनवमाध्यायस्य स्मृतिम् आहुः तपसैव इति ॥३६॥

उपपद्यते कर्तृत्वम् अकर्तृत्वं जीवद्वारा कर्मसहायवत्वम्. स्वतन्त्रत्वम् एकत्वम् अनेकत्वम् इत्यादयः सर्वे धर्माः वेदोक्ताः उपपद्यन्ते इति अर्थः. अत्र हेतुम् आहुः सर्वेति ॥३७॥१२॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमपादे द्वादशं सर्वोपेताधिकरणम्॥१२॥
इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥२॥१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति श्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुत-श्रीगोपालजीकृते
श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यपदप्रदीपे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

इति श्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरीपरमानिर्वचनीय-सरसवदनतामरसरस-
सुधाहृदावगाहि श्रीमदाचार्यपदाब्जकृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजयदुनाथकुलोद्भवगोस्वामिश्रीगोपालात्मजगिरिधरविरचिते
अणुभाष्यविवरणे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादः समाप्तिम् अफाणीत्

द्वितीयो अध्यायः द्वितीयः पादः

रचनानुपपत्तेश्च न अनुमानम् ॥१॥ (२।२।१)

स्वतन्त्रतया सर्वे वादाः निराक्रियन्ते अस्मिन् पादे.

लोकानां भूर्भुवादीनाम् अचेतनेन केवलेन प्रधानेन रचना न उपपद्यते.
रचितत्वादेव न परिणामः, सर्वस्य संश्लेषप्रसङ्गात्. अतः चेतनकर्तृका रचना न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्वतन्त्रतया वेदार्थे पूर्वोक्तरीत्या बाधकत्वाभावेऽपि पुरुषार्थसाधकता-
बुद्धिनिराकरणतया. सर्वे वादाः ब्रह्मवादविरुद्धाः सर्वे वादाः इति अर्थः. रचितत्वादेव

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वपादे साङ्ख्यादिमतनिराकरणं शुष्कतर्केण कुत्रचित् श्रुतिसहायेनापि कृतम्. इदानीं तेषां तर्काणां केवलैः तर्कैरेव निराकर्तुं तर्कपादः आरभ्यते. तत्र प्रथमं सूत्रदशकैः साङ्ख्यमतं निराकर्तुं रचनानुपपत्त्यधिकरणं रचयाञ्चक्रुः रचनानुपपत्तेश्च इति. स्वतन्त्रतया इति. श्रुत्यसहायेन तर्केण इति अर्थः. सर्वे वादाः साङ्ख्य-योग-न्याय-मायादिवादाः निराक्रियन्ते इति. एतेन पूर्वपादनिरूपिताः तत्तन्मतनिरासक-केवलतर्कस्मरणेन स्मृतस्य उपेक्षानर्हत्वरूपप्रसङ्गसङ्गतिः सूचिता. अत्र सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः. तदेव 'प्रधानम्' इति उच्यते. सत्त्वादीनां त्रयाणां क्रमेण सुखदुःखमोहात्मकत्वम्. जगतोऽपि सुखदुःखमोहात्मकत्वम्. एवञ्च एतादृशं जगत् प्रधानजन्यं, प्रधानान्वितत्वात्. यद् येन अन्वितं भवति तत्तदुपादानकं भवति इति सामान्यव्याप्तौ घटादिदृष्टान्तः. तत्र मृदन्वयदर्शनाद् जगद् यदि प्रधानजन्यं न स्यात् तर्हि सुखदुःखमोहात्मकं न स्यात्. दृश्यतेतु तथा तस्मात् तज्जन्यम् इति तर्कः. तथाच एतादृशानुमानेन जगत्कारणत्वं प्रधाने साङ्ख्यैः स्वीक्रियते. तदनुमानेनैव निराकर्तुं 'रचनानुपपत्तेश्च' इति सूत्रम् उक्तम्. तद्व्याकुर्वन्ति लोकानाम् इति. रचना इति. बुद्धिपूर्वकचेतनक्रियाजन्यसंस्थानविशेषः इति अर्थः. न उपपद्यते इति. तथाच भूरादिलोकरचना केवलाचेतनकारणिकत्वाभाववती, रचनात्वात्. तथाच जगद् यदि प्रधानजन्यं स्यात् तर्हि चेतनजन्यरचनावद् न स्यात्. दृश्यतेतु रचनावत्. तस्माद् न प्रधानजन्यम् इति तर्कस्यैव साङ्ख्यतर्कनिवर्तकत्वम् इति भावः. ननु दुग्धं दधिरूपेण यथा परिणमते तथा प्रधानं जगद्रूपेण परिणमते, एवञ्च कर्तृत्वं मास्तु, परिणामवादम् आश्रित्य प्रधानस्य कारणत्वं केन वार्यते? इत्यतः आहुः रचितत्वाद् इति. तथाच जगद् यदि प्रधानपरिणामकं स्यात् तर्हि रचितं न स्यात्, दृश्यतेतु रचितम्, तस्माद् न

अचेतनेन प्रधानेन कर्तुं शक्या. तस्मात् कारणत्वेन प्रधानं न अनुमातव्यम्.
अन्यथोपपत्त्या बाधितमेव अनुमानम् इति 'च'कारार्थः॥१॥

प्रवृत्तेश्च॥२॥

भुवनानि विचार्य जनान् विचारयति. सर्वस्य तत्परिणामे प्रवृत्तिः न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कर्तृजन्यत्वादेव. तथाच यथा घटादयः कुलालादिकर्तृजन्याः न कुलालादेः परिणामाः
तथा जगदपि कर्तृजन्यत्वाद् न प्रकृतेः परिणामः इति अर्थः. सर्वस्य इत्यादि. तथाच
भूरादिसर्वलोकानां परिणामत्वस्वीकारे सर्वेषां परिणामिसंश्लेषो दधिदुग्धस्थल-
समानतया अनुभूतो भवेत् तथातु न अनुभूयतइति न परिणामत्वम्. न अनुमातव्यम् इति
“जगत् सकारणकं, कार्यत्वाद्, घटवद्” इति अनुमानेन प्रकृतिः प्रधानं न अनुमेया किन्तु
ईश्वरएव अनुमेयः इति भावः. अन्यथोपपत्त्या इत्यादि. तथाच जडजीवा-न्तर्यामिणां
मध्ये प्रत्येकं पक्षीकृत्य विजातीयोपादानकत्वाभावः सजातीयोपादानकत्वं वा साध्यं घटं
दृष्टान्तीकृत्य, एवञ्च सति त्रिविधकार्यं प्रति प्रकृतेः उपादानत्वे परिणामित्वे वा
प्रत्यक्षविरोधः सत्प्रतिपक्षकृतश्च बाधः इति तद् अनुमानम् अप्रयोजकम् इति भावः॥१॥

सर्वस्य चैतन्यावच्छेदकदेहमात्रस्य. तत्परिणामे प्रकृतिपरिणामत्वे
प्रकृतिजन्यत्वे निश्चिते. प्रवृत्तिः मातृपित्रादीनां प्रवृत्तिः. ननु मातृपितृ-शुक्रशोणित-
गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रधानपरिणामकम् इति तर्केण प्रधानस्य कारणत्वं वार्यते इति अर्थः. ननु जगति
प्रधानपरिणामकत्वम् अस्तु रचितत्वमपि अस्तु, को दोषः? तथाच न एतत् तर्कावसरः
इत्यतः आहुः सर्वस्य इति. लोके यत्र-यत्र परिणतत्वं तत्र संश्लिष्टत्वं दध्यादौ दृष्टम्.
तथाच यत्र संश्लिष्टत्वं तत्र रचितत्वं नास्ति इति परिणतत्वविरुद्धरचितत्वस्य सत्त्वात्
परिणामवादम् आश्रित्यापि न निर्वाहः इति भावः. सूत्रस्था'नुमान'पदस्य अर्थम् आहुः न
अनुमातव्यम् इति. अनुमानविषयं न कर्तव्यम् इति अर्थः. तथाच अनुमीयते इति
अनुमानम् इति भावे ल्युट् बोध्यः. 'च'कारार्थम् आहुः अन्यथा इति. अन्यथोपपत्त्या
सत्प्रतिपक्षानुमानेन बाधितमेव इति. साध्यशून्यपक्षकमेव इति अर्थः॥१॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः भुवनानि इत्यादिना. जनान् इति. जनरचनायाम्
अचेतनशुक्रशोणितपरिणामत्वं सर्वसम्मतम्. तथाच अचेतनप्रकृतिपरिणामत्वमपि जनेषु
स्वीकर्तव्यम् इति साङ्ख्यस्य गूढाभिसन्धिः. एवं रचनात्वेन हेतुना भुवनरचनायां
साङ्ख्यवारणेऽपि जनरचनायां तस्य वारणासम्भवाद् इत्यतः तान् विचारयति इति अर्थः.

उपपद्यते प्रधानस्य वा प्रथमप्रवृत्तिः. यद्यपि प्रधानकारणवादे फलपर्यन्तम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

संयोगादीनामपि प्रकृतिपरिणामे सहकारिकारणतया अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाद् न प्रवृत्त्यनुपपत्तिः अतः आहुः प्रधानस्य इत्यादि. तथाच प्रकृतेः प्रधानरूपायाः कार्यगोचरायाः पूर्वम् अन्वयव्यतिरेकसिद्धसहकारिकारणानाम् अभावात् प्रथमप्रवृत्तिः फलोपाधायिका न उपपद्येत इति अर्थः. ननु कामिन्यादीनां प्रवृत्तयो यथा स्वभाव-सिद्धाएव जायन्ते फलान्ताः तथा प्रकृतिप्रवृत्तयोऽपि स्वभावसिद्धाएव सकल-कार्यानुकूलाः प्रधानविषयाः प्रकृत्युपादानिकाः भविष्यन्तीति न कापि अनुपपत्तिः इति आहुः यद्यपि इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विचारमेव आहुः सर्वस्य इत्यादि. अचेतनत्वं शुक्रशोणिते प्रकृतावपि समानम् इति कृत्वा यद्यद् जडपरिणामभूतं तस्य सर्वस्य जनस्य प्रकृतिपरिणामे स्वीक्रियमाणे सति इति अर्थः. प्रवृत्तिः इति. तथाच एवंरीत्या प्रकृतेः कारणत्वे स्वीक्रियमाणे तथैव सम्भवे पुत्रादिशरीरोत्पादनार्थं चेतनयोः माता-पित्रोः प्रयत्नपूर्वकक्रियारूपप्रवृत्तिः न स्याद् इति अर्थः. एवं प्रकृतेः कारणत्वे स्वीक्रियमाणे सर्वेषां जनानां प्रवृत्त्यनुपपत्तिरूपं दोषम् उद्भाव्य तस्याः सृष्ट्याद्यर्थं प्रवृत्तिरपि वक्तुं न शक्यते इति आहुः प्रधानस्य वा इति. प्रथमप्रवृत्तिः इति. न उपपद्यते इति पूर्वेण अन्वयः. अयं भावः. सत्त्वादिगुणानां साम्यावस्था यदा तदैव तत्त्वानां प्रलयः. साम्यावस्थैव प्रधानम् इति उच्यते. तत्र सृष्टेः पूर्वं गुणानां क्षोभरूपवैषम्येण एकस्य अङ्गित्वम् अपरयोः अङ्गित्वं, तदनन्तरं महदादिकार्योत्पादनं, सैव प्रथमप्रवृत्तिः इति उच्यते. तथा विविधकार्यविन्यासो रचना इति उच्यते. एवञ्च प्रधानस्य जडत्वात् स्वतः क्षोभासम्भवात् चेतनसंयोगजन्यो वक्तव्यः. तस्य संयोगस्य सर्वदा सत्त्वे प्रलयानुपपत्तिः. यदा कदाचित् सत्त्वे कदा सत्त्वम्? इति आकाङ्क्षायाम् इच्छाधीनत्वं वक्तव्यम्. साच भगवन्निष्ठा, नतु जडप्रधाननिष्ठा. तथाच एवंरीत्या प्राथमिकेयं प्रवृत्तिः प्रधाने न उपपद्यते, किमु वक्तव्यम् अनन्तरकार्यारम्भ इति. ननु किम् इदम् उच्यते. प्रधानस्य स्वभावएव अयं सर्गारम्भे स्वतएव तदीयगुणाः उत्कर्षापकर्षरूपतां प्राप्नुवन्ति, नतु चेतनसम्बन्धापेक्षा. तदनन्तरं सत्त्वोत्कर्षे शान्ता प्रवृत्तिः, रजोत्कर्षे घोरा प्रवृत्तिः, तमोत्कर्षे मूढा प्रवृत्तिः इति प्रवृत्तित्रयम्. तदनन्तरं महदादिकार्यारम्भः. एवं स्वभाववादे स्वीक्रियमाणे न किञ्चिद् दूषणम् इति अनुवादं कृत्वा दूषयन्ति यद्यपि इत्यादिना. फलपर्यन्तम् इति. सृष्टिस्थितिप्रलयरूपफलपर्यन्तम् इति अर्थः. एवञ्च सर्वकर्तृत्वं स्वभाववादम् आश्रित्य

अङ्गीक्रियमाणे न किञ्चिद् दूषणम्, कृतिमात्रस्य प्रधानविषयत्वात्, तथापि वादिनं प्रति लोकन्यायेन वक्तव्यम्.

तत्र लोके चेतनाचेतनव्यवहारो अस्ति. चेतनाः चतुर्विधा जीवाः सशरीराः अलौकिकाश्च. अन्ये अचेतनाः. तन्न्यायेन विचारो अत्रेति न किञ्चिद् विचारणीयम्॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लोकन्यायेन वक्तव्यं लोकसिद्धयुक्त्युपन्यासेन समाधानं वक्तव्यं नतु अतीन्द्रियस्वभावोपन्यासेन इति भावः. **चतुर्विधाः** जरायुजादिभेदभिन्नाः चतुर्विधाः. **अलौकिकाः** मुक्ताः. अन्ये घटकाष्ठादयः. **तन्न्यायेन** तत्रसिद्धयुक्त्यन्यायेन इति अर्थः. **न किञ्चिद्** इत्यादि. तथाच निर्युक्तिकवादे(५)वैदिकयुक्तिकवादे वा न उत्तरं देयम् इति अर्थः॥२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति भावः. **कृतिमात्रस्य** इति. प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपकृतिमात्रस्य इति अर्थः. तथाच धेनुः वत्सार्थं स्वभावादेव प्रवर्तते, नर्तकी स्वकीयसर्वगुणप्रदर्शनानन्तरं स्वतएव निवर्तते, एवं सृष्टिप्रलयार्थं प्रधानस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती इति भावः. वैदिक-लौकिकरीत्यैव विचारः प्रवर्तते, नतु स्वभावम् आश्रित्य इति खण्डयन्ति **तथापि** इति. साङ्ख्यमते वैदिक-रीत्यभावाद् आहुः **लोकन्यायेन** इति. यद्वक्तव्यं तदेव आहुः **तत्र** इति. **चतुर्विधा** इति. जरायुजाण्डजोद्भिजस्वेदजभेदेन इति अर्थः. **अलौकिकाः** इति. मुक्ताः अलौकिकशरीराः इति अर्थः. मुक्तानाम् अलौकिकशरीरत्वम् आनन्दमयाधिकरणे प्रतिपादितम्. मुक्ताः अशरीराः इति अर्थः इति प्रकाशकृतः. **अचेतनाः** स्तम्भादयः. **तन्न्यायेन** चेतनाचेतनविषयलौकिकव्यवहारेण. **विचारो अत्र** इति. तथाच तन्न्यायेनैव अत्र विचारः, नतु स्वभावं स्वीकृत्य इति अर्थः. ननु मया यथाकथञ्चित् प्रधानस्य कारणत्वार्थं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **न किञ्चिद्** इति. लौकिकादिन्यायानुसरणं विना स्वसन्तोषार्थं किञ्चिद् अभ्युपगम्य विचारे निग्रहस्थानं, तेनैव वादिनिवृत्तेः न किञ्चिद् विचारणीयम् इति अर्थः. तथाच चेतनयुक्ते शरीरे प्रवृत्तिः दृश्यते, नतु केवलचैतन्ये चैतन्यरहिते शरीरे च. तत्र साङ्ख्येन वक्तव्यम्. यत्र दृश्यते तन्निष्ठेति. इदन्तु न वक्तव्यम्. केवलजडशरीरे तदभावात्. तस्माद् यत्प्रयुक्ता शरीरे प्रवृत्तिः तन्निष्ठैव सा इति वक्तव्यम्. एवञ्च लौकिकचेतनसम्बद्धदेहस्यापि चेतनत्वेन लौकिकव्यवहाराद् न जडस्तम्भादिनिष्ठा प्रवृत्तिः इति न किञ्चिद् विचारणीयम् इति भावः. एवञ्च प्रवृत्तेः हेतुना न प्रधानस्य कारणत्वम् इति अवधेयम्॥२॥

पयोम्बुवच्चेत् तत्रापि॥३॥

यथा पयो विचित्रफेनरचनां करोति, यथा वा नद्यादिजलं स्वतएव स्पन्दते इति चेद्, न, तत्रापि दोहनाधिश्रयणे मेधानां चेतनानामेव सत्त्वात्.

व्याख्यानान्तरे तु 'अन्नाम्बुवद्' इति उच्येत.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु धेनुनर्तकीदृष्टान्तेन प्रवृत्तेः मास्तु अचेतनकार्यकारित्वं तथापि पयोजलदृष्टान्तेन तथाकार्यकारयितृतां साधयिष्यामः इति आशङ्कायां समाधत्ते पयः इत्यादि. व्याकुर्वन्ति यथा पयः इति. तथाच यथा पयो अचेतनं फेनरचनां चेतनकार्यरूपां करोति यथा वा जलं स्पन्दनादि करोति तद्वत् प्रकृतिरपि जडा सर्वं चेतनकार्यं करोति इति अर्थः. दोहनाधिश्रयणे पुरुषस्य प्रयोजकत्वाद् नदीकार्येऽपि मेधानां प्रयोजकत्वाद् विषमो दृष्टान्तः इति अर्थः. व्याख्यानान्तरे इत्यादि. अत्र कैश्चिद् एवं पूर्वपक्ष्य समाहितम्. तथाहि पयो यथा स्वतएव हि वत्सविवृद्धेः कारणं भवति, यथा वा नदीजलं लोकोपकाराय स्पन्दते तथा प्रधानमपि सर्वं करिष्यति इति पूर्वपक्ष्य समाधीयते, न इदं साधीयः, चेतनकर्तृत्वस्यैव श्रवणाद्. “यो अप्सु तिष्ठन् यो अपो अन्तरो यमयति” (बृहदा.उप.३।७।४) “एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो नद्यः स्पन्दन्ते” (तत्रैव ३।८।९) इति चेतनकर्तृत्वश्रवणाद् इति. तत्समाधानम् अनादृत्य किमिति समाधानान्तरं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ननु किम् इदम् उच्यते प्रवृत्तेः न चेतनधर्मत्वम् इति, अन्यदृष्टान्तेन तद्धर्मत्वं साधयिष्यामः इति पूर्वपक्षम् आहुः पयोम्बुवद् इति. करोति इति. स्वतएव इति शेषः. दोहनकाले अधिश्रयणे च स्वतएव करोति इति अर्थः. स्यन्दते इति. 'स्यन्द प्रस्रवणे' प्रस्रवति इति अर्थः. समाधानम् आहुः तत्रापि इति. दृष्टान्तद्वयेऽपि इति अर्थः. दोहनं च अधिश्रयणं च अनयोः समाहारः दोहनाधिश्रयणं, तस्मिन् अधिश्रयणे इति. इदं स्यन्दनस्यापि उपलक्षकम्. मेधानाम् इति. पुरुषाणामपि उपलक्षकम्. सत्त्वाद् इति. प्रयोजकत्वाद् इति अर्थः. तथाच रथादिप्रवृत्तिः चेतननिष्ठा तथा अत्रापि इति भावः. “पयोम्बुवद्” इति सूत्रस्य परोपकाररूपार्थकत्वं स्वीकृत्य कैश्चिद् व्याख्यातं तद्दूषयितुम् आहुः व्याख्यानान्तरे इति. पयोम्बुवद् इत्यत्र पयः वत्साभिवृद्ध्यर्थं जलं च लोकोपकारार्थं यथा प्रस्रवति तथा प्रधानमपि स्वतएव उपकारार्थं प्रवर्तते इति शङ्का, समाधानं च केवलस्य आदौ अचेतने प्रवृत्त्यभावाद् न किञ्चिद् एतद् इति व्याख्यानान्तरे तु इति अर्थः. दूषयन्ति अन्नाम्बुवद् उच्येत इति. परोपकारार्थत्वं

द्वितीयस्य समाधानं न उभयवादिसम्मतम् ॥३॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात् ॥४॥

प्रधानस्य अन्यापेक्षाभावात् सर्वदा कार्यकरणमेव, न व्यतिरेकेण तूष्णीम् अवस्थानम् उचितम्, पुरुषाधिष्ठानस्य तु तुल्यत्वात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

क्रियते? तत्र आहुः अन्नेत्यादि. तथाच अन्योपकारदृष्टान्तेन यदि प्रकृतिकारणसाधनताम् अभिप्रेयात् तदा 'अन्नाम्बुवच्च' इत्येव सूत्रे दृष्टान्तं वदेत्, तयोः सर्वजनप्रसिद्धोप-कारित्वाद् नतु 'पयोम्बुवद्' इति वदेत्. द्वितीयस्य इत्यादि. जलक्रियायाः परोपकाराय स्वतः उत्पत्तिनिर्वचनम्. न उभयवादिसम्मतं निम्नभूमिसापेक्षत्वाद् उभयोरपि क्रियास्वतस्त्वं न अभिप्रेतम् इति अर्थः ॥३॥

प्रकृतेः कर्तृत्वं दूषयित्वा तस्याः स्वतःपरिणामसामर्थ्यं दूषयति व्यतिरेकेत्यादिना. तद् व्याकुर्वन्ति प्रधानेत्यादिना. व्यतिरेकेण अनवस्थितिः गुणत्रयसाम्यात्मकस्य प्रधानस्य परिणामार्थं गुणक्षोभाय अन्यापेक्षाभावात् सर्वदा कार्यकरणमेव उचितं नतु कार्यकरणव्यतिरेकेण तूष्णीम् अवस्थानम् उचितं. तथाच

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विवक्षितं स्यात् तदा परोपकारकयोः अन्नजलयोः प्रसिद्धत्वात् सूत्रकारैः 'अम्बुवद्' इति उच्येत इति अर्थः. अम्बुदृष्टान्ते कैश्चित् समाधानं कृतं तद् दूषयन्ति द्वितीयेति. समाधानम् इति. पूर्वपक्षिणा यद् उक्तं नदीजलं स्वतएव स्यन्दते इति तद् न सम्भवति, जलस्य निम्नभूमिसापेक्षत्वेन स्वतस्त्वाभावाद् इति समाधानम् इति अर्थः. न उभयवादिसम्मतम् इति. पूर्वपक्षिणा स्वतः प्रस्रवमाणे जले निम्नभूमिसापेक्षत्वं न स्वीकृतं, सिद्धान्तिनोऽपि चेतनसापेक्षत्वं स्वीकुर्वतः निम्नभूमिसापेक्षत्वम् असम्मतम् इति अर्थः. तथाच मदीयव्याख्यानमेव सम्यग् इति भावः ॥३॥

ननु दृष्टान्ताभावाद् मास्तु प्रवृत्त्या प्रधानस्य कारणत्वं, तस्य स्वतः परिणामं स्वीकृत्य कारणत्वं केन वार्यताम्? इत्यतः तदपि दूषयति सूत्रकारः व्यतिरेके इति. अत्र 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' इति सूत्राद् न अनुमानम् इति अनुवर्तते. सूत्रार्थम् आहुः प्रधानस्य इति. तत्र गुणत्रयाणां साम्यं प्रधानम्. तच्च स्वतएव परिणमते चेद् गुणक्षोभार्थम् अन्यापेक्षा न स्वीकर्तव्या, तथाच स्वातन्त्र्यात् स्वतः क्षोभेण सर्वदा कार्यावस्थितिः स्यात्. तथाच प्रलयानुपपत्तिः अतः स्वतःपरिणामः प्रधानस्य नास्ति इति भावः. तथाच एवं सूत्रार्थः. अनपेक्षत्वाद् व्यतिरेकानवस्थितेः प्रधानं कारणत्वेन न

शेखरसाङ्ख्यमतेऽपि ऐश्वर्यं तदधीनमिति यथास्थितमेव दूषणम् ॥४॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

तृण-पल्लव-जलानि स्वभावादेव परिणमन्ते एवमेव प्रधानम् इति न मन्तव्यम्, अन्यत्र शृङ्गादौ दुग्धस्य अभावात्. 'च'कारात् चेतनक्रियापि अस्ति. ततश्च लोकदृष्टान्ताभावाद् अचेतनं प्रधानं न कारणम् ॥५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लयानुपपत्तिः. चकारेण त्रयाणां गुणानां क्षोभायापि अन्यानपेक्षणाद् एकव्यतिरेकेण अन्यावस्थितेः असम्भवाद् गुणत्रयकार्ययौगपद्यापत्तिः क्रमानुपपत्तिश्च. नच प्रकृतेः तद्गुणानां पुरुषाधिष्ठितत्व-क्रमिकगुणाधिष्ठितत्व-तदभावाभ्यां सकलोक्तदोषोद्धारः इति वाच्यं. पुरुषाणां नित्यविभुत्वेन सर्वेषु तदधिष्ठानतायाः सार्वदिकत्वात्. ननु शेखरसाङ्ख्यवादे ईश्वरे तत्तदैश्वर्याधिष्ठानत्व-तत्क्रमाभ्यां सर्वोपपत्तिः इत्यतः आहुः **शेखरेत्यादि. तदधीनम्** इति प्रकृतितद्गुणसत्ताधीनम् इति अर्थः. तथाच प्रकृतेः तद्गुणानां च सत्त्वात् तुल्यो दोषः इति भावः ॥४॥

स्वभावादेव परिणमन्ते इति अन्यानपेक्षाणि गवादिभिः भक्षितानि सन्त्येव तृणादीनि दुग्धरूपेण परिणमन्ते इति अर्थः. **एवमेव** इत्यादि. तथाच एतद्दृष्टान्तेन इतरानपेक्षपरिणामकत्वं प्रधानस्य अचेतनत्वेन हेतुना साधनीयम् इति भावः. तद् दूषयन्ति न इत्यादिना. **अन्यत्र** इत्यादि. तथाच दुग्धात्मकपरिणामे औधसैकप्रदेशस्य भक्षणादिरूप-चेतनक्रियायाश्च अपेक्षणाद् इतरानपेक्षपरिणामकत्व-साध्यबाधाद् बाधितम् अनुमानं त्वदीयम् इति भावः ॥५॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अनुमातव्यम् इति. **उचितम्** इति. प्रधानस्य इति पूर्वेण अन्वयः. ननु पुरुषाधिष्ठानं यदा तदा कार्यम् इत्येवं रीत्या न सर्वदावस्थितिदूषणावकाशः इत्यतः आहुः **पुरुषः** इति. **तुल्यत्वाद्** इति. पुरुषस्य नित्यविभुत्वेन प्रकृतिवत् सर्वदा सत्त्वाद् इति अर्थः. तथाच यदधिष्ठानम् इति वक्तुं न शक्यते इति भावः. ननु एतदर्थं मया शेखरसाङ्ख्यमतमेव स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **शेखरः** इति. **तदधीनम्** इति. प्रधानाधीनम् इति अर्थः. **यथास्थितमेव** इति. एवञ्च अन्यानपेक्षत्वप्रयुक्त-प्रलयानुपपत्तिरूपं दूषणं तदवस्थमेव इति अर्थः ॥४॥

दृष्टान्तेन स्वतः परिणामं स्वीक्रियते चेत् तदपि निराकरोति **अन्यत्र** इति. व्याकुर्वन्ति तृणेति. न अनुमानम् इति अनुषज्यते. स्पष्टम् अन्यद् ॥५॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

प्रधानकारणवादाङ्गीकारेऽपि प्रेक्ष्यकारित्वाभावाद् न पुरुषार्थः सिद्ध्यति ॥६॥

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे प्रथमं रचनानुपपत्तेः इति अधिकरणम् ॥१॥

पुरुषाश्मवद् इति चेत् तथापि ॥७॥ (२।२।२)

प्रधानस्य केवलस्य कारणवादो निराकृतः. पुरुषप्रेरितस्य कारणत्वम् आशङ्क्य परिहरति. **पुरुषः** पङ्गुः अन्धम् आरुह्य अन्योन्योपकाराय गच्छति, यथा वा अयःकान्तः सन्निधिमित्रेण लोहे क्रियाम् उत्पादयति एवमेव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्यानपेक्षस्य प्रधानस्य स्वभावतएव महदादिरूपः परिणामो न युक्तिसहः इति उक्तम्. इदानीं तदुपगम्यापि यथा धेनुः वत्सार्थं स्वभावतएव वृषम् उपगच्छति तथा प्रधानमपि स्वतएव पुरुषभोगार्थं प्रवर्ततइति तन्मतं सूत्रकारो दूषयति इति आहुः **प्रधानकारणे**त्यादि. **प्रेक्षा** इत्यादि. **प्रेक्षा** इष्टसाधनताधीः. तथाच सफलप्रवृत्तिमात्रे इष्टसाधनताज्ञानस्य कारणत्वात्, तस्य च अचेतने असम्भवात्, काकतालीयन्यायेन क्वचित् तथादर्शनेऽपि न सर्वत्र तादृशप्रवृत्तेः सफलत्वनियमः इति भावः. इत्थञ्च प्रकृतेः सा प्रवृत्तिः पुरुषभोगार्थैव इति नियमो भग्नः इति अर्थः ॥६॥१॥

पुरुषस्य प्रेरणप्रकारम् आहुः **पुरुषः** इत्यादिना. अश्मप्रेरणप्रकारम् आहुः **अयःकान्तः** इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रे ‘अभ्युपगमे’ इत्यस्य अर्थम् आहुः **प्रधाने**ति. दृष्टान्तो वा युक्तिः वा मास्तु, तथापि प्रधानमेव कारणम् इति **अङ्गीकारे** इति अर्थः. **अर्थाभावाद्** इत्यस्य अर्थम् आहुः **प्रेक्ष्य** इति. तस्य चेतनधर्मत्वाद् इति भावः. ननु मास्तु प्रेक्ष्यकारित्वम् इत्यतः प्राहुः **न स्वतः** इति ॥६॥१॥

पुरुषप्रेरितप्रधानकारणवादं निराकर्तुं पुरुषाश्मवद् अधिकरणम् आहुः **पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि**. पुरुषश्च अश्मा च पुरुषाश्मानौ, पुरुषाश्मनोरिव पुरुषाश्मवत्. द्वन्द्वान्ते वतिः उभयत्रापि सम्बध्यते. पुरुषवद् अश्मवद् इति सूत्रार्थः. **परिहरति** इति. केवलप्रधानकारणवादो मास्तु, पुरुषप्रेरितकारणवादएव अस्तु इत्यतः सूत्रेण परिहरति इति अर्थः. पुरुषप्रेरितकारणवाददृष्टान्तद्वयेन दर्शयति **पुरुषः** इति. **लोहे** इति. ‘लोके’ति अपपाठः.

पुरुषाधिष्ठितं पुरुषसन्निहितं वा प्रधानं प्रवर्तिष्यते इति चेत्, तथापि दोषः तदवस्थः. प्रधानप्रेरकत्वं पुरुषस्य स्वाभाविकं प्रधानकृतं वा. आद्ये प्रधानस्य अप्रयोजकत्वम्. द्वितीये प्रधानदोषः तदवस्थः. नित्यसम्बन्धस्य विशिष्टकारणत्वे अनिमोक्षः. अशक्तस्य तु मोक्षाङ्गीकारः सर्वथा अनुपपन्नः ॥७॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

प्रकृतिपुरुषयोः अङ्गाङ्गित्वे भवेदपि एवम्. तच्च न उपपद्यते. पुरुषस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

दोषम् आहुः प्रधानेत्यादिना. आद्ये प्रधानप्रेरणार्थं पुरुषस्य स्वतः प्रवृत्तौ. अप्रयोजकत्वं पुरुषस्य स्वतः प्रवृत्तौ स्वतएव सर्वं करिष्यति इति प्रधानस्य अप्रयोजकत्वम् इति अर्थः. प्रधानदोषः प्रधानसम्बन्धकृतो दोषः. दोषमेव उपपादयन्ति नित्येत्यादिना. विशिष्टकारणत्वे प्रकृतिविशिष्टस्य पुरुषस्य देहादिजडविशिष्ट-जीवसृष्टिं प्रति कारणत्वे. ननु नानापुरुषवादाङ्गीकारे शक्तस्य प्रकृतिसम्बन्धेन अहम् इति अभिमानिनो अविमोक्षः तादृशाभिमानशून्यस्य अशक्तस्य मोक्षश्च उपपन्नः इत्यतः आहुः अशक्तस्य इत्यादि. अनुपपन्नः इति सकलबन्धन-स्वभावायाः प्रकृतेः तदबन्धने प्रामाण्याभावाद् इति भावः ॥७॥

पुरुषस्य अङ्गित्वे पुरुषस्य अंशित्वम् अन्यस्य सर्वस्य अंशत्वेन

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

समाधानम् आहुः तथापि इति. प्रधानदोषः इति. प्रेक्ष्यकारित्वाभावेन उपकारकत्वाभावात् पुरुषार्थासिद्धिः. अथ च व्यतिरेकानवस्थित्या प्रलयासिद्धिरूपदोषः इति अर्थः. ननु पुरुषप्रेरितप्रधानकारणवादो मास्तु किन्तु पुरुषविशिष्टप्रधान-कारणवादएव अस्तु अतः प्राहुः नित्येति. कारणे विशिष्टत्वं नाम विशेषणविशिष्टत्वं, वैशिष्ट्यं च सम्बन्धः. तथाच विशिष्टकारणत्वं सम्बन्धे पर्यवसन्नम्. एवञ्च नित्ययोः प्रधानपुरुषयोः सम्बन्धस्यापि नित्यत्वात् तस्य भोगनिरूपितकारणत्वे स्वीक्रियमाणे भोगस्यैव सर्वदा सत्त्वाद् मोक्षाभावप्रसङ्गः इति अर्थः. ननु साङ्ख्यमते पुरुषाणाम् अनेकत्वं स्वीकृतमेव अस्ति, तन्मध्ये कश्चन अशक्तः कश्चन शक्तः. तत्र शक्तस्य प्रधानाधिष्ठानत्वं स्वीक्रियते. अशक्तस्य तु न स्वीक्रियते. एवञ्च पुरुषस्य मोक्ष इत्यत्र अशक्तस्य पुरुषस्य मोक्षः इति अर्थे स्वीक्रियमाणे न कोऽपि दोषः इत्यतः आहुः अशक्तस्य तु इति. अनुपपन्नः इति. बन्धकस्वाभाव्यायाः प्रकृतेः स्वातन्त्र्याद् अशक्तेनापि साकं भोगः केन वार्यताम् इत्यतो मोक्षः तस्य सर्वथा अनुपपन्नः इति अर्थः ॥७॥

अङ्गित्वे ब्रह्मवादप्रवेशो मतहानिश्च. प्रकृतेः अङ्गित्वेतु अनिमोक्षः. अनेन परिहृतोऽपि मायावादो निर्लज्जानां हृदये भासते॥८॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्॥९॥

अन्यथा वयं सर्वम् अनुमिमीमहे यथा सर्वे दोषाः परिहृताः भवेयुः इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुरुषनियम्यत्वम् अंशिनश्च सर्वनियामकत्वम् इति सिद्धान्ताङ्गीकारे. प्रकृतेः अंशित्वे प्रकृतेः सर्वनियामकत्वे तदन्यस्य सर्वस्य अंशत्वेन प्रकृतिनियम्यत्वाङ्गीकारे॥८॥

“प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः अन्योन्याभिभवाश्रय-जननमिथुनप्रवृत्तयश्च गुणाः”(कापि.सांख्यसू.१।१२७) इति साङ्ख्यानाम् अपरा प्रतिज्ञा. एतदर्थस्तु ‘प्रीतिः’ सुखम् ‘अप्रीतिः’ दुःखं ‘विषादो’ मोहः सत्त्वरजस्तमांसि ‘गुणाः’. क्रमेण एते त्रयात्मकाः एतत्त्रयस्वरूपाः भवन्ति. प्रकाशः सत्त्वकार्यं, विवेके हेतुः. प्रवृत्तिः रजसः कार्यं, नियमः निग्रहः, प्रलयः तमः कार्यम्. एतैः कार्यैः ते कारणगुणाः अनुमीयन्ते. रजोगुणकार्यप्रवृत्तिरेव क्रियारूपा अन्योन्याभिभवाऽन्योन्यसम्बन्धाऽन्योन्य-जननान्योन्यमिथुनीभावसम्पादिका भवति. गुणाश्च स्वभावतः चलस्वभावाः. इत्थं च गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विशिष्टकारणत्वे दूषणान्तरम् आहुः अङ्गित्वेति. तदेव आहुः प्रकृतिः इति. अङ्गाङ्गित्वे इति. अङ्गाङ्गीभावत्वे सति. एवम् अन्योन्योपकारकत्वम्. ब्रह्मवादः इति. अङ्गी पुरुषः विलक्षणएव प्रकृतिनियामको वक्तव्यः. विलक्षणत्वञ्च उपनिषत्प्रतिपाद्य-धर्मवत्त्वम्. एवञ्च अन्यमतप्रवेशः इति अर्थः. ननु एतादृशधर्मवत्त्वं विलक्षणत्वं न, किन्तु कालकर्मविपाकैः परामृष्टः इतरपुरुषः तद्विलक्षणत्वम् इत्यतः आहुः मतहानिश्च इति. साङ्ख्यप्रवचनसूत्रे ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा इति उक्तम्. तथाच इतरः पुरुषविलक्षणत्वेन ईश्वरसिद्धिस्तु प्रवचनसूत्रे न उक्ता इति स्वमतहानिः इति अर्थः. ननु प्रकृतेरेव अङ्गित्वं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः प्रकृतेः इति. अङ्गित्वेतु इति. तथाच तस्याः स्वातन्त्र्यात् पुरुषमोक्षाभावः इति उक्तम् इति भावः. मायावादिनं कटाक्षयन्ति अनेन इति. सूत्रद्वयव्याख्यानेन इति अर्थः. माया हि गुणानां साम्यावस्थितिस्वरूपा, तथा च उदासीनस्वरूपावस्थितिरूपस्य ब्रह्मणः प्रवर्तकत्वम् इति अयुक्तम् इति आशयः॥८॥

पराहतः साङ्ख्यः एकं विलक्षणम् अनुमानं स्वीकृत्य प्रत्यवतिष्ठते तदपि दूषयति अन्यथा इति. सूत्रार्थम् आहुः अन्यथा इति. अन्यथा प्रकारान्तरेण वयं साङ्ख्याः सर्वं गुणानां ये-ये प्रवृत्तिविभागाः तेषां सर्वम् अनुमिमीमहे अनुमानं करिष्यामः. यथा येन प्रकारेण सर्वे दोषाः आदितः रचनानुपपत्त्यादयः सर्वे दोषाः. ननु

चेत्, तथापि पूर्वं ज्ञानशक्तिः नास्ति इति मन्तव्यम्. तथा सति बीजस्यैव
अभावाद् नित्यत्वाच्च अनिमोक्षः इति॥९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तमसा रजसः उपमर्दे कृते प्रवृत्तौ निवृत्तायां लये जाते तदुत्तरं सत्त्वोत्पत्त्या प्रकाशाद्
आत्मविवेके सति मोक्षः इति. एवम् आशङ्क्य परिहरति सूत्रकारः तद् व्याकुर्वन्ति अन्यथा
इत्यादिना. गुणाः स्वस्वकार्यजनकाः चलस्वभावत्वात् चलदलदलवद् इति अन्यथा
अनुमानेन सर्वं समाधास्यामः इति अर्थः. अत्र दूषणम् आह ज्ञशक्तिवियोगाद् इति. सौत्रः
च अप्यर्थे. एवम् अनुमानेऽपि कार्यक्रमनिर्वाहाय तत्तत्कार्यं वाच्यम्. तच्च तदा सम्भवेद्
यदि गुणानां तत्तत्कालज्ञानं भवेत्. तच्च न भवत्सिद्धान्ते पुंप्रकृतियोगात् पूर्वं गुणानां
सम्भवति, अन्यथा स्वसिद्धान्तभङ्गापत्तिः. इत्थञ्च ज्ञानाभावाद् गुणानां प्रवृत्त्या समाधानं
दुर्वचम् इति भावः. बीजस्य गुणेषु ज्ञानसम्बन्धस्य. अथ “दिक्कालावाकाशादिभ्यः”
(सांख्यसू. २।१२) इति सूत्रात् सृष्टेः पूर्वं पुंप्रकृतियोगाद् उत्तरं कालोत्पत्तेः, तदानीञ्च
गुणानां ज्ञशक्तिसम्बन्धसम्भवाद् न उक्तानुपपत्तिः. अतः आहुः नित्येत्यादि. तथाच तेषां
सिद्धान्ते पुंप्रकृतियोगस्य अनादित्वात् प्रलयदशायां कालस्यापि नाशेन
वियोजककारणान्तरस्यापि अभावाद् नित्यत्वापाताद् अमुक्तत्वापत्तिः दोषः॥९॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कथम् अनुमानम्? इति चेद्, इत्थम्. सत्त्वादिगुणाः अंशतः प्रवृत्तिमन्तः, चलस्वभाव-
त्वात्, यथा जडः अश्वत्थपर्णम् इति. अत्र एवं साङ्ख्यानां परिभाषा. सुखदुःखमोहात्मकं
सत्त्वादिगुणत्रयम्. अस्य क्रमेण प्रकाशवृत्तिनिग्रहरूपं कार्यम्. कार्येण सत्त्वादीनाम्
अनुमानम्. तेषां गुणानां स्वाभाविकक्रियया अन्योन्याभिभवः. अन्योन्याश्रयः.
अन्योन्यजननम्. अन्योन्यमिथुनीभावः. एवं च तमसा रजोनियमनं कृतं तदा प्रलयः, यदा
सत्त्वेन रजस्तमसोः नियमनं तदा प्रकाशः. तेनच आत्मज्ञानं, तदनन्तरं मोक्षः. तथाच
प्रलयानुपपत्तिमोक्षाभावप्रसङ्गादिदूषणानाम् अनवसरः. एवञ्च गुणानां चलस्वभावत्वम्
अङ्गीकृत्य अनुमानं कर्तव्यम्. अत्र दोषम् आह सूत्रकारः ज्ञशक्तिवियोगाद् इति.
ज्ञानाभावाद् इति अर्थः. तमसः रजोनियमनम् अस्मिन् काले कर्तव्यम् इति ज्ञानाभावाद् इति
यावत्. नच मास्तु ज्ञानं का क्षतिः? इति वाच्यम्. ज्ञानाभावे स्थित्यन्तरमेव प्रलयः इति
क्रमो न स्यात्. किञ्च भवन्मते पुरुषप्रधानसंयोगात् पूर्वं ज्ञानशक्तिः नास्ति. तदभावे
बीजाभावात् प्रवृत्तिरेव न स्यादिति न किञ्चिद् एतत्. नित्यत्वाद् इति. उभयोः पुं-
प्रकृत्योः नित्यत्वात् सम्बन्धस्यापि नित्यत्वाद् इति अर्थः. अनिमोक्षः इति.
प्रकृतिसम्बन्धराहित्ये सति मोक्षः, तदभावेतु अनिमोक्षः इति अर्थः॥९॥

विप्रतिषेधाच्च असमञ्जसम्॥१०॥

परस्परविरुद्धत्वात् मतवर्तिनां पञ्चविंशादिपक्षाङ्गीकारात्. वस्तुतस्तु
अलौकिकार्थे वेदएव प्रमाणं न अन्यद् इति॥१०॥

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयं पुरुषाश्मवद् इति अधिकरणम्॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपनिषत्सिद्धान्तापेक्षया सर्वमतानाम् अर्वाचीनत्वाद् न सिद्धान्तत्वम् इति
आह विप्रतिषेधाद् इत्यादि. तदेव उपपादयन्ति परस्परेत्यादि. तथाहि
श्रीकृष्णोद्धवसंवादे एकादशस्कन्धे “केचित् षड्विंशतिं प्राहुरितरे पञ्चविंशतिं, सप्तैके
नव षट् केचित् चत्वार्येकादशापरे, केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदशः”
(भाग.पुरा. ११।२२। २,३) तेषां स्वरूपं भगवता तत्रैव उक्तम्. “युक्तयः सन्ति सर्वत्र
भाषन्ति ब्राह्मणा यथा, मायां मदीयाम् उद्गृह्य वदतां किन्तु दुर्धटं, नैतदेवं यथान्यत्
त्वं यद् अहं वच्मि तत् तथा” (तत्रैव ११।२२।४,५) इत्यादिना. तर्हि “तमो वा इदम्
एकमेव अग्र आसीद्” (मैत्रा.उप.५।२) इत्यादिश्रुत्युक्तस्य का गतिः? इत्यतः आहुः
वस्तुतः इत्यादि. तथाच भगवदुक्तार्थे सर्वत्र भगवद्रूपतैव अवसेयेति तमसोऽपि तत्त्वाद् न
दोषलेशः. एवं दशसूत्रैः साङ्ख्यसिद्धान्ते वैदिकत्वमपि निवारितम्॥१०॥२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इदानीं दुरुद्धरं दूषणम् आहुः परस्परेति. साङ्ख्यमतानि अनेकानि, तानि च
परस्परं विरुद्धानि इति अतएव असमञ्जसत्त्वाद् अनादरणीयानि इति अर्थः. ननु
कतिविधानि अनेकानि? इत्यतः आहुः पञ्चविंशादीति. “पञ्चविंशः आत्मा भवति.
तस्माद् मध्यतः पशवो वरिष्ठा एकविंशं पुच्छम्” (तैत्ति.ब्राह्म.१।३।) इति
तैत्तिरीब्राह्मणे प्रथमाष्टके तृतीयप्रश्ने भगवतः पञ्चविंशत्वोक्त्या पक्षेषु
पञ्चविंशादीति उक्तम्. षड्विंशादिपक्षाः श्रीभागवते एकादशस्कन्धे “केचित्
षड्विंशतिं प्राहुः” (भाग.पुरा.११।२२।२) इत्यादिना उक्ताः. षड्विंशतिः, सप्त, नव,
षट्, चत्वारि, एकादश, सप्तदश, षोडश, त्रयोदशः इति दशपक्षाः उक्ताः. तेषां
स्वरूपमपि तत्रैव उक्तम् इति विस्तरभयाद् विरम्यते. ननु युक्तानाम् अलौकिके अर्थे
तत्तदृषिबुद्धिगम्यानाम् अनेकत्वाद् अनेकपक्षसत्त्वे दोषाभावः इत्यतः आहुः वस्तुतस्तु
इति. वेदएव इति. ‘एव’कारो अत्र अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः. तस्यैव अर्थम् आहुः न
अन्यद् इति. तथाच अस्य अलौकिकार्थे स्वतःप्रमाणभूतः प्रभुसम्मितो वेदएव
जागरूकः चेत् किमर्थं युक्तिप्रसरः कर्तव्यः. “अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण”

महद्दीर्घवद् वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥ (२।२।३)

इदानीं परमाणुकारणवादो निराक्रियते. तत्र स्थूलकार्यार्थं प्रथमं परमाणुद्वयेन द्व्यणुकम् आरभ्यते. परमाणुद्वयसंयोगे द्व्यणुकं भवति इति अर्थः. तत्र उपर्यधोभावमिलने द्व्यणुकं महत् स्याद्, द्विगुणपरिमाणवत्त्वात्. प्राक्-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इदानीं सप्तसूत्र्या नैयायिकादिसिद्धान्तो निराक्रियते **इदानीम्** इत्यादि. **द्विगुणे**त्यादि. तथाच परमाणुद्वयस्य मिलने सति द्व्यणुके महत्त्वं दीर्घत्वं वा स्याद्, ननु

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

(महाभा.भीष्म.५।१२) इति निषेधात् ऋषीणां दोषः इति भावः. अतएव उक्तम् एकादशस्कन्धे “युक्तयः सन्ति सर्वत्र भासन्ते ब्राह्मणा यथा, मायां मदीयाम् उद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्” (भाग.पुरा.११।२२।४) इत्यादिना इति. एतावता सूत्रदशकेन साङ्ख्यमतं दूषितम् ॥१०॥२॥

इदानीं सूत्रसप्तकेन नैयायिकमतं निराकर्तुं महद्दीर्घवद् अधिकरणम् आहुः. तेषां मते परिदृश्यमानजडचतुर्दशभुवनात्मकस्थूलप्रपञ्चनिरूपितां कारणतां परमाणुष्वेव इत्यतः तन्मतं दूषयितुम् आहुः **इदानीम्** इति. **परमाणुवादः** जगत्कारणं परमाणुः इति वादः. ननु कथं सः वादः? इत्यतो विशदयन्ति तत्र इति. तत्र तेषां मते. **स्थूलकार्यार्थं** त्रसरेणुम् आरभ्य सुमेरुपर्यन्तस्थूलकार्यार्थम्. **परमाणुद्वयेन** इति. तेषां मते यथा कपालादिगतं महत्त्वं कपालद्वयसंयोगेन घटे स्वोत्कृष्टमहत्त्वम् उत्पद्यते तथाच सूक्ष्मात् स्थूलोत्पत्तिः इति युक्तिसिद्धम्. अतएव सर्गादौ सूक्ष्मात् सूक्ष्मतराः निरवयवाः स्वीकर्तव्याः. तएव परमाणवः इति उच्यन्ते. तेच पार्थिवादिभेदेन चतुर्विधाः सन्तः अनन्ताः. तेषां समुदायत्वेन कारणत्वं न, किन्तु द्व्यणुकत्र्यणुकादिक्रमेणैव इति अर्थः. **प्रथमं द्व्यणुकम् आरभ्यते** इति अर्थः. **परमाणुद्वयसंयोगे** इति. प्रथमं सर्गारम्भे जीवादृष्टसहकृतेश्वरेच्छावशात् परमाणुद्वये कर्मोत्पद्यते. ततः संयोगेन इति अर्थः. एतेन बहूनां परमाणूनां संयोगस्य महदारम्भकत्वं नास्ति इति सूचितम्. तथाच एवं रीत्या पृथिव्यादिद्व्यणुकम् आरभ्य स्थूलपृथिवीजलादिप्रपञ्चोत्पत्तिः इति भावः. तत्र परमाणोः सकाशात् किञ्चिद् महत्त्वपरिमाणवत् तद्द्व्यणुकम् उत्पद्यते. एवं क्रमेण महत्परिमाणवद् जगद् उत्पद्येत तदेव नास्ति इति दूषयन्ति तत्र इति. एवंरीत्या त्वया स्वीकृते. **उपर्यधोमिलने** इति. ‘उपर्यधोभागमिलने’ इत्यपि पाठः.

“युक्तं च सन्ति सर्वत्र भासन्ते ब्राह्मणा यथा” गीताप्रेस पाठः.

पश्चान्मिलने दीर्घवद् वा स्यात्. परमाणुपरिमाणं ह्रस्वं परितोमण्डलं च. उपहासार्थं तस्य मतस्य अनुवादः॥११॥

किम् अतो यदि एवम् ? अतः आह

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः॥१२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

नैयायिकाभिमतम् उत्कृष्टाणुपरिमाणमपि इति द्व्यणुकपरिमाणं दूषितम्. उपहासेत्यादि. लौकिकयुक्तितत्त्वमपि ये न जानन्ति ते कथं ब्रह्मतत्त्वं ज्ञास्यन्ति इति व्यासेन उपहासः इति अर्थः॥११॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

दीर्घवद्वा स्याद् इति. ननु अणुत्ववद् ह्रस्वत्ववद् इति. अत्र अयम् आशयः. नैयायिकानां मते द्व्यणुके अणुत्व-ह्रस्वत्वपरिमाणेव. परमाणुपरिमाणस्य द्व्यणुकपरिमाणे कारणत्वात्. कुतः ? यथा कपालपरिमाणं स्वोत्कृष्टघटपरिमाणे कारणं तथा स्वोत्कृष्टाणुतरत्वं द्व्यणुके अणुपरिमाणवत् स्यात्. कुतः ? परिमाणस्य स्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वस्वाभाव्यात्. ननु एतादृशं द्व्यणुकं जातं चेत् को दोषः ? इत्यतः आहुः परमाणुपरिमाणम् इति. दीर्घत्वस्य महत्त्वनियतत्वात्. यथा दीर्घे काष्ठे दीर्घत्वं महत्त्वं तथा परमाणौ ह्रस्वत्वं परिमाण्डल्यं च इति आशयेन आहुः ह्रस्वम् इति. परितो मण्डलं च इति. परमाणुः परितो मण्डलाकारः. तद्गतं परिमाणं परिमाण्डल्यम्. तथाच तत्परिमाणस्य नित्यत्वादेव परिमाण्डल्येति सज्ज्ञा. यथा द्व्यणुकगतस्य अणुत्वस्य त्र्यसरेणूत्पत्तिकाले नाशः, तथा अस्य नाशो न सम्भवति. परिमाणस्य स्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वेन द्व्यणुकस्य अणुतरत्वविध्या तत्परिमाणस्य द्व्यणुक-परिमाणानारम्भकत्वात्. अतएव मनोगतपरिमाण्डल्यवद् नित्यत्वम् इति भावः. अनुवादप्रयोजनम् आहुः उपहासार्थम् इति. उपहासस्तु एवम्. त्वया परमाणोः सकाशाद् जगदुत्पत्तिः परमाणुद्व्यसंयोगाद् द्व्यणुकोत्पत्तिद्वारा स्वीक्रियते तच्च न सम्भवति. द्व्यणुकपरिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणस्य कारणत्वमेव नास्ति चेत् तद्द्वारा महत्परिमाणवद् जगदुत्पत्तिः कथं सम्भवति ? किञ्च. परमाणुद्वयोः उपर्यधोमिलने अथवा प्राक् पश्चान्मिलने महत्स्याद् दीर्घवद् वा स्यात् ननु ह्रस्वम् अणुपरिमाणं च द्व्यणुकं स्याद् इति ॥११॥

एतत्सूत्रस्य अग्रिमसूत्रेण एकवाक्यतां सूचयितुम् आहुः किम् इति. यदि नैयायिकैः एवं स्वीक्रियते अतः परं किं दूषणम् ? अतः दूषणम् आह इति अर्थः. उभयथापि न कर्मातस्तदभावः.

उभयथापि न. कुतः? न कर्म. ‘न’कारो देहलीप्रदीपन्यायेन उभयत्र सम्बद्ध्यते. अतो द्व्यणुकाभावः. उभयथापि न परमाणु-सङ्घटनं, प्रदेशाभावात्. कल्पना मनोरथमात्रम्. असंयुक्तांशाभावात् तदेव तत् स्यात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उभयथापि न इति परमाणुषु संयोगावच्छेदकदेशानङ्गीकारे अवच्छेदक-देशकल्पने वा उभयथापि न. परमाणुद्वयसंयोगः कुतः? यतो **न कर्मातः** इति अर्थः. **उभयत्र** सावच्छिन्ननिरवच्छिन्नसंयोगे कर्मणि च इति अर्थः. **प्रदेशाभावाद्** अवच्छेदकदेशाभावत्. तैः निरवच्छिन्नसंयोगानङ्गीकाराद् इति भावः. **कल्पना मनोरथमात्रम्** इति पूर्वोपरि अधोदेशरूपावच्छेदकमपि सर्वतोमुखे निरवयवे कस्यापि गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उभयथापि इति. प्राक्पश्चान्मिलने उपर्यधोमिलनेऽपि इति अर्थः. ननु कुतो नास्ति? इत्यतः आहुः **न कर्म** इति. परमाणूनां जडत्वात् स्वतः क्रिया न सम्भवति इति अर्थः. ततः किम्? अतः आहुः **ततो द्व्यणुकाभावः** इति. संयोगस्तु कर्मजन्यः. परमाणौ तदभावाद् द्व्यणुकाभावः इति अर्थः. ननु “जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः, तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते” (मनुस्मृ. ८।१३२) इति वचनात् सूक्ष्मरजसि क्रिया दृश्यते इति कृत्वा तत्षष्ठांशेऽपि क्रिया स्वाभाविकी स्वीक्रियतइति न कोऽपि दोषः इत्यतो दूषणान्तरम् आहुः **उभयथापि** इति. सर्वदेशावच्छेदेन किञ्चिद्देशावच्छेदेन इति **उभयथापि** इति अर्थः. न **परमाणुसङ्घटनम्** इति. न संयोगः इति अर्थः. ननु कुतो नास्ति? इत्यतः आहुः **प्रदेशाभावाद्** इति अर्थः. निरवयवस्य परमाणोः प्रदेशाभावाद् इति अर्थः. तथाच सर्वदेशावच्छेदेन संयोगो न सम्भवति, त्वन्मते तस्य अव्याप्यवृत्तित्वात्. किञ्चिद्देशावच्छेदेन तत्सत्त्वाभ्युपगमे परमाणोः सावयवत्वापत्तिः इति भावः. ननु तस्य प्रदेशः कल्प्यते, तेन न सावयवत्वं, न संयोगस्य अव्याप्यवृत्तित्वभङ्गः, इत्यतः आहुः **कल्पना** इति. संयोगान्यथानुपपत्त्या अवयवः कल्प्यते इति वक्तव्यम्. एवञ्च तस्याः मनोराज्यत्वमेव, न च तया कार्यसिद्धिः इति अर्थः. ननु सावयवत्वाभावेऽपि सर्वांशे संयोगः स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **असंयुक्तेति**. सर्वात्मना संयोगसत्त्वे असंयुक्तांशएव नास्ति इति अर्थः. ननु मास्तु असंयुक्तांशः तदभावे का क्षतिः? इत्यतः आहुः **तदेव तत्स्याद्** इति. तदेव द्व्यणुकमेव. **तत्स्यात्** परमाणुस्वरूपं स्यात्. तथाच परमाणौ द्व्यणुके च अणुत्वं ह्रस्वत्वं त्वया स्वीक्रियतएव. इतः परं परमाणुद्वयस्य परस्परं सर्वात्मना मेलनसत्त्वे च

संयोगजनकं कर्मापि न सम्भवति, कारणान्तराभावात्. प्रयत्नवद् आत्मसंयोगे
अदृष्टवद् आत्मसंयोगे च अभ्युपगम्यमाने निरवयवत्वात् तदेव तत् स्यात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अनुभवाभावात् कल्पयितुं न शक्यते एवमपि अप्रामाणिककल्पने मनोरथमात्रं न
वस्तुसिद्धिः इति भावः. **संयोगजम्** इत्यादि. तथाच संयोगजं द्व्यणुकं न
उक्तकारणाभावात् कर्माऽपि न कारणान्तराभावात् समवायिकारणत्वाभिमतपरमाणु-
सत्त्वेऽपि अन्यकारणाभावाद् न कर्म इति अर्थः. तदेव उपपादयन्ति **प्रयत्नेत्यादि.**
अभ्युपेत्यादि. तथाच तयोः कारणयोः प्रलयेऽपि सत्त्वात् पूर्वमपि द्व्यणुकादिसृष्ट्यापत्या
प्रलयानुपपत्तिः. तत्कालविशेषस्यापि सहकारित्वाङ्गीकारेण आहुः **निरवयवेत्यादि.**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उभयभेदकविशेषाभावात् तदेव तत् स्याद् नतु अतिरिक्तद्व्यणुकसिद्धिः इति भावः.
श्रीप्रकाशकृतस्तु अथ अप्रदेशयोरपि संयोगः इति अङ्गीक्रियते, तथा सति तयोः
सर्वात्मना संयोगेन असंयुक्तांशाभावात् तदेव तत् स्यात्. ततश्च यथा द्व्यणुकजन्ये
महत्त्वानारम्भेण द्व्यणुकतुल्यतया द्व्यणुकजन्यद्व्यणुकान्तरवैयर्थ्यम् एवं परमाणुजन्य-
द्व्यणुके परिमाणान्तराभावेन भोगानुपयोगात् तद्वैयर्थ्यमिति न तयोः संयोगः सुवचः
इत्यपि आहुः. केचित्तु द्वयोः द्व्यणुकयोः उपादानकारणत्वमेव नास्ति. महद्भि
भोगोपयोगीति द्व्यणुके महत्त्वाभावात् तत्कार्येऽपि महत्त्वाभावेन भोगासम्भवाद्,
भोगोपयुक्तकार्यजनकत्वमेव उपादानत्वम् इति तार्किकपरिभाषायाम् उक्तत्वादिति
द्व्यणुकद्वयसंयोगएव नास्ति; किमु वक्तव्यं परमाणुद्वयसंयोग इत्येवंरीत्या
परमाणुकारणवादं निराकुर्वन्ति. तत्र द्वयोः द्व्यणुकयोः भोगविशेषानुपयोगिकार्यजनकत्वं
न सम्भवति इति असङ्गतं, द्व्यणुकद्वयसंयोगे सति सामग्रीसद्भावे प्राप्तस्य कार्यस्य
भोगरूपप्रयोजनाभावमात्रेण निवारयितुम् अशक्यत्वात्. द्वयोः द्व्यणुकयोः संयोगएव
नास्ति इति आग्रहः कर्तुं न शक्यते, प्रमाणाभावादिति न इयं तार्किकपरिभाषा इति दिक्.
द्व्यणुकाभावे एकां युक्तिम् उक्त्वा अपराम् आहुः **संयोगजनकम्** इति. आदौ क्रिया,
तदनन्तरं संयोगः इति अविवादम्. तत्र परमाण्वोः जडत्वात् स्वतः कर्म न सम्भवति इति
कारणान्तरं किञ्चिद् वक्तव्यं, तद् नास्ति इति अर्थः. ननु अस्ति प्रयत्नवद्
आत्मसंयोगादिकं कारणान्तरम् इत्यतः आहुः **प्रयत्नवद्** इति. प्रयत्नस्यापि
अदृष्टाधीनत्वम् इति अस्वरसाद् आहुः **अदृष्टवद्** इति. **अभ्युपगम्यमानेति.**
अभ्युपगम्यमानः इत्यनेन अभ्युपगमवादएव नतु वास्तविकम् इति सूचितम्. तथाहि,
सृष्ट्युत्पत्तिकाले आत्मनः शरीराभावेन मनःसंयोगाभावः तदभावे च प्रयत्नाभावः इति न

विशेषाभावाद् विभागस्य अशक्यत्वाच्च. अतो द्व्यणुकस्य अभावः॥१२॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्याद् अनवस्थितेः॥१३॥

परमाणु-द्व्यणुकयोः समवायो अङ्गीक्रियते. सः सम्बन्धिनोः अवस्थानम् अपेक्ष्य, सम्बन्धस्य उभयनिष्ठत्वात्. सच नित्यः सदा सम्बन्धिसत्त्वम् अपेक्षते. अतोऽपि न द्व्यणुकम् उत्पद्यते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदेव इत्यादि. संयुक्तमपि परमाणुद्वयं परमाणुद्वयमेव पूर्ववत् तिष्ठेद् इति अर्थः. ननु परमाणुनिष्ठदेशविभागएव विशेषः आरम्भकतावच्छेदको भविष्यति इत्यतः आहुः **विभागे**त्यादि. तथाच अभ्युपगमे विभागस्य आरम्भकावच्छेदकतायां प्रमाणाभावः इति भावार्थः. ननु भवतु एवं तथापि “अणुद्वौ परमाणू स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः” (भाग. पुरा.३।११।५) इति श्रीभागवते सज्ज्ञाभेदाद् द्व्यणुकस्य अङ्गीकृतत्वात् कथं तेन अविरोधः? इति चेद् उच्यते. श्रीभागवते हि “चरमः सन् विशेषाणाम् अनेको संयुतः सदा, परमाणुः स विज्ञेयो नृणाम् ऐक्यभ्रमो यतः” (भाग.पुरा.३।११।१) इति परमाणु-लक्षणे ‘असंयुतः सदा’ इत्यनेन परमाणुसंयोगविनाकृतमेव द्व्यणुकं स्थूलात् सम्पन्नं महतः सकाशादेव सृष्टेः वेदपुराणप्रसिद्धत्वाद् नतु नैयायिकरीत्यापि, परमाणुषु सार्वदिकसंयोगनिषेधात्॥१२॥

सः समवायः. **सम्बन्धिनोः** परमाणु-द्व्यणुकयोः. **अवस्थानं** सत्त्वम्. **अपेक्षते** अङ्गीकर्तुं शक्यते इति अन्वयः. **उभये**त्यादि. उभयनियतत्वाद् इति अर्थः. **सच**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रयत्नवद् आत्मसंयोगः सम्भवति. एवं सृष्ट्युत्पादकादृष्टवद् आत्मसंयोगोऽपि न सम्भवति. तस्य सर्वदा सत्त्वेन कर्मणोऽपि सर्वदा सत्त्वात् प्रलयानुपपत्तिः इति. एवम् अभ्युपगम्यमाने पूर्वोक्तं दूषणं स्मारयन्ति **निरवयवत्वाद्** इति. उभयोः निरवयवत्वात् प्रदेशाभावाद् इति अर्थः. संयोगजसंयोगसत्त्वेऽपि तज्जन्यविभागो न स्वीक्रियते इति प्रलयानुपपत्तिः. सूत्रस्थ **तदभावः** इत्यस्य अर्थम् आहुः **अतः** इति ॥१२॥

अस्मिन् सूत्रे पूर्वसूत्रात् ‘तदभावः’ इति अनुवर्तते. तस्य च समवायाभ्युप-गमाच्च इति अनन्तरम् अन्वयः. प्रकारान्तरेण द्व्यणुकाभावं साधयितुम् आहुः **परमाणुः** इति. काणादमते षष्ठः पदार्थः समवायः अङ्गीक्रियते. तेनैव परमाणुकारणताभङ्गः क्रियते इति आहुः **सः सम्बन्धिनोः** इति. **सः** समवायः. **सम्बन्धिनोः** परमाणु-द्व्यणुकयोः. **अपेक्षते** इति. वक्तव्यः इति शेषः. ननु एवं चेत् को दोषः? इत्यतः आहुः **अतोऽपि** इति. **अतः** समवायनित्यत्वाद् इति अर्थः. **उत्पद्यते** इति. तथाच तस्य नित्यत्वहानिभिया

किञ्च, समवायो न अङ्गीकर्तुं शक्यः, संयोगेन तुल्यत्वात्, सम्बन्धत्वात् तस्य. यथा सम्बन्धिनि सम्बन्धान्तरापेक्षा एवं समवायस्यापि. तथा सति अनवस्थितिः॥१३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

समवायश्च. तस्य संयोगस्य. **सम्बन्धान्तरं** समवायरूपम्. तथा सति समवायस्यापि सम्बन्धिनि स्वरूपसम्बन्धाङ्गीकारे स्वरूपस्यापि सम्बन्धत्वेन वस्तुतः प्रतियोग्यनुयोगि-सापेक्षत्वेन अनवस्था इति भावः॥१३॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

द्व्यणुकं न उत्पद्यते इति अवश्यं स्वीकर्तव्यम् इति भावः. एवञ्च त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यः त्व्यणुकम् इत्यादिक्रमेण जगदुत्पत्तौ परमाणवः कारणं न, द्व्यणुकोत्पत्त्यभावाद् इति हृदयम्. ननु द्व्यणुकोत्पत्तौ स्वीक्रियमाणायां समवायस्य नित्यत्वहानिः नास्ति. द्व्यणुकोत्पत्तेः पूर्वं परमाणौ तत्सत्त्वं पश्चाद् द्व्यणुकेन सम्बन्धाभ्युपगमात्. अतएव परमाणौ समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणता-शालित्वम् इति समवायिकारणलक्षणमपि सङ्गच्छते इत्यतो न सम्बन्धिसत्त्वापेक्षेति न परमाणुकारणताभङ्गः इत्यतः समवायएव नास्ति इति खण्डयितुं साम्याद् अनवस्थितेः इत्यस्य अर्थम् आहुः किञ्च इति. सादृश्यबोधकसंयोगसमवायोभयसाधर्म्यम् आहुः सम्बन्धत्वाद् इति. ननु अस्तु नाम समवाये संयोगतुल्यत्वं, को दोषः? इत्यतः आहुः तस्य इति. संयोगस्य इति अर्थः. तस्य यथा इति. द्रव्य-द्रव्ययोः संयोगः तस्य गुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात् संयोगस्य द्रव्ये समवायसम्बन्धेन सत्त्वम् अपेक्षितं यथा, तथा समवायेऽपि सम्बन्धान्तरापेक्षेति अर्थः. ननु अस्तु सम्बन्धान्तरापेक्षा इत्यतः आहुः तथा सति इति. ननु समवायस्यापि सम्बन्धिभ्यां समवायः स्वीक्रियते तदा अनवस्था स्यात् सएवतु नास्ति. किन्तु स्वरूपसम्बन्धएव अतो न अनवस्था इति चेद्, मैवम्. तथा सति अवयवावयविनोरपि स्वरूपसम्बन्धएव अस्तु किम् अन्तर्गडुना समवायेन! इति. ननु स्वरूपसम्बन्धानां भिन्न-भिन्नत्वेन गौरवाद् एकः समवायएव कल्पनीयः इति चेद्, न, स्वरूपाणां क्लृप्तत्वेन अनेककल्पनस्यैव अभावात्. समवायस्तु अतिरिक्तः पदार्थः कल्पनीयः इति तवैव गौरवम् इत्येवंरीत्या लाघवगौरवविचारेण स्वरूपसम्बन्धं स्वीकृत्य समवायः खण्डितः श्रीहर्षकृतखण्डनग्रन्थे. अतिविस्तरभयाद् विरम्यते. श्रीप्रकाशकृतस्तु अनवस्थित्या दूषिते समवाये अयुतसिद्धयोः कः सम्बन्धः? इति आशङ्कायां तादात्म्यमेव सम्बन्धः इति उक्तम्. यथा सुवर्णं सुकृतम् इत्यादिभगवद्वाक्यात् कारणकार्यद्रव्ययोः तादात्म्यं निर्विवादम् इति प्राहुः॥१३॥

नित्यमेव च भावात्॥१४॥

परमाणोः कारणान्तरस्य च नित्यमेव भावात् सदा कार्यं स्यात्॥१४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो अदर्शनात्॥१५॥

यद् रूपादिमत् तद् अनित्यम्. परमाणोरपि रूपादिमत्त्वाद् विपर्ययः.
अनित्यत्वम् अपरमाणुत्वञ्च. नच प्रमाणबलेन तदतिरिक्ते अव्याप्तिः इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कारणान्तरस्य इत्यादि. तथाच समवायिकारणत्वाभिमतपरमाणूनां तैः सह अदृष्टवद् आत्मसंयोगस्य प्रयत्नवदात्मसंयोगस्य चिकीर्षासमानाधिकरणापरोक्षोपादान-प्रत्यक्षरूपद्व्यणुककारणान्तरस्य सत्त्वाद् इति अर्थः. **सर्वदा** प्रलयकालेऽपि. **कार्यं स्याद्** द्व्यणुकादि ब्रह्माण्डान्तं सकलमेव कार्यं स्यात्. तथाच खण्डप्रलयानुपपत्तिः ॥१४॥

विपर्ययः “परमाणुत्वेन भवदभिमताः अनित्याः, रूपादिमत्त्वाद्, घटादिवद्” इति अनुमानेन अनित्यत्वप्रसङ्गः. **अपरमाणुत्वञ्च** इति अनित्यत्वे सिद्धे नित्यस्य परमाणोः कैरपि अनङ्गीकाराद् अपरमाणुत्वं स्याद् इति अर्थः. **प्रमाणबलेन** इत्यादि. तथाच “द्व्यणुकावयवाः सावयवाः अनित्याः, महदवयवत्वात्, कपालिकावद्” इति अनुमानेन सावयवत्वानित्यत्वसाधने अनवस्थादिदोषेण अनुकूलतर्काभावेन च हेतोः अप्रयोजकत्वात् परमाणूनां नित्यत्वं निरवयवत्वं च परमाणुपरिमाणेन केवलव्यतिरेकि-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

परमाणुकारणवादे प्रलयानुपपत्तिरूपं दोषम् उद्भावयितुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति **परमाणोः** इति. समवायिकारणरूपस्य इति अर्थः. **कारणान्तरस्य** इति. ईश्वरेच्छादृष्टादिरूपनिमित्तकारणस्य इति अर्थः. **नित्यमेव** इति. सृष्टिप्राक्काले च इति अर्थः. **भावाद्** विद्यमानत्वात्. **सदा कार्यम्** इति. तथाच सामग्रीसत्त्वे कार्यावश्यम्भावात् सदा द्व्यणुकं स्यादिति प्रलयानुपपत्तिः इति भावः॥१४॥

परमाणूनां कारणत्वं तदा स्याद् यदा तेषां नित्यत्वं स्यात्. तदेव तु नास्ति इति आशयेन सूत्रं विवृण्वन्ति **यद्रूपादिमद्** इति. परमाणवः अनित्याः, रूपादिमत्त्वाद्, घटादिवद् इति अनुमाने इयं व्याप्तिः इति अर्थः. सूत्रस्थ **‘विपर्यय’**पदस्य अर्थम् आहुः **अनित्यत्वम्** इति. **अपरमाणुत्वं च** इति. अनित्यत्वादेव स्थौल्यम् इति भावः. ननु उक्तमेव पूर्वं मेरु-सर्षपयोः स्थौल्यापत्त्या कश्चिद् अवधिभूतः निरवयवः स्वीकर्तव्यः, स एव परमाणुः इति. एवञ्च एतादृश-प्रमाणबलेन परमाणुः अतिरिक्त एव इयं व्याप्तिः उपेयत इति आशयेन आशङ्कते नच इति.

वाच्यम्, अदर्शनात्. कार्यानुपपत्तिः श्रुत्यैव परिहृता ॥१५॥

उभयथापि च दोषात् ॥१६॥

परमाणूनां रूपादिमत्त्वे तदभावे च दोषः. एकत्र अनित्यत्वम् अन्यत्र कार्यरूपस्य निर्मूलत्वं च. हरिद्राचूर्णसम्बन्धे रूपान्तरस्य जननात् विरोधोऽपि ‘च’कारार्थः ॥१६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

हेतुना साधनीयम् इति अर्थः. अतिरिक्तेति परमाण्ववृत्तित्वेन इति रूपात्मको हेतुः विशेषणीयः इति अर्थः. अदर्शनाद् द्व्यणुकजनकसंयोगाश्रयपरमाणूनां श्रुतिस्मृत्यादिषु क्वापि असिद्धत्वाद् इति अर्थः. कार्यानुपपत्तिः कारणत्वेन अभिमतसमवायिनां परमाणूनां खण्डने ब्रह्माण्डान्तकार्यानुपपत्तिः ब्रह्मोपादानकसकलसत्कार्यस्य “तस्माद् वा एतस्मात्” (तैत्ति.उप.२।२), “यतो वा इमानि” (तत्रैव ३।१), “आनन्दाद्ध्येव खलु” (तत्रैव ३।२) इत्यादिश्रुतिभिः उक्तत्वात् परिहृता वेदितव्या इति अर्थः ॥१५॥

एकत्र परमाणूनां रूपाङ्गीकारे. अनित्यत्वं “परमाणुः अनित्यो, रूपित्वाद्, घटवद्” इति अनुमानेन अनित्यत्वम्. अन्यत्र रूपानङ्गीकारपक्षे. कार्यरूपस्य तेजोजलद्व्यणुकादिरूपस्य. निर्मूलत्वं तद्रूपाणां कारणगुणपूर्वकत्वनियमेन कारणे रूपानङ्गीकारे सति स्फुटमेव निर्मूलत्वम् इति अर्थः. रूपस्य कार्ये सजातीयरूपारम्भकतायां व्यभिचारम् आहुः हरिद्रादित्यादि ॥१६॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

समाधानम् आहुः अदर्शनाद् इति. परमाणोः अप्रत्यक्षत्वाद् इति अर्थः. तथाच अनुमितेः पक्षधर्मताज्ञानजन्यत्वात् पक्षांशे ज्ञानाभावाद् न अनुमानं प्रमाणम् अत्र प्रसरति इति भावः. ननु परमाणोः अप्रत्यक्षत्वेऽपि जगत् परमाणुजन्यं, कार्यत्वाद् इत्यनेन जगति कार्यत्वान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानेन अनुमानेन परमाणौ कारणत्वं सिध्यति इत्यतः आहुः कार्यानुपपत्तिः इति. श्रुत्यैव “तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः” (तैत्ति.उप. २।१।१) इति श्रुत्यैव इति अर्थः. अनुमानकल्पनायां कारणीभूतानुपपत्तिरेव नास्ति इति भावः. नच परमाणुकारणत्वे वैलक्षण्यं नास्ति तव मतेतु कारणात् कार्ये वैजात्यं दृश्यतइति ब्रह्म न कारणम् इति वाच्यम्. न, विलक्षणत्वाधिकरणे दूषणस्य प्रागेव परिहृतत्वाद् इति ॥१५॥

इदानीं परमाणुकारणत्वे दुरुद्धरं दूषणम् उद्भावयति परमाणुनाम् इति. तदभावे इति. अनित्यत्वभिया रूपशून्यत्वे स्वीक्रियमाणे दोषः इति अर्थः. दोषमेव आहुः अन्यत्र इति. रूपादिमत्त्वाभावे स्वीक्रियमाणे कार्यरूपस्य त्रसरेणुगतरूपस्य निर्मूलत्वं कारणं विनैव उत्पत्तिमत्त्वम्. तथाच कारणगुणपूर्वकत्वं कार्यगुणानाम् इति

अपरिग्रहाच्च अत्यन्तम् अनपेक्षा॥१७॥

सर्ववैदिकानाम् अपरिग्रहाच्च अत्यन्तं सर्वथा न अपेक्ष्यते॥१७॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयं महद्दीर्घवद् वा इति अधिकरणम्॥३॥

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः॥१८॥ (२।२।४)

अतः परं बाह्यमतनिराकरणम्. ते समुदायद्वयं जीवभोगार्थं संहन्यते इति मन्यन्ते. परमाणुसमूहः पृथिव्यादिभूतसमुदायः एकः. रूपादिस्कन्ध-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वैदिकानाम् इत्यादि. तथाच नैयायिकसिद्धान्तस्य वेदे क्वापि अनुपलम्भात् सर्वांशे न तच्छास्त्रस्य प्रामाण्यम् अतो न अपेक्ष्यते व्यासैः उपेक्ष्यते इति फलितो अर्थः॥१७॥३॥

बाह्यमतम् इति केषाञ्चिद् अनित्यपदार्थानां तन्नाशानां च अङ्गीकाराद् अर्धवैनाशिकनैयायिकनिराकरणस्मृत्या सर्वनाशवादिबाह्यमतस्मरणाद् तन्मतं निराक्रियते इति अर्थः. ते बुद्धशिष्याः चत्वारः वैनाशिकः सौत्रान्तिको विज्ञानवादी माध्यमिकश्च तेषु ये बाह्यार्थास्तित्ववादिनः ते. **समुदायद्वयं** जीवानां भोगार्थं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

नियमभङ्गः इति भावः. सूत्रे चकारप्रयोजनम् आहुः **हरिद्रा** इति. **हरिद्रा** पीतवर्णा. **चूर्णं** श्वेतवर्णम्. **सम्बन्धे** उभयोः संयोगे **रूपान्तरस्य** रक्तरूपस्य **विरोधोऽपि** इति. रूपस्य सजातीयरूपे जनकत्वम् इति नियमभङ्गरूपो विरोधोऽपि इति अर्थः॥१६॥

अत्यन्तम् इत्यस्य अर्थम् आहुः **सर्वथा** इति. वैशेषिकमतम् अवैदिकम् इति उपेक्षणीयम् इति भावः॥१७॥३॥

पृथिव्यादिचतुष्टयपरमाणूनाम् आकाशादीनां च अविनाशित्वम् अन्यस्य सर्वस्य कार्यजातस्य विनाशित्वम् उपयन्ति. अथवा सूर्यचन्द्रगतिन्यायेन शरीरभूभूधर-वारिधीनां सावयवानां प्रतिक्षणम् उपचयापचयसत्त्वेन प्रतिक्षणं नाशम् उपयन्ति इति अर्धवैनाशिकाः वैशेषिकाः. सर्वस्य शरीरादिप्रपञ्चस्य तप्तलोहपतितबिन्दुरिव ध्वंसः, न किमपि अवशिष्यते नच जीवो नच ईश्वरः इति उपयन्ति इति सर्ववैनाशिकाः बौद्धाः. एवञ्च वैनाशिकत्वसाधारणधर्मेण बौद्धसादृश्यसम्बन्धस्य नैयायिकेऽपि सत्त्वाद् “एकसम्बन्धिज्ञानं अपरसम्बन्धिस्मारकम्” इति न्यायेन स्मृतस्य उपेक्षानर्हत्वरूप-प्रसङ्गसङ्गत्या वैशेषिकमतखण्डनानन्तरम् एकोनविंशतिभिः सूत्रैः बाह्यमतं खण्डयितुं समुदायाधिकरणं रचयन्ति. **समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः**. इमामेव सङ्गतिं

समुदायश्च अपरः. रूप-विज्ञान-वेदना-सञ्ज्ञा-संस्कार-सञ्ज्ञकाः पञ्च स्कन्धाः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

संहन्यते इत्यादि. मिलितं भवति इति मन्यन्ते. पृथिव्यादीति. रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः चतुर्विधाः कठिनस्वभावाः संहताः सन्तः ‘पृथिवी’पदवाच्याः भवन्ति. रूपरसस्पर्शाः स्नेहस्वभावाः जलपरमाणवः संहताः जलव्यवहारसम्पादकाः भवन्ति. तथा रूपस्पर्श-परमाणवः उष्णस्वभावाः संहताः तेजोव्यवहारं सम्पादयन्ति. तथा स्पर्शपरमाणवः चलस्वभावाः संहताः वायुव्यवहारभाजः इति बाह्यः एकः समुदायः एतदतिरिक्तन्तु कालाकाशात्मादि न वस्तु. आन्तरं पञ्चस्कन्धसमुदायं द्वितीयम् आहुः रूपेत्यादि. तत्रत्यः पञ्चभेदान् आहुः रूपविज्ञानेत्यादिना. रूप्यते ज्ञायते अनेन इति रूपं ज्ञानेन्द्रियाणि. ‘अहम्’इत्याकारम् इन्द्रियजन्यं विषयविषयकं ज्ञानं विज्ञानम् अहङ्कारएव क्षणिकविज्ञानसन्तानः “कर्ता भोक्ता अहम्” इति अभिमानाद् ‘आत्मा’ इति उच्यते,

गोस्वामिश्रीमदगिरिधरविरचितं विवरणम्

ध्वनयन्ति इतः परम् इति. दूषणार्थम् आदौ तन्मतं प्रदर्शयन्ति ते इति. ते बोद्धाः, मन्यन्ते इत्यनेन अन्वयः. समुदायद्वयम् इति. भूतभौतिकात्मकं बाह्यं, चित्तचैतात्मकम् आभ्यन्तरम् इति बाह्याभ्यन्तरभेदेन समुदायद्वयम् इति अर्थः. भौतिकं गिरिनद्यादि, चित्तं ज्ञानं, चैतं सुखादिः इति तदर्थः. जीवभोगार्थम् इति. क्षणिकविज्ञानसन्तानरूपस्य जीवस्य भोगार्थम् इति अर्थः. संहत्य जगद्रूपं भवति इति अर्थः. बाह्यसमुदायम् आहुः परमाणुः इति. कठिनस्निग्धोष्णचलनस्वभावाः पार्थिवाद्याः कारणीभूताः परमाणवः तेषां समुदायः इति अर्थः. कारणसमुदायम् उक्त्वा कार्यसमुदायम् आहुः पृथिव्यादीति. कारणीभूतेभ्यः समुदायेभ्यः युगपत् पुञ्जीभूतेभ्यः बाह्यभौतिकसमुदायो जायते इति अर्थः. तथाच ‘भूत’पदस्य भौतिकपरत्वं स्वीकृत्य तार्किकरीत्या न द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यम् आरभते किन्तु गिरिनद्यादिकं सर्वं परमाणुपुञ्जएव इति भावः. आन्तरसमुदायम् आहुः रूपादीति. यद्यपि रूपादिकं बाह्यं तथापि ज्ञानविषयतया तस्यापि आन्तरत्वविवक्षा इति भावः. श्रीप्रकाशकृतस्तु रूप्यन्ते इति व्युत्पत्त्या सविषयाणि इन्द्रियाणि रूपस्कन्धः इति प्राहुः. केषाञ्चिन्मते शरीरमेव रूपस्कन्धः. रूपादीनां ज्ञानं विज्ञानस्कन्धः तस्यैव “अहं कर्ता” इति अभिमानाद् आत्मा इति व्यवहारः. तस्यैव क्षणिकत्वं, नतु नित्यः कश्चिद् आत्मा स्वीक्रियते वेदना सुखदुःखे. यज्ञदत्तादिः सञ्ज्ञास्कन्धः. राग-द्वेष-मद-मात्सर्य-धर्माधर्मादयः संस्कार-स्कन्धः. पञ्चस्कन्धाः इति. ‘स्कन्ध’पदं समुदायपर्यायम्. तथाच अयं समुदायः सर्वोऽपि क्षणिकः इति अवगन्तव्यम् बुद्धवचनाद् इति भावः.

तदुभयसम्बन्धे जीवस्य संसारः, तदपगमे मोक्षः इति. तत्र **उभयहेतुकेऽपि समुदाये जीवस्य तदप्राप्तिः** क्षणिकत्वात्. सर्वक्षणिकत्वे जीवमात्रक्षणिकत्वे वा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु एतदतिरिक्तो नित्यः कश्चिद् आत्मा अस्ति, प्रियाप्रियविषयानुभवजनितसुख-
दुःखादिविषयकचित्तावस्थाविशेषो 'वेदना'पदवाच्यः. सविकल्पकज्ञानं
'सज्ज्ञा'पदवाच्यम्. रागादयः क्लेशाः मदमानमात्सर्यादयः उपक्लेशाः धर्माधर्मौ च इति
संस्कारस्कन्धः. 'स्कन्ध'शब्दः समूहवाची. **तदुभयसम्बन्धे** बाह्याभ्यन्तरः
उभयसमुदायसम्बन्धे. **तदप्राप्तिः** संसाराप्राप्तिः. जीवस्य समुदायद्वयस्य च
उत्पत्त्यनन्तरं द्वितीयक्षणे सम्बन्धः तृतीयक्षणे च संसारः सः न सम्भवति, सर्वेषामेव
क्षणिकत्वाद् इति आहुः **क्षणिकेत्यादि. जीवमात्रेत्यादि.** तथाच जीवक्षणिकत्वपक्षे

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ननु एवं सति समुदायस्य कर्ता को वा, अथच कः संसारः मोक्षश्च कः ?
इत्यतः आहुः **तदुभयेति.** तथाच ईश्वरानङ्गीकाराद् अहेतुकएव सम्मीलितसमुदायद्वयमेव
अशेषं जगत्परिदृश्यमानम् इति भावः. **जीवस्य** क्षणिकविज्ञानस्कन्धस्वरूपस्य. **संसारः**
इति. रूपस्कन्धवेदनास्कन्धादिस्वरूपः संसारः इति अर्थः. **तदपगमे** इति.
पुञ्जद्वयसम्बन्धापगम इति अर्थः. तथा च आन्तरसंस्कार-स्कन्धक्षये सति
पुञ्जद्वयसम्बन्धापगमो जायते इति भावः. **मोक्षः** इति. सम्बन्धापगमे अभावरूपः
तप्तायोगोलकपतितजलबिन्दुरिव मोक्षः इति अर्थः. अत्र इदम् अवधेयम्. शरावः तैलं
वर्तिका अग्निश्च इति चतुष्टयं मिलित्वा एकः दीपो यथा भवति तथा क्षणपरम्परया
निर्वातस्थदीपवत् स्थितिं प्राप्तः विज्ञानसन्तानात्मकजीवः तैलस्थानीयेन संस्कारस्कन्धेन
संसारम् अनुभवति, तैलक्षये दीपस्य यथा निर्वाणं तथा धर्माधर्मरूप-संस्कारक्षये
जीवोऽपि निर्वाणं प्राप्नोति इति. एतावता प्रबन्धेन तन्मतम् अनूद्य दूषयति तत्र इति. सूत्रं
व्याकुर्वन्ति **उभयेति. समुदाये** इति. अङ्गीक्रियमाणे सति इति शेषः. **जीवस्य**
त्वदीयमतोक्तजीवस्य. **तदप्राप्तिः** त्वदीयोक्तसंसारस्य अप्राप्तिः. अत्र हेतुम् आहुः
क्षणिकत्वाद् इति. क्षणिकत्वं यत् त्वया स्वीक्रियते तदेव तव गृहभञ्जकं भवति इति
अर्थः. ननु यथा दूषणं समायाति तथा मया क्षणिकत्वं क्वचित् स्थले न उच्यते इति चेत्
तदेव विकल्प्य दूषयन्ति **सर्वेति.** समुदायघटनात् परमाणुषु क्रियानन्तरं संयोगानन्तरम्
इति सर्वैः स्वीकर्तव्यम्. एवञ्च **सर्वक्षणिकत्वे** स्वीक्रियमाणे संयोगक्षणे
क्रियाश्रयीभूत-परमाणूनां नाशात् केषां संयोगो भवतु इति त्वयैव विचारणीयम्. तथाच
समुदायाभावाद् जीवस्य संसाराप्राप्तिः. **जीवमात्रक्षणिकत्वेतु** "यस्य मे विवाहो जातः

तदप्राप्तिः॥१८॥

इतरेतरप्रत्ययत्वाद् इति चेद्, न, उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्॥१९॥

सर्वक्षणिकत्वेऽपि पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरप्रत्ययविषयत्वात् कारणत्वात् सन्ततेरेव जीवत्वाद् जडत्वाच्च न कापि अनुपपत्तिः इति चेद्, न, उत्पत्तिमात्र-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जीवस्यैव द्वितीयक्षणे असत्त्वात् संसारासम्भवः॥१८॥

पूर्वपूर्वस्य विज्ञानस्य इति अर्थः. उत्तरोत्तरप्रत्ययविषयत्वाद् उत्तरोत्तर-विज्ञानविषयत्वात्. **कारणत्वात्** पूर्वविज्ञानानाम् अनन्यथासिद्धनिमित्तपूर्ववृत्तित्वात्. **जीवत्वाद्** विज्ञानसन्ततेः जीवत्वात्. **जडत्वाद्** जडसन्ततेः जडत्वात्. **न अनुपपत्तिः** आन्तरसन्ततेः अविद्यायाः बाह्यसन्ततिसम्बद्धायाएव उत्पत्तेः. बन्धस्य दीपसन्ततिवत् तत्सन्ततिनाशे च मोक्षस्य न अनुपपत्तिः इति अर्थः. **उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वाद्**

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

तस्यैव मे पुत्रो जातः” इति वेदनास्कन्धरूपसंसारप्राप्तिः विज्ञानस्कन्धात्मकजीवस्य नाशाद् न भविष्यति. ननु विज्ञानस्य क्षणिकत्वमपि विज्ञानधारायाः आशयसञ्ज्ञकः सन्तानः स्थिरः स्वीक्रियते इति चेद्, न, एवं सति सएव स्थिरः चेतनो जीवो अस्तु इति अस्मन्मतप्रवेशः इति न किञ्चिद् एतद् इति कृतं पल्लवितेन ॥१८॥

‘अप्राप्तिः’ इति पूर्वसूत्राद् अनुवर्तते. सर्वक्षणिकत्वे जीवमात्रक्षणिकत्वे च यद् दूषणम् उक्तं तत्पूर्वपक्षी परिहरति सूत्रांशेन इति व्याख्यातुम् आहुः **क्षणिकत्वेऽपि** इति. दोषो नास्ति इति शेषः. तदेव उपपादयति **पूर्वपूर्वस्य** इति. विज्ञानधारायां पूर्वपूर्वप्रत्ययस्य उत्तरोत्तरेति. उत्तरोत्तरविज्ञानविषयत्वेन कारणाद् इति अर्थः. यथा “घटं जानामि” इत्यत्र घटज्ञानं विषयतासम्बन्धेन “घटज्ञानवान् अहम्” इति अनुव्यवसायात्मकज्ञाने कारणम् एवं पूर्वविज्ञाने यद् अनुभूतं तदेव उत्तरविज्ञाने स्मर्यते इति पूर्वविज्ञाने विषयत्वं प्राप्य कारणत्वं स्वीक्रियते अतो न विज्ञानस्य क्षणिकत्वभङ्गः, न वा “यस्य मे विवाहो जातः” इत्यादि संसाराप्राप्तिः इति भावः. ननु एवं चेत् त्वन्मते जीवत्वं गतम् इत्यतः आहुः **सन्ततेरेव** इति. तथाच जीवस्य स्थिरत्वेन भवन्मते प्रवेशो नास्ति इति भावः. अतएव चेतनत्वं नास्ति इति आहुः **जडत्वात्** च इति. **न कापि** इति. धारावाहिकतादृशजीवस्य धारावाहिकरूपस्कन्धसम्बन्धेन धारावाहिकवेदनास्कन्धा-त्मकसंसारप्राप्तिः. अथच धारावाहिकसंस्कारस्कन्धेन नानाविधशरीरभेदतादृशसंस्कार-विरामे च अभावरूपमोक्षसिद्धिः इति **न कापि अनुपपत्तिः** इति अर्थः. एवं तेषां समाधानं, तद् दूषयन्ति इति चेद् इति. **निमित्तत्वाद्** इति. पूर्वप्रत्ययस्य

निमित्तत्वात्. अनुसन्धानाभ्युपगमे स्थिरत्वापत्तिः. सम्बन्धवियोगार्थं को वा यतेत. स्थैर्याभावात् समुदायानुपपत्तिश्च॥१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्॥२०॥

उत्तरोत्पत्तिरपि न सम्भवति. उत्पन्नस्य खलु उत्पादकत्वम्. अतः उत्तरोत्पत्तिसमये पूर्वस्य नष्टत्वाद् उत्पत्तिक्षणएव स्थिति-प्रलय-कार्यकरण-सर्वाङ्गीकारे विरोधाद् एकमपि न स्यात्॥२०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उत्तरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्. मात्रपदेन पूर्वजातसुखदुःखादिसंस्पर्शाविषयतया संसारित्वं व्यवच्छिद्यते. अनुसन्धानाभ्युपगमे सुखदुःखादिसंस्पर्शानुसन्धानाभ्युपगमे. स्थिरत्वापत्तिः सन्तानिनः स्थिरत्वापत्तिः. तामेव उपपादयन्ति सम्बन्धेत्यादि. जीवस्य क्षणिकत्वाङ्गीकारे संसारसम्बन्धवियोगार्थं को वा यतेत? विना यत्नं तद्वियोगे च सर्वेषां मोक्षापत्तिः इति भावः. समुदायः इत्यादि. क्रमिकोत्पत्तिमतां क्षणभङ्गुराणां समुदायोऽपि न सम्भवति इति अर्थः॥१९॥

सौत्र पूर्वनिरोधाद् इति पदस्य पूर्वस्य नाशाद् इति अर्थः. कार्यकालवृत्तितया कारणत्वम् अभिप्रेत्य आहुः उत्पत्तिक्षणेत्यादि. विरोधाद् इत्यादि. तथाच एकस्यैव पदार्थस्य एकस्मिन्नेव क्षणे उत्पादक-स्थापक-नाशक-सामग्रीत्रय-सम्मिलनस्य तैः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इतरप्रत्ययोत्पादने निमित्तत्वाद् इति अर्थः. तथाच उत्तरोत्पत्तिकाले पूर्वस्य नाशात् तद्गतविषयानुसन्धानाभावेन संसाराप्राप्तिः तदवस्थैव इति भावः. ननु मया अनुसन्धानं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः, अथवा दूषणान्तरम् आहुः अनुसन्धानेति. स्थिरत्वेन मन्मतप्रवेशापत्तिः इति अर्थः. ननु अनुसन्धानस्य विज्ञानजन्यत्वाद् अस्तु स्थिरत्वं, नतु विज्ञानस्कन्धस्य जीवस्य इत्यतो दूषणान्तरम् आहुः सम्बन्धेति. वेदनास्कन्धरूपसंसारः तस्यैव सम्बन्धः तद्वियोगार्थं मोक्षार्थं को यतेत. जीवस्य स्थिरत्वाभावाद् न कोऽपि इति अर्थः. दूषणान्तरमपि आहुः स्थैर्येति. तत्तत्पदार्थानां स्थिरत्वे हि समुदायः सम्पद्यते, तदेव नास्ति इति समुदायानुपपत्तिः इति अर्थः॥१९॥

इदानीं पूर्वोत्तरयोः कार्यकारणभावखण्डनं सूत्रोक्तं विशदयन्ति उत्तरेति. उत्पन्नस्य उत्पत्त्यनन्तरं स्थितस्य. निरोधाद् इत्यस्य अर्थम् आहुः नष्टत्वाद् इति. न सम्भवति इति पूर्वेण अन्वयः. ननु मया सर्वं उत्पत्तिक्षणएव स्वीक्रियते इत्यतः आहुः उत्पत्तीति. विरोधाद् इति. सहानवस्थितिरूपाद् इति अर्थः. अधिकन्तु प्रकाशाद् अवगन्तव्यम्॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यम् अन्यथा ॥२१॥

एका क्षणिकत्वप्रतिज्ञा. अपरा चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कार्यमात्रस्थले स्वीकाराद् एकस्यापि कार्यं न स्यात् तिसृणामपि वा कार्यं स्यात्. तिसृणामिति चरमपक्षाङ्गीकारेण स्थितिः अव्याहतैवेति नाशो अनुपपन्नः स्थितिसामग्र्यपेक्षया नाशसामग्र्याः प्राबल्यकल्पनेन क्षणिकपदार्थवादिनां क्षणमात्रमपि पदार्थस्थितिः न स्यात् तस्मात् सूक्तम् एकमपि न स्याद् इति ॥२०॥

पूर्वसूत्रैः क्षणभङ्गवाद्यभिमतपुञ्जस्य कारणता निरस्ता. अतः परम् असत्येव हेतौ कार्योत्पत्तिः इति तदभ्युपगतम् आकस्मिकमतं दूषयति असति इत्यादि. क्षणिकत्वप्रतिज्ञा सर्वं क्षणिकम् इति अभ्युपगमएव प्रतिज्ञा तेषां प्रथमा. अपराम् आहुः चतुर्विधेत्यादिना. चतुर्विधास्तु एवम्, आलम्बनप्रत्ययः, समनन्तरप्रत्ययः, अधिपति-प्रत्ययः, सहकारिप्रत्ययश्च इति. इमान् चतुर्विधान् हेतून् प्राप्य विज्ञानस्कन्धात्मकं चित्तं वेदनास्कन्धात्मकान् चित्तचैतान् उत्पादयति. तत्र 'आलम्बनप्रत्ययो' नाम विषयः. तेन चित्तस्य नीलादिविषयाकारता सिध्यति. 'समनन्तरप्रत्ययो' नाम पूर्वविज्ञानम्. तेन बोधरूपता चित्तस्य जायते. 'अधिपतिप्रत्ययो' नाम इन्द्रियाणि. तैः रूपादि नियतं गृह्यते. सहकारिप्रत्ययः आलोकादि. तेन विषयस्पष्टता. एवं चतुर्भिः हेतुभिः विषयात्मकं चित्तम् उत्पद्यते. एवं चित्ताभिन्नहेतुजानां चैतानां सुखादीनाम् एतएव

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र पूर्ववद् अनुवर्तते. पूर्वः उत्तरं प्रति कारणं न चेद् मास्तु. हेतुं विनैव कार्योत्पत्तिः इति आकस्मिकवादः स्वीक्रियते इति. तं पक्षं दूषयितुं सूत्रम् आहुः असति हेतौ प्रतिज्ञानाशः अन्यथा द्वितीयप्रतिज्ञानङ्गीकारे यौगपद्यम् एकदैव उत्पत्तिः इति सूत्रार्थः. सूत्रार्थं विवृण्वन्ति एका इति. प्रतिज्ञा उभयमध्ये एका इति अर्थः. द्वितीयाम् आहुः अपरा इति. उत्पद्यन्ते इत्यन्ता. चतुर्विधान् इति. आलम्बनप्रत्यय-समनन्तर-प्रत्ययाधिपतिप्रत्ययसहकारिप्रत्ययरूपान् चतुर्विधान् इति अर्थः. विषयपूर्व-विज्ञानेन्द्रियालोकादिस्वरूपान् इति यावत्. हेतून् इति. एतादृशान् चतुर्विधान् इति अर्थः. प्रतीत्य प्राप्य. चित्तचैत्ताः इति. चित्तं च चैत्ताश्च चित्तचैत्ताः. चित्तं विज्ञानस्कन्धात्मकम्. चैत्ताः सुखादिरूपाः. उत्पद्यन्ते इति. द्वितीयप्रतिज्ञा इति अर्थः. तथाच चित्तस्य विषयेण नीलपीताद्याकारताविज्ञानेन बोधः. इन्द्रियेण विषयग्रहणम्. आलोकेन स्फुटतेति एवरीत्या हेतवः इति भावः. तैश्च चित्तं विज्ञानस्कन्धात्मकं चैत्तात्मकं संसारं प्राप्नोति इति फलितम्. एवञ्च पूर्वप्रतिज्ञायाः क्षणिकत्वरूपायाः

चित्तचैता ('चित्तचैत्या' इति पुरुषाठः.) उत्पद्यन्ते इति. वस्तुनः क्षणान्तरसम्बन्धे प्रथमप्रतिज्ञा नश्यति. असति द्वितीया. द्वितीया चेद् न अङ्गीक्रियते तदा प्रतिबन्धाभावात् सर्वं सर्वतः एकदैव उत्पद्येत ॥२१॥

प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

अपिच वैनानिकाः कल्पयन्ति. बुद्धिबोध्यं त्रयाद् अन्यत् संस्कृतं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

चत्वारो हेतवः इति द्वितीया प्रतिज्ञा. क्षणान्तरसम्बन्धे इति. तथाच दिवतीय-प्रतिज्ञाङ्गीकारे क्षणान्तरसम्बन्धाङ्गीकारेतु प्रथमक्षणे इन्द्रियनाशे सति विषयेन्द्रियसंयोगएव न स्यात्, तस्य द्विनिष्ठत्वात् केन वा सह संयोगः स्याद्? इन्द्रियतत्संयोगविषयाणां त्रयाणामपि एकक्षणोत्पत्त्यङ्गीकारे कार्यकारणभावएव न स्यात्. कार्यं वा कारणं कुतो न स्याद् इत्यादि दूषणं बोध्यम्. असति इत्यादि. तथाच कारणत्वाभिमतं च न स्यात्, कारणं वा कार्यं स्याद् इति द्वितीयक्षणवृत्तित्वानङ्गीकारे चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्येत्यादि द्वितीयप्रतिज्ञाभङ्गः इति अर्थः. द्वितीयेत्यादि. तथाच अभावमात्रादेव सकलकार्याङ्गीकारे कार्यकारणभाववैपरीत्यं यौगपद्यं वा दोषः स्याद् इति अर्थः ॥२१॥

एवं चतुःसूत्र्या तदुक्तम् उत्पत्तिप्रकारं दूषयित्वा तदुक्तं नाशप्रकारं दूषयति प्रतीत्यादि. तं व्याकर्तुं पूर्वं तेषां मतम् अनुवदन्ति अपिच इत्यादिना. वैनानिकाः सौगताः सर्वानित्यत्ववादिनः कल्पयन्ति, बुद्धिबोध्यत्रयाद् अन्यद् भिन्नं यत् तत्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्ध्यर्थम् अभावस्य कारणत्वं वक्तव्यम्. तेन च कार्योत्पत्ति-क्षणपर्यन्तस्थायिन्याः चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य इति द्वितीयप्रतिज्ञायाः नाशः इति असति प्रतिज्ञोपरोधः इत्यस्य अर्थः इति अवगन्तव्यम्. सूत्रस्थः 'अन्यथा'पदस्य अर्थम् आहुः द्वितीया चेद् इति. तथाच चतुर्विधहेतूनामपि क्षणिकत्वमेव स्वीक्रियते इति भावः. प्रतिबन्धाभावाद् इति. अभावस्य कारणत्वे अर्थसमाजग्रस्तप्रतिबन्धाभावस्य सत्त्वाद् इति अर्थः ॥ २१ ॥

बौद्धमतसिद्धपदार्थद्वयं दूषयति सूत्रकारः इत्यतः प्रथमं तन्मतम् आहुः अपिच इति. कल्पयति इति. बौद्धाः संस्कृतक्षणिकप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्रतिसङ्ख्या-निरोधाकाशं च पञ्च पदार्थान् कल्पयन्ति इति अर्थः. तत्र प्राथमिकं पदार्थद्वयम् आहुः बुद्धिबोध्यम् इति. बुद्ध्या बोध्यं ज्ञेयं भावमात्रं प्रमेयम् इति अर्थः. ततः पुनः कीदृशम्? इत्यतः आहुः त्रयाद् अन्यद् इति. त्रयाद् अभावरूपात् तुच्छाद् अग्रिमपदार्थत्रयात्. अन्यद् भिन्नम्. संस्कृतम् उत्पत्तिमद्, अथवा पूर्वपूर्वविज्ञानजैः

क्षणिकं च इति. त्रयं पुनः निरोधद्वयम् आकाशं च. तत्र इदानीं निरोधद्वयाङ्गीकारं दूषयति. **प्रतिसङ्ख्यानिरोधो** नाम भावानां बुद्धिपूर्वको विनाशः. विपरीतो **अप्रतिसङ्ख्यानिरोधः**. त्रयमपि निरुपाख्यम्. निरोधद्वयमपि न प्राप्नोति,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

संस्कृतं पूर्वविज्ञानजैः संस्कारैः आलयत्वेन व्यवहारयोग्यं **क्षणिकं**. तदपि, **निरोध-द्वयम् आकाशश्च** इति **त्रयम्** एवं पञ्चपदार्थाः इति. तत्र निरोधद्वयस्वरूपन्तु अत्रैव सूत्रे स्फुटम्. आकाशस्वरूपं तद्दूषणसूत्रे वाच्यम्. तत्र क्षणिकं संस्कृतं च पूर्वसूत्रे दूषितम्. आकाशं च अग्रे दूषणीयम्. इदानीं निरोधद्वयाङ्गीकारं दूषयन्ति. तयोः स्वरूपम् आहुः **प्रतिसङ्ख्यानिरोधः** इत्यादि. प्रतिकूला संख्या **प्रतिसङ्ख्या** “सन्तम् इमम् असन्तं करोमि” इत्याकारकतया भावप्रतीया या बुद्धिः सा प्रतिसङ्ख्या तत्पूर्वको विनाशः प्रतिसङ्ख्यानिरोधः **विपरीतः** तादृशबुद्धिं विनापि जायमानः अप्रतिसङ्ख्या-निरोधः. **त्रयं** निरोधद्वयम् आकाशञ्च इति त्रयम् इति अर्थः. **निरुपाख्यम्** इति. अनिर्वाच्यम् अवस्तु इति यावत्. **निरोधद्वयं** प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधद्वयम् इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

संस्कारैः आलयत्वेन व्यवहारयोग्यम्. **क्षणिकं** द्वितीयक्षणवृत्तिनाशप्रतियोगि. **त्रयाद् अन्यद्** इति उक्तं तत् त्रयं किं? अतः आहुः **त्रयं पुनः** इति. **निरोधद्वयम्** इति. प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधद्वयम् इति अर्थः. **आकाशम्** आवरणाभावरूपम्. श्रीप्रकाशकृद्भिस्तु क्वचित्पुस्तके बुद्धिबोध्यत्रयाद् इति एकं पदम्, इममेव पाठं धृत्वा बुद्धिबोध्यत्रयाद् अन्यद् भिन्नम् इति व्याख्यातम्. तेषां पदार्थत्रयेऽपि बुद्धिबोध्यत्वम् अस्ति इति अभिप्रायः. एवं तन्मतसिद्धपदार्थपञ्चकं निरूप्य आद्यं द्वयं चतुःसूत्रा दूषितम्. आकाशं च अग्रिमसूत्रेण दूष्यते. इतः परम् अवशिष्टं पदार्थद्वयम् अनेन सूत्रेण दूषयितुम् आहुः **तत्र** इति. प्रथमस्य लक्षणम् आहुः **प्रतिसङ्ख्या** इति. ‘सङ्ख्या’-शब्देन बुद्धिः. प्रतिकूला “घटं नाशयामि” इत्याकारिका या सा प्रतिसङ्ख्या, तत्पूर्वको यो निरोधः, दण्डाद्युद्यम्य क्रियमाणो घटनाशः, सः प्रतिसङ्ख्यानिरोधः इति अर्थः. अयमेव तन्मते स्थूलो विनाशः इति उच्यते. द्वितीयस्य लक्षणम् आहुः **विपरीतेति**. तादृशबुद्धिं विनापि जायमानः इति अर्थः. अयमेव घटादीनां प्रतिक्षणं जायमानः कुशलैः अवगन्तुम् अशक्यः सूक्ष्मः इति उच्यते. इदं द्वयम् आकाशं च इति त्रयाणां नाम कथयन्ति **त्रयम्** इति. **निरुपाख्यम्** इति. अनिर्वाच्यम्, अप्रमेयत्वात् शशशृङ्गवद् अवस्तु इति यावत्. एवं तन्मतम् उक्त्वा दूषणसूत्रांशं व्याकुर्वन्ति **निरोधद्वयम्** इति. सूत्रस्था ‘प्राप्ति’पदस्य अर्थम् आहुः **न प्राप्नोति** इति. सौत्रस्य

सन्ततेः **अविच्छेदात्**. पदार्थानां च नाशकसम्बन्धाभावात् प्रतिबन्ध-
सम्बन्धाभावः. आद्यनिरोधः पदार्थविषयको व्यर्थः. द्वितीयः क्षणिकाङ्गीकारेणैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अर्थः. न प्राप्नोति न सम्भवति इति अर्थः. **सन्ततेः अविच्छेदात्** समुदायद्वयं विभागे
सति स्याद् अविच्छेदे च विभाजकासत्त्वाद् द्वित्वम् अनुपपन्निमेव इति भावः. कथं
सन्ततिः अविच्छेदः? इति आकांक्षायाम् आहुः **पदार्थानाम्** इत्यादि. तन्मते सर्वे
पदार्थाः क्षणिकाः सजातीयसन्तानजननस्वभावाः. क्षणिकानां च नाशकसम्बन्धो न पूर्वं
दृष्टः इति अन्त्यानामपि पदार्थानां नाशकसम्बन्धाभावात् पूर्ववदेव सन्ततिः अनुवर्तिष्यते
इति हेतोः **प्रतिबन्धसम्बन्धाभावः** प्रतिबन्धकस्य सन्ततौ अभावः इति भावः. **व्यर्थः**
भिन्नत्वेन उपपाद्यमानो व्यर्थः इति अर्थः. **द्वितीयः** द्वितीयनिरोधः. **क्षणिकेत्यादि**.
तथाच सन्ततेः ऐक्याद् ऐक्यसिद्धौ द्वितीयत्वेन निर्देशो व्यर्थः इति अर्थः. तस्माद्
असङ्गतं सौगतमतम् इति अर्थः॥२२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अविच्छेदाद् इत्यस्य अर्थम् आहुः **सन्ततेः** इति. सन्तानिपदार्थानां सन्ततिः सन्तानः
हेतुफलरूपेण प्रवाहः तस्य **अविच्छेदाद्** नैरन्तर्याद् इति अर्थः. तथाच सर्वेषां पदार्थानां
क्षणिकत्वात् पूर्वक्षणस्य उत्तरक्षणवृत्तिपदार्थहेतुत्वं त्वया सन्तत्या स्वीक्रियतइति
सन्ततिविच्छेदः तव सम्मतो न भवति इति भावः. ननु अस्तु मम सम्मतः तथापि दूषणं
किम्? अतः आहुः **पदार्थानाम्** इति. क्षणिकसन्तानिपदार्थानाम् इति अर्थः.
नाशकसम्बन्धाभावाद् इति. अस्मिन् प्रवाहे पूर्वस्य उत्तरं प्रति कारणसम्बन्धएव, ननु
नाशकसम्बन्धः इति अर्थः. **प्रतिबन्धसम्बन्धाभावः** इति. सन्ततिप्रतिबन्धसम्बन्धो
नास्ति इति अर्थः. ननु एवंरीत्या सन्ततेः अविच्छेदः सिद्धः तावता दूषणं किम्? अतः
आहुः **आद्यनिरोधः** इति. प्रतिसङ्ख्यानिरोधः इति अर्थः. **पदार्थविषयकः**
घटादिरूपपदार्थविषयकः. **व्यर्थः** इति. प्रयोजनाभावाद् न अङ्गीकर्तव्यः इति अर्थः. तथा
विच्छिन्ना सन्ततिस्तु तव गले पतिता. एवञ्च विज्ञानसन्ततिरेव जीवः. तस्य च
संस्कारनाशजन्यो यः चरमक्षणे नाशः सएव तव मते मोक्षः. तत्र चरमक्षणात् पूर्वं जीवस्य
सन्ततिरूपत्वेन अस्थिरत्वाद् बुद्धिसम्बन्धएव नास्ति, ततश्च सर्वेषां क्षणिकत्वेन
नाशकस्य मुद्गरस्य घटस्य च सम्बन्धएव नास्ति सन्ततिविच्छेदभिया. चरमक्षणोत्तरानु
जीवस्यैव अभावात् सुतरां सम्बन्धाभावइति प्रतिसङ्ख्यानिरोधस्य अप्राप्तिः इति
दूषणम् इति भावः. ननु मास्तु प्रथमः, द्वितीयः कुतो न आद्रियते? इत्यतः आहुः
द्वितीयः इति. **क्षणिकाङ्गीकारेण** इति. प्रथमक्षणे सत्त्वं, द्वितीयक्षणे नाशः, तृतीयक्षणे

सिद्धत्वाद् न अङ्गीकर्तव्यः ॥२२॥

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

प्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तर्गताविद्याविनाशे मोक्षः इति क्षणिकवादिनो मिथ्यावादिनश्च मन्यन्ते. अविद्यायाः सपरिकरायाः निर्हेतुकविनाशे शास्त्रवैफल्यम्. अविद्यातत्कार्यातिरिक्तस्य अभावाद् न सहेतुकोऽपि. न हि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवं पूर्वसूत्रे कार्यविचारेण निरोधद्वयं दूषयित्वा अत्र स्वरूपविचारेण दूषयन्ति इति आशयेन सूत्रम् उपन्यस्य व्याकुर्वन्ति **प्रतिसङ्ख्या** इत्यादि. उक्तनिरोधैकदेशभूते **अविद्याविनाशे मोक्षः** तद्दर्शनोक्तरीतिको मोक्षो भवति इति अर्थः. तद् असङ्गतम्. यतो **अविद्यायाः** सहेतुकायाः सकार्यायाः **निर्हेतुके विनाशे** अङ्गीक्रियमाणे आर्यसत्य-चतुष्टयाभ्यासादिसाधनविशेषविधायकशास्त्रवैफल्यम्. तेन सहेतुकत्वोपगमे निर्हेतुकत्वप्रतिज्ञाहानिरपि, मिथ्यावादिनोऽपि निर्हेतुकत्वाङ्गीकारे **शास्त्रवैफल्यं** तुल्यम्. सहेतुकत्वपक्षेऽपि **अविद्यातत्कार्यातिरिक्तस्य** नाशस्य **अभावाद्** नाशकस्यापि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पुनः उत्पत्तिः इति अङ्गीकारेण इति अर्थः ॥२२॥

पुनश्च आद्यनिरोधैकदेशे बौद्धैकदेशिमतरीत्या दूषणम् उद्भावयन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति **प्रतिसङ्ख्या** इति. **अविद्यानाशे** इति. प्रथमम् अर्च्यचतुष्टयाभ्यासः, तदनन्तरम् अविद्यानाशः, तदनन्तरं संस्कारनाशः तैलनाशस्थानीयः, तदनन्तरं दीपनाशस्थानीयो मोक्षः इति अर्थः. तथाच तादृशचतुष्टयाभ्यासस्तु बुद्ध्या क्रियतइति प्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तर्गतत्वम् अविद्यानाशस्य इति भावः. **क्षणिकवादिनः** इति. वैभाषिक-सौत्रान्तिक-विज्ञानवादि-माध्यमिकसञ्ज्ञकाश्च चत्वारो बौद्धशिष्याः मतभेदप्रवर्तकाः. विज्ञानवादिनएव 'योगाचारः' इति सञ्ज्ञान्तरम्. तन्मध्ये **क्षणिकवादिनो** वैभाषिकाः सौत्रान्तिकाः इति अर्थः. **मिथ्यावादिनश्च** इति. विज्ञानवादिनो माध्यमिकाश्च इति अर्थः. तत्र दूषणम् आहुः **अविद्यायाः** इति. तन्मतसिद्धायाः सविकल्पकज्ञानरूपायाः इति अर्थः. **सपरिकरायाः** इति. सविकल्पकृतातु वासनाद्युपाधिः सम्पन्ना इति एवम् आकारं विचारपूर्वकम् अनुसन्धानं परिकरः, तत्सहितायाः इति अर्थः. क्षणिकवादिमते प्रथमक्षणे उत्पत्तिः, द्वितीयक्षणे स्वतएव नाशः, पुनः उत्पत्तिः इति तन्मतरीत्या दूषयन्ति **निर्हेतुकेति**. आकस्मिकेति अर्थः. **शास्त्रवैफल्यम्** उक्तचतुष्टयाभ्याससम्पादकशास्त्रानर्थक्यम्. सहेतुकविनाशे

वन्ध्यापुत्रेण रज्जुसर्पो नाशयते. अतः उभयथापि दोषः ॥२३॥

आकाशे च अविशेषात् ॥२४॥

यच्च उक्तम् आकाशमपि आवरणाभावो निरुपाख्यम् इति तत्र
आकाशेऽपि सर्वपदार्थवद् वस्तुत्वव्यवहारस्य अविशेषात् ॥२४॥

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

सर्वोऽपि क्षणिकवादो बाधितः. “सएव अयं पदार्थः” इति
अनुस्मरणात्. अनुभव-स्मरणयोः एकाश्रयत्वम् एकविषयत्वञ्च ॥२५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मिथ्यात्वात् तत्र दूषणम् अविद्येत्यादिना उक्त्वा व्युत्पादयन्ति न हि इत्यादिना.
उभयथापि अविद्यानाशस्य निर्हेतुकत्वसहेतुकत्वपक्षद्वयेऽपि इति अर्थः ॥२३॥

अतः परं तन्मतसिद्धम् आकाशं दूषयति इति आहुः यच्च इत्यादि.
आवरणाभावमात्रम् आकाशः इति यद् उच्यते तद् असङ्गतम्. आकाशेऽपि भूतान्तरवद्
वस्तुत्वव्यवहारस्य समानत्वात्. यथा हि “भूतले घटो” “जले नौका” इत्यादि व्यवहारः
तथा आकाशेऽपि “अत्र श्येनो” “अत्र गृध्रः” इत्यादिव्यवहारस्य सत्त्वात् ॥२४॥

एवं क्षणिकवादं विशेषतो निराकृत्य इदानीं संक्षेपेण निराकरोति इति आशयेन
आहुः सर्व इत्यादि. अयम् अर्थः : क्षणिकवादी हि सर्वस्य क्षणिकत्वं मन्यमानो
अनुभवितुः अनुभवविषयस्य च सदृशसन्तानेन प्रत्यभिज्ञानम् उपपादयति तद् असङ्गतम्.
प्रत्यभिज्ञाने हि “यः पूर्वं दृष्टः सएव अयं पदार्थः” इति “यो अहं पूर्वम् अद्राक्षं सएव
अहम् इदानीं पश्यामि” इत्याकारः प्रत्यभिज्ञायाः तत्र च पूर्वैतत्कालीनपदार्थानाम् ऐक्यं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मिथ्यावादिमतरीत्या दूषणम् आहुः अविद्या इति. सर्वस्य मिथ्यात्वाद् अविद्या तत्कार्यं
तदतिरिक्तं नाशकृत्, तस्य अभावाद् न सहेतुकोऽपि विनाशः इति अर्थः. सर्वस्य
मिथ्यात्वे किमपि वक्तुं न शक्यते इत्यत्र दृष्टान्तम् आहुः न हि इति ॥२३॥

तन्मतसिद्धम् आकाशं दूषयन्ति यच्च उक्तम् इति. निरुपाख्यम् अवस्तु.
दूषणम् आहुः तत्र इति. वस्तुत्वव्यवहारस्य इति. “पृथिव्यां घटः”, “जले नौका”
इति व्यवहारवद् “आकाशे बलाका विहरति” इति व्यवहारस्य इति अर्थः ॥२४॥

क्षणिकवादे दुरुद्धरं दूषणम् आहुः सर्वोऽपि इति. अनुस्मरणाद् इति.
प्रत्यभिज्ञानाद् इति अर्थः. ननु “सएव अयम्” इति प्रत्यभिज्ञाने पूर्वकालवृत्तित्वम् इदं
पदार्थे विषये भासते इति न कोऽपि दोषः इत्यतः आहुः अनुभवेति. पूर्वकाले यस्य

न असतो अदृष्टत्वात्॥२६॥

अपिच, न अनुपमर्द्य प्रादुर्भावं वैनाशिकाः मन्यन्ते. ततश्च असतो अलीकात् कार्यं स्यात्. तद् न, अदृष्टत्वात्. न हि शशशृङ्गादिभिः किञ्चित् कार्यं दृश्यते. एवं सतः कारणत्वं पूर्वपादे उपपाद्य, असतः कारणत्वं निराकृत्य व्यासचरणैः वेदानाम् अव्याकुलत्वे सम्पादितेऽपि पुनः दैत्यव्यामोहनार्थं प्रवृत्तस्य भगवतो बुद्धस्य आज्ञया “त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय” (वरा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रतीयते. सजातीयत्वस्य च अनुभवाभावेन संस्कारस्मरणाद्यभावेन सजातीयप्रत्य-
भिज्ञानस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्॥२५॥

एवम् अष्टभिः सूत्रैः वैनाशिकाभिमतक्षणिकवादं निराकृत्य तदभिमतम्
अभावाद् भावोत्पत्तिं निराकरोति इति आशयेन सूत्रम् उपन्यस्य व्याकुर्वन्ति अपिच
इत्यादिना. न अनुपमर्द्य इत्यादि. बीजकपालादिकम् अनुपमर्द्य अङ्कुरघटादिकञ्च न
उत्पद्यते अतो नाशरूपाभावादेव कार्यजातम् उत्पद्यते इति ते मन्यन्ते इति अर्थः. ततश्च
अभावात् कार्योत्पत्तिस्वीकारे च. अलीकात् तेषां मते भावस्य अवस्तुत्वेन
अलीकत्वाङ्गीकाराद् इति भावः. अदृष्टत्वाद् अलीकात् कार्योत्पत्तेः अदृष्टत्वाद् इति
अर्थः. एवं सतः इत्यादि. अत्र बुद्धाज्ञायां प्रमाणं वक्तुं “त्वञ्च रुद्र” (पद्मपुरा.६।

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अनुभवो जातः यश्च विषयः स्मृतिकाले तदुभयोरपि क्षणिकत्वेन आश्रयत्व-
विषयत्वयोः अभावाद् बाधितो अयं क्षणिकवादः इति भावः ॥२५॥

इदानीम् अभावाद् भावोत्पत्तिः इति बौद्धमतं निराकर्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति
अपिच इति. मन्यन्ते इति. ‘नानुपमर्द्य प्रादुर्भावाद्’ इति तेषां सूत्राद् मन्यन्ते इति ज्ञायते
इति अर्थः. तथाच बीजोपमर्द्यं विना अङ्कुरोत्पत्तिः न दृश्यते इति केवलाद्
बीजध्वंसरूपाद् अभावात् शशशृङ्गरूपाद् अलीकात् कार्योत्पत्तिः इति तेषाम् आशयः.
दूषयन्ति तद् न इति. अदृष्टत्वाद् इति. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति न हि इति. इदम्
उपलक्षणम्. सुवर्णजन्यकुण्डलादौ सुवर्णोपमर्दो न दृश्यते. अङ्कुरादिस्थलेतु
सूक्ष्मांशस्यैव अङ्कुरीभावात् स्थूलांशस्यैव उपमर्दः इति. दध्यादिस्थलेतु न केवलं
दुग्धादेः नाशः किन्तु अवस्थाभेदएव इति न इदं तव सूत्रं समीचीनमिति न किञ्चिद्
एतत्. एवंरीत्या असत्कारणवादे निराकृते अविद्याकारणवादेऽपि निराकृतो बोध्यः इति
आहुः एवम् इत्यादिना. बुद्धस्य आज्ञया इत्यस्य कुरु इत्येवंरूपया इत्यनेन अन्वयः.

पुरा.७०।३६), “अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज, स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्रिमुखान् कुरु” (पद्म.पुरा.उ.खं.७१।१०७) इत्येवंरूपया, महादेवादयः स्वांशेन अवतीर्य, वैदिकेषु प्रविश्य, विश्वासार्थं वेदभागान् यथार्थानपि व्याख्याय, सदसद्विलक्षणाम् ‘असद्’ अपरपर्यायाम् अविद्यां सर्वकारणत्वेन स्वीकृत्य, तन्निवृत्त्यर्थं जातिभ्रंशरूपं सन्यासपाषण्डं प्रसार्य, सर्वमेव लोकं व्यामोहितवन्तः. व्यासोऽपि कलहं कृत्वा शङ्करं शप्त्वा तूष्णीम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

२६३।२४) इत्यादिवाक्योपन्यासः. इदं वाक्यं वाराहपुराणे रुद्रगीतासु रुद्रेण अगस्त्यं प्रति सर्वदेवादीन् उदिदश्य भगवदाज्ञारूपम् अनूदितम्. द्वितीयं ‘स्वागमैः’ इतितु पद्मपुराणोत्तरखण्डे सहस्रनामाम्भे महादेवेन पार्वतीं प्रति उक्तम्, उभयमपि एवम् अवसेयम्.

“शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमं, येषां श्रवणमात्रेण पातित्ये ज्ञानिनामपि, प्रथमं हि मया प्रोक्तं शैवं पाशुपतादिकं, मच्छक्त्यावेशितैः विप्रैः सम्प्रोक्तानि ततः परं, कणादेनतु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महद्, गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै, धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितं, दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा, बौद्धशास्त्रम् असत् प्रोक्तं नगनीलपटादिकं, मायावादम् असच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते, मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा, अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयंल्लोकगर्हितं, कर्मस्वरूपत्याज्यत्वम् अत्रैव प्रतिपाद्यते, सर्वकर्मपरिभ्रष्टं वैकर्मत्वं तद् उच्यते, परेशजीवयोः ऐक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते, ब्रह्मणश्च परं रूपं निर्गुणं ते मयात्र हि, सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे, वेदार्थवन् महाशास्त्रं मायावादम् अवैदिकं, मयैव वक्ष्यते देवि जगतान् नाशकारणाद्” (पद्मपुरा.उत्तरखं.) इति. व्यासकलहादितु “व्यासो नारायणः साक्षाद् शङ्करः शङ्करः स्वयं तयोः विवादे सम्प्राप्ते किङ्करः किं करोम्यहम्” (शंक.दिग्वि.) इति तत्सम्प्रदाये प्रसिद्धाद् गणेशवाक्याद् अवसेयम्. ब्रह्मणः साकारता च “वासना यदि भवेत् फलदात्री किं करिष्यति तदा मम काशी, व्यापको यदि भवेत् परमात्मा तारकं किमिति नोपदिशेन् माम्” (.....) इति कीकटे मरणावस्थोक्तशङ्कराचार्यश्लोकाद् अवसेया, निराकारस्य उपदेशकत्वासम्भवात्. एवं पञ्चमस्कन्धीयजडभरतवाक्येषु “अयञ्जनो नाम चलन्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

महादेवादयः इत्यस्य व्यामोहितवन्तः इत्यनेन अन्वयः. “त्वं च रुद्र” (पद्मपुरा.६। २६३।२४) इति वाक्यं पद्मपुराणोक्तम्. ‘स्वांशेन’ इति वाक्यं वराहपुराणोक्तम् इति

आस. अतो अग्निना मया सर्वतः सदुद्धारार्थं यथाश्रुतानि श्रुति-सूत्राणि योजयता सर्वो मोहो निराकृतो वेदितव्यः. प्रथमाध्यायएव तन्मतम् अनूद्य विस्तरेण निराकृतमिति न अत्र उच्यते॥२६॥

उदासीनानामपि च एवं सिद्धिः॥२७॥

यदि अभावाद् भावोत्पत्तिः अङ्गीक्रियते तथा सति उदासीनानामपि साधनरहितानां सर्वोऽपि धान्यादिः सिद्ध्येत, अभावस्य सुलभत्वात्॥२७॥
इति द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे चतुर्थं समुदाय उभयहेतुकेऽपि इति अधिकरणम्॥४॥

न अभाव उपलब्धेः॥२८॥ (२।२।५)

एवं कारणासत्त्वं निराकृत्य विज्ञानवाद्यभिमतं प्रपञ्चासत्यत्वं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पृथिव्याम्” (भाग.पुरा. ५।१२।५) इत्यनेन अवयवित्वम् अभिमानमात्रादेव इति उक्त्वा “एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तम् असन्निधानात् परमाणवो ये, अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः” (भाग.पुरा.५।१२।९) इत्यनेन परमाणुपुञ्जाद् विशेषाख्यदेहोत्पत्तिः. परमाणूनाम् अविद्याकल्पितत्वञ्च यद् उक्तं तदपि रहूगणस्य बार्हिमुख्यं दूरीकर्तुं बर्हिमुखकल्पिताविद्याकल्पितप्रपञ्चस्य अवस्तुत्वज्ञानेन तस्य वैराग्योत्पत्तौ प्रपञ्चासक्तौ निवृत्तायां हरौ आसक्तिः भविष्यतीति एतदर्थं तथा उक्तं, नतु तद्वास्तवतया उक्तम्. कार्यकारणभावनिरूपणार्थं तस्य अप्रवृत्तत्वाद् अग्रे च मोहनिवृत्तौ हरिभक्तिमेव उपदिष्टवानिति न कापि अनुपपत्तिः॥२६॥

साधनरहितानां हलकर्षणादिव्यापारशून्यानाम् इति अर्थः॥२७॥४॥

दशभिः सूत्रैः वैशेषिक-सौत्रान्तिकयोः मते निराकृते विज्ञानवाद्यपि निराकृतएव. तथापि कार्यांशे तन्मतं विलक्षणमिति तन्मतं निराकरोति इति आशयेन आहुः एवं कारणेत्यादि॥२८॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उक्तं प्रकाशे. अस्मिन् भाष्ये सूत्रार्थकथनस्य मोहनिवर्तकत्वं सूचयितुं स्वस्य वैश्वानरांशत्वम् आहुः अतो अग्निना मया इति॥२६॥

सर्वथा असतः सदुत्पत्तिः नास्ति इति सूचयितुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति यद्यभावाद् इति. उदासीनानां कृष्यादिकर्मरहितानाम्. साधनरहितानाम् हलादिरहितानाम्॥२७॥४॥

पूर्वसूत्रोक्तग्रन्थेन उत्तरसूत्रे प्रसङ्गसङ्गतिं दर्शयन्ति एवम् इति. कारणासत्त्वं कारणस्य अभावरूपत्वम्. बौद्धमते अभावादेव भावोत्पत्तिः इति भावः. निराकृत्य इति.

निराकरोति. सच ज्ञानातिरिक्तः प्रपञ्चो नास्ति इति आह. तद् न, अस्य प्रपञ्चस्य न अभावः, उपलब्धेः. उपलभ्यते हि प्रपञ्चः. यस्तु उपलभमानएव “न अहम् उपलभ” इति वदति सः कथम् उपादेयवचनः स्यात्? ॥२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वसूत्रोक्तस्य हेतोः अनैकान्तिकत्वं वारयितुं दृष्टान्तासङ्गतिञ्च बोधयितुं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

दशभिःसूत्रैः अभावाद् भावोत्पत्तिं खण्डयित्वा इति अर्थः. इदानीं बौद्धैकदेशी विज्ञानवादी योगाचारः क्षणिकं साकारं विज्ञानमेव परमार्थः तदतिरिक्तं सर्वं अलीकम् इति मन्यते. तन्मतं दूषयितुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति विज्ञानवादीति. प्रपञ्चासत्त्वम् इति. घटपटादेः वास्तवत्वं कल्पितम् इति तदभिमानः इति भावः. ननु एवं चेत् प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूपालम्बनो लोकव्यवहारः कथं स्याद्? इत्यतः आहुः सच इति. सः योगाचारः. तस्य स्वरूपन्तु प्रकाशे स्पष्टम्. ज्ञानातिरिक्तः इति. तन्मते ज्ञानस्य साकारत्वम्. घटपटादिरेव तस्य आकारः. तथाच अनादिवासनया तेन-तेन रूपेण ज्ञानस्यैव सर्वत्र प्रकाशमानत्वात् चन्द्रद्वित्ववत् प्रमातृ-प्रमेयभावेन लोकव्यवहारोपपत्तिः इति न तस्य तात्त्विकत्वम् आस्थेयम् इति ज्ञानातिरिक्तप्रपञ्चो नास्ति इति भावः. दूषणं व्याकुर्वन्ति तद् न इति. प्रपञ्चसत्त्वे सूत्रोक्तं हेतुम् आहुः उपलब्धेः इति. उपलभ्यते हि इति. एकदा सर्वोपलम्भाभावेन सर्वाकारज्ञानस्य अभावाद् घटाकारत्वं कदाचित् पटाकारत्वम् अवश्यम् अभ्युपेयम् इति तस्य कादाचित्कत्वसिद्ध्यर्थं बहिः पदार्थापेक्षा अवश्यम् अभ्युपेयइति सिद्धएव उपलब्धिविषयः प्रपञ्चः इति अर्थः. नच यत्किञ्चिद् आकारत्वमेव ज्ञाने स्वीक्रियते इति वाच्यम्. एवं सति सर्वदा तदाकारस्यैव भानं स्याद् इति न किञ्चिद् एतत्. इदानीं तस्य मतम् अप्रमाणं, नैव श्रवणार्हम् इति आहुः यस्तु उपलभन्नेव इति. सर्वपुस्तकेषु अयमेव पाठो अस्ति. श्रीप्रकाशकृद्भिस्तु ‘उपलभमानएव’ इति अयमेव पाठो धृतः. ‘उपलभन्नेव’ इति पाठेतु औणादिकोदिति-प्रत्ययं कृत्वा साधुत्वं सम्पादितम्. ममतु एवं प्रतिभाति. पुराणेषु “सीतायाः पतये नमः” इतिवत् तपोमाहात्म्याद् आर्षप्रयोगएव अयम् इति मन्तव्यम्. “पतिः समासएव” इति सूत्रशब्देन्दुशेखरे नदीसञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये “यू स्याख्यौ नदी” (पाणि.सू.१।४।२) इति सूत्रे पदमञ्जर्यां स्पष्टम् एतत्. उपादेयवचनः. उपादेयं प्रमाणत्वेन ग्रहणार्हं वचनं यस्य इति अर्थः ॥२८॥

पूर्वपक्षं खण्डयितुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति ननु इति. स्वप्ने नटीयमायायां मरीच्यादौ च पदार्थाभावेऽपि उपलब्धिः दृश्यते इति पूर्वः पक्षः. समाधानम् आहुः न वैधर्म्याद्

ननु उपलब्धिमात्रेण न वस्तुसत्त्वं, स्वप्न-माया-भ्रमेषु अन्यथा दृष्टत्वाद् इति चेद्, न, वैधर्म्यात्. स्वप्नादिषु तदानीमेव स्वप्नान्ते वा वस्तुनो अन्यथा-भावोपलम्भात्. न तथा जागरिते. वर्षानन्तरमपि दृश्यमानः स्तम्भः स्तम्भएव. स्वस्य मोक्षे प्रवृत्तिव्याघातः ‘च’कारार्थः॥२९॥

न भावो अनुपलब्धेः॥३०॥

*यदपि उच्यते, बाह्यार्थव्यतिरेकेणापि वासनया ज्ञानवैचित्र्यं भविष्यति इति, तद् न, वासनानां न भावः उपपद्यते. त्वन्मते बाह्यार्थस्य अनुपलब्धेः. उपलब्धस्य हि वासनाजनकत्वम्. अनादित्वेऽपि अन्धपरम्परान्यायेन अप्रतिष्ठैव. अर्थव्यतिरेकेण वासनायाः अभावाद् वासनाव्यतिरेकेणापि अर्थोपलब्धेः अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् अर्थसिद्धिः॥३०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् उपन्यस्य व्याकर्तुम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. स्वस्य इत्यादि. तन्मते सर्वस्य अवस्तुत्वेन अलीकत्वात् तद्गोचरप्रवृत्तेरपि तथात्वाद् मोक्षस्यापि अलीकत्वापत्तिः इति अर्थः॥२९॥

क्षणिकवाद्युक्तं ज्ञानवैचित्र्यहेतुं दूषयति इति आशयं स्फुटीकुर्वन्ति *यद्यपि इत्यादिना॥३०॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. निद्रायाः मायायाः दोषस्य च अपगमे च आहुः स्वप्नान्ते वा इति. शेषं स्पष्टम्. चार्थम् आहुः स्वस्य इति. प्रवृत्तेः बाह्यपदार्थ-विषयत्वाद् इति भावः॥२९॥

पुनः प्रकारान्तरेण बाह्यार्थं साधयितुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति यदपि इति. ज्ञानवैचित्र्यम् इति. घटपटाद्याकारकत्वं ज्ञाननिष्ठं वैचित्र्यम् इति अर्थः. खण्डयन्ति तद् न इति. भावः सत्त्वम्. ननु वासना कुतो न उत्पद्यते ? इत्यतः आहुः त्वन्मते इत्यादिना. वासनाजनकत्वम् इति. पूर्वं अनुभूतस्य हि कालान्तरे स्मरणं जायते इति सर्वानुभवसिद्धम्. तत्र अनुभवस्य त्रिक्षणावस्थायित्वेन पूर्वं नष्टत्वात् स्मरणानुपपत्तिः इति अनुभवजन्यो वासनाख्यः संस्कारः स्वीकर्तव्यः इति सर्वमतडिण्डिमः. तथाच त्वन्मते पदार्थस्यैव अभावेन तद्विषयकज्ञानाभावात् कथं वा तद्विषयिणी वासना भविष्यति इति भावः. ननु त्वदुक्तरीतिः मया न स्वीक्रियते, किन्तु विचित्रवासनाजनकं विचित्रमेव ज्ञानं, तादृशवासनाजन्यं विचित्रं ज्ञानम् इति अनादिपरम्परास्वीकारे न कोऽपि दोषः इत्यतः आहुः अनादित्वेऽपि इति. अप्रतिष्ठैव इति. त्वदीयज्ञानस्य सिद्धिः

क्षणिकत्वाच्च॥३१॥

वासनायाः आधरोऽपि नास्ति, आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वाद्, वृत्तिविज्ञानवत्. एवं सौत्रान्तिको विज्ञानवादी च प्रत्युक्तः. माध्यमिकस्तु मायावादिवद् अत्यसम्बद्धभाषित्वाद् उपेक्ष्यइति न निराक्रियते आचार्येण॥३१॥

सर्वथानुपपत्तेश्च॥३२॥

किं बहुना, बाह्यवादो यथा-यथा विचार्यते तथा-तथा असम्बद्धएवेति अलं विस्तरेण. 'च'काराद् वेदविरोधो मुख्यः॥३२॥

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे पञ्चमं नाभावः उपलब्धेः इति अधिकरणम्॥५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रकारान्तरेणापि वासनां निराकरोति इति आशयेन आहुः वासनायाः इति. वृत्तिज्ञानवद् इन्द्रियजन्यं ज्ञानं वृत्तिज्ञानं, तद् यथा क्षणिकं तथा वासनाधारत्वेन अभिमतम् आलयविज्ञानमपि क्षणिकम्. एवञ्च वासना क्व उत्पद्येत? यदि च वृत्तिधाराधिकरणालयविज्ञानधारायाएव वासनाधाराधिकरणत्वं वदेत् तदापि तेषां धारैव सर्वदा स्याद् न कदापि उच्छेदः इति मोक्षोच्छेदः॥३१॥

अनुपपत्तिश्चैव, विज्ञानधारया बाह्यव्यवहारपदार्थस्थिरतायाः उपपादने नानासुवर्ण-रौप्यादिसाध्यव्यवहारस्थिरतादिस्थले तयोः एकैकव्यक्त्यैव विज्ञानधारया सर्वोपपत्तौ अनेकव्यक्तिसम्पादनप्रयासानुपपत्तिः. एवं सकलपदार्थेषु अनुपपत्तिः अवसेया॥३२॥५॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

नास्ति इति अर्थः. स्वमते अर्थसिद्धिं व्युत्पादयन्ति अथेति. अर्थोपलब्धेः इति. अभावाद् इति पूर्वेण अन्वयः ॥३०॥

तव मते वासनापि वक्तुं न शक्यते इति दूषयितुं सूत्रार्थम् आहुः वासनायाः इति. नास्ति इति. वृत्तिविज्ञानेन आलयविज्ञाने वासना जन्यते. एवञ्च कारणेन उत्तरक्षणे कार्ये जननीये वासनाश्रयम् आलयविज्ञानं नास्ति इति अर्थः. ननु कुतो नास्ति? इत्यतः आहुः क्षणिकत्वाद् इति. माध्यमिकः इति. एतन्मते सर्वं शून्यमेव. तत्खण्डनन्तु युक्त्या येन केनापि कर्तुं शक्यतइति उपेक्ष्यते इति उक्तम्. तथाहि. शून्यत्वसाधक-प्रमाणम् अवश्यं वक्तव्यम्. यदि तत्प्रमाणम् अस्ति तर्हि तस्य विद्यमानत्वात् शून्यत्वं गतम्. यदि नास्ति तर्हि तत्साधकस्य अभावात् शून्यत्वमेव न सिध्येद् इति. अधिकन्तु प्रकाशे अनुसन्धेयम् ॥३१॥

विस्तरेण इति. बौद्धमतखण्डनम् उदयनाचार्येण बहुप्रकारेण उक्तमिति अत्र विरम्यते इति अर्थः ॥३२॥५॥

नैकस्मिन् असम्भवात्॥३३॥ (२।२।६)

विवसनसमयो निराक्रियते. ते हि अन्तर्निष्ठाः प्रपञ्चे उदासीनाः सप्त

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकरणम् अवतारयन्ति **विवसने**त्यादि. एतएव क्षपणका आर्हता जैनाश्च उच्यन्ते. मुक्तकच्छाः पूर्वं दूषिताः. इदानीं विवसना दूषयन्ते. सौगतवद् जैनापि जगति परमाणुकारणतां वदन्तीति तदनन्तरं तन्निरूपणम्. दूष्यांशम् अनुवदन्ति ते हि इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इदानीं जैनमतनिराकरणार्थम् असम्भवाधिकरणं रचयाञ्चक्रुः न एकस्मिन् इति. मुक्तकच्छानां बौद्धानां मतनिराकरणानन्तरम् ‘अर्हत्’पदवाच्यजैनमतनिराकरणे प्रसङ्गसङ्गतिं सूचयितुं ‘विवसन’पदप्रयोगम् आहुः **विवसनेति. विवसनानां** जैनानां **समयो मतं, तद् निराक्रियते** इति अर्थः. श्रीप्रकाशकृतस्तु विरुद्धधर्माधारत्वं ब्रह्मण्येव न अन्यत्र इति सूचयितुं तन्मतदूषणम् इति प्राहुः. दूषणार्थं तन्मतानुवादप्रकारम् आहुः ते हि इति. तेषां प्रपञ्चोदासीनत्व-कथनप्रयोजनम् आहुः **सप्तविभक्तीः** इति. ‘सप्तभङ्गीनय’पदवाच्यान् सप्तविभागान् इति अर्थः. **परेच्छया** इति वादिसप्तकेच्छया इति अर्थः. तथाच वादिना उक्तं त्वन्मते मोक्षो अस्ति. अर्हतेन उक्तं “स्याद् अस्ति”. एवञ्च स्याच्छब्दस्य अभीष्टवाचकत्वेन मन्मतेऽपि मोक्षो अभीष्टः इति सूचनेन सद्वादी पराहतः. एवं सप्तभङ्गीनयं स्वीकृत्य सप्तवादिनः पराहता इति ते परेच्छया सप्तविभक्तीः वदन्ति इति अर्थः. ननु कथं सप्तभङ्गीनयः ? इत्यतः आहुः **अस्ति** इति. **स्यात्पूर्वकः** इति. स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् नास्ति च अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च इति सप्तप्रकारो ‘सप्तभङ्गीनय’पदवाच्यो भवति इति अर्थः. सप्तानां नियमानां भङ्गः सप्तभङ्गः, सो अस्मिन् प्रतिपाद्यतया विद्यते इति सप्तभङ्गी, एतादृशो यो न्यायः इति तदर्थः. ननु के ते वादिनः ? कथं वा अनया सप्तभङ्ग्या तेषां पराहतिः ? इति चेद् इत्थम्. विरुद्धधर्माश्रयत्वम् अस्मन्मते ब्रह्मणि, तन्मते पदार्थमात्रे वर्तते इति तेषाम् अभिमानः. साङ्ख्येन उक्तं घटपटादिकं वस्तु किं सद् इति प्रश्ने कृते “स्याद् अस्ति” इति प्रथमो भङ्गः. तत्र इयं युक्तिः. यदि घटः सद्रूपो न स्यात् तदा कारणसहस्रैः सद्रूपो न भवेदेव इति. शून्यवादिना उक्तं सर्वम् असत्. तन्निवृत्तये “स्याद् नास्ति” इति द्वितीयो भङ्गः. तत्र इयं युक्तिः, यदि घटः सद्रूपएव स्यात् तदा तदुत्पत्त्यर्थं कारणव्यापारो अनर्थकएव स्याद् अतः कारणव्यापारसार्थक्यायैव घटः सदसद् इति उररीकरणीयम्. तार्किकैः उक्तम् उत्पत्तेः प्राक् घटः असत् तदनन्तरं सत्. तन्निवृत्तये तृतीयो भङ्गः “स्याद् अस्ति च नास्ति च” इति.

विभक्तीः परेच्छया वदन्ति. 'स्यात्'शब्दो अभीष्टवचनः. अस्ति-
नास्त्यवक्तव्यानां प्रत्येक-समुदायाभ्यां 'स्यात्'पूर्वकः सप्तप्रकारो भवति. तद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सप्त विभक्तीः 'सप्तभङ्गीनयं' नाम न्यायम्. **परेच्छया वदन्ति** स्वेषाम् अन्तर्निष्ठत्वात्
परेषां विवक्षानुसारेण यथोचितं वदन्ति इति अर्थः. तेषां मतप्रकारः उच्यते. तत्र
'स्याच्'छब्दो अव्ययो **अभीष्टवचनः** अतो अस्त्यादिभेदैः तेषां समयः सप्तविधो भवति
'स्यात्'शब्दयोगात् सो अग्रे वक्तव्यः. ते हि एवं मन्यन्ते. जीवजडात्मकं बोधाबोधात्मकं
जगद् एतद् निरीश्वरं तेन समासतः पदार्थद्वयमेव. विस्तरतस्तु जगद् षड्रव्यात्मकं तेषां
मते. तानि च द्रव्याणि जीवधर्माधर्मपुद्गलकालाकाशाख्यानि. तत्र जीवाः त्रिविधा बद्धा,
योगसिद्धा, मुक्ताश्च. 'धर्मो' नाम गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो जगद्व्यापी.
अधर्मश्च स्थितिहेतुभूतो व्यापकः. 'पुद्गलो' नाम वर्णगन्धरसस्पर्शवद्द्रव्यम्. तच्च
द्विविधं परमाणुरूपं, तत्सङ्घातात्मक-पवनज्वलनसलिल-धरणीतनुभवनादिकञ्च.
कालस्तु अभूद्, अस्ति, भविष्यति इति व्यवहारहेतुः अणुरूपो द्रव्यविशेषः. आकाशोऽपि
एको अनन्तप्रदेशश्च. षड्रव्येषु परमाणुव्यतिरिक्ताः पञ्चास्तिकाया इति व्यवहियन्ते.
तथाहि जीवास्तिकायो धर्मास्तिकायो अधर्मास्तिकायः पुद्गलास्तिकायः
आकाशास्तिकायश्च इति. 'अस्तिकाय'शब्दो अनेकदेशवृत्तिद्रव्ये रूढः. तत्र
जीवास्तिकायः त्रिविधजीवात्मको व्याख्यातः. धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यनुमेयः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मायावादिना अनिर्वचनीयत्वम् उपगम्यते. तन्निवृत्तये चतुर्थो भङ्गः "स्याद् अवक्तव्यः"
इति. स्याद् अनिर्वचनीयः इति अर्थः. सत्त्ववादिनं प्रति सत्त्वेन अनिर्वचनीयत्वं पूर्वपक्षिणा
उद्भावितम्. असत्त्ववादिनं प्रति असत्त्वेन अनिर्वचनीयत्वं पूर्वपक्षवादिना उद्भावितम्.
सदसत्त्ववादिनं प्रति ताभ्याम् अनिर्वचनीयत्वं पूर्वपक्षवादिना उद्भावितम्. तन्निवृत्तये
अवशिष्टाः त्रयो भङ्गाः. एवरीत्या अवच्छेदकभेदं विहाय एवं भावाभावयोः एकत्र
निवेशोपगमेन सर्ववादमितस्वीकारे सर्वे निर्विष्टाः सन्तः न उत्तरं प्रतिपद्यन्ते. अतएव तेषां
प्रपञ्चोदासीनत्वम् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः. एवं सप्तभङ्गीरूपसाधनन्यायेन
जीवादिसप्तपदार्थसिद्धिः तैः स्वीक्रियते. ते च पदार्थाः. जीवः एकः, महीधरादिः
आस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाख्या जीवभिन्नाः षट्. एतेषां स्वरूपम् अवान्तरभेदश्च प्रकाशे
विस्तरेण उक्तः इति विस्तरभयाद् न अत्र प्रपञ्च्यते. मोक्षश्च तेषां मते निरन्तरोर्ध्वगमनम्.
एवं तन्मतानुवादं कृत्वा यदंशे दूषणं तस्य अनुवादम् आहुः तद् **एकस्मिन्** इति. तत्
सप्तभङ्गीरूपं विरुद्धधर्म सदसदादिकम् **एकस्मिन्** एकस्मिन् प्रत्येकं सप्तपदार्थं योजयन्ति

अधर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः. पुद्गलास्तिकायस्तु परमाणुव्यतिरिक्तानि चत्वारि भूतानि स्थावरजङ्गमरूपाणि. परमाणवस्तु ‘नास्तिकाय’पदवाच्याः. परमाणवोऽपि तेषां मते एकविधा न चतुर्विधाः. पृथिव्यादिभेदस्तु परमाणुपरिणामकृतः. आकाशास्तिकायो द्विविधो लोकाकाशो, अलोकाकाशश्च इति. तत्र उपर्युपरिस्थितानां लोकानाम् अन्तर्वर्ती लोकाकाशः. तेषाम् उपरि मोक्षस्थानम् अलोकाकाशः तत्र हि न लोकाः सन्ति इति. एवं जीवाजीवपदार्थौ पञ्चधा प्रपञ्चितौ. जीवानां मोक्षोपयोगिनम् अपरमपि संग्रहं वदन्ति जीवाजीवास्रव-संवर-निर्जर-बन्धमोक्षाः इति. जीवाजीवौ प्रपञ्चितौ. तत्र जीवस्तु ज्ञानवीर्यसुखगुणः सावयवो देहपरिमाणः. अजीवस्तु जीवभोग्यं वस्तुजातम्. आस्रव-संवर-निर्जराः त्रयः पदार्थाः प्रवृत्तिरूपाः प्रपञ्च्यन्ते. द्वेधा प्रवृत्तिः सम्यग् मिथ्या च. तत्र मिथ्याप्रवृत्तिः आस्रवः. आस्रावयति पुरुषं विषयेषु इति इन्द्रियप्रवृत्तिः आस्रवः. इन्द्रियद्वारादिना पौरुषं ज्योतिः विषयान् स्पृशद् रूपादिरूपेण परिणमते इति. अन्येतु आर्हता कर्माणि आस्रवम् आहुः तानि हि कर्तारम् अभिव्याप्य आस्रवन्ति कर्तारम् अनुगच्छन्ति इति आस्रवः. सा इयं मिथ्याप्रवृत्तिः अनर्थहेतुत्वात्. संवर-निर्जरीतु सम्यक्प्रवृत्तिः. तत्र शमदमादिरूपा प्रवृत्तिः संवरः. सा हि आस्रवत् स्रोतसो द्वारं संवृणोति इति संवरः इति उच्यते. निर्जरस्तु अनादिकालप्रवृत्तिकषायकलुषपुण्यापुण्यग्रहाणहेतुः तप्तशिलारोहणास्नान-मौन-वीरासन-तिष्ठति-भोजन-केशोल्लुञ्चनादिलक्षणम् अर्हदुपदेशान्तर्गतं तपः. तद्धि सुखदुःखोपभोगेन पुण्यापुण्यं निःशेषं जरयति इति निर्जरः उच्यते. बन्धस्तु अष्टविधं कर्म. तत्र ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयम् अन्तरायम् इति चतुर्विधं घाति कर्म. तत्र सम्यग्ज्ञानं न मोक्षसाधनं नहि ज्ञानाद् वस्तुसिद्धिः अतिप्रसङ्गाद् इति विपर्ययो ज्ञानावरणीयं कर्म उच्यते. आर्हतदर्शनाद् न मोक्षः इति ज्ञानं दर्शनावरणीयं कर्म, बहुषु विप्रतिषिद्धेषु मोक्षमार्गेषु तीर्थकरैः उपदिष्टेषु विशेषानवधारणं मोहनीयं कर्म. सन्मोक्षमार्गप्रवृत्तानां तद्विघ्नकरं विज्ञानम् अन्तरायं कर्म. तद्धि जीवगुणानां ज्ञानदर्शनवीर्यसुखानां घातकम् इति ‘घाति कर्म’ इति उच्यते. ‘वेदनीयं’ नामकं गोत्रिकम् आयुषम् इति चतुर्विधम् अघाति कर्म. तद्धि शरीरसंस्थानतदभिमानतत्स्थितितत्प्रयुक्त-सुखदुःखोपेक्षाहेतुभूतम्. तत्र ‘वेदनीयं’ नाम शुक्लपुद्गलविपाकहेतुः. तद् विधबन्धोऽपि न मोक्षपरिपन्थी तत्त्वज्ञानविघातकत्वात्. शुक्लपुद्गलारम्भकं वेदनीयकर्मानुगुणं नामिकं कर्म. तद्धि शुक्लपुद्गलस्य आद्यावस्थां कलिल-बुद्बुदादिरूपाम् आरभते. गोत्रिकन्तु अव्याकृतं ततोऽपि आद्यं शक्तिरूपेण अवस्थितम्. आयुष्कन्तु उत्पादद्वारेण आयुष्कायति कथयति इति. तानि एतानि शुक्लपुद्गलाश्रयत्वाद् अघातीनि कर्माणि. तद्

एकस्मिन् योजयन्ति. तद्विरोधेन असम्भवाद् अयुक्तम्॥३३॥

एवं च आत्मा अकात्स्न्यम्॥३४॥

ननु कथं बहिः उदासीनस्य तद्दूषणम्? अत आह. एवमपि सति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतत् कर्माष्टकं पुरुषबन्धकत्वाद् बन्धः इति उच्यते. मोक्षस्तु विगलितसमस्तक्लेश-
तद्वासनस्य अनावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्य स्व-स्वरूपाविर्भावः तादृशस्य
उपरिदेशावस्थानं वा. सच सम्बन्धनिवृत्तौ नित्यसिद्धार्हदनुग्राहद् भवति इति. एवं
जीवादयः पदार्थाः व्याख्याताः. एतत् सर्वं वस्तुजातं सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्व-
भिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिः अनैकान्तिकम् इच्छन्तः ‘सप्तभङ्गीनयं’ नाम न्यायं अवतारयन्ति :
स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च
अवक्तव्यः, स्याद् नास्ति च अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च स्याद् नास्ति च अवक्तव्यश्च
इति. ‘स्याच्’छब्दो निपातः. यथा आहुः “वाक्येषु अनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणं
स्याद् निपातोर्थयोगित्वाद् तिङन्तप्रतिरूपकः” (.....) इति.
तन्मतम् इदं दूषयन्ति तद्विरोधेन असम्भवाद् अयुक्तम् इति. अयम् अर्थः.
तन्मतसिद्ध-निखिलपदार्थानां मध्ये एकैकं पदार्थं धृत्वा तस्मिन्-तस्मिन्
सप्तभङ्गीनयावतारः कर्तव्यः. यथा हि जीवम् उपादाय जीवः स्याद् अस्ति, जीवः स्याद्
नास्ति, जीवः स्याद् अस्ति च नास्ति च, जीवः स्याद् अवक्तव्यः, जीवः स्याद् अस्ति च
अवक्तव्यः, जीवः स्याद् नास्ति च अवक्तव्यः, जीवः स्याद् अस्ति च स्याद् नास्ति च
अवक्तव्यश्च इति. इतिरीत्या सर्वत्र पदार्थेषु सप्तभङ्गान्वये क्रियमाणे एकस्यापि पदार्थस्य
व्यवस्था न स्यादिति तन्मतरीत्यैव तन्मतोच्छेदः सुकरः इति भावार्थः॥३३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. व्याकुर्वन्ति एवम् इत्यादि. एवम्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति तेषाम् अभिमानः. दूषणम् आहुः तद्विरोधेन इति. तत् त्वन्मतोक्तम्, अस्ति नास्ति
इत्यादिपदप्रतिपाद्यं सदसदादिकं सप्तभङ्गीरूपं विरोधेन परस्परम् अत्यन्तविरोधेन.
असम्भवाद् इति. एतेषु जीवादिसप्तपदार्थेषु विद्यमानत्वाद् इति अर्थः. तथाच येन
न्यायेन सप्तपदार्थसिद्धिः त्वया क्रियते सः न्यायएव विरोधेन तत्तत्पदार्थेषु न अवतरतीति
न इदं त्वदीयं मतं युक्तिसिद्धम् इति अयुक्तम् इति भावः॥३३॥

सूत्रार्थं प्रतिपादयितुम् अवतारयन्ति ननु इति. बहिः प्रपञ्चे. उदासीनस्य
अविद्यमानस्य. तद्दूषणम् विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपं दूषणम्. तथाच सदसदादिविरुद्धधर्मः
प्रपञ्चे बाधकः नतु अन्तः इति भावः. एवमपि इति. ‘एवमपितु’ इति अपपाठः.

*आत्मनो वस्तुपरिच्छेदाद् अकात्स्न्यं न सर्वत्वम्. अथवा शरीरपरिमाण आत्मा चेत् तदा सर्वशरीराणाम् अतुल्यत्वाद् आत्मनो न कात्स्न्यं न कृत्स्नशरीरतुल्यत्वम्॥३४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आत्मनिष्ठतया बहिर्दूषणानङ्गीकारे सत्यपि परमाणुभ्यएव सृष्ट्यङ्गीकारेण आत्मनो वस्तुपरिच्छेदाङ्गीकाराद् अकात्स्न्यं न सर्वत्वं स्यात्. तथाच मोक्षदशायाम् अलोकाकाशवृत्तित्वेन तदाकाशावरणसम्भवाद् मोक्षदशायां निरावरणत्वभङ्गप्रसङ्गः. ननु आकाशावरणं न आवरणं दिगम्बरादौ तथाप्रसिद्धेः, अतः आहुः अथवा इत्यादि. तथाच मनुष्यशरीरपरिमाणस्य मनुष्यात्मनः कर्मविशेषेण गजशरीरप्रवेशः एकदेशएव जीवः तिष्ठेद् देशान्तरञ्च नैरात्यं स्याद् न कात्स्न्यं न जीवस्य गजशरीरपरिमाणत्वम्॥३४॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सौत्रचकारस्य अप्यर्थत्वं बोध्यम्. एवमपि एवंरीत्या आत्मनि दूषणे निराकृते. एवञ्च सप्तभङ्गावतारस्य आत्मनि सत्त्वात् तस्य अयुक्तत्वं नास्ति इति तस्य अभिप्रायः. आत्मनः अकात्स्न्यम् इति समासघटकीभूताकात्स्न्यपदस्य द्विधा व्याख्यानं कृत्वा दूषयितुम् आहुः आत्मनः इति. वस्तुपरिच्छेदाद् इति. त्वन्मते पदार्थमात्रस्य परमाणुजन्यत्वात्. यद्यद् जन्यं तत्तत् परिच्छिन्नं, घटादिवद् इति व्याप्या आत्मनोऽपि जन्यत्वापत्तेः इति भावः. 'अकात्स्न्यं'पदस्य प्रथमव्याख्यानेन दूषणम् आहुः न सर्वत्वम् इति. न सर्वत्र विद्यमानत्वम् इति अर्थः. तथाच परिच्छिन्नत्वेन सावयवत्वाद् अनित्यत्वम् इति भावः. श्रीप्रकाशकृतस्तु मोक्षदशायाम् अलोकाकाशवर्तित्वेन तत्कृतावरणसम्भवाद् निरावरणप्रतिज्ञाहानिः इति प्राहुः. ननु मन्मते सर्वस्य अनित्यत्वाद् न इदं दूषणम् अतो दूषणान्तरम् आहुः अथवा इति. सर्वशरीराणाम् इति. गजपिपीलिकादि-सर्वशरीराणाम् इति अर्थः. 'अकात्स्न्यं'पदस्य द्वितीयव्याख्यानेन दूषणम् आहुः न कृत्स्नेति. कर्मणा शरीरान्तरम् आत्मा प्राप्नोति इति त्वन्मतेऽपि स्वीक्रियते. एवञ्च मनुष्यशरीरपरिमाणः आत्मा जन्मान्तरे गजशरीरः एकदेशे जीवः स्यात्, पिपीलिकाशरीरे प्रवेशः एवं न स्याद् इति दूषणं दुरुद्धरम् इति भावः. ननु महति गृहे प्रविष्टस्य दीपस्य विरलतया प्रभायाः व्याप्तिः. एवम् अल्पगृहे निबिडतया प्रभाव्याप्तिः एवं जीवस्यापि इति चेद्, न, प्रभान्यायेन स्थूलसूक्ष्मशरीरव्यापिता जीवस्य वक्तुं न शक्यते. तथात्वे विरलसंयोगेन महागृहोदरव्यापिन्याः प्रभायाः यथा

* 'सतित्वात्मनो' इति श्रीपुरु.पाठः.

न च पर्यायादपि अविरोधो विकारादिभ्यः॥३५॥

शरीराणाम् अवयवोपचयापचयानुसारेण आत्मनोऽपि देव-तिर्यङ्-
मनुष्येषु अवयवोपचयापचयाभ्यां तत्तुल्यता स्यात्. तथा सति पर्यायेण
अविरोधः इति न वक्तव्यम्. तथा सति विकारापत्तेः. सङ्कोच-विकासेऽपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति इति आशयेन व्याकुर्वन्ति **शरीराणाम्** इत्यादिना.
अयम् अर्थः : जीवो हि नानाविधेन पूर्वोक्तकर्माष्टकेन ज्ञानावरणीयादिना तत्तच्छरीरेषु
प्रविशति ततो निर्गच्छति च. तानि च शरीराणि नानापरिमाणानि, तेषाम्
अवयवोपचयापचयानां दृष्टत्वात्. एवं देवादिशरीरप्रविष्टजीवस्यापि परिमाणनानात्वेन
नानात्वं वक्तव्यम्. एवञ्च क्रमे अङ्गीकार्ये प्रत्येकजीवस्वरूपाणां भेदाद् अनवस्था. तत्र
क्रमिकपरिमाणभेदम् आदाय परिमाणानां परस्परं विरोधो जीवानां भेदाङ्गीकारेण समाधेयः
इति सूत्रांशेन आशङ्क्य परिहरति **नच** इत्यादिना. एवं न वक्तव्यम्. कुतः ? **विकारादिभ्यः**
विकारसावयवत्वानित्यत्वानां प्राप्तेः लोकायतमताद् अविशेषप्रसङ्गात्. **तथा सति**
तन्मततुल्यत्वाङ्गीकारे सति. मुष्टिस्थापितपटस्य बहिःप्रसारणेन यथा सङ्कोचविकास-
शालित्वं पटे तथा जीवानामपि सूक्ष्मस्थूलशरीरसम्बन्धेन सङ्कोचविकासयोरेव तन्मते

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मन्दप्रकाशता, एवं जीवस्यापि स्थूलशरीरे विरलतया विद्यमानस्य अल्पं चैतन्यं भवेद्,
यथा वा अल्पगृहोदरे निबिडतया विद्यमानायाः प्रभायाः अधिकप्रकाशता, एवं जीवस्य
अल्पशरीरे विद्यमानस्य अधिकं चैतन्यं भवेत्. तत्तु न सम्भवति प्रतीतिविरोधात्.
शरीरमहत्त्वे ज्ञानाल्पता शरीराल्पत्वे ज्ञानाधिक्यम् इति कुत्रापि न दृष्टम्. प्रत्युत च अल्पे
ज्ञानाल्पता तारुण्ये ज्ञानाधिक्यं दृष्टम् इति न किञ्चित् त्वदीयं मतम् इति दिक् ॥३४॥

शरीरपरिमाणे दूषणं यद् धृतं तस्य परिहारं सूत्रांशेन आशङ्क्य परिहरति इति
व्याकुर्वन्ति **शरीराणाम्** इति. देवादिशरीराणाम् इति अर्थः. **आत्मनोऽपि** इति.
तत्तच्छरीरप्रविष्टात्मनोऽपि. **तत्तत् तुल्यता स्याद्** इति. तत्तच्छरीरपरिमाणता स्याद् इति
अर्थः. तथाच नानाविधकर्माष्टकेन ज्ञानावरणीयादिना देवादिशरीरं प्राप्नोति. तदनुसारेण
अवयवोपचयापचयाभ्यां जीवोऽपि प्रविशतीति न विरोधः इति आशङ्का इति अर्थः.
समाधानम् आहुः **न वक्तव्यम्** इति. सौत्रविकारादिभ्यः इत्यस्य अर्थम् आहुः **विकारापत्तेः**
इति. अवयवस्वीकारविकारानित्यत्वानां प्राप्तेः इति अर्थः. तथाच बन्धमोक्षस्वीकारो व्यर्थः
इति भावः. ननु सङ्कोचविकासभावएव स्वीक्रियते, नतु सावयवत्वम् इति अतो न विकारः
इत्यतः आहुः **सङ्कोचेति**. तथाच अयमपि विकारः इति भावः ॥३५॥

विकारस्य दुष्परिहरत्वात्॥३५॥

अन्त्यावस्थितेश्च उभयनित्यत्वाद् अविशेषः॥३६॥

अन्त्यावस्थितिः मुक्तिसमयावस्थितिः. तस्माद् हेतोः. पूर्वदोष-
परिहाराय **च उभयनित्यत्वं** भवेद् अणुत्वं वा, महत्त्वं वा. उभयथापि शरीर-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अङ्गीकाराद् अस्तु तथैव इति चेत्, तत्र आहुः **विकारस्य** इत्यादि. तथाच जीवानां
पटतुल्यतया सङ्कोचविकासाङ्गीकारे तत्तुल्यतया विकारानित्यत्वाद्यापत्तौ बन्धमोक्ष-
व्यवस्थैव स्याद् अनुपपन्ना तत्साधनानाम् आचरणञ्च इति भावः॥३५॥

दूषणान्तरं वदति इति आशयेन आहुः **अन्त्येत्यादि.** दिगम्बरैः मोक्षावस्थागतो
यो जीवः तत्परिमाणम् अवस्थितम् इति उच्यते मुक्तस्य जीवस्य देहान्तराभावात्
तत्परिमाणस्य नित्यत्वम्. **तस्माद् हेतोः** मुक्तावस्थजीवपरिमाणनित्यताहेतोः. **पूर्वदोषः**
इत्यादि चार्वाकमतीयविकाराङ्गीकारेण जीवानित्यत्वम्. किं तज्जीवपरिमाणं फलितम्
इति आहुः **महत्त्वं** परममहत्त्वम् इति अर्थः. **उभयथापि** अवस्थाद्वयेऽपि. **तव**
अर्थसिद्धिः जीवनित्यत्वसिद्धिः. एतेषु षट्स्वपि अधिकरणेषु ब्रह्म जगदुपादानं न वा
इति सन्देहः. तन्मतमेव सन्देहबीजम्. न, इति पूर्वः पक्षः. वेदविरुद्धसकलसमयानां

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अन्त्येति. मुक्तिसमये. **अवस्थितिः** स्थिरता, नित्यता इति यावत्. तथाच
जैनमते मोक्षदशायां जीवस्य देहान्तराभावात् तत्परिमाणं नित्यम् इति भावः. ननु भवतु
मुक्तिकालीनजीवपरिमाणं नित्यं तावता को दोषः? इत्यतः आहुः **तस्माद्** इति.
उभयनित्यत्वं भवेद् इति अग्रेण अन्वयः. संसारकालीनजीवपरिमाणं नित्यं,
नित्यद्रव्यपरिमाणत्वाद्, मुक्तिकालीन-जीवपरिमाणवद् इति अनुमानाद्
उभयजीवपरिमाणनित्यत्वं भवेद् इति अर्थः. सौत्रं च अर्थम् आहुः **पूर्वेति.** पूर्वत्र उक्तो
यो दोषः विकाराः अनित्यतादिरूपः तत्परिहाराय **च उभयनित्यत्वं भवेद्** इति अर्थः.
तथाच मुक्तिकालीनजीवपरिमाणस्य नित्यत्व-स्वीकारात् पूर्वोक्तदूषणोद्धारस्य
आवश्यकत्वात् च उभयनित्यतावश्यक्ये इति भावः. श्रीप्रकाशकृतस्तु 'च'कारात्
चार्वाकमतं वारयितुं विकारादिप्राप्तं यद् जीवानित्यत्वं तत्परिहाराय इति प्राहुः. ननु
भवतु उभयनित्यता को दोषः? इत्यतः आहुः **अणुत्वं वा** इति. अणुमहत्परिमाणयोः
नित्यत्वाद् अणुत्वं महत्त्वं वा भवेद् इति अर्थः. ननु उभयोः मध्ये एकम् अस्तु का
क्षतिः? इत्यतः आहुः **उभयथापि** इति. तथाच शरीरम् अणुः महत्परिमाणं कदापि

परिमाणो न भवतीति न तव अर्थसिद्धिः॥३६॥

इति द्वितीयाध्यायः द्वितीयपादे षष्ठं नैकस्मिन्नसम्भवाद् इति अधिकरणम्॥६॥

पत्युरसामञ्जस्यात्॥३७॥ (२।२।७)

पराभिप्रेतान् जडजीवान् निराकृत्य ईश्वरं निराकरोति.

वेदोक्ताद् अणुमात्रेऽपि विपरीतन्तु यद् भवेत् ।

तादृशं वा स्वतन्त्रं चेद् उभयं मूलतो मृषा ॥

तार्किकादिमतं निराकरोति. पतिश्चेद् ईश्वरः तस्माद् भिन्नः तदा विषमकरणाद् वैषम्य-नैर्घृण्ये स्याताम्. कर्मपिक्षायान्तु अनीश्वरत्वम्. युक्तिमूलत्वात् दोषः. असामञ्जस्याद् हेतोः न पतित्वेन ईश्वरसिद्धिः॥३७॥

सम्बन्धानुपपतेश्च॥३८॥

जीवब्रह्मणोः विभुत्वाद्, अजसंयोगस्य अनिष्टत्वात् पतित्वानुपपत्तिः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्यासपादैरेव दूषितत्वाद् ब्रह्मैव उपादानम् इति राद्धान्तः. षष्ठे तु ब्रह्मैव विरुद्धधर्माधारं न इतरद् इति नियमो युक्तो न वा इति सन्देहे स्याद्वादिभिः सर्वत्रैव तथांगीकाराद्, न इति पूर्वः पक्षः. स्याद्वादस्य असङ्गतत्वाद् ब्रह्मैव तथा इति नियमो युक्ताएव श्रुत्या भक्तप्रत्यक्षेण च अवगतत्वाद् इति सिद्धान्तः. एतावद् अधिकं पूर्वतो ज्ञेयम्॥३६॥६॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति परेत्यादि. पराभिप्रेतान् जडजीवान् निराकृत्य इत्यादि. तथाच चार्वाकादिमतसिद्धान् निराकृत्य इति अर्थः. ननु ईश्वरवादस्य वेदानुसारित्वात् कुतः तन्निराकरणम् इत्यतः आहुः वेदोक्ताद् इत्यादि. पराभिप्रेतेश्वरनिराकरणेऽपि विशेषम् आहुः तार्किकादिः इति. तार्किकाः नैयायिकाः वैशेषिकाश्च. 'आदि'पदेन हैरण्यगर्भाः पातञ्जलाः कापालिकाः कालामुखाः पाशुपताः शैवाश्च. एतानि मतानि प्रकाशे स्फुटानीति न इह प्रपञ्च्यन्ते. सूत्रार्थस्तु तार्किकाद्यभिमतः पतिः ईश्वरो न उपपद्यते, कुतः? असामञ्जस्याद् वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषरूपासामञ्जस्याद् इति अर्थः॥३७॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

नास्ति इति न शरीरपरिमाणो जीवः इति तव महती क्षतिः इति भावः ॥३६॥६॥

बाह्यमते ईश्वराभावात् 'पत्युः' इति पदेनैव अधिकरणान्तरम् इति सूचयन्ति परेति. ईश्वरम् इति. अत्र त्रुटिः यत्र परिमितान् सिद्धिः इति अर्थः. तार्किकाद्यभिमतस्य पत्युरसामञ्जस्याद् न ईश्वरसिद्धिः इति पूर्वाधिकरणस्थनकारानुवृत्त्या सूत्रार्थो बोध्यः॥३७॥

सूत्रोक्तं दूषणान्तरं विशदयन्ति जीवेति. विभुत्वाद् इति. त्वन्मते

तुल्यत्वादपि अनुपपत्तिः इति 'च'कारार्थः॥३८॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च॥३९॥

सच ईश्वरो जगत्कर्तृत्वेन कल्प्यमानो लौकिकन्यायेन कल्पनीयः. सच अधिष्ठित एवं किञ्चित् करोतीति ईश्वरेऽपि अधिष्ठानम् अङ्गीकर्तव्यम्. तस्मिन् कल्प्यमाने मतविरोधः, अनवस्था, असम्भवश्च॥३९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु सेव्यसेवकभावएव सम्बन्धो अस्तु इत्यतः आहुः तुल्यत्वाद् इति. विभुत्वादिना तुल्यत्वाद् अदृष्टादेव भोगोपपत्तेः ईश्वरानपेक्षणाद् इति भावः॥३८॥

अधिष्ठितएव शरीरवानेव. तस्मिन् शरीरे. अनवस्था इति भूतावेशन्यायेन तत्तत्कार्यकारणार्थं जीवादृष्टवशात् तत्तच्छरीरग्रहणं करोति ईश्वरः इति उच्यमाने गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विभुद्वयसंयोगस्य अभावाद् भूतावेशन्यायेन प्रेरणायाः अभावेन पतित्वानुपपत्तिः. ननु पतित्वानुपपत्त्या नित्यतादृशसंयोगः स्वीक्रियते इत्यतः आहुः अजसंयोगस्य इति. न जायते इति अजः, नित्यः इति अर्थः. तथाच त्वन्मते संयोगस्य अवयवजत्वात् कर्मजत्वाच्च नित्यत्वम् इष्टमेव न भवति इति भावः. ननु स्वस्वामि-भावसम्बन्धएव अस्तु, आवेशाभावेऽपि प्रेरणा दृश्यते इत्यतः आहुः तुल्यत्वाद् इति. चैतन्यत्वेन विभुत्वेन जीवेश्वरयोः तुल्यत्वाद् इति अर्थः. तथाच जीवस्य सुखदुःखभोगस्तु अदृष्टाधीनइति अप्रयोजकत्वात् पतित्वानुपपत्तिश्च अर्थः इति भावः॥३८॥

सूत्रकारोक्तं दूषणान्तरं विवृण्वन्ति सच इति. जगत्कर्तृत्वेन इति. जगत् कर्तृजन्यं, कार्यत्वाद्, घटवद् इति अनुमानेन तादृशकर्तृत्वस्य अन्यत्र बाधाद् ईश्वरः कल्प्यमानः इति अर्थः. लौकिकन्यायेन इति. उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीषा-बलवान् यः सः कर्ता इति लौकिकन्यायेन इति अर्थः. सच इति. उपादानेत्यादि-विशेषणविशिष्टलौकिककर्ता च इति अर्थः. अधिष्ठितएव. अधिष्ठानं शरीरं तद्विशिष्टएव इति अर्थः. मतविरोधः इति. तस्य नित्यत्वे तत्सावयवं वा निरवयवं वा इति विकल्पेन मतविरोधः इति अर्थः. तथाच ईश्वरशरीरस्य नित्यत्वपक्षे तस्य सावयवत्वे स्वीक्रियमाणे जगतोऽपि सावयवत्वाद् नित्यत्वे सिद्धे कार्यत्वाभावाद् न ईश्वरसिद्धिः इति मतविरोधः निरवयवत्वे स्वीक्रियमाणे तव मते निरवयवशरीरस्य कुत्रापि अदर्शनाद् मतविरोधः इति भावः. ननु तस्य अनित्यत्वमेव अस्तु इत्यतः आहुः अनवस्था इति. तस्यापि कर्ता अन्यः कल्पनीयः इति अनवस्था इति अर्थः. ननु

करणवच्चेद् न भोगादिभ्यः॥४०॥

करणवद् अङ्गीकारे असम्बन्धदोषः परिहृतो भवति. तच्च न युक्तं, भोगादिप्रसक्तेः॥४०॥

अन्तवत्त्वम् असर्वज्ञता वा॥४१॥

ईश्वरः प्रकृतिजीवनियमार्थम् अङ्गीकृतः. तत्तु तयोः परिच्छेदे सम्भवति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदीश्वरशरीरकरणमपि अशरीरस्य न सम्भवति इति ततोऽपि पूर्वं तच्छरीरहेतुभूतं शरीरान्तरम् उरीकार्यम् एवं ततोऽपि पूर्वम् इति अनवस्था इति अर्थः. ननु ईश्वरः स्वसामर्थ्यादेव शरीरं गृह्णातीति न शरीरान्तरापेक्षेति न अनवस्था इति चेद् न, तथा सति सामर्थ्यादेव सर्वसम्भवः एकस्यापि शरीरस्य ग्रहणवैयर्थ्यापत्तिः. तत्र इष्टापत्तौ स्वसिद्धान्तव्याघातः॥३९॥

परोक्तं परिहारम् आशङ्क्य दूषयति इति आहुः **करणवद्** इत्यादि. द्वितीयार्थे वतिः करणमिव इति अर्थः. तथाच शरीररहितोऽपि जीवो भूतावेशन्यायेन मनश्चक्षुरादि स्वस्य भोगार्थं प्रेरयति तादृशे कार्ये करणञ्च भवति तथा ईश्वरोऽपि भविष्यति जीवानां नियामकत्वलक्षणः सम्बन्धोऽपि उपपद्यते इत्यतः आहुः **तच्च न** इत्यादि॥४०॥

दूषणान्तरादपि तार्किकप्रतिपन्नो यः ईश्वरः स न अङ्गीकर्तुं शक्यः इति आहुः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

स्वयमेव स्वशरीरं करोति इत्यतः आहुः **असम्भवश्च** इति. अशरीरस्य कर्तृत्व-सम्भवएव नास्ति इति अर्थः. 'च'कारेण जन्माद्यधिकरणोक्तदूषणानां समुच्चयः॥३९॥

सूत्रांशेन आशङ्क्य निराकरोति इति आहुः **करणवद्** इति. इन्द्रियसादृश्या-ङ्गीकारे इति अर्थः. यथा शरीररहितो जीवः इन्द्रियद्वारा सर्वं कार्यं करोति तथा ईश्वरोऽपि शरीरं विना जीवद्वारा सर्वं सृष्ट्यादिकं करोति इति भावः. श्रीप्रकाशकृतस्तु द्वितीयार्थे वतिः, जीवः करणग्रामम् अधितिष्ठति इति प्राहुः. ननु एवं चेत् किं सम्पन्नम्? इत्यतः आहुः **असम्बद्धदोषः** इति. असंयुक्तत्वदोषः. **परिहृतो भवति** इति अर्थः. तथाच राजपृतनादिवत् स्वस्वामिभावासम्बन्धम् आदायैव कार्यसिद्धिः इति भावः. परिहारं व्याकुर्वन्ति **तच्च** इति. **भोगादीति**. जीवः इन्द्रियद्वारा सुखदुःखभोगादिकं करोति, एवं ईश्वरोऽपि तत् प्रसक्तेः इति अर्थः. नच विलक्षणैश्वर्यवतीश्वरे न तत्प्रसक्तिः इति वाच्यम्. वैलक्षण्यं श्रुत्या प्रतिपादनीयं, त्वदीययुक्त्या तु वैलक्षण्यसिद्धेः॥४०॥

तार्किकमते युक्त्या न ईश्वरसिद्धिः इति आहुः **ईश्वरः** इति. **अङ्गीकृतः** इति.

ततश्च लोकन्यायेन जीव-प्रकृत्योः अन्तवत्त्वं भवेत्. ततश्च अनित्यतायां मोक्षशास्त्रवैफल्यम्. एतद्दोषपरिहाराय विभुत्वनित्यत्वे अङ्गीक्रियमाणे सम्बन्धाभावाद् असर्वज्ञता वा स्यात्. तस्माद् असङ्गतः तार्किकवादः ॥४१॥

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे सप्तमं पत्युरसामञ्जस्याद् इति अधिकरणम् ॥७॥

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥ (२।२।८)

भागवतमते कञ्चिद् अंशं निराकरोति. ते च चतुर्व्यूहोत्पत्तिं वदन्ति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ईश्वरः इत्यादि. प्रकृतेः जीवानाञ्च इति अर्थः. तयोः प्रकृतिजीवयोः. यद् व्यापकं तद् न अन्यनियम्यम्, ईश्वरवद् इत्यतः परिच्छिन्नता तयोः उरीकार्या तथाच सति घटादिदृष्टान्तेन अन्यनियम्यता सुलभा. इत्थञ्च परिच्छिन्नस्य अनित्यत्वनियमाद् मोक्षोच्छेदः इति अर्थः. सम्बन्धाभावाद् इति विभुद्वयसन्निकर्षाभावाद् इति अर्थः. तथा च तैः ईश्वरे लौकिकप्रत्यक्षस्यैव अङ्गीकारात् तस्य च लौकिकसन्निकर्षजन्यत्व-नियमत्वापत्त्या अशक्यवचना सार्वज्ञापत्तिः विरुद्धैव इति अर्थः ॥४१॥७॥

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः भागवतेत्यादि. ननु स्मृतिरपि प्रमाणमेवेति कथं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तार्किकैः इति शेषः. तथाच जीवानां अनन्तत्वात् तैः जगन्निर्माणं न सम्भवति. अथच जडस्वभावायाः प्रकृतेरपि तत्कर्तृत्वं न सम्भवतीति तयोः नियमार्थम् अङ्गीकृतः इति अर्थः. अनुवादोत्तरं दूषणम् आहुः तत्तु इति. नियमनन्तु इति अर्थः. तयोः प्रकृति-जीवयोः परिच्छेदे इयत्तायाम्. तथाच येषाम् इयत्ता नास्ति तेषां नियमनं कर्तुं न शक्यतइति तदर्थम् इयत्ता स्वीकार्या इति भावः. ननु स्वीक्रियते, को दोषः इत्यतः आहुः ततश्च इति. लोकन्यायेन इति. यद् इयत्तापरिच्छिन्नं तदन्तवद्, यथा घटादिकम् इति लोकन्यायेन इति अर्थः. ननु अस्तु अनित्यत्वम् इत्यतः आहुः ततश्च इति. वैफल्यम् इति. नाशः चेत् स्याद् मोक्षः कस्य इति पदार्थतत्त्वज्ञानाद् मोक्षः इति त्वदीयमोक्षशास्त्रस्य वैफल्यम् इति अर्थः. सम्बन्धाभावाद् इति. देश-सङ्ख्ययोः सम्बन्धाभावाद् इति अर्थः. असर्वज्ञता इति. ईश्वरस्य इति शेषः. तथाच यद् अपरिमितं तत् सर्वम् अज्ञेयम् आकाशादिवद् इति नियमाद् इति भावः. अधिकरणम् उपसंहरन्ति तस्माद् इति ॥४१॥७॥

किञ्चिद् अंशे पाञ्चरात्रमतं दूषयितुम् उत्पत्त्यधिकरणं रचयाञ्चक्रुः उत्पत्त्यसम्भवात्. भागवतमते इति. पाञ्चरात्रमते इति अर्थः. कञ्चिद् अंशं चतुर्भ्यो

वासुदेवात् सङ्कर्षणः, तस्मात् प्रद्युम्नः, तस्माद् अनिरुद्धः इति. तत्र एषाम् ईश्वरत्वं सर्वेषाम् उत सङ्कर्षणस्य जीवत्वम्, अन्यान्यत्वम्? उत्पत्तिपक्षे जीवस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदर्थनिराकरणम्? अतः आहुः ते चइत्यादि. ते नारदपञ्चरात्रादिभागवतागमवक्तारः. चतुर्व्यूहोत्पत्तिं चतुर्भ्यो व्यूहेभ्यः उत्पत्तिम् इति अर्थः. तथाच अयं अंशो निराकार्यः इति अर्थः. ननु “एकोऽहं बहु स्याम्” (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यादौ बहुधाभवनस्य श्रुतिसिद्धत्वात् को विरुद्धांशः? इत्यतः आहुः तत्र इत्यादि. अन्यान्यत्वम् इति अन्ययोः प्रद्युम्नानिरुद्धयोः अन्यत्वं जडत्वम् इति अर्थः. तथाच श्रुतौ यत्र अतिरिक्तव्यूहता उक्ता न तत्र उत्पत्तिः उक्ता, यत्र च उत्पत्तिः तत्र न व्यूहता इति विरोधः इति भावः. अत्रतु उभयस्य एकत्रैव उक्तत्वाद् इति अर्थः.

ननु “आसीनो दूरं व्रजति” (कठोप.१।२।२०) विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि सिद्धत्वाद् “अजायमानो बहुधा विजायते” (मुद्गलोप.३।१) इति श्रुत्या अनेक-व्यूहतायामपि उत्पत्तेः श्रावणात् च न अत्रापि श्रुतिविरोधः इत्यतः आहुः उत्पत्तिः इत्यादि. न सम्भवति इति “न जायते न म्रियते वा विपश्चिद्” (कठोप.१।२।१८) इति गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्यूहेभ्यः जगदुत्पत्तिस्वीकाररूपम् अंशम्. तादृशांशस्य निराकरणप्रकारम् आहुः तेच इत्यादिना. चतुर्व्यूहोत्पत्तिम् इति. चतुर्व्यूहाद् उत्पत्तिम् इति अर्थः. ननु पाञ्चरात्रे वासुदेवोपासनायाः उक्तत्वात् तथा क्षीणक्लेशो भगवन्तं वा वासुदेवं प्रपद्यते इत्यादि प्रपञ्चस्य श्रुत्यविरुद्धस्य उक्तत्वात् कथं निराकरणम्? इति चेद्, न, न हि सर्वांशे निराकरणं, श्रुतिविरुद्धं किञ्चिद् अंशनिराकरणार्थम् अयम् आरम्भः इति.

ननु ब्रह्मापरपर्यायवासुदेवस्यैव “एकोऽहं बहु स्याम्” (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतिप्रतिपाद्यानेकव्यूहत्वम्. तस्मादेव “तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुतिप्रतिपाद्यक्रमसृष्टिश्च इति विरुद्धत्वम् अतः आहुः तत्र इति. सर्वेषाम् ईश्वरत्वं श्रुतिविरुद्धम् इति एकस्य ईश्वरत्वम् अन्यस्य जीवत्वम् इति आहुः उत इति. सङ्कर्षणस्य जीवत्वं चैतन्यरूपत्वम्. अन्ययोः किं वक्तव्यम् अतः आहुः अन्यान्यत्वम् इति. अन्ययोः प्रद्युम्नानिरुद्धयोः अन्यत्वं चैतन्यापेक्षया भिन्नत्वं जडत्वम् इति अर्थः. एवञ्च चतुर्णां मुख्यत्वं तव मते नास्ति, व्यूहत्वन्तु वर्तते. इदं च श्रुतिविरुद्धम्. यत्र श्रुतौ अनेकव्यूहता उक्ता तत्र उच्चनीचतायाः अभावाद् इति भावः. ननु विरुद्धं यद् अमुख्यत्वं व्यूहत्वं तद् ब्रह्मणि स्वीक्रियते इति अतो दूषणान्तरम् आहुः उत्पत्तिपक्षे इति. त्वयातु वासुदेवात् सङ्कर्षणस्य उत्पत्तिः स्वीक्रियते. “न जायते

उत्पत्तिः न सम्भवति. तथा सति पूर्ववत् सर्वनाशः स्यात्॥४२॥

न च कर्तुः करणम्॥४३॥

कर्तुः ‘सङ्कर्षण’सञ्ज्ञकाद् जीवात् ‘प्रद्युम्न’सञ्ज्ञकं मनः उत्पद्यते इति. तद् लोके न सिद्धम्. नहि कुलालाद् दण्डः उत्पद्यते इति. ‘च’काराद् अग्रिमस्य निराकरणम्॥४३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुत्या उभयनिषेधाङ्गीकाराद् उत्पत्यङ्गीकारे च तस्य अनित्यतायां मोक्षाभावः मोक्षशास्त्रवैफल्यञ्च स्यात्. व्युच्चरणन्तु विभागमात्रं न उत्पत्तिः. नच तस्य तन्त्रस्य भगवत्प्रणीतत्वाद् अस्मिन् अंशे कथम् अप्रामाण्यम् इति वाच्यम्. कौर्मै चतुर्दशाध्याये गौतमशप्तानां मुनीनाम् अर्थे तत्प्रणयनात्

“तस्माद् वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनां,
विमोहनाय शास्त्राणि करिष्यावो वृषध्वज,
एवं सम्बोधितो रुद्रो माधवेन मुरारिणा,
चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः,
कापालं लागुडं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमं,
पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथा अन्यानि सहस्रशः”

(कूर्मपुरा.पूर्वार्ध१६।११७-१९).

साम्बपुराणे च “पाञ्चरात्रं भागवतं तन्त्रं वैखानसाभिधं, वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान्” (.....) इति वाक्यात् तावदंशस्य अप्रामाण्यं बुद्धिपूर्वकमेव तैः स्थापितम् इति भावार्थः॥४२॥

अग्रिमस्य अहङ्कारस्य॥४३॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

‘म्रियते वा विपश्चिद्’ (कठोप.२।१८) इति श्रुत्या जीवस्य उत्पत्तिः श्रुतिविरुद्धा इति भावः. उत्पन्नस्य नाशावश्यम्भावित्वात्. तस्य नाशे दूषणम् आहुः सर्वनाशः इति. सर्वमोक्षशास्त्रवैफल्यम् स्याद् इति अर्थः. ननु “यथानेः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति” (बृहदा.उप.२।१।२०) इत्यत्र उत्पत्तिः श्रूयते इति चेद् न. तत्र उच्चरणं विभागः नतु उत्पत्तिः इति. अत्र वेदविरुद्धवचनादिकन्तु प्रकाशाद् अनुसन्धेयम्॥४२॥

कर्तुः सकाशात् करणस्य उत्पत्तिः नच इति अर्थः. इदमेव विशदयन्ति कर्तुः इति. न उत्पद्यते इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः न हि इति. अग्रिमस्य इति. अहङ्कारस्य इति अर्थः॥४३॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः॥४४॥

अथ सर्वे परमेश्वराः विज्ञानादिमन्तः इति. तथा सति तदप्रतिषेधः. ईश्वराणाम् अप्रतिषेधः. अनेकेश्वरत्वं च न युक्तम् इति अर्थः. वस्तुतस्तु स्वातन्त्र्यमेव दोषः॥४४॥

विप्रतिषेधाच्च॥४५॥

बहुकल्पनया वेदनिन्दया च विप्रतिषेधः. ‘च’काराद् वेदप्रक्रिया-विरोधः ॥४५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पक्षान्तरं प्रतिक्षिपति इति आहुः अथ इत्यादि. विज्ञानादिमन्तः इति विज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजःप्रभृतिपारमेश्वरधर्मवन्तः. तदप्रतिषेधः विज्ञानादीनाम् अप्रतिषेधः. अनेकेषु ईश्वरत्वं परं न नियतम् इति अर्थः. स्वातन्त्र्यम् अनेकेषां स्वातन्त्र्यम् इति अर्थः॥४४॥

बहुकल्पनया इत्यादि. प्रद्युम्नाख्यं मनोनिरुद्धो अहङ्कारः इति करणत्वम् अहङ्कारत्वं च उक्त्वा “सर्वम् एते वासुदेवा आत्मानएव”(.....) इति परमेश्वरत्वादिकल्पनया “शाण्डिल्यश्चतुर्षु वेदेषु श्रेयो लब्ध्वा इदं शास्त्रम् अधीतवान्”(.....) इति वेदनिन्दया च विरोधः इति अर्थः. सन्तप्तमुद्रादि-धारणञ्च वेदविरुद्धम् इति अर्थः. एवं सति पूर्वोक्तविसंवादिना नामतेषु सर्वत्र वेदविरुद्धांशस्य त्याज्यता अविरुद्धांशस्तु उपादेय एव यथाकथञ्चिद् भगवत्प्रतिपादकतया परम्परोपयोगाद् इति ध्येयम्॥४५॥८॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

दूषणान्तरम् उद्भावयन्ति अथ इति. विज्ञानादिमन्तः इति ऐश्वर्यशक्ति-तेजःप्रभृतिधर्माणां ग्रहणम्. तद् अप्रतिषेधः इति. तेषाम् अनियमनं, स्वातन्त्र्यम् इति. अनेकेषाम् इति शेषः ॥४४॥

बहु इति. प्रद्युम्ने अनिरुद्धे च मनस्त्वाहङ्कारत्वकल्पनया. अथच सर्वेषां वासुदेवत्वकल्पनया इति अर्थः. वेदनिन्दया इति. शाण्डिल्यः वेदचतुष्टये श्रेयो लब्ध्वा इदं शास्त्रम् अधीतवान् इति एवरूपया निन्दया इति अर्थः. विप्रतिषेधः इति. स्वोक्तवेदविरोधः इति अर्थः. वेदप्रक्रियाविरोधः इति. तप्तचक्रादिधारणरूप-साधनप्रक्रियाविरोधः इति अर्थः॥४५॥८॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे अष्टमम् उत्पत्यसम्भवाद् इति अधिकरणम् ॥८॥
इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

॥इतिश्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुत-श्रीगोपालजीकृते
श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यपदप्रदीपे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

इतिश्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरी-परमानिर्वचनीय-सरसवदन-तामरस-
रससुधाहृदावगाहि श्रीमदाचार्यपदाब्ज-कृपापासार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजयदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामि-श्रीगोपालात्मज-गिरिधरविरचिते
अणुभाष्यविवरणे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादः समाप्तिम् अफाणीत्

द्वितीयो अध्यायः तृतीयः पादः

न वियदश्रुतेः॥१॥ (२।३।१)

श्रुतिवाक्येषु परस्परविरोधः परिह्रियते विप्रतिषेधपरिहाराय.
मीमांसायाः तदर्थं प्रवृत्तत्वात् शक्त्यविरोधाभ्याम्. तथाच ब्रह्मवादे जडजीवयोः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तृतीयपादं व्याचिख्यासवः तत्प्रयोजनं सङ्गतिञ्च आहुः श्रुतीत्यादि.
द्वितीयपादे श्रुतिविरुद्धस्मृतिनिराकरणेन स्मृतिविरोधस्य अकिञ्चित्करत्वात् तामेव
प्रमेयविरोधो न श्रुतीनामिति अविरोधः स्थापितः. तृतीये पादे श्रुतिवाक्येषु परस्परविरोधः
परिह्रियते. विप्रतिषेधो अप्रामाण्यं श्रुतीनां तत्परिहाराय इति अर्थः. मीमांसायाः
उत्तरमीमांसायाः. शक्त्यविरोधाभ्याम् इति. शक्तिः भगवत्सामर्थ्यम्. अविरोधो
वेदवाक्यानाम् अविरोधः. यदा हि लोकानाम् अज्ञानकृतसन्देहाद् वेदार्थनिर्णयाभावो
गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अथ अस्मिन् अविरोधाध्याये पूर्वपादाभ्यां श्रुतिविरोधेन स्मार्तसाङ्ख्ययोग-
मतनिराकरणेन शुद्धतर्केण च कणादबाह्यमतनिराकरणेन श्रौतप्रमेयाविरोधः सम्पादितः.
इदानीं प्रसङ्गसङ्गत्या श्रौतवाक्याविरोधं स्थापयितुं प्रथमम् आकाशस्य नित्यत्वम् अनित्यत्वं
श्रुतौ श्रूयते तत्र विचारं कर्तुं वियदधिकरणं रचयाञ्चक्रुः न वियदश्रुतेः. तृतीयपादे
प्रसङ्गसङ्गतिं प्रदर्शयन्ति श्रुतिवाक्येषु इति. अत्र श्रुतिस्मृतिविरोध-परिहारानन्तरं स्मृतस्य
श्रुत्योः परस्परविरोधपरिहारस्य उपेक्षानर्हत्वात् प्रसङ्गसङ्गतिः बोध्या. श्रीप्रकाशकृतस्तु
प्रासङ्गिकं पूर्वपादे परिहृत्य पुनः प्रस्तुतस्य श्रुत्यविरोधस्यैव विचाराद् अवसरसङ्गतिः इति
प्राहुः. श्रुतिवाक्येषु तैत्तिरीये “तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः”
(तैत्ति.उप.२।१।१) अथ च “आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” (शाण्डि.उप.२।१।)
इत्यादिषु. विरोधः नित्यत्वानित्यत्वबोधकत्वकृतविरोधः. ननु परकीयविरोधः परिहर्तव्यः,
स्वकीयविरोधे का क्षतिः? इत्यतः आहुः विप्रतिषेधेति. सुन्दोपसुन्दन्यायेन सर्वत्र
अप्रामाण्यपरिहाराय इति अर्थः. तथाच एकत्र अप्रामाण्यज्ञाने अन्यत्रापि प्रामाण्यसन्देहः
स्याद् इति भावः. ननु किमर्थम् अत्र प्रवृत्तिः, प्रेक्षावतां स्वतएव सन्देहनिवृत्तिः भविष्यति
इत्यतः आहुः मीमांसायाः इति. तदर्थं विरोधकृता प्रामाण्यनिराकरणार्थम्.
शक्त्यविरोधाभ्यां मीमांसायाः प्रवृत्तत्वाद् इति अन्वयः. शक्तिः वेदार्थसामर्थ्यम्.
प्रेक्षावतामपि वेदार्थानवगमाद् इति भावः. अविरोधः वेदवाक्यानाम् अविरोधः. तथाच
बादरायणैः विचारितमतिसामर्थ्याद् वेदार्थस्य दुरूहत्वमात्रं, वस्तुतः अविरोधो दृश्यते

विरुद्धांशनिराकरणाय तृतीयपादारम्भः.

द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः. भूत-भौतिकं सर्वं ब्रह्मणएव विस्फुलिङ्ग-
न्यायेन एका, अपरा वियदादिक्रमेण, सा च अनामरूपात्मनो नामरूपवत्त्वेन
अभिव्यक्तिः. सजडस्यैव कार्यत्वात् तस्य जीवस्यतु अंशत्वेनैव न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

दृष्टः आचार्यैः तदा वेदार्थभूतस्य ब्रह्मणः सामर्थ्यं वेदवाक्यानां परस्परविरोधाभावञ्च
स्वयम् आकलय्य ताभ्यां कृत्वा प्रमेयाविरोधार्थं मीमांसां प्रवर्तितवान् इति अर्थः.

ननु प्रथमपादएव शक्त्यविरोधाभ्यां श्रुतिविरोधस्य परिहृतत्वाद् अस्य गतार्थत्वं
स्याद् अत आहुः **तथाच** इत्यादि. **तथा** तेनैव प्रकारेण. **चोवधारणे. ब्रह्मवादे** सर्वं
वस्तुजातं ब्रह्म इति वादे. तथाच पूर्वोक्तलक्षणविरोधपरिहारार्थत्वाद् अस्य न गतार्थता
इति भावः. अवसरो अत्र सङ्गतिः अवसेया. **एकः** साक्षात्सृष्टिप्रकारः. **अपरः** क्रमिक-
सृष्टिप्रकारः. **अनामरूपात्मनः** सृष्टेः पूर्वम् अनभिव्यक्तनामरूपात्मनो अंशिनः
परमात्मनः इति अर्थः. **नामरूपत्वेन अभिव्यक्तिः** नामरूपात्मकतया व्यवहारविषयता
इति अर्थः. ननु सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वे सृष्टिरेव न स्यात् तस्य उत्पत्तिरूपत्वाद् ब्रह्मणश्च

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

इत्यतः मीमांसा कर्तव्या इति एवंरीत्या तस्याः प्रवृत्तत्वाद् इति भावः. ननु ब्रह्ममीमांसया
ब्रह्मप्रतिपादकानां विरोधपरिहारो भवतु नाम परन्तु जडजीववाक्य-विरोधपरिहारः किमर्थं
तृतीयपादे उपपादितः ? इत्यतः आहुः **तथाच** इति. ब्रह्मवाक्य-विरोधपरिहारप्रस्तावे च इति
अर्थः. **ब्रह्मवादे “सर्वं खलु इदं ब्रह्म”** (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति वादे. तथाच
जडजीवयोरपि सर्वान्तःपातित्वेन ब्रह्मत्वाद् ब्रह्मवादम् आश्रित्य जडजीववाक्यान्यपि
ब्रह्मवाक्यत्वात् तयोः विरुद्धांशनिराकरणं तृतीयपादे इति अर्थः.

ननु मुख्यस्यैव विचारः आवश्यकः नतु गौणस्य, जडजीवयोस्तु गौणं
ब्रह्मत्वम् अतः आहुः **द्विविधा** इति. द्विप्रकारेति अर्थः. प्रकारद्वयमेव आहुः **एकः** इति.
एकः प्रकारः इति अर्थः. **अपरः** इति. अपरः प्रकारः इति अर्थः. श्रीप्रकाशकृद्भिस्तु
'एकः' इति पुंल्लिङ्गपाठेतु प्रकारो विशेष्यत्वेन व्याख्येय इति उक्तम्. तेन सृष्टिपरा
एका अपरा इति स्त्रीलिङ्गपाठएव तेषाम् अभिमतः इति अवगन्तव्यम्. ननु सर्वस्य
ब्रह्मरूपत्वात् तस्य च नित्यत्वाद् उत्पत्त्यपरपर्यायाः सृष्टिरेव न सम्भवति इत्यतः आहुः
साच इति. सृष्टिश्च इति अर्थः. **अनामरूपात्मनः** इति. ब्रह्मणः इति शेषः. ननु
तत्सम्बन्धं विना तेन रूपेण अभिव्यक्तिः कथम् ? इत्यतः आहुः **सजडस्यैव** इति.
सजडस्यैव तस्य कार्यत्वाद् जीवस्यतु अंशत्वेनैव कार्यत्वाद् न नामरूपसम्बन्धः इति

नामरूपसम्बन्धः.

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः॥

नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा॥२८॥

(भाग.सुबो.कारि.२।६।१)

तत्र क्रमसृष्टौ सन्देहः. छान्दोग्ये हि, “सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्” (छान्दो.उप.६।२।१) इति उपक्रम्य “तदैक्षत तत् तेजो असृजत” (तत्रैव ६।२।३) इति तेजो-ऽबन्-सृष्टिः उक्ता, न वाय्वाकाशयोः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अजत्वाद् अतः आहुः अनित्येत्यादि. अनित्ये अनित्यत्वेन व्यवहारविषये. तत्र क्रमेत्यादि प्रकृतं उच्यते. उभयं छान्दोग्योक्तं तैत्तिरीयोक्तञ्च इति अर्थः. छान्दोग्ये इत्यादि. तथाच छान्दोग्ये तेजसः कर्मत्वेन कथनात् “तदसृजत” (छान्दो.उप.६।२।३)

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

योजना. तथाच अनामरूपात्मत्वं प्रतिनियतं विवक्षितम्. एवञ्च प्रलयदशायां ब्रह्मणि लयानन्तरं जड-जीवयोः नामरूपाभावाद् न प्रतिनियतनामरूपसम्बन्धः इति भावः. ननु यद्यपि यथा कुण्डलादौ सुवर्णकार्यत्वं नतु सुवर्णशकले, एवं जडजीवयोरपि ब्रह्मकार्यत्वं नास्ति किन्तु ब्रह्मरूपत्वम् इति उच्यते तथापि ‘सृष्टि’पदस्य उत्पत्तिमति व्यवहारात् कथं अभिव्यक्तिपरत्वम्? अतः पद्येन उत्तरम् आहुः अनित्ये इति. अनित्ये घटपटादौ भुवनरचनादिरूपे जडे. जननम् इति. उत्पत्तिरूपा सृष्टिः इति अर्थः. नित्ये इति. नित्यं द्विविधं, परिच्छिन्नम् अपरिच्छिन्नं च. तत्र प्रथमाम् आहुः परिच्छिन्ने इति. अणुरूपे जीवे समागमः शरीरसम्बन्धः. तद्रूपेति अर्थः. द्वितीयम् आहुः नित्येति. नित्यापरिच्छिन्नतनौ व्यापकरूपे ब्रह्मणि, प्राकट्यम् अभिव्यक्तिरूपा सृष्टिः इति अर्थः. सा सृष्टिः. एवञ्च अपरिच्छिन्ने नित्ये अभिव्यक्तिरूपैव सृष्टिः ग्राह्या इति भावः. श्रीप्रकाशकृतस्तु ननु एवं सति ब्रह्मणो जीवकारणता न स्याद् इत्यतः आहुः ‘अनित्ये’तिपद्यम् अवतारयन्ति. एवंरीत्या सङ्गतिप्रसङ्गागतं विचार्य प्रकृताधिकरणे विचारं कर्तुं भूमिकाम् आरचयन्ति तत्र इति. तत्र द्विविधसृष्टिमध्ये. क्रमसृष्टौ नतु विस्फुलिङ्गन्यायेन सृष्टौ सन्देहः इति अर्थः. सन्देहोपपत्त्यर्थं छान्दोग्यतैत्तिरीयवाक्ययोः एकवाक्यतां घटयन्ति छान्दोग्ये हि इति. तेजोऽबन्सृष्टिः इति. तेजश्च आपश्च अन्नं च इति तेजोबन्नानि, तेषां तेजजलान्नानां सृष्टिः इति अर्थः. तथाच वाक्यद्वयमपि क्रमसृष्टिवाचकं नतु विस्फुलिङ्गन्यायेन सृष्टिवाचकमिति अवश्यम् एकवाक्यता-

तैत्तिरीयके पुनः “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति उपक्रम्य,
 “तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१) इति
 आकाशादिसृष्टिः उक्ता. उभयमपि क्रमसृष्टिवाचकम् इति एकवाक्यता युक्ता.
 छान्दोग्ये मुख्यतया सृष्टिः, तैत्तिरीये गौणी. मुख्यातु अग्रे वक्ष्यते, “सो
 अकामयत” (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिना.

तत्र संशयः : किम् आकाशम् उत्पद्यते न वा? इति. किं तावत्
 प्राप्तम्? न उत्पद्यते इति. कुतः? अश्रुतेः. श्रुतिवादिनां श्रुत्यैव निर्णयः. श्रुतौ
 पुनः मुख्ये क्रमसृष्टौ न श्रूयते॥१॥

अस्ति तु॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इतिसृष्टिवाचक-पदोपादानाद् ईक्षापूर्वकत्वकथनात् च सृष्टेः मुख्यत्वम्. गौणी इति
 तैत्तिरीयके आकाशादीनामपि कर्तृत्वकथनाद् ईक्षापूर्वकत्वाभावात् सृष्टिवाचकपदस्यापि
 अभावाद् गौणी सृष्टिः उक्ता इति विरोधात् शङ्कास्पदता. मुख्या “सोऽकामयत”
 (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिना अग्रे वक्ष्यते इति अर्थः. मुख्ये क्रमसृष्टौ इति छान्दोग्ये
 ईक्षापूर्वकसृष्टौ मुख्यायाम् आकाशोत्पत्तेः अश्रवणाद् इति अर्थः॥१॥

पक्षं पूर्वपक्षम् अकाशानुत्पत्तिलक्षणम्. एक इत्यादि. तथाच
गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पेक्षणीया इति भावः. एकवाक्यताप्रकारम् आहुः छान्दोग्ये इति. मुख्यतया इति.
 ईक्षापूर्वकत्वात्. ‘असृजद्’ इति पदोपादानात् च मुख्यतया इति अर्थः. गौणी इति.
 ईक्षापूर्वकत्वाभावाद् गौणी इति अर्थः. ननु गौणमुख्यभावे एकवाक्यताप्रकारः कथम्?
 इत्यतः आहुः मुख्यातु इति. “सो अकामयत” (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिपदग्राह्ये “स
 इदं सर्वम् असृजद्” (तत्रैव) इत्यादिवाक्ये ‘सृजति’ इति पदसत्त्वेन मुख्यत्वात्
 छान्दोग्यैकवाक्यता तैत्तिरीये सम्भवति इति भावः. एवञ्च एकवाक्यतासत्त्वे छान्दोग्ये
 आकाशस्य उत्पत्तिः न श्रूयते, सर्वान्तपातित्वेन आकाशस्यापि उत्पत्तिः, एवञ्च संशयः
 इति आशयेन आहुः तत्र इति. पूर्वम् उक्तं क्रमसृष्टौ सन्देहः इति. तत्र किमाकारकः
 सन्देहः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः किम् आकाशम् इति. पूर्वपक्षम् आहुः किं
 तावद् इति. आकाशस्य उत्पत्त्यभावे कारणम् आहुः मुख्ये इति. छान्दोग्ये न श्रूयते इति
 अर्थः. तद्वाक्यस्य ईक्षाप्रतिपादकत्वाद् आधिक्यम् इति भावः॥१॥

सिद्धान्तसूत्रम् आहुः अस्ति तु. अन्यत्र इति. तैत्तिरीये. अथच श्रुत्यन्तरे “खं

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. तैत्तिरीयके वियदुत्पत्तिः अस्ति. यद्यपि मुख्ये नास्ति तथापि विरोधाभावाद् अन्यत्रोक्तमपि अङ्गीकर्तव्यम् एकवाक्यत्वाय, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानानुरोधाच्च॥२॥

गौण्यसम्भवात्॥३॥

वियदुत्पत्तिः गौणी भविष्यति. कुतः? असम्भवात्. न हि आकाशस्य उत्पत्तिः सम्भवति, निरवयवत्वाद् व्यापकत्वाच्च. मुख्ये च अभावात्. एकविज्ञाने सर्वविज्ञानप्रतिज्ञातु तदधिष्ठानत्वेन जीववत् तदंशत्वेन वा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतत्प्रतिज्ञानुरोधात् तैत्तिरीयवाक्यं सृष्ट्यर्थम् ईक्षासाक्षात् छान्दोग्यवाक्यञ्च सृष्ट्यर्थम् आकाशादिसाक्षात् क्रमसृष्टिस्तु उभयत्र इति एकवाक्यता इति अर्थः॥२॥

सूत्रत्रयेण पूर्वपक्षं पुनः आह, तद् व्याकुर्वन्ति वियद् इत्यादिना. यद् उक्तं तैत्तिरीयके वियदुत्पत्तिः श्रूयते इति सत्यं श्रूयते परं सावरणनिरावरणरूपतया गौणी भविष्यति. कुतः? असम्भवाद् लोके हि सावयवस्यैव उत्पत्तिः दृश्यते. सजातीयैः विजातीयैश्च द्रव्यैः अवयवभूतैः एकं द्रव्यम् उत्पाद्यते. आकाशस्य तु समवाय्यसमवायि-कारणयोः अभावात् केवल ईश्वररूपनिमित्तकारणमात्रेण उत्पत्तेः असम्भवएव. यदि च ब्रह्मैव समवायि ततो विभज्य उत्पद्यते इति विभागएव असमवायि इति विभाव्यते तदपि अयुक्तम्. मुख्यसृष्टिवाक्ये उत्पत्तेः अनुक्तेः. नच एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानानुपपत्त्या

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वायुर्ज्योतिरापः” (प्रश्नोप.६।४) इत्यादौ. ननु किमर्थम् अङ्गीकर्तव्यम्? अतः आहुः एकेति. ननु एकवाक्यत्वमेव मास्तु तदभावे का क्षतिः? इत्यतः आहुः एकेति. तथाच एकविज्ञानप्रतिज्ञानुरोधात् तैत्तिरीये छान्दोग्ये च यथायथम् ‘असृजताकाश’पदं पूरणीयम् एकवाक्यत्वार्थम् इति भावः॥२॥

सूत्रत्रयेण पूर्वपक्षं विवृण्वन्ति वियद् इति. गौणी इति. आवरणाभावे “अवकाशो जातः” इति प्रयोगाद् “आकाशस्य उत्पत्तिः” इति व्यवहारः, ननु वास्तविकोत्पत्तिः इत्यतो गौणी इति अर्थः. अनुत्पत्तौ हेतुम् आहुः असम्भवात्. अन्यदपि हेतुम् आहुः मुख्ये च इति. छान्दोग्ये वाक्ये च इति अर्थः. ननु उक्तमेव प्रतिज्ञानुरोधः इत्यतः आहुः एकेति. “आत्मन आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र ‘सम्भूत’पदस्य स्वार्थतात्पर्याभावाद् गौणत्वम्. एवञ्च आकाशे ब्रह्माधिष्ठानत्वं ब्रह्मांशत्वं ब्रह्मशरीरत्वं वा अनेन वाक्येन ज्ञायते, ननु आकाशस्य उत्पत्तिः ज्ञायते. तथाच ब्रह्मप्रशंसाबोधकम् इदं वाक्यम्. यथा अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः इत्यत्र

तच्छरीरत्वेन वा एकविज्ञानकोटिनिवेशात्. लोकेऽपि “अवकाशं कुरु” इत्यादौ गौणप्रयोगदर्शनात्॥३॥

शब्दाच्च॥४॥

“वायुश्चान्तरिक्षं च एतदमृतम्” (बृहदा.उप.२।३।३) इति. “आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” इति. न हि अमृतस्य ब्रह्मदृष्टान्तभूतस्य उत्पत्तिः सम्भवति॥४॥

स्याच्च एकस्य ‘ब्रह्म’शब्दवत्॥५॥

ननु कथं वियदुत्पत्तिः गौणी भविष्यति? तत्र हि ‘सम्भूत’इति एकमेव पदम् उत्तरत्र आवर्त्यते. तथा सति उत्तरत्र मुख्या आकाशे गौणी इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आकाशोत्पत्तिः स्वीकार्या. आकाशस्य तच्छरीरत्वादिनैव प्रतीतेः उपपत्तेः. अतो “गो अश्वाएव पशवो अन्ये पशवः” इत्यत्र अजाद्यपेक्षया गवादिप्रशंसार्थम् इतरेषाम् अपशुत्वोक्तिः तथा इहापि ब्रह्मप्रशंसार्थम् सम्भूतपदेन ब्रह्मास्तित्वसदृशास्तित्वरूप-प्रशंसागुणलाक्षणिकेन गौण्येव आदत्तव्याः लोकेऽपि “अवकाशं कुरु” इति गौणप्रयोगदर्शनाद् इति भावः॥३॥

ननु लौकिकयुक्तिः अप्रयोजिका वेदे च आकाशोत्पत्तिः सम्भूतपदेन प्रत्यक्षतएव उक्ता अतः आह शब्दाच्च. भाष्यम् अत्र स्फुटम्. तथाच गौण्येव उचिता इति भावः॥४॥

मुख्या मुख्योत्पत्तिबोधिका शक्तिवृत्तिः इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

छागादिषु अपशुत्वाभावाद् गो-अश्वसाध्यफलासाधकत्वरूपम् अपशुसादृश्यं लक्षणया ज्ञाते गोअश्वप्रशंसा बुध्यते तथा अत्रापि इति भावः. ननु एवंरीत्या गौणप्रयोगः कुत्र प्रसिद्धः? इत्यतः आहुः लोकेऽपि इति. तथाच एकत्र ब्रह्मादिष्ठानत्वज्ञानेन सर्वत्र तथाज्ञानम् इति प्रतिज्ञापि सङ्गच्छते इति पूर्वपक्षिगूढाभिसन्धिः॥३॥

शब्दाच्च. लोकानुरोधे तु आहुः शब्दाच्च इति. “सर्वगतश्च नित्यः” (००।००।००) इति शब्दद्वयाद् इति अर्थः. अनेन पूर्ववाक्येऽपि ‘सम्भूत’पदस्य उत्पत्तौ तात्पर्यं नास्ति इति अवगन्तव्यम्॥४॥

पूर्वपक्षी अनेन सूत्रेण ‘सम्भूत’पदे गौणी लक्षणा नास्ति इति आशङ्का-समाधानम् आह. तद् व्याकुर्वन्ति ननु इति.

युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः इति चेद्, न. **एकस्यापि स्यात्** क्वचित् मुख्या क्वचिद् गौणी इति. ‘ब्रह्म’शब्दो यथा, “तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व. तपो ब्रह्म” (तैत्ति. उप. ३।२) इति. प्रथमवाक्ये मुख्या, द्वितीये गौणी. न च अत्र प्रयोगभेदो अस्ति इति वाच्यम्. ‘सम्भूत’शब्दोऽपि आवर्त्यते नतु तादृशार्थयुक्तोऽपि. आत्मसत्त्वेनैव तत्सत्त्वम् इति सत्त्वगुणो वचनहेतुः. तत्-तद्भावापन्नं ब्रह्मैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तादृशार्थयुक्तः शक्यार्थयुक्तः आकाशे प्रवर्तते इति अर्थः. **आत्मसत्त्वेनैव** व्यापकत्वेनैव. **तत्सत्त्वम्** आत्मतुल्यतया विद्यमानत्वरूपम् आकाशनिष्ठं गौण्या बोधितम् इति अर्थः. **वचनहेतुः** गौणीहेतुः इति अर्थः. **तत्तद्भावापन्नम्** इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

वृत्तिद्वयविरोधः इति. त्वयातु अन्यादीनाम् उत्पत्तिः स्वीक्रियते. तथाच एकस्मिन् पदे गौणमुख्यव्यवहारो नास्ति इति भावः. **इति चेद् न** इति. एकस्मिन्पि पदे गौणमुख्यव्यवहारो अस्ति इति परिहरति **एकस्यापि** इति. प्रथमवाक्ये “विजिज्ञासस्व” (तैत्ति. उप. ३।४) इति वाक्ये. द्वितीये “तपो ब्रह्म” (तत्रैव) इति वाक्ये. ननु किम् इदम् उच्यते तत्र ‘सम्भूत’पदम् एकमेव अत्रतु वाक्यद्वये ‘ब्रह्म’पदद्वयम् इति एकत्र वृत्तिद्वयविरोधो अत्र नास्ति इति आशयेन शङ्कते **नच** इति. परिहरति **सम्भूतेति**. तथाच अत्रापि ‘सम्भूत’शब्दस्य आवृत्तौ पूर्वं गौणम् अपरं मुख्यम् इति रीत्या वृत्तिद्वयोपपत्तिः भविष्यति इति भावः. **नतु तादृशार्थयुक्तोऽपि** इति. अपरः ‘सम्भूत’शब्दः स्वार्थयुक्तस्तु अस्त्येव. गौण्यर्थयुक्तोऽपि चेद् वृत्तिद्वयविरोधः स्याद्, नतु एवम् इति अर्थः. ननु “गौर्वाहीकः” इतिवद् अत्र गौणी लक्षणा स्याद् अतः आहुः, अथवा “अपशवो वा” इत्यत्र अपशुसदृशो लाक्षणिकम् ‘अपशु’पदं तथा स्याद् अतः आहुः **आत्मसत्त्वेनैव** इति. “आत्मन आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति. उप. २।१) इत्यत्र पूर्वकारणरूपेणैव कार्यं तिष्ठति इति सृष्टिदशायामपि पृथग्भावे सति आत्मसत्त्वेनैव आकाशसत्त्वं नतु कार्यत्वम् उत्पद्यते इति अर्थः. **इति** इति. इति हेतोः इति अर्थः. **सत्त्वगुणः** पृथक्सत्त्वरूपो यः आकाशनिष्ठः सत्त्वगुणः. **वचनहेतुः** इति. कार्यवाचक ‘सम्भूत’पदं कार्यसदृश-पृथग्भाववाचकम् इत्येव वचनहेतुः. सत्त्वगुणः इति अर्थः. तथाच “गौर्वाहीकः” इत्यादितुल्या इति भावः. ननु च आकाशस्य जन्यत्वाभावे ब्रह्मणः कारणतैव न स्यात्, तद्भावे च आकाशनिष्ठा वायुकारणता, वायुनिष्ठा अग्निकारणता इत्येवंरीत्या सा भिन्ना-भिन्ना स्याद् इत्यतः आहुः **तत्तद्** इति. वाय्वादिसम्भूतिवाक्येषु आकाशादिभावापत्तिविशिष्टम् इति अर्थः. न

सर्वत्र कारणमिति न अनेकलक्षणा. तद्भावापत्तिविशेषणव्यावृत्त्यर्थमपि न लक्षणा. स्वभावतोऽपि ब्रह्मणः सर्वरूपत्वात्. तस्माद् गौणी आकाश-सम्भूति-श्रुतिः इत्येवं प्राप्ते इदम् आह॥५॥

प्रतिज्ञाहानिः अव्यतिरेकात् शब्देभ्यः॥६॥

भवेद् एतद् एवं यदि छान्दोग्यश्रुतिः न विरुद्धयेत. कथम्? एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा(छान्दो.उप.६।१।३) बाध्येत, **अव्यतिरेकाद् अनुद्गमात्.**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आकाशभावापन्नं ब्रह्म वायोः कारणं वायुभावापन्नं ब्रह्मानेः कारणम् इति 'वाय्वाकाशा'दिशब्देषु सर्वत्र तत्तद्भावापन्नब्रह्मणि लक्षणापत्तिः इत्यपि न इति अर्थः. ब्रह्मणएव तावद्रूपत्वादिस्वाभाव्याद् घटे छिद्रेतरत्ववद् इति अर्थः. **तत्तद्भावापत्तिः** इत्यादि आकाशभावापन्ने ब्रह्मणि वायुविशेषणव्यावृत्त्यर्थं वायुभावापन्ने च आकाशादिविशेषणव्यावृत्त्यर्थम् इति अर्थः. **न लक्षणा** इत्यत्र हेतुम् आहुः **स्वभावतः** इत्यादि. तथाच सकलविशेषणानामपि ब्रह्मणि सम्भवाद् न एकस्यापि व्यावृत्त्यर्थं लक्षणा कार्या इति अर्थः. **इदं** वक्ष्यमाणं दूषणम्॥५॥

एतद् आकाशे उत्पत्तिशून्यत्वम्. **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण. **कथम्** इति पृच्छति कथं विरोधः इति अर्थः. तत्र उत्तरम् आहुः **एकेत्यादि. अनुद्गमात्** कार्यत्वेन रूपेण अव्युच्चरणाद् इति अर्थः. तदेव उपपादयन्ति **यदि** इत्यादि. **तद् न एकविज्ञानं**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अनेकेति. कारणता न अनेकप्रकारा इति अर्थः. लक्षणेति अत्र “अतो युज्”इत्यनेन युज् नतु बहुव्रीहिः. तेन न अनेकप्रकारकेति न अर्थः. ननु ‘आकाशा’दिपदस्य तद्भावापत्ति-विशिष्टे लक्षणं स्याद् इत्यतः आहुः **तद्भावेति.** तथाच “घटेन जलम् आहर” इत्यत्र ‘घट’पदात् छिद्रेतरघटस्य अर्थादेव बोधः तथा स्वभावादेव विशिष्टब्रह्मबोधः इति भावः. उपसंहरन्ति **इदम्** इति. अग्रिमसूत्रोक्तं दूषणम् इति अर्थः॥५॥

दूषणमेव आहुः **भवेद्** इति. **एतत्** त्वदुक्तं सर्वम् एवमेव भवेद् इति अर्थः. **छान्दोग्यश्रुतिः** “एकविज्ञाने”त्यादिश्रुतिः. पूर्वपक्षिणा प्रश्नः क्रियते **कथम्** इति. उत्तरं वदति **एकेति. बाध्येत** इति. छान्दोग्योक्त-प्रतिज्ञाबाधः स्याद् इति अर्थः. क्वचिद् ‘विरुध्येत’ इत्यपि पाठः. कथं स्याद्? इत्यतः सूत्रोक्तं हेतुम् आहुः **अव्यतिरेकाद्** इति. अस्य अर्थम् आहुः **अनुद्गमाद्** इति. व्यतिरेको नाम भेदः, सच अग्नेः सकाशाद् विस्फुलिङ्गानां यथा उद्गमः तत्स्वरूपः. सच आकाशस्य नास्ति इति अर्थः. हेत्वभिप्रायं

यदि सम्बद्धमेव ब्रह्मणा आकाशं तिष्ठेत् तदा ब्रह्मविज्ञानेन आकाशविषयीकरणे तद् न एकविज्ञानम्. आकाशस्य च लौकिकत्वात् तज्ज्ञानं सर्वज्ञतायाम् अपेक्षितमेव. न च जीववद् लौकिकत्वाद् व्यवहारमात्रविषयत्वाद् न अतीन्द्रियत्वादिचिन्ता. अनुद्गमेऽपि वस्तुसामर्थ्यात् कथं प्रतिज्ञा हीयते? इत्यतः आह शब्देभ्यः. “येन अश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतं भवति अविज्ञातं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विभुद्वयविषयकत्वेन एकस्य ज्ञानं न भवति इति अर्थः. एकस्य अलौकिकस्य ब्रह्मणो ज्ञानेन लौकिकसकलपदार्थज्ञानमेव ‘सर्वविज्ञान’पदेन श्रुत्या अभिप्रेतम्. तत्र आकाशस्यापि लोकव्यवहार्यत्वेन लौकिकत्वाद् ब्रह्मज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वाभावे श्रुतिविरोधः स्याद् इति आहुः आकाशस्य इत्यादि. जीववद् अंशीभूतालौकिक-जीवतुल्यतया. लौकिकत्वात् स्वान्यव्यवहारविषयत्वात्. न इत्यादि आपामर-व्यवहारविषयत्वाद् न अतीन्द्रियः इति अर्थः. अनुद्गमेऽपि आकाशस्य अनुद्गमेऽपि. वस्तुसामर्थ्याद् वस्तुनः ऐक्यात्. येन इत्यादि. तथाच वस्तुनः ऐक्याद् अश्रुतस्य श्रवणम् अमतस्य मननम् अज्ञातस्य ज्ञातत्वम् इत्यादि विरुध्येत, श्रुतस्य श्रवणं ज्ञातस्यैव ज्ञातव्यम् इत्यादि च भवेद् इति अर्थः. शब्दाद् “एकेन मृत्पिण्डेन” (छान्दो.उप.६।१।४)

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विशदयन्ति यदि इति. तिष्ठेत् इति. त्वन्मते आकाशस्य कार्यत्वेन रूपेण अजायमानत्वाद् इति भावः. तद् न एकविज्ञानम् इति. ब्रह्माकाशोभयविषयकत्वाद् एकविषयकं तद् न भवति इति एकविज्ञानस्य बाधः स्याद् इति अर्थः. ननु मास्तु आकाशविषयकं केवलं ब्रह्मविषयकमेव तद्भवतु इत्यतः आहुः आकाशस्य च इति. तथाच आकाशस्य ज्ञानाभावे सर्वज्ञता भज्येत इति भावः. जीवस्य अंशत्वेन नित्यत्वात् तज्ज्ञानं यथा ब्रह्मज्ञानाद् जायते तथा आकाशस्यापि भविष्यति इति आशयेन आशङ्कते नच इति. समाधानम् आहुः लौकिकत्वाद् इति. लौकिकप्रत्यासत्ति-विषयत्वात्. मीमांसकैः “आकाशे बलाका विहरति” इत्यादिप्रत्ययात् तस्य लौकिक-प्रत्यक्षं स्वीक्रियते इति भावः. तदेव आहुः व्यवहारेति. चिन्ता इति. युज्यते इति शेषः. तथाच अस्मन् मते एतादृशी चिन्तैव नास्ति इति भावः.

शब्देभ्यः इति सूत्रोक्तं हेतुम् अवतारयन्ति अनुद्गमेऽपि इति. कार्यरूपेण ब्रह्मणः सकाशाद् व्युच्चरणाभावेऽपि इति अर्थः. वस्तुसामर्थ्याद् इति. ज्ञानं भवति इति शेषः. अत्र उत्तरम् आहुः येन इति. शब्दाद् इति. “येन अश्रुतम्” (छान्दो.उप.

विज्ञातं भवति” (छान्दो.उप. ६।१।१) इति शब्दात् प्रकृति-विकारभावेनैव व्युत्पादयति ज्ञानम्. शब्देभ्यो हेतुभ्यः प्रतिज्ञाहानिः इति योजना॥६॥

यावद् विकारन्तु विभागो लोकवत्॥७॥

‘तु’शब्दः आकाशोत्पत्त्यसम्भावनशङ्कां वारयति. यद्यद् विकृतं तस्य सर्वस्य विभागः उत्पत्तिः. आकाशमपि विकृतं, लौकिकव्यवहारविषयत्वात्. यथा लोके विकृतमात्रम् उत्पद्यते. आकाशोत्पत्तौ श्रुत्या सिद्धायाम्

“आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” (.....),

“आकाश-शरीरं ब्रह्म” (तैत्ति.उप.१।६।२)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादिशब्दैश्च. व्युत्पादयति इति अर्थः. योजना सूत्रयोजना॥६॥

अस्मिन् सूत्रे व्याप्ति-दृष्टान्तयोः उपन्यासेन आकाशोत्पत्तौ अनुमानमेव उपन्यस्तम् इति आशयेन आहुः यद्यद् इत्यादि. तथाच आकाशः उत्पादविनाशशाली, विकृतत्वाद्, लोकवद्, एवम् आकाशो विकारी लौकिकव्यवहारविषयत्वात्, तस्माद् आकाशः उत्पद्यते इति सिद्धम्. विकृतम् “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (छान्दो.उप. ६।८।७) इति श्रुत्या सर्वस्यैव ब्रह्मविकारत्वश्रवणाद् आकाशमपि सर्वान्तःपाति विकृतम् इति अर्थः. आकाशवद् इत्यादितुल्यता “समो नागेन” (तत्रैव १।३।२२) इत्यादिरीत्या बोध्या. सर्वगतत्वनित्यत्वे ब्रह्मगतएव बोध्येते नतु आकाशगतेऽपि. आकाशरीरत्वम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

६।१।३) इत्यादिवाक्याद् इति अर्थः. ज्ञानं व्युत्पादयति इत्यनेन अन्वयः. विकारभावेन इति. “सोम्येकेन मृत्पिण्ड...” इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्येन इति अर्थः. ‘एव’कारेण अन्यप्रकारो व्यवच्छिद्यते. तेन आकाशस्य वस्तुसामर्थ्येन ज्ञानं न श्रुत्यभिप्रेतम् इति भावः. शब्देभ्यः इति. आकाशस्य कार्यरूपेण उद्गमाभावे “येन अश्रुतम्” इत्यादिशब्देभ्यो हेतुभ्यः सिद्धायाः प्रतिज्ञायाः हानिः इति अर्थः॥६॥

आकाशोत्पत्तौ अनुमानमपि प्रमाणम् आहुः तुशब्दः इत्यादिना. आकाशः जन्यः, विकृतत्वाद् इति अनुमाने व्याप्तिम् आहुः यद्यद् इति. पक्षे हेतुनिश्चयार्थम् अनुमानान्तरम् आहुः आकाशम् इति. यथा लोके इति. यत्र-यत्र लौकिकव्यवहार-विषयत्वं तत्र-तत्र विकृतत्वं, यत्र-यत्र विकृतत्वं तत्र-तत्र जन्यत्वं, घटपटादिवद् इति सामान्यव्याप्तिदृष्टान्तादिना आकाशेऽपि जन्यत्वं सिध्यति इति अवधेयम्. इदानीं आकाशनित्यत्वबोधकश्रुत्यैकवाक्यताम् आहुः आकाशोत्पत्तौ इति. सिद्धायाम् इति.

“स यथा अनन्तो अयमाकाश एवम् अनन्त आत्मा वेदितव्य” ()

“आकाश आत्मा” (तैत्ति.उप.१।७) इत्यादिश्रुतयः,

“समोऽनेन सर्वेण य आकाशे तिष्ठन्” (बृहदा.उप.३।७।१२)

“सर्वम् आत्मा” (मैत्रा.उप.६।७) इत्येवमादिभिः एकवाक्यतां

लभन्ते. व्यवहारेतु अज्ञबोधनं वाक्यानाम् उपयोगः॥७॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे प्रथमं वियदिति अधिकरणम्॥१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“आकाशे तिष्ठन् आकाशमन्तरो यमयति”(बृहदा.उप.३।७।१२) इति श्रुत्या आकाशान्तरत्वमेव शरीरत्वं नतु लोकरीत्या. एवम् आकाशस्य अनन्तत्वमपि इतरापेक्षया अधिककालस्थायित्वमेव नतु ब्रह्मनिष्ठसमं “नभस्तदनुलीयत” (भाग.पुरा.१.२।४।१७) इति स्मृतेः. “आकाशः आत्मा”(तैत्ति.उप.१।७) इत्यपि श्रुतिः. “इदं सर्वं यदयमात्मा”(बृहदा.उप.२।४।६) इति मैत्रेयीब्राह्मणश्रुत्या सर्वम् उद्दिश्य आत्मत्व-विधानवद् इयम् आकाशम् उद्दिश्य आत्मत्वं विदधातीति सर्वसमानतैव आकाशस्य लभ्यते नतु नित्यता. ननु तथा श्रुतिसङ्गतिः आस्तां तथापि आकाशस्य ब्रह्मसमानता-वर्णने श्रुतेः किं तात्पर्यम्? इत्यतः आहुः व्यवहारे इत्यादि. तथाच अज्ञानाम् उपास-कानाम् उपासनार्थं ब्रह्मत्वेन आकाशबोधनं श्रुतितात्पर्यविषयः इति फलितम्॥७॥१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

श्रुत्या अनुमानेन च सिद्धायाम् इति अर्थः. इत्यादिश्रुतयः इति. इति वाक्यचतुष्टयादि-श्रुतयः इति अर्थः. एवमादिभिः इति. “आकाशे तिष्ठन् आकाशं यमयति”(बृहदा.उप.३।७।१२) इत्यादिश्रुतिभिः इति अर्थः. एकवाक्यताम् इति. “सर्वम् आत्मा” इत्यर्थबोधकत्वरूपैकवाक्यताम् इति अर्थः. एवञ्च “आकाशः आत्मा” (तैत्ति.उप.१।७) “इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा” (बृहदा.उप.२।४।६) इत्यादिश्रुत्यैकवाक्यत्वार्थं यथा सर्वस्य नित्यत्वे तात्पर्यं नास्ति इति एवम् आकाशस्यापि इति भावः. एवं तर्हि नानावाक्यप्रयोगः किमर्थम्, एकवाक्येनैव तादृशैकवाक्यतानिर्वाहाद् इत्यतः आहुः. अथवा “इति प्राचीनयोग्योपास्व”(तैत्ति.उप.१।६।२) इति उपसंहाराद् आकाश-शरीरत्वेन ब्रह्मोपासना बोध्यते नतु नित्यत्वम् आकाशस्य इति आहुः व्यवहारेतु इति. तथाच अज्ञबोधनार्थं वारंवारं शब्दप्रयोगः कर्तव्यः इति व्यवहारः, अथवा उपासना-बोधनार्थं शब्दप्रयोगः इति अर्थः. अत्र श्रीप्रकाशकृतः ब्रह्मणः व्यापकत्वाद् आकाशस्य विभागो न सम्भवति इति दूषणं, ब्रह्म यदा सृजति तदा प्रज्ञानघनत्वं तिरोभावयति इति समाधानं च वदन्ति ॥७॥१॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥८॥ (२।३।२)

आकाशोत्पत्तिसमर्थनेन मातरिश्वोत्पत्तिः समर्थिता. “सैषा अनस्तमिता देवता” (बृहदा.उप.१।५।२२) इति भौतिकवायुव्यावृत्त्यर्थम् ‘अलौकिक’पदम् ॥८॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे द्वितीयम् एतेन मातरिश्वा इति अधिकरणम्॥२२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु तैत्तिरीये वायोः उत्पत्तेः प्रत्यक्षश्रवणात् किम् अस्य अधिकरणस्य प्रयोजनम्? इत्यतः आहुः सैषा इत्यादि. बृहदारण्यके सप्तान्नब्राह्मणे व्रतमीमांसास्था “म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः” (बृहदा.उप.१।५।२२) इति. तथाच अनस्तमित-त्वादेव उत्पत्त्यभावः सिध्यति इति श्रुतिविप्रतिषेधादेव सन्देहः. श्रुतिविरोधनिराकरणमेव अधिकरणप्रयोजनम्. ननु तथापि प्रत्यक्षश्रुतिविरोधस्य का गतिः? इत्यतः आहुः भौतिकेत्यादि. अलौकिकपदम् अनस्तमितपदम्. तथाच प्रत्यक्षं भौतिकविषयं ननु भूतविषयम् इति अदोषः. शब्दनिर्वचनन्तु ‘मातरि’ इति सप्तम्यन्तप्रतिरूपकम् अव्ययम् अन्तरिक्षवाचकं तत्र श्वयति गच्छति इति मातरिश्वा “टुओश्वि गतिवृद्धयोः” (धातुपा.भ्वादि.१०८२). तथाच भूतात्मा वायुः न उत्पद्यते, छान्दोग्ये श्रवणाद् इति पूर्वः पक्षः. तैत्तिरीये उत्पत्तिश्रवणाद् उत्पद्यते इति सिद्धान्तः. अमृतत्वश्रुतिस्तु आपेक्षिकी. “म्लोचन्ति” इति श्रुत्यनुसारेण निर्णयात्. तस्माद् वायुः उत्पद्यते इति सिद्धम्॥८॥२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वायोः अनित्यत्वस्थापनार्थं मातरिश्वाधिकरणम् आहुः एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति आकाशेति. समर्थेति. अतिदेशेन समर्थने सति विचारबाहुल्यम् अत्र नास्ति इति सूचितम्. ननु मास्तु विचारबाहुल्यं परन्तु अधिकरणमेव न उत्पद्यते वायूत्पत्तेः श्रुतिसिद्धत्वात् सन्देहएव न उदेति इत्यतः तद्विरोधिनीं बृहदारण्यकस्थां श्रुतिम् आहुः सैषा इति. “म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः, सैषा अनस्तमिता देवता यद् वायुः” इति. ‘अनस्तमित’पदेन नित्यत्वश्रवणात् सन्देहः. “देवतेति” इति अनन्तरं सन्देहः इति पूरणीयम्. ननु प्रत्यक्षं सिद्धे अर्थे सन्देहएव न उदेति शब्दापेक्षया प्रत्यक्षस्य प्रबलत्वात् वायुरुत्पत्तिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा इत्यतः आहुः भौतिकेति. सूत्रे ‘अलौकिक’पदं पूरणीयम्. तथाच अलौकिक मातरिश्वा व्याख्यातः इति सूत्रार्थः. तथा च भूतवायुनिर्णयार्थम् अधिकरणारम्भः. एतेन इति. अननेन भूतवायुः न उत्पद्यते, छान्दोग्ये तेजोऽब्रन्नानामेव उत्पत्तेः श्रवणाद् इति

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः॥९॥ (२।३।३)

ननु ब्रह्मणोऽपि उत्पत्तिः स्यात् “आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य” इति श्रुतेः आकाशन्यायेन सर्वगतत्वनित्यत्वयोः अभावे इति इमाम् आशङ्कां ‘तु’शब्दः परिहरति. सतः सन्मात्रस्य उत्पत्तिः न सम्भवति. न हि कुण्डलोत्पत्तौ कनकोत्पत्तिः उच्यते, नामरूपविशेषाभावात्. उत्पत्तिश्च स्वीक्रियमाणा न उपपद्यते. स्वतो न सम्भवति. अन्यतस्तु अनवस्था. यदेव च मूलं तदेव ब्रह्म इति ॥९॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे तृतीयम् असम्भवाधिकरणम्॥३॥

तेजो अतः तथा हि आह॥१०॥ (२।३।४)

तेजो अतो वायुतः. तथा हि आह “वायोरग्निः” (तैत्ति.उप.२।१)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु इत्याद्याशङ्का अनीश्वरवादिनां बोध्या. अभावे अभावे उपपाद्यमाने सति इति अर्थः. सन्मात्रस्य अविकृतस्य इति अर्थः. स्वतो न सम्भवति आत्माश्रयाद् इति अर्थः ॥९॥३॥

आकाशवाय्वोः उत्पत्तिं विचार्य तेजसो विचारयति. तेजः किं साक्षाद्ब्रह्मजम् उत परम्परया? इति श्रुतिविरोधपरिहारार्थत्वाद् अध्यायस्य. तत्र छान्दोग्योक्तसृष्टेः मुख्यत्वात् साक्षात्पक्षेण श्रेयान् इति प्राप्ते आह तेजोऽतः इति. तद् व्याकुर्वन्ति तेजः इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वपक्षः, तैत्तिरीयश्रवणात् प्रतिज्ञानुरोधाद् वायुः उत्पद्यते इति समाधानं च पूर्ववद् बोध्यम् इति सूचितम् ॥८॥२॥

यथा आकाशन्यायेन वायोः व्यवस्था तथा तन्न्यायेनैव ब्रह्मापि उत्पद्यते इति वैतण्डिकाशङ्कां निराकर्तुम् असम्भवाधिकरणम् आरचयन्ति असम्भवस्तु इति. तदेव व्याकुर्वन्ति ननु इत्यादिना. सूत्रार्थम् आह उत्पत्तिश्च इति. सम्भवः उत्पत्तिः, न सम्भवः असम्भवः, ब्रह्मणः अनुत्पत्तिः इति अर्थः. उत्पत्तिश्च स्वीक्रियमाणा स्वतः न सम्भवति, कुतः? अनुपपत्तेः ॥९॥३॥

क्रमप्राप्तं तेजो विचारयितुं तेजोधिकरणम् आहुः तेजोतस्तथा ह्याह. व्याकुर्वन्ति तेजोतः इति. तेजो अतः इति छेदः. अतः इत्यस्य अर्थम् आहुः वायुतः इति. आह इति. श्रुतिः इति शेषः. तामेव दर्शयन्ति वायोः इति.

इति श्रुतेः. 'हि'शब्देन एवम् आह. छान्दोग्यश्रुतिः प्रतिज्ञाहानि-
निराकरणार्थं तैत्तिरीयकम् अपेक्षते वाय्वाकाशयोः उत्पत्त्यर्थम्. तथाच
उपजीव्यस्य प्राधान्याद् वायुभावापन्नमेव सत् तेजस उत्पादकम् इति स्वीकरोति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु एवं सति छान्दोग्यव्यवहारस्य कथं परिहारः? इत्यतः आहुः हिशब्देन
इत्यादि. अयम् अर्थः. तेजसः साक्षाद्ब्रह्मजत्वाङ्गीकारे “तत्तेजोऽसृजद्” (छान्दो.
उप.६।२।१३) इत्यादिना निरूपिततेजसएव “सदेव सौम्येदमग्र आसीद्” (तत्रैव
६।२।११) इत्यनेन “इदं”पदवाच्यत्वं स्याद् ननु सर्वस्य. एवम् एकविज्ञानेन
सर्वविज्ञानप्रतिज्ञास्थलेऽपि तेजसएव उपादानं स्यात् ‘सर्व’पदेन ननु सर्वस्य. अतः
एतत्प्रतिज्ञाद्वयविरोधपरिहाराय तेजःसृष्टिवाक्यं तैत्तिरीयवाक्यम् उपजीवीकृत्यैव
प्रवर्तते. इत्थञ्च न कस्यापि प्रतिज्ञायाः हानिः इति अर्थः. ननु “एतस्माज् जायते
प्राणः”(मुण्डकोप.२।१।१३) इति आथर्वणश्रुतौ ब्रह्मण एव सर्वकारणत्वोक्तेः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ननु तेजसः जन्यत्वांशे सन्देहाभावाद् अधिकरणारम्भो व्यर्थः इति चेद्, न.
तदंशे सन्देहाभावेऽपि छान्दोग्ये ब्रह्मजत्वं तैत्तिरीये वायुजत्वम् उक्तम् इत्येतदंशे सन्देहः
तन्निराकरणार्थं विचारारम्भः. तत्र ब्रह्मणएव सर्वोत्पत्तिपक्षे छान्दोग्यश्रुत्यादरे च साक्षाद्
ब्रह्मणएव तेजः उत्पत्तिः इति प्राप्ते वायोः उत्पत्तिः इति व्यवस्थापयन्ति हि शब्देन इति.
अत्र छान्दोग्यश्रुतिविरोधं परिहरन्ति छान्दोग्येति. उत्पत्त्यर्थम् इति. तथाच एतयोः
उत्पत्त्यर्थम्. तस्य अप्राधान्यं पूर्वम्, इदानीमेव प्रतिपादितत्वात् तैत्तिरीयश्रुत्यैव निर्णयः
इति भावः. ननु छान्दोग्यश्रुत्या कुतो न निर्णयः? इत्यतः आहुः तथाच इति.
उपजीव्यस्य अपेक्षितत्वेन निर्णयजनकशाब्दबोधकारणीभूतस्य. तथाच छान्दोग्ये
“सदेव सोम्य” (छान्दो.उप.६।२।११) इत्यत्र ‘सत्’पदबोध्यं ब्रह्म वायुभावापन्नमेव
कारणम् इति अर्थे न विरोधः इति भावः. स्वीकरोति इति. छान्दोग्यश्रुतिः इति शेषः.
प्रतिज्ञाहानिभिया स्वीकरोति इति अर्थः. श्रीप्रकाशकृतस्तु तेजसः साक्षाद्
ब्रह्मजत्वाङ्गीकारे “सदेव सौम्येदम्” इति प्रतिज्ञा, “येन अश्रुतम्” इति प्रतिज्ञा, हीयते
इति तन्निराकरणार्थं तैत्तिरीयापेक्षा इति प्राहुः. भाष्येतु “वाय्वाकाशयोः उत्पत्त्यर्थम्”
इति उक्तं, तेन पूर्वोक्तं तैत्तिरीयापेक्षैव प्राधान्यसूचिका इति श्रीचरणानाम् आशयः इति
प्रतिभाति. ननु तैत्तिरीयेएव “स इदं सर्वम् असृजत्” (तैत्ति.उप.२।६) इति उक्तम्, तत्र
ब्रह्मणः सकाशादेव सर्वोत्पत्तिपक्षोऽपि प्रतीयते. एवञ्च सर्वान्तःपातित्वेन तेजसोऽपि
ग्रहात् तैत्तिरीयैकवाक्यतासत्त्वात् च छान्दोग्योक्तं ब्रह्मजत्वमेव कुतो न स्वीक्रियते?

ब्रह्माणएव सर्वोत्पत्तिपक्षस्तु अविर्द्धः॥१०॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे चतुर्थं तेजोऽत इति अधिकरणम्॥४॥

आपः॥११॥ (२।३।५)

“तथा हि आह” इत्येव. इदम् एकम् अनुवादसूत्रम् अविरोधख्यापकं
“न श्रुत्योः सर्वत्र विरोधः” इति॥११॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे पञ्चमम् आपः इति अधिकरणम्॥५॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः॥१२॥ (२।३।६)

“ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि” (छान्दो.उप.६।२।४)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

क्रमसृष्टिपक्षो विरुद्धः इत्यतः आहुः ब्रह्मणः इत्यादि. तथाच ब्रह्मणएव कारणतायाः
पक्षद्वयेऽपि उपपत्तेः न कोऽपि विरोधः इति अर्थः ॥१०॥४॥

तथा हि आह इत्येव इति. “तेजोतस्तथा ह्याह” इति सूत्रात् ‘तथा ह्याह’ इति
अस्यैव अत्र अनुवृत्तिः कार्या. ‘एव’कारेण इतरानुवृत्तेः व्यवच्छेदः. तथाच आपः तेजसः
उत्पद्यन्ते हि यतो अतः श्रुतिद्वयमपि तथा आह “तदपोऽसृजत” (छान्दो.उप.६।२।३)
इति “अग्नेरापः” (तैत्ति.उप.२।१) इतिच. अतो न अत्र किमपि विचार्यम् इति अर्थः.
एतत्सूत्रप्रयोजनम् आहुः इदम् इति. अविरोधख्यापकम् इति. इदमेव अस्य प्रयोजनम्
इति अर्थः॥११॥५॥

अधिकरणप्रयोजनं वक्तुं विषयवाक्यम् आहुः “ता आपः” (बृहदा.उप.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इत्यतः आहुः ब्रह्माणएव इति. वायुभावापन्नमेव सत् कारणम् इति उक्ते
तैत्तिरीयोक्तपक्षस्यापि ऐक्यं सम्भवति इति भावः॥१०॥४॥

आपः क्रमप्राप्तम् अधिकरणम् आहुः आपः इति. तथा ह्याह इत्येव इत्यत्र
‘एव’कारेण पूर्वसूत्राद् ‘अतः’ इति अस्य अनुवृत्तिः व्यवच्छिद्यते. तेन एकस्यां श्रुतौ
ब्रह्मणः सकाशात् तेजोत्पत्तिः, अन्यस्यां वायोः इति एतदर्थं पूर्वसूत्रे ‘अतः’ इति अस्य
प्रयोजनम्, अत्रतु “तदपोऽसृजत” (छान्दो.उप.६।२।३), “अग्नेः आपः”
(तैत्ति.उप.२।१) इति वाक्यद्वयेऽपि अग्नेरेव उत्पत्तिः इति न अत्र श्रुतिद्वयविरोधः इति
ध्वनितम्. ननु एवं चेद् विचारस्य प्रयोजनाभावात् सूत्रं व्यर्थम् इत्यतः आहुः इदम् इति.
अनुवादस्वरूपम् आहुः न श्रुत्योः इति ॥११॥५॥

पृथिव्यधिकाराधिकरणम् आहुः पृथिवीति. संशयाभावे विचाराभावाद्

इति “ता अन्नमसृजन्त” (तत्रैव ६।२।४) इति. तत्र ‘अन्न’शब्देन ब्रीह्यादयः आहोस्वित् पृथिवी? इति सन्देहः. ननु कथं सन्देहः? पूर्वन्यायेन उपजीव्यश्रुतेः बलीयस्त्वाद् इति चेद्, उच्यते. “अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्याः ओषधयः ओषधीभ्यो अन्नम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति अग्रे वर्तते. तथा सति पृथिवीम् ओषधीश्च सृष्ट्वा आपो अन्नं सृजन्ति आहोस्विद् ‘अन्न’शब्देनैव पृथिवी? इति. ननु एवम् अस्तु पृथिव्योषधिसृष्ट्यनन्तरम् अन्नसृष्टिः इति चेद्, न,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

५।५।१) इत्यादि. संशयम् आहुः तत्र इत्यादि. ‘अप्’शब्दस्य ब्रीह्यादिषु रूढत्वात् तेषां लाभः प्रायपाठात् च पृथिवीलाभः इति सन्देहः इति भावः. उपजीव्यश्रुतेः “अद्भ्यः पृथिवी” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः इति अर्थः. तथाच व्यर्थो अधिकरणारम्भः इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विचाराधिकरणीभूतविषयवाक्ये संशयं स्थिरीकर्तुं वाक्यम् आहुः ता आपः इति. संशयम् आहुः तत्र इति. एवञ्च “तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठम् अन्नं भवति” (छान्दो.उप.६।२।४) इति श्रुत्या अत्रत्य-विषयवाक्येन नच प्रत्यक्षेण जलाद् अन्नं भवति इति ज्ञायते. अथच श्रुत्यन्तरे क्रमपाठे “अद्भ्यः पृथिवी” (तैत्ति.उप.२।१) इति उक्तम्. तत्र अस्मिन् वाक्ये ‘अन्न’शब्दे सन्देहमूलत्वम् इति भावः. अयं संशयो न घटते इति आशङ्कते ननु इति. पूर्व्वेति. वियदधिकरणन्यायेन. उपजीव्यश्रुतेः तैत्तिरीयश्रुतेः. तथाच तत्र “अद्भ्यः पृथिवी” इति उक्तत्वात् तेनैव अस्मिन् विषयवाक्ये ‘अन्न’शब्देन पृथिव्याएव निश्चयाद् विचाराभावेन अधिकरणारम्भो व्यर्थः इति भावः. उत्तरम् आहुः अद्भ्यः इति. अग्रे इति. उपजीव्य-तैत्तिरीयवाक्येन अग्रे ‘अन्न’पदं वर्तते इति अर्थः. एवञ्च विषयवाक्ये “ता अन्नम् असृजन्त” इति साक्षादेव अन्नसृष्टिः उक्ता वर्तते. तैत्तिरीयवाक्ये परम्परया अद्भ्यः सकाशाद् अन्नसृष्टिः उक्ता इति संशयः इति भावः. ननु को असौ संशयः? इत्यतः आहुः तथा सति इति. आहोस्विद् इति. विषयवाक्ये ‘अन्न’पदस्य पृथिव्यां लक्षणायां साक्षादेव अद्भ्यः सकाशात् पृथिव्युत्पत्तिः प्रतीयते, तैत्तिरीयेतु साक्षाद् लक्षणां विनैव अद्भ्यः पृथिव्युत्पत्तिः, व्यवधानेन अन्नोत्पत्तिः. तत्र व्यवधानेन अद्भ्यः सकाशाद् अन्नोत्पत्तिः वा लक्षणादरणं वा कर्तव्यम् इति संशयः. तथाच पूर्व्वोक्तसंशयाभावेऽपि एतादृशसंशयस्य सत्त्वाद् न अधिकरणवैयर्थ्यम् इति भावः.

शङ्कते ननु एवम् इति. तथाच लक्षणादरो न कर्तव्यः, व्यवधानेन अद्भ्यः

छान्दोग्यश्रुतेः अपेक्षाभावात्, महाभूतमात्रस्यैव अभिलषितत्वाद्, एकपदलक्षणापेक्षया तत्स्वीकारस्य गुरुत्वात् पूर्वोक्तएव संशयः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भावः. छान्दोग्यश्रुतेः “ता आप ऐक्षन्त” (छान्दो.उप.६।२।१४) इति श्रुतेः. अपेक्षाभावाद् महाभूतबोधकतायाएव अपेक्षितत्वेन अन्नबोधनापेक्षाभावाद् इति अर्थः. एकपदलक्षणापेक्षया ‘अन्न’पदस्य पृथिवीत्वावच्छिन्ने लक्षणापेक्षया. तत्स्वीकारस्य “ता अन्नम् असृजन्त” (तत्रैव) इत्यत्र अप्सु स्वजन्यपृथिवीजन्यौषधी-जन्यत्वसम्बन्धेन अन्नं प्रति कारणतां स्वीकृत्य ‘अन्न’पदे रूढिस्वीकारस्य इति अर्थः. ननु सम्बन्धगौरवं न दोषाय इति चेद्, न, तथा सति कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्यापि अभाव-प्रतियोगितावच्छेदकत्वादौ विवादासम्भवात्. तथाहि कम्बुग्रीवादिमत्त्वे हि परम्परा-सम्बन्धावच्छिन्ने पृष्ठग्रीवावच्छिन्नसंयोगगते जातीएव कम्बुत्वग्रीवात्मरूपे. तयोः परम्परासम्बन्धश्च स्वाश्रयसंयोग-समवाय्यवयवसमवेतत्वं घटे इति तयोः जातित्वेऽपि सम्बन्धकृतमेव गौरवं तथा प्रकृतेरपि बोध्यम्. एवं गोसादृश्यस्यापि गवयपदवाच्यता-वच्छेदकतायां बोध्यम्. तत्र अवच्छेदकता सम्बन्धघटकतया भासते. सच सम्बन्धो गोसादृश्यावच्छिन्नवाच्यत्वीयस्वरूपसम्बन्धो व्यवच्छेदकतावच्छेदको वाच्यः. सच गवयत्वावच्छिन्नवाच्यत्वीयस्वरूपसम्बन्धापेक्षया गुरुभूतः इति गोसादृश्यं न अवच्छेदकं किन्तु गवयत्वमेव इतिरीत्या गौरवम् अवसेयम्. पूर्वोक्तः इत्यादि. तथाच ‘अन्न’पदएव

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अन्नसृष्टिः इत्येव स्वीकर्तव्यम्, उपजीव्यश्रुतेः बलीयस्त्वाद्, एकवाक्यतायाः सत्त्वाद् विचाराभावेन अधिकरणं व्यर्थम् इति शङ्का इति भावः. उत्तरयन्ति चेद् न इति. छान्दोग्यश्रुतेः इति. “ता आपः ऐक्षन्त” (छान्दो.उप.६।२।१४) इति छान्दोग्यश्रुतेः इति अर्थः. अपेक्षाभावाद् इति. तथाच तैत्तिरीयश्रुतेरिव मुख्यत्वं तस्याः नास्ति इति भावः. महाभूतमात्रस्य इति. तैत्तिरीये “तस्माद् वा एतस्माद्” (तैत्ति.उप.२।१) इति उपक्रम्य महाभूतोत्पत्तिः अभिलषिता इति अर्थः. ननु एवं चेत् किं सम्पन्नम्? अतः आहुः एकेति. छान्दोग्यस्थम् एकम् ‘अन्न’पदं, तस्य पृथिव्यां लक्षणापेक्षया इति अर्थः. तथाच लक्षणया तैत्तिरीयैकवाक्यतायाम् अद्भ्यः पृथिव्याः सम्भूतिः इति अभिलषितार्थसम्प्राप्तिः सुलभा इति भावः. तत्स्वीकारस्य इति. आपः पृथिवीम् ओषधीश्च सृष्ट्वा अन्नं सृजन्ति इत्येवंरूपार्थस्वीकारस्य इति अर्थः. तथाच ‘अन्न’पदरूढ्या छान्दोग्ये अन्नस्य अद्भ्यः सम्भूतिः साक्षाद् अभिहिता भविष्यति, तैत्तिरीये च तदेकवाक्यतायै अद्भ्यः सकाशादेव अन्नस्य उत्पत्तिः स्वीकर्तव्या परन्तु व्यवधानेन इति

तत्र “अन्नमयं हि सोम्य मन, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्” (छान्दो.उप.६।५।४) इति त्रयाणां सहचारः सर्वत्र उपलभ्यते. लोकप्रसिद्धिः वर्षणभूयिष्ठलिङ्गं च. तस्मात् पृथिव्योषध्यन्नानां मध्ये अभेदविवक्षया यत्किञ्चिद् वक्तव्ये ‘अन्नम्’ उक्तम् इत्येवं प्राप्ते उच्यते. ‘अन्न’शब्देन पृथिवी कुतः? अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः. अधिकारो भूतानामेव, न भौतिकानाम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

संशयसम्भवाद् न अधिकरणवैयर्थ्यम् इति भावः. त्रयाणां सहचारः इति वृष्ट्यन्नयोः अभेदे दृष्टान्तार्थम् उक्तम्. उपलभ्यते इति अग्रे अन्वेति. लोकप्रसिद्धिः इति पृथिव्योषध्यन्नानां भक्षकेषु कीटपशुमनुष्येषु भक्ष्यरूपमेव कार्यम् उपलभ्यते इति लोकप्रसिद्धिः. वर्षणेत्यादि. “यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठम् अन्नं भवति” (छान्दो.उप.६।२।४) इति वाक्यशेषोक्तं वृष्टिभूयिष्ठलिङ्गम् इति अर्थः. अभेदविवक्षया उक्तकार्यत्रयेण सह जलरूपकारणस्य अभेदविवक्षया इति अर्थः. यत्किञ्चिद् इत्यादि. “अद्यते तद् अन्नम्” इति व्युत्पत्त्या ‘अन्न’पदेन पृथिव्यादि-त्रयस्य मध्ये यत्किञ्चिद् एकस्मिन् योगेन वक्तव्यः इति अर्थः. अन्नशब्देन पृथिवी इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

गौरवं, तदपेक्षया ‘अन्न’पदलक्षणायाम् अभिलषितार्थसिद्धौ लाघवम् इति भावः. पूर्वोक्तएव इति. तथाच अद्भ्यः सकाशात् पृथिव्युत्पत्तौ सिद्धायां न अयं संशयावतारः, किन्तु पूर्वोक्तएव ‘अन्न’पदे संशयः अवतरति इति अर्थः.

एवं संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. उपलभ्यते इति पदं देहलीदीपन्यायेन संयोज्यम्. त्रयाणां सहचारो लोकप्रसिद्धिः वर्षणभूयिष्ठलिङ्गं च सर्वत्र उपलभ्यते इति अन्वयः. लोकप्रसिद्धिः वृष्ट्यन्नन्तरम् अन्नाद्युत्पत्तिः प्रत्यक्षसिद्धा इति लोकप्रसिद्धिः. वर्षणेति. तस्माद् “यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठम् अन्नं भवति” (छान्दो.उप.६।२।४) इति वाक्यशेषोक्तम् इति अर्थः. अभेदविवक्षया इति. “अद्यते अत्ति च भूतानि” (तैत्ति.उप.२।२) इति तैत्तिरीयश्रुत्या कीट-पशु-मनुष्यभक्ष्येषु मृद्रूप-पृथिव्योषध्यन्नेषु ‘अन्न’पदस्य प्रवृत्तिदर्शनाद् अभेदविवक्षया इति अर्थः. तथाच वर्षणेन पृथिव्या आर्द्रता वीरुधाम् अन्नस्य च उत्पत्तिः इति जलजत्वम् अन्नस्य सिद्धौ क्रमपाठ-तैत्तिरीयवाक्यैकवाक्यता ‘अन्न’पदरूढिश्च त्रितयं सङ्गच्छते इति भावः. अन्नम् उक्तम् इति. छान्दोग्ये अस्मिन् विषयवाक्ये अन्नम् उक्तम् इति अर्थः.

सिद्धान्तम् आहुः उच्यते इति. हेतुत्रयम् आहुः अधिकारेति. भूतानाम्

नीलञ्च रूपं पृथिव्याएव, भूतसहपाठात्. शब्दान्तरम् “अद्भ्यः पृथिवी”
(तैत्ति.उप.२।१) इति. तस्माद् ‘अन्न’शब्देन पृथिव्येव॥१२॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे पृथिव्यधिकारः इति षष्ठम् अधिकरणम्॥६॥

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः॥१३॥ (२।३।७)

आकाशादेव कार्याद् वाय्वादिकार्योत्पत्तिं ‘तु’शब्दो वारयति. सएव
परमात्मा वाय्वादीन् सृजति. कथम्? तच्छब्दवाच्यतेति चेत् तदभिध्यानात्.
तस्य-तस्य कार्यस्य उत्पादनार्थं तदभिध्यानं, ततः तदात्मकत्वं, तेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

योगेन पृथिव्यर्थो नतु लक्षणा इति अर्थः. रूढेस्तु प्रकरणमेव बाधकम् इति न रूढिः.
प्रकरणं च भूतानां नतु अन्नस्य इति अर्थः॥१२॥६॥

‘तु’शब्दः सूत्रस्थ-‘तु’शब्दः. सएव आकाशोत्पादकएव. तच्छब्दः
‘आकाश’शब्दः. वाच्यता ब्रह्मणि वाच्यता. अत्र एवं संशयः : क्रमसृष्टौ आकाशादयः
किं स्वतन्त्राः स्वकार्यं सृजन्ति उत परमेश्वरतन्त्राः? इति. तत्र तावत्प्राप्तम् “आकाशाद्
वायुः वायोरग्निः”(तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिश्रुत्या “तत्तेज ऐक्षत” (छान्दो.उप.६।२।
३), “बहुस्याम्”(तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिश्रुत्या भूतानां देवतायाश्च हेतुत्वस्य
कर्तृत्वस्य च कथनात् स्वतन्त्राएव सृजन्ति इति आकाशरूपः वायुरूपः स्याम् इति
तद्रूपत्वाभिधानम्. तत् च “बहु स्यां प्रजायेय” इति श्रुत्यैव संग्रहेण उक्तम्. नच तस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

आकाशादीनाम्. नीलं च इति. “यदन्ने रोहितं रूपं तेजसः तद्रूपं यत् शुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्य”(छान्दो.उप.६।४।१) इति श्रुत्या कृष्णरूपम् अन्नस्य उक्तं
तत्पृथिव्या बहुलम् उपलभ्यते. भूतसहपाठोऽपि दृश्यतइति ‘अन्न’पदेन योगेन
पृथिव्येव. शब्दान्तरम् इति. तैत्तिरीयश्रुत्यन्तरम् इति अर्थः ॥१२॥६॥

इदानीम् आकाशादीनां कार्योत्पादने स्वातन्त्र्यं वारयितुं सर्वं ब्रह्मणएव उत्पद्यते
इति प्रतिपादयितुं तदभिध्यानाधिकरणम् आहुः तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः.
वारयति इति. एतेन अकाशादीनां देवतानां च स्वातन्त्र्यं वा ब्रह्मपारतन्त्र्यं वा इति
संशयः. तैत्तिरीये “आकाशाद् वायुः” इति उक्त्या भूतानां, छान्दोग्ये “तत्तेज ऐक्षत”
इति उक्त्या च देवतानां स्वातन्त्र्यम् इति पूर्वपक्षं च निवारयति इति सूचितम्. अत्र
सूत्रोक्तसिद्धान्तेन निवारणपक्षम् आहुः सएव इति. आकाशरूपएव इति अर्थः. शङ्कते
कथम् इति. ‘आकाश’पदवाच्यता परमात्मनः कथम् इति अर्थः. तदभिध्यानाद् इति.

तद्वाच्यत्वम् इति. ननु यथाश्रुतमेव कुतो न गृह्यते ? इत्यतः आह तल्लिङ्गात्. सर्वकर्तृत्वं लिङ्गं तस्यैव सर्वत्र वेदान्तेषु अवगतम्. जडतो देवतायाः वा यत्किञ्चिज् जायमानं तत् सर्वं ब्रह्माण एव इति सिद्धम् ॥१३॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे तदभिध्यानादेव इति सप्तमम् अधिकरणम् ॥७॥

विपर्ययेण तु क्रमो अत उपपद्यते ॥१४॥ (२।३।८)

यथा उत्पत्तिः न तथा प्रलयः, किन्तु विपर्ययेण क्रमः. अतः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तेजःप्रभृतिसमानत्वं शङ्क्यम्. तेजःप्रभृतिष्वपि ‘ब्रह्म’पदप्रयोगेण प्रकरणेन च तेजःप्रभृतीनामपि ब्रह्मत्व-निश्चयात् तेषां ब्रह्मांशत्वात्. यथाश्रुतमेव आकाशादीनां स्वतन्त्रकारणत्वमेव. सर्वत्र वेदान्तेषु इति “स विश्वकृद् विश्वविद् आत्मयोनिः यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः” (श्वेता.उप.६।१।६) “यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तरः” (बृहदा.उप.३।७।२३) इत्यादिषु. फलितम् आहुः जडतः इत्यादि. ब्रह्मणः तत्तद्रूपेण तत्तदन्तःस्थाद् ब्रह्मणः इति अर्थः ॥१३॥७॥

ननु तैत्तिरीय-छान्दोग्ययोः सृष्टेः क्रमो निरूप्यते नतु प्रलयस्य. नैयायिकास्तु समवाय्यसमवाय्यन्यतरनाशात् कार्यनाशम् अङ्गीकुर्वन्ति. मुण्डकेतु विस्फुलिङ्गन्यायेन युगपदेव सर्वस्य कार्यस्य उत्पत्तिः प्रलयश्च इति श्रूयते “यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथा अक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति” (मुण्ड.उप.२।१). तथा सति क्रमिकाणां प्रलये कः प्रकारो ग्राह्यः ? इति संशये मुण्डके ब्रह्मण्येव लयस्य उक्तत्वेन श्रौतत्वाद् लौकिकं मतं विहाय यौगपद्यपक्षो ग्राह्यः इति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तम् आहुः यथोत्पत्तिः इति. सत्यम्

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

“बहु स्याम्” (छान्दो.उप.६।२।३) इति श्रुत्युक्तत्वादेव आकाशरूपः स्यां वायुरूपः स्याम् इति रीत्या ब्रह्मणः तत्तद्रूपाभिध्यानाद् इति अर्थः. यथाश्रुतम् इति. आकाशादेव वायोः उत्पत्तिः इति अर्थः ॥१३॥७॥

प्रलयक्रमं वक्तुं विपर्ययाधिकरणम् आहुः विपर्ययेण इति. सूत्रे अस्मिन् सिद्धान्तः उच्यते इत्यतः संशयपूर्वपक्षौ ऊहनीयौ. तथाहि सुबालोपनिषदि “पृथिवी अप्सु प्रलीयते” (सुबालो.२।२) इत्यादिना पृथिव्या जले लयः, मुण्डकेतु विस्फुलिङ्ग-न्यायेन युगपद् उत्पत्तिः, तथैव युगपद् लयः. तत्र कीदृशो लयो ग्राह्यः ? इति एवं संशये मुण्डकोक्तः खलेकपोतन्यायेन ग्राह्यः इति पूर्वपक्षः. उत्पत्त्यपेक्षया लये वैलक्षण्यं कथयन्ति यथा इति. यतः कारणाद् यथा येन प्रकारेण उत्पत्तिः न तथा प्रलयः सम्भवति

उत्पत्त्यनन्तरं प्रलयः. कुतः? उपपद्यते. प्रवेशविपर्ययेण हि निर्गमनम्.
क्रमसृष्टावेव एतत्॥१४॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे विपर्ययेण इति अष्टमम् अधिकरणम्॥८॥

**अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गाद्
इति चेद् न अविशेषात्॥१५॥ (२।३।९)**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवमेव युगपत्सृष्टौ. तथापि सुबालोपनिषदि “किं तदासीत् तस्मै स होवाच न सन्नासन्न
सदसदिति सदसद्विलक्षणम्” (सुबा.उप.१।१) ब्रह्माभिसन्धाय उच्यते “तस्मात्
तमः सञ्जायते तमसि भूतादि भूतादेराकाशं आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः
अद्भ्यः पृथिवी” (तत्रैव १।१) इत्यादि. एवं सृष्टिम् उक्त्वा उच्यते “सोन्ते विश्वानरो
भूत्वा सन्दग्धा सर्वाणि भूतानि पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि विलीयन्ते, तेजो
वायौ प्रलीयते, वायुः आकाशे विलीयते, आकाशम् इन्द्रियेषु” (तत्रैव २।२) इत्यादि.
अतो ब्रह्मणः सकाशाद् उत्पत्त्यनन्तरं तत्रैव प्रलयः इति येनैव क्रमेण उत्पत्तिः तेनैव
क्रमेण न लयः किन्तु विपर्ययेण क्रमः प्रलयस्य. अत्र पृच्छति कुतः इति. सत्यम्
उपपाद्यते श्रुतौ तथापि काचिद् युक्तिः वाच्या इत्यतः आहुः उपपद्यते इति. तथाच
नैयायिकवद् ध्वंसरूपप्रलयाङ्गीकारे युक्त्यपेक्षायामपि ब्रह्मणि प्रवेशरूपप्रलयाङ्गीकारे
श्रुतिरेव उपपादिका न उपपादकान्तरापेक्षा इति भावः. एतत् क्रमप्रलयः॥१४॥८॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

किन्तु विपर्ययेण क्रमः प्रलयस्य सम्भवति. अतः कारणाद् उत्पत्त्यनन्तरं तत्रैव प्रलयः
उक्तः इति अर्थः. श्रीप्रकाशकृतस्तु अतो ब्रह्मणः सकाशाद् उत्पत्त्यनन्तरं तत्रैव प्रलयः इति
प्राहुः. कुतो न सम्भवति? इति आशयेन पृच्छति कुतः इति. लौकिकन्यायेन उत्तरयन्ति
उपपद्यते इति. न्यायमेव आहुः प्रवेशेति. तथाच एकस्माद् मन्दिराद् अन्यस्मिन् मन्दिरे
प्रवेशः चेद् यस्य प्रथमतो निर्गमनं तस्य अन्यस्मिन् प्रवेशः सम्भवति. यत्र निर्गमनं तत्रैव
प्रवेशः चेत् प्रथमं निर्गतस्य पश्चादेव प्रवेशः सम्भवति इति लोकप्रसिद्धिः. अतएव उक्तं
श्रीचरणैः उत्पत्त्यनन्तरं प्रलयः इति भावः. ननु मुण्डके विस्फुलिङ्गन्यायेन उत्पत्तिः
खलेकपोतन्यायेन प्रलयः कथितः तस्य का गतिः? इत्यतः आहुः क्रमेति. पूर्वं
सृष्टिद्वैविध्यम् उक्त्वा क्रमसृष्टावेव विचारः प्रक्रान्तः इति भावः॥१४॥८॥

क्रमसृष्टिप्रसङ्गेन जीवमनसोरपि क्रमसृष्टौ निवेशो नास्ति इति विचारयितुम्
अन्तराधिकरणम् आहुः अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्.

तैत्तिरीयके आकाशादि अन्नपर्यन्तम् उत्पत्तिम् उक्त्वा अन्नमयादयो निरूपिताः. तत्र अन्नमयस्य प्राणमयस्य च सामग्री पूर्वम् उत्पन्ने उक्ता. आनन्द-मयस्तु परमात्मा. मध्ये विज्ञानमनसी विद्यमाने क्वचिद् उत्पन्ने इति वक्तव्ये.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

क्रमविचारएव प्रसङ्गाद् अन्यद् विचारयति इति आहुः तैत्तिरीयके इत्यादि. अन्नमयादयः पञ्च इति अर्थः. सामग्री पूर्वम् उत्पन्ना उक्ता तत्र अन्नमये सामग्री ओषध्यन्नरूपा तस्य अन्नरसमयत्वात्. प्राणमयः ततः आन्तरः इति तस्य सामग्री वाय्वाकाशपृथिवीरूपा नतु बाह्यकर्मेन्द्रियरूपा. तच्छिरःप्रभृतिकथने प्राणव्यानापाना-काशपृथिवीनामेव कथनाद् एवमेव एतद्द्वयसामग्री “ओषधीभ्यो अन्नम्” (तैत्ति.उप. २।२) इत्यन्तेन उक्ता पूर्वम्. आनन्दमयस्तु परमात्मा सतु मूलकारणम्. “तस्माद् वा

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तैत्तिरीयश्रुतेः प्राधान्यात् तद्वत् तयोः विज्ञानमनसोः विषयत्वं वक्तुम् आहुः तैत्तिरीयके इति. ब्रह्मवित्प्रपाठके इति अर्थः. अन्नपर्यन्तम् इति. “आकाशाद् वायुः” इत्यारभ्य “ओषधीभ्यो अन्नम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यन्तवाक्यषट्केन अन्नपर्यन्तस्य उत्पत्तिम् उक्त्वा इति अर्थः. अन्नमयादयः इति. तदनन्तरम् “अन्नात् पुरुषः” इत्यादिवाक्यैः अन्नमय-प्राणमयादयो निरूपिताः इति अर्थः. तत्र विज्ञानमय-मनोमययोः जन्येषु अन्नमयादिषु पाठाद् उत्पत्तिसामग्र्यकथनाच्च उत्पन्नौ वा न वा? उत्पत्तिः चेत् कुत्र कथिता? इति सन्देहं स्फुटीकर्तुं भूमिकाम् आरचयन्ति तत्र इति. तेषु अन्नमयादिषु मध्ये सामग्री इति. “स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः” इत्यारभ्य “तस्मात् सर्वोषधम् उच्यते” (तत्रैव) इत्यन्तेन उक्ता ओषध्यन्नरूपान्नमयसामग्री. अथच “तस्य प्राणएव शिरः” इत्यारभ्य “पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा” (तत्रैव २।२) इत्यन्तेन उक्ता वाय्वाकाशपृथिवीरूपा प्राणमयसामग्री इति अर्थः. पूर्वम् इति. आकाशादिवाक्यषट्कः उत्पन्ना उक्ता इति अर्थः. आनन्दमयः इति. उक्तः इति शेषः. अयञ्च परमात्मा सर्वेषां कारणीभूतो वाक्यषट्कात् पूर्वं “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यादिना उक्तः इति अर्थः. तथाच केवलम् उक्तः, नतु उत्पन्नः उक्तः इति भावः. अवशिष्टद्वयोः विचारे पूर्वं संशयम् आहुः मध्ये इति. अन्नमयप्राणमयानन्तरम् आनन्दमयात् पूर्वम् इति अर्थः. संशयाकारम् आहुः क्वचिद् इति. अन्नमयादेरिव अनयोः सामग्री पूर्वम् उत्पन्ना न उक्ता इति बीजाद् एते क्वचिद् उत्पन्ने वा न वा इति सन्देहः इति अर्थः. इति वक्तव्ये इति. पूर्वपक्षी वदति. छान्दोग्ये वा तैत्तिरीये वा

तत्र क्रमेण उत्पन्ने इति वक्तव्यम्. क्रमस्तु प्रातिलोम्येन, सूत्रे विपर्ययानन्तरकथनात्, 'अन्तरा' इति वचनाच्च. तेजोऽबन्नानाम् अन्नमये गतत्वात्. वाय्वाकाशयोः प्राणएव गतत्वात्. आकाशात् पूर्वं **विज्ञानमनसी**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतस्माद् आत्मनः" (तत्रैव) इति 'आत्म'पदेनैव उक्तः. अतः परं मनोमय-विज्ञानमयौ अवशिष्येते. तद् आह अन्तरा विज्ञानमनसी इति. प्रातिलोम्येन संहारक्रमोक्त-प्रातिलोम्येन. तथाच आकाशात् पूर्वम् आत्मनः सकाशाद् विज्ञानमनसी उत्पन्ने इति वाच्यम् इति अर्थः. विपर्ययानन्तरं "विपर्ययेण तु क्रमोत्पद्यते" (ब्रह्मसू. २।३। १४) इति सूत्रानन्तरम्. अन्तरा इति वचनात् सूत्रे 'अन्तरे'ति वचनात्. तथाच

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

क्वचिद् उत्पन्ने इति वक्तव्ये सति इति अर्थः. तत्र पूर्वपक्षी क्रमविशिष्टाम् उत्पत्तिकोर्तिं स्वीकरोति तत्र क्रमेण इति. ननु छान्दोग्ये "अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य" (छान्दो. उप. ६।३।२) इति पूर्वं जीवः, अथच षोडशानां कलानाम् एका कला इत्यनेन अनन्तरं मनः इति एवं प्रकारेण क्रमः उक्तः. तैत्तिरीये तु अन्नमयादिषु प्रथमं मनोमयः, अनन्तरं विज्ञानमयः. तत्र अयं विचारः सूत्रे छान्दोग्यवाक्ये प्रतिभाति इत्यतः आहुः क्रमस्तु इति. प्रातिलोम्येन इति. सूत्रकारस्य विवक्षितः इति शेषः. आनन्दमयानन्तरं विज्ञानमयः तदनन्तरं मनोमयः इति वैपरीत्येन इति अर्थः. ननु कथम् इदं ज्ञायते? इत्यतः आहुः सूत्रे इति. अस्मिन् सूत्रे विज्ञानमनसी इति एतदनन्तरं 'क्रमेण' इति कथनाद् इति अर्थः. तथाच छान्दोग्ये जीव-मनसोः क्रमेण उक्तिरेव इति. तत्र क्रमेण इत्यस्य अपेक्षाभावाद् उपजीव्ये तैत्तिरीयवाक्ये अयं विचारः इति स्वीकर्तव्यः. एवञ्च आनन्दमयात् पूर्वं विज्ञान-मनसोः विपरीतक्रमः सूत्रकारस्य अभिप्रेतः इति भावः. ननु किम् इदम् उच्यते सूत्रस्थ 'क्रम'पदस्य व्युत्क्रमवाचकत्वापेक्षया छान्दोग्योक्तक्रम-वाचकत्वे बाधकाभावाद् इत्यतः आहुः अन्तरेति. सूत्रे 'अन्तरा' इति कथनाद् इति अर्थः. तथाच तैत्तिरीये अन्नमय-प्राणमययोः अनन्तरम् आनन्दमयात् पूर्वं विज्ञान-मनसोः उक्तत्वाद् अनयोः अन्तरात्वं, छान्दोग्योक्तयोः तथात्वाभावात् तैत्तिरीयवाक्येण अयं विचारः सूत्रकाराभिप्रेतः इति भावः. एवंरीत्या पूर्वपक्षी क्रमव्यवस्थां कृत्वा विज्ञान-मनसोः उत्पत्तिस्थलं छान्दोग्यैकवाक्यतया तैत्तिरीयएव आह तेजोऽबन्नानाम् इति. छान्दोग्योक्तानां तेजोजलान्नानाम् इति अर्थः. अन्नमये तैत्तिरीयोक्तः इति शेषः. वाय्वाकाशयोः इति. छान्दोग्योक्तयोः इति शेषः. प्राणे इति. तैत्तिरीयोक्तः इति शेषः. गतत्वाद् इति. ऐतेषां तेजोजलादीनाम् अन्नमय-प्राणमय-

उत्पन्ने इति वक्तव्यम्. तयोः अग्रे वचनमेव लिङ्गम् इति, अतः तयोः उत्पत्तिः वक्तव्या इति चेद्, न, अविशेषात्. नामरूपविशेषवतामेव उत्पत्तिः उच्यते, नतु अनयोः, विज्ञानमयस्य जीवत्वात्. मनोमयस्य च वेदत्वात्. अतो भूतभौतिक-प्रवेशाभावाद् न तयोः उत्पत्तिः वक्तव्या ॥१५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आकाशात्मनो अन्तरेति अर्थः सिद्धः. तयोः अग्रे वचनम् इत्यादि. तयोः विज्ञान-मनसोः. अग्रे छान्दोग्ये “अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य” (छान्दो.उप.६।३।२) इति विज्ञानमयस्य जीवस्य निरूपणं “षोडशानां कलानाम् एका कला शिष्टासीद्” (तत्रैव ६।७।३) इति मनोमयनिरूपणम्. इदमेव उभयनिरूपकं लिङ्गम् इति. नामरूप-विशेषवतां भूतभौतिकानाम्. नतु अनयोः नतु विज्ञान-मनसोः. एवञ्च अस्मिन् अधिकरणे तैत्तिरीयोक्तौ विज्ञानमय-मनोमयौ विषयः क्व उत्पद्येते? इति संशयः. उत्पत्तिसामग्र्यनुक्तिः उत्पन्नेषु पाठश्च सन्देहबीजम्. तयोः जीवान्तःकरणरूपत्वात् श्रुत्यन्तरे तयोः साक्षाद् उत्पत्तिकथनाद् आकाशात् पूर्वं कथनात् च क्रमसृष्टावपि आकाशात् पूर्वं परमात्मनः सकाशात् तयोः उत्पत्तिः इति पूर्वं पक्षः. तौ अत्र न जीवान्तःकरणरूपौ किन्तु जीववेदरूपौ. तद्गमकस्य लाभात्. अतो न तयोः उत्पत्तिः अत्र अभिप्रेता इति सिद्धान्तः ॥१५॥

जीवाद्यनुत्पत्तावेव किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति इति आशयेन सूत्रम्

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सामग्रीत्वाद् आकाशादि-वाक्यषट्कएव अन्तर्भावाद् इति अर्थः. ननु विज्ञान-मनसोः सामग्री क्वचिद् उत्पन्ना न प्रतिभाति इति क्व अनयोः उत्पत्तिः? इत्यतः आहुः आकाशात् पूर्वम् इति. आत्मनः सकाशाद् आकाशात् पूर्वम् इति अर्थः. विज्ञानमनसी इति. जीवान्तःकरणे इति अर्थः. उत्पन्ने इति. आनन्दमयाद् विज्ञानमय-मनोमयौ उत्पन्नौ इति अर्थः. ननु त्वया यद् उच्यते तत्र नियामकं न पश्यामः इत्यतः आहुः तयोः इति. “अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य” (छान्दो.उप.६।३।२) इति, षोडशानां कलानाम् एका कला अतिशिष्टासीद् इति अग्रे वचनमेव लिङ्गम् इति अर्थः. वक्तव्येति. तथाच जीव-मनसोः नित्यत्वं नास्ति इति पूर्वं पक्षः. समाधानम् आहुः अविशेषाद् इति. वेदत्वाद् इति. मनोमये “तस्य यजुरेव शिरः ऋग्दक्षिणः पक्षः” (तैत्ति.उप.२।३) इति उक्तत्वाद् वेदत्वम् इति अर्थः. न तयोः इति. जीव-मनसोः उत्पत्तिः नास्ति इति सिद्धम् ॥१५॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्

तद्व्यपदेशो भाक्तः तद्भावभावित्वात्॥१६॥

ननु विज्ञानमयस्य जीवस्य अनुत्पत्तौ सर्वव्यवहारोच्छेदः. उत्पत्तिस्तु त्रिविधा निरूपिता. “अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः” (भाग.सुबो. कारि.२८) इति. तथाच जीवस्य समागमलक्षणापि उत्पत्तिः न स्यादिति इमाम् आशङ्कां निराकरोति ‘तु’शब्दः. चराचरे स्थावर-जङ्गमे शरीरे तयोः विशेषेण अपाश्रयः आश्रयः शरीरसम्बन्धः इति यावत्. स तु स्यात्. ननु स्वतः. ननु शरीरस्य उत्पत्तौ जीवोऽपि उत्पद्यते. अन्यथा जातकर्मादीनाम् अभावप्रसङ्गाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपन्यस्य व्याकुर्वन्ति ननु इत्यादि. जीवस्य इति मनोमयस्य वेदस्यापि उपलक्षणम्. सर्वव्यवहारोच्छेदः विज्ञानमयस्य मनोमयस्य च अनुत्पत्तौ सर्वव्यवहारोच्छेदः. न हि जीवानुत्पादे कश्चित् संसारासक्तो वा मुमुक्षुः वा प्रवृत्तिलक्षणकर्मज्ञानभक्त्यधिकारी भवेत्. तदभावे च लोकयात्रा तत्-तत्पुरुषार्थबोधकानि वाक्यानि च उच्छिद्येरन्. न वा वेदस्य अनुत्पत्तौ धर्माधर्मादिकम् असंकीर्णम् अवगन्तुं शक्येत. तदभावे लोकमर्यादापि उच्छिद्येत इति अर्थः. न स्याद् इति उत्पत्तिसामान्यनिषेधे समागमलक्षणापि निषेधिता इति भावः. चराचरे पर्वततदितररूपे. तयोः उत्पत्तिमरणयोः. ननु स्वतः शरीरसम्बन्धेन जीवस्य ते स्यातां ननु स्वातन्त्र्येण इति अर्थः. “जायमानः शरीरम् अभिसम्पद्यमान उत्क्रामन् प्रियमाणः” (बृहदा.उप.४।३।८) इति श्रुत्या देहसम्बन्धएव जीवस्य तयोः उक्तत्वाद् देहसम्बन्धस्तु जीवस्य भवत्येव इति अर्थः. नच वेदस्य न देहसम्बन्धः इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

जीवस्य जनिः नास्ति इति श्रुत्वा पूर्वपक्षी आशङ्कते ननु इति. सर्वव्यवहारेति. जीवाभावात् संसारव्यवहारः प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपः कथं स्यात्, कर्मज्ञानभक्त्यधिकारी को वा भवेद् इति अर्थः.

ननु इदानीमेव उक्तं नामरूपसम्बन्धात्मिका उत्पत्तिः जीवस्य नास्ति, इतरातु वर्तते इत्यतः आह उत्पत्तिः इति. निरूपिता इति. अस्मिन्नेव पादे प्रथमाधिकरणे इति अर्थः. अनित्ये इति. व्याख्यातम् एतत्. न स्याद् इति. सन्नियोगशिष्टानाम् उत्पत्तित्रयाणां प्रवृत्ति-निवृत्त्योः सहैव सत्त्वाद् नियामकाभावेन मध्ये “इयम् अस्ति इयं नास्ति” इति वक्तुम् अशक्यत्वात् समागमलक्षणा एकापि न स्याद् इति अर्थः. ननु कथं निराकरोति? इत्यतः आहुः चराचरेति. स्थावरेति. प्रथमाद्विवचनान्तम्. तयोः इति.

इति चेद्, न. तद्व्यपदेशः तस्य शरीरस्य जन्म-मरणधर्मवत्त्वेन जीवव्यपदेशो भाक्तो लाक्षणिकः. कुतः? तद्भावभावित्वात्. शरीरस्य अन्वयव्यतिरेका-भ्यामेव जीवस्य तद्भावित्वम्. देहधर्मो जीवस्य भाक्तः. तत्सम्बन्धेनैव उत्पत्तिव्यपदेशः इति सिद्धम्॥१६॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे नवमम् अन्तरा विज्ञानमनसी इत्यधिकरणम्॥१९॥

न आत्मा अश्रुतेः नित्यत्वाच्च ताभ्यः॥१७॥ (२।३।१०)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वाच्यम्, नादात्मना सर्वशरीरेषु तस्यैव विद्यमानत्वात्. “स एष जीवो विवरप्रसूतिः” (भाग.पुरा.११।१२।१७) इत्यनेन भगवता उक्तत्वात्. जीवव्यपदेशः जीवे जन्ममरण-व्यपदेशः. लाक्षणिकः तत्तच्छरीरसम्बन्धतद्भावयोः लक्षणया बोधकः. तद्भाव-भावित्वात् शरीराभिमानेन स्वस्मिन् शरीरधर्माभिमानित्वाद् इति अर्थः. जीवस्य तद्भावित्वं शरीरान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यन्वयव्यतिरेकवत्त्वम्. उत्पत्तिव्यपदेशः इति दूयस्यापि उपलक्षणम्॥१६॥१॥

पूर्वाधिकरणे जीवस्य नामरूपसम्बन्धाभावाद् न उत्पत्तिः इति उक्तम्. तत्र

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

शरीरयोः इति अर्थः. फलितार्थम् आहुः शरीरे इति. चराचरशरीरसम्बन्धः इति अर्थः. सतु स्याद् इति. शरीरसम्बन्धस्तु स्याद् इति अर्थः. एवञ्च “सतु स्याद्” इत्यत्र ‘तु’शब्देन जायमानम् अभिसम्पद्यमानः उत्क्रामन् प्रियमाणः इति श्रुत्या देहसम्बन्धेन जीवस्य उत्पत्तिः इति ध्वनितम्. तदेव आहुः न स्वतः इति. जीवस्य स्वतः उत्पत्त्यादिः नास्ति इति अर्थः. एवञ्च जायमानेति-श्रुतिवाक्यनियामकस्य सत्त्वात् त्रिविधोत्पत्तिमध्ये सम्बन्धरूपा समागमलक्षणा उत्पत्तिः जीवस्य सिद्धा इत भावः. सूत्रस्थस्य ‘तद्व्यपदेशे’ति वाक्यान्तरस्य अवतरणिकाम् आहुः ननु इति. जीवव्यपदेशः इति. जीवे जन्ममरणधर्मवत्त्वस्य व्यपदेशः इति अर्थः. तद्भावभावित्वाद् इति. तद्भावेन शरीराभिमानेन भवति व्याप्तः तिष्ठति तद्भावभावी, तस्य भावः तत्त्वं, तस्माद् इति अर्थः. अस्यैव अर्थं विशदयन्ति शरीरस्य इति. शरीरसत्त्वे जीवसत्त्वम् इत्याद्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां जीवस्य देहाभिमानवत्त्वम् इति अर्थः. निकृष्टार्थम् आहुः देहेति. देहधर्मो जन्मादिः भाक्तः गौणः॥१६॥

नामरूपसम्बन्धवतामेव उत्पत्तिः इति पूर्वम् उक्तत्वाद् ‘देवदत्ता’दिनामवतो जीवस्यापि उत्पत्तिः स्याद् इति शङ्कां निराकर्तुं नात्माश्रुत्यधिकरणम् आहुः

ननु जीवोऽपि उत्पद्यतां, किमिति भाक्तत्वं कल्प्यते? इति चेद्, न. आत्मा न उत्पद्यते. कुतः? अश्रुतेः. न हि आत्मनः उत्पत्तिः श्रूयते. “देवदत्तो जातो”, “विष्णुमित्रो जातः” इति देहोत्पत्तिरेव, नतु तदव्यतिरेकेण पृथक् जीवोत्पत्तिः श्रूयते. विस्फुलिङ्गवद् उच्चरणं न उत्पत्तिः, नामरूप-सम्बन्धाभावात्. एतस्य गुणाः स्वरूपं च अग्रे वक्ष्यते. किञ्च, नित्यत्वाच्च ताभ्यः श्रुतिभ्यः. “अयम् आत्मा अजरो अमरः” (बृहदा.उप.४।४।२५), “न जायते म्रियते” (कठोप.१।२।१८) इत्येवमादिभ्यः॥१७॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे दशमम् आत्माश्रुतेः इति अधिकरणम्॥१०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

‘देवदत्ता’दिनाम जीवस्यैव न शरीरस्य. तथा सति तन्नाम्ना गयाश्राद्धाद्यनुपपत्तेः इति आहुः ननु जीवोऽपि इत्यादि. समाधानम् आहुः तथा इत्यादि. तथाच जात इत्यादिस्थले जीवोपलक्षितो देहएव उपादेयः श्राद्धादिस्थले च देहोपलक्षितो जीवो ग्राह्यः. देहाद्यभिमानशून्येतु न काचिद् उपपत्तिः कार्या अस्ति. जीवनित्यत्वे प्रमाणम् आहुः किञ्च इत्यादि॥१७॥१०॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

नात्माश्रुतेः इति. पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. सिद्धान्तम् आहुः न इति. श्रूयते इति. वेदः इति शेषः. लोकेऽपि नास्ति इति आहुः देवदत्तो जातः इति. देवदत्ताद् विष्णुमित्रो जातः इति प्रवादस्तु देहम् आश्रित्यैव इति अर्थः. कुत्रापि लोके केवलजीवोत्पत्तिः नास्ति इत्यतः आहुः ननु इति. ननु “यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति” (बृहदा. उप.२।१।१०) इति बृहदारण्यकश्रुतौ प्राणादिसाहचर्येण व्युच्चरणं श्रूयते, तत्र प्राणादीनाम् उत्पत्तिः जीवस्य नास्ति इत्यत्र किं नियामकम्? अतः आहुः विस्फुलिङ्गवद् इति. जीवस्य व्युच्चरणं न उत्पत्तिरूपार्थकम् इति अर्थः. ननु कुतो अवगम्यते? इत्यतः आहुः नामरूपेति. तथाच प्राणादीनां नामादिसम्बन्धसत्त्वस्य नियामकत्वेन तत्रैव उत्पत्तिः व्युच्चरणपदार्थः इति भावः. अधिकन्तु प्रकाशे अनुसन्धेयम्. ननु जीवे प्राणादि-साहचर्यस्य उक्तत्वाद् उत्पत्तिसन्देहः तदवस्थएव इत्यतः आहुः एतस्य इति. वक्ष्यते इति. अनुपदमेव वक्ष्यते इति अर्थः. तथाच अस्य जीवस्य गुणाएव प्राणसाम्यतां निराकरिष्यन्ति. ननु एवं चेत् प्रमेयबलेन साम्यतानिराकरणे जातः उत्पत्तिसन्देहापाकरणं भविष्यति नतु प्रमाणबलेन इत्यतः आहुः किञ्च इति. तथाच “अयम् आत्मा अजरो अमरः” (बृहदा.उप.४।४।२५) इत्यादिश्रुतिप्रमाणबलमपि अस्ति इति भावः. ‘आदि’-

गुणान् निरूपयन् प्रथमतः चैतन्यगुणम् आह

ज्ञो अतएव॥१८॥ (२।३।११)

ज्ञः चैतन्यस्वरूपः. अतएव श्रुतिभ्यो “विज्ञानमयः” (तैत्ति.उप.२।४)
इत्यादिभ्यः. सर्वविप्लववादी ब्रह्मवाक्यानि उदाहृत्य सूत्रोक्तसिद्धान्तम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अत्र ‘ज्ञ’शब्देन चैतन्याधिकरणम् उत सांख्यमतरीत्या चैतन्यस्वरूपः इति सन्देहे आहुः ‘ज्ञः’इत्यादिः. **चैतन्यरूपः** इति तदधिकरणस्यापि उपलक्षकम्. **विज्ञानमयः** इति प्राचुर्यार्थकमपि “एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता रसयिता” (प्रश्नोप.४।९) इत्यादि-श्रुत्यनुरोधात्. तथाच उभयमपि स्वीकार्यम् इति भावः. शाङ्करमतम् आहुः **सर्वविप्लवेत्यादिना. वाक्यानि “विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म”** (बृहदा.उप.३।९।२८), “**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**” (तैत्ति.उप.२।१), “**अयमात्मा अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नः**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पदेन “अज्ञो नित्यः शाश्वतो अयम्” (भग.गीता२।२०) इत्यादेः संग्रहः ॥१७॥१०॥

जीवगुणाः वक्ष्यन्ते इति उक्ते तेषां मध्ये चैतन्यगुणस्य मुख्यत्वात् तत्र विचारं कर्तुं ज्ञोऽतएव अधिकरणम् आहुः **ज्ञोऽतएव**. उभयत्रापि श्रुतेः मूलत्वाद् अस्मिन् अधिकरणे जीवो ज्ञानस्वरूपो वा ज्ञानधर्मको वा? इति सन्देहः. ज्ञानस्वरूपः इति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तसूत्रम् अवतारयन्ति **गुणान्** इति. **चैतन्यगुणम्** इति. चैतन्यं गुणो यस्य एतादृशम् इति अर्थः. चैतन्यगुणकत्वेन चैतन्यस्वरूपम् इति यावत्. **ज्ञ** इति. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति **चैतन्यस्वरूपः** इति. ननु गुणस्य तन्निष्ठत्वाद् धर्मधर्मिणोः भेदात् तत्स्वरूपत्वं कथम्? इत्यतः आहुः **अतएव** इति. **विज्ञानमय** इति. बृहदारण्ये “**विज्ञातारम् अरे केन विजानीयाद्**” (बृह.उप.२।४।१४) इति वाक्येन जीवे विज्ञातत्वबोधनाद् ज्ञानधर्मकत्वं प्रतीयते. अथच ब्रह्मवित्प्रपाठके “विज्ञानमयः” इत्यनेन विज्ञानस्वरूपत्वं प्रतीयते इति उभयविधत्वं स्वीकर्तव्यम् इति न कोऽपि दोषः इति सिद्धान्तः.

शाङ्कराचार्यमतं दूषयन्ति सर्वेति. सर्वं मायिकम् इति वादीति अर्थः. **ब्रह्मवाक्यानि** इति. “**विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म**” (बृहदा.उप.३।९।३४) “**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिवाक्यानि इति अर्थः. **सूत्रोक्तसिद्धान्तम्** इति. “**सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः भेदेन**” (ब्रह्मसू.१।३।४२) इत्यादिसूत्रोक्तं जीव-ब्रह्मणोः भेदरूपम् इति अर्थः. **अन्यथा** इति. भेदस्य काल्पनिकत्वम् उक्त्वा संसारिस्वरूपा-ख्यानपरत्वेन व्याख्याय इति अर्थः. **श्रुतीति**. “**अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेन आत्मना**

अन्यथाकृत्य श्रुतिसूत्रोल्लङ्घनेन प्रगल्भते. सः वक्तव्यः. किं जीवस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते जीवत्वं वा निराक्रियते ? इति. आद्ये इष्टापत्तिः. न हि विस्फुलिङ्गो अग्न्यंशो भूत्वा न अग्निः. द्वितीये स्वरूपनाशः. जीवत्वं कल्पितम् इति चेद्, न, “अनेन जीवेन आत्मना” (छान्दो.उप.६।३।२) इति श्रुतिविरोधात्. नच

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रज्ञानघनः”(बृहदा.उप.३।९।२८) इत्यादिवाक्यानि. अन्यथाकृत्य “सुषुप्त्युक्रान्त्योः भेदेन” (ब्रह्मसू.१।३।४२) इत्यादिसूत्रेषु सिद्धं जीव-ब्रह्मणोः भेदरूपं सिद्धान्तं भेदस्य काल्पनिकत्ववचनेन संसारिस्वरूपमात्रपरतया व्याख्यानेन “अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तः प्राज्ञेन आत्मना अन्वारूढः”(बृहदा.उप.४।३।३५) इत्यादी-श्रुतीनाम् उक्तसूत्राणां च अर्थत्यागेन धाष्टर्यं करोति इति अर्थः. तद् दूषयन्ति सः वक्तव्यः इत्यादिना. द्वितीये जीवत्वनिराकरणपक्षे. स्वरूपनाशः. तथाच मोक्षे आत्महानम् अपुरुषार्थः पर्यवस्यति इति अर्थः. ननु जीवत्वस्य काल्पनिकत्वाद् न तन्नाशे स्वरूपनाशः इत्यतः आहुः “अनेन जीवेन” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादि-विरोधात्. कल्पितत्वे प्रवेशकरणत्वस्य नामरूपप्रपञ्च-व्याकरणहेतुत्वस्य च श्रुतिविरुद्धत्वाद् इति अर्थः. एवं ज्ञानधर्माः ज्ञानस्वरूपश्च जीवः इति सिद्धम्. अत्रापि जीवो वैशेषिकवद् अङ्गीकार्योवा सांख्यवद् इति सन्देहः. उभयथाश्रुतिः सन्देहबीजम्. सांख्यमतरीत्यैव इति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तस्तु उक्तएव. विचारस्तु गुणमुखएव नतु स्वरूपमुखः ‘ज्ञ’शब्दप्रयोगात्॥१८॥११॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सम्परिष्वक्तः”(बृहदा.उप.४।३।३५) इत्यादिश्रुतीनाम् उक्तसूत्राणां च अर्थत्यागेन इति अर्थः. प्रगल्भते धाष्टर्यं करोति इति अर्थः.

दूषणम् आहुः सः वक्तव्यः इति. इष्टापत्तिः इति. ब्रह्मांशे ब्रह्मत्वं मयापि स्वीक्रियते इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः न हि इति. स्वरूपनाशः इति. मोक्षदशायाम् अविद्यानाशे जीवत्वस्य नाशः इति अर्थः. तथाच आत्महानम् अपुरुषार्थः इति मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वं स्याद् इति भावः. कल्पितस्य नाशे ब्रह्मस्वरूपस्य जीवस्य नाशो नास्ति इति आशयेन शङ्कते जीवत्वम् इति. उत्तरम् आहुः न इति. श्रुतिविरोधाद् इति. तथाच सृष्ट्यादौ ब्रह्मणोविद्यासम्बन्धाभावेन कल्पनायाः अभावाद् जीवे जीवत्वं न स्यात् तत्पूर्वकल्पस्य जीवान्तरस्यापि अभावाद् इति भावः. जीवस्य अनादित्वं केषाञ्चिन् मते, तेन दूषयन्ति नच इति. प्रमाणाभावाद् इति. सृष्टिपूर्वकाले

अनादिः अयं जीवब्रह्मविभागो बुद्धिकृतः, प्रमाणाभावात्. “सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्” (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतिविरोधश्च. नच जीवातिरिक्तं ब्रह्म नास्ति सर्वश्रुति-सूत्रनाशप्रसङ्गात्,

“यः सर्वज्ञः” (मुण्ड.उप.१।१।९),

“सर्वशक्तिः” (श्वेता.उप.४।१),

“अयमात्मापहतपाप्मा” (छान्दो.उप.८।१।५),

“अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्” (ब्रह्मसू.२।१।२२) इत्यादिबाधः.

तस्मात् तदंशस्य तद्व्यपदेशवाक्यमात्रं स्वीकृत्य शिष्टपरिग्रहार्थं माध्यमिकस्यैव अयम् अपरावतारो नितरां सदिभः उपेक्ष्यः ॥१८॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे एकादशं ज्ञोऽतएव इति अधिकरणम् ॥११॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१९॥ (२।३।१२)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अतः परं जीवस्य शारीरकब्राह्मणे “स वा एष महानज आत्मा” (बृहदा.उप.४।४।३५) इति व्यापकत्वश्रावणात् श्वेताश्वतरे च “आराग्रमात्रो ह्यपरोपि

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

बुद्धेः कर्तृत्वे साङ्ख्यमतप्रवेशः. तस्य च अप्रामाण्यं स्मृत्यनवकाशाधिकरणएव उक्तम् इति भावः. अथवा यत्र बुद्धिकर्तृत्वं तत्र अनादित्वं नास्ति इत्यतो जीवब्रह्मविभागो अनादिः बुद्धिकृतः इति वाक्यमेव अप्रमाणम् इति भावः.

ननु संसारस्य अनादित्वम् आदायैव जीवस्य अनादित्वम् उच्यते इत्यतः आहुः सदेव इति. तथाच अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकस्य ‘एव’कारस्य व्यर्थत्वं स्यात्. किञ्च प्रवाहस्य अनादित्वे ईश्वरस्य कर्तृत्वं न स्याद् इति भावः. मन्मते च विस्फुलिङ्गन्यायेन ब्रह्मणः सकाशाद् व्युच्चरणमेव जीवस्य उक्तौ सादित्वमेव इति ध्येयम्. ‘विस्मृतकण्ठचामीकर’न्यायेन विस्मृतस्वस्वरूपं ब्रह्मैव जीवः इति आशयेन शङ्कते नच इति. परिहरन्ति सर्वेति. नाशाश्रयीभूतां श्रुतिम् आहुः यः सर्वज्ञः इति. सूत्रम् आहुः अधिकन्तु इति. एवञ्च ज्ञानवान् ज्ञानस्वरूपजीवः इति सिद्धम् ॥१८॥११॥

इतः परं जीवस्य अणुत्वस्थापनार्थम् उत्क्रान्त्यधिकरणं आहुः उत्क्रान्ति-गत्यागतीनाम्.

वर्तते इति. पूर्वसूत्राद् इति शेषः. ‘उत्क्रान्ति’ इत्यत्र द्वन्द्वः. षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः. तथा च जीव उत्क्रान्तिगत्यागतिसम्बन्धी अत एव तद्बोधकश्रुतिभ्य एव इति

“अतएव” इति च वर्तते.

“स यदा अस्मात् शच्छरीराद् उत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैः उत्क्रामति, (कौषि.उप.३।३); ये के चास्माद् लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति” (तत्रैव १।२) इति. “तस्माद् लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय कर्मणे” (बृहदा. उप.४।४।६). श्रुत्युक्तानाम् उत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणाद् यथायोग्यं तस्य परिमाणम् अङ्गीकर्तव्यम्. यद्यपि “आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः” (श्वेता. उप.५।८) इति श्रुत्यैव परिमाणम् उक्तं, तथापि बहुवादिविप्रतिपन्नत्वाद् युक्तिभिः साधयति. ब्रह्मवैलक्षण्यार्थम् उत्क्रान्तिपूर्वकत्वम् उक्तम्॥१९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

दृष्टः” (श्वेता.उप. ५।८) इति अणुत्वश्रावणात् सन्देहे जीवस्य परिमाणं विचार्यते. तत्र सूत्रे एकं षष्ठ्यन्तं पदम्. तस्य सम्बन्धः क्वापि न प्रतीयते इति तं बोधयन्ति अतः इत्यादिना कर्तव्यम् इत्यन्तेन. भाष्ये प्रथमं वाक्यं कौशीतकिब्राह्मणे प्रतर्दनाख्यायि-कास्थम्. द्वितीयमपि तत्रैव गार्ग्यायणि-श्वेतकेतुसंवादस्थम्. श्रावणात् जीवे श्रावणात्. तथाच श्रुतितएव उत्क्रान्तिगत्यागतीनां जीवे श्रावणात् तद्योग्यमेव जीवस्य परिमाणम् अङ्गीकार्यम् इति अर्थः. सूत्रार्थस्तु जीवात्मा उत्क्रान्तिगत्यागतिसम्बन्धी वर्तते अतएव तादृशार्थबोधकश्रुतिभ्यएव इति बोध्यः. अधिकरणप्रयोजनम् आहुः यद्यपि इत्यादि. सूत्रे ‘उत्क्रान्ति’शब्दः प्रथमं किमर्थम् उक्तः? इत्यतः आहुः ब्रह्म इत्यादि. “आसीनो दूरं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रार्थः. अत्र जीवस्य “यो अयं विज्ञानमयः प्राणेषु” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति वाक्येन व्यापकत्वम्, “आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः” (श्वेता.उप.५।८) इति वाक्येन अणुरूपत्वं बोध्यते इति सन्देहः व्यापकः इति पूर्वपक्षे अणुरूपः इति सिद्धान्तज्ञापनार्थं श्रुतित्रयम् आहुः सः यदा इति. वाक्यद्वयं कौषीतकिब्राह्मणे, तृतीयं बृहदारण्ये शारीरब्राह्मणे. तथाच एतद्वाक्यत्रयेण जीवस्य उत्क्रान्तिगत्यागतीनां क्रमेण बोध्यम् इति भावः. ननु इदम् अधिकरणं न कर्तव्यम्, “आराग्रमात्रः” इति श्रुत्यैव अणुत्वनिश्चयाद् इति आशयेन शङ्कते यद्यपि इति. समाधानम् आहुः तथापि इति. युक्तिभिः इति. श्रुत्युक्तयुक्तिभिः. साधयति सूत्रकारः इति शेषः. सूत्रे प्रथमम् ‘उत्क्रान्ति’पदम् उक्तं, तस्य प्रयोजनम् आहुः ब्रह्म इति. सर्वत्र श्रुतौ प्रतीयमानायाः उत्क्रान्तेः प्राणधर्मत्वाद् न ब्रह्मधर्मत्वम् इत्यतो वैलक्षण्यम् इति अर्थः. नच शरीरे ब्रह्मणोऽपि प्रवेशः श्रूयते इत्यतो जीवधर्मस्य उत्क्रान्त्यादिकस्य तत्रापि सत्त्वाद् न वैलक्षण्यम् इति वाच्यम्. तस्य शरीरे

स्वात्मना चोत्तरयोः॥२०॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनां सम्बन्धे इन्द्रियादिभिः परिष्वङ्गोऽपि अस्ति. ततः सन्देहोऽपि भवेत्. किम् उपाधितः एतेषां सम्बन्धो भवेत् स्वतो वा? इति. उत्तरयोः गत्यागत्योः, स्वात्मना केवलस्वरूपेण, “ऊर्णनाभिः यथा तन्तून् सृजते सञ्चरत्यपि, जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः” ब्रह्मोपनिषत्. “अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य” (छान्दो.उप.६।३।२), “ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६), “कामरूप्यनुसञ्चरन्” (तैत्ति.उप.३।१०) इति वा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्रजति” (कठोप.१।२।२०) इति ब्रह्मणोऽपि गतेः उक्तत्वात् तद्वैलक्षण्यं गतौ बोधयितुं प्रथमम् उक्तः इति भावः॥१९॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः उत्क्रान्तीत्यादि. उपाधितः जीवे उपाधिकृतः. एतेषाम् उत्क्रान्त्यादीनाम्. एवं शङ्कायां सूत्रम् आह इति शेषः. समाधानम् आहुः उत्तरयोः इत्यादिना. तत्र उपष्टम्भिकां श्रुतिम् आहुः “ऊर्णनाभिः” (बृहदा.उप.२।१।२०) इति. आद्या आथर्वणे प्रसिद्धा. द्वितीया छान्दोग्ये. तृतीया बृहदारण्यके. उक्तव्याख्याने

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रवेशस्तु “गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ” इति अधिकरणे प्रतिपादितत्वेऽपि जीवस्यापि तत्र प्रवेशात् तस्यैव सः धर्मः इति भावः॥१९॥

अतएव इति अनुवर्तते. सूत्रप्रयोजनम् आहुः उत्क्रान्त्यादिना स्वतो वा इति अन्तेन. सम्बन्धे इति. एतेषां त्रयाणां जीवे सम्बन्धे स्वीक्रियमाणे सति इति अर्थः. अस्ति इति. पारलौकिकभोगार्थम् इति शेषः. संशयमूलं प्रदर्श्य संशयं दर्शयन्ति ततः इति. एवं सन्देहे सूत्रप्रवृत्तिं सूचयितुं सूत्रार्थं विशदयन्ति उत्तरयोः इति. एवञ्च स्वतएव गत्यागतिसम्बन्धी जीवः इति एककोटिनिश्चयः श्रुतिभ्यएव इति भावः. अत्र प्रमाणीभूताः श्रुतिरेव आहुः ऊर्णनाभिः इति. अत्र जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वयं प्रदर्शितम्. इयं कारिका अथर्वणस्था. छान्दोग्यस्थवाक्यम् आहुः अनेन इति. अत्र जन्मावस्था प्रदर्शिता. बृहदारण्यस्थम् आहुः ब्रह्माप्येति इति. “अथ यो मोक्षः सुषुप्तिरपि” इति अवस्थाद्वयम्. तैत्तिरीयस्थम् आहुः कामरूपीति. सर्वत्र संसारावस्था प्रदर्शिता. एतासु षडवस्थासु स्वतः उपाधिरहितस्य केवलसाक्षिणएव सत्त्वाद् जीवो अणुरेव इति भावः. ननु पूर्वसूत्रे उत्क्रान्तिसम्बन्धेन जीवस्य अणुत्वम् उक्तं, तद् न सम्भवति, उत्क्रान्तौ स्वतस्त्वाभावाद् इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. न अणुत्वम् इति. पूर्वसूत्रेण

अथवा उत्क्रान्तिगत्यागतीनां जीवसम्बन्धएव बोध्यते, न अणुत्वम्. **स्वात्मना च उत्तरयोः** इति अणुत्वम्. “अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्” (महाभा.३।२९।१७) इति, उत्क्रमे गत्यतिरिक्ते स्वातन्त्र्याभावात्. स्वात्मना जीवरूपेण ‘च’काराद् इन्द्रियैश्च गत्यागत्योः सम्बन्धी जीवः इति अर्थः. अतो मध्यमपरिमाणम् अयुक्तमिति अणुरेव भवति॥२०॥

न अणुः अतच्छ्रुतेः इति चेद् न इतराधिकारात्॥२१॥

जीवो न अणुः भवितुम् अर्हति. कुतः? **अतच्छ्रुतेः** अणुत्वविपरीत-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रस्थ ‘च’कारवैयर्थ्यम् इति अरुच्या प्रकारान्तरेण सूत्रद्वयव्याख्यानम् आहुः **अथवा** इत्यादि. तत्र पूर्वसूत्रे षष्ठ्यन्तपदमात्रप्रयोगाद् उक्तश्रुतिभ्यो ज्ञस्य उत्क्रान्तिगत्यागति-मात्रधर्मो बोध्यते. द्वितीये तु ज्ञःश्रुतिभ्यएव इत्यनेन **स्वात्मनापि उत्तरयोः** गत्यागत्योः सम्बन्धी इति अणुत्वं बोध्यते. तद् उपपादयन्ति अङ्गुष्ठेत्यादि. तथाच उक्तस्मृत्या मध्यमपरिमाणत्वेन बोधितस्य “अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः बुद्धेर्गुणेन” (श्वेता.उप.५।८) इति श्रुत्युक्तबुद्धिगुणवैशिष्ट्यप्रतीतेः गत्यतिरिक्ते उत्क्रमे स्वतो गतिसम्बन्धित्वाभावात् तद्व्यतिरिक्ते “अनेन जीवेन आत्मन अनु-प्रविश्य” (छान्दो.उप.६।३।२), “ब्रह्मा अप्येति” (तैत्ति.उप.३।१०), “कामरूपी अनुसञ्चरन्” (बृहदा.उप.४।४।६) इति वा इति ब्रह्मोपनिषदाद्युक्तस्थले **स्वात्मना** जीवरूपेण चकाराद् इन्द्रियैश्च यथासम्भवं गत्यागत्योः सम्बन्धी जीवः इति अर्थो भवति. अतः इन्द्रिय सम्बन्धेनापि क्रियाकरणात्. **अणुरेव** वस्तुतो अणुरेव॥२०॥

ननु ‘विज्ञानमय’शब्दो अन्यत्र जीवपरः श्रुतः इति कथम् अस्य

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अणुत्वं न बोध्यते इति अर्थः. **अणुत्वम्** इति. बोध्यते इति शेषः. ननु जीवस्य उत्क्रान्तौ स्वतस्त्वं कुतो नास्ति? इत्यतः प्रमाणम् आहुः **अङ्गुष्ठम्** इति. उत्तरसूत्रार्थम् आहुः **स्वात्मना** इति. अतः इति. अस्मिन् सूत्रे ‘स्वात्मना’ इति पदेन केवलयोः गत्यागत्योः जीवस्य स्वतस्त्वोक्तत्वाद् इति अर्थः. **मध्यमपरिमाणम्** इति. पूर्वसूत्रोक्तम् इति शेषः॥२०॥

सूत्रांशेन जीवे विभुत्वम् आशङ्क्य निराकुर्वन्ति **जीवः** इति. कुत्र श्रूयते? इत्यतः आहुः **स वा** इति. इदं बृहदारण्यस्थं, “यो अयम्” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति कौषीतकिब्राह्मणस्थम्. समाधानम् आहुः **इतरेति. तस्य अधिकारे** इति. ब्रह्मप्रकरणे इति

व्यापकत्वश्रुतेः. “स वा एष महानज आत्मा यो अयं विज्ञानमयः” (बृहदा.उप. ४।४।२२) इति चेद्, न, इतराधिकारात्. इतरः परं ब्रह्मा तस्य अधिकारे “महानज” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति वाक्यं प्रकरणेन शब्दाश्च नियम्यन्ते. अन्यपरापि योगेन ब्रह्मपरा भविष्यन्ति॥२१॥

‘स्व’शब्दोन्मानाभ्यां च॥२२॥

“स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भाषा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति” (बृहदा.उप.४।३।९) इति ‘स्व’शब्दो अणुपरिमाणं जीवं बोधयति. न हि स्वप्ने व्यापकस्य वा शरीरपरिमाणस्य वा विहरणं सम्भवति. “बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु, भागो जीवः सः विज्ञेयः” (श्वेता.उप.५।९) इति,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मप्रकरणत्वम्? इत्यतः आहुः प्रकरणेन इत्यादि. तथाच ‘विज्ञानमय’शब्दो अन्यत्र जीवपरोऽपि अत्र विज्ञानप्राचुर्यं बोधयन् ब्रह्मपरएव अवसेयः॥२१॥

‘स्व’शब्दः आत्मवाचकः शब्दः. उन्मानं स्वयम् उद्यम्य कार्यकरणम्. तथाच एताभ्यामपि जीवो अणुः इति अर्थः. ‘च’कारः पूर्वसूत्रोक्तहेतुसमुच्चयार्थः. आगतिदर्शनं ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तं “सन्ध्यन्तृतीयं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन् उभे

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. तथाच पूर्वं वाक्यं सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः भेदेन इत्यत्र व्युत्पादितम्, अपरमपि ब्रह्मप्रकरण एव. ननु ‘विज्ञानमय’शब्दो जीवपरः कुतो न? इत्यतः आहुः प्रकरणेन इति. ब्रह्मप्रकरणे पठिता ब्रह्मपराएव इति नियम्यन्ते इति अर्थः. अन्यपरा इति. जीवपरा इति अर्थः. योगेन इति. विज्ञानप्रचुरः विज्ञानमयः इति योगेन इति अर्थः. भविष्यन्ति इति. जीवे विज्ञानप्राचुर्याभावात् तत्परविज्ञानप्राचुर्यशब्दाः न भविष्यन्ति इति अर्थः. नच “विज्ञानमयः प्राणेषु” इति उक्तं प्राणे जीवस्य विद्यमानत्वाद् जीवपरः इति वाच्यम्. “प्राणेषु तिष्ठन्” (बृहदा.उप.३।७।१६) इति बृहदारण्ये ब्रह्मपरत्वाद् अत्रापि तथा॥२१॥

स्वशब्दश्च उन्मानं च, ताभ्यां च अणुत्वसिद्धिः इति अर्थः. तत्र ‘स्व’शब्दस्य बृहदारण्ये स्थानम् आहुः स्वयम् इति. वस्त्वन्तरम् उदधृत्य पृथक्कृत्य यद् मानं तद् ‘उन्मान’पदवाच्यम्. तद्बोधकवाक्यद्वयं श्वेताश्वतरोपनिषदि पञ्चमाध्याये दर्शयति बालाग्रेति.

सन्धौ इति. “तस्य वा एतस्य”(बृहदा.उप.४।३।९) इत्यादिना बृहदारण्ये ज्योतिर्ब्राह्मणे सन्धिस्थानं तृतीयम् उक्तं, तत्रागतिदर्शनं च जीवस्य स्वप्नप्रबोधयोः

“आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः” (तत्रैव ५।९) इति च उन्मानम्. ‘च’कारात् स्वप्नप्रबोधयोः सन्धौ आगतिदर्शनम् ॥२२॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

अणुत्वे सर्वशरीरव्यापि चैतन्यं न घटतइति विरोधो न भवति, चन्दनवत्. यथा चन्दनम् एकदेशस्थितं सर्वदेहसुखं करोति, महातप्ततैलस्थितं वा तापनिवृत्तिम् ॥२३॥

अवस्थितिवैशेष्याद् इति चेद् नाभ्युपगमाद् हृदि हि ॥२४॥

चन्दने अवस्थितिवैशेष्यं अनुपहतत्वचि सम्यक्तया अवस्थानं तस्मात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्थाने पश्यदिदं च परलोकस्थानं च” (बृहदा.उप.४।३।९) इति ॥२२॥

ननु जीवस्य अणुत्वे जलावगाहादौ सकलशरीरव्यापिशैत्याद्यनुपलब्धिप्रसङ्गः इति आशङ्कायाम् इदं सूत्रम् इति आशयेन व्याकुर्वन्ति अणुत्वे इत्यादि. तथाच एतद्दृष्टान्तेन एकदेशस्थित्वेऽपि सकलशरीरव्यापिशैत्याद्युपलब्धिः सामर्थ्यव्याप्त्या सुघटिता इति अर्थः. इत्थञ्च “ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवी जटा यथा” इतिवत् सकलदेहव्यापिशैत्योपलम्भः इति फलितम् ॥२३॥

ननु चन्दनदृष्टान्तेन सामर्थ्यसाधनम् उक्तः तद् न अत्र युक्तं, चन्दने एकदेशस्थायित्वस्य निश्चितत्वेन तत्र व्यापनसामर्थ्यकल्पनायाः सर्वदेहव्यापिशैत्य-प्रत्यक्षभलेन युक्तत्वाद् जीवेतु शरीरैकदेशस्थायित्वस्य प्रत्यक्षेण अनिश्चयाद् दृष्टान्तवैषम्येण तादृशसामर्थ्यसिद्ध्यभावाद् इति आशङ्कायाम् इदं सूत्रम् इति आशयेन व्याकुर्वन्ति चन्दने इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उक्तं, तेनापि अणुत्वं बोद्धव्यम् इति अर्थः ॥ २२ ॥

अत्र विरोधं निराकर्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति अणुत्वे इति. अत्र दृष्टान्तम् आहुः चन्दनवद् इति. तापनिवृत्तिम् इति. करोति इति पूर्वेण अन्वयः. एकदेशस्थितो जीवः सर्वदेहं व्याप्नोति इति तस्य सामर्थ्यं वर्णितम् ॥२३॥

अत्रापि ‘अविरोधः’ इति अनुवर्तते. दृष्टान्तवैषम्यं सूत्रांशेन आशङ्क्य निराकरोति सूत्रकारः. तं व्याकुर्वन्ति चन्दने इति.

सूत्रस्थानं ‘स्थितिवैशेष्य’पदस्य अर्थम् आहुः अनुपहतेति. अभग्नत्वचि इति अर्थः भवतु इति. सामर्थ्यम् इति शेषः. प्रकृते इति. जीवे प्रत्यक्षेण

त्वच एकत्वात् तत्र भवतु नाम, नतु प्रकृते तथा सम्भवति इति चेद्, न, अभ्युपगमात्. अभ्युपगम्यते जीवस्यापि स्थानविशेषः. हृदि हि. हृदि जीवस्य स्थितिः. “गुहां प्रविष्टौ” (कठोप.१।३।१) इति हि युक्तिः ॥२४॥

गुणाद् वा आलोकवत् ॥२५॥

जीवस्य हि चैतन्यं गुणः. सः सर्वशरीरव्यापी. यथा मणिप्रवेकस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भवतु नाम इति कल्प्यमानं सामर्थ्यं भवतु नाम. नतु इत्यादि प्रत्यक्षेण एकदेशावस्थानस्य अनिश्चयाद् अनुमानेन एकदेशस्थितत्वस्य एकदेशस्थितस्य च सर्वशरीरव्यापिचैतन्यजनकसामर्थ्यस्य चन्दनतत्सामर्थ्यदृष्टान्तेन कल्पनायां विलक्षणसामर्थ्यरूपस्य सामर्थ्यत्वरूपस्य वा हेतोः जीवव्यापकत्वोक्त्यासिद्धत्वाद् नतु इति अर्थः. हृदि इति. “कतमः आत्मा यो अयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः स वा एष आत्मा हृदि” (बृहदा.उप.४।३।७), “हृदेष आत्मा” (प्रश्नोप.३।६) इत्यादिश्रुतेः इति अर्थः. युक्तिः इति ब्रह्मभिन्नत्वेन हृदयप्रवेशे युक्तिः. तथाच चन्दनवद् जीवस्यापि एकदेशावस्थितेः शब्दाद् निश्चये जीवस्य त्वगादिवद् व्यापकत्वस्य वक्तुम् असामर्थ्येन सर्वशरीरव्यापिचैतन्य-जननसामर्थ्यस्य तत्र कल्पनायां न दृष्टान्तवैषम्यम् इति भावः. अत्र पूर्वसूत्राद् ‘अविरोध’पदस्य अनुवृत्तौ हृदि अभ्युपगमाद् अविरोधः इति सूत्रान्वयो बोध्यः ॥२४॥

जीवस्य हि इत्यादि. अत्रापि अविरोधः इति अनुवर्तते. तथाच बहुदेश-व्यापिमणिप्रवेककान्तिवद् आलोकप्रभावच्च जीवस्यापि सर्वशरीरव्यापिचैतन्य-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

स्थानोपलम्भाभावाद् इति अर्थः. अभ्युपगम्यते इति. श्रुत्वा ज्ञायते इति अर्थः. “हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः” (बृहदा.उप.४।३।७) इत्यादिना स्थानमेव आहुः हृदि इति. ननु ब्रह्मणः सर्वत्र व्यापकत्वात् तस्यैव तत्र स्थितिः इति अतो ‘हि’पदप्रयोगेन युक्तिः इति अर्थः ॥२४॥

ननु वैशेषिकमते गुणस्य गुणिमात्रवृत्तित्वं नतु तदतिरिक्तेऽपि तस्य सत्त्वम्, एवञ्च जीवस्य अणुत्वस्वीकारे तदीयचैतन्यगुणः सर्वशरीरव्यापी न स्याद् अतः सूत्रम् उपन्यस्यति गुणाद् वा इति. व्याकुर्वन्ति जीवस्य इति. ‘अविरोधः’ इति अनुवर्तते. सः गुणः. अधिकदेशेऽपि तस्य स्थितिः अस्ति इत्यत्र दृष्टान्तम् आहुः यथा इति. सूत्रे ‘आलोकवद्’ इति च्छेदः. तथाच आलोकवद् मणिप्रकाशवत् सर्वशरीरव्यापि

कान्तिः बहुदेशं व्याप्नोति तद्वत्. प्रभायाः गुणत्वमेव स्पर्शानुपलम्भाद् उदकगतौष्ण्यवत्. नच विजातीयस्य आरम्भकत्वं, प्रमाणाभावात्. लोकप्रतीतिस्तु सर्वैः वादिभिः उपपाद्या. तत्र गुणिकल्पनापेक्षया गुणएव स्थलान्तरः आरभ्यते इति कल्प्यताम्, तथैव लोकप्रतीतेः. पुष्परागादेरपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

गुणवत्त्वाद् अविरोधः इति अर्थः. ननु प्रभादृष्टान्तो अनुपपन्नः, प्रभायाः मणिजनित-द्रव्यान्तरत्वेन गुणत्वाभावाद्. अतः आहुः **प्रभायाः** इत्यादि. तथाच सूर्यादिप्रभायां स्पर्शोपलम्भाद् द्रव्यान्तरत्वं शक्यशङ्कमपि नतु मणिप्रभायाम् इति अर्थः. **उदकगतौष्ण्यवद्** इति. तथाच अतितप्ततैलादौ कदाचित् तेजसः उपलब्धावपि जले कदापि तेजसो अनुपलम्भाद् जले प्रतीतम् औष्ण्यं तेजसो गुणएव नतु तदद्रव्यं तद्वद् इति अर्थः. ननु मास्तु मणेः प्रभारूपद्रव्यजनकत्वं किन्तु मणिना प्रभाजनकं विजातीयं द्रव्यम् उत्पाद्यते तेन च प्रभोत्पद्यते द्रव्यरूपा चिन्तामणिन्यायेन इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. तथाच यदि चिन्तामणिन्यायेन विजातीयद्रव्यात् प्रभारूपं द्रव्यं स्यात् तदा चिन्तामण्यसन्निधाने तदुत्पन्नानां स्थितिर्वद् मण्यसन्निधाने प्रभायापि स्थितिः स्याद्, नतु एवम् अतः प्रमाणाभावः इति अर्थः. **तत्र** मणिप्रभास्थले लोकप्रतीत्युपपादने. ननु प्रभायाः स्वसमवायिकारणतावच्छेदकतेजस्त्वनियतत्वात् कथं पार्थिवे मणौ तदुत्पत्तिः? इत्यतः आहुः **तथैव लोकप्रतीतेः** इति. तथाच सुवर्णरूप्यमृदादिघटेषु घटत्वेन व्यवहारेऽपि मृदादिसमवायिकार्यतावच्छेदकभेदः, कल्पनीयो लोके, गोस्वामिश्रीमदगिरिधरविरचितं विवरणम् अन्यथा व्यभिचारात् चैतन्यगुणाद् अविरोधः इति अर्थः. ननु यथा सूर्यप्रभा सूर्यजनितविरलसजातीयद्रव्यान्तरं तथा मणिप्रकाशः, एवञ्च तत्र गुणत्वाभावः इत्यतः आहुः **प्रभायाः** इति. मणिप्रभायाः इति अर्थः. यदि तत्र द्रव्यत्वं तदा तदीयगुणस्य उष्णस्पर्शस्यापि उपलब्धिः स्याद् इति भावः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः **उदकेति**. उष्णोदकगतोष्णस्पर्शं यथा गुणत्वं तद्वद् इति अर्थः. श्रीप्रकाशकृतस्तु यथा उष्णोदके तेजोरूपानुपलब्ध्या केवलगुणनिश्चयः तथा तस्य स्पर्शानुपलब्ध्या इति प्राहुः. ननु यथा चिन्तामणेः सकाशाद् अनेकपदार्थोत्पत्तिः तथामणिप्रवेकादपि प्रभाख्यं द्रव्यम् उत्पद्यते इति आशङ्कते **नच** इति. निराकुर्वन्ति **प्रमाणाभावाद्** इति. ननु हृदयस्थानुरूपजीवगुणस्य चैतन्यस्य गुणिं विना स्थितिः स्वीक्रियते चेद् रसादीनां तादृशस्थित्यभावाद् लोकप्रतीतिविरुद्धम् इत्यतः आहुः **लोकेति**. **सर्वैः** इति. महत्परिमाणवादिभिः इति अर्थः. मणिप्रभातु मण्यतिरिक्ते स्थले प्रतीयते, तत्र सर्वैः वादिभिः उपपत्तिः कर्तव्या इति भावः. तत्र सर्वसम्मतोपपत्तिम् आहुः **तत्र** इति. मण्यादिस्थले इति अर्थः. **कल्प्यताम्** इति. विशिष्टकल्पनापेक्षया

प्रभारूपमेव तावद्देशं व्याप्नोतीति मणिस्वभावादेव अङ्गीकर्तव्यम्, आरम्भकस्य तेजसः तत्र अभावात्. कान्तिः प्रभा रूपम् इति हि लोके पर्यायः. ‘वा’शब्दो यथालोकं युक्तिः कल्पनीया इति सूचयति. ब्रह्मसिद्धान्ते तु यथैव लोके दृश्यते तथैव ब्रह्मणो जातमिति न कल्पनालेशोऽपि॥२५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कार्यकारणभावएव न सिध्येत् तथा अत्रापि प्रभायां मणितेजोजन्यतावच्छेदकवैजात्य-भेदाङ्गीकाराद् न दोषलेशः इति भावः. प्रभा रूपमेव इति. एवकारेण प्रभायाः द्रव्यत्वं व्यवच्छिद्यते. आरम्भकस्य तैजसप्रभारम्भकस्य. तत्र मणौ. अभावाद् इति. तथाच तेजोजन्यप्रभाविलक्षणैव मणिजन्यप्रभा इति फलितम्. प्रभायाः गुणत्वे कोशसम्पत्तिम् आहुः प्रभा रूपम् इत्यादि. “शोभा कान्तिः द्युतिः छविः” (अम.को.१।३।१७) इति. “स्युः प्रभारुगुचिस्त्विट् भे” (.....) त्यादि. ‘वा’शब्दः इति ‘वा’शब्दः एवकारार्थः. तथाच गुणाद् गुणस्वीकाराद् लोकवदेव अविरोधो अत्र अनुसन्धेयः इति सूत्रार्थः. ब्रह्म इत्यादि. तथाच ब्रह्मैव सकललोकसिद्धकारणरूपं भूत्वा कार्यजातम् उत्पादयतीति न लोकविरोधगन्धोऽपि इति अर्थः॥२५॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विशेषणकल्पनायां लाघवम् इति भावः. तावता उपपत्तिः कथम्? इत्यतः आहुः तथैव इति. मण्यतिरिक्तस्थलेऽपि “मणिप्रभा अत्र अस्ति” इति प्रतीतेः इति अर्थः. ननु द्रव्यम् आदाय प्रतीत्युपपत्तिः भवतु इत्यतः आहुः रूपमेव इति. ननु गुणिं विना रूपं कथं तिष्ठति? इति आशङ्कायाम् आहुः मणिस्वभावाद् इति अर्थः. मणौ अभावाद् इति श्रीप्रकाशकृतः. ननु प्रभायां तेजस्त्वं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः कान्तिः इति. एवञ्च प्रभायाः रूपपर्यायत्वाद् गुणत्वमेव इति भावः. श्रीप्रकाशकृद्भिस्तु सूत्रं लोकवद् गुणाद् अविरोधः इत्यपि व्याख्यातं, परन्तु श्रीचरणैः तथा न उक्तम् इति बोध्यम्. लोकम् उपमर्द्य युक्तिः न कल्पनीया इत्यत्र सूत्रसम्पत्तिम् आहुः वा शब्दः इति. ननु लोके सजातीयस्य सजातीयादेव उत्पत्तिः दृश्यते, ब्रह्मतु पृथिव्यादिकार्यापेक्षया सच्चिदानन्दरूपं विजातीयमेवेति कथम् अत्र लोकानुसरणम्? अतः आहुः ब्रह्मसिद्धान्ते तु इति. ब्रह्मणैव सर्वकारणम् इति सिद्धान्ते तु इति अर्थः. यथैव इति. लोके यस्माद् येन प्रकारेण यस्य उत्पत्तिः दृश्यते इति अर्थः. तथैव इति. तेनैव प्रकारेण तद्भावापन्नाद् ब्रह्मणः सकाशात् तत्कार्यजातम् उत्पन्नम् इति अर्थः. ब्रह्मतु कारणीभूतं यत् तद्भावापन्नं जातं चेत् तत्सजातीयं जातम् इति भावः. इदं च तेजोऽधिकरणे इदानीमेव प्राग् उक्तम् इति॥२५॥

व्यतिरेको गन्धवत्॥२६॥

सिद्धं दृष्टान्तम् आह. यथा चम्पकादिगन्धः चम्पकव्यवहितस्थलेऽपि उपलभ्यते. वेदोक्तत्वाद् अस्य दृष्टान्तत्वं “यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति” (महाना.उप.८।२) इति. अन्यथा-कल्पनातु अयुक्ता इति अवोचाम॥२६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु गुणस्य स्वसमवाय्यतिरिक्तवृत्तित्वं न क्वापि दृष्टमिति कथं गन्धव्यतिरेकोपपत्तिः इत्यतः आहुः सिद्धम् इत्यादि. सिद्धं लोकवेदोभयसिद्धम्. तथाच व्यतिरेकः जीवचैतन्यमणिप्रभयोः स्वाश्रयाधिकदेशप्रकाशकत्वाद् वृत्तित्वम् उरीकार्यं यथा चम्पकगन्धस्य इति लोकवेदानुसारेण स्वीकार्यम् इति सूत्रार्थः. लोकदृष्टान्तं विवृण्वन्ति ‘यथा’ इत्यादि. नच तत्रापि चम्पकावयवाएव आयान्ति, नतु गन्धः, तत्र क्रियाभावाद् इति चेद्, न, वेदे तन्मात्राभ्यएव पञ्चभूतोत्पत्तेः रूपादितन्मात्रास्वेव पृथिव्यादिपञ्चकलयस्य च श्रावणाद् गन्धेऽपि द्रव्यत्वेन क्रियासम्भवात्. अवयवागमने पूर्वपुष्पनाशः पूरकादृष्टेन अवयवान्तरैः पुनरुत्पादनम् इत्यादिनिर्मूलयुक्तिगौरवम् अपेक्ष्य वेदोक्तक्रियावत्वस्यैव पुष्पगन्धे अङ्गीकारो लघुः समूलश्चेति सएव आदर्तव्यः. नच एवं चम्पकरूपरसादीनाम् अन्यत्र गत्यापत्तिः इति वाच्यम्. आरोपे सति निमित्तानुसरणं नतु निमित्तम् अस्ति इति आरोपः इतिरीत्या सति दूषणे समाधानं नतु समाधानानुरोधाद् दूषणारोपोऽपि साम्प्रदायिकः इति हृदिकृत्य आहुः अन्यथा इत्यादि॥२६॥

चैतन्यगुणत्वे प्रमाणं दर्शयितुम् इदं सूत्रम् इति आशयेन उपन्यस्य विवृण्वन्ति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

व्यतिरेको गन्धवत्. इदानीं गुण्यतिरिक्तदेशवृत्तित्वं गुणस्य अस्ति इत्यत्र दृष्टान्तम् आहुः व्यतिरेकः इति. सूत्रार्थम् आहुः सिद्धम् इति. आगोपालाङ्गनाम् च पण्डितं दूराद् अमुकपुष्पस्य अयं गन्धो वाति इति लोकप्रतीतिसिद्धम्. गन्धवद् इति. दृष्टान्तम् आह इति अर्थः. श्रीप्रकाशकृद्भिस्तु लोकवेदसिद्धम् इति उक्तं तत्तु श्रीमदाचार्यचरणैरेव वेदोक्तत्वाद् इति उक्तमिति तादृशव्याख्याने पुनरुक्तिः दोषः. उपलभ्यते इति. यथा गन्धः तथा चैतन्यप्रभापि इति अर्थः. ननु वायौ शीतस्पर्शादि-गुणान्तरं विहाय गन्धस्य दृष्टान्ततत्त्वं किमर्थम्? अतः आहुः वेदोक्तत्वाद् इति. अस्य गन्धस्य. ननु कुत्र वेद उक्तम्? अतः आहुः यथा इति. तैत्तिरीये. ननु यावत्पर्यन्तं गन्धो वाति तावत्पर्यन्तं चम्पकावयवानामपि प्रसर्पणं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः अन्यथा इति. अवोचाम इति. पूर्वसूत्रे इति शेषः. ननु अस्माकं मते गुणः स्वाश्रयं विना नैव तिष्ठति,

तथा च दर्शयति॥२७॥

हृदयायतनत्वम् अणुपरिमाणत्वञ्च आत्मनो अभिधाय तस्यैव
“आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः” (कौषि.उप.४।१९) इति चैतन्येन गुणेन समस्त-
शरीरव्यापित्वं दर्शयति॥२७॥

पृथगुपदेशात्॥२८॥

“प्रज्ञया शरीरं समारुह्य” (कौषि.उप.३।६) इति करणत्वेन पृथग्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

हृदयायतनेत्यादि. एतद् विषयवाक्यं कौशीतकिब्राह्मणे. तत्र हि “तं ह उवाच
अजातशत्रुयः यथा एष एतद्बालाके पुरुषो अशयिष्ट यत्र एतद् अभूद् यत एतद्
आगाद्” (कौषि.उप.४।१८) इति प्रतिज्ञाय “हिता नाम पुरुषस्य नाड्यो हृदयात्
पुरीततं अभिप्रतन्वन्ति तद् यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्वः” (तत्रैव)
इत्यादिना नाडीषु अणुत्वं प्रतिपाद्य “तस्यैव हृदयायतनस्य अणोः आत्मनः सएष
प्राणएव प्रज्ञात्मा इदं शरीरम् आत्मानम् अनुप्रविष्ट आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः” (तत्रैव
१९) इति प्रज्ञात्मत्वोक्तिपूर्वकं प्राप्तिबोधनात् चैतन्यं गुणएव इति अर्थः. गुणस्यैव च
व्याप्तिः अन्यथा अणोः व्यापकत्वासम्भवः ॥२७॥

ननु “शरीरं समारुह्य” (कौषि.उप.३।६) इति जीवस्यैव समारोहणदर्शनाद्
विरुद्धधर्मश्रवणाद् जीवस्यैव व्याप्तिसामर्थ्यम् अस्तु नतु चैतन्यस्य इत्यतः आहुः श्रुतिं
प्रज्ञया इत्यादि. करणत्वेन व्याप्तिं प्रति करणत्वेन. पृथगुपदेशात् जीवापेक्षया

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

गुणभानान्यथानुपपत्त्या पुष्पावयवाः गन्धाश्रयत्वेन कल्प्यन्ते इति एतादृशकल्पनायाः
अन्यथात्वं नास्ति इति चेद्, न, चर्मपुट-संवेष्टित-मृगमदः अवयवनिर्गमासम्भवेऽपि
गन्धोपलब्धेः गुणस्य गुण्यतिरिक्तवृत्तित्वं नास्ति इति नियमानङ्गीकारात्. अधिकन्तु
श्रीप्रभुचरणैः विद्वन्मण्डने जीवाणुत्ववादे च विस्तरेण उक्तमिति अत्र विरम्यते ॥२६॥

ननु अस्तु गुणस्य तथात्वं, चैतन्यस्यतु गुणत्वाभावाद् न इयं युक्तिः इत्यतः
सूत्रम् आहुः तथाच इति. सूत्रं विवृण्वन्ति हृदयेति. अभिधाय इति. कौषितिकिब्राह्मण
इति शेषः. तस्यैव आत्मनएव. दर्शयति इति. तथाच पूर्वम् आत्मनो अणुत्वम् उक्तं,
पश्चात् चैतन्यगुणेन शरीरव्याप्तिः उक्तेति चैतन्यस्य गुणत्वमेव ॥२७॥

ननु ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य घण्टाघोषाद् अणुत्वं व्यापित्वं च उभयमपि
सम्भवतीति न चैतन्यस्य गुणत्वम् अतः आहुः पृथग् इति. विवृण्वन्ति प्रज्ञया इति. इदं

उपदेशात् चैतन्यं गुणः॥२८॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्

इति द्वादशम् अधिकरणम्॥१२॥

तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्॥२९॥ (२।३।१३)

ननु “तत्त्वमस्या” (छान्दो.उप.६।१।४) दिवाक्यैः परमेव ब्रह्म जीव इति कथम् अणुत्वम्? इति इमाम् आशङ्कां निराकरोति ‘तु’ शब्दः. तस्य ब्रह्मणो गुणाः प्रज्ञाद्रष्टृत्वादयः तएव अत्र जीवे सारा इति जडवैलक्षण्यकारिणः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पृथगुपदेशात्॥२८॥१२॥

तुशब्दस्य शङ्कानिरासार्थत्वात् तद्व्यख्यानमुखेनैव सूत्रप्रयोजनं वदन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति ननु इत्यादि. ननु जीवाणुत्वविषयिणी विप्रतिपत्तिः तदा निवर्तते यदि जीवस्य ब्रह्मणः सकाशाद् भेदः स्यात्. सएवतु न सम्भवति छान्दोग्ये “ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्” (छान्दो.उप.६।८।७) इति सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वम् उक्त्वा अग्रे “स आत्मा तत्त्वमसि” (तत्रैव) इति सर्वस्माद् भिन्नतया त्वम्पदार्थस्य “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतिशतैः ब्रह्मत्वं सिद्धम् अतः कथम् अणुत्वं जीवस्य? इति इमाम् आशङ्कां परिहरति इति अर्थः. परिहारप्रकारम् आहुः तथा इत्यादिना. प्रज्ञाद्रष्टृत्वादयो ब्रह्मणि श्रुतिसिद्धाः. तथाहि “प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी” (श्वेता.उप.४।१८) इति श्वेताश्वतरे प्रसिद्धम्. गार्गीब्राह्मणे “एतद्वा अक्षरं गार्गी अदृष्टं दृष्टश्रुतं श्रोत्रम् अमृतम् अमन्त्रविज्ञातं विज्ञात्रि” (बृहदा.उप.३।८।११) त्यादि. तएव अत्र जीवे सारा इति इन्द्रप्रतर्दनसंवादे “प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामानि आप्नोति प्रज्ञया प्राणं समारुह्य सर्वान् गन्धान् आप्नोति” (कौषी.उप.३।६) इत्यादौ बोध्यम्. जडवैलक्षण्यकारिणः एतएव जडवैलक्षण्यस्य प्राधान्याद् जीवे

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

च वाक्यं कौषीतकिब्राह्मणे. पृथग् इति. प्रज्ञायाः इति शेषः॥२८॥

शङ्कानिर्वर्तकम् इदं सूत्रम् इति दर्शयितुं प्रथमतः शङ्काम् आहुः ननु इति. तत्त्वमस्यादीति. आदिपदेन “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादि-वाक्यं संगृहीतम्. जीवः इति. नीलोत्पलवद् अभेदः इति अर्थः. कथम् इति. ब्रह्मणः श्रुतिषु व्यापकत्वश्रवणाद् इति भावः. तुशब्दसूचितपरिहारार्थकसूत्रांशव्याख्यानम् आहुः तस्य इति.

इति अमात्ये 'राज'पदप्रयोगवद् जीवे भगवद्व्यपदेशः. "मैत्रेयी" (बृहदा. उप.२।४)ति सम्पूर्णे ब्राह्मणे भगवत्त्वेन जीवः उक्तः.

ननु कथम् अन्यस्य अन्यधर्मवत्त्वेन कथनम्? न हि निरूपणस्थलएव उपचारः सम्भवति. तत्र आह प्राज्ञवत्. "तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परि-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सम्पादकाः. अन्यथा पदार्थत्वब्रह्मत्वांशत्वानां सर्वत्र तुल्यत्वात् केन जडवैलक्षण्यं स्याद् इति भावः. गौण्या जीवे भगवद्व्यपदेशस्थलम् आहुः मैत्रेयी इति. द्वितीयमैत्रेयी-ब्राह्मणे ब्रह्मत्वेन जीवएव उक्तो ननु ब्रह्मैव इति. इदं च वाक्यान्वयाधिकरणस्य विषयवाक्यम्. तत्र च "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (बृहदा.उप.२।४।५) इति जीवम् उपक्रम्य अग्रे च तद्विज्ञानार्थं सर्वस्य तदात्मत्वकथनेन वेदादीनां तन्निःश्वासत्वकथनादिना च ब्रह्मधर्माणां तत्र बोधनाद् भगवत्त्वेन जीवएव उक्तः तत्र यथा वाक्यान्वयेन हेतुना प्रतिज्ञासिद्ध्यादिभिः च उपक्रमम् अनादृत्य ब्रह्मवाक्यत्वस्थापनाद् व्यपदेशपक्षएव स्वीकृतः तथा "तत्त्वमसि" (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यत्र 'तत्'पदेऽपि अङ्गीकर्तव्यम् इति अर्थः. शङ्कन्ते ननु कथम् इत्यादिना. अन्यस्य जीवस्य. अन्यधर्मत्वेन ब्रह्मधर्मत्वेन. निरूपणस्थलएव जीवब्रह्मणोः भेदनिरूपणस्थलएव. तत्र आह निरूपणस्थलएव आह

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रज्ञा इति. गार्गीब्राह्मणे सर्वत्र प्रसिद्धाः. साराः मुख्याः. ब्रह्मांशस्य जडेऽपि सत्त्वाद् अतः आहुः जडेति. गौण्या वृत्त्या व्यपदेशः इति सूचयितुम् आहुः अमात्ये इति. ननु कुत्र उक्तो अयं व्यपदेशः? इत्यतः आहुः मैत्रेयी इति. इदं च सर्वं वाक्यान्वयाधिकरणे स्पष्टम् उक्तं प्राक्. अत्र सूत्रोक्तं दृष्टान्तम् अवतारयन्ति ननु इति. ननु एतादृशकथनं कुत्रचित् क्रियते स्तुतौ इत्यतः आहुः न हि इति. तथाच लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारक-ज्ञानजनकशब्दप्रयोगो हि निरूपणपदार्थः. तत्र असाधारणधर्मवत्त्वं लक्षणम् एवञ्च अन्यधर्मत्वेन कथने निरूपणमेव न सम्भवति इति भावः. निरूपणस्थलेऽपि उपचारः प्रमाणसिद्धः इत्यत्र दृष्टान्तम् आहुः प्राज्ञवद् इति. ननु कुत्र प्रमाणसिद्धः इत्यतो बृहदारण्ये शारीरकब्राह्मणस्थम् वाक्यम् आहुः "तद् यथा प्रियया" इति. अत्र जीवस्य जाग्रत्स्वप्नावस्थावर्णनोत्तरम् "अथ यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते" (बृहदा.उप.४।३।१९) इत्यादिना सुषुप्तिकालीन-जीवस्वरूपनिरूपणोत्तरम् उक्तं "तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् एवमेव अयं शारीरः आत्मा प्राज्ञेन

ष्वक्तः” (बृहदा.उप.४।३।२१) इत्यत्र “एवमेव अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः” (तत्रैव) इति अभिधाय प्राज्ञस्वरूपम् आह “तद्वा अस्यैतदति-च्छन्दो अपहतपाप्मा अभयं रूपमशोकान्तरमत्र पिता अपिता भवति” (बृहदा.उप.४।३।२१) इत्यादि. प्राज्ञश्च सुषुप्तिसाक्षी. नहि तस्य अपहतपाप्मत्वम् अस्ति, ब्रह्मलिङ्गात्. एवमेव शारीरस्यापि जीवस्य ब्रह्मधर्मबोधिकाः श्रुतयः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति अर्थः. “तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इति जीवब्रह्मणोः भेददृष्टान्तनिरूपणावसरे “एवमेव अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः” (तत्रैव) इति जीवप्राज्ञयोः भेदम् अभिधाय “कः प्राज्ञः आत्मा?” इति आकांक्षायां प्राज्ञस्वरूपम् आह “तद्वा अस्य एतदतिच्छन्दोपहत-पाप्मा” (तत्रैव) इत्यादिना. अत्र अस्य रूपम् इत्यनेन परमेश्वरस्य रूपान्तरं प्राज्ञः इति अर्थः सिध्यति नतु परमपुरुषएव प्राज्ञः इत्यत्र निरूपणावसरएव दृष्टान्तएव रूपव्यपदेशेन जीव-ब्रह्मणोः भेदनिरूपणं श्रुतौ कृतम्. न हि तस्यापहतपाप्मत्वम् अस्ति इति न हि आगन्तुकब्रह्मधर्मरूपापहतपाप्मत्वातिरिक्तं प्राज्ञे स्वतोपहतपाप्मत्वम् अस्ति इति अर्थः. नच ब्रह्मधर्मलिङ्गात् प्राज्ञः परमात्मैव आस्ताम् इति वाच्यम्. “प्रणवस्य चत्वारः पादा. विश्वो वैश्वानरः प्रथमः, तैजसो हिरण्यगर्भोद्वितीयः, प्राज्ञः ईश्वरस्तृतीयः,

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आत्मना सम्परिष्वक्तः” (तत्रैव ४।३।२१) इति वाक्यं, तद् अभिधाय इति अर्थः. तदनन्तरं प्राज्ञस्वरूपं किम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः तद्वा इति. प्राज्ञस्तु जीवभिन्नः सुषुप्तिसाक्षी ब्रह्मांशः परमेश्वरस्य रूपान्तरम्. तथाच उक्तं नृसिंहोत्तरतापनीये “विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः, प्राज्ञ ईश्वरः तृतीयः ईश्वरग्रामः तुरीयः” (नृसिंहोत्त.उप.१) इति. एतादृशेन प्राज्ञेन सुषुप्तौ सम्परिष्वक्तो जीवः. एवञ्च दृष्टान्ते प्राज्ञः. अन्यधर्मत्वेन कथनं विचारयन्ति प्राज्ञश्च इति. सुषुप्तिसाक्षी जीवभिन्नो ब्रह्मांशः इति अर्थः. एतेन ब्रह्म ‘प्राज्ञ’पदवाच्यम् अत्र न भवति इति सूचितम्. इदं च विस्तरेण प्रकाशे उक्तम्. ननु कुतो नास्ति? इत्यतः आहुः ब्रह्म इति. भावप्रधाननिर्देशं कृत्वा तस्य ब्रह्मलिङ्गत्वाद् इति अर्थः. एवमेव इति. यथा दृष्टान्ते प्राज्ञे ब्रह्मधर्मव्यपदेशः एवं कुत्रचिद् ब्रह्मधर्मेण जीवोऽपि श्रुतौ निरूपितः इति भावः. प्राज्ञवद् इति दृष्टान्तसूत्रे ब्रह्मप्राज्ञभेदः श्रीमदाचार्यचरणैरेव विचारितः इति बोध्यम्. श्रुतयः इति. माण्डूक्यादिश्रुतयः इति अर्थः.

इदम् अत्र वक्तव्यम्. सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मज्ञानं परमपुरुषार्थसाधनमिति तन्निर्णयार्थं भगवान् व्यासः सूत्राणि चकार. तत्र ब्रह्मसूत्रे विचारं प्रतिज्ञाय जगत्कर्तृत्वाद्यसाधारणलक्षणं ब्रह्मणः प्रतिज्ञाय समन्वयनिरूपणे जीववाक्यानि दूरीकृत्य अविरोधेऽपि, ऐक्येऽपि अहिताकरणादिदोषम् आशङ्क्य, “अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्” (ब्रह्मसू.२।१।२२) इति परिहृत्य जीवस्य अणुत्वम् उपचाराद् ब्रह्मत्वम् अंशत्वं पराधीनकर्तृत्वादिकं प्रतिपाद्य तस्यैव दक्षिणमार्गेण पुनरावृत्तिम् उक्त्वा ससाधनेन ब्रह्मज्ञानेन अर्चिरादिद्वारा ब्रह्मप्राप्तिम् उक्त्वा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ईश्वरग्रासस्तुरीयः स्वराइ” (नृसिंहोत्त.१) इति प्राज्ञस्य ब्रह्मपादेषु गणनात् परब्रह्म-त्वासम्भवात्.

ननु सूत्रे ‘तत्’पदद्वयं वर्तते. तत्र पूर्व‘तत्’शब्देन उपाधिः परामृश्यते, द्वितीयेन अणुत्वम् इति जीवे उपाधिकृताणुत्वगुणाद् उपाधिगुणसारत्वाद् उपाधिव्यपदेशः उत तत्पदद्वयेन ब्रह्मैव पराम्रष्टव्यम् इति ब्रह्मगुणसारत्वाद् जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेशः इति वा अर्थः इति कथम् अत्र निश्चयः? इत्यतः आहुः इदम् इत्यादिः. सूत्रे यद् अस्माभिः व्याख्यातं तदेव व्यासाभिप्रेतम्. तत्र हेतुम् आहुः सर्वोपनिषत्सु इत्यादि योजितवान् इत्यन्तम्. चतुर्वेदोक्तासु उपनिषत्सु “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१), “तमेवं विद्वानमृत इह भवति” (तत्रैव), “तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति नान्यः पन्था विद्यतेयनाय” (श्वेता.उप.३।८), इत्यादिजातीयवाक्यदर्शनात्. ब्रह्मज्ञानं पुरुषार्थ-साधनम् इति अर्थः. तन्निर्णयार्थं ब्रह्मनिर्णयार्थम्. ब्रह्मसूत्रे “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इति सूत्रे. तस्यैव जीवस्यैव.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु परेषां मते श्रुतिसूत्राणां व्याख्यानम् अन्यथा दृश्यते इत्यतः तत्र सतां विचारानुज्ञानार्थं प्रथमतः स्वमतम् आहुः इदम् अत्र इत्यादिना योजितवान् इत्यन्तेन. सर्वेति. “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यादिषु. तत्र अनेकसंशयानां सत्त्वम् अतः आहुः तन्निर्णयार्थम् इति. ब्रह्मसूत्रे “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” (ब्रह्मसू. १।१।१) इति सूत्रे. समन्वयेति. प्रथमाध्याये इति अर्थः. अविरोधे इति. द्वितीयाध्यायेऽपि इति अर्थः. प्रतिपाद्य इत्यनेन अन्वयः. तस्यैव इति. जीवस्यैव इति अर्थः. ससाधनेन इति. अनेन तृतीयाध्यायार्थः सूचितः. “न सः पुनः” (छान्दो.उप. ८।३।१) इत्यनेन फलाध्यायः सूचितः. योजितवान् इति. व्यासः इति पूर्वेण अन्वयः.

“न स पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।३।१) इति अनावृत्तिं वदन् शास्त्रपर्यवसानेन सर्वान् वेदान्तान् अव्याकुलतया योजितवान्.

तत्र कश्चित् तद्व्यपदेशेन प्रोक्तानि ‘तत्त्वमस्या’ दिवाक्यानि स्वीकृत्य जीवमात्रं च ब्रह्म स्वीकृत्य तदतिरिक्तस्य सर्वस्य कारणांशकार्यरूपस्य मिथ्यात्वं परिकल्प्य तद्बोधकश्रुतीनाम् अर्थवादत्वेन मिथ्यात्वं स्वीकृत्य सुषुप्तिसम्पत्त्योः भगवता प्रकटीकृतम् आनन्दरूपत्वं तत्प्रतिपादकवाक्यानां सद्योमुक्तिरूप-फलवाचकत्वम् उक्त्वा क्रममुक्तिम् उपासनापरत्वेन योजयित्वा वेदसूत्राणि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्र वेदान्तसूत्राणां विचारविषये. कश्चित् शङ्कराचार्यः. तद्व्यपदेशेन ब्रह्मव्यपदेशेन. तदतिरिक्तस्य तदितरस्य. कारणांशेत्यादिः कारणरूपस्य अंशरूपस्य कार्यरूपस्य च. मिथ्यात्वम् अविद्यांशत्वम्. तद्बोधकश्रुतीनां तेषां ब्रह्मता-बोधिकानां श्रुतीनाम्. तद् वेदान्तानाम् इत्यादि. तथाच “सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति” (कठोप.१।२।१५), “तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि” (बृहदा.उप.३।१।२६), “वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः” (भग.गीता १५।१५) इत्यादिश्रुतिस्मृतिविषयो ब्रह्मैवेति वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वम् अविवादम्. ब्रह्म जगत्कर्तृत्वाद्यसाधारणधर्मैः जीवविलक्षणम् इत्यपि पूर्वं सिद्धमेव. अन्यदपि जीवब्रह्मणोः अंशांशिभावश्रवणात् सर्वं जीवे उपपद्यतएव इति श्रुतिस्मृतिव्याकुलीकरणम् अपार्थमेव इति अवसेयम्॥२९॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एवंरीत्या स्वकीयमतम् उक्त्वा परकीयमतम् उद्घाटयन्ति तत्र इति. तद्व्यपदेशेन इति. ब्रह्मधर्मत्वव्यपदेशेन इति अर्थः. स्वीकृत्य महावाक्यत्वेन इति शेषः. सर्वस्य कीदृशस्य इत्यतः आहुः कारणेति. कारणरूपस्य अंशरूपस्य कार्यरूपस्य इति अर्थः. परिकल्प्य इति. ब्रह्मणि कारणत्वं जीवः अंशत्वं प्रपञ्चे कार्यत्वं कल्पितम् इति सर्वस्य मिथ्यात्वम् इति तेषाम् अभिमानः. स्वीकृत्य इति. गौण्या असदर्थ-बोधकत्वेन अर्थवादवाक्यानां सुतरां स्वार्थे प्रामाण्याभावाद् इति भावः. प्रकटीकृतेति. प्रकटीकृतं यद् आनन्दरूपत्वं तत्प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि “न कञ्चन कामं कामयते” (बृहदा.उप.४।३।१९) इत्यादीनि तेषाम् इति अर्थः. वेदेति. वेदाः चतुर्वेदोपनिषदश्च सूत्राणि च इति अर्थः. ननु एवं चेद् विचारवद्भिः किं कर्म कर्तव्यम्? अतः आहुः तद् इति. अनुसन्धेयम् इति. सर्ववेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं ब्रह्मणि च जगत्कर्तृत्वम् इत्यत्र सन्देहएव नास्ति. जीवस्य च ब्रह्मणो भेदे अभेदबोधक-

व्याकुलीचकार. तद् वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं जीवपरत्वं वा इति यद् अत्र युक्तं तत् सद्भिः अनुसन्धेयम्॥२९॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात्॥३०॥

ननु कथम् अन्यस्य नीचस्य सर्वोत्कृष्टव्यपदेशोऽपि ? न हि प्रामाणिकैः सर्वथा अयुक्तेः व्यपदेशः क्रियते. नच उक्ततद्गुणसारत्वाद् ब्रह्मणः आनन्दांशस्य प्राकट्याद् इति वाच्यम्. तथा सति प्राज्ञवत् पुनः तिरोहितं स्यादिति तस्य तद्व्यपदेशो व्यर्थो अयुक्तश्च इति चेद्, न अयं दोषः. कुतः ? यावदात्म-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्यपदेशविषयेऽपि कञ्चिद् दोषम् आशङ्क्य परिहरति सूत्रकारः तं दोषं प्रकाशयन्ति ननु इत्यादि. अन्यस्य ब्रह्मभिन्नस्य. सर्वोत्कृष्टव्यपदेशः “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” (मुण्डकोप. ३।२।९) इति रीतिकः. प्राकट्याद् मुक्तजीवे प्राकट्यात्. तिरोहितं स्याद् मुक्तजीवगतम् आनन्दादि तिरोहितं स्यात्. सूत्रोक्तं समाधानम् आहुः न अयम् इत्यादि. यावद् आत्मभावित्वाद् आत्मनो नित्यत्वात् तत्स्थितिम् अनतिक्रम्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुतिविरोधः इति न शङ्कनीयम्, अंशस्य अभिन्नत्वाद् विस्फुलिङ्गो न अग्निः इति प्रत्ययभावाद्. ब्रह्मणो अंशित्वेऽपि निष्कलत्वं विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्गीकाराद् बोध्यम्. तेन च न निष्कलश्रुतिविरोधः. प्राकृतगुणराहित्याद् न निर्गुणश्रुतिविरोधः इत्यादिकं सर्वम् अनुसन्धेयम् इति अर्थः. विस्तरस्तु प्रकाशे अनुसन्धेयः॥२९॥

दोषपरिहारं सूत्रकृता क्रियते इत्यतः पूर्वं दोषम् आहुः ननु इत्यादि. सर्वोत्कृष्टत्वव्यपदेशः इति. सर्वोत्कृष्टत्वेन इति तृतीया समासः. ‘सर्वोत्कृष्ट-व्यपदेशः’ इति पाठे सर्वोत्कृष्टः इति अर्थः. प्रामाणिकैः इति. वेदैः इति अर्थः. तथाच न अयं वेदार्थः इति भावः. दत्तोत्तरत्वाद् इदम् अयुक्तम् इति आहुः नच इति. उक्ततद्गुणेति. श्रुतौ उक्ता ये तस्य ब्रह्मणो गुणाः आनन्दादयः, तत्सारत्वाद् इति अर्थः. ननु आनन्दांशस्य अत्र अनुपलब्धेः इत्यतः आहुः ब्रह्मण इति. इदानीं तिरोहितत्वेऽपि तस्मिन्नेव जीवे संसारदशोत्तरम् आनन्दांशस्य प्राकट्याद् इति अर्थः. ननु प्राकट्यं नाम सर्वदा एकरूपतया सत्त्वं, तत् च नास्ति इति आशयेन आहुः तथा सति इति. प्राज्ञवद् इति. प्राज्ञस्य लयोत्तरं यथा आनन्दस्य तिरोधानं तथा अस्यापि तद्गुणसारत्वं तिरोहितं स्याद् इति अर्थः. तस्य जीवस्य. दूषणपरिहारं विवृण्वन्ति यावद् इति.

अस्य अर्थम् आहुः पश्चाद् इति. भगवदनुग्रहे जाते तदनन्तरं यावत्पर्यन्तम्

भावित्वात्. पश्चाद् यावत्पर्यन्तम् आत्मा, नित्यत्वात्, सर्वदा आनन्दांशस्य प्राकट्यात् तस्य तथैव दर्शनम् अस्ति. अनावृतैश्वर्यादीनाम् उक्तत्वात्. प्राज्ञात् सम्पन्नत्वं विशेषः. ‘च’कारात् तस्य च आनन्दः प्रकटितइति न दूषणगन्धोऽपि. व्यपदेशो वा न अत्यन्तम् अयुक्तस्य. यावद् आत्मा ब्रह्म भवति आनन्दांश-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भगवद्धर्माणां मुक्ते धृत्तित्वनियमाद् इति अर्थः. तथैव ब्रह्मत्वेनैव. उक्तत्वात् “स खलु एवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते नच पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।१५।१) इत्यादिश्रुत्युक्तत्वात्. ननु इदम् अप्रयोजकं “प्राज्ञः तृतीयपाद एष सर्वेश्वर एषो अन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्” (रामोप.२।४) इत्येवं प्राज्ञं प्रशस्य अग्रे तुरीयव्याख्याने “ईश्वरग्रामस्तुरीयः” (नृसिंहोत्त.१) इति कथनेन प्राज्ञलयस्य तुरीये उक्तत्वात् तस्येव अस्यापि आनन्दादिभगवद्धर्माणां लये यावदात्मभावित्वं दुर्वचम् अतः आहुः प्राज्ञात् सम्पन्नत्वं विशेषः. तथाच प्राज्ञस्य ब्रह्मसम्पन्नत्वाभावाद् लयेन ब्रह्मधर्माणां तिरोभावो युक्तः. अस्यतु ब्रह्मसम्पन्नत्वेन लयाभावाद् ब्रह्मधर्माणाम् अतिरोधानात् सदादर्शनम् इति अर्थः. चकाराद् इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आत्मा तावत्पर्यन्तम् इति अर्थः. ननु ‘यावत्पर्यन्तम्’ इति उक्त्वा सावधित्वम् आगतम् इत्यतः तस्यैव अर्थम् आहुः नित्यत्वाद् इति. आत्मनो नित्यत्वाद् इति अर्थः. प्राकट्यानन्तरम् अनुभवं वर्णयन्ति तस्य इति. आनन्दस्य इति अर्थः. तथैव सर्वदा. अनिवृत्तत्वेनैव अतिरोहितत्वेन इति यावत्. दर्शनम् अस्ति सर्वदानुभवो अस्ति इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आहुः अनावृतेति. आवरणरहितैश्वर्यादीनाम्. उक्तत्वाद् इति. “सः तत्र पर्येति” (छान्दो.उप.८।१२।३) इत्यादिना छान्दोग्ये उक्तत्वाद् इति अर्थः. ‘अनावृत्य ऐश्वर्यादीनाम्’ इति पाठे तु “न सः पुनरावर्तते” इत्यादिना ऐश्वर्यादीनां सर्वदा सत्त्वस्य उक्तत्वाद् इति अर्थः. ननु प्राज्ञेऽपि एवम् अनावृतैश्वर्यं श्रुतौ वक्तुं शक्यते इत्यतः आहुः प्राज्ञाद् इति. सम्पन्नत्वम् इति. “पद गतौ”, ये गत्यर्थाः ते प्राप्त्यर्थाः इत्यतः सम्यक्तया आनन्दप्राप्तिमत्त्वम्. तथाच श्रुतौ “प्राज्ञः ईश्वरः” तृतीयः पादे इति उपक्रम्य प्राज्ञप्रशंसां कृत्वा अग्रे तुरीयव्याख्याने “ईश्वरग्रामस्तुरीयः” इति उक्त्या प्राज्ञस्य लयोक्त्या आनन्दस्य तिरोभावः, जीवस्यतु स्वरूपावस्थानोक्त्या सर्वदानन्दसत्त्वेन प्राज्ञाद् जीवे विशेषः इति भावः. अमुमेव अर्थं ‘च’कारेण सूचयन्ति चकाराद् इति. जीवो व्यपदेशयोग्यः इति आहुः व्यपदेशो वा इति. अयुक्तत्वं जीवे नास्ति इति आहुः यावद्

प्राकट्येन तावदेव तद्व्यपदेशः, राजज्येष्ठपुत्रवत्. एतदेव उक्तम्,
व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य भगवत्वेन युज्यते॥२९॥
आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः॥
प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्॥३०॥
(तत्त्वदी.निब.शास्त्रार्थप्र.५३,५४) इति॥३०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तथाच यावन्तो दोषाः ते आनन्दतिरोधानकृताः तत्प्राकट्येतु न कोऽपि दोषलेशः इति अर्थः. नित्यत्वाद् इति अनुक्त्वा **यावद्भावित्वाद्** इति यद् उक्तं तत्सूचितम् अर्थान्तरम् आहुः **व्यपदेशो वा** इत्यादि. ‘वा’शब्दो अर्थान्तरे. युक्ततां व्युत्पादयन्ति **यावद्** इत्यादि. तथाच ब्रह्मभावोत्तरन्तु ब्रह्मैव इति ततः पूर्वं व्यपदेशः. सच मुक्तौ ब्रह्मत्वसूचको अतो न अयुक्तः, अयं सूत्रार्थः. **यावद्** अवधारणे, यावद् आत्मा संसारी तावत्कालं व्यपदेशित्वाद् न दोषः न अयुक्तत्वम्. **तद्दर्शनाद्** ब्रह्मदर्शनात्. “**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**” (मुण्डकोप.३।२।९) इति अग्रे ब्रह्मभावस्यैव उक्तत्वात्. पूर्वव्याख्याने व्यपदेशो मुक्त्यनन्तरमपि स्वीकार्यः एतद्व्याख्यानेतु मुक्तिपूर्वकालएव इति विशेषः. अत्रच “**उत्क्रमिष्यत एवम्भावाद् इति औडुलोमिः**” (ब्रह्मसू.१।४।२१) इतिमतं समर्थितम्. ब्रह्मभावेन जीवस्य व्यापकत्वम् आहुः **एतदेव उक्तम्** इत्यादिना. **तस्य** मुक्तजीवस्य. **तद्** विरुद्धधर्मवत्त्वम्॥३०॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. आनन्दांशप्राकट्येन ब्रह्म भवति इति पूर्वेण अन्वयः. **एतदेव उक्तम्** इति. निबन्धः इति शेषः. **तस्य** जीवस्य. **आनन्दांशाभिव्यक्तौ** ब्रह्मभावे सति इति अर्थः. **तद्** विरुद्धधर्माश्रयत्वं भवति, अणुत्वेन परिच्छेदः, ब्रह्माण्डेति अनेन व्यापकत्वम् इति. अत्र यशोदोत्सङ्गे जृम्भमाणेन भगवता स्पष्टं दर्शितं, वर्णितं च ऋक्श्रुत्या. तथाहि. “**कउनु ते महिमनः समस्यास्मत् पूर्वं ऋषयो अन्तम् आपुः. यन्मातरं च पितरं च साकम् अजनयथास्तन्वः स्वायाः**” (ऋग्वेद १०।५४।३). अस्य अर्थः. समस्या ते महिमनो महिम्नः क अस्मत्पूर्वः ऋषयो ब्रह्मादयो अन्तमापुः, अपितु न केऽपि इति अर्थः. कुतः? यन्मातरं च पितरं च स्वायास्तन्वा अजनयथाः. जृम्भासमये मृद्भक्षणलीलायां च यशोदया मुखे ब्रह्माण्डं दृष्टम्. तत्र स्वस्य नन्दस्य भगवतोऽपि उपलब्धिः इति. तथा च एवं जीवस्यापि ब्रह्मभावः अणुत्वं व्यापकत्वं च उक्तं “**मय्येव सकलं जातम्**” (कैव. उप. १९) इत्यादिना. किञ्च. वामदेवेनापि उक्तम् “**अहं मनुरभवम्**” (बृहदा. उप. १।४।१०) इति. एवं जीवस्य कल्पितत्वमपि नास्ति, अंशत्वेन निरूप्यमाणत्वाद् इति॥३०॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्॥३१॥

व्यपदेशदशायामपि आनन्दांशस्य न अत्यन्तम् असत्त्वं पुंस्त्वादिवत्.
यथा पुंस्त्वं सेकादिसामर्थ्यं बाल्ये विद्यमानमेव यौवने प्रकाशते तथा
आनन्दांशस्यापि सतएव व्यक्तियोगः॥३१॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो अन्यतरनियमो वा अन्यथा॥३२॥

ननु कथम् एवं स्वीक्रियते ? इदानीं संसारावस्थायां सच्चित्प्राकट्यमेव.
मोक्षेतु आनन्दांशोऽपि प्रकटइति तन्निवारयति. तथा सति नित्यम् उपलब्धिः
स्यात् आन्दांशस्य. तथा सति न संसारावस्था उपपद्येत. अथ अनुपलब्धिः सर्वदा
तथा सति मोक्षदशा विरुद्धयेत. अथ **अन्यतरनियमः**. जीवो निरानन्दएव, ब्रह्म तु

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु पूर्वम् अविद्यमानानन्दस्य मुक्तौ उत्पन्नत्वेन नाशसम्भवाद् न यावद्
आत्मभावित्वम् इति आशङ्कायां प्रवृत्तं तत्समाधानाय सूत्रम् इदम् इति आहुः
व्यपदेशेत्यादि. व्यपदेशदशायां मुक्तिपूर्वकाले ब्रह्मसादृश्यदशायाम्. **सतएव** पूर्व
जीवे विद्यमानस्यैव. **अभिव्यक्तियोगः** मुक्तौ अनुभवविषयतायोगः॥३१॥

एवं जीवे मुक्तिदशायाम् आनन्दः प्रकटः मुक्तिपूर्वदशायान्तु अप्रकटएव वा
अस्ति इतिप्रकारेण उक्तविपरीतार्थे दूषणम् आहुः सूत्रार्थरूपम् **इदानीम्** इत्यादि.
प्राकट्यमेव इति एवकारेण आनन्दसत्त्वं व्यवच्छिद्यते. **निवारयति** सूत्रकारो
निवारयति. **तथा सति** पूर्वम् अविद्यमानानन्दस्य मुक्तिदशायां प्राकट्याङ्गीकारे सति.
अनुपलब्धिः सर्वदा जीवे आनन्दानुपलब्धिः सर्वकालिका. **अन्यतरनियममेव**
उपपादयन्ति **जीवो निरानन्दः** इत्यनेन. सूत्रे पूर्वोक्तरीत्या अर्थानङ्गीकारः उक्तानि त्रीणि
दूषणानि स्युः इति अर्थः॥३२॥१३॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पुंस्त्वादिवत्. अस्य इति च्छेदः. **अभिव्यक्तियोगः**. मोक्षदशायाम् इति
शेषः॥३१॥

सूत्रावतारप्रयोजिकाम् आशङ्काम् आहुः **ननु** इति. **प्राकट्यमेव** इति.
आनन्दांशः तिरोहितः इति शेषः. **तन्निवारयति** इति. सूत्रकारः इति शेषः. तत्र सूत्रे
अन्यथा इति पदव्याख्यानम् आहुः **तथा सति** इति. पूर्वोक्तः अस्वीक्रियमाणे सति इति
अर्थः. तत्र सच्चिदानन्दत्रयाणां मध्ये आनन्दस्य जीवे प्राकट्यम् अप्राकट्यम् अथवा
जीवो निरानन्दो ब्रह्म आनन्दरूपम् इति **अन्यतरनियमः** इति पक्षत्रयस्वीकारः स्यात्.

आनन्दरूपम्. तथा सति “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप. ४।४।६) इति श्रुतिविरोधः. तस्मात् पूर्वोक्तएव प्रकारः स्वीकर्तव्यः इति सिद्धम् ॥३२॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे तद्गुणसारत्वाद् इति त्रयोदशम् अधिकरणम् ॥१३॥

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥ (२।३।१४)

सांख्यानां प्रकृतिगतमेव कर्तृत्वमिति तन्निवारणार्थम् अधिकरणारम्भः. कर्ता जीवएव. कुतः? शास्त्रार्थवत्त्वात्. जीवमेव अधीकृत्य वेदे अभ्युदय-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः सांख्यानाम् इत्यादि. पूर्वं ज्ञानस्वरूपत्वेन ज्ञानाधिकरणत्वेन च उक्ते जीवे सांख्यानामिव अकर्तृत्वं नैयायिकानामिव कर्तृत्वं वा स्याद् इति संशयः. तत्र “नायं हन्ति न हन्यते” (भग.गीता २।१९), “कार्यकारण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते” (तत्रैव १३।२०), “प्रकृतेः क्रियमाणानि” (तत्रैव ३।२७) इत्यादिवाक्यैः प्रकृतिः कर्त्रीति पूर्वपक्षे सिद्धान्तम् आहुः कर्ता इत्यादि. कर्ता दर्शादि-चित्रादिज्योतिष्टोमादिकर्मणां कर्ता. शास्त्रार्थवत्त्वात् शास्त्रोक्तफले अधिकारित्वात्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सच न सम्भवतीति सूत्रकारो दूषयति. तत्र आद्ये दूषणम् आहुः नित्येति. प्राकट्ये नित्यम् उपलब्धिः स्यात्. तत्स्वीकारे दूषयन्ति तथा सति इति. द्वितीयपक्षे दूषणम् आहुः अथ इति. तृतीयपक्षे श्रुत्युक्तं दूषणम् आहुः तथा सति इति. पूर्वोक्तएव इति. संसारदशायाम् अप्राकट्यं मोक्षदशायां प्राकट्यम् इति प्रकारः इति अर्थः. अधिकन्तु श्रीविद्वन्मण्डने श्रीप्रभुचरणकृते जीवाणुवादे च द्रष्टव्यम् ॥३२॥

इदानीं जीवस्य अणुत्वस्थापनानन्तरं नैयायिकैः कर्तृत्वं साङ्ख्यैश्च अकर्तृत्वं स्वीक्रियते इति जीवधर्मिकर्तृत्वाकर्तृत्वकोटिकसंशयानन्तरं पूर्वपक्षम् आहुः साङ्ख्यानाम् इति. कर्तृत्वम् इति इति. “कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते” (भग.गीता. १३।२१) इति गीतावाक्याद् इति भावः. अधिकरणारम्भः इति. प्रबल-साङ्ख्यनिवारणमेव अधिकरणप्रयोजनम् इति अर्थः. सूत्रकारोक्तं सिद्धान्तम् आहुः कर्ता इति. शास्त्रार्थवत्त्वाद् इति. “ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत” (आप.श्रौ. सू. १०।२।१) “क्रतुं कुर्वीत” (छान्दो.उप.३।१४।१) इति क्रतुब्रह्मोपासना-बोधकशास्त्राणां सार्थक्यरूपफलवत्त्वाद् इति अर्थः. तथाच जीवे कर्तृत्वाभावे कामनाम् उद्दिश्य विहितकर्मादिबोधकवाक्यानि जीवपराणि न भविष्यन्ति इति भावः. एतदेव आहुः जीवमेव इति. अभ्युदयः स्वर्गः, निःश्रेयसो मोक्षः. ननु ब्रह्मपराणि भविष्यन्ति

निःश्रेयसफलार्थं सर्वाणि कर्माणि विहितानि, ब्रह्मणो अनुपयोगात्. जडस्य अशक्यत्वात्. सन्दिग्धेऽपि तथैव अङ्गीकर्तव्यम् ॥३३॥

विहारोपदेशात् ॥३४॥

तस्यैव गान्धर्वादिलोकेषु, “यद्यत् कामयते तत्तद् भवति” (छान्दो.उप. ८।१) इति विहार उपदिष्टः. ततश्च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः “साधुकारी साधुः भवति” (बृहदा.उप.४।४।५) इति सामानाधिकरण्यश्रवणाद् जीवएव कर्ता ॥३४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सन्दिग्धत्वेऽपि प्रकृतिकर्तृत्वप्रतिपादकवाक्यैः कर्तृत्वे सन्दिग्धेऽपि. तथाच श्रौतस्मार्त-कर्मानुष्ठानं न इश्वरे न प्रकृतौ न वा इतरजडे सम्भवति तथा सति तद्बोधकवाक्य-वैयर्थ्यापत्तिः अतो जीवे कर्तृत्वाङ्गीकारः. नच प्रकृतिकारणताबोधकवाक्यविरोधः “अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधं, विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्” (भग.गीता १८।१४) इति पञ्चभिः कार्येण जननीये ‘कर्ता’ इत्यनेन जीवस्य कर्तृत्वोक्तेः. प्रकृतेः करणत्वन्तु कामक्रोधादिलौकिकस्थलएव उपपादनीयं सर्वानुभवसिद्धत्वात्. जीवेतु तत्कृतमेव अध्यस्यते, नतु सर्वत्र, उक्तश्रुतेः ॥३३॥

जीवस्य प्रकृतिसंसृष्टत्वेन संसृष्टजीवकर्तृत्वाङ्गीकारेऽपि शास्त्रार्थः सम्पद्यतएव इति शङ्कायां तद्व्युदासाय सौत्रं हेत्वन्तरं व्याकुर्वन्ति तस्यैव इत्यादि ॥३४॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इत्यतः आहुः ब्रह्मणः इति. अनुपयोगाद् इति. आप्तकामत्वेन अनुपयोगाद् इति अर्थः. अशक्यत्वाद् इति. कामनाभावेन इत्यादि. ननु गीतादिवाक्यैः सन्देहे किं कर्तव्यम्? अतः आहुः सन्दिग्धेऽपि इति. तथैव वेदवाक्यानां सार्थक्यार्थं कर्तृत्वमेव ॥३३॥

“प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते” (भग.गीता ३।२७) इति गीतावाक्यात् प्रकृतिसम्बन्धेन मोहितजीवगत-कर्तृत्वम् आदाय शास्त्रं सार्थक्यं भविष्यति इति अतो हेत्वन्तरम् आहुः विहारेति. व्याकुर्वन्ति तस्यैव इति. जीवस्यैव इति अर्थः. उपदिष्टः छान्दोग्ये दहरविद्यायाम् उपदिष्टः इति अर्थः. तथाच दहरविदो मोहाभावेन मोहितजीवग्रहणासम्भवाद् इति भावः. ननु विहाराधिकरणीभूतजीवस्तु शुद्धएव तस्य कर्तृत्वमेव न स्वीक्रियते, किन्तु भोक्तृत्वम् इत्यतः आहुः कर्तृत्वेति ॥३४॥

उपादानात्॥३५॥

“तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय” (बृहदा.उप.२।१।१७) इति जीवेन सर्वेषां विज्ञानम् उपादीयते. तस्माद् इन्द्रियादीनां करणत्वमेव. स्वातन्त्र्याद् अस्यैव कर्तृत्वम्.

यस्तु मन्यते बुद्धिसम्बन्धाद् जीवस्य कर्तृत्वम् इति सः प्रष्टव्यः. किं बुद्धिकर्तृत्वं जीवे समायाति अथवा जीवगतमेव कर्तृत्वं *बुद्धिसम्बन्धाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सङ्कल्पस्य मनोधर्मत्वाद् दहरविदोऽपि मनसः संसृष्टत्वमेवेति न केवले जीवे कर्तृत्वसिद्धिः इति शङ्कानिरासाय उक्तं सूत्रोक्तहेतुं विषयवाक्योपन्यासेन व्याकुर्वन्ति तदेषाम् इत्यादि. श्रुतिस्तु बृहदारण्यके “यत्रैष एतत्सुप्तो अभूद् य एषः विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय एषो अन्तर्हृदयआकाशः तस्मिन् शेते” (बृहदा.उप.२।१।१७) इति. अत्र ‘अभूद्’ इत्यन्तं भिन्नं वाक्यम्. अग्रेतु विज्ञानेन स्वीयेन गुणेन एषां प्राणानां अन्तर्बहिः इन्द्रियाणां विज्ञानं ज्ञानजनिकां शक्तिम् आदाय इति अर्थो बोध्यः. “कामः सङ्कल्पः” (तत्रैव १।५।३) इति श्रुतिस्तु लौकिकपरा. अतः स्वातन्त्र्याद् जीवस्यैव कर्तृत्वम्. *जीवसम्बन्धात्(!) जीवस्य बुद्धिसम्बन्धात्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ननु संकल्पादेः मनोधर्मत्वम्. तथाच विहाराश्रयीभूतो मनःसंसृष्टएव नतु शुद्धः इति अतो हेत्वन्तरम् आह उपादानाद् इति. सूत्रं व्याख्यातुं विषयवाक्यम् आहुः तदेषाम् इत्यारभ्य आदाय इत्यन्तम्. इदं च बृहदारण्ये बालाकिब्राह्मणे उक्तम्. अत्र जीवस्य स्वापावस्था उक्ता. प्राणानाम् अन्तर्बहिः इन्द्रियाणां विज्ञानं ज्ञानजनिकां शक्तिं विज्ञानेन स्वकीयगुणेन आदाय गृहीत्वा एषः जीवः अन्तर्हृदये स्वपिति इति वाक्यार्थः. हेतुं विवृण्वन्ति जीवेन इति. तथाच दहरविद्यावतोऽपि सङ्कल्पः आत्मधर्मएव इति भावः. उपादानेन यद् जातं तद् आहुः तस्माद् इति. स्वातन्त्र्याद् इति. “स्वतन्त्रः कर्ता” (पाणि.सू.१।४।५४) इति सूत्रस्वारस्याद् इति अर्थः. अतएव उक्तं निबन्धे श्रीमदाचार्यचरणैः “कर्ता स्वतन्त्रएव स्यात् तथापि सगुणो न हि” (तत्त्वदी.निब.शास्त्रा.प्र.७७) इति. अत्र मतान्तरम् अनुवदन्ति यस्तु इति. बुद्धिसम्बन्धाद् इति. बुद्धेः जडत्वात् तत्र क्रियायाः अभावात् सम्बन्धस्य च क्रियाजन्यत्वात् क्रियायाश्च चेतनजीवनिष्ठत्वात् तत्कृतसम्बन्धं बुद्धौ द्योतयितुं युक्तं जीवसम्बन्धाद् इति हृदयम्. दूषयितुं विकल्पयन्ति सः प्रष्टव्य इति. अनेन

उद्गच्छति, अथवा शशविषाणायितमेव कर्तृत्वं सम्बन्धे समायाति ? न आद्यः, जडत्वाद् अनङ्गीकारात् पूर्वं निराकृतत्वाच्च. द्वितीयेतु इष्टापत्तिः, उपादानविरोधश्च. तृतीये शास्त्रविरोधः. ब्रह्मणि सिद्धत्वाच्च. असत्कार्यस्य निराकृतत्वात्. सर्वविप्लवस्तु माध्यमिकवद् उपेक्ष्यः॥३५॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेद् निर्देशविपर्ययः॥३६॥

व्यपदेशः, “विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च” (तैत्ति.उप.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उद्गच्छति घृतद्रवत्वन्यायेन उद्गच्छति इति अर्थः. पूर्वं रचनानुपपत्त्यादिसूत्रेषु. **उपादानविरोधः** जीवे बुद्धिसम्बन्धात् कर्तृत्वोपगमस्वीकारे श्रुतौ प्राणानाम् इन्द्रियाणां बुद्ध्युपादानत्वम् उक्तं न स्याद् जीवसम्बन्धित्वे प्राणसम्बन्धित्वासम्भवात्. **शास्त्रविरोधः** शास्त्रे हि व्यासैः कर्तृत्वं प्रतिज्ञातं, कर्तृत्वस्य मिथ्यात्वे समागमासम्भवात् शास्त्रविरोधः इति भावः. **ब्रह्मणि** इत्यादि. तथाच वेदे ब्रह्मणि कर्तृत्वस्य सिद्धत्वाद् न मिथ्यात्वं वक्तुं शक्यते इति अर्थः. ननु निर्गुणे ब्रह्मणि कर्तृत्वस्य बाधाद् अलीकमेव इत्यतः आहुः **असद्** इत्यादि. **निराकृतत्वाद्** ब्रह्मणि विरुद्धधर्माङ्गीकारेण निराकृतत्वाद् इति अर्थः. **सर्वविप्लवः** वेदे अंशेऽपि अप्रामाण्यवादी॥३५॥

श्रुतार्थापत्त्या जीवस्य कर्तृत्वं साधयित्वा साक्षात् श्रुत्या साधयति इति आशयेन व्याकुर्वन्ति **व्यपदेशः** इत्यादिना. **व्यपदेशः** प्रथमाविभक्त्या कर्तृत्वेन निर्देशः. सः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

समक्षभाषणानर्हत्वं द्योत्यते. **बुद्धिकर्तृत्वं** बुद्धिगतं कर्तृत्वम्. **पूर्वम्** इति. रचनाधिकरणे. **इष्टापत्तिः** इति. जीवगतकर्तृत्वसिद्धये इति शेषः. ननु **बुद्धिसम्बन्धाद्** इति उक्त्या केवले स्वातन्त्र्यं न आगतम् अतः आहुः **उपादानेति**. बुद्धिसम्बन्धेन उद्गमस्तु न सम्भवति. तथा सति बुद्धेरपि प्राणान्तपातित्वात् तदुपादानविरोधः इति अर्थः. **शास्त्रविरोधः** इति. लोके वेदे च कर्तृत्वमेव न स्यात्. तदा सर्वोपनिषदि कर्तृत्वप्रतिपादनविरोधः इति अर्थः. **सिद्धत्वात्** च इति. ईक्षत्यधिकरणे सिद्धत्वाद् इति अर्थः. ननु शुक्तिरजतवद् असदेव कर्तृत्वं जीवे स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **असद्** इति. ननु ब्रह्मणः कर्तृत्वे निर्गुणत्वहानिः इति अतो मायाकल्पितं तद् इत्यतः आहुः **सर्वेति**. **माध्यमिकः** शून्यवादी॥३५॥

साक्षात् श्रुत्यैव कर्तृत्वम् उच्यतइति सूत्रं व्याकुर्वन्ति **व्यपदेशः** इति. श्रुतौ प्रथमया कर्तृत्वेन निर्देशः इति अर्थः. तैत्तिरीयश्रुतिम् आहुः **विज्ञानम्** इति. **क्रियायाम्**

२।५) इति. अत्र साङ्ख्ये बुद्ध्यादीनामेव कर्तृत्वं न जीवस्य इति क्रियायां यागादिकर्मसु, नतु भोगे. जीवस्य कर्तृत्वं न चेद्, न, तथा सति निर्देशस्य विपर्ययो भवेत्. “विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय” (बृहदा.उप.२।१।१७) इति श्रुत्यनुरोधात्. प्रकृतेऽपि तृतीयान्तता आपद्येत. अथ स्वव्यापारे कर्तृत्वं, तथापि पूर्वनिर्देशस्य विज्ञानमयस्य विपर्ययः स्यात् विकारित्वं स्यात्, तच्च असङ्गतम्,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“विज्ञानम्” (तैत्ति.उप.२।५।१) इति श्रुतौ जीवे वर्तते अतः कल्पनां विना साक्षात् श्रुत्यैव जीवः कर्ता इति सिद्धम्. अत्र इत्यादि. अस्यामपि श्रुतौ ‘विज्ञान’पदेन बुद्धिरेव उच्यते. नतु भोगे लौकिक-वैदिक-कर्मसामान्ये बुद्धेः कर्तृत्वं भोगेतु जीवस्यैव कर्तृत्वम् इति अर्थः. तथाच क्रियायामेव जीवस्य कर्तृत्वं न इति चेद् न, तथा सति ‘विज्ञान’पदेन प्रकृतिव्यपदेशः उच्यमाने सति. विपर्यासः विभक्तिविपर्यासः. तथाच जीवपर‘विज्ञान’पदस्य बुद्धिपरतापत्तिः. इत्थं च “विज्ञानेन यज्ञं तनुते” (तत्रैव) इति स्याद् इति अर्थः. ननु कारकाणां स्वव्यापारे जननसामर्थ्यात् “स्थाली पचति”, “काष्ठं पचति” इत्यादिवद् अत्रापि कर्तृत्वं स्वव्यापारानुबन्धि शक्यवचनम् अतो निर्देशविपर्ययो न भविष्यति इति आशङ्क्य दूषयन्ति अथ इत्यादि. यदि एवं निर्देशः समर्थ्यते तथापि अयं श्लोको विज्ञानमयम् उपक्रम्य पठितः इति भवन्मते तेन विज्ञानमयप्रतिपादकेन ऐकार्थ्यात् तत्रापि ‘विज्ञान’पदस्य बुद्धिवाचकत्वेऽपि ‘विज्ञानमय’पदस्य बुद्धिविकारवाचकत्वं स्यात्. तच्च असङ्गतम्, त्र्यच्त्वात्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति. सूत्रांशस्य अर्थम् आहुः अत्र इति. अत्र अस्यां श्रुतौ क्रियानिरूपितमेव कर्तृत्वं निषिध्यते नतु भोगनिरूपितम् इति आहुः नतु भोगे इति. खण्डयन्ति तथा सति इति. ‘विज्ञान’पदस्य बुद्ध्यर्थकत्वस्वीकारे सति इति अर्थः. श्रुत्यनुरोधाद् इति. एकवाक्यत्वानुरोधाद् इति अर्थः. विपर्ययो न भविष्यति इति शङ्कते अथ इति. स्वव्यापारे इति. “स्थाली पचति, काष्ठानि पचन्ति” इतिवत् कारकाणां स्व-स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यम् आदाय आरोपितकर्तृत्वं भविष्यतीति न विपर्ययः इति अर्थः. समाधानम् आहुः तथापि इति. विज्ञानमयम् उपक्रम्य “विज्ञानं यज्ञं तनुते” (तैत्ति. उप. २।५) इति वाक्यं पठितम्. अत्र बुद्धिवाचकत्वोपक्रमेऽपि बुद्धिविकारवाचकत्वं स्याद् इति आहुः पूर्वैति. ननु पूर्वम् अस्तु विकारित्वम् अतः आहुः तच्च इति. त्र्यच्त्वाद् इति. “द्व्यचश्छन्दसि” (पणि.सू.४।३।१५०) इति सूत्रेण द्व्यचस्थलएव विकारार्थे मयद्विधानाद् इति भावः. ननु

त्र्यच्त्वात्. “विज्ञानम् आदाय” (बृहदा.उप.२।१।१७) इत्यत्र विपर्ययएव एकस्य प्रदेशभेदेन अर्थभेदोऽपि. भगवति सर्वे शब्दाः स्वभावतएव प्रवर्तन्ते, औपचारिकत्वज्ञापकाभावात्. “यज्ञो यजमानः” (तैत्ति.सं.१।७।५।२) इति श्रद्धादीनां शिरस्त्वादि. तस्माद् विज्ञानमयो जीवएव. जडस्य च स्वातन्त्र्याभावाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“द्व्यचश्छन्दसि” (पाणि.सू.४।३।१५०) इति विधेः बह्वज्ज्यावृत्यर्थत्वात्. अतः तत्रेव अत्रापि तदनुरोधाद् जीववाचकत्वमेव अङ्गीकार्यं ‘विज्ञान’पदस्य. “विज्ञानेन विज्ञानमादाय” (बृहदा.उप.२।१।१७) इत्यादि ‘विज्ञान’पदद्वयस्थले ‘एकविज्ञान’पदस्य बुद्धिवाचकत्वेन विपर्ययो अस्त्येव तथापि ‘एकविज्ञान’पदस्थले सो अनुचितः इति भावः. ननु ‘विज्ञान’पदस्य जीववाचकत्वे “विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म” (बृहदा.उप.३।१।२८) इत्यत्र ‘विज्ञान’पदम् औपचारिकं स्याद् इत्यतः आहुः भगवति इत्यादि. प्रणवविकृतित्वात् भगवति सर्वे वेदशब्दाः स्वभावतएव प्रवर्तन्ते इति अर्थः. ज्ञापनाभावाद् ज्ञापकाभावात्. ननु अत्र ‘विज्ञानमय’पदस्य जीवार्थत्वं प्रत्ययस्य विकारार्थत्वभयात् स्वीकृतं तच्च न सम्भवति इत्यतः आहुः यज्ञः इत्यादि. श्रद्धादीनां

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

विज्ञानम् आदाय इत्यत्र विपर्ययस्य सत्त्वाद् अत्रापि स्वीक्रियते को दोषः? इत्यतः आहुः विज्ञानेति. एकस्य इति. तथाच स्थलभेदः एकं प्राणवाचकम्. अत्रतु पूर्वोक्तोपक्रमपठितस्यैव परामर्शाद् विपर्ययो दोषएव इति भावः. ननु “विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म” (बृहदा.उप.३।१।३४) इत्यत्र ‘विज्ञान’पदं परमात्मनि गौणं स्याद् इत्यतः आहुः भगवति इति. प्रवर्तन्ते इति. सर्वशब्दानां प्रणवविकृतित्वाद् ब्रह्मणः तद्वाच्यत्वाद् इति भावः. ज्ञापकाभावाद् इति. “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” (कठोप.२।१५) इति श्रुतेः सत्त्वाद् इति अर्थः. ननु एतावत्पर्यन्तं कथनं तदैव सम्भवति यदि विज्ञानमयः इत्यत्र विकारार्थकमयद् न चेत्, तदेवतु न सम्भवति, छन्दसि विकल्पेन मयद्विधानाद् इत्यतः आहुः यज्ञः इति. तैत्तिरीये प्रथमाष्टके सप्तमे प्रपाठके उक्तं “यज्ञो यजमानो यद् यजमानभागं प्राश्नाति यज्ञएव यज्ञं प्रतिष्ठापयति” (तैत्ति.१।७।) इति. अत्र यज्ञकर्तृत्वेन यज्ञत्वं यजमानस्य कल्पनया उपदिश्यते. तेन किं ज्ञायते. “विज्ञानं यज्ञं तनुते” (पूर्ववत्) इत्यत्र यज्ञकर्तृत्वं जीवस्यैव न जडबुद्धेः इति अर्थः. हेत्वन्तरमपि आहुः श्रद्धा इति. “श्रद्धैव शिरः” (तैत्ति.उप.२।४) इत्यत्र श्रद्धायाः जीवधर्मत्वाद् इति अर्थः. बुद्धेः कर्तृत्वं नास्त्येव इति आहुः जडस्य इति ॥३६॥

न कर्तृत्वम्॥३६॥

उपलब्धिवदनियमः॥३७॥

ननु जीवस्य कर्तृत्वे हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः इति चेद्, न,
उपलब्धिवदनियमः. यथा चक्षुषा इष्टम् अनिष्टं च उपलभते, एवम् इन्द्रियैः
कर्म कुर्वन् इष्टम् अनिष्टं वा प्राप्नोति॥३७॥

शक्तिविपर्ययात्॥३८॥

ननु ईश्वरवत् स्वार्थम् अन्यथा न कुर्याद् इति चेद्, शक्तिविपर्ययात्.
तथासामर्थ्याभावात्. इतएव दैवाद् अहितमपि करोति॥३८॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मनोवागादिधर्माणां शिरस्त्वादिकल्पना वेदोक्ता निर्बाधैव विकारार्थत्वन्तु बह्वचस्थले
अनुशासनबाधितमिति जीववाचकमेव 'विज्ञानमय'पदम् इति फलितम्॥३६॥

एवम् इन्द्रियैः इत्यादि. तथाच सुखदुःखसाक्षात्काररूपभोगे जीवस्य
स्वातन्त्र्येऽपि क्रियारूपे तत्करणानाम् इन्द्रियाणाम् अधीनतया इष्टानिष्टे प्राप्नोति इति
अर्थः॥३७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. अयम् अर्थः. चक्षुरादिना अनिष्टं जायते तद्
न जीवस्वरूपसम्पाद्यं, प्राणाधीनत्वेन दैवाद् जायमानत्वात्. कर्मतु न तथा,
स्वप्रयत्नसाध्यत्वात्. अतः कर्मजनितेष्टानिष्टोपलब्धिदृष्टान्तो न युक्तः. अतो यदि
जीवः स्वतःकर्ता स्यात् तदा स्वार्थम् अनिष्टं न कुर्याद् यथा ईश्वरः स्वार्थम् अनिष्टं न
करोति तद्वद् अतो न जीवः कर्ता इत्यत्र समाधानम् आहुः अथ(!) इत्यादि. विपर्ययो
भावः. तथाच शक्त्यभावाद् अनिष्टकरणम् ईश्वरेतु सर्वशक्तिमत्त्वाद् न दृष्टान्तता. अतो
अनिष्टकरणं न साहजिककर्तृत्वबाधकम् इति फलितम्॥३८॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अस्मिन् सूत्रे समाधानकथनात् पूर्वपक्षम् उत्थापयन्ति ननु इति. प्रसक्तिः
इति. तथाच कर्तृत्वे सति स्वातन्त्र्यम् अस्ति इति सर्वदा हितमेव कुर्याद्, नतु एवम् इति
अतो न कर्तृत्वं स्वीकर्तव्यम् इति पूर्वपक्ष्याशयः. समाधानम् आहुः उपलब्धिवद् इति.
अस्य अर्थम् आहुः यथा इति. उपलभते इति. पुरुषः इति शेषः. कुर्वन् इति.
इष्टजनकं वा कर्म कुर्वन् इति अर्थः ॥३७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. सूत्रार्थम् आहुः तथा इति. इतएव इति.
ईश्वरवत् सामर्थ्याभावादेव इति अर्थः ॥३८॥

समाध्यभावाच्च॥३९॥

जीवस्य क्रिया-ज्ञानशक्ती योगेन सिध्यतः. **समाध्यभावात्** शक्त्यभावः इति अर्थः. ‘च’कारात् तादृशमन्त्राभावोऽपि. नच सहजकर्तृत्वे अनिमोक्षः. पराधीनकर्तृत्व एव एतत्. ब्रह्मवत्. सांख्यस्य तन्मतानुसारिणो वा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जीवस्य शक्त्यभाव एव कुतः? इति आकांक्षायां प्रवृत्तम् एतत् सूत्रम् इति आशयेन विवृण्वन्ति जीवस्य इत्यादि. सिध्यतः सामर्थ्यं प्राप्नुतः. **समाध्यभावात्** संसारदशायां ज्ञानशक्त्यभावतः. **शक्त्यभावः** स्वतः स्वानिष्टनिवारणे शक्त्यभावः. **मन्त्राभावः** सामर्थ्यसम्पादकमन्त्राभावः. यथा “भूमिर्भूम्ना द्यौर्वारिणा इति आह आशिषमेव एताषाम् आशास्ते सर्पा वै जीर्यन्तो मन्यन्ते स एतं कसर्णीरः काद्रवेयो मन्त्रम् अपश्यत् ततो वै ते जीर्णास्तनूः अपाघ्नते” (००।००।००) ति. एवंविधो मन्त्रोऽपि नास्ति इति अर्थः. अत्र सांख्याः तदनुसारिणो मायावादिप्रभृतयश्च जीवस्य बुद्धिसम्बन्धाद् औपाधिकं कर्तृत्वम् अङ्गीकुर्वन्ति जीवस्य स्वाभाविककर्तृत्वे यथा वह्नेः औष्ण्याद् न निवृत्तिः तथा जीवस्य कर्तृत्वाद् न निवृत्तिः स्यात् तदनिवृत्तौ न मोक्षोऽपि कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वाद् इति तन्मतं दूषयन्ति नच इत्यादि. **पराधीनकर्तृत्वे** आध्यासिककर्तृत्वे. **एतद्** अनिमोक्षरूपं दूषणं यथा स्वाप्निकयुद्धादौ तस्यैव दुःखरूपत्वात्. **ब्रह्मवद्** इति साहजिककर्तृत्वे दुःखाभावे दृष्टान्तः. निर्धर्मके ब्रह्मणि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

जीवस्य शक्त्यभावे हेतुं सूत्रकार एव वदति इति आहुः जीवस्य इति. जीवस्य योगेन क्रियाज्ञानशक्ती सिध्यतः इति अन्वयः. शक्ती इति द्विवचनान्तम्. क्वचित् ‘शक्तियोगेन’ इति अपपाठः. सच योगो नास्ति इति आहुः **समाध्यभावाद्** इति. समाधिरूपयोगाभावात् सामर्थ्याभावः इति अर्थः. तादृशेति. क्रियाज्ञानसाधकेति अर्थः. एतावता प्रबन्धेन जीवस्य साहजिक-कर्तृत्वं साधितम्. तत्र साङ्ख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते नच इति. सहजेति. बुद्धिसम्बन्धं विना कर्तृत्वे इति अर्थः. **अनिमोक्षः** इति. यथा वह्नेः साहजिकम् उष्णत्वं न गच्छति एवम् अस्य कर्तृत्वमपि. तथाच दुःखदस्य कर्तृत्वस्य सत्त्वाद् न मोक्षः इति अर्थः. समाधानम् आहुः **पराधीनेति**. आध्यासिकेति अर्थः. **एतद्** दुःखदत्वम्. अत्र वैधर्म्ये दृष्टान्तम् आहुः. **ब्रह्मवद्** इति. ब्रह्मणि पराधीनं कर्तृत्वं नास्ति तस्य नित्यसुखरूपत्वन्तु स्वीक्रियते तद्वद् इति अर्थः. एवं ब्रह्मवद् जीवन्मुक्तावपि स्वाधीनं कर्तृत्वं बोध्यम्. अतएव शुक्सनकादीनाम् उपदेशकर्तृत्वं

अन्यस्य भ्रमएव. कर्तृत्वे न मुक्तिः इति. नपुंसकः एवम् उच्येत इति बाह्यवत्.
निरिन्द्रियस्यैव समाधिः इत्यपि. करणत्वेन बुद्धिं वदन् न केनापि दूष्यते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

औपाधिकम् आध्यासिकमेव कर्तृत्वम् इति वादिनं प्रति आहुः सांख्येत्यादि. भ्रमएव
औपाधिकाध्यासिककर्तृत्वांशे कर्तृत्वविशेष्ये भ्रमएव. कर्तृत्वे न मुक्तिः इति अंशे,
सुतरां शुक-सनकादि-वामदेव-प्रभृतितत्त्वविदां बहुशः उपदेशकर्तृत्वश्रवणात्.
नपुंसकः स्वातन्त्र्यादिसकलपुरुषधर्मशून्यः, बाह्यवद् अयम् अभ्युपगमो बाह्यानामिव
सर्वप्रमाणशून्यः इति अर्थः. निरिन्द्रियस्यैव इन्द्रियाभिमानशून्यस्यैव मुक्तस्यैव इति
अर्थः. समाधिः मुक्तिसम्पादकसामग्री. करणत्वेन अलौकिकबुद्धिकार्यकरणत्वेन
मुक्तिप्रतिबन्धकाध्यासशून्यत्वेन च. न केनापि इति. तथाच इहामुत्र च उभयत्रापि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सङ्गच्छते. इयान् परं विशेषः. संसारिणां पराधीनं जीवन्मुक्तानां स्वाधीनं कर्तृत्वम् इति
पराधीनकर्तृत्वस्यैव बन्धकत्वात्. ननु नित्यशुद्धबुद्धात्मनएव मोक्षः नतु कर्तृत्व-
विशिष्टस्य इत्यतः आहुः साङ्ख्यस्य इति. अन्यस्य इति. शङ्कराचार्यमतानुसारिणः.
भ्रमएव इति. स्थलद्वये भ्रमएव इति अर्थः. तत्र प्रथमस्थलम् आहुः कर्तृत्वे इति.
जीवस्य कर्तृत्वे स्वीक्रियमाणे सति न मोक्षः इति भ्रमएव इति अर्थः. द्वितीयस्थलम्
आहुः नपुंसकः इति. स्वातन्त्र्यादिपुंस्त्वशून्यः. बाह्यवद् नास्तिकवद् भ्रमएव इति
अन्वयः. तन्मते निर्विकल्पकालयविज्ञानसन्ततिरेव मोक्षः. अत्र प्रमाणाभावाद् भ्रमो
बोध्यः. निरिन्द्रियस्यैव इति. अत्र “निरिन्द्रियस्यैव समाधिः” इत्यपि इति एकं वाक्यं,
“करणत्वेन बुद्धिं वदन् न केनापि दूष्यते” इति अपरं वाक्यम् इति वाक्यद्वयम् एकस्मिन्
पुस्तके पठितम्. तादृशपाठम् अवलम्ब्य श्रीप्रकाशकृद्भिः व्याख्यातम्. तथाहि. यदुक्तं
समाध्यभावश्च शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतो यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वम् आदाय समाधि-
विधानाद् इति तद् दूषयन्ति निरिन्द्रियस्यैव समाधिः इत्यपि इति. अध्यासशून्यतया
इन्द्रियाद्यभिमानरहितस्यैव समाधिः मुख्यः इत्यपि बोध्यम् इति अर्थः. अत्रापि
भूमविद्यायां वाक्यमेव हेतुः. ननु कैवल्यात् पूर्वं जीवन्मुक्तस्यापि लिङ्गासद्भावाद्
बुद्धिसम्बन्धो अस्त्येवेति कथं निरिन्द्रियत्वम्? अतः आहुः करणत्वेन इति. तथाच
बुद्धिसम्बन्धस्तु केवलस्य ब्रह्माभेदेऽपि अनिवार्यः. बुद्धेः पारमार्थिके व्यावहारिके च
सत्यत्वे विभुनः आकाशस्येव सर्वसम्बद्धत्वात्. अध्यासस्तु नास्ति येन सम्बध्येत.
तस्माद् जीवस्य स्वाभाविकमेव कर्तृत्वम् इति अर्थः. एतदन्तःप्रकाशग्रन्थः.

तस्माद् जीवस्य स्वाभाविकं कर्तृत्वम्. “**ध्यायतीव लेलायतीव**” (बृहदा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

बुद्धिसत्ता निर्बाधा अध्यासमात्रं परं प्रतिबन्धकम् इति बुद्धिसत्त्वं न केनापि दूष्यते इति अर्थः. मुक्तानां स्वाभाविककर्तृत्वम् उपपाद्य संसारिणोऽपि आह “**ध्यायतीव**” (बृहदा. उप.४।३।७) इत्यादि. तथाच भगवतः तद्गुणानां वा अनुकरणकर्तुः मोक्षः इति उक्तम् एकादशस्कन्धे द्वाविंशे “**नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैव अनुकरोति तान्, एवं बुद्धिगुणान् पश्यन् अनीहोपि अनुकार्यत**” (भाग.पुरा.११।२२।) इतिगुणैः भगवता वा

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सच न सङ्गच्छते. “**निरिन्द्रियस्यैव**” इति वाक्यस्य असङ्गतत्वापत्तेः. किञ्च उत्तरवाक्ये वदन् इत्यत्र “**को वदन्**” इति प्रथमान्तपदाकाङ्क्षायाः तादवस्थ्याद् इति. वस्तुतस्तु एकमेव वाक्यं प्राचीनपुस्तके पठितं, तदेव समीचीनतया भाति. तथाहि एवंरीत्या साङ्ख्यमतं निराकृत्य पातञ्जलस्य मतस्य स्वानुकूलत्वं दर्शयति निरिन्द्रियस्यैव इति. **निरिन्द्रियस्यैव** इत्यादि न केनापि दूष्यते इत्येतदन्तम् एकं वाक्यम्. **निरिन्द्रियस्य** निगृहीतेन्द्रियस्य योगयुक्तस्यैव इति अर्थः. तथाच पातञ्जलसूत्रं “**योगः चित्तवृत्तिनिरोधः**” (योगसू.१।२) इति. तदनन्तरं प्रत्याहारः. तत्र इन्द्रियाणां वश्यता. तत्र सूत्रद्वयं, “**स्व-स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपाकारइव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः**” (योगसू.२।५४). “**ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम्**” (योगसू.२।५५) इति. तदनन्तरं धारणा. तत्र सूत्रं, “**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**” (योगसू.३।१) इति. तदनन्तरं ध्यानं “**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**” (योगसू.३।२) इति. तदनन्तरं समाधिः. तत्र सूत्रं, “**तदेव अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**” (योगसू.३।३). एवंरीत्या निरिन्द्रियस्यैव समाधिः इति पतञ्जलिः वदति. तत्र समाधिकाले बुद्धेरपि निग्रहात् तस्याः करणत्वं स्पष्टमेव. तथा चेत् स्पष्टम् अन्वयः निरिन्द्रियस्यैव समाधिः इत्यपि बुद्धेः करणत्वं वदन् पतञ्जलिः न केनापि दूष्यते इति. एवञ्च अस्माभिः न दूष्यते इति न, किन्तु बुद्धिनिष्ठं करणत्वं केनापि न दूष्यते इति अर्थः.

इत्थञ्च तन्मतेऽपि स्वाभाविकं कर्तृत्वं बद्धमुक्तजीवनिष्ठम् इति उपसंहरन्ति तस्माद् इति. इतः परं “**ध्यायतीव**” योगसू. इति श्रुतौ ‘इव’ शब्दस्वारस्याद् वास्तविकं कर्तृत्वं जीवे न प्रतीयते किन्तु औपाधिकम् इति शङ्कराचार्यमतं, तद् निराकुर्वन्ति **ध्यायतीव** इति. विप्लवं वदन् उपेक्ष्य इत्यन्तः शङ्कराचार्यमतनिराकरणपरो ग्रन्थः. बृहदारण्यवाक्यम्. ‘इव’ शब्दस्य अनुकरणार्थत्वाद् ‘ध्यायति’ इत्यत्र ध्यानव्यापारा-नुकरणं करोति इति अर्थः. एवं ‘लेलायति’ इत्यत्र चलनव्यापारानुकरणं करोति इति

उप.४।३।७) इत्यपि परधर्मानुकरणम्. अयमपि एको धर्मः. स्वाप्ययसम्पत्त्योः
ब्रह्मव्यपदेशं पुरस्कृत्य सर्वविप्लवं वदन् उपेक्ष्यः॥३९॥

यथा च तक्षोभयथा॥४०॥

ननु कर्मकराणां कर्तृत्व-भोक्तृत्वभेदो दृश्यते तथा कर्तृत्व-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति बोध्यम्. बुद्धिगुणस्तु जीवस्यैव. स्वाप्ययसम्पत्त्योः सुषुप्ति-मोक्षयोः.
ब्रह्मव्यपदेशं ब्रह्मत्वेन निर्वचनम्. सर्वविप्लवं ब्रह्मातिरिक्तो जीवो नास्ति इति
वदन् “ममैवांशो जीवलोके” (भग.गीता १५।७) इति. “एतस्माद् आत्मनोऽणवो
जीवा व्युच्चरन्ति”(.....) इति. “अंशो नानाव्यपदेशाद्” (ब्रह्मसू.
२।३।४३) इति एतेषां सर्वेषां विप्लवं वदन् उपेक्ष्य इति अर्थः. “तत् केन कं पश्येद्”
(बृहदा. उप.२।४।१४) इत्यादिकन्तु सांसारिकदर्शननिषेधविषयम्॥३९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. भेदः कर्तृत्व-भोक्तृत्व-भिन्ननिष्ठत्वं,

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. इदं च प्रथमाध्याये तृतीयपादे “सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन” इति अधिकरणे स्पष्टम्.
एवञ्च जीवे कर्तृत्वसत्त्वम् अनुकरणकर्तृत्वम् अस्ति चेद् बाधकं नास्ति इति आहुः
अयमपि इति. अनुकरणकर्तृत्वरूपधर्मोऽपि एको जीवधर्मः इति अर्थः. अतएव इह
लोके अवतारदशायां “चेरतुः प्राकृतो यथा” (भाग.पुरा. १०।११।४३) इत्यादिना
जीवानुकरणं बहिः नृत्यानुकरणं भगवता कृतम् इति पुराणे प्रसिद्धम्.

श्रीप्रकाशकृतस्तु मुक्तानां कर्तृत्वम् उक्त्वा संसारिणां ‘ध्यायतीव’ इति
आहुः. तद् न सङ्गच्छते. मुक्तानां संसारिणां च पूर्वमेव उपपादितत्वात्. किञ्च
‘तस्माद्’ इति उपसंहारवाक्यानन्तरं पुनः कर्तृत्वोपपादनस्य असङ्गतत्वापत्तेः.

इदानीं प्रलये सुषुप्तौ च यथा जीवस्य ब्रह्मभावः एवं सर्वदा जीवस्य
ब्रह्मभावः, अतिरिक्तः जीवोऽपि नास्ति, कर्तृत्वमपि नास्ति, उभयोरपि आविद्यकत्वाद्
इति शङ्कराचार्यमतम्. तन्निराकुर्वन्ति स्वाप्ययेति. स्वस्मिन् ब्रह्मणि अप्ययः लयः
प्रलयः इति अर्थः. सम्पत्तिः सुषुप्तिः. स्वाप्ययश्च सम्पत्तिश्च इति द्वन्द्वः. इदं च
प्रथमाध्याये प्रथमपादे चतुर्थाधिकरणे ‘स्वाप्ययाद्’ (ब्रह्मसू.१।१।) इति सूत्रे स्पष्टम्.
ब्रह्मभावम् इति. स्वाप्ययश्च सुषुप्तौ च ब्रह्मभावः पुरस्कृत्य “सर्वं ब्रह्म अन्यत् सर्वं
मिथ्या” इति विप्लवं वदन् उपेक्ष्य इति अर्थः ॥३९॥

इदं च समाधानसूत्रम्. तदर्थं पूर्वपक्षम् उत्थापयन्ति ननु इति. भेदः इति.
कर्मकारः कृष्यादिकर्ता, भोक्ता भूमिस्वामी राजा इति भेदः इति अर्थः. भविष्यति इति.

भोक्तृत्वयोः भेदो भविष्यति इति चेद्, न. **यथा तक्षा** रथं निर्माय तत्र आरूढो विहरति, पीठं वा. स्वतो वा न व्याप्रियते वास्यादिद्वारेण वा. ‘च’काराद् अन्येऽपि स्वार्थकर्तारः. अन्यार्थमपि करोति इति चेत् तथा प्रकृतेऽपि सर्वहितार्थं प्रयतमानत्वात्. नच कर्तृत्वमात्रं दुःखरूपम्, पयःपानादेः सुखरूपत्वात्. तथाच स्वार्थ-परार्थकर्तृत्वं कारयितृत्वञ्च सिद्धम् ॥४०॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे कर्तृशास्त्रार्थवत्त्वाद् इति चतुर्दशम् अधिकरणम् ॥१४॥

परात् तच्छ्रुतेः ॥४१॥ (२।३।१५)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भेदो भविष्यति लोकन्यायेन वेदोक्तकर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः कर्तृभिन्ननिष्ठत्वं भविष्यति इति अर्थः. सूत्रोक्तसमाधिम् आहुः **न** इत्यादि. तथाच उक्तं भिन्ननिष्ठत्वं यत्किञ्चित् कर्मकरदृष्टान्तेन उक्तं तत् प्रायिकं नतु नियमः इति अर्थः. **न व्याप्रियते** न करोति इति अर्थः. **वा** शब्दात् स्वतोऽपि करोति द्वारेणापि च करोति इति अर्थः. **स्वार्थकर्तारः** याचकादयः. **अन्यार्थमपि** इति कश्चित् करोति इति अर्थः. **प्रकृतेऽपि** वेदोक्तकर्तृत्व-स्थलेऽपि ॥४०॥१४॥

जीवे कर्तृत्वं स्वाभाविकम् इति अवधारितं, तत् किं जीवस्वातन्त्र्येण उत ब्रह्माधीनतया? इति विचारणीयं, “**पुण्यः पुण्येन**” (बृहदा.उप.४।४।५) इति, “**एष उ एव**” (कौषी.उप.३।९) इति विरुद्धश्रुतिदर्शनेन सन्देहात्. तत्र ईश्वराधीनत्वे जीवस्य दुःखभोगासम्भवात् कर्मानादित्वस्य च कर्तृत्वानादित्वाधीनत्वात् कर्तृत्वमपि अनाद्येवेति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भिन्ननिष्ठत्वं भविष्यति इति अर्थः. तथाच कर्तृत्वं बुद्धिनिष्ठं, भोक्तृत्वं जीवनिष्ठम् इति साङ्ख्यस्य गूढाभिसन्धिः. समाधानम् आहुः **यथा** इति. पीठं वा इति निर्माय इति पूर्वेण अन्वयः. बुद्ध्यादिद्वारा यथा जीवः करोति इति अत्र दृष्टान्तम् आहुः **वाश्यादीति**. कुठारादिद्वारेण इति अर्थः. **उभयथा** इति सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति **अन्यार्थम्** इति. जीवस्यापि परार्थकर्तृत्वं प्रशंसन्ति **सर्वे**ति. ननु उक्तं कर्तृत्वं दुःखरूपं, तत्सत्त्वे कथं मोक्षः? इत्यतः आहुः **पयः** इति ॥४०॥१४॥

“**पुण्यः पुण्येन कर्मणा**” (बृहदा.उप.४।४।५) इति, “**एष उ एव**” (कौषी.उप.३।८) इति श्रुतिद्वयदर्शनेन स्वतःकर्तृत्वं पराधीनं वा इति सन्देहे कर्त्राधीनत्वात् कर्मणो यथा अनादित्वम् एवं कर्तृत्वमपि अनादि स्वीकार्यमिति न पराधीनं कर्तृत्वम् इति पूर्वपक्षे पराधीनमेव इति सिद्धान्तयितुं “**परात् तच्छ्रुत्य**”धिकरणम् आहुः **परात्** इति.

कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव. तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत्. ननु जडगतम् इत्यतो “नान्यो अतो अस्ति” (बृहदा.उप.४।३।२२) इति सर्वकर्तृत्वं घटते. कुतः एतत्? तच्छ्रुतेः. तस्यैव कर्तृत्वकारयितृत्व-श्रवणात्. “यमधो निनीषति तमसाधु कारयति” (कौषी.उप.३।९) इति. “सर्वकर्ता” (बृहदा.उप.४।४।१३) “सर्वभोक्ता” (महाना.उप.१६।५) “सर्वनियन्ता” (तैत्ति.आर.३।११) इति. सर्वरूपत्वाद् न भगवति दोषः॥४१॥

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः॥४२॥

ननु वैषम्य-नैर्घृण्ययोः न परिहारः, अनादित्वेन स्वस्यैव कारयितृत्वाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्वातन्त्र्येणैव कर्तृत्वम् इति वा इति शङ्कायां सूत्रं व्याकुर्वन्ति. कर्तृत्वम् इत्यादि. ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् अंशत्वाद् जीवे भासते, अवयविक्रिया अवयवेष्विव. अतः कर्तृत्वद्रष्टृत्वादिधर्माणां ब्रह्मनिष्ठत्वादेव. “नान्योतोस्ति द्रष्टा” (बृह.उप.२।७।२३) इत्यादिश्रुत्युक्तम् अन्यनिषेधेन ब्रह्मणएव दर्शनादिसर्वकार्यकर्तृत्वं घटते. “सर्वकर्म” (.....) इति श्रुतिरपि असङ्कोचेन ब्रह्मणि सङ्गच्छते. एवञ्च ब्रह्मधर्मत्वादेव कर्मानादित्वमपि अव्याकुलं सङ्गच्छते, कर्तुः अनादित्वात्॥४१॥

तुशब्दव्याख्यानमुखेन सूत्रं अवतारयन्ति ननु इत्यादि. पूर्वं कर्मानादित्वं तत्सापेक्षत्वं च ईश्वरस्य उरीकृत्य वैषम्य-नैर्घृण्ययोः समाधानम् उक्तं तनु न युज्यते, कर्मानादित्ववत् तत्कारयितृत्वस्यापि अनादित्वाद्, अतः समाधानान्तरं करोति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्याख्यानम् आहुः कर्तृत्वम् इति. तत्सम्बन्धाद् इति. चैतन्यत्वेन अंशांशि-भावसम्बन्धाद् इति अर्थः. ऐश्वर्यादिवद् इति. पार्षदादिषु यथा ऐश्वर्यं तथा इति अर्थः. ननु जडस्यापि अंशत्वम् अस्ति इत्यतः आहुः ननु इति. तत्र चैतन्यत्वेन तादात्म्य-सम्बन्धाभावाद् इति भावः. अतः इति. अतएव इति अर्थः. न अन्यः इति. “न अन्यो अतो अस्ति द्रष्टा न अन्यो अतो अस्ति श्रोता” (कौषी.ब्राह्म.३।९) इति कौषीतकि-ब्राह्मणस्थं वाक्यम्. सर्वेति. दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादि-सर्वकर्तृत्वम् इति अर्थः. श्रवणमेव आहुः यम् इति. ननु एवं सर्वकर्तृत्वे असमीचीनकर्तृत्वं स्याद् इत्यतः आहुः सर्वेति. दोषः इति. एकादशस्कन्धोक्ताद् “किं वर्णितेन बहुना” (भाग.पुरा.११।१९।४५) इत्यादि पद्याद् न दोषः इति अर्थः॥४१॥

तुशब्दस्य पूर्वपक्षनिवर्तकत्वेन प्रथमं पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. पक्षं

इति पक्षं 'तु'शब्दो निवारयति. प्रयत्नपर्यन्तं जीवकृत्यम्, अग्रे तस्य अशक्यत्वात् स्वयमेव कारयति. यथा पुत्रं यतमानं बालं पदार्थगुणदोषौ वर्णयन्नपि तत्प्रयत्नाभिनिवेशं दृष्ट्वा तथैव कारयति. सर्वत्र तत्कारणत्वाय तदानीं फलदातृत्वे या इच्छा तामेव अनुवदति "उन्निनीषति, अधो निनीषति" (कौषी.उप.३।।९) इति. अन्यथा विहित-प्रतिषिद्धयोः वैयर्थ्यापत्तेः, अप्रामाणिकत्वं च. फलदाने कर्मापेक्षः. कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः. प्रयत्ने

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कृतप्रयत्नेत्यादि. अग्रे फलपर्यवसायिसामग्रीसम्पादने. तस्य जीवस्य. अशक्यत्वात् असमर्थत्वात्. स्वयमेव भगवानेव. अन्यथा भगवतो विहितकर्मफलदातृत्वाभावे. अप्रामाणिकत्वं च विधिनिषेधवाक्यानाम् अप्रामाण्यमपि आपद्येत इति अर्थः. कामापेक्षः जीवकामापेक्षः. प्रवाहः जीवप्रभृतिलोकप्रसिद्धिसमुदायः. अन्यथा

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वपक्षम्. निवारणप्रकारमेव आहुः प्रयत्नेति. तथाच एतावत्पर्यन्तं जीवकृत्यापेक्षा इति भावः. अग्रे इति. सदसत्कर्मणि उपकरणसम्पादनस्य इति अर्थः. ननु भगवान् कर्म कारयति इति चेत् पूर्वपक्षोक्तदोषः तदवस्थएव इत्यतः तं निवारयितुं दृष्टान्तम् आहुः यथा इति. पुत्रं यतमानं बालं वा इति पाठः. वर्णयन्नपि इति. वेदे इति शेषः. त्वया एवं क्रियते एवम् अस्य फलं भविष्यति इति वर्णयन् इति अर्थः. तत्प्रयत्नेति. तस्य बालस्य प्रयत्ने अभिनिवेशम् आग्रहम् इति अर्थः. एतावत्पर्यन्तं जीवकृत्ये दृष्टान्तः इति भावः. ईश्वरकृत्ये दृष्टान्तम् आहुः तथैव इति. बालानुकूलमेव कर्म उपकरणसम्पादनद्वारा कारयति इति अर्थः. ननु 'कारयति' इति उक्तं, तत् किं हस्तेन कारयति? इत्यतः आहुः सर्वत्र इति. कर्मणि फलदाने जगन्निर्माणे च इति अर्थः. तत्कारणत्वाय इति. अनुवदति इत्यनेन अन्वयः. तस्य इच्छायाः करणत्वार्थम् इति अर्थः. 'तत्कारणत्वाय' इति अपपाठः. श्रीप्रकाशकृद्भिस्तु 'तत्कारणत्वाय' इति पाठं धृत्वा व्याख्यातं परन्तु 'उन्निनीषति' इत्यनेन इच्छायाएव कारणत्वं, तद्द्वारा सर्वं करोति इति भावः. ननु निषिद्धकर्मणि दारुणं फलं ददाति इति नैर्घृण्यदोषः तदवस्थएव इत्यतः सूत्रात्महेतुं विवृण्वन्ति अन्यथा इति. विहित-प्रतिषिद्धयोः अवैयर्थ्यादिभ्यः इति हेत्वर्थः. आदिपदप्राह्यम् आहुः अप्रामाणिकत्वम् इति.

ननु इदं सर्वं वेदे भगवतैव उक्तं, तावता वैषम्यादिदोषः कथं गच्छति? इत्यतः आहुः फलदाने इति. न दोषगन्धोऽपि इति. तथाच मर्यादासंरक्षणं भगवतो

कामापेक्षः. कामे प्रवाहापेक्षः इति मर्यादारक्षार्थं वेदं चकार. ततो न ब्रह्मणि दोषगन्धोऽपि. न च अनीश्वरत्वम्. मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्. यत्र अन्यथा सः पुष्टिमध्ये इति ॥४२॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे परात् तच्छ्रुतेः इति पञ्चदशम् अधिकरणम् ॥१५॥

अंशो नानाव्यपदेशाद् अन्यथा चापि

दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥ (२।३।१६)

जीवस्य ब्रह्मसम्बन्धि रूपम् उच्यते. जीवो नाम ब्रह्मणो अंशः. कुतः ?

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मर्यादाभिन्नपुष्टिमार्गनिष्ठतादशायाम् ॥४२॥१५॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति जीवो नाम इति. नानाव्यपदेशात् श्रुतौ बहुत्वसङ्ख्याविशिष्टत्वेन कथनाद् ब्रह्मणः सकाशाद् विस्फुलिङ्गवद् विभागकथनात् च इति अर्थः. एकदेशिमतरिरासाय आहुः ननु इत्यादि. निषेधहेतुम् आहुः न हि ब्रह्म

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अत्यावश्यकं लीलासंरक्षणार्थं सिद्ध्यर्थं च. इदं च “लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्रह्मसू.२।१।३३) इति सूत्रे स्पष्टम् उक्तं प्राक्. यथा राज्ञो नीतिशास्त्रानुसरणं प्रजासंरक्षणार्थम्, एवञ्च “निषिद्धस्य इदं फलम्” इति जानन्नपि तत्र कृतप्रयत्नो जायते इति जीवस्य अयं स्वभावः. प्रयत्नापेक्षः फलं ददात्येव इति न अयं दोषो भगवतः किन्तु जीवस्वभावस्य इति भावः. ननु प्रयत्नापेक्षत्वे ईश्वरत्वं कथम्? अतः आहुः नच इति. ननु किम् इदम् उच्यते मर्यादां न भिनत्ति इति. एकादशे “ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासित महत्तमाः, अब्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान् माम् उपागताः, व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यः” (भाग.पुरा.११।१२।७) इत्यादिवाक्येषु यत्नापेक्षां विनैव गोकुलस्थेभ्यः फलदानम् उक्तम् अतः आहुः यत्र इति. तथाच इयमपि लीलैव. कृपापात्रेषु अन्यैव रीतिः इति “लोकवद्” इति सूत्रे स्पष्टम्. क्वचिद् मर्यादोल्लङ्घनमपि क्रियते स्वातन्त्र्यज्ञापनार्थं जीवस्वभावोत्पादकत्वं जीवप्रयत्नाधीनत्वेऽपि न स्वातन्त्र्यहानिः. अतएव कर्मसापेक्षत्वेन वैषम्यनैर्घृण्याभावः इत्यादिकं सर्वं विरुद्धधर्माश्रये भगवति शोभते. अतएव उक्तं सुबोधिण्यां द्वितीयस्कन्धे “यत्किञ्चिद् दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्, विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते” (सुबो.२।१।३२) ॥४२॥१४॥

जीवस्वरूपन्तु “ज्ञोत एव” (ब्रह्मसू.२।३।१८) इति सूत्रे प्रतिपादितमेव. इदानीं ब्रह्मसम्बन्धिप्रतिपादनार्थं नानाव्यपदेशाधिकरणम् आहुः अंशो नाना इति. सूत्रं

नानाव्यपदेशात्. “सर्वएव आत्मानो व्युचरन्ति”(बृहदा.उप.२।१।२०)
“कपूयचरणाः रमणीयचरणाः”(छान्दो.उप.५।१०।७) इति च.

ननु ब्रह्माणो निरवयवत्वात् कथं जीवस्य अंशत्वम् इति वाच्यम्. न हि
ब्रह्म निरंशं सांशम् इति वा क्वचिद् लोके सिद्धम्, वेदैकसमधिगम्यत्वात्. साच
श्रुतिः यथा उपपद्यते तथा तदनुल्लङ्घनेन वेदार्थज्ञानार्थं युक्तिः वक्तव्या. सा
चेत् स्वयं न अवगता, तपो विधेयम्, अभिज्ञा वा प्रष्टव्या इति. नतु सर्वविप्लवः
कर्तव्यः. तत्र एषा युक्तिः.

विस्फुलिङ्गा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गताः॥

सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतोक्षिशिरोमुखात्॥३१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. सा जीवेषु ब्रह्मांशत्वबोधिका. तदनुल्लङ्घनेन श्रुत्युल्लङ्घनेन. युक्तिः
वक्तव्या “न्यग्रोधबीजमाहर”(छान्दो.उप.६।१२।१) इत्येवंविधा वैदिकी युक्तिः
वक्तव्या. तपो विधेयं “तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व”(तैत्ति.उप.३।२) इति विधानात्
तपो विधेयम्. अभिज्ञा वा प्रष्टव्या: “तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्”(मुण्डकोप.१।२।१२) इत्यादिश्रुतेः श्रुतिसिद्धयुक्तिरूपम्.
अंशपक्षाङ्गीकारे हेतुम् आहुः तत्र इत्यादि. जडजीवाः विनिर्गताः इति “एतस्माद्
आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि” इति उक्त्वा “सर्वएव
आत्मानो व्युचरन्ति”(बृहदा.उप.२।१।२०) इति कथनात् ते परस्परविलक्षणतया
निर्गताः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

व्याकुर्वन्ति जीवेति. नाना इति. श्रुतौ “बहु स्याम्” (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादि
नानात्वेन कथनाद् इति अर्थः. अंशत्वे प्रमाणान्तरमपि आहुः सर्वएव इति. शङ्कते ननु
इति. नच इति अर्थः. उत्तरयन्ति न हि इति. लोके कुतो न सिद्धम्? इत्यतः आहुः
वेदैकेति. साच इति. यादृशं ब्रह्म तादृशबोधिका इति अर्थः. परेषां विरुद्धश्रुत्यर्थलापने
युक्तिः नास्ति इति बोधयितुम् आहुः वक्तव्येति. तथाच वेदे ब्रह्म सकलं निष्कलं
निरवयवं सावयवं सर्वतः चक्षुः अचक्षुः इत्यादिरूपम् अभिधीयते. तत्र
श्रुत्युपपत्युल्लङ्घनम् अकृत्वा तदर्थज्ञानार्थं युक्तिः वक्तव्या इति अर्थः. अभिज्ञा इति.
ज्ञानिनो गुरवः प्रष्टव्याः. युक्तिस्तु भवतामपि न आयाति इति परस्य कदाचिद् भ्रमणाद्
इति एतदर्थं युक्तिं वदन्ति तत्र इति. युक्तिम् आहुः सार्द्धद्वयेन विस्फुलिङ्गाः इति.

निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः।

सदंशेन जडाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि॥

अन्यधर्मतिरोभावान् मूलेच्छातोऽस्वतन्त्रिणः॥३२॥

इति. ब्रह्मवादे अंशपक्षएव. ननु अंशत्वे सजातीयत्वम् आयाति. श्रुत्यन्तरे पुनः “ब्रह्मदाशा ब्रह्मे कितवा उत”. अत्र सर्वस्यापि ब्रह्मविज्ञानेन विज्ञानप्रतिज्ञानाद् दाशादीनामपि ब्रह्मत्वं प्रतीयते. तत् कार्यत्वएव स्याद् इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जडजीववैलक्षण्ये हेतुम् आहुः सदंशेन इत्यादि. जडजीवयोः विरुद्ध-धर्माधारत्वाभावे युक्तिम् आहुः अन्यधर्मेत्यादि. अन्यो आनन्दांशः, तस्य धर्मः विरुद्धधर्माश्रयत्वं, तस्य तिरोभावो येषु तादृशाः इति अर्थः. तत्र हेतुः मूलेच्छातः इति. “प्रजायेय” (छान्दो.उप.६।२।३) इति इच्छातः इति अर्थः. अस्वतन्त्रिणः इति. स्वातन्त्र्यं ब्रह्मपरता विद्यते येषु तद्भिन्नाः. अंशत्वे किञ्चिद् आशंक्य सूत्रांशेन परिहरति इति आशयेन आहुः ननु इत्यादि. सजातीयत्वं सर्वेषां ब्रह्मसजातीयत्वम् आयाति. अत्र इत्यस्यां श्रुतौ. तद् विजातीयानां ब्रह्मत्वम्. कार्यत्वएव इति तेषां ब्रह्मत्वं ब्रह्मकार्यत्वएव घटेत यथा मृद्-घटादीनां तन्तु-पटादीनां कारणविजातीयानां

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

निरिन्द्रियाद् इति. सर्वेन्द्रियाद् इति. “सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्” (श्वेता.उप.३।१७) इति श्रुत्या निरिन्द्रियाद् इति अर्थः. ननु जीवस्य अस्वातन्त्र्यं कथम् इति आहुः अन्येति. अन्यधर्मः आनन्दांशः तस्य तिरोभावाद इति अर्थः. ‘अन्यधर्मतिरोभावः’ इत्यपि पाठः. तत्र अन्यधर्मस्य तिरोभावो येषु तादृशाः इति अर्थः. तिरोभावे हेतुम् आहुः मूलेच्छाद् इति. “बहु स्याम्” इति या मूलभूता इच्छा तस्याः इति अर्थः. भगवदिच्छातः इति यावत्. ब्रह्मवादे इति. तथाच “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता” (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद् विरुद्धधर्माश्रयत्वम् अवश्यं ब्रह्मणि स्वीकर्तव्यमेव इति एषा युक्तिः. तथैव अंशत्वं जीवे सिध्यति ब्रह्मणि अंशित्व-निरवयवत्वयोः विरुद्धयोः स्वीकारात्. एवञ्च “निष्कले”तिश्रुतिबलेन औपचारिकांशत्वं जीवे नास्ति इति भावः. अंशत्वपक्षे या आशङ्का तां सूत्रांशेनैव परिहरति इत्यतः पूर्वम् आशङ्काम् आहुः ननु इति. ननु सजातीयत्वे किं बाधकम्? अतः आहुः श्रुत्यन्तरे इति. आथर्वणिके ब्रह्मसूक्ते “ब्रह्म *दाशाः” ब्रह्म दासाः(!?) सेवकाः इति अर्थः. (वस्तुतस्तु ‘दाश’पदस्य अर्थः मत्स्यहिंसोपजीवी भवति न सेवकः. अतः प्रामादिकोऽयम् अर्थः

अवगन्तव्यः (सम्पा.)

चेद्, न. अन्यथा चापि प्रकारान्तरेणापि एके शाखिनो दाशकितवादित्वम् अधीयते शरीरत्वेन, अंशत्वेन च स्वरूपतः कार्याभावेऽपि प्रकारभेदेन कार्यत्वात्. तथाच न साजात्यम्, आनन्दांशस्य तिरोहितत्वात्. धर्मान्तरेण तु साजात्यम् इष्टमेव॥४३॥

मन्त्रवर्णात्॥४४॥

“पुरुष एवेदं सर्वम्” (ऋग्वेद १०।९०।२) इति उक्त्वा, “पादोऽस्य विश्वा भूतानि” (तत्रैव १०।९०।३) इति भूतानां जीवानां पादत्वं, पादेषु

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कारणरूपकार्यत्वम् उच्यते तथा. तथाच व्युच्चरणश्रुत्युक्तादीनां प्राणलोकादीनामिव जीवानामपि कार्यत्वमेव अङ्गीकार्यं नतु अंशत्वम् इति शङ्कार्थः. प्रकारान्तरं विवृण्वन्ति एक इत्यादि. दाशकितवादित्वं ब्रह्मणो अधीयते इति अर्थः. शरीरत्वेन जीवानां ब्रह्मशरीरत्वेन. अंशत्वेन जीवानां ब्रह्मांशत्वेन इति अर्थः. अतएव तेषु ब्रह्मप्रवेशोऽपि “तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशद्” (तैत्ति.उप.२।६) इति सङ्गच्छते. अंशेषु धर्मिप्रवेशः तन्तुषु पटे दृष्टः. स्वरूपतः जीवस्य स्वरूपतः. कार्याभावे कार्यत्वाभावे. प्रकारभेदेन देहतद्धर्माभिमानेन. कार्यत्वाद् “जातो अहं मरिष्यामि” इति कार्यत्वाभिमानात्. धर्मान्तरेण चित्वनित्यत्वादिना॥४३॥

मन्त्रवर्णमेव आहुः पुरुषएव इत्यादि॥४४॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इमे कितवा द्यूतकारिणः सर्वे ब्रह्मैव इति श्रुत्यर्थः. शङ्कां विशदयन्ति अत्र इति. कार्यत्वएव इति. तथाच मृद्विज्ञानेन घटविज्ञानं यथा तथा ब्रह्मविज्ञानेन दासादिविज्ञानम्, इदं च कार्यत्वएव सम्भवति नतु सजातीयत्वे इति अर्थः. अत्र सूत्रोक्तं समाधानं विवृण्वन्ति अन्यथा चापि इति. प्रकारान्तरमेव आहुः शरीरत्वेन इति. तथाच ‘दास-कितव’पदयोः शरीरांशार्थत्वम् इति भावः. ननु जीवस्य ब्रह्मकार्यत्वप्रवादः कथम्? इत्यतः आहुः स्वरूपतः इति. जीवस्य इति शेषः. कार्याभावेऽपि जन्माभावेऽपि. प्रकारभेदेन ब्रह्मणः सकाशाद् विभागः शरीरप्रवेशश्च इति प्रकारभेदेन इति अर्थः. अतएव साजात्यं नास्ति इति आहुः तथाच इति. शरीराभिमानाद् इति शेषः. ननु अभिमानः कुतः सम्पन्नः? इत्यतः आहुः आनन्दांशस्य इति. धर्मान्तरेण तु चिद्रूपत्वेनतु. तथाच सजातीयत्वसत्त्वे जीवो अंशएव इति भावः ॥४३॥

पुरुषसूक्ते सत्त्वम् आहुः पादोऽस्य इति. प्रथमाध्याये द्युभ्वधिकरणे भगवतः

स्थितत्वेन वा अंशत्वम् इति॥४४॥

अपि स्मर्यते॥४५॥

वेदे स्वतन्त्रतया उपपाद्य वेदान्तरेऽपि तस्य अर्थस्य अनुस्मरणं,
“ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः” (भग.गीता १५।७) इति॥४५॥

प्रकाशादिवन्नैवं परः॥४६॥

जीवस्य अंशत्वे हस्तादिवत् तद्दुःखेन परस्यापि दुःखित्वं स्याद् इति चेद्, न, एवं परो न भवति. एवम् इति प्रकारभेदः. द्विष्टत्वेन अनुभवः इति यावत्. अन्यथा, सर्वरूपत्वात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वेदे व्युच्चरणश्रुतिरूपवेदे॥४५॥

एवं त्रिसूत्र्या जीवस्य अंशत्वं व्युत्पाद्य अंशत्वे प्राप्तान् दोषान् परिहरति इति आशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति जीवस्य इत्यादि. तद्दुःखेन अंशत्वेन अभिमतजीवदुःखेन. एवं परो न भवति जीवसमानप्रकारः परमात्मा न भवति. प्रकारभेदः जीवापेक्षया भेदकः प्रकारो ब्रह्मणि वर्तते इति अर्थः. सच प्रकारः जीवे अनिष्टसाधने द्विष्टत्वेन अनुभवः तदपेक्षया ब्रह्मणि सर्वस्य प्रियत्वेन अनुभवः. अतः प्रकारभेदो भेदकः इति अर्थः. अन्यथा अतो हेतोः परो अन्यथा जीवभिन्नप्रकारः इति अर्थः. कुतः? इत्यत्र हेतुः सर्वरूपत्वाद् इति.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आधारत्वम् उक्तं, तदभिप्रायेण आहुः पादेषु इति ॥४४॥

वेदान्तरे इति. गीतारूपस्मृतौ इति अर्थः. यद्यपि स्मृतेः वेदत्वं नास्ति तथापि भगवन्मुखनिःसृतत्वाद् वेदान्तरं वेदचतुष्टयभिन्नत्वम् ॥४५॥

अंशत्वे ये दोषाः तान् सर्वान् दूरीकर्तुं सूत्रम् आहुः प्रकाशादिवद् इति. सूत्रव्याख्यानम् आहुः जीवस्य इति. अंशस्य दुःखेन अंशी दुःखी स्याद् इति शङ्कते हस्तादिवद् इति. अंशत्वेति पूर्वेण अन्वयः. तद्दुःखेन जीवदुःखेन. समाधानम् आहुः एवम् इति. प्रकारभेदमेव आहुः द्विष्टत्वेन इति. द्विष्टं द्वेषयुक्तं सुखं प्रियम्. तथाच द्विष्टत्वेन अनुभवः प्रियत्वेन अनुभवः इति प्रकारभेदः इति अर्थः. जीवे दुःखस्य द्विष्टत्वेन अनुभवः परेतु दुःखस्य प्रियत्वेन अनुभवः. तदेव आहुः अन्यथा इति. अन्यथा प्रियत्वेन अनुभवः इति अर्थः. परस्य प्रियत्वेन दुःखस्य अनुभवः कथं? इत्यतः आहुः सर्वेति. अतएव दुःखस्य रूपत्वमपि तस्य अस्ति इति अर्थः. तथाच स्वस्य

कुतः एवम् ? तत्र आह प्रकाशादिवद्. “नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्” (भाग.पुरा.११।२३।५६) इति. प्रकाशग्रहणं धर्मत्वद्योतनाय. दुःखादयोऽपि ब्रह्मधर्मा इति. अतो द्वैतबुद्ध्या अंशस्यैव दुःखित्वं न परस्य.

अथवा प्रकाशः प्रकाश्यदोषेण यथा न दुष्टः, रूपस्यापि (‘पापस्यापि’ इति पुरु.पाठः) तदंशत्वाद् इति॥४६॥

स्मरन्ति च॥४७॥

स्मरन्ति च सर्वेऽपि ऋषयो अंशिनो दुःखासम्बन्धं स्मरन्ति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु कुतः एवम् अवगम्यते ? तत्र आह प्रकाशादिवद् इति. नाग्नेः इत्यादि. तथाच यथा प्रकाशशैत्यादयो धर्माः अग्निहिमादीनां न दुःखद्विष्टत्वादिबुद्धिजनकाः तथा दुःखादिजीवधर्माऽपि परस्मिन् न दुःखजनकाः. ब्रह्मधर्माः जीवात्मनः ब्रह्मधर्माः. न परस्य द्वैतबुद्धेः अभावाद् न परस्य इति अर्थः. एतत्पक्षस्य क्लिष्टत्वात् पक्षान्तरम् आहुः अथवा इत्यादि. प्रकाशः आलोकः प्रकाश्यं तदंशो रूपम्. तस्य रूपस्य दोषेण न आलोकस्य दुष्टत्वं तथा अंशस्य जीवस्य दोषेण परस्यापि न दुष्टत्वम् इति अर्थः. तदंशत्वाद् विराजः पृष्टरूपत्वाद् इति अर्थः. तथाच न विराजः तेन दुःखम् इति अर्थः. तथाच जीवदोषेण न परस्य दुष्टत्वम् इति अर्थः॥४६॥

व्याकुर्वन्ति सर्वे इति. दुःखसम्बन्धं जीवरूपतया दुःखसम्बन्धम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

स्वस्मिन् अप्रियत्वेन मानाभावात् परो न एवम् इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः प्रकाशादिवद् इति. प्रकाशः शैत्यं वा अग्निहिमादीनां यथा दुःखदं न तथा दुःखमपि भगवतो दुःखदं न भवति इति अर्थः. अत्र एकादशस्कन्धोक्तं भिक्षुगीतास्थं वाक्यं प्रमाणम् आहुः नाग्नेर्हि इति. सूत्रे ‘अग्न्यादिवद्’ इति न उक्तं, तस्य प्रयोजनम् आहुः प्रकाशेति. पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. प्रकाश्यदोषेण अंशभूतं प्रकाश्यं यद्रूपं तद्दोषेण इति अर्थः. रूपस्य प्रकाशांशत्वं द्वादशस्कन्धे उक्तं “सूर्यश्चक्षुः तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग् भवेद्” (भाग.पुरा.१२।४।२४) इति. परस्यापि इति. तथा परस्यापि जीवदोषो नास्ति इति अर्थः. क्वचित् ‘पापस्य’ इति अपपाठः. कुतो नास्ति इत्यतः आहुः तदंशत्वाद् इति. जीवस्य इति शेषः. जीवस्य तदंशत्वाद् भगवदंशत्वाद् इति अर्थः॥४६॥

किं स्मरन्ति ? तत्र आहुः अंशिनः इति. परमेश्वरस्य इति अर्थः.

“तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः,
 न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा” (महाभा.शान्तिप.३५१।१४) इति.
 “कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते” (तत्रैव ३५१।१५)
 “एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः” (कठोप.२।५।११)
 ‘च’कारात्, “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनशनन् अन्यो अभिचाकशीति”
 (श्वेता.उप.४।६) इति॥४७॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाद् ज्योतिरादिवत्॥४८॥

ननु जीवस्य भगवदंशत्वे विधिविषयत्वाभावात् कर्मसम्बन्धाभावेन कथं फलसम्बन्धः? जीवस्य च पुनः अनेकदेहसम्बन्धात् कः शूद्रः, का भार्या इति ज्ञानमपि अशक्यम् अतः कर्ममार्गस्य व्याकुलत्वात् कथं जीवस्यापि दुःखित्वम्? इति आशङ्क्य परिहरति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“एकस्तथा” इति श्रुतिः कठवल्लीस्था. दिवतीया श्वेताश्वतरस्था. एवं विरुद्धधर्मवत्त्वं जीव-परमात्मनोः भेदकं सिद्धम्. एवं सूत्रत्रयेण एको दोषः परिहृतः॥४७॥

पुनः दोषान्तरम् आशङ्क्य परिहरति इति आहुः ननु इत्यादि. अयम् अर्थः
 “कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वाद्” (ब्रह्मसू.२।३।३३) इत्यत्र ब्रह्मणः आप्तकामत्वेन फलानुयोगाद् जडस्य च ज्ञानाद्यभावेन कर्मानधिकाराद् विधिनिषेधशास्त्रानर्थक्यं स्याद् इति दोषपरिहारार्थं जीवस्य उभयविधकर्माधिकारः स्वीकृतः. अंशत्वे तद् विरुध्येत, भगवतइव जीवस्यापि कर्मफलसम्बन्धासम्भवात्. जीवस्य च न अनेकदेहसम्बन्धात् को जीवः शूद्रः का भार्या इति ज्ञानमपि अशक्यम्. तदज्ञाने च “ऋतौ भार्याम् उपेयात्” (आश्व.श्रौ.सू.२।१६), “न शूद्राय मतिं दद्यात्” (मनुस्मृ.४।८०) इत्याद्यनुज्ञापरिहार-विषयज्ञानाभावः. एवं निश्चयाभावे कर्ममार्गस्य व्याकुलत्वाद् व्यवस्थाकरणा-सम्भवात् कथं जीवस्यापि निषिद्धानुष्ठानदुःखं सम्भवेद् इति द्वयम् आशङ्क्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

दुःखासम्बन्धम् इति. दुःखाभाववत्त्वम्. स्मृतिम् आहुः तत्र इति. वेदम् आहुः एकस्तथा इति. कठवल्ल्याम् ॥४७॥

इदं सूत्रम् आशङ्क्य परिहारार्थम् इति पूर्वम् आशङ्काम् आहुः ननु इति. कथम् इति. कर्मजन्यसुखदुःखसम्बन्धः उभयत्रापि नास्ति इति अर्थः. अशक्यम् इति. तथाच एतादृशज्ञानाभावेन अधिकारीति निर्णयाभावात् कर्ममार्गस्य व्याकुलत्वम् इति भावः.

अनुज्ञापरिहारौ विधिनिषेधौ, जीवस्य देहसम्बन्धाद् यो देहो यदा गृहीतः तत्कृतौ. यथा शवाग्निः, चण्डालभाण्डस्थम् उदकं तद्धटादिश्च परिह्रियते एवम् उत्कृष्टं परिगृह्यते तथा जीवेऽपि देहसम्बन्धकृतः. सम्बन्धश्च आध्यासिको भगवत्कृतश्च. आध्यासिको हि ज्ञानाद् निवर्तते, द्वितीयो भगवतैव. जीवन्मुक्तानामपि व्यवहारदर्शनात्. श्रुतिस्तु भगवत्कृतसम्बन्धमेव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

परिहरति परिहारम् आहुः अनुज्ञा इत्यादि. सत्यं, जीवस्य यद्यपि भगवदंशत्वाद् न स्वरूपतो विधिनिषेधविषयत्वं तथापि तत्तद्देहसम्बन्धकृतम् आगन्तुकं तद् भवत्येव. यथा अग्न्युदकपृथिवीनां स्वरूपतो विधिनिषेधाविषयत्वेऽपि शवादिसम्बन्धाद् निषेध्यत्वं श्रोत्रियादिसम्बन्धे च वैधत्वं तद्वद् जीवस्यापि देहसम्बन्धाद् विधिनिषेधविषयत्वे सम्पन्ने तत्फलस्यापि सम्भवाद् न शास्त्रसूत्रवैयर्थ्यं, न वा कर्ममार्गव्याकुलता, न वा जीवे दुःखानुपपत्तिः इति अर्थः. अनुज्ञापरिहारौ तत्कृतौ देहकृतौ इति अर्थः. देहसम्बन्ध-कृतः विधिनिषेधसम्बन्धो देहसम्बन्धकृतः इति अर्थः. ननु देहसम्बन्धेन विधिसम्बन्धे देहसम्बन्धस्य अज्ञानकृतत्वात्, शास्त्रस्यापि अज्ञाधिकारकत्वं स्याद्, अज्ञानं च बुद्धिकृतं बुद्ध्युपाधिकस्यैव नतु स्वतो जीवस्य इति शास्त्रार्थवत्त्वसूत्रव्याहतिः न परिहृता इति आशङ्कायाम् आहुः सम्बन्धश्च इत्यादि. सम्बन्धः देहस्य जीवे सम्बन्धः. द्वितीयः भगवत्कृतो जीवदेहसम्बन्धः. भगवतैव इति 'एव'कारेण भगवत्कृतदेह-सम्बन्धस्य निवृत्तौ साधनान्तरं व्यवच्छिद्यते. देहसम्बन्धस्य भगवत्कृतत्वे उदाहरणम् आहुः मुक्तानाम् इति. अज्ञाधिकारकत्वं शास्त्रस्य परिहरन्ति श्रुतिस्तु इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रस्थं परिहारं विवृण्वन्ति अनुज्ञा इति. तयोः अर्थम् आहुः विधीति. देहसम्बन्धाद् इति. केवलजीवस्य कर्मसम्बन्धाभावेऽपि देहसम्बन्धात् कर्मसम्बन्धः इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः यथा इति. केवलाग्न्युदकपृथिवीनां विधिनिषेधविषय-त्वाभावेऽपि शवचाण्डालसम्बन्धित्वात् परिहारः, उत्कृष्टानां च परिग्रहः. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति तथा इति. तथा जीवेऽपि देहे सम्बन्धादेव तथा बोध्यम् इति अर्थः. आध्यासिकः अज्ञानकृतः इति अर्थः. ज्ञानाद् इति. ब्रह्मज्ञानाद् इति अर्थः. भगवता इति. भगवदिच्छया इति अर्थः. ज्ञानसत्त्वे देहसम्बन्धो न निवर्तते इति अन्यव्यवहारएव. प्रमाणं दर्शयन्ति जीवन्मुक्तानाम् इति. ननु तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वं देहस्य स्यात् तर्हि वसिष्ठादीनाम् अग्निहोत्रादिविधानं न उपपद्येत इत्यतः आहुः श्रुतिस्तु इति.

आश्रित्य अग्निहोत्रादिकं विधत्ते. अन्यथा विद्यां स्वज्ञानं च बोधयन्ति कर्माणि न विदध्यात्, शाब्दज्ञानस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात्. कथं सिद्धवद् यावज्जीवं विदध्यात् ? न्यासोऽपि देहसम्बन्धएव॥४८॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्यथा श्रुतेः अज्ञाधिकारकत्वे. स्वज्ञानम् इति “साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च” (द्र.पात.महाभा.१।१।१) इत्यादिभिः शाब्दज्ञानं पूर्वमेव सिद्धत्वाद् अध्यापना-ध्ययनविधिभ्याम् अध्ययनोत्तरकालएव पूर्वं सिद्धत्वाद् इति अर्थः. तथाच पामराणां रागिणां दुष्कर्मणो निवृत्त्यर्थं सत्कर्मणि प्रवृत्त्यर्थं च कामाधिकारको विधिः तेषां विश्वासोपजननार्थो अज्ञाधिकारकः सन्मार्गप्रवृत्तिफलको नित्यविधिस्तु ज्ञानाधिकारको अतो न उक्तसूत्रविरोधः. ननु यावज्जीवविधिः चेद् ज्ञानाधिकारकः तदा “यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्” (जाबा.उप.४) इत्यादिसन्न्यासविधिवैयर्थ्यम् अतो न युक्ता इयं व्यवस्था इत्यतः आहुः न्यासोऽपि इत्यादि. तथाच जरामर्याग्निहोत्रस्य तत्रापि सत्त्वाद् न वैयर्थ्यं. ये पुनः ब्रह्मभूताः आदितो वा साधनसम्पत्त्या वा देहसम्बन्धं न अनुभवन्ति “दैवाद् अपेतम् उक्त दैववशाद् उपेतम्” इति न्यायेन देहं धारयन्ति पूर्णाएव

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

अन्यथा इति. तत्त्वज्ञानिनाम् अग्निहोत्राद्यस्वीकारे न विदध्याद् इति. विद्यां ब्रह्मज्ञानं स्वज्ञानं वेदार्थज्ञानं च बोधयन्ती श्रुतिः अग्निहोत्रं न विदध्याद् इति अर्थः. ननु श्रुत्या ब्रह्मज्ञानं शाब्दबोधात्मकं परोक्षं, नतु अपरोक्षं बोध्यते इत्यतः आहुः शाब्दज्ञानस्य इति. पूर्वमेव इति. अध्ययनकालएव इति अर्थः. तथाच उपनिषदन्त-वेदाध्ययनानन्तरं मननादिद्वारा साक्षात्कारे जाते सोऽपि अधिकारी कर्मणां भवति इति श्रुतिः जगौ. तेन कृत्वा किं ज्ञायते. भगवदिच्छयापि देहसम्बन्धो निवर्तते इति भावः. यदि एवं न चेत् तम् आहुः कथम् इति. “आत्मावा अरे द्रष्टव्यः” (बृहदा.उप.२।४।५) इत्यादिना आत्मज्ञानं विधीयते, “यावज्जीवम् अग्निहोत्रं विधीयते”. तत्र ज्ञानेन देहसम्बन्धे निवृत्ते ‘यावज्जीवम्’ इति सिद्धवद्विधानं न स्याद् इति भावः. ननु यदि ब्रह्मज्ञानानन्तरम् अग्निहोत्रविधानं स्यात् तदा “यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्” (जाबा.उप.४) इति न्यासविधानं न उपपद्येत इत्यतः आहुः न्यासोऽपि इति. तथाच अस्मन्मतप्रवेशः. सन्न्यासोऽपि देहसम्बन्धएव. यदि ज्ञाननिवर्त्यत्वं देहस्य स्यात् तर्हि अग्निहोत्रादिवत् सन्न्यासो न उपपद्येत इति भावः. ननु भवन्मते “यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयाद्” (वाराहश्रौ.सू.१।१।१।८६) इति विधिबाधो ज्ञानानन्तरं न्यासविधानाद् इति चेद् न सन्न्यासिनामपि प्राणाग्निहोत्रविधानात्. तथाच श्रुतिः “तस्य एवं विदुषो यज्ञस्य आत्मा

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

ननु देहस्यापि बाल्य-कौमारादिभेदात् कथं कर्मकाले ब्राह्मणत्वादि ? जीवैक्याद् इति चेद्, देहान्तरेऽपि स्याद् इति, तत्र आह देहान्तरे सन्ततिरपि नास्ति. बाल्यादिभेदे पुनः सन्ततिः एका. अतः सन्ततिभेदाद् न कर्मणां साङ्कर्यम् इति ॥४९॥

आभासएव च ॥५०॥

ननु सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणो अंशः सच्चिदानन्दएव भवेद् अतः कथं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ज्ञानिनः तेषान्तु शुकादिवत् स्वतएव तत्र प्रवृत्तिः न विधिनियम्या. अतएव “यं प्रवजन्तम्” (भाग.पुरा.महात्म्ये १।२) इत्यादि, “पञ्चषड्ढायनार्भाभा” (भाग.पुरा. ७।१।३६) इत्यादि च, अतो न कोऽपि दोषः ॥४८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. यद् अत्र देहसम्बन्धेन विधिनिषेध-व्यवस्थापनम् उक्तं तद् अयुक्तम्. यस्मिन् जन्मनि यो देहो गृहीतः तस्य देहस्यापि बाल्यकौमारादिभेदेन भिन्नत्वाद् आधानादिकर्मकाले तस्य देहस्य अभावाद् ब्राह्मणत्वादिकं कथं स्याद् ? ब्राह्मणत्वाभावे च “वसन्ते ब्राह्मण आदधीत” (तैत्ति.ब्राह्म.१।१।२।६), “न ब्राह्मणं हिंस्याद्” (तैत्ति.सं.२।६।१०) इत्यादिविधि-निषेधव्यवस्था दुरुपपादा अतः कर्मव्याकुलत्वम् असमाधेयम्. जीवैक्याद् न अनुपपत्तिः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

यजमानः श्रद्धा यज्ञ” (महाना.उप.२५।१) इत्यादि तैत्तिरीयोपनिषदि महानारायणो-पनिषदि स्पष्टा. तथाच ब्रह्मज्ञानानन्तरं येन न्यासो न क्रियते तेन मुख्याग्निहोत्रं कर्तव्यं, येन क्रियते तेन प्राणाग्निहोत्रं कर्तव्यमिति न यावज्जीवंविधिबाधः इति सर्वं सुसम्पन्नम् इति दिक् ॥४८॥

सूत्रे समाधानम् अतः आशङ्काम् आहुः ननु इति. ब्राह्मणत्वादीति. बाल्याद्यवच्छेदेन ब्राह्मणत्वं वक्तव्यं, तच्च तारुण्ये कर्मकाले नास्ति इति भावः. शङ्कते जीवैक्याद् इति. समाधानं विशदयन्ति देहान्तरे इति ॥४९॥

समाधानसूत्रं व्याख्यातुम् आशङ्काम् आहुः ननु इति. प्रवाहम् इति. “जायस्व प्रियस्व” इति प्रवाहः इति अर्थः. सर्वेति. कथम् इत्यस्य अत्र सम्बन्धः. जडरूपकार्याणि कथम् इति अर्थः. जडे चिदंशाभावात्. समाधानसूत्रं व्याकुर्वन्ति आभासः इति. ब्राह्मणधर्महीनो यथा ब्राह्मणाभासः तथा जीवोऽपि ब्रह्माभासः इति

प्रवाहे प्रवेशो भगवतश्च सर्वकार्याणि? तत्र आह आभासएव जीवः. आनन्दांशस्य तिरोहितत्वात्. ‘च’काराद् आकारस्यापि अभावः. नतु सर्वथा प्रतिबिम्बवद् मिथ्यात्वं “जलचन्द्रवद्” इति एकस्य अनेकत्वे दृष्टान्तः. तथा सति अध्यासश्च स्वस्य न स्यात्. तत्र वृत्त्यादिदोषप्रसङ्गश्च. अतो न मिथ्यात्वरूप आभासो अत्र विवक्षितः॥५०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यपि न, तस्य देहान्तरेऽपि सत्त्वात् तस्यापि आधानाद् आपत्तिः इति आशङ्कायां समाधिम् आहुः देहान्तरेत्यादि. सन्ततिः एका इति. तथाच ब्राह्मणादिदेहगतैक-सन्ततिविशिष्टएव विधिनिषेधौ बोध्यौ. अतः तत्र देहाधिकारिकविधिनिषेधयोः तत्तद्देहगतसन्तत्यैक्यनियम्यत्वात्. सन्ततिभेदात् ब्राह्मणाब्राह्मणदेहगतसन्ततेः ऐक्याभावात्. साङ्कर्यम् अन्यदेहाधिकारिकर्मणाम् अन्यदेहावच्छेदेन करणापत्तिरूपं साङ्कर्यम्. तथाच सम्बन्धेन समाधौ न कोऽपि दोषः इति अर्थः॥४९॥

पुनः किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति इति आशयेन सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. प्रवाहे प्राकृतकार्यप्रवाहे. भगवतः सर्वकार्याणि भगवतश्च प्राकृतसर्वकार्याणि कथम् उपदेयानि स्युः? इति अर्थः. आकारस्य चतुर्भुजाद्याकारस्य. तथाच ब्राह्मणाभासवद् जीवोऽपि ब्रह्माभासो अवसेयः. अनेकत्वे दृष्टान्तः इति. तथाच एकस्यैव चन्द्रस्य जलशरावसम्बन्धाद् नानात्वं भासते तथा एकस्यैव ब्रह्मणो अविद्यासम्बन्धाद् नानात्वं भासते इति अनेकत्वे दृष्टान्तः इति अर्थः. तथा सति जीवस्य मिथ्यात्वे सति. न स्याद् मिथ्याभूतस्य शशशृङ्गादेरिव जीवस्यापि अध्यासो न स्याद् इति अर्थः. तत्र वृत्त्यादीत्यादि “तत्रवृत्तेः द्वासुपर्णाश्रुतेरपि विरुध्यते”(तत्त्वदी.नि.शा. प्र.५८) इति कारिकोक्तानि दूषणानि बोध्यानि. तत्र हि “यत्र यः तिष्ठति तत्र तन्न

गोस्वामिश्रीमदृगिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. आकारस्य इति. चतुर्भुजाकारस्य इति अर्थः. परमतसिद्धाभासं निराकुर्वन्ति ननु इति. ननु “एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्” (ब्र.बि.उप.१२) इति श्रुतिप्रामाण्याद् बिम्बप्रतिबिम्बभावः स्वीक्रियते इत्यतः आहुः ननु इति. इदानीं बिम्बप्रतिबिम्बभावे दूषणानि आहुः तथा सति इति. तथाच मिथ्याभूतस्य अध्यासो न सम्भवति इति भावः. तत्र वृत्त्यादीति. “तत्र वृत्तेः द्वा सुपर्णाश्रुतेरपि विरुध्यते” (तत्त्वदी.निब.शा.प्रक.५८) इति निबन्धोक्तदोषः इति अर्थः. अत्र अन्यान्यपि दूषणानि विद्वन्मण्डने आवरणभङ्गे च प्रोक्तानीति अत्र विरम्यते ॥५०॥

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

ईशित्वाय नैयायिकाद्यभिमतं जीवरूपं निराकरोति. “नानात्मानो व्यवस्थात” (वै.सू.२।२।२०) इति भोगव्यवस्थया जीवनानात्वम् अङ्गीकृतम्. तत्र अदृष्टस्य नियामकत्वं तन्मते सिद्धम्. देशान्तरवस्तुत्पत्यन्यथानुपपत्त्या व्यापकत्वं च अङ्गीकृतम्. एवञ्च क्रियमाणे मूलएव कुठारः स्यात्. सर्वेषामेव जीवानाम् एकशरीरसम्बन्धात् कस्य अदृष्टं तद् भवेत् ?

नच मिथ्याज्ञानेन व्यवस्था. तत्रापि तथा. नच अनुपपत्त्या परिकल्पनम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रतिबिम्बते, दर्पणरेखावद्” (तत्रैव) इति उक्तम्. एवं समानवृक्षारोहणं तत्र स्थित्वा फलभोगकर्तृत्वं च मिथ्यात्वे न स्याद् इत्यादि उक्तम् ॥५०॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः ईशित्वाय इत्यादि. ईशित्वाय भगवतः सर्वजीव-नियामकत्वाय, जीवानां नियम्यत्वाय इति अर्थाद् आगतम्. व्यवस्थातः एकः सुखी अपरो दुःखी इति व्यवस्थातः इति अर्थः. जीवैक्ये सर्वत्र सुखं दुःखं वा एकमेव स्याद् अतो नानात्वम् इति अर्थः. तत्र भोगे. तन्मते नैयायिकमते. देशान्तरेत्यादि. तथाच “पादे मे दुखं शिरसि सुखम्” इति जीवव्यापकत्वाभावे अनुपपन्नमिति व्यापकत्व-स्वीकारः इति भावः. एकशरीरसम्बन्धाद् इति. जीवव्यापकत्वाभिप्रायेण इदम् उक्तम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अनेन सूत्रेण नैयायिकसिद्धं जीवस्वरूपं निराकुर्वन्ति ईशित्वाय इति. भगवान् ईशो यस्य सः ईशी, तस्य भावः तत्त्वं, तस्मै. जीवस्य व्यापकत्वे ईशित्वं न सम्भविष्यति इत्यतः तन्निराकरणार्थं तन्मतम् अनुवदन्ति. भोगव्यवस्थया नाना आत्मानो व्यवस्था अतो जीवस्य नानात्वम् अङ्गीकृतम् इति अन्वयः. सुखदुःखसाक्षात्कारो हि भोगः. सच एकस्य आत्मनः सत्त्वे आत्मान्तरेपि स्यात्, तत्र कारणीभूतमनःसंयोगस्य आत्मान्तरेऽपि सत्त्वात् संयोगस्य एकत्वाद् आत्मनो विभुत्वात् च इत्यतः आहुः तत्र इति. ननु एवं चेद् व्यापकत्वं किमर्थम्? अतः आहुः देशान्तरे इति. देशान्तरे यदवस्तु उत्पद्यते तद् एतद्देशीयशरीरावच्छेदेन आत्मनि भोगार्थम् आयाति इति दृश्यते. तत्र यत्र वस्तुत्पत्तिः तत्र एतदीयादृष्टं कारणम् इति अवश्यं स्वीकर्तव्यम्. तत्र अदृष्टस्य आत्मसमवेत-गुणत्वात् तत्र एतदीयात्मनः सत्त्वम् अवश्यं स्वीकर्तव्यम्. तच्च आत्मनो व्यापकत्वं विना न सम्भवतीति व्यापकत्वं च अङ्गीकृतं इति अर्थः. निराकुर्वन्ति एवञ्च इति. मूलएव इति भोगव्यवस्थायामेव. कथं कुठारः स्याद्? इत्यतः आहुः सर्वेषाम् इति. एकशरीरसम्बन्धाद् इति. आत्मनो व्यापकत्वं नाम विभुत्वं, तत्र सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं

श्रुत्यैव उपपत्तेः. एतेन विरोधाद् ऋषिप्रामाण्यमपि निराकृतम् ॥५१॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

ननु मनःप्रभृतीनां नियामकत्वात् तेषाम् ईश्वरेच्छया नियतत्वाद् न दोषः इति चेद्, न, पूर्ववदेव दोषप्रसक्तिः. तादृशेश्वरकल्पना च पूर्वमेव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कस्य अदृष्टं तद् भवेद् इति. कस्य जीवस्य किं वा अदृष्टं कं भोगं साधयेद् विनिगमकाभावाद् नियामासम्भवाद्? नच मिथ्या इत्यादि. तथाच यच्छरीरे यस्य जीवस्य ‘अहम्’ इति अभिमानः तस्यैव अदृष्टेन तद्देहसम्बन्धिभोगो न अन्यस्य इति अर्थः. तत्रापि मिथ्याज्ञानेऽपि. तथाच कस्मिन् देहे कस्य जीवस्य मिथ्याज्ञानं स्यात् कस्य न इत्यत्र नियामकाभावाद् इति अर्थः. अनुपपत्त्या परिकल्पनम् अवच्छेद्यावच्छेदक-भावसम्बन्धेन देहस्य जीवभोगे नियामकत्वकल्पनम् एवम् अदृष्टस्यापि स्वसमवायि-जीवावच्छेदकजातीयदेहावच्छिन्नसमवायेन कारणता तेनैव सम्बन्धेन च भोगस्य कार्यताकल्पनम् इत्यपि न. कुतः? श्रुत्यैव इत्यादि. “एष उ एव” (बृहदा.उप.१।३।२०) इति श्रुत्या भगवतएव भोगहेतुताप्रतिपादनात्. एवकारेण अन्यहेतुतायाः पराहतत्वात्. विरोधाद् उक्तश्रुतिविरोधात् ॥५१॥

अभिसन्ध्येत्यादि. अभिसन्ध्या “एतदात्मनियतम् एतन्मनो भवतु” इति ईश्वरध्यानम्. एवं विनिगमकाभावदोषः. सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. मनः-प्रभृतीनाम् इत्यादि. तदात्मनियतमनःसमानाधिकरणादृष्टस्य समवायेन कारणता भोगे

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

च संयोगः, सच एकएव. तथाच अदृष्टं हि कृत्यादिजन्यं, तज्जनकस्य आत्मनः संयोगस्य सर्वसाधारणत्वाद् एकशरीरावच्छेदेन एकेन पुण्ये पापे वा क्रियमाणे सति सर्वैरपि तत्तु कृतमेव भवति इति कस्य अदृष्टं तद्वस्तुजनकं भवति इति अर्थः. शङ्कते नच इति. “मया इदं कर्म एतदर्थं क्रियते” इति यस्य मिथ्याज्ञानं तदीयमेव अदृष्टम् इति व्यवस्था भविष्यति इति अर्थः. निराकुर्वन्ति तत्रापि इति. सम्बन्धस्य सर्वसाधारणत्वात् कस्य मिथ्यात्वम् इति तथैव दोषः इति अर्थः. शङ्कते नच इति. भोगव्यवस्थान्य-थानुपपत्त्या इति अर्थः. परिहरन्ति श्रुत्यैव इति. श्रुतौ जीवस्य अणुत्वम् उक्तं, तथैव उपपत्तिः भविष्यति, तथैव दोषः इति अर्थः. विरोधात्. श्रुतिविरोधात्. ऋषीति. कणादऋषिप्रामाण्यम् इति अर्थः ॥५१॥

शङ्कते ननु इति. नियामकत्वाद् इति. मिथ्याज्ञानेति शेषः. दोषः

निराकृता॥५२॥

प्रदेशाद् इति चेद् न, अन्तर्भावात्॥५३॥

आत्मनो विभुत्वेऽपि प्रदेशभेदेन व्यवस्था. आत्मनि तादृशः प्रदेशविशेषो अस्ति येन सर्वम् उपपद्यते **इति चेद्, न**, अन्यस्यापि प्रदेशः तत्र

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कार्यतापि समवायेन. एवं तादृशादृष्टजन्यशरीरस्य च शरीरजनकादृष्टस्य समानाधिकरणं यच्छरीरावच्छेद्यत्वं तेन सम्बन्धेन भोगं प्रति कारणता. एवंरीत्या कार्यकारणभाव-कल्पनस्य भोगनियामकत्वात्. **तेषां** भोगकारणानाम्. **न दोषः** विनिगमकाभावेन भोगनियमाभावरूपो दोषो न इति अर्थः. **पूर्ववदेव** इति, “**एष उ एव**” (बृहदा.उप.१।३।२०) इति श्रुत्या इतरकारणनिराकरणपूर्वकं भगवतएव तस्य-तस्य जीवस्य तत्तद्भोगासाधारणकारणत्वम् उक्तं भज्येत इति पूर्वम् उक्तो दोषो विरोधरूपो दोषः पूर्वसूत्रे तद्वदेव अत्रापि सः दोषः तदवस्थः इति भावः. **तादृशः ईश्वरकल्पना** निमित्तकारणतामात्रेण ईश्वरकल्पना. “**स आत्मानं स्वयमकुरुत**” (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादौ निमित्तकारणतामात्रस्य असम्भवाद् इति अर्थः. सूत्रार्थस्तु एवम्, **अभिसन्धिः** अभिमानो देहादौ. **आदिशब्देन** अदृष्टतज्जन्यदेहादि. **तेषु** नियामकेषु सत्सु. भोगानियमो न इति न दोषः तत्र आह **अपिच एवम्** इति. तेषु नियामकेषु सत्स्वपि श्रुतिविरोधो **दोषः** तदवस्थः॥५२॥

ननु आत्मनां विभुत्वात् सर्वदेहेषु सत्त्वात् च सकलात्मसु सर्वदेहेषु भोगादृष्टादीनाम् एकैकात्मनि सर्वदेहेषु प्रसक्तिः सर्वात्मसु च सकलभोगादृष्टादीनां प्रसक्तौ तत्तद्देहावच्छिन्नात्मगतप्रदेशविशेषनियामकेन उक्तप्रसक्तिवारणं समाधानं दूषयति सूत्रकारः इति सूत्रम् अवतारयन्ति **आत्मनः** इत्यादि. **आत्मनः** इति एकवचनं जात्यभिप्रायेण. **प्रदेशभेदेन** इत्यादि. तत्तदात्मगततत्तद्देहावच्छिन्नप्रदेशविशेषस्य तत्तदात्मनियतत्वाद् देशान्तरे कालान्तरे आत्मान्तरे च भोगादृष्टादि न भविष्यति इति व्यवस्था इति अर्थः. **तादृशः** इति **तादृशः** तदात्मनि तत्कालदेशावच्छिन्नसमवायेन

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

अदृष्टानियमदोषः. समाधानम् आहुः **पूर्ववद्** इति. **अभिसन्धिः** अभिमानः मिथ्याज्ञानं, तस्य आदीनि कारणानि, **तेषु एवं** पूर्ववद् विभूनां संयोगस्य तुल्यत्वाद् इति अर्थः. **तादृशेति**. निमित्तभूतेति अर्थः ॥५२॥

सूत्रांशेन आशङ्कां व्याकुर्वन्ति **आत्मनः** इति. सूत्रांशेन उक्तं समाधानं

अन्तर्भवति. तस्यैव वा देहस्य देशान्तर्गमने पूर्वदेशस्य त्यक्तत्वात् सो अंशो
अन्तर्भवेत् तिरोभवेद् इति॥५३॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीयपादे अंशो नानाव्यपदेशाद् इति षोडशमधिकरणम्॥१६॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भोगादृष्टादिकार्यं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन कारणीभूतः तत्कालावच्छिन्नः
तद्देशावच्छिन्नः. सर्वं तत्तादात्मनियतं तत्तद्देशकालनियतं भोगादृष्टादि सर्वम्.
अन्यस्यापि प्रदेशः तत्र अन्तर्भवति इति. तथाच अन्यात्मीयदेहदेशकालानाम्
अवच्छेदकानाम् आत्मगतप्रदेशविशेषावच्छेदकत्वसम्भवात् तादृशावच्छिन्नप्रदेश-
विशेषस्य आत्मान्तरेऽपि सत्त्वाद् अन्यात्मीयभोगादृष्टादीनाम् अन्यात्मनि प्रसक्तिः
दुर्निवारा इति अर्थः. ननु पूर्वोक्तावच्छेदकत्रयावच्छिन्नत्वविशिष्टतदात्मगतप्रदेशस्य
तादात्म्येन तदात्मन्येव सत्त्वेन कारणीभूतप्रदेशस्य आत्मान्तरे अभावाद् न आत्मान्तरे
भोगादृष्टाद्यापत्तिः इत्यतः आहुः तस्यैव वा इत्यादि. देशान्तरेति कालान्तरस्थितेरपि
उपलक्षणम्. सो अंशः तद्देहदेशकालावच्छिन्नत्वविशिष्टः तदात्मगतप्रदेशविशेषः
तादात्म्येन कारणत्वेन अभिमतः. तथाच तदात्मगतकारणैः तदात्मगतभोगेव प्रदेशान्तरे
कालान्तरे वा अनुपपन्नः स्याद् इति फलितम्. विशिष्टस्य अन्तर्भावाद् नाशाद् इति
अर्थः॥५३॥१६॥

॥इति श्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुत-श्रीगोपालजीकृते
श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यपदप्रदीपे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

व्याकुर्वन्ति अन्यस्य इति. जीवस्य नानात्वाद् अन्यस्यापि इति अर्थः. ननु
विशेषाङ्गीक्रियमाणे अन्यस्य जीवस्य प्रदेशे सः विशेषो नास्ति इत्यतः आहुः तस्यैव
इति. सो अंशः विशेषत्वेन अङ्गीक्रियमाणः प्रदेशः. देशान्तरे तस्य प्रदेशस्य अभावाद्
इति अर्थः. तिरोहितो भवेद् इति. तथाच न भोगसिद्धेः इति भावः ॥५३॥१५॥

इति श्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरी-परमानिर्वचनीय-सरसवदन-तामरस-
रससुधाहृदावगाहि श्रीमदाचार्यपदाब्ज-कृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराज-यदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामि-श्रीगोपालात्मज-गिरिधरविरचिते
अणुभाष्यविवरणे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादः समाप्तिम् अफाणीत्

द्वितीयो अध्यायः चतुर्थः पादः

तथा प्राणः॥१॥ (२।४।१)

जीवशरीरमध्यवर्तिनां प्राणादीनां विचारार्थं पादारम्भः. तत्र जीवं निरूप्य तादृशधर्मवत्त्वं प्राणे अतिदिशति. 'प्राण'शब्दप्रयोगः प्रियत्वाय, प्राणाः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वपादे जीवस्य स्थूलशरीरनिष्पादकानां भूतानाम् उत्पत्तिक्रमादिकं विचार्य ततो जीवस्वरूपं विचारितम्, इन्द्रियादीनान्तु स्वरूपं न विचारितमिति तुरीयपादे अवसरसङ्गतिं बोधयन्तः पादप्रयोजनम् आहुः जीवशरीरेत्यादि. जीवस्थूलशरीरमध्य-वर्तिनां लिङ्गशरीरघटकानाम् अन्तर्बहिरिन्द्रियाणाम्. प्राणानां च विचारार्थं पादारम्भः इति अर्थः. अत्र एतेषां शरीरान्तर्वर्तित्वोक्त्या शरीरान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं दर्शितम्. तत्र द्वयी विधा सम्भाव्यते शरीरवदुत्पत्तिविनाशशालित्वं वा जीववद्गत्यागतिशालित्वं वा. आद्यविधायां वियदादिवद् ब्रह्मकार्यत्वम् इन्द्रियप्राणानाम्, द्वितीयस्यां जीवब्रह्मांशत्वम्. एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायास्तु उभयथापि सिद्धिः अत्र उभयोः मध्ये किं विवक्षितम्? इति आकांक्षायां प्राणादिनित्यतागमकस्य श्रुतौ अनुपलम्भाद् “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्डकोप. २।१।३) इत्यत्र जन्मोपलम्भाच्च कार्यत्वमेव विवक्षितम् इति पूर्वपक्षे प्रवृत्तम् इदं सूत्रम् इति निश्चयेन आहुः तत्र जीवम् इत्यादि. पूर्वपादे सधर्मजीवनिरूपणात् 'प्राण'पदवाच्येन्द्रियेषु जीवधर्मातिदेशः सूत्रकारेण प्रतिपाद्यते इति अर्थः. ननु मुख्यवाचकम् 'इन्द्रिय'पदं त्यक्त्वा कथं 'प्राण'पदम् इन्द्रियेषु प्रयुक्तम्? अतः आहुः प्रियत्वाय इति. इन्द्रियाणां प्राणवत् प्रियत्वबोधनाय इति अर्थः. प्राणाः इन्द्रियाणि इति.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

जीवनिरूपणानन्तरं चतुर्थे पादे प्राणनिरूपणे अवसरसङ्गतिं बोधयितुम् आहुः जीवेति. प्राणस्य जन्यत्वं वा नित्यत्वं वा इति संशये श्रुतौ “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्ड. उप. २।१।३) इत्यादिना जन्यत्वम् इति पूर्वपक्षः, इदं समाधानसूत्रम्. तद् व्याकुर्वन्ति तत्र इति. अतिदिशति इति. तथाच प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या इति पूर्वतन्त्रं च. 'तथा'शब्देन जीवातिदेशो बोधितः. तेन च प्राणस्य नित्यत्वम् इति भावः. ननु इन्द्रियाणामपि अत्र विचारः क्रियते इति कथं केवलप्राणशब्दप्रयोगः इत्यतः आहुः प्राणेति. प्रियत्वेन इन्द्रियाणां ग्रहणं बोध्यम्. प्राणः इति. “तथा प्राणः” (ब्रह्मसू. २।४।१) इति सूत्रे प्राणानाम् इन्द्रियाणां च ग्रहणं बोध्यम् इति अर्थः.

ननु एवं चेद् एकवचनं किमर्थम्?

इन्द्रियाणि. मनसो मुख्यत्वाद् एकवचनम्. “उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्” (ब्रह्मसू. २।३।१९) इत्यारभ्य सर्वोपपत्तिः अत्र अतिदिष्टा, चिदंशस्यापि तिरोभावइति पृथग् निरूपणम्. ननु तद्गुणसारत्वादयः कथम् उपदिश्यन्ते? इति चेद्, न.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूहिरे*” (छान्दो.उप.५।१।६) इत्यादिश्रुतौ ‘प्राण’शब्दः इन्द्रियेषु प्रसिद्धइति सोऽपि मुख्यप्राणएव. तर्हि सूत्रे ‘प्राणः’ इति एकवचनं कथम्? तत्र आहुः **मनसः** इत्यादि. लिङ्गशरीरे मनसएव प्राधान्यात् तत्प्रधानो निर्देशः इति भावः. ननु प्राणादिषु वियदादिधर्मातिदेशे “**स प्राणमसृजत**” (प्रश्नोप.६।४) इति सृज्यत्वरूपं लिङ्गं नियामकं जीवधर्मातिदेशे किं नियामकम्? इत्यतः आहुः **उत्क्रान्ति** इत्यादि. “**स यदा अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति सहैव एतैः सर्वैः उत्क्रामति यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तते सः यदा प्रतिबुध्यते यथा अग्नेः ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गाः विप्रतिष्ठेरन् एवमेव एतस्माद् आत्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते**” (कौषी.उप.३।४) इत्यादिषु उक्ता जीवसहभावबोधिकोक्तिः जीवधर्माति-देशिका बोध्या. ननु जीवधर्मातिदेशार्थम् इदं सूत्रं पूर्वपादएव कुतो न उक्तम्? इत्यतः आहुः **चिदंशः** इत्यादि. तथाच इन्द्रियप्राणादिषु चिदंशस्य तिरोभावाद् वियदादितुल्यत्वशंकया तेषां धर्मातिदेशशङ्का स्याद् अतः तद्वारणाय पादान्तरे सूत्रप्रणयनम् इति अर्थः. एतत्पादस्यतु जीवधर्मातिदेशार्थत्वाद् न पूर्वोक्तशङ्कावकाशः इति भावः. प्राणेषु जीवसाम्यम् अमन्वानः पृच्छति **ननु** इत्यादि. सकलधर्मातिदेशमध्ये ब्रह्मगुणसारत्व-ब्रह्मसादृश्यगुणगतयावदात्मभावित्वानां जीवगतानां प्राणेषु न सम्भवः, प्रसिद्ध्यभावाद्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अतः आहुः **मनसः** इति. तेषां मध्ये इति शेषः. पूर्वतन्त्रे समानम् इतरच्छयेन इति समानधर्मवत्त्वम् अतिदेशकम् अतो अत्रापि समानधर्मवत्त्वम् अपेक्षितम् अतः आहुः **उत्क्रान्ति** इति. “**स यदा अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति**” (कौषी.उप.३।४) इत्यादिश्रुतौ उत्क्रमणं गतिः आगतिः इत्यादिकं सर्वं जीवे प्राणे च समानम् इति कृत्वा जीवे सर्वोपपत्तिः प्राणे अतिदिष्टा इति अर्थः. एवं चेत् पूर्वपादेन निरूपणम् अतः आहुः **चिदंशस्यापि** इति. जीवे केवलम् आनन्दांशस्य तिरोभावः, प्राणेतु चिदंशस्यापि इति अर्थः. ब्रह्मगुणसारत्वं जीवे अस्ति, तस्य अतिदेशः प्राणे न सम्भवति इति आशयेन शङ्कते **ननु** इति. समाधानम् आहुः **न** इति. “**प्राणा वै सत्यम्**” (बृहदा.उप.२।१।२०)

(*‘व्यूहिरे’ इत्यपि पाठः.)

सत्यम्, अस्ति तत्रापि, “ये प्राणं ब्रह्मोपासते” (तैत्ति.उप.२।३) इति॥१॥

गौण्यसम्भवात्॥२॥

ननु उत्क्रान्त्यादिश्रुतिः गौणी भविष्यति न, गौण्यसम्भवात्. सा श्रुतिः गौणी न सम्भवति. एकैव श्रुतिः जीवे मुख्या प्राणे गौणी इति कथं सम्भवति ?॥२॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च॥३॥

जडत्वेन अधिकविचारो अत्र क्रियते. सृष्टेः पूर्वमपि प्राणादीनां स्थितिः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति अर्थः. न इति समाधानम् आहुः. सत्यम् अस्ति बृहदारण्यके “प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्” (बृहदा.उप.२।१।२०) इति श्रुत्युक्तं सत्यत्वं प्राणेषु अस्ति. तैत्तिरीये तत्र प्राणेऽपि “ये प्राणं ब्रह्म उपासते” (तैत्ति.उप.२।३) इति व्यपदेशो अस्ति. एवं षडाचार्य-ब्राह्मणे प्राणवाक्चक्षुःश्रोत्रमनो-हृदयेषु “प्राणो वै ब्रह्म” (बृहदा.उप.४।१।३) इत्यादिषु सर्वप्राणनरूपो ब्रह्मगुणोऽपि प्राणेषु अस्ति यावद् आत्मभावी, एवं “चक्षुषश्चक्षुः” (केनोप.१।२) इत्यादिना स्व-स्वकार्यक्षमत्वमपि इन्द्रियेषु ब्रह्मगुणो अस्ति. सएव च तेषु सारभूतो जडवैलक्षण्यसम्पादकत्वात्. सच प्राणानां यावदात्मभावी, इन्द्रियवधोऽपि कार्याक्षमत्वमेव नतु नाशः शरीरान्तरे तस्मिन्नेव वा पुनः तेषां कार्यदर्शनाद् इति जीवधर्माणां प्राणेषु अतिदेश-सम्भवाद् न दोषः इति अर्थः॥१॥

प्राणेषु उत्क्रान्त्यादिजीवधर्मातिदेशं वादी आक्षिपति ननु इत्यादि. ननु नित्यत्वस्य प्राणादिषु अश्रवणाद् उत्क्रान्त्यागतिश्रुतिः नाशोत्पत्तिपरा सत्यत्वादिश्रुतिश्च उपासनापरा इति श्रुतिः गौणी नाम लाक्षणिकी भविष्यति अतो न श्रुतीनाम् अतिदेशकत्वम् इति अर्थः. समाधानम् आहुः न इत्यादि. गौण्यसम्भवात् लक्षणायाः असम्भवात्. कथं सम्भवति? युगपद्वृत्तिद्वयविरोधदोषेण न सम्भवति इति अर्थः॥२॥

तथा इति अनुवर्तते. सूत्रप्रयोजनम् आहुः जडत्वेन इत्यादि. जडानां भूतानां च

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इत्यादिना बृहदारण्ये सत्यत्वं प्राणेषु उक्तमिति तद्गुणसारत्वं प्राणेषु अतिदिश्यते इति अर्थः. तैत्तिरीयेऽपि आहुः “ये प्राणम्” (तैत्ति.उप.२।३) इति॥१॥

सूत्रोत्थानाय प्रथमं पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. समाधानम् आहुः न इति. एकैव इति. एकस्यां श्रुतौ उभयोरपि पठनाद् इति शेषः. कथम् इति. युगपद्वृत्तिद्वय-विरोधाद् इति शेषः॥ २॥

वायोरिव प्राणस्यापि अनित्यत्वं स्यात्, तन्मा भवतु एतदर्थं सूत्रं व्याकुर्वन्ति

श्रूयते. “असद्वा इदमग्र आसीत् तदाहुः, किं तदसदासीद् ? इत्यृषयो वा व ते अग्रे असदासीत् तदाहुः. के ते ऋषयः ? प्राणा वा ऋषयः” (बृहदा.उप.२।२।३) इति. ननु “सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्” (छान्दो.उप.६।२।१) इति विरोधः इति चेद्, न. स्वरूपोत्पत्तिरेव अत्र निषिध्यते जीववद्, नतु उद्गमः. उद्गमात् पूर्वन्तु “सदेव” इति श्रुतिः. ‘च’कारात् मोक्षे तस्यापि सम्पत्तिः श्रूयते स्थलान्तरे. “एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” (मुण्ड.उप.२।१।३) इति श्रुतिः विस्फुलिङ्गसदृशी॥३॥

तत्पूर्वकत्वाद् वाचः॥४॥

“मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम्” (ऐत.उप.१।१।२) इति. “तस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

चिरस्थायित्वदर्शनात् तदवदेव प्राणानामपि उत्क्रान्त्यादि सम्भाव्यते नतु नित्यत्वम् इति तादृशसम्भावनानिराकरणाय प्राणानां नित्यत्वविचारः क्रियते इति अर्थः. तमेव आहुः सृष्टेः इत्यादि. श्रुतिस्तु वाजिनाम् अग्निप्रकरणस्था. श्रुतौ ‘प्राणाः’ इति बहुवचनम् इन्द्रियाणां बोधकम्. श्रुत्यन्तरविरोधम् आशंक्य परिहरति ननु इत्यादि. तथाच “इदम् अग्रे सदेव आसीद्” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यनेन प्राणादीनाम् उद्गमो निषिध्यते इति श्रुतिविरोधः इति अर्थः. स्वरूपोत्पत्तिः असतः सत्तारूपा. अत्र श्रुतौ. तदुद्गमः प्राणेन्द्रियाणाम् उद्गमः. सदेव ब्रह्मरूपमेव. तस्यापि तदीयप्राणानामपि. “न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति” (सुबालोप.३।३) समवनीयन्ते इति उत्क्रमहेतूनाम् अविद्याकर्मणां निवृत्तत्वाद् ब्रह्मण्येव सम्पद्यन्ते इति अर्थः. श्रुत्यन्तरदोषम् आशंक्य परिहरति एतस्माद् इत्यादि. विस्फुलिङ्गसदृशी विभागरूपैव उत्पत्तिः॥३॥

ननु सृष्ट्यादौ प्राणास्थितेः अवान्तरप्रलये प्राक्स्थितप्रजापतिप्राणसत्ता-प्रतिपादनेनापि उपपद्यमानत्वाद् न तथा प्राणनित्यत्वसिद्धिः इति शङ्कायाम् इदं सूत्रम्
गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

जडत्वेन इति. यद्यपि वायौ प्राणे च जडत्वम् अस्ति तथापि तदपेक्षया नित्यत्वम् अधिकम् अत्र अस्ति इति विचारः क्रियते इति अर्थः. श्रूयते इति. वाजसनेयिनाम् अग्निप्रकरणे श्रूयते इति अर्थः. ननु एवं चेत् छान्दोग्यविरोधः इति आहुः ननु इति. परिहरन्ति स्वरूपोत्पत्तिः इति. तथाच स्वरूपेण उत्पत्तिः अस्मिन् सूत्रे निषिध्यते येन अनित्यत्वं स्याद् इति भावः. प्राणानां विस्फुलिङ्गवद् उत्पत्तौ प्रमाणम् आहुः एतस्माद् इति. जायते व्युच्चरति इति अर्थः ॥३॥

यजुरेव शिरः” (तैत्ति.उप.२।३) इति. तथाच वेदानां स्वतः उत्पत्त्यभावात् तत्पूर्वरूपमनसः कथम् उत्पत्तिः ? ॥४॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

“तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२) इति. पूर्वोक्तानां चक्षुरादीनाम् “अथारूपज्ञो भवतीत्येकीभवति न पश्यतीत्याहुः” (तत्रैव ४।४।२) इत्यादिभिः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आह इति आशयेन आहुः मनः इत्यादि. प्रकृते ‘प्राण’शब्दस्य इन्द्रियवाचकत्वाद् इन्द्रियेषु च मनसो मुख्यत्वाद् मनोनित्यत्वसिद्ध्या इन्द्रियाणां नित्यत्वं सेत्स्यति इति मनसो वेदमूलभूतस्य नित्यत्वं साधयति सूत्रकारः. तस्य मनोमयकोशरूपस्य मनसः. वेदानां भगवन्निश्वासरूपतया नित्यानां वेदानाम्. स्वतः उत्पत्त्यभावात् स्वेषाम् उत्पत्तिशालित्वाभावात्. तथाच मनसो वेदपरिणामीभूतमनःप्रभृतिः इन्द्रियाणाञ्च भगवदिन्द्रियव्यष्टिरूपत्वाद् नित्यता निराबाधा “अस्यैव एतानि निश्चसितानि” (बृहदा.उप.२।४।१०) इति श्रुत्या च व्यष्टिरूपता उक्ता ॥४॥

एवं जीवस्य प्राणमनोवागतिदेशिकायाः श्रुतेः सिद्धावपि चक्षुरादिषु न सा स्फुटेति तदर्थं हेत्वन्तरं वदति इति आशयेन आहुः तम् इत्यादि. प्राणमनु मुख्यप्राणपदवाच्यम् अनु चक्षुरादीनाम् उत्क्रमः इत्यत्र अन्वयः. अथ सर्वेषाम् उत्क्रमानन्तरम्. न पश्यति देवदत्तादि न पश्यति.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

वाचो वेदस्य मनःपूर्वकत्वाद् मनसो नित्यत्वम् अस्मिन् सूत्रे प्रतिपाद्यते इति व्याकुर्वन्ति मनसः इति. ननु जीवस्य मनसो वाचश्च नित्यत्वं कथम्? इति चेद्, न, व्यष्टित्वाद् जीवस्य. तथाच “अस्मदादिमुखेनैव क्रीडार्थं सर्वतो हरिः, शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः” (तत्त्वदी.नि.सर्वनि.प्र.१७०) इति श्रीमदाचार्यचरणैः निबन्धे उक्तम् ॥४॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति तम् इति. अस्मिन् सूत्रे चक्षुरादीनां नित्यत्वम् उच्यते. तत्र प्रमाणं “तमुत्क्रान्तम्” इति वाक्यद्वयम्. पूर्वोक्तानाम् इति. वाक्यद्वयात् पूर्वम् उक्तानाम् इति अर्थः. चक्षुरादीनाम् इति. चक्षुस्त्वग्घ्राण-रसनश्रवण-मनोवाचाम् इति अर्थः. सप्तानाम् इत्यनेन अन्वयः. एवञ्च प्राणगमनान्तरम् सप्तानां गमनं “तम् उत्क्रामन्तम्” (बृहदा.उप.४।४।२) इति वाक्येन प्रतिपाद्यते. ‘अथ अरूपज्ञः’ इत्यनेन

जीवगतिः सप्तानां गतिभिः विशेष्यते. सप्तगतयः तेन विशेषिताः एकीभवति इति. अतो जीवसमानयोगक्षेमत्वाद् जीवतुल्यता इति. ‘च’कारात् तत्तदुपाख्यानेषु चक्षुःप्रभृतीनां देवतात्वं संवादश्च. अतः चेतनतुल्यत्वम्॥५॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे प्रथमं तथा प्राणः इति अधिकरणम्॥१॥

केचिद् इदं सूत्रम् उत्तरसूत्रपूर्वपक्षत्वेन योजयन्ति. तत्र अयम् अर्थः : ते प्राणाः कति ? इति आकाङ्क्षायां,

“सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्ताऽर्चिषः समिधः सप्तजिह्वाः”

(मुण्ड.उप.२।१।८),

“अष्टौ ग्रहाः अष्टावतिग्रहाः” (बृहदा.उप.३।२।१) इति.

“सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ” (तैत्ति.संहि.५।३।२।५) इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सप्तानां गतिभिः चक्षुस्त्वग्घ्राण-रसनश्रवण-मनोवाचां गतिभिः. तेन जीवगतिपदार्थेन. विशेषिताः विशेषणीभूताः. एकीत्यादि समुदायतां प्राप्नोति इति अर्थः. तत्तदुपाख्यानेषु “प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय” (बृहदा.उप.२।१।१७) इत्यादिषु बोध्यम्॥५॥१॥

केचिद् इत्यादि. इदं सूत्रं सप्तगतेरिति इदं सूत्रम्. उत्तरसूत्रपूर्वपक्षत्वेन द्वितीयाधिकरणीयहस्तादिसूत्रपूर्वपक्षत्वेन. तस्मात् यतः सप्त अतः इति अर्थः. सप्तार्चिषः जठराग्नेः. समिधः समित्स्थानापन्नाः सप्तजिह्वाः पूर्वोक्ताग्नेरेव जिह्वास्थानीयाः. अष्टौ इत्याद्यपि प्राणसंख्यैव.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एकीभावः इति अर्थः. तेन इति. जीवगमनेन इति अर्थः. ननु एतावता किं संवृत्तम् ? अतः आहुः अतः इति. तथाच चक्षुरादीनां नित्यत्वं सम्प्रवृत्तम् इति भावः. ‘च’कारार्थम् आहुः चकाराद् इति. छान्दोग्ये चक्षुरादीनां प्राणानां च संवादः उक्तः इति.

प्रथमाधिकरणे सप्तगतिसूत्रे केषाञ्चिन्मतम् आहुः केचिद् इति. सप्त प्राणाः इति. इदं तैत्तिरीयोपनिषदि ‘अम्भस्य’ प्रपाठके द्वितीयानुवाके सप्त वै इति. इदं तैत्तिरीये ब्राह्मणे तृतीयाष्टके सांग्रहण्यप्रपाठके द्वितीयानुवाके. द्वाववाञ्चौ इति. नव वै इति. तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमाष्टके तृतीये उत्सन्नप्रपाठके तृतीयानुवाके. दश वै इति. इदं षष्ठाष्टके चात्वालप्रपाठके दशमानुवाके. प्रतीतेति. एतैः श्रुतिवाक्यैः प्रतीता इति अर्थः. द्वितीयं सौत्रं हेतुं विशदयन्ति किञ्च इति ॥५॥१॥

“नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी” (तत्रैव ५।३।२।३),

“दश वै पशोः प्राणाः आत्मैकादशः” (तत्रैव ६।३।१०।३)

इत्येवमादिषु नानासङ्ख्या प्राणानां प्रतीता. तत्र श्रुतिविप्रतिषेधे किं युक्तम्? इति संशये सप्तैव इति प्राप्तम्. कुतः? गतेः. सप्तानामेव गतिः श्रूयते. “सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त” (मुण्ड.उप. २।१।८) इति. किञ्च विशेषितत्वाच्च. जीवस्य उत्क्रमणसमये सप्तानामेव विशेषितत्वम्. अन्येतु पुनः एतेषामेव वृत्तिभेदाद् भेदाः इत्येवं प्राप्ते उच्यते.

हस्तादयस्तु स्थिते अतो नैवम्॥६॥ (२।४।२)

पूर्वसम्बन्धे उत्सूत्रं पूर्वपक्षः. ‘तु’शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति. हस्तादयः सप्तभ्यो अधिकाः. “हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश्चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च” (प्रश्नोप.४।८) इति. चक्षुरादिगणनायाम् एतेऽपि चत्वारः इन्द्रियत्वेन गणिताः. स्थिते सति श्रुतौ

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्र प्राणेषु. श्रुतिविप्रतिषेधे श्रुतिविरोधे प्राप्ते, विशेषितत्वं सप्तानामेव चक्षुस्त्वग्घ्राण-रसनश्रवण-मनोवाचां विशेषणत्वम् इति अर्थः. अन्ये वादिनः. एतेषामेव सप्तानामेव.

ननु सप्तगतिसूत्रस्य पूर्वाधिकरणघटकत्वे द्वितीयाधिकरणे पूर्वपक्षालाभात् कथम् अधिकरणरचना? इत्यतः आहुः पूर्वसम्बन्धः इत्यादि. उत्सूत्रं सूत्रबहिर्भावनैव पूर्वोक्तएव पूर्वः पक्षः कर्तव्यः इति अर्थः. ततो अधिकरणसिद्धिः इति भावः. पूर्वपक्षं विरुद्धनानासंख्याश्रवणात् कथं सप्तैव इति पूर्वपक्षम्. स्थिते इति सूत्रस्थं पदं सप्तम्यन्तम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

“तथा प्राणः” इत्यनेन इन्द्रियादीनां नित्यत्वम् उक्त्वा तेषां सङ्ख्यासिद्ध्यर्थं हस्ताधिकरणम् आहुः हस्तादयः इति. ननु पूर्वसूत्रस्य पूर्वाधिकरणे सम्बन्धे कृते अस्मिन् अधिकरणे पूर्वपक्षः कथम्? इत्यतः आहुः पूर्वसम्बन्धे इति. सप्तगतिसूत्रस्य पूर्वसम्बन्धे सति इति अर्थः. उत्सूत्रम् इति. सूत्रं विहाय इति उत्सूत्रं सूत्राद् बहिः पूर्वपक्षः इति यावत्. तथाच क्वचिद् अधिकरणे एकस्मिन्नेव सूत्रे पूर्वपक्षसिद्धान्तौ, अस्मिन् अधिकरणेतु पूर्वसूत्रोक्तरीत्या पूर्वपक्षः कर्तव्यः इति अर्थः.

सूत्रार्थम् आहुः तुशब्दः इति. गणिता इति. “हस्तौ च आदातव्यम्” (प्रश्नोप.४।८) इत्यादिश्रुत्या गणिता इति अर्थः. सूत्रस्थ‘स्थिते’ इत्यस्य अर्थम् आहुः

गणनया चक्षुरादितुल्यत्वे सति. अतो हेतोः. सप्तैव इति न, किन्तु एकादश. अवान्तरगणना सूचनया असम्भवाभिप्राया अधिकसंख्या अन्तःकरणभेदाद् इति. एकादशैव इन्द्रियाणि इति स्थितम् ॥६॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे द्वितीयं हस्तादयः इति अधिकरणम् ॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अतो हेतोः चक्षुरादितुल्यतया श्रुतौ गणनारूपहेतोः. ननु तर्हि सप्तादिगणनायाः किं प्रयोजनम्? इत्यतः आहुः अवान्तरः इत्यादि. सप्तगणना इतरेन्द्रियापेक्षया बहूपकारकत्वेन प्राधान्यद्योतनाय. अष्टगणना देहे अविनाभावबोधनाय बन्धकत्वबोधनाय वा. नवगणना नवद्वारेषु अनावृतेषु क्रमेण स्थितिद्योतनाय. दशगणना शुद्धद्वारतामात्रताबोधनाय ब्रह्माण्डम् आदाय द्वाराणां दशत्वनियमाद् इत्यादिरीत्या अवान्तरप्रयोजनदर्शनाय अवान्तरगणना इति अर्थः. एकादशावान्तरत्वं सर्वसंख्यानां बोध्यम्. अधिकसंख्या अधिकसंख्याप्रतिपादनम्. अन्तःकरणभेदाद् अन्तःकरणवृत्तित्तुष्टयभेदाद् बोध्या. सिद्धम् आहुः एकादशैव इति. इन्द्रियत्वावच्छेदेन एकादशत्वबोधाय 'एव'कारः. ननु "इन्द्रियेभ्यः परं मनः" (भग.गीता.३।४२) इति गीतावाक्याद् मनसः इन्द्रियत्वाभावात् कथम् एकादशसंख्यासम्भवः? इति चेद्, न, "इन्द्रियाणि दशैकञ्च" (तत्रैव १३।५) इति वाक्ये "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" (तत्रैव १०।२२) इति वाक्ये च मनसः इन्द्रियत्वोक्तेः पुरञ्जनोपाख्यानेऽपि "एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृद्" (भाग.पुरा. ४।२७।२०) इति निरूपणाद् एकादशत्वसिद्धिः ॥६॥ २॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

श्रुतौ इति. 'गणनायां' 'गणनया' इति पाठद्वयम्. एकादशेति. पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च इति एकादशेति अर्थः. ननु पूर्वसूत्रे प्राणादीनां सप्तसङ्ख्याकत्वम् उक्तं श्रुतावपि सप्तादिसङ्ख्याकत्वम् अतः परस्परविरोधः इत्यतः आहुः अवान्तरेति. अवान्तरगणना सप्तरभ्य दशपर्यन्तगणना. सूचनया इति. चक्षुरादीनां सप्तानां प्राधान्यं सूच्यते. अष्टसु ग्रहत्वकथनेन बन्धकत्वं नवद्वाराणि अनावृतानि इति दशद्वाराणि इत्येवंरीत्या सूचनया एकादशसु एताः सङ्ख्याः सम्भवन्ति इति सम्भवाभिप्रायेति अर्थः. ननु कुत्रचित् चतुर्दश सङ्ख्याः श्रूयते इत्यतः आहुः अधिकेति. भेदाद् इति. चातुर्विध्याद् इति अर्थः. गीतायाम् "इन्द्रियाणि दशैकं च" (भग.गीता १३।६) इति उक्त्या अत्रापि तथैव इति सूचयन्ति एकादशैव इति. मनसः इन्द्रियत्वं वा न वा इति विचारः तन्त्रान्तरे प्रसिद्धः, प्रकाशेऽपि उक्तइति विस्तरभयाद् विरम्यते ॥६॥ २॥

अणवश्च॥७॥ (२।४।३)

सर्वे प्राणाः अणुपरिमाणाः. गतिमत्त्वेन नित्यत्वे अणुत्वमेव. परिमाण-
प्रमाणाभावात् पुनर्वचनम्॥७॥

द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे तृतीयम् अणवश्च इति अधिकरणम्॥३॥

श्रेष्ठश्च॥८॥ (२।४।४)

मुख्यश्च प्राणो नित्यगतिमान् अणुपरिमाणश्च. ‘च’काराद् अतिदेशः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

संख्यां निश्चित्य परिमाणं निश्चिनोति इति आहुः सर्वे इत्यादिना. सर्वप्राणानां पूर्वोक्तरीत्या नित्यत्वे सिद्धे गतिमत्त्वेन अणुत्वं सिद्धम् इति भावः. परिमाण-
प्रमाणाभावात् प्राणानां परिमाणानुक्तेः. पुनर्वचनं जीवनिर्देशेन प्राप्तम् अणुपरिमाणं सूत्रस्थचकारेण पुनरुक्तम् इति अर्थः. ननु इन्द्रियाणाम् अणुत्वे समूहालम्बनज्ञानस्य देहस्थितानेकपदार्थानां युगपज्ज्ञानस्य च अनुपपत्तिः इति चेद्, न. चक्षुर्मनोवाचां तेजोदेवतायाः त्वचो वायुदेवतायाश्च व्यापकतया तदीयरूपस्पर्शगुणयोः वा व्यापकतया सकललोकज्ञानानाम् उपपत्तेः॥७॥३॥

इन्द्रियाणि विचार्य इदानीं मुख्यप्राणं विचारयति. तत्र मुख्यप्राणनित्यतायाः स्फुटम् अश्रवणात् प्रश्नोपनिषत्प्रभृतिषु “मा मोहम् आपद्यथाः अहमेव एतत्पञ्चधा आत्मानं विभज्य एतद्बाणम् अवष्टभ्य विधारयामि” (प्रश्नोप.२।३) इत्यादिरूपे प्राणानां संवादे शरीरस्थितिहेतुतया श्रेष्ठत्वेन निर्णीतत्वाच्च. अणुत्वसन्देहे श्रेष्ठस्य नित्यतागमकत्वे मानाभावाद्. एवम् अनित्यत्वे प्राप्ते आह इति व्याकुर्वन्ति मुख्यः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इन्द्रियाणां परिमाणं च वक्तुम् अण्वधिकरणम् आहुः अणवश्च. “तथा प्राणः” इत्यस्मात् ‘प्राणः’ इति अनुवर्तते. तथाच सूत्रार्थम् आहुः सर्वे इति. ननु नित्यत्वं न उक्तम् अतः आहुः गतिमत्त्वेति. तथाच अनेन सूत्रेण अणुत्वमेव साध्यते इति अर्थः. ननु “तथा प्राणः” इति अतिदेशादेव अणुत्वसिद्धौ पुनर्वचनं किमर्थम्? इत्यतः आहुः परिमाणप्रमाणाभावाद् इति. श्रुतौ जीववद् इन्द्रियाणाम् अणुपरिमाणस्य उक्त्यभावाद् इति अर्थः॥७॥३॥

मुख्यप्राणे विचारं कर्तुं श्रेष्ठाधिकरणम् आहुः श्रेष्ठश्च. सूत्रं व्याकुर्वन्ति मुख्यश्च इति. प्रश्नोपनिषदि “मा मोहम् आपद् यथा अहमेव एतत्पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य एतद् बाणम् अवष्टभ्य विचारयामि” (प्रश्नोप.२।३) इत्यनेन शरीरधारकत्वेन

“न असदासीद्” (ऋग्वेद १०।१२९) इत्यत्र “आनीदवातं स्वधया तदेकम्” (तत्रैव १०।१२९) इति अननात्मकस्य पूर्वसत्ता प्रदर्शिता॥८॥

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्॥९॥

ननु मुख्यः प्राणो वायुरेव भविष्यति, इन्द्रियाणां क्रिया वा. एवं हि श्रूयते “यः प्राणः स वायुः. एष वायुः पञ्चविधः” (ऐत.उप.३।३।२) “प्राणोपानो व्यान उदानः समानः” (बृहदा.उप.१।५।३) इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. मुख्यप्राणोऽपि नित्यो गतिमान् अणुश्च. तत्र हेतुः जीवातिदेशप्राप्तः ‘च’कारेण द्योत्यते. ननु अस्य सृष्टेः पूर्वं सत्त्वे किं मानम्? अतः आहुः न असद् इत्यादि. तथाच एवं सृष्टिपूर्वकाले वातरूपनिषेधपूर्वकम् ‘आनीद्’ इतिकथनाद् भगवतो अननात्मको यो धर्मः स एव मुख्यप्राण इति तेन रूपेण सत्तायां सिद्धायाम् “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्डकोप.२।१।३) इत्यत्रापि जीववद् व्युच्चरणमेव ननु उत्पत्तिः अतो इयमपि जीवसमानयोगक्षेम एव इति निश्चयः. पञ्चधा आत्मविभागोक्तिस्तु वृत्तिरूपेत्यतो न अणुत्वव्याघातः इति अवसेयम्॥८॥

प्राणस्वरूप एव किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति इति आशयम् अत्र आहुः ननु

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्राणस्य मुख्यत्वम् उक्तम्. ननु मुख्यो नित्यो भवति इत्यत्र नियामकाभावः इत्यतः आहुः नित्येति. नित्यश्च असौ गतिमांश्च इति अर्थः. ननु कथं ज्ञायते? इत्यतः आहुः चकाराद् इति. तथाच “तथा प्राणः” इत्यत्र अतिदेशः तथा अत्रापि इति अर्थः. ननु अस्य जीवतुल्यत्वे सृष्टेः पूर्वं सत्त्वे प्रमाणम् अपेक्षितम् आहुः नासदासीद् इति. इत्यञ्च श्रुतिः तैत्तिरीये द्वितीयाष्टके ब्राह्मणः अष्टमप्रपाठके उक्ता. तथाच “नासदासीद्” (ऋग्वेद १०।१२९।१) इत्यारभ्य वाक्यसमुदाये “आनीद् अवातं स्वधया तदेकम्” (ऋग्वेद १०।१२९।२) इति वाक्यं पठितम्. तत्र अननात्मकस्य भगवद्धर्मस्य प्राणरूपस्य पूर्ववत्ता प्रदर्शिता इति अर्थः. एतेन “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्ड.उप.२।१।३) इति श्रुतौ व्युच्चरणमेव बोध्यत इति न श्रुतिविरोधः इति प्रदर्शितम्॥८॥

प्राणस्य वायुरूपत्वे घण्टाघोषात् सूत्रांशेन आशङ्क्य परिहरति न वायुः इति. शङ्कांशं व्याकुर्वन्ति ननु इति. क्रिया वा इति. भविष्यति इति पूर्वेण अन्वयः. तथाच कोटिद्वयम्. तत्र प्रथमकोटौ प्रमाणम् आहुः एवं हि इति. वायुरूपत्वे समान इति इत्यन्तं श्रुतिप्रमाणं बोध्यम्. क्रियारूपत्वे साङ्ख्यमतोक्तां साङ्ख्यकारिकास्थाम् आर्या

“सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च” (साङ्ख्य.कारि.२९) इति तन्त्रान्तरीया आचक्षते. तद् उभयमपि न. कुतः? पृथगुपदेशात्. “एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी” (मुण्ड.उप.२।१।३) इति प्राणवाय्वोः पृथगुपदेशात् वृत्तिमतोः अभेदेन ततोऽपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. समान इत्यन्तः एकः प्रकारः. सामान्यकरणवृत्तिः इत्यनेन तन्त्रान्तरीयमतम् उच्यते. तन्त्रान्तरे हि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि इमानि दश बाह्यानि, मनोबुद्ध्यहंकाराः त्रयश्चान्तरा एवं त्रयोदशविधं करणम्. तस्य त्रयोदशविधस्यापि करणस्य या साधारणी वृत्तिः सा प्राणादिपञ्चवायुरूपा भवति. प्राणशब्देन प्राणनम्. भावे घञ्. इत्थञ्च उक्ता वृत्तिरेव प्राणादिपञ्चकत्वेन व्यवहियते. तदुभयं “यः प्राणः” इत्यारभ्य “समानः” इत्यन्तम् एकं मतं सामान्यकरणेति आरभ्य आचक्षते इत्यन्तं द्वितीयं मतम् एतद् उभयम् इति अर्थः. इत्थञ्च तदुभयमध्ये एकम् आदरणीयं नतु पृथग्विचारः कर्तव्यः इति शंकापरिहारम् आहुः न इति. ननु एवं वायोः सकाशात् प्राणानां भेदो अस्तु इन्द्रियक्रियातः कथं भेदः? इत्यतः आहुः वृत्तिः इत्यादि. वृत्ति-वृत्तिमतोः इन्द्रियवृत्तीन्द्रिययोः. ततोऽपि इन्द्रियतोऽपि. तथाच पदार्थान्तरमेव जीवमुख्यप्राणः इति सिद्धम्. ननु “यः प्राणः सः वायुः” (ऐत.उप.३।३।२) “स एष वायुः पञ्चविधः” (तत्रैव ३।३।३) इति श्रुत्योः विरोधो वायुभिन्नत्वाङ्गीकारे इति चेद् न, श्रुत्योः वायु-समानताप्रतिपादनात्. तथाहि “सो अमन्यत एतासां प्रबोधनायाभ्यन्तरं विविशामीति स

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रमाणयन्ति सामान्यः इति. प्राणाद्याः पञ्च वायवः एवं सामान्यकरणवृत्तिः इति अन्वयः. अत्र समानवचनकत्वाभावेऽपि समानविभक्तिकत्त्वसत्त्वात् ‘पितरो देवता’ इतिवद् अभेदान्वयः. सामान्या साधारणीया करणानां पञ्चकर्मेन्द्रिय-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-मनोबुद्ध्यहंकारत्रयोदशानां करणानां वृत्तिः, सैव पञ्च वायवः इति अर्थः. तन्त्रान्तरीयाः साङ्ख्याः. समाधानम् आहुः पृथग् इति. वायोः भेदम् उक्त्वा करणक्रियातो भेदम् आहुः वृत्तिः इति. वृत्ति-वृत्तिमतोः अभेदेन इत्येव पाठः. वृत्तिः क्रियाः, वृत्तिमद् इन्द्रियाणि. ततोऽपि इति. इन्द्रियतोऽपि इति अर्थः. तथाच क्रिया-क्रियावतोः अभेदात् प्राणस्य इन्द्रियरूपत्वं वक्तव्यम्. एवञ्च अस्मिन् विषयवाक्ये प्राणस्य इन्द्रियस्य च पृथगुपदेशाच्च क्रियारूपत्वम् इति अर्थः. ननु “यः प्राणः सः वायुः” (ऐत.उप.३।३।२) इति श्रुतिविरोधः इति चेद् न, प्राणस्य वायुसमानाकारत्वं प्रदर्शितं मैत्रेयोपनिषदि “सः वायुरिव आत्मानं कृत्वा आभ्यन्तरं प्राविशद्”

पृथगुपदेशान्च॥९॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे चतुर्थं श्रेष्ठश्च इति अधिकरणम्॥४॥

चक्षुरादिवत् तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः॥१०॥ (२।४।५)

सः प्राणः स्वतन्त्रः, परतन्त्रो वा ? इति विचारे स्वतन्त्रः इति तावत्प्राप्तम्.
“सुप्तेषु वागादिषु प्राणः एको *मृत्युनानाप्तः, प्राणः संवर्गो वागादीन्
संवृङ्क्ते, प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्” (.....) इति.

इमाम् आशङ्कां निराकरोति ‘तु’ शब्दः. चक्षुरादिवद् अयमपि प्राणो
अस्वतन्त्रः. मुख्यतो भगवदधीनः. व्यवहारे जीवाधीनः. कुतः ? तत्सहशिष्ट्या-
दिभ्यः चक्षुरादिभिः सह शासनात्. इन्द्रियजयवत् प्राणजयस्यापि दृष्टत्वात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वायुरिव आत्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत् स एको नाशकत् स पञ्चधात्मानं विभज्य’
(मैत्रा.उप.२।६) इत्यादि प्रजापतिम् उपक्रम्य पठ्यते अतो न विरोधः. भूतात्मकवायु-
व्यतिरिक्तभगवत्प्राणात्मकवायुप्रतिपादकत्वेनापि न श्रुत्योः विरोधः. जीवमुख्यप्राणस्तु न
वायुः अन्यथा “सो अमन्यते”ति श्रुतिविरोधः स्यात् ॥९॥४॥

अधिकरणान्तरताबोधनाय संशयादिकम् आहुः सः प्राणः इत्यादि.
मृतानाप्तः* मृतेन मृत्युना सह अनाप्तः प्रतिस्पर्धीभूतः. संवर्गः वागादिजीवनकर्ता.
संवृङ्क्ते सङ्गृह्णाति. इतरान् पञ्चप्राणान् मुख्यः प्राणो रक्षति इति अर्थः.
आशङ्कां पूर्वपक्षम्. मुख्यतः सम्पत्तिदशायाम्. दृष्टत्वाद् “जितेन्द्रियस्य मुख्यस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

(मैत्रा.उप.२।६) इत्यादिना. एवञ्च मुख्यः प्राणः ‘आसन्य’पदवाच्यवायोः पृथग् इति न
श्रुतिविरोधः इति ध्येयम् ॥९॥४॥

संशयम् आहुः सः प्राणः इति. पूर्वपक्षम् आहुः स्वतन्त्रः इति. पूर्वपक्षी
स्वमते श्रुतिं प्रमाणयति सुप्तेषु इति. सिद्धान्तम् आहुः चक्षुरादिवद् इति.
दृष्टान्तदाढ्यार्थं दाष्टान्तिके साधारणधर्मम् अनुवदति प्राणजयस्यापि इति. दृष्टत्वाद्
इति. श्वेताश्वतरोपनिषदि इति शेषः. तथाहि, “प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे
प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत” (श्वेता.उप.२।९) इत्यनेन प्राणजयस्यापि उक्तत्वेन
जीवाधीनत्वम् उत्क्रमस्थित्यादीनां भगवदधीनत्वं च बोध्यम्. तथाच स्वतन्त्रता प्राणस्य
नास्ति इति भावः ॥१०॥

*“मृत्युनानाप्त” इति “एकोमृतनामाप्त” इत्यपि पाठौ.

‘आदि’शब्देन जडत्वादयः ॥१०॥

अकरणत्वाच्च न दोषः तथा हि दर्शयति ॥११॥

ननु प्राणस्य जीवोपकरणत्वे तदुपकारकव्यापारवत्त्वम् अपेक्ष्यते. तत्र एकादशैव वृत्तयः तन्त्रान्तरेऽपि सिद्धाः.

**“एकादशमी मनसो हि वृत्तय आकूतयः पञ्चधियोऽभिमानः,
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां वदन्ति चैकादश वीर भूमीः”**

(भाग.पुरा.५।११।९) इति. तथा कश्चित् प्राणस्य व्यापारो अस्ति इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जितश्वासस्य योगिनः” (भाग.पुरा.११।१५।१) इत्यादौ दृष्टत्वात्. आदिशब्देन सूत्रस्थप्रथमादिशब्देन. जडत्वादयः इन्द्रियतुल्यतया प्राणनिष्ठजडत्वादयः. जडत्वादयः इत्यत्र ‘आदि’शब्देन जीवोपकरणरूपत्वं संवादकरणादिकं ग्राह्यम्. द्वितीयादिपदेन प्राणव्यापारो बोध्यः ॥१०॥

ननु प्राणस्य जीवोपकरणत्वं कथम्? इति आशंक्य समर्थयति इति आहुः ननु इत्यादि. तन्त्रान्तरेऽपि योगशास्त्रेऽपि. ‘एकादश’ इति श्लोकस्तु पञ्चमस्कन्धे जडभरतवाक्यम्. आकूतयः विसर्गानन्दनादानगमनवचनाख्यकर्मजनकाः बाह्यप्रयत्नाः कर्मेन्द्रियरूपाः. पञ्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धज्ञानानि पञ्च. अभिमानः ‘अहं’ ‘मम’ इति स्वीकारात्मकः साक्षाद् मनसो वृत्तिः, एवम् एकादश मनसो वृत्तयः मनोद्वारभूतानाम् इन्द्रियाणान्तु प्रतिव्यक्तिनियता एकैकजातीयाः. मात्राणि शब्दादयो धियां भूमयो विषयाः. कर्माणि विसर्गादीनि आकूतीनां भूमयो विषयाः. पुरं शरीरम्. तच्च स्वसम्बन्ध्यवयवानामपि उपलक्षकम्. तद् “अहं-मम” इति अभिमानाख्यमनोवृत्तेः विषयः. एवम् एकादशः तासां वृत्तीनां भूमीः वीरः वदन्ति इति.

तथाच जीवोपकरणभूतानां करणानां तत्तद्भोगरूपकार्यार्थं व्यापाराः यथा एताः आकूत्यादयः सन्ति तथा जीवस्य भोगसाधकः कश्चिद् व्यापारो नास्ति इति कथं तस्य

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

यद्यपि प्राणस्य उपकरणत्वमेव न करणत्वं तथापि उपकरणेऽपि व्यापारापेक्षा अस्ति इति आशयेन शङ्कते ननु इति. यद्यद् जीवोपकरणं तद्व्यापारवद् इति व्याप्त्या प्राणस्य जीवोपकरणत्वेन व्यापारवत्त्वं साधयितुं प्रथमतः इन्द्रियाणां जीवोपकरणत्वेन व्यापारान् आहुः तत्र इति. तन्त्रान्तरे योगशास्त्रे. पञ्चमस्कन्धे जडभरतवाक्यम् आहुः एकादशेति. तथा इति. प्राणस्य उपकारकत्वेन अवश्यं व्यापारापेक्षा अस्ति इति भावः.

चेद्, न एषः दोषः. कुतः? अकरणत्वात्. करणस्यैव हि व्यापारो अपेक्षितः. अन्यस्य कार्यमात्रम् अपेक्षितम्. तत्र आह तथा हि. कार्यवत्त्वं युक्तम्. तत् श्रुतिरेव दर्शयति. “तस्मिन् उत्क्रामत्यथेतरे” (प्रश्नोप. २।४) इत्यादिश्रुतिभिः प्राणनिमित्तैव शरीरस्थितिः इति. तस्माद् व्यापाराभावेऽपि स्वरूपस्थितिमात्रेण तस्य उपकारित्वम् ॥११॥

पञ्चवृत्तेर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥१२॥

व्यापारव्यतिरेकेण उपकारित्वम् असमज्जसम् इति चेद्, तत्र आह पञ्च-
वृत्तेः. “अहमेव एतत्पञ्चधा आत्मानं विभज्य एतद्बाणम् अवष्टभ्य विधार-
यामि” (प्रश्नोप. २।३) इति यथा मनसो द्वारभेदेनैव एकादश वृत्तयः स्वरूपतएव
एवमेव प्राणस्यापि पञ्चधा आत्मानं विभज्य कार्यकारणं व्यपदिश्यते ॥१२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जीवोपकरणत्वम्? इति अर्थः. समाधिम् आहुः न एषः दोषः इति. एषः
व्यापाराभावरूपः अकरणत्वात् प्राणानां जीवोपकरणतायां करणत्वाभावात्. अन्यस्य
करणभिन्नकारणस्य. कार्यत्वं युक्तं न व्यापारोऽपि अपेक्षितः इति अर्थः. तद्
व्यापारशून्यकारणत्वं, श्रुतिः प्रश्नोपनिषदि “तस्मिन् उत्क्रामति अथ एते सर्वएव
उत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वएव प्रतिष्ठन्ते” (प्रश्नोप. २।४) इति श्रुतिः. तस्य
उपकारित्वं प्राणस्य उपकारित्वम् ॥११॥

पुनः किञ्चिद् आशंक्य परिहरति इति आशयेन आहुः व्यापारेत्यादि. तत्र
आह इतिशङ्काप्राप्तौ आह सूत्रकारः पञ्चवृत्तेः इति. तथाच एकादशवृत्तिमतो मनसो
यथा उपकारित्वं तथा पञ्चवृत्तिमतः प्राणस्यापि स्वरूपतएव उपकारित्वं नतु व्यापारापेक्षा
इति भावः इति सूत्रार्थः. इममेव अर्थं विशदयन्ति अहमेव इत्यादिना. ‘अहं’शब्देन
मुख्यप्राणः. बाणं शरीरम्. एकादशः वृत्तयः साक्षात्परम्पराभेदेन एकादशः. साक्षाद्
अहंममात्मिका, परम्परया दशेन्द्रियद्वारा. प्राणेतु साक्षादेव पञ्चवृत्तिस्वीकारः. अतः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

समाधानम् आहुः न एषः दोषः इति. उपकरणं भिन्नं करणं भिन्नम् इति आशयेन आहुः
करणस्यैव इति. अन्यस्य प्राणस्य कार्यमात्रं शरीरस्थितिरूपकार्यमात्रम्. अत्र
प्रश्नोपनिषच्छ्रुतिम् आहुः तस्मिन् इति ॥११॥

पञ्चवृत्तेर्मनोवद् व्यपदिश्यते. एतद्बाणम् इति. शरीरम् इति अर्थः.
अन्यत् स्पष्टम् ॥१२॥

अणुश्च॥१३॥

अतिदेशेन प्राप्तमपि अणुत्वं “पञ्चधा आत्मानं विभज्य” (प्रश्नोप. २।३) इतिवचनात् सन्दिग्धं पुनः विधीयते. आसन्नोऽपि अणुः. ‘च’कारात् पूर्वोक्तसर्वसमुच्चयः॥१३॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे पञ्चमं चक्षुरादिवद् अधिकरणम्॥५॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्॥१४॥ (२।४।६)

वागादीनां देवताधिष्ठानवतां प्रवृत्तिः, स्वतएव वा? जीवाधिष्ठान-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्वरूपात्मकवृत्तिरूपकार्यात् स्वरूपतएव प्राणानाम् उपकरणत्वम्॥१२॥

सन्दिग्धम् अणोः विभागस्य युक्तिबाधितत्वात् सन्दिग्धम् इति अर्थः. प्राणस्य पञ्चवृत्तिरूपश्रुतिबोधितार्थावगमेतु सन्देहएव नास्ति. **पूर्वोक्तसर्वसमुच्चयः** इति. उत्क्रान्तिगत्यागत्यादिवृत्त्यन्तधर्मसंग्रहः. तथाच स्वसामर्थ्याद् वृत्तयः वृत्तिसामर्थ्यात् सर्वशरीरव्याप्तिः. बहिर्भूयस्त्वेन प्रत्ययस्तु त्रिवृत्तरणोत्तरम् अदभिः पोषणाद् उपपन्नः. तस्माद् अणुरेव **आसन्नः** प्राणः इति सिद्धम्. यत् पुनः प्राणम् उपक्रम्य “**सम एभिः त्रिभिः लोकैः समो अनेन समः सर्वेण**”(.....) इति विभुत्वम् उद्गीथब्राह्मणे श्रावितं यच्च “**प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्**” (छान्दो.उप.७।१५।१) इति सर्वाधारत्वं प्रश्नोपनिषदि श्रावितं “**सर्वं हि इदं प्राणेन आवृतम्**” (बृहदा.उप. १।३।२२) इति च श्रुत्यन्तरे. तच्च सर्वम् उत्क्रान्त्यादिभिः परिच्छिन्नत्वे निर्णीते सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणाधीनत्वबोधनार्थं रामानुजमतवद् अथवा सर्वप्राणसमष्टिरूपाधि-दैविकहिरण्यगर्भप्राणानां सूत्रात्मकतया व्यापकताबोधनेन वा शङ्करभास्करमतवत् सुकरं समाधानं परं किञ्चिद् वैलक्षण्येन ॥१३॥५॥

संशयाद्युपन्यासमुखेन सूत्रप्रयोजनं बोधयन्ति **वागादीनाम्** इत्यादि. नच

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अणुश्च. अतिदेशेन इति. जीववत् प्राणस्यापि अणुत्वम् इति अतिदेशेन इति अर्थः. **सन्दिग्धम्** इति. अणुरूपस्य अंशाभावाद् अविभागो न सम्भवति इति भावः. **आसन्नोऽपि** इति मुख्यः प्राणोऽपि इति अर्थः. **पूर्वोक्तेति.** उत्क्रान्त्यादिधर्मसंग्रहः. कुत्रचित् प्राणस्य विभुत्वम् उक्तं तत्तु सर्वेषां प्राणायत्तस्थितिकत्वाद् बोध्यम् ॥१३॥५॥

वागादीनाम् इति. अग्न्याद्यधिष्ठान-विशिष्टानां वागादीनां प्रवृत्तिः स्वतः

ब्रह्मप्रेरणयोः विद्यमानत्वादिति संशयः. विशेषकार्याभावाद् न देवतापेक्षेति पूर्वपक्षं निराकरोति ‘तु’शब्दः. वागादीनां ज्योतिरादिः अग्न्यादिः अधिष्ठानम् अवश्यम् अङ्गीकर्तव्यम्. कुतः? तदामननात्. तथा आम्नायते “अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्” (ऐत.उप.२।४) इत्यादि.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जडानां स्वतःप्रवृत्त्यसम्भवाद् देवताधिष्ठानतायाः प्रवृत्तिप्रयोजकता अर्थाक्षिप्तेति संशयएव न सम्भवति इत्यतः आहुः जीवेत्यादि. तथाच ब्रह्मप्रेरणतया प्रवृत्तिः उत जीवाधिष्ठानतया इति संशयः. विशेषकार्येत्यादि. अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तस्य ब्रह्माण्डसृष्टिनियमनरूपस्य विशेषकार्यस्य अभावाद् इति अर्थः. एवं भोगरूपकार्यस्यापि प्रतिप्राणं जीवाधिष्ठानमात्रादेव उपपत्तेः न देवतापेक्षा इति पूर्वपक्षं निराकरोति इति अर्थः. अधिष्ठानम् इति. अधितिष्ठति इति अधिष्ठानम्. नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युः, नपुंसकन्तु सामान्यं बोध्यम्. तथाच शरीरेऽपि प्राणानां सर्वेषां स्व-स्वकार्यार्थं ज्योतिरादीनाम् अधिष्ठानता अवश्यम् अङ्गीकर्तव्या. तदामननात् तस्य देवतारूपस्य अधिष्ठातुः श्रुतौ कथनाद् “अग्निः वाग् भूत्वा” (ऐत.उप.१।२।४) इति श्रुतिस्तु ऐतरेयोपनिषदि लोकानां लोकपालानाञ्च सृष्टिम् उपक्रम्य, अदभ्यः पुरुषोद्धारणम् उक्त्वा, ततः आलोचनान्तरेण तस्य मुखनिर्भेदं, मुखाद् वाङ्निर्भेदं, वाचो अग्नेः निर्भेदम् उक्त्वा; तथैव नासिकाक्षि-कर्ण-त्वग्हृदय-नाभि-शिशनानां सेन्द्रियाणां सदेवानां निर्भेदं, ततः तासां देवतानां प्रलयमहर्णवे पातम्, अशनापिपासाभ्यां तासाम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रवृत्तिः वा इति सन्देहः. ननु वागादीनां जडत्वात् प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या देवता-विशिष्टानामेव लाभसम्भवात् संशयो अनुपपन्नः इत्यतः आहुः जीवेति. स्वतः प्रवृत्तौ जीवाधिष्ठानं देवताविशिष्टप्रवृत्तौ ब्रह्म कारणम् इति संशयः इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः विशेषेति. ब्रह्माण्डसृष्टिरूपविशेषकार्याभावाद् इति अर्थः. अन्तर्यामिब्राह्मणे अण्डसृष्टिप्रकरणे “यो वाचि तिष्ठन्” (बृहदा.उप.३।७।१७) इत्यादिना देवताविशिष्टसंयमनकर्तृत्वं ब्रह्मणि उक्तं, व्यष्टिस्थलेतु भोगरूपसामान्यकार्यं जीवाधिष्ठानमात्रादेव सिध्यतीति न देवतापेक्षा इति भावः. अधिष्ठानम् इति. “नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युः” (पाणि.सू.३।१।१३४). अधिष्ठाता इति अर्थः. तदामननाद् इति. तस्य देवतारूपस्य. ऐतरेयश्रुतौ “अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्” (ऐत.उप.२।४) इत्यादिना कथनाद् इति अर्थः. ननु तत्तद्देवतानां प्रवेशो विराट्शरीरे

अयम् अर्थः :

“योऽध्यात्मिको अयं पुरुषः सोऽसावेव आधिदैविकः,

यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः” (भाग.पुरा.२।१०।८)

इति आध्यात्मिकादीनां स्वरूपं, वागादयश्च अणुरूपा नित्याः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आवरणं, ताभिः स्वान्नभोगार्थं स्थानप्रार्थनं, ततो भगवता तासां स्थित्यर्थं पुरुषशरीरा-
नयनञ्च उक्त्वा, ततो भगवता “यथा आयतनं प्रविशते” (ऐत.उप.१।२।३) इति उक्ते
“अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्” (ऐत.
उप.१।२।४) इत्येवं तस्याः तस्याः देवतायाः तत्तदिन्द्रियभवनेन तत्तद्गोलके प्रवेशं वक्ति
तस्माद् इति अर्थः. ननु तासां देवतानां विराट्पुरुषशरीरीयतत्तद्गोलके प्रवेशो अस्तु
स्वस्वान्नभोगार्थो नतु लौकिकेन्द्रियकार्यार्थः. अतो अनया श्रुत्या कथं
देवताधिष्ठानसिद्धिः? अतः आहुः अयम् अर्थः इति. अयं वक्ष्यमाणः
सूत्रतात्पर्यगोचरः. “यो अध्यात्मिकः” (भाग.पुरा.२।१०।८) इति श्लोकः
द्वितीयस्कन्धे, “पुराणं वेदसम्मतम्” (बृहदा.उप.२।१।८) इति तदनुसारेण स्फुटत्वाथं
निरूप्यते श्रुतिः. अर्थस्तु आत्मनि इति अध्यात्मं तत्र भवः आध्यात्मिकः, एवं
दैविकभौतिकावपि बोध्यौ. उभयोः आध्यात्मिकाधिदैविकयोः विच्छेदो द्वैधीभावो
यस्मात् सः उभयविच्छेदः. तथाच श्रुतौ मुखादिनिर्भेदोत्तरमेव इन्द्रियदेवतयोः
निर्भेदकथनाद् एतच्छ्लोकोक्तम् आध्यात्मिकादिस्वरूपम् आधिभौतिकोत्तरभाव्येव
सिद्धं श्रुत्यभिप्रेतम्. अनुरूपाः आधिदैविकादिरूपत्रयेऽपि योग्या अनुगता इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

नतु व्यष्टिशरीरे श्रुतौ उक्तइति कथं सर्वत्र देवताधिष्ठानम्? इति आकाङ्क्षायां
विशदयन्ति अयम् अर्थः इत्यादिना. अत्र द्वितीयस्कन्धीयश्लोकम् आहुः
योऽध्यात्मिकोऽयम् इति. आत्मनि इति अध्यात्मं तत्र भवः आध्यात्मिकः. एवम्
अन्यत्रापि. उभयविच्छेदः इति. उभयोः आध्यात्मिकाधिदैविकयोः विच्छेदो द्वैधीभावो
यस्मात् सः. तथाच मुखादिनिर्भेदोत्तरमेव इन्द्रियदेवतयोः निर्भेदः श्रुतौ उक्तः सङ्गच्छते.
ननु यदि सर्वदा देवतासान्निध्यं स्वीक्रियते चेद् “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्ड.उप.
२।१।३) इत्यत्र देवताविर्भावः कुतो न उक्तः? इत्यतः आहुः आध्यात्मिकेत्यादिना.
साक्षाद् न उक्तं तथापि भङ्ग्यन्तरेण उक्तम् इति भावः. ननु एवं दृष्टार्थापत्तौ
वागादिष्वेव तादृशं सामर्थ्यं कल्प्यम्. आध्यात्मिकादिस्मृतिवाक्ययोजनया अधिष्ठातृ-

तत्र यदि त्रैविध्यं न कल्प्येत तदा एकस्मिन्नैव शरीरे उपक्षीणं शरीरान्तरे न भवेत्. कल्प्यमानेतु अग्निर् देवतारूपो अनेकरूपभवनसमर्थो वाग्रूपो भूत्वा सर्वत्र प्रविष्टः इति सङ्गच्छते. ते च अग्न्यादयः चेतना भगवदंशाः तिरोहितानन्दाः सामर्थ्ययुक्ता इति कार्यवशाद् अवगम्यन्ते. आध्यात्मिकाधिदैविकयोः एकत्वाद् वदनादिकार्यार्थम् आध्यात्मिकाएव निरूपिताः. उद्गमने, “एतस्माज् जायते प्राणः” (मुण्ड.उप.२।१।३) इत्यादिषु वागादीनां नियमेन तत्तज्जीवसान्निध्यं, स्वतश्च अनिर्गमनं मृत्युरूपश्रमेण तत्र लयः पुनः उद्गमनं समष्टि-व्यष्टिभावश्च

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्र वागादीन्द्रियेषु. त्रैविध्यम् आधिदैविकादिभेदत्रयम्. उपक्षीणम् अन्यत्र गतिस्थितिरहितम्. शरीरान्तरे न भवेत् शरीरान्तरसम्बद्धं न भवेत्. कल्प्यमानेतु वागादीनां त्रितयरूपत्वे कल्प्यमाने च, सर्वत्र सर्वशरीरेषु स्वगोलकेषु. ते च इत्यादि. तथाच सर्वएव इन्द्रियदेवाः स्व-स्वसामर्थ्येन इन्द्रियरूपतां स्वेषां सम्पाद्य स्व-स्वगोलकेषु प्रविशन्ति इति अर्थापत्त्यैव सिद्धम्. एकत्वाद् इति. एकत्वेन आध्यात्मिकानां सामर्थ्यं बोधितम्, अन्यथा अन्नभोजनप्रार्थनं प्रवेशसामर्थ्यं च तेषु न भवेद् इति भावः. ननु एवं देवतानाम् इन्द्रियनियमे “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्ड.उप.२।१।३) इत्यादौ देवतानाम् उद्गमः कुतो न उक्तः? इत्यतः आहुः आध्यात्मिका इति. निरूपिता इति उद्गमने अन्वेति. तथाच तत्तन्नाम्ना आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः उभयोरपि उत्पत्तिः निरूपिता इति अर्थः. ननु एवं वागादिष्वेव दृष्टार्थपत्त्या तादृशसामर्थ्यं कल्पनीयं तावतैव अनुपपत्तिपरिहाराद् अतः आहुः वागादीनाम् इत्यादि. अन्यथा देवतारूपत्रितयभेदानङ्गीकारे, जीवसान्निध्यम् आर्तभागब्राह्मणोक्तं प्राणवागादीनां जीवसान्निध्यं, “तम् उत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति” (बृहदा.उप.४।४।२) इत्यादिवाक्याद् अवगतम्. स्वतो अस्माद् जीवदेहाद् अनिर्गमनं व्रतमीमांसायां “तानि मृत्युः श्रमोभूत्वा उपयेम” (तत्रैव १।५।२१) इत्यादिना

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

देवताकल्पने किं मानम्? अतः आहुः वागादीनाम् इत्यादिना, न उपपद्येत इति. तथाच श्रुतार्थापत्तिरेव प्रमाणम् इति भावः. समष्टि-व्यष्टिपदयोः अर्थस्तु ‘अशू व्याप्तौ’, सम्यग् एकेन रूपेण अनुगता अष्टिः व्याप्तिः यस्य असौ समष्टिः. विविधा नानारूपेण अष्टिः व्याप्तिः यस्य असौ व्यष्टिः. अधिकन्तु निबन्धे सर्वनिर्णये “आनन्वेऽपि हि कार्याणाम्” (तत्त्वदी.निब.२।११८) इति अत्र तद्व्याख्यायां च प्रपञ्चितम्. एतस्य

अन्यथा न उपपद्येत. आधिभौतिककृतश्च अयं भेदः इति अग्रे व्यक्तीकरिष्यते. एवमेव ब्रह्मणोऽपि. “अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविश्य” (छान्दो.उप.६।३।२) इत्यपि निःसन्दिग्धं द्रष्टव्यं यदज्ञानात् सर्वविप्लववादिव्यामोहः॥१४॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे षष्ठं ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम्॥६॥

प्राणवता शब्दात्॥१५॥ (२।४।७)

यद् अधिष्ठानम् अग्न्यादि तत् किं स्वतएव, अन्यसहितं वा? इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तमृत्युरूपश्रमेण शरीरे लयः पुनरुद्गमः भुज्यब्राह्मणे “वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः” (.....) इत्यनेन बोधितो यः समष्टि-व्यष्टिभावः आसन्यस्य, चकारात् तत्र-तत्रोक्तं वागादीनां चेतनतुल्यत्वं च, एतत् सर्वं न उपपद्येत. तथाच देवतोद्गमे श्रुतार्थापत्तिरेव मानमिति न वागादिसामर्थ्यकल्पनया निर्वाहः इति भावः. समष्टिः सम्यग् एकरूपेण व्याप्तिः. व्यष्टिः विविधनामरूपैः व्यापकता. एवम् उक्तो अर्थः सर्वोऽपि व्यासाशयगोचरः इति वदन्ति आधिभौतिकेत्यादि. अयं वागादिरूपः. एवमेव एतेषां त्रैविध्यवदेव. यथा एतेषाम् आधिभौतिके प्रवेशानन्तरं भेदत्रयव्यवहारः एवं ब्रह्मणोऽपि आधिभौतिकप्रवेशानन्तरमेव त्रितयव्यवहारगोचरता बोध्या. निःसन्दिग्धं श्रुतौ तिसृषु देवतासु “अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य” (छान्दो.उप. ६।३।२) इति प्रवेशकथनाद् अत्रापि निःसन्दिग्धं द्रष्टव्यं इति अर्थः. “तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवद्” (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुत्यन्तरे प्रवेशोत्तरमेव द्वैधीभावश्रवणात् ॥१४॥६॥

सूत्रप्रयोजनं बोधयितुं संशयादिकम् आहुः यद् इत्यादि. स्वतएव अन्यसहितं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

व्यासाशयवत्त्वं प्रकटयन्ति आधिभौतिकेत्यादिना.

अग्रे वैशेष्यसूत्रे. एवम् आध्यात्मिकाधिदैविकभावं ब्रह्मण्यपि अतिदिशन्ति एवमेव इति. यदज्ञानाद् इति. यस्य भगवत्सामर्थ्यकृतस्य आध्यात्मिकाधिदैविक-भावस्य अज्ञानाद् मायावादकृतव्यामोहः. श्रीप्रकाशकृतस्तु एवं ब्रह्मसामर्थ्यं अवधारितः उच्चनीचभावस्य जडचेतनभावस्य बन्धमोक्षव्यवस्थायाः शुद्धब्रह्माद्वैतस्य च सुखेन सम्भवाद् इति अर्थः॥१४॥६॥

प्राणवद् अधिकरणम् आहुः प्राणवता इति. संशयम् आहुः यदधिष्ठानम् इति. वागधिष्ठानम् इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः स्वतएव इत्यत्र युक्तिम् आहुः

सन्देहः. किं तावत् प्राप्तम्? स्वतएव इति, पूर्वोक्तन्यायेन तावतैव सिद्धेः, अनवस्थानाच्च, देवतात्वव्याघातश्च इत्येवं प्राप्ते उच्यते. **प्राणवता** अधिष्ठितं वागादि. कुतः? **शब्दात्**. “**सो अयम् अग्निः परेण मृत्युना अतिक्रान्तो दीप्यते**” (बृहदा.उप.१।३।१२) इत्यादि. अयम् अर्थः : “**द्वया ह प्राजापत्याः**” (तत्रैव १।३।१) इत्यत्र *अधिष्ठातृत्वम् अग्नीनाम् उक्तम्. देवाः इति अविशेषेण इन्द्रियाधिष्ठात्र्योः अन्याश्च. तेषां प्रतिबन्धकासुरातिक्रमेण स्वर्गलोके गमनेच्छा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वा इति. स्वतएव वागादीन् अधितिष्ठति मुख्यप्राणेन सहितं वा सद् अधितिष्ठति इति सन्देहः इति अर्थः. पूर्वपक्षे युक्तिम् आहुः **पूर्वोक्ते**त्यादि. ज्योतिराद्यधिकरणे स्वतएव अग्न्यादीनामेव अधिष्ठातृत्वसाधनात् तदधिष्ठानमात्रादेव वागादीन्द्रियाणां व्यापारस्य सर्वजीव-सान्निध्यादेव सिद्ध्या इतरसाहित्ये प्रयोजनाभावाद् मुख्यप्राणस्य आम्याद्यधिष्ठातृत्वे प्रयोजकत्वाङ्गीकारे च मुख्यप्राणस्यापि अग्न्याद्यधिष्ठातृतायाम् अधिष्ठानन्तरस्य प्रयोजकत्व-कल्पनायाम् अनवस्थापातात्. **देवतात्वव्याघातः** स्वतः सामर्थ्याभावाद् देवतात्वव्याघातः इति अर्थः. समाधानम् आहुः **प्राणवते**त्यादिना. मुख्यप्राणसहितेन अग्न्यादिना **अधिष्ठितं वागादीति** अर्थः. इममेव अर्थं विवृण्वन्ति **अयम् अर्थः** इत्यादिना. **अग्नीनाम् उक्तम्** उद्गीथब्राह्मणे “**के ते देवा**” (बृहदा.उप. १।३।२) इत्यपेक्षायां “**ते ह वाचम् ऊचुः**” इत्यादिभिः अग्रिमवाक्यैः वागाद्यधिष्ठातारः **देवाः** इति निश्चीयते. **अन्याश्च** अग्न्यतिरिक्तापि इति अर्थः. **तेषां** अग्न्यादिपूर्वोक्त-देवानाम्. **प्रतिबन्धके**त्यादि. देवाश्च आसुराश्च उत्पन्नाः तत्र देवानां स्वर्गगति-प्रतिबन्धकाः **असुराः** तेषाम् **अतिक्रमेण** इति अर्थः. “**ते ह देवा ऊचुः हन्त असुरान् यज्ञ**

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वोक्तेति. ज्योतिराद्यधिकरणन्यायेन इति अर्थः. **तावतैव सिद्धेः** इति. अग्न्याद्य-धिष्ठानमात्रादेव वागादीनाम् इन्द्रियाणां च सिद्धेः इति अर्थः. **अनवस्थानाद्** इति. इतरसाहित्याङ्गीकारे तत्रापि साहित्यान्तरापेक्षायाम् अनवस्थापत्तेः इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः **प्राणवता** इति. मुख्यप्राणसहितेन अग्न्यादिना इति अर्थः. **इत्यादीति**. ‘इत्यादि’शब्दाद् इति अर्थः. अनेन शब्देन साहित्यसिद्धिं विवृण्वन्ति **अयम् अर्थः** इति. बृहदारण्ये उद्गीथब्राह्मणस्थं वाक्यम् आहुः **द्वया ह** इति **अधिष्ठातृत्वं** वागाद्य-धिष्ठातृत्वम्. **अन्याश्च** उपलक्षणतया बोध्या इति शेषः. **तेषां** देवानाम्.

* ‘अधिष्ठानत्वम्’ इति पुरुषाठः

बभूव. तत्र “यज्ञेनैव स्वर्गः” इति. तत्र “जनको ह वैदेह” (बृहदा.उप.३।१।१) इति ब्राह्मणे “केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमते ? इति उद्गात्रत्विजा वायुना प्राणेन” (तत्रैव ३।१।६) इति उद्गात्रैव आक्रमणम् इति सिद्धम्. तत्र अन्योऽन्योद्गातृत्ववरणे तथा उद्गाने “यो वाचि भोगः तं देवेभ्यः” (तत्रैव १।३।१२) इति आम्नातम्. तदनु श्रमरूपपाप्मना वेधानन्तरम् अप्रतिरूपं वदति इति निरूपितम्. सोऽपि दोषो देवानां प्राप्नोति. तत् श्रुतिविप्रतिषिद्धम्. “न ह वै

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उद्गीथेन अत्ययाम” (तत्रैव १।३।१) इति इन्द्रियाधिष्ठातृदेवानां चेतनानाम् उक्तिः. तत्र कथम् उद्गीथेनैव असुरातिक्रमः ? इति अपेक्षायां “जनको ह वैदेह” (तत्रैव ४।१।१) इति वक्ष्यमाणब्राह्मणे “अथ केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गलोकम् आक्रमते” (तत्रैव ३।१।६) इति आश्वलायनेन प्रश्ने कृते याज्ञवल्क्येन “उद्गात्रत्विजा वायुना प्राणेन” (तत्रैव ३।१।५) इतिकथनाद् उद्गात्रैव आक्रमणम् इति सिद्धम्. तत्र अन्योन्येत्यादि. अन्योन्यस्य वागादेः उद्गातृत्वेन वरणे, तथा उद्गाने “ते ह वाचमूचुः त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुद्गायद् यो वाचि भोगः तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदन्ति तदात्मने” (तत्रैव १।३।१२) इत्यनेन द्विविधम् उद्गानम् उक्त्वा यजमानार्थं स्वात्मनः कल्याणाय च इति. तदनु इति उद्गानारम्भानन्तरम्. “तदा ते असुरा विदुरनेन वै न उद्गात्रा अत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् तस्ते असुरा ज्ञात्वा तथावेधं कृतवन्तः” (तत्रैव १।३।३). तत्र “स पाप्मा को वा” (तत्रैव) इति आकांक्षायां व्रतमीमांसायां श्रमरूपपाप्मनः तैः वेधः कृतः इति उक्तम्. तत्र श्रमेण यद्विरूपं गानं कृतं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

केनाक्रमेणेन इति. अश्वलेन प्रश्ने कृतः इति शेषः. याज्ञवल्क्येन उत्तरितम् उद्गात्रेति. प्राणेन इति. कथनाद् इति शेषः. तत्र इति. प्रकृते अन्योन्यस्य वागादेः उद्गातृत्वेन वरणे. आम्नातम् इति. द्विविधो हि वाङ्निमित्तको भोगः सुखविशेषः तं देवेभ्यः आगायत् आ समन्ताद् गानेन प्रापयितुम् आरेभे. यत्पुनः कल्याणं शास्त्रानुसारि वदति तदात्मने स्वार्थम् आगानेन प्रापयितुम् आरेभे इति आम्नातम् इति अर्थः. तदनु इति. तदनन्तरं ते असुराः ज्ञात्वा श्रमरूपपाप्मना वेधं कृतवन्तः. तदनन्तरं तत्परिचायनाय “यदेव इदम् अप्रतिरूपं वदति स एव पाप्मा” (बृहदा.उप.१।३।१२,३,४,५) इति निरूपितम्. सोऽपि इति. एवं परिचायितो द्वितीयो दोषोऽपि. देवानाम् इति. क्रमेण सर्वेषामेव उद्गात्रित्वात्. तद्दोषरूपं पापं कया श्रुत्या विप्रतिसिद्धम् ? इत्यतः आहुः न ह वै इति. तदनु इति. इन्द्रियाधिष्ठातॄणां पापासंसर्गोत्तरम्. सिद्धः इति. अथ “हेमम्

देवान् पापं गच्छति” (तत्रैव १।५।२०) इति. तदनु प्राणएव उद्गाता सिद्धः. तेन अन्येषामपि पापसम्बन्धो निवारितः. ततः परेण तस्य “मृत्युम् अतिक्रान्तो दीप्यते” (तत्रैव १।३।१२) इति. अतो दीप्यमानस्यैव अधिष्ठातृत्वात् प्राणवतैव अधिष्ठानम् इति सिद्धम् ॥१५॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

अग्न्यादेः प्राणसम्बन्धो नित्यइति सर्वदा अधिष्ठातृत्वम्. प्राणस्य तत्सम्बन्धस्य च इति ‘च’कारार्थः. प्राणसहायेनैव यथोचितवर्णोद्गमः इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदेव देवानां दोषाधायकं द्वेधा जातं स्वेषामेव यजमानत्वत्विगत्वाभ्यां, तच्च श्रुत्या निषेधितं “न ह वै देवान् पापं गच्छति” (तत्रैव १।५।२०) इति. तदनु इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवानां पापसम्बन्धानन्तरम्, “अथ ह इमम् आसन्यं प्राणम् उचुः” (तत्रैव १।३।७) इत्यादिना मुख्यप्राणः एकएव उद्गाता सिद्धः. “तं यदा पाप्मना अविध्यन् तदा यथा अश्मानं प्राप्य लोष्टो विध्वस्तो भवति तथा सर्वेपि असुरा नष्टा” (तत्रैव) इति तेन प्राणकृतासुरनाशनेन. अन्येषामपि पापसम्बन्धो निवारितः इति ऋत्विग्यजमानो-भयोत्पन्नो यो दोषः उभयोरपि ऋत्विक्त्व-यजमानत्वयोः सत्त्वाद् उभयोः दोषनिर-सनानन्तरं श्रुतिविप्रतिषेधोऽपि निरस्तः. दीप्यते प्राणो दीप्यते इति अर्थः. प्राणवतैव प्राणविशिष्टाग्निप्रभृतिदेवैरेव इन्द्रियाणाम् अधिष्ठानम् इति सिद्धम् इति अर्थः ॥१५॥

तस्य प्राणाग्न्यादिदेवस्वरूपस्य तेषां सम्बन्धस्य च इति अर्थः. सर्वदा सर्वकल्पेषु. चकारार्थः सौत्रचकारार्थः. वर्णोद्गमः गुणत्रयकार्यरूपः इन्द्रियाणां

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आसन्यं प्राणम् ऊचुः” (बृहदा.उप.१।३।७) इत्यादिना सिद्धः इति अर्थः. तेन इति. प्राणकृतासुरनाशनेन इति अर्थः. दीप्यते इति. अग्निः इति शेषः. दीप्यमानस्यैव इति. स्वस्वकार्यक्षमत्वेन इति शेषः. प्राणवतैव इति. प्राणवतैव अग्न्यादिना वागाद्यधिष्ठानं शुद्धम् इति अर्थः. एवं श्रुतिव्याख्यानं तत्रत्यश्रुतिपर्यालोचनया सुगमं मन्तव्यम्. श्रीप्रकाशकृतस्तु इयं श्रुतिः परैः अन्यथा व्याख्यायते, तत् कल्पनाबाहुल्याद् असंगतं व्याख्यानम् इति बोध्यम् इति प्राहुः ॥१५॥

अग्न्यादेः सर्वदा प्राणसम्बन्धे हेतुं वदति सूत्रकारः तस्य च इति. भाष्ये तस्य अर्थम् आहुः अग्न्यादेः इति. सर्वदा इति. प्रतिकल्पम् इति अर्थः. चार्थम् आहुः प्राणस्य इति. श्रेष्ठश्च इति अधिकरणे प्राणस्य नित्यत्वं, संबन्धस्य नित्यत्वं छान्दोग्ये. प्राणसहायेनैव इति. इन्द्रियान्तरेऽपि बोध्यम्. ननु जीवभोगं विना सर्वविचारस्य

लोके स्वामि-भृत्यन्यायेन जीवे भोगः फलिष्यति॥१६॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे सप्तमं प्राणवता इति अधिकरणम्॥७॥

तदिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशाद् अन्यत्र श्रेष्ठात्॥१७॥ (२।४।८)

इदम् अत्र विचार्यते : इन्द्रियाणां प्राणाधीनसर्वव्यापारत्वात् तन्नामव्यपदेशाच्च प्राणवृत्तिरूपाणि इन्द्रियाणि, तत्त्वान्तराणि वा ? इति संशयः. तत्त्वान्तराण्येव इति सिद्धान्तः. तानि इन्द्रियाणि तत्त्वान्तराणि. कुतः ? तद्व्यपदेशात्. ‘इन्द्रिय’शब्देन व्यपदेशात्. “एतस्माज् जायते प्राणो मनः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कार्यात्मा इति अर्थः. ननु अत्र ‘प्राण’शब्देन प्राणी जीवो व्याख्येयः, उचितं च एतद् जीवभोगप्रकारबोधनार्थमेव तत्परिकरविचारस्य प्रकृतत्वाद्, अत्र च जीवस्य अधिष्ठातृत्वे विचारिते जीवस्य भोगासिद्धौ विचारवैयर्थ्यापातः इति आशङ्क्यायाम् आहुः लोके इत्यादि. तथाच इन्द्रियाणां करणतया स्वस्वकार्यसम्पादने प्राणतत्तदधिष्ठातृदेवतानाम् उपयोगो नतु भोगे तत्र प्राणदेवतेन्द्रियसर्वाधिष्ठातुः जीवस्यैव सर्वस्वामित्वेन भोक्तृत्वात्॥१६॥७॥

इदं वक्ष्यमाणम्. तन्नामव्यपदेशात् ‘प्राण’पदवाच्यत्वदर्शनात्. वृत्ति-रूपाणि व्यापाररूपाणि इति अर्थः. तत्त्वान्तराणि प्राणभिन्नानि. तद्व्यपदेशाद्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

निष्फलत्वाद् इत्यतः आहुः लोके इति. श्रुत्यन्तरे “स यथमहाराजो जानपदान् गृहीत्वा” (बृहदा.उप.२।१।१८) इति दृष्टान्तेन जीवे भोगः फलिष्यति इति अर्थः. एवञ्च करणत्वांशे अग्न्यादीनां वागादीनां च अधिष्ठातृत्वं भोक्तृत्वांशे जीवस्य इति बोध्यम्. श्रीप्रकाशकृद्भिस्तु “अथात्र प्रसङ्गाद् ज्ञानक्रियां वदाम्” इति उक्तम्. विस्तरश्च उक्तइति विस्तरभयाद् अत्र न उक्तम् इति तत्रैव अवगन्तव्यम् ॥१६॥

इदम् अत्र इति. संशये बीजम् आहुः इन्द्रियाणाम् इति. इदं च पूर्वाधिकरणे सिद्धम्. तन्नाम इति. “हन्त अस्यैव सर्वं रूपं भवामः” (.....) इति. ते एतस्यैव रूपम् अभवन् तस्माद् एते एतेन आख्यायन्ते प्राणाः इत्यनेन तन्नामव्यपदेशाद् इति अर्थः. पूर्वकोटौ अयं हेतुः. रूपभवनप्राक् कालसत्त्वम् अपरकोटौ हेतुः बोध्यः. संशयम् आहुः प्राणवृत्तीति. सिद्धान्तः इति. प्राणवृत्तिरूपाणि इति प्राप्ते तत्त्वान्तराणि इति सिद्धान्तः इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः तानि इति. सूत्रे ‘तद्’ इति पाठे लुप्तविभक्तिकं ‘तद्’ इतिपदं तानि इत्यनेन व्याख्यातम्. ‘क्वचित्त’ इति पाठः.

सर्वेन्द्रियाणि च” (मुण्ड.उप.२।१।३) इति भिन्नशब्दवाच्यानां क्वचिद् एकशब्दवाच्यत्वेऽपि न एकत्वम्. आसन्येऽपि तर्हि भेदः स्याद् इत्यतः आह अन्यत्र श्रेष्ठात्. तस्य ते यौगिकाः शब्दाः इति॥१७॥

भेदश्रुतेः॥१८॥

यत्रापि ‘प्राण’शब्दप्रयोगः तत्रापि भेदेन श्रूयते. “तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति. प्राणम् अनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति” (बृहदा.उप. ४।४।२) इति॥१८॥

वैलक्षण्याच्च॥१९॥

वैलक्षण्यं च प्राणस्य च इन्द्रियाणां च. सुप्तेषु वागादिषु प्राणो जागर्ति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अग्रिमाथर्वणश्रुतौ प्राणभिन्नत्वेन इन्द्रियाणाम् उपादानाद् इति अर्थः. भिन्नशब्द-वाच्यानाम् इन्द्रियाणाम्. क्वचित् श्रुतिविशेषे. न एकत्वं न प्राणाभेदः. ननु वाचक-शब्दभेदस्य अर्थभेदसाधकतायां ‘प्राण’-‘आसन्य’-इतिशब्दभेदसत्त्वाद् आसन्य-प्राणपदार्थयोरपि भेदः स्याद् अतः आहुः आसन्येत्यादि. श्रेष्ठात् प्राणाद् अन्यत्रैव शब्दभेदो अर्थभेदसाधको नतु प्राणवाचकशब्दभेदोऽपि अर्थभेदकः इति अर्थः. ते ‘प्राणापाना’दिशब्दाः. यौगिकाः हृदयादियोगेन. तस्य एकस्यैव प्राणस्य बोधकाः पाचनपाठनादियोगेन यथा ‘पाचका’दिशब्दाः एकार्थबोधकाः तथा इति अर्थः॥१७॥

उक्ते अर्थे प्रमाणम् उपन्यस्यन्ति यत्रापि श्रुतिविशेषे. ‘प्राण’शब्दप्रयोगः इन्द्रियेषु ‘प्राण’शब्दप्रयोगः. तत्रापि तच्छ्रुतावपि. भेदेन प्राणेन्द्रिययोः भेदेन. तं जीवम्. प्राणः आसन्यः. सर्वे प्राणाः इन्द्रियाणि॥१८॥

स्वरूपभेदकम् उक्त्वा धर्मरूपं भेदकं वदति इति आहुः वैलक्षण्यम् इत्यादिना. इन्द्रियाणां स्वापे प्राणजागरणोक्तेः तत्सिद्धौ द्वयोः भेदसिद्धिः. स्वामि-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इन्द्रियशब्देन इति. तथाच ‘प्राण’शब्दवाच्यत्वम् इन्द्रियाणां नास्ति इति अर्थः. न एकत्वम् इति. प्राणेन्द्रियाणाम् एकत्वं नास्ति इति अर्थः. इन्द्रियेषु क्वचित् ‘प्राण’-शब्दव्यपदेशस्तु कर्णे द्रोणे च कुरुशब्दव्यपदेशवद् बोध्यः. ननु एवं चेत् प्राणादिपञ्चानां भेदः स्याद् इति आशङ्कते आसन्येऽपि इति. यौगिकाः इति. एकस्यैव क्रियाभेदेन पाचक-पाठकव्यवहारः तथा एकस्यैव प्राणस्य अपानादिव्यवहारः इति अर्थः॥१७॥

भेदश्रुतेः. वैलक्षण्याच्च. सूत्रद्वयभाष्यं स्पष्टम्॥१८-१९॥८॥

स्वामि-सेवकवच्च अनेकं वैलक्षण्यम्॥१९॥८॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे अष्टमं तदिन्द्रियाधिकरणम्॥८॥

सज्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्॥२०॥ (२।४।९)

भूत-भौतिकसृष्टिः परमेश्वरादेव इति निर्णीय नामरूपव्याकरणमपि परमेश्वरादेव इति निश्चयार्थम् अधिकरणारम्भः. लोके नामरूपकरणं कुलालादिजीवेषु प्रसिद्धमिति अलौकिकेऽपि स्थावरजङ्गमे ‘मयूरा’दिसज्ज्ञां मूर्तिं च जीवादेव हिरण्यगर्भादिः भविष्यतीति वह्न्यादिदेवानां जीवरूपाणामेव वागादिरूपेण अनुप्रवेशात् तत्साहचर्येण नामरूपयोरपि जीवएव कर्ता भविष्यति इति आशङ्कां निराकरोति ‘तु’शब्दः.

सज्ज्ञा-मूर्त्योः क्लृप्तिः नामरूपयोः निर्माणम्. **त्रिवृत्कुर्वतः** यः त्रिवृत्करोति तस्मात्. “**सेयं देवतैक्षत हन्ताहम् इमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेन**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सेवकवत् स्थितिश्च प्राणवता इति अधिकरणएव सिद्धा इति अर्थः॥१९॥८॥

भूतभौतिकेत्यादि. भूतानि आकाशादीनि. **भौतिकानि** पुरुषान्नादीनि. **नामरूपव्याकरणं** नामव्याकरणं वाक्यसाध्यम् इन्द्रस्य बलरूपेण क्रियाप्रवेशाद् रूपव्याकरणम्. संशयबीजम् आहुः **लोके** इति. **तत्साहचर्येण** अग्न्यादिजीव-सहाचर्येण. **आशङ्कां** पूर्वपक्षम्.

सिद्धान्तम् आहुः **सज्ज्ञा** इत्यादिना. **निर्माणम्** इति. तथाच त्रिवृत्करण-कालएव नामरूपयोः व्याकरणं हिरण्यगर्भसृष्टेः पूर्वं जीवस्य शरीरसम्बन्धात् पूर्वं च इति बोध्यम्. **देवता** परमात्मा. **ऐक्षत** विचारितवान्. **तिस्त्रो देवताः** तेजोऽबन्नरूपाः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सज्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्. अधिकरणप्रयोजनम् आहुः भूतेति. संशयप्रयोजनम् आहुः **लोके** इति. ‘पटा’दिनामकरणं हिरण्यगर्भेण कृतम् आहुः **अलौकिकेऽपि** इति. “**व्याकरणवाणि**” इति एकवचनं हिरण्यगर्भाभिप्रायेण. **सज्ज्ञां मूर्तिं** रूपम्. तथाच नामरूपकर्ता जीवः ईश्वरो वा इति सन्देहः. पूर्वपक्षम् आहुः **वह्न्यादीति.** **नामरूपयोरपि** इति. रूपकरणमपि “**त्वया एवरीत्या मूर्तिः कर्तव्या**” इति भृत्यान् प्रत्युपदेशेन सिध्यति इति भावः.

सिद्धान्तम् आहुः **सज्ज्ञामूर्त्योः** इति. **त्रिवृत्कर्ता** तेजोऽबन्नदेवतानां कर्ता. तैत्तिरीयोपनिषदि “**सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यद्**

आत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” (छान्दो.उप.६।३।२) इति. “तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकं करवाणि” (तत्रैव ६।३।३) इति त्रिवृत्कर्ता परमेश्वरः. सएव नाम-रूपयोरपि कर्ता. कुतः? उपदेशात्. उप समीपे एकवाक्ये उभयकरणस्य प्रतिज्ञानात्. जीवस्यतु त्रिवृत्करणानन्तरं शरीरसम्बन्धे कर्तृत्वात्. तस्मात् नामरूपप्रज्वस्य भगवानेव कर्ता इति सिद्धम्॥२०॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे नवमं सज्जामूर्तिक्लृप्तिः इति अधिकरणम्॥१॥

मांसादि भौमं यथाशब्दम् इतरयोश्च॥२१॥ (२।४।१०)

इदम् इदानीं विचार्यते.

“अन्नम् अशितं त्रेधा विधीयते. तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमः तन् मांसं, योऽणिष्ठः तन् मनः. आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते. तासां यः स्थविष्ठो धातुः तन्मूत्रं, यो मध्यमः तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः. तेजो अशितं त्रेधा विधीयते. तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तदस्थि भवति, यो मध्यमः सा मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक्. अन्नमयं हि सौम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्” (छान्दो.उप.६।५।१) इति. तत्र संशयः : वाक्-प्राण-मनांसि किं भौतिकानि आहोस्वित् स्वतन्त्राणि? इति. “एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” (मुण्ड.उप.२।१।३) इति श्रुतिविप्रतिषेधात् संशयः. त्रिवृत्करणप्रसङ्गेन उदिताम् आशङ्कां निराकरोति. तत्र पूर्वपक्षम् आह. मांसादि भौमं, पुरीषमांसादि तेजोऽबन्नप्रकृतिकम्. कुतः? यथाशब्दम्. “अन्नम् अशितम्” इत्यादिश्रुतितो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सामीप्ये त्रिवृत्करणसमीपे. **उभयकरणस्य** नामरूपकरणस्य. **शरीरसम्बन्धे** सति इति अर्थः. **तस्मात्** जीवशरीरसम्बन्धात् पूर्वमेव नामरूपव्याकरणात्॥२०॥११॥

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः **इदम्** इत्यादि. **इदम्** इति वक्ष्यमाणवाक्यम्. संशयबीजम् आहुः **त्रिवृद्** इत्यादि. उक्तश्रुतिविप्रतिषेधजनिताम् **आशङ्कां त्रिवृत्करणप्रसङ्गेन** इदानीं निराकरोति इति अर्थः. तत्र सूत्रे. ननु सूत्रे मनःप्राणवाचां भौतिकत्वबोधकपदाभावात् कथम् एतत्सूत्रस्य एतद्विषयप्रतिपादकत्वम्? इति आकांक्षायां

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आस्ते” (चित्युप.१.२।७) इत्यादिना कर्ता परमेश्वरएव ॥२०॥११॥

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः **इदम्** इत्यादिना. संशयम् आहुः **तत्र** इति. एतद्विचारे सङ्गतिम् आहुः **त्रिवृद्** इति. तत्र सूत्रे. ‘मांसादिभौमम्’ इत्यस्य अर्थम्

निःसन्दिग्धं प्रतिपादनात्. किम् अतो यदि एवं तद् आह इतरयोश्च. वाचि तुल्यत्वाद् न सन्देहः. इतरयोः मनःप्राणयोरपि भौतिकत्वं यथाशब्दम्. उद्गमश्रुतिस्तु स्तुतित्वेन अनुवादपरा भविष्यति, उपपादकश्रुतिबाधात्. तस्माद् भौतिकान्येवमनःप्रभृतीनि इत्येवं प्राप्ते उच्यते ॥२१॥

वैशेष्यात् तद्वादः तद्वादः ॥२२॥

अन्नादिभिः विशेष्यते मनःप्रभृति सम्यक् कार्यक्षमं भवति. तथादर्शनाद् उपादानाच्च. अतो वैशेष्यादेव हेतोः अन्नमयत्वादिववादः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मांसादीत्यादिपदेन तत्संग्रहाद् एतस्य विषयत्वावगमः इति आशयेन व्याकुर्वन्ति मांसादीत्यादि. अत्र “तेजोमयी वाक्” (छान्दो.उप.६।५।४) ऐतरेये “अग्निः वाग् भूत्वा” (ऐत.उप.१।२।४) इति श्रुतिद्वयेऽपि वाचि तेजोमयत्वस्य तुल्यत्वाद् न सन्देहः इतरयोः मनःप्राणयोस्तु ऐतरेये “वायुः प्राणो भूत्वेति चन्द्रमा मनो भूत्वा” (तत्रैव) इति अन्यथाश्रावणेऽपि भौतिकत्वं छान्दोग्योक्तं शब्दम् अनतिक्रम्यैव मन्तव्यम्. नच उद्गमश्रुतिविरोधाद् न भौतिकत्वम् इति शङ्क्यं, यतः सा मुण्डकेश्वरात् परं स्तोतुं प्रवृत्ता न तु वागादीनां स्वरूपं वक्तुम्, अतः स्तुतित्वेनैव एतद् अनुवादपरा भविष्यति. एतदनुवादेन अत्र ब्रह्मणः प्रयोजकत्वबोधनेऽपि उपपत्तेः यथाशब्दं श्रुत्युक्तार्थानतिक्रमेण. भौतिकत्वं स्वीकार्यम् इति अर्थः. उद्गमश्रुतिः “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्ड.२।१।३) इति श्रुतिः. अनुवादपरा मुण्डकोक्तार्थानुवादपरा. उपपादकश्रुतिः “अन्नम् अशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुः” (छान्दो.उप.६।१।१) इति ॥२१॥

सिद्धान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति अन्नादिभिः इत्यादि. तथाच पोषकतासम्बन्धेन अन्नविशिष्टं मनो भवति, अब्विशिष्टः प्राणो भवति अग्निविशिष्टा वाग्भवति. एवं रीत्या तेषां स्व-स्वकार्यक्षमतैव उपपादिता श्रुतौ न तु “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्ड.उप. २।१।३) इति श्रुतिम् अपोद्य भौतिकत्वं मनःप्रभृतीनाम् उपपादितम् इति अर्थः. तथाच दर्शनाद् यादृशम् अन्नम् अद्यते तादृशं मनो भवति इति लोके दर्शनात्. उपपादनाद् वाक्प्राणस्थलेऽपि समानन्यायेन पोषणोपपादनं बोध्यम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आहुः यथाशब्दम् इति. छान्दोग्योदितं शब्दम् अनतिक्रम्य इति अर्थः. उपपादकेति. उपपादकस्य त्रेधा विधानस्य बाधाद् इति अर्थः ॥२१॥

सिद्धान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति अन्नादीति. तथा दर्शनाद् इति. यादृग् अन्नम्

ननु कथम् एतद् अवगम्यते ?

वैशेष्याद् गौणो वादः इति उच्यते. अथ “आत्मने अन्नाद्यम् अगायद्” (बृहदा.उप.१।३।१७) इत्यत्र प्राणएव सर्वस्य अन्नस्य अत्ता निर्दिष्टः.

सः कथं तत्परिणामकार्यं स्यात् ?

वागादयश्च तत्र अन्नार्थम् अनुप्रविष्टाः, सृष्टौ प्रथमतो भिन्नतया निर्देशात्. अतो न भौतिकानि मनःप्रभृतीनि, किन्तु तत्त्वान्तराणि इति सिद्धम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शङ्कते ननु इत्यादि. **वैशेष्यात्** तेजोबन्धनपोषणाद् हेतोः. **गौणः** पोषण-रूपगुणकृतः. **तद्वादः** मनःप्राणवाक्षु अन्नाप्तेजोवादः. समाधत्ते अथ इत्यादि. श्रुतिस्तु उद्गीथब्राह्मणस्था “अथ आत्मा अन्नेन आद्यम् आगायद् यत्किञ्च अन्नम् अद्यते अनेनैव तद् अद्यते इति प्रतितिष्ठति” (बृह.१।३।१७) इति. अर्थस्तु यथा वागादिभिः आत्मार्थम् आगानं कृतं तथा मुख्यप्राणोऽपि त्रिषु पवमानेषु देवार्थं गानं कृत्वा अथ अनन्तरम् अवशिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु आत्मने आत्मार्थम् अन्नाद्यं अन्नं तदाद्यं च आगायत्. तस्य इदं निदर्शनं यत्किञ्चान्नं लोके प्राणिभिः अद्यते तदन्नम् अनेनैव प्राणेन अद्यते. तस्मात् स्वार्थमेव एतद् आगानम् इति. ननु कथम् अत्र निर्णयः प्राणेनैव अद्यते इति वागादीनामपि अन्नकृतोपकारदर्शनाद् इत्यतः आहुः “इह प्रतितिष्ठति” इति. अन्नम् इह प्राणएव प्रतिष्ठितम् अतः प्राणद्वारकएव तेषाम् उपकारः इति. अन्नम् अत्र अदनीयम्. तथाच यो अदनीयमात्रस्य अत्ता स्यात् सः कथम् अदनीयानाम् अपां कार्यं स्यात् ? किञ्च ऐतरेये वागादयोः अन्नार्थं मुखादिस्थानेषु प्रविष्टाः उक्ताः सृष्टौ प्रथमतो भिन्नतया च निर्दिष्टाः अतः कथम् अदनीयपरिणामभूताः स्युः ? तस्मात् तत्त्वान्तराण्येव इति आहुः **वागादयश्च** इति. तत्र मुखादिस्थानेषु. **भिन्नतया** भौतिकभिन्नतया. निर्देशाद् “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्ड.उप.२।१।३) इत्यादौ निर्देशात्. अतः भिन्नतया निर्देशाद् हेतोः. **मनःप्रभृतीनि** मनःप्राणवाचः. **तत्त्वान्तराणि** भौतिकभिन्नानि

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अश्नाति तादृगेव अशितुः मनो भवति इति दर्शनाद् इति अर्थः. **उपपादनाद्** इति. “पञ्चदशाहानि माशीः” (छान्दो.उप.६।७।१) इत्यारभ्य “सान्नेन उपसमाहिता प्राज्वालीद्” इत्यन्तेन उपपादनाद् इति अर्थः. **वैशेष्यादेव** इति. विशेषणं विशेषः तस्य भावो वैशेष्यं, तस्माद् इति अर्थः.

अनुपपादितस्थले शङ्कते ननु इति. उत्तरयन्ति अथ इति. बृहदारण्ये उद्गीथब्राह्मणस्था श्रुतिः “अथ आत्मने अन्नाद्यम् आगायत् यत्किञ्च अन्नम् अद्यते

तद्वादः इति वीप्सा अध्यायसमाप्तिसूचिका॥२२॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे दशमं मांसादिभौमम् इति अधिकरणम्॥१०॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

समाप्तो अयं द्वितीयोऽध्यायः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आधिदैविकसम्बद्धानि आध्यात्मिकानि वा. वीप्सा तद्वादस्तद्वादः इति वीप्सा
॥२२॥१०॥

॥इति श्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीमुत-श्रीगोपालजीकृते

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यपदप्रदीपे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

अनेनैव तद् अद्यते इह प्रतितिष्ठति” (बृहदा. उप.१।३।१७) इति. यथा वागादिभिः
आत्मार्थम् आगानं कृतं तथा मुख्यः प्राणोऽपि त्रिषु पवमानेषु देवार्थं गानं कृत्वा,
अवशिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु आत्मने आत्मार्थम् अन्नाद्यम् अन्नं तदाद्यं च आगायत्. तस्य
इदं निदर्शनं यत्किञ्च अन्नं लोके प्राणिभिः अद्यते तद् अन्नम् अनेनैव प्राणेन अद्यते
तस्मात् स्वार्थमेव एतद् आगानम् इति. ननु यथा प्राणोपकारकत्वम् एवं वागादीनामपि
उपकारकत्वम् अन्ने अस्ति इत्यतः आहुः प्रतितिष्ठति इति. अन्नम् इह एव प्रतितिष्ठितम्
अतः प्राणद्वारकः उपकारः तेषाम् इति. अन्यत् सर्वं स्पष्टम् ॥२२॥१०॥

इति श्रीमन्मुकुन्दरायसहजमाधुरीपरमानिर्वचनीयसरसवदनतामरससुधावगाहि

श्रीमदाचार्यपदाब्जकृपापारसारश्रीमत्प्रभुचरणात्मज-

महाराजयदुनाथकुलोद्भव गोस्वामिश्रीगोपालात्मजगिरिधर विरचिते

अणुभाष्यविवरणे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

अथ तृतीयो अध्यायः

प्रथमः पादः

सर्वोपनिषदां सिद्धो ह्यविरोधे समन्वयः ।

कथं बोधकता तासां स तृतीये विचार्यते ॥१॥

एकं वाक्यं प्रकरणं शाखाः सर्वाः सहैव वा ।

एकां विद्याम् अनेकां वा जनयन्तीति चिन्त्यते ॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अथ तृतीयाध्यायार्थं विवरिषवः सङ्गतिं प्रदर्शयितुं पूर्वाध्यायार्थम् आहुः सर्वेत्यादि. सिद्धः प्रथमाध्याये समन्वयः सिद्धः. समन्वयसिद्ध्या स्मृतीनां श्रुतीनां च परस्परविरोधस्फूर्तौ जातायाम् उपोद्घातसङ्गत्या विरोधपरिहारकद्वितीयाध्यायेन विरोधे परिहृते सति सर्वोपनिषदां सम्यग् अन्वयः सिद्धः. कथम् इति उपनिषदां ब्रह्मबोधने प्रकारजिज्ञासा उक्ता. तासां पूर्वोक्तसमन्वयानाम् उपनिषदाम्. तृतीये तृतीयाध्याये ॥१॥

एकं वाक्यम् इति, एकं वाक्यम् उपनिषद्गतम् उपासनां बोधयित्वा ब्रह्म-विद्यां जनयति उपनिषद्गतं प्रकरणं वा उपासनां बोधयित्वा ब्रह्मविद्यां जनयति तादृशैकवाक्यप्रकरणवत्यः सर्वाः शाखा वा सहैव ब्रह्मविद्यां जनयन्ति इति ब्रह्मविद्याजनने प्रकारः तृतीयाध्यायेन चिन्त्यते इति अर्थः ॥१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अस्मिन् तृतीयाध्याये उपनिषद्वाक्यानां ब्रह्मबोधकताविचारार्थं पूर्वाध्यायसङ्गतिसूचनार्थम् अध्यायद्वयनिर्गलितार्थं सूचयन्ति सर्वेति. अत्र कारिकापञ्चकं पूर्वाध्यायेन सर्वोपनिषदाम् अविरोधे सिद्धे सति सर्वोपनिषदां ब्रह्मणि समन्वयः सिद्धः इति अर्थः. तासाम् उपनिषदां सः बोधजनकत्वप्रकारः ॥१॥

ननु बोधजनकत्वप्रकारः तृतीये विचार्यते इति असङ्गतं, तस्य साधनाध्यायत्वेन प्रसिद्धत्वाद् अतः आहुः एकम् इति. प्रथमतः उपनिषद्वाक्येभ्यो यत् श्रुतं तस्य मननं निदिध्यासश्च कर्तव्यः इति उक्तम्. तत्र तत्साधनीभूतोपासनाबोधकाः विद्याविद्या वा सर्वोपनिषद्वाक्येन प्रकरणेन प्रत्येकं मिलित्वा वा बोध्यन्ते. तत्र उपनिषत्सु बोधकताप्रकारस्य मुख्यसाधनत्वात् सः चिन्त्यते इति अर्थः. तथाच “चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थाम् उपोद्घातं विदुर्बुधाः” इति वचनाद् उपोद्घातसङ्गतिः बोध्या ॥२॥

ससाधने हि पुरुषे जन्मना कर्मणा शुचौ ।
 केवले वा यथा योगे प्रथमं तद् विचार्यते ॥३॥
 विचारपूर्वकं तस्य ब्रह्मभावाप्तियोग्यता ।
 अधिकारे ततः सिद्धे विषयावधृतिस्ततः ॥४॥
 अन्तरङ्गविचारेण गुणानामुपसंहतिः ।
 बहिरङ्गविचारेण कर्मणामिति सा द्विधा ॥५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ससाधने उपनिषदर्थश्रवणमनननिदिध्यासनसामग्रीसहिते. पुरुषे इति स्त्रीव्यावृत्तिः. जन्मना द्विजोत्पन्नत्वलक्षणेन. कर्मणा वर्णाश्रमविहितनिष्कामकर्मणा. शुचौ शुद्धान्तःकरणे विद्यां जनयन्ति उत केवलमानसविचारमात्रेण प्रतिबन्धनिरासाद् योगतुल्यतया ब्रह्मविद्यां जनयन्ति इति प्रथमं प्रथमे पादे ॥३॥

द्वितीयचरणविषयम् आहुः विचारेत्यादि. विचारपूर्वकं जीवस्वरूपविचार-पूर्वकम्. तस्य अधिकारिणः. योग्यता स्वरूपयोग्यता. अधिकारे सिद्धे स्वरूपयोग्यतालक्षणाधिकारे सिद्धे. ततः तदनन्तरम्. विषयावधृतिः विशेषाकारेण ब्रह्मप्रकाराणां निश्चयः ॥४॥

तृतीयचरणविषयम् आहुः ततः अन्तरङ्गेत्यादिना. अन्तरङ्गविचारेण उपासनासु आवश्यकधर्मविचारेण इति अर्थः. गुणानाम् उपसंहतिः नियमनं, चतुर्थचरणविषयम् आहुः *ततः तुरीयः इत्यादिना. बहिरङ्गा इतरतुल्यतया

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एवम् अध्यायार्थम् उक्त्वा पादानाम् अर्थान् आहुः ससाधनेति. प्रथमं प्रथमे पादे विचाररूपसाधनसहिते जन्मकर्मावदाते पुरुषे केवले जन्मादिशुद्धिरहितेऽपि केवलभगवद्भक्तिपरे तथा योगे योगयुक्ते तत् शुचित्वं विचार्यते. तथाच सहकारिसम्पत्तिः पादार्थः ॥३॥

द्वितीयपादार्थम् आहुः विचारेति. विचारपूर्वकं जीवावस्थादिविचारपूर्वकं तस्य जीवस्य ततो जीवावस्थाविचारानन्तरम् अधिकारे सिद्धे सति विषयावधृतिः विषयस्य ब्रह्मणः अवधृतिः निश्चयः ॥४॥

तृतीयशब्दार्थम् आहुः ततः इति. अन्तरङ्गेति. अन्तरङ्गेति अन्तरङ्गवत् साधनम् उपासनं, तद्विचारेण गुणानां भगद्गुणानाम् उपसंहतिः उपसंहारः. तुरीयपादार्थम् आहुः बहिरङ्गेति. आश्रमादिविचारेण इति अर्थः. कर्मणां यज्ञतपआदीनाम् उपसंहतिः इति

तस्माद् अधिकारिणो जन्मनिर्धारः. तदनु तस्य ब्रह्मभावयोग्यता. ततो गुणोपसंहारः. ततो अङ्गविचारः इति. तत्र प्रथमे पादे जीवस्य ब्रह्मज्ञानौपयिकं जन्म विचार्यते. तत्र पूर्वजन्मनि निष्कामयज्ञकर्तुः ज्ञानरहितस्य मरणे ज्ञानाभावेन यज्ञाभिव्यक्त्यभावाद् भूतसंस्कारकएव यज्ञो जातइति, निष्कामत्वाच्च तदधिकारि-देवाधीनान्येव भूतानीति, ते देवाः तत्र-तत्र हुत्वा तस्य शरीरं सम्पादयन्ति इति “**पञ्चम्याम् आहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**” (छान्दो.उप.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अनावश्यकः ये धर्माः तद्विचारेण इति अर्थः. कर्मणां पूर्वकाण्डोक्तकर्मणाम्. सा उपसंहतिः. द्विधा अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभेदेन द्विविधा विचार्यते इत्यनेन सम्बन्धः॥५॥

तथाच उक्तस्वरूपयोग्यता फलोन्मुखाधिकारिता च इति द्विविधयोग्यता-सिद्धिसत्त्वे ब्रह्मस्वरूपनिश्चये सति तद्विद्यायां तद्गुणोपसंहारेण कर्मोपसंहारेण च ब्रह्मजननोपनिषदां प्रकारविशेषएव अत्र अध्याये चिन्त्यते इति फलितम्, एवं चरणचतुष्टयार्थम् उक्त्वा उपसंहरन्ति तस्माद् इत्यादि. यस्मात् पूर्वोक्तरीत्या पादार्थकरणएव उपनिषदां विद्याजनकता तस्माद् हेतोः अधिकारिजन्मनिर्धारः प्रथम-चरणार्थो नतु वैराग्यर्थं संसारगतिप्रदर्शनं प्रथमचरणार्थः. द्वितीयचरणोऽपि जीवावस्था-प्रदर्शनब्रह्मभावयोग्यत्वार्थो नतु वैराग्यमात्रार्थः. गुणोपसंहारः तृतीये, अङ्गविचारः चतुर्थे. एवम् उपसंहृत्य प्रथमपादार्थं वक्तुम् उपक्रमन्ते तत्र इत्यादि. तत्र तेषाम् अर्थानां मध्ये, तदधिकारी ज्ञानाधिकारी. तत्र-तत्र उपनिषदुक्तालोक-द्युलोकान्यादौ. तस्य निष्कामकर्तुः. आपः इत्यादि. तथाच अपां स्थाने वाचो होमः इति अर्थः. श्रुतितात्पर्यम्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वेण अन्वयः. इत्यनेन प्रकारेण सा उपसंहतिः विचार्यते इति पूर्वेण अन्वयः॥५॥

एवं कारिकापञ्चकेन पादार्थान् उक्त्वा वैराग्यादिरूपा अन्ये अर्थाः न सम्भवन्ति इति दृढीकरणार्थं पुनः पादार्थान् आहुः तस्माद् इति. इतः परं प्रथमपादं व्याख्यातुं पादार्थं श्रुतिप्रमाणेन आहुः तत्र इति. ब्रह्मज्ञानौपयिकं जन्म छान्दोग्ये सप्तमे प्रपाठके गौतमप्रवाहणसंवादे उक्तं, तादृशश्रुतितात्पर्यम् आहुः तत्र इति. यज्ञाभिव्यक्त्यभावाद् ब्रह्मरूपयज्ञाभिव्यक्त्यभावाद् इति अर्थः. ननु एवं चेद् निष्फलएव यज्ञः स्याद् इत्यतः आहुः भूतेति. तत्र-तत्र इति. ते देवाः आदित्य-पर्जन्य-पृथिवीपुरुषरूप-योषारूप-पञ्चाग्निषु हुत्वा ब्रह्मज्ञानौपयिकजन्मवतः पुरुषस्य शरीरं सम्पादयन्तीति. पञ्चम्याम् आहुतेति श्रुतिः वदति इति प्रघट्टकार्थः.

५।९।१) इति श्रुतिः. तत्र जीवेन्द्रियाणां होमाभावेन अशुद्धिम् आशङ्क्य तेषामपि होमं वक्तुम् इदम् अधिकरणम् आरभते.

नच पञ्चाहुतयो धूममार्गएव, तत्र गमनागमनयोः बहुविशेषश्रवणात्. “तद् य इत्थं विदुः ये च इमे अरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते, ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति” (छान्दो.उप.५।१०।१) इति तज्ज्ञानवतोऽपि यत्र अर्चिःप्राप्तिः तत्र

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्त्वा अधिकरणतात्पर्यम् आहुः तत्र जीवेत्यादि. धूममार्गएव इति ‘एव’कारेण अर्चिरादिमार्गोपुनरावृत्तिसाधकपञ्चाहुतीनां निषेधः इति न इति अन्वयः. कुतः? इति अपेक्षायां तत्र हेतुम् आहुः तत्र इत्यादिना. तत्र धूमार्चिमार्गयोः. गमनागमनयोः अर्चिरादिमार्गगमने धूममार्गीयागमने च इति अर्थः. बहुविशेषश्रवणाद् बहुतारतम्य-श्रवणाद् इति अर्थः. तथाच पञ्चाग्निक्रमेण निष्पत्तिः मुमुक्षूणामपि अपेक्षितैव इति आहुतिक्रमोक्तिः न विरुध्यते इति अर्थः. ननु ब्रह्मविज्ञानवतामेव अर्चिरादिमार्गगमनं “तद्य इत्थं विदुः” (छान्दो.उप.५।१०।१) इति विद्यावतामेव गमनकथनाद् नतु होमद्वारापि गमनमतम् आहुः तद्य इत्यादि. तज्ज्ञानवतः श्रद्धातपःक्रमेण विद्यावतः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

श्रुत्यर्थस्तु प्रकाशे अनुसन्धेयः. विस्तरभयाद् विरम्यते.

इतः परम् अधिकरणारम्भे प्रयोजनं वदन्ति तत्र जीवेत्यादिना. तत्र पञ्चाग्निहोमे. जीवेति. तथाच यज्ञस्य भूतसंस्कारकत्वाद् भूतानामेव होमः इति भावः. होमं वक्तुं शुद्धिं वक्तुम्. आरभ्यते इति. जीवस्य लोकान्तरगमनावसरे संसारयुक्तं भूतसूक्ष्मेन्द्रियाणां साहित्यम् अस्ति इति बोधयितुम् इदम् अधिकरणम् आरभ्यते इति अर्थः. ननु धूमादिमार्गएव गमनं पुनः आगमनं च इति वाजसनेयिब्राह्मणे वैराग्यार्थं प्रतिपादितं, तेन कृत्वा किं ज्ञायते पञ्चाहुतयः तत्रैव नतु ज्ञानार्थं शरीरोत्पादने. एवञ्च वैराग्यार्थमेव इदम् अधिकरणम् इति परेषाम् आशङ्का निवारयन्ति नच इति. धूममार्गएव इति न हि इति अर्थः. तथाच न वैराग्यार्थम् इदम् अधिकरणम् इति भावः. कुतो न हि इत्यतः आहुः तत्र इति. तत्र धूममार्गो. बहुविशेषेति. अर्चिरादिमार्गोक्त-गमनापेक्षया इति शेषः. श्रवणाद् इति. श्रुतौ पूर्वे पञ्चाग्निविद्याकथनं तदनन्तरम् अर्चिरादिमार्गकथनं तत्र पुनरावृत्तौ दृष्टान्तत्वेन धूमादिमार्गकथनम् इत्यादीति अर्थः. ननु अर्चिरादिमार्गो हि ब्रह्मविद्या ज्ञानिनां, नतु होमनिष्पन्नशरीराणाम् अतः आहुः तद् यः इति. “ये तद् ब्रह्म इत्थं विदुः ये चारण्ये उपासते” (छान्दो.उप.५।१०।१) इति अर्थः.

तथा देवहुतानां कथं सा न स्यात् ज्ञानार्थमेव तथोत्पत्तेः. पुनरावृत्तिः परं तुल्या.

अथवा निष्कामएव धूममार्गः, “योगी प्राप्य निवर्तते” (भग.गीता ८।२५।) इति स्मरणात्. भोगार्थमेव धूमादिलोकाः. निष्पत्तिस्तु पञ्चाग्नावेव. अन्ने प्रविष्टानाम् अन्येषामपि रेतोद्वारा योनितः उत्पत्तिः इति कपूयचरणवर्णनम्. “एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते” (भग.गीता ९।२१) इति कामनायां भिन्नएव प्रकारः, पृथग् उपदेशात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सा ऊर्ध्वगतिः. तथोत्पत्तेः देवहुतानां पञ्चाग्निविद्यान्यायेन देहोत्पत्तेः. पुनरावृत्तिः इति, आहुतिक्रमेण अर्चिरादिमार्गं गन्तुः ब्रह्मभावनिष्पत्तौ पुरुषभावदशायां पुनरावृत्तिरपि सम्भावितैव इति अर्थः. प्रकारान्तरेणापि ज्ञानिदेहसम्पादकता होमस्य उच्यते अथवा इत्यादिना. निष्कामयज्ञकर्तुरपि धूमादिमार्गो ब्रह्मगतिप्रतिबन्धक-प्रारब्धभोगार्थमेव धूमादिलोकभोगः, तएव ‘रमणीयचरणाः’ श्रुतौ उक्ताः. निष्पत्तिः फलप्राप्तिः. पञ्चाग्नावेव पञ्चाग्निविद्यायाम् उक्तैव.

ननु एवं सति धूममार्गे कपूयचरणोक्तिविरोधः इत्यतः आहुः अन्ने इत्यादि. तथाच दुष्कर्मादिना अन्ने प्रविष्टानां क्षुद्र-सकाम-कर्मिणाम् अन्येषां दुष्कर्मिणां मैथुनादिना उत्पत्तिरपि भवति इति प्रासङ्गिकम् एतद् उक्तं, ननु तदेव मुख्यं फलम् इति अर्थः.

पृथगुपदेशाद् इति. बृहदारण्यके भिन्नप्रकारेण एवमेव अनुपरिवर्तते इतिरीत्या पृथगुपदेशात्. तथाच सकामधूममार्गप्रकारः पृथगेव उपदिष्टइति न पूर्वोक्तप्रकारे बाधकः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सा अर्चिरादिप्राप्तिः. तथाच अत्र कैमुतिकन्यायः इति अर्थः. ननु कथम् इदम्? इत्यतः आहुः ज्ञानार्थम् इति. पुनरावृत्तिः इति. धूमे अर्चिरादावपि पुनरावृत्तेः तुल्यत्वाद् इति अर्थः. ननु कुत्रचित् श्रुतौ यागकर्तॄणां धूमादिमार्गे आहुतिभ्यएव शरीरोत्पत्तिः श्रूयते इत्यतः आहुः अथवा इति. निष्कामएव निष्कामयज्ञकर्तर्येव. अत्र प्रमाणम् आहुः योगी इति. योगिनां धूममार्गः कथम्? इत्यतः आहुः भोगार्थम् इति. भोगेन ब्रह्मप्राप्तिप्रतिबन्धकदुरितक्षयार्थम्. निष्पत्तिः इति. ज्ञानोपयोगिदेहनिष्पत्तिः इति अर्थः. ननु एवं चेत् कपूयचरणवर्णनं किमर्थम्? अतः आहुः अन्येषाम् इति. दुष्कर्मिणाम् इति शेषः. वर्णनम् इति. कपूयं निकृष्टं चरणम् आचरणं येषां तेषां वर्णनं प्रासङ्गिकम् इति अर्थः. ननु इदं सर्वं निष्कामकर्मानुष्ठाने, सकामकर्मानुष्ठानेऽपि

तस्माद् योग्यशरीरनिष्पत्तये स्वयमेव गच्छति भूतसहितः, श्रद्धाहोमानन्तरं सोमभावे वा सम्बन्धः? इति संशयः. भिन्नपक्षे योनौ वा इति. तत्र श्रौते अर्थे श्रौतन्यायेनैव निर्णयस्य उचितत्वाद् आहुतौ अपां गौणत्वापत्तेः संस्कृतभूतानां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति भावः. एवम् अधिकरणप्रयोजनम् उक्त्वा अधिकरणाङ्गसंशयम् आहुः तस्माद् इत्यादि. यस्माद् योग्यशरीरनिष्पत्त्यर्थमेव लोकान्तरगमनं तस्माद् इति अर्थः. स्वयमेव निष्कामकर्ता जीवएव. सम्बन्धः इति भूतसम्बन्धः. तथाच पूर्वं लोकान्तरगमनदशायां भूतसहितो गच्छति उत पूर्वं जीवमात्रस्य गमनं सोमभावदशायां भूतानां सम्बन्धः इति संशयः. संशयबीजं च “अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्षे”(.....)ति सभूताक्रमश्रवणं, भिन्नपक्षेत्यादि. पञ्चाहुतिभ्यो धूमादिमार्गो भिन्नो यत्र सकामपुरुषं मनएव लोकान्तरं नयति पुनरानयति च “एतल्लोकाय कर्मणः”(.....) इति भिन्नपक्षेत्यर्थः. योनौ वा इति. तथाच सोमभावदशायां भूतसम्बन्धो योनिसम्बन्धदशायां वा भूतसम्बन्धो नतु लोकान्तर-रंहणदशायाम् इति अर्थः इति संशयपोषणम्. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र श्रौते इत्यादि. अपाञ्च गौणत्वापत्तेः सर्वभूतसहितस्य गमने अपाञ्च होमे सर्वभूतसाहित्ये अपाङ्गौणत्वापत्तेः इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

धूमादिमार्गो दृश्यते इत्यतः आहुः एवम् इति. भिन्नप्रकारः यज्ञेन स्वर्गः, भोगानन्तरं पुनरावृत्तिः, पुनः यज्ञः इति कामनायां भिन्नः प्रकारः इति अर्थः. अत्र हेतुम् आहुः पृथग् इति. बृहदारण्ये सकामस्य धूममार्गकथनाद् इति अर्थः.

उपसंहरन्ति तस्माद् इति. एतादृशश्रुतितात्पर्याद् इति अर्थः. योग्येति. ब्रह्मज्ञानौपयिकेति अर्थः. भूतसहितः पञ्चभूतेन्द्रियसहितः. श्रद्धाहोमानन्तरम् इति. “श्रद्धा वा आपः”(.....) इति श्रुतेः ‘श्रद्धा’शब्देन आपः उच्यन्ते. तासां द्युलोकवाच्याग्नौ हुतानां परिणामः सोमः, तस्य भावः इति अर्थः. सोमभावे इति. चन्द्रप्रवेशे.

इतः परम् अधिकरणप्रयोजकं संशयम् आहुः सम्बन्धः इति. भूतसम्बन्धः. भिन्नपक्षे सकामपक्षे. योनौ पृथिव्याम्. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. तत्र प्रत्यक्षाधिगम्ये श्रौते अर्थे जीवोत्क्रमणरूपे अर्थे. श्रौतन्यायेनैव इति. जीवः कर्मसहितएव गच्छति इति श्रुतौ उक्तत्वात् तन्न्यायेन इति अर्थः. ननु सूक्ष्मभूतसहितोऽपि गच्छति इति अत्र किं बाधकम्? अतः आहुः आहुतौ इति. गौणत्वापत्तेः इति. गुणकर्मत्वापत्तेः इति

उपस्थापकत्वाभावात् शरीरवियोगे देवानां च तावद् विलम्बे कारणाभावाच्च श्रद्धारूपा आपएव हूयन्ते. अतो न तैः परिष्वक्तो गच्छति इत्येवं प्राप्ते. उच्यते,

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति

सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥ (३।१।१)

तस्य जीवस्य यज्ञादिकर्तुः अन्तरप्रतिपत्तौ, अन्तरे मध्ये, मुख्यप्रतिपत्तेः मोक्षलक्षणायाः अर्वाग् योग्यशरीरनिष्पत्त्यर्थम्. न हि वस्तुतो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रौतन्यायश्च जीवमात्रस्य गमनं नतु भूतसाहित्यं गमन इति. उपस्थापकत्वाभावात् संस्कृत्य भूतानां जीवेन सह गमनस्य अत्र प्रकरणे वाक्यानां बोधकत्वाभावाद् देवानां यज्ञाधिष्ठातृदेवानाम्. तावद् विलम्बे पूर्वदेववियोगे सति अग्रिमफलदाने कर्तव्ये योग्यदेहनिष्पत्तिकृतविलम्ब इति अर्थः. आपएव हूयन्ते इति. क्रियासङ्गतैवकारेण आपोपि हूयन्ते इति अर्थः. तथाच पूर्वदेहस्य अग्नौ प्रतिपत्तिदशायां सर्वाण्येव भूतानि हूयन्तइति न तैः सह गच्छति इति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तम् आहुः तदन्तरप्रतिपत्तौ इत्यादिना. मध्ये यज्ञमुख्य-फलमोक्षयोः मध्ये.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. तथाच भूतसहितो गच्छति चेत् तादृशभूतैरेव शरीरोत्पत्तिः भविष्यति, अबाहुतिस्तु भूतसंस्कारार्थाः भविष्यति इति गौणत्वापत्तिः इति भावः.

संस्कृतान्येव भूतानि योग्यशरीरं निष्पादयन्ति इत्यतः आहुः संस्कृतभूतानाम् इति. अदृष्टस्य उपस्थापिका अदृष्टसामग्री. तथाच अप्सहितभूतानामेव योग्यशरीरोप-स्थापकत्वं, नतु संस्कृतभूतानाम् इति अर्थः. ननु अप्सहितभूतानाम् उपरिस्थितिः भविष्यति इत्यतः आहुः शरीरवियोगे इति. शरीरवियोगानन्तरं यावत्पर्यन्तम् अप्सहितभूतानाम् उत्पत्तिः ततः पूर्वमेव योग्यशरीरनिष्पत्त्यर्थं हूयन्ते. ततः सोमभावानन्तरं भूतसम्बन्धः इति अर्थः. पूर्वपक्षी स्वाभिप्रायं विशदयति अतः इति. तैः भूतैः. समाधानसूत्रम् आहुः तदन्तरेति. व्याकुर्वन्ति तस्य इति. 'तत्'शब्देन जीवो वा फलं वा इति पक्षद्वयम्. तत्र प्रथमपक्षम् आहुः जीवस्य इति. अन्तरे इति. "चर्मणि द्वीपिनं हन्ति" इतिवत् तादर्थ्यं सप्तमी. 'अन्तर'शब्दस्य मुख्याधारार्थत्वम्. तथाच कर्मणो मुख्या प्रतिपत्तिः भगवत्प्राप्तिः. मोक्षोपयोगिशरीरनिष्पत्तिः अन्तरप्रतिपत्तिः, तदर्थं 'रंहति' इति अग्रेण अन्वयः. मोक्षोपयोगिशरीरनिष्पत्तिः.

फलमेव कुतो न भवति? इत्यतः आहुः न हि इति. इदं फलं शरीररूपम्.

यज्ञानाम् इदं फलं भवति. अतो मुख्ये विलम्बात् प्रतिपत्तिः एषा. तस्य मुख्यफलस्य वा अन्तरे या प्रतिपत्तिः तदर्थं वा. तत्कारणभूतैः सम्परिष्वक्तएव रंहति, मरणानन्तरमेव कर्मसमाप्तेः. सम्यग् भूतानि तदैव संस्कृतानि. प्रतिदिनसंस्कारार्थं च नैकट्यम् अपेक्षते. अतः सम्यगेव च परिष्वक्तः. पूर्व शरीरेण व्यवधानात्. शरीरदाहे वा तद्गतानि भूतसूक्ष्माणि सम्यक् तमेव आसक्तानि. “तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च” (बृहदा.उप.४।४।२) इति. जीवपक्षे ज्ञानकर्मणी. कर्मणो हि स्वरूपभूता आपः. तत्र हेतुः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इदं योग्यदेहप्राप्तिरूपम्. प्रतिपत्तिः एषा मुख्यफलसाधनसम्पत्तिरूपा योग्यदेहनिष्पत्तिरूपा अन्तरे या प्रतिपत्तिः साधनसम्पत्तिः. अपेक्षते योग्यदेहो अपेक्षते. पूर्वव्याख्याने ‘तत्’पदेन यज्ञकर्ता व्याख्यातो जीवः पक्षान्तरे सूत्रस्थ ‘तत्’पदेन ज्योतिरादिमार्गप्राप्यं मुख्यं फलं व्याख्यायते. तस्य मुख्यफलस्य वा इति, अन्तरे मध्ये. प्रतिपत्तिः साधनसम्पत्तिः. तत्कारणभूतैः ज्ञानोपयोगिदेहकारणभूतैः संस्कृतसूक्ष्मभूतैः इति अर्थः. कर्मसमाप्तेः मृतानिहोत्ररूपकर्मसमाप्तेः. तदैव कर्मकालएव. प्रतिदिन-संस्कारार्थं ज्ञानोपयोगिदेहे प्रतिदिनं ज्ञानयोग्यतासिद्ध्यर्थम्. नैकट्यं संस्कृतभूतानां देहनैकट्यम्. सूक्ष्मभूतसम्परिष्वक्तस्यैव जीवस्य लोकान्तरगमने प्रकारान्तरं वदन्ति पूर्वम् इत्यादिना. पूर्वं योग्यदेहप्राप्तेः पूर्वम्. व्यवधानाद् भूतसूक्ष्माणां पूर्वदेहेन व्यवधानात्. दाहे वा इति पूर्वदेहव्यवधाने निमित्तप्रदर्शनम्. तमेव एवंविधं जीवमेव. आसक्तानि प्रयान्ति इति अर्थः. तं विद्येत्यादि. तं जीवम्. विद्याकर्मणी तत्त्वज्ञानकृतकर्मणी. समन्वारभेते सह गच्छतः अग्रिमदेहार्थं, पूर्वप्रज्ञा “यं यं वापि स्मरन्” (भग.गीता ६।८) इत्याद्युक्ता स्मृतिः इति अर्थः. जीवपक्षे जीवस्य

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

मुख्ये भगवत्प्रादुर्भावरूपे द्वितीयपक्षम् आहुः तस्य इति. तत्कारणभूतैः इति. तस्य मोक्षोपयोगिशरीरस्य कारणैः संस्कृतभूतैः सहितो गच्छति इति अर्थः. तत्र अयमेव अर्थः. विशदयितुम् आहुः मरणानन्तरम् इति. तत्र प्रेतयानस्य विहितत्वाद् इति अर्थः. संस्कृतानि इति. भवन्ति इति शेषः. ‘सम्यक्’ पदस्य स्वारस्यम् आहुः पूर्वम् इति. मरणात् पूर्वम् इति अर्थः. व्याख्यानान्तरम् आहुः शरीरेति. अबाहुतेरपि श्रुतत्वात्. अपां होमः, परिष्वक्तस्य जीवस्यापि होमः इति पक्षद्वयम्. तत्र जीवपक्षे प्रमाणम् आहुः तम् इति. बृहदारण्यस्य वाक्यम्. इत्यनेन वाक्येन ज्ञानकर्मणी समन्वारभेते इति अर्थः. ननु

प्रश्ननिरूपणाभ्याम्. “वेत्थ यथा पञ्चम्याम् आहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” (छान्दो.उप.५।३।३) इति प्रश्नः. “असौ वाव लोको गौतमाग्निः तस्य आदित्य एव समिद्” (छान्दो.उप.७।४।१) इत्यादि निरूपणम्. प्रश्ने हि पुरुषत्वं वदति, न देहमात्रम्. तद् जीवाधिष्ठितानामेव भवति, सिद्धवत्कारवचनाच्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

गमनाङ्गीकारमते. ज्ञानकर्मणाम् आसञ्जनम् आवश्यकं कर्मणां द्रव्यसूक्ष्मपृथिव्यादि-भूतरूपत्वात्, स्वरूपभूता आपः इति पृथिव्यादिसर्वरूपत्वेऽपि अपां मुख्यत्वात् स्वरूपोक्तिः इति अर्थः. तत्र सर्वभूतानां जीवे साहित्ये हेतुः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् इति छान्दोग्ये प्रश्ननिरूपणाभ्याम् इति अर्थः. पञ्चम्याम् आहुतौ इति. तथाच सूर्यचन्द्र-वृष्टिपृथिव्यन्नादिपञ्चस्थानेषु सपरिकरजीवगमनमेव ‘आहुति’शब्देन उच्यते. तानि च स्थानानि अग्नित्वेन उच्यन्ते. समिद् इति प्रकाशकत्वेन समिद्रूपत्वम् उक्तम्. न देहमात्रं जीवरहितदेहमात्रं पुरुषो न भवति इति अर्थः. तद् ‘देह’पदवाच्यत्वम्. सिद्धवद् इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एवं चेद् अपां होमे गौणत्वापत्तिः अतः आहुः कर्मणः इति. हि यतः अपां होम्यद्रव्यत्वात् कर्मरूपत्वं, नतु संस्कार्यत्वम् अतो न गौणत्वम् इति अर्थः.

परिष्वक्तो रंहति इत्यत्र सौत्रो यो हेतुः तं विशदयन्ति प्रश्नेति. अपां होमो यदा तस्मिन् काले अश्रु जीवस्य अधिष्ठानम् अस्ति इति प्रतिपादयन्ति प्रश्ने हि इत्यादिना सम्भवाद् इत्यन्तेन. इत्यादीति. “असौ वाव लोको गौतमाग्निः तस्य आदित्य एव समिद् रश्मयो धूमो अहरर्चिः चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः, तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवाः श्रद्धां जुहवति, तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति” (छान्दो.उप.५।४।१) द्वितीये वाक्ये पर्जन्यवाय्वभ्रविद्युदशनिहादनयो विस्फुलिङ्गान्ताः, सोमो राजा, होम्यं वर्षं फलम्. तृतीये पृथिवीसंवत्सराकाशरात्रिदिगवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गान्ताः, वर्षं होम्यम् अन्नं फलम्. चतुर्थे पुरुषवाक्प्राणजिह्वाचक्षुःश्रोत्राणि विस्फुलिङ्गान्ताः, अन्नं होम्यं, रेतः फलम्. तदग्रे इतितु पञ्चम्याम् आहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति इति. सः उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते स जातो यावद् आयुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितो अग्नय एव हरन्ति यतएव इतो यतः सम्भूतो भवति इति. निरूपणम् इति अर्थः. पुरुषत्वं वदति यथा पञ्चम्याम् इत्यादिना इति शेषः. तत् पुरुषत्वं प्रश्ने सपरिकरजीवलाभे हेतवन्तरम् आहुः सिद्धवद् इति. निरूपणेऽपि सपरिकरजीवलाभं वदन्ति निरूपणेऽपि इति. प्रथमतो

निरूपणेऽपि चन्द्रो भवति इति. तत्रापि सोमो राजा चेतनः. न हि अन्याधिष्ठाने हि अन्यस्य शरीरं भवेत्. तथान्तरेतोर्गर्भाश्च. अन्यथापि विनियोगसम्भवात्. जीवसाहित्येऽपि अपामेव मुख्यत्वं, शरीरवत्. अयं होमः तत्र तथा तं जनयन्तीति न दुःखहेतुः. तस्मात् प्रश्ननिरूपणान्यथानुपपत्त्या सम्परिष्वक्तएव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुरुषत्वेन रूपेण निरूपणाद् इति अर्थः. **निरूपणेऽपि** पुरुषत्वनिरूपणेऽपि. **अन्याधिष्ठाने** इत्यादि. तथाच यस्मिन् स्थाने यद् योग्यं शरीरं तदेव तत्र भवति नतु अन्यथा इति अर्थः. **तथा अन्नेतः** इत्यादि. तथाच तत्तत्संस्कृतयोग्यावयवैः यथा लोकान्तरस्थदेहाः तथा गर्भेऽपि संस्कृतावयवैरेव देहनिष्पत्तिः इति अर्थः. संस्कृतावयवाभावे दूषणम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. तथाच असंस्कृतत्वे स्राव-पातादिना गर्भनाशोऽपि स्याद् इति अर्थः. ननु उत्क्रमणम् आरभ्य ज्ञानयोग्यदेहप्राप्तिपर्यन्तं जीवे सर्वसूक्ष्मभूतसाहित्ये अपामेव होमः कुतः उक्तः? इत्यतः आहुः **जीवसाहित्ये** इत्यादि. तथाच यथा वाजसनेयिशाखायां पुरुषस्य अग्नौ होम्यत्वेन उक्तौ शरीरस्य मुख्यत्वम् उक्तं तथा अत्र प्रथमहोमे अपां मुख्यत्वम् अवसेयम् इति अर्थः. ननु अस्य होमस्य दुःखजनकत्वाद् वैराग्यार्थत्वमेव एतद् उपाख्यानस्य आस्ताम् अतः आहुः **अयम्** इत्यादि. **अयं देवैः** कृतो **होमः**. तत्र ब्रह्मलोके. **तथा** प्रकाशमानम्. तं जीवम्. **जनयन्ति** ब्रह्मलोकसुखभोक्तारं कुर्वन्ति इति अर्थः. **न दुःखहेतुः** असंसारित्वाद् न दुःखहेतुः इति अर्थः. **तस्माद्** इत्यादि. **तस्माद्** अपां होमस्य मुख्यतया

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अङ्गाररूपचन्द्रो भवति, आहुत्यनन्तरं सोमो राजा भवति इति कलावृद्धिकृतराजत्व-कथनेन भूतसहितजीवाधिष्ठानमेव बोध्यते. अत्र युक्तिम् आहुः **न हि** इति. कदा अन्यथाविनियोगो जायते इत्यतः आहुः **तथा** इति. **गर्भाश्च** इति. भवन्ति इति शेषः. वर्षस्योष्णपाते अन्नस्य मांसादिभावः रेतसो पृथापाते तथा गर्भस्रावे पुरुषभावाभावः **इति अन्यथापि विनियोगसम्भवाद्** इति अर्थः. नच एतावता जीवसाहित्यम् उक्तं तर्हि अपामेव होम्यत्वं कथम्? इत्यतः आहुः **जीवेति**. **शरीरवद्** इति. यथा पुरुषस्य षष्ठे अग्नौ होम्यत्वे शरीरस्य मुख्यत्वं तथा प्रथमहोमे अपां मुख्यत्वात् तासामेव होमः इति अर्थः. **अयम्** इति. देवैः अकृतः इति अर्थः. **तत्र** षष्ठे पर्याये **तथा** ब्रह्मलोकयोग्यं तं पुरुषं **जनयन्ति** इति. देवाः इति शेषः. **न दुःखहेतुः**. **होमः** इति पूर्वेण अन्वयः. तथाच अस्य होमस्य अदुःखदत्वेन वैराग्यहेतुत्वम् अस्य उपाख्यानस्य न वक्तव्यम् इति भावः.

संस्कृतैः भूतैः रंहति इति सिद्धम् ॥१॥

त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ॥२॥

ननु कथं भूतसंस्कारमात्रत्वम् अवगम्यते, यावता प्रश्ननिरूपणाभ्याम् आपएव अवगम्यन्ते. नच तावन्मात्रसंस्कारकत्वं, नियामकाभावात्. “अस्थि चैव तेन मांसं च यजमानः संस्क्रुते” (तैत्ति.ब्राह्म.१।५।९।७) इति विरोधश्च इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूक्ष्मभूतसंस्कारार्थत्वेन निष्कर्मणां भूतसंस्कारएव उपयोगात् फलोपयोगिदेहप्राप्ति- विलम्बकृतएव देवानां विलम्बः इति संस्कृतभूतान्वितएव गच्छति नतु होमानन्तरमेव देहान्तरप्राप्तिः अतः इति अर्थः ॥१॥

अपामेव होम्यत्वेन संस्कारो देवैः क्रियते नतु सर्वभूतानाम् इति पूर्वपक्षनिरासार्थः तुशब्दः. सर्वभूतसंस्कारे हेतुः त्र्यात्मकत्वाद् इति. अपां त्रिवृत्कृतत्वाद् इति अर्थः. तथाच ‘अप्’शब्देन सर्वभूतान्येव लब्धानि इति अर्थः. तर्हि अपामेव ग्रहणं कुतः? इत्यतः आह भूयस्त्वाद् इति. रेतोलोहितादिपरिणामित्वेन अपां भूयस्त्वाद् इति अर्थः. सूत्रस्य भूतसंस्कारमात्रत्वं दैवकृतहोमस्य सर्वभूतसंस्कारकत्वम्. अवगम्यते उपाख्याने अवगम्यते. यावता यतो हेतोः. अवगम्यन्ते होम्यत्वेन श्रूयन्ते. तावन्मात्रसंस्कारकत्वं देवानां होमस्य सर्वभूतसंस्कारकत्वम्. एवं सति यो विरोधः तम् आहुः अस्थि इत्यादिना. तेन होमेन. विरोधः अस्थिमांससंस्कारस्य

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उपसंहरन्ति तस्माद् इति. रंहति गच्छति इति अर्थः. नच स्वतः पूतस्य जीवस्य किमर्थं शुद्धिः अपेक्षिता इति वाच्यम्. विरजा होमेन कृत्वा अन्तरात्मपर्यन्तं शुद्धिः तैत्तिरीयोपनिषदि स्पष्टम् उक्ता. तृतीयस्कन्धे विदुरवाक्ये “हृदि स्थितो यच्छति” (भाग.पुरा.३।५।४) इत्यत्र सुबोधिन्याम्. भक्त्या शुद्धिः उक्ता. तेन कृत्वा किं ज्ञायते. पूतानामपि शुद्धिः अस्ति इति हृदयम् ॥१॥

सूत्रोक्तं समाधानांशम् अपाकर्तुं पूर्वं पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. जलसंस्कारकत्वमेव, नतु सर्वभूतसंस्कारकत्वम् इति आहुः यावता इति. यतः इति अर्थः. जलग्रहणेन सर्वभूतग्रहणम् इति आशयेन शङ्कते नच इति. ‘मात्र’शब्दः कात्स्न्ये. खण्डयन्ति नियामकेति. जलेन सर्वेषां ग्रहणे इति शेषः. विरोधोऽपि आह अस्थि इति. इदं च वाक्यं तैत्तिरीयब्राह्मणे प्रथमाष्टके तृतीयप्रश्ने बोध्यम्. स्पष्टो अर्थः. विरोधश्च इति. यदि जलग्रहणेन सर्वेषां ग्रहणं चेत् पूर्वम् अस्थि-मांसादि-

शङ्कां निराकरोति 'तु'शब्दः.

अपामेव ग्रहणेन तेजोऽबन्नानि गृहीतानि ज्ञातव्यानि. कुतः? **त्र्यात्मकत्वात्**. लोकादिनिर्माणानन्तरभावित्वात् ता आपः त्रिवृत्कृताएव. अतः त्रयोऽपि गृहीता अपां ग्रहणेन. उपलक्षणत्वेऽपि अपामेव ग्रहणे हेत्वन्तरम् आह **भूयस्त्वात्**. शुद्धत्वाद् विशेषाभावात् मध्यभावाच्च. दीक्षिततुल्यत्वेन भारूपत्वेन अग्रे वक्तव्यत्वात्. शुद्धापामेव इदं शरीरम्. बहुहेतुकत्वमेव भूयस्त्वम्. बहुधा परिणामाच्च. द्रव्यभूयस्करत्वं च. तस्माद् नियामकानां भूयस्त्वाद् अपामेव ग्रहणम्॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुत्युक्तस्य विरोधो जलमात्रसंस्कारकरणे इति अर्थः. **त्रयोऽपि** त्रिवृत्कृता अपां ग्रहणात् तेजोऽबन्नरूपाः त्रयोऽपि पदार्थाः गृहीताः इति अर्थः. पृथिवीतेजसोः अब्विशेषणत्वेन ग्रहणम् उक्त्वा उपलक्षणत्वेनापि ग्रहणार्थम् आहुः **उपलक्षणत्वेऽपि** इत्यादि. **भूयस्त्वाद्** रेतोलोहितादिपरिणामित्वेन भूयस्त्वाद्. **शुद्धत्वात्** स्वभावतो मेध्यत्वाद्. **विशेषाभावात्** तुल्यत्वेन शुद्ध्यविशेषाद्. **मध्यभावात्** पृथ्वीतेजसोः मध्यवृत्तित्वाद्. अग्रे बृहदारण्यके षष्ठे पर्याये भास्वरवर्णपुरुषतायां दीक्षिततुल्यत्वेन अपां वर्णनाद् इति अर्थः.

अपामेव इति 'एव'कारो अप्यर्थः. **बहुहेतुकत्वं** ह्यमानापां पयःसोमादि-रूपबहुहेतुकत्वं, **द्रव्यभूयःकरत्वं** वरलाभेन द्रव्यभूयःकरत्वम्॥२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

स्थूलभूतसंस्कारस्य कृतत्वाद् विरोधः इति भावः. सिद्धान्तम् आहुः **अपाम्** इति. **तेजोऽबन्नानि** इति. तेजोजलान्नानि इति अर्थः. सौत्रं हेत्वन्तरं विशदयन्ति **उपलक्षणत्वेऽपि** इति. अपामेव ग्रहणं सर्वेषाम् उपलक्षकम् इत्यत्र नियामकसप्तकम् आहुः **शुद्धत्वाद्** इति. मेध्यत्वाद् इति अर्थः. **विशेषाभावाद्** इति. अन्ने यथा पोषकत्वं तथा जलेऽपि अस्ति इति जले विशेषाभावाद् इति अर्थः. मध्यभावाद् जलस्य इति शेषः. चतुर्थं नियामकम् आहुः **दीक्षितेति**. बृहदारण्ये अग्रे षष्ठे पर्याये शुद्धापामेव इदं शरीरम् इति दीक्षिततुल्यत्वेन वक्तव्यत्वाद् इति अन्वयः. पञ्चमम् आहुः **बहु** इति. सोमादिहेतुकत्वम् इति अर्थः. **बहुधा** इति. वृष्ट्यन्न्रेतः शोणितादीति अर्थः. **द्रव्येति**. जलेन सर्वद्रव्यभूयस्त्वम्. अस्थिमांसयोस्तु पूर्वशरीरनाशान्तरमेव निवृत्तिः इति न विरोधः ॥२॥

प्राणगतेश्च॥३॥

वैदिकीं युक्तिम् उक्त्वा लौकिकीम् आह. प्राणस्य गतिः प्राणगतिः. “तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति” (बृहदा.उप.४।४।२) इति प्राणाप्यायन-जनकत्वाद् अपाम्. प्राणो गच्छन् स्वाप्यायकं गृहीत्वैव गच्छति. जलौकावद् अन्यत्र देहसम्बन्धः. मुक्तौ न प्राणाः गच्छन्ति. क्रमम् उक्तावपि देहसम्बन्धः इति पौराणिकाः. देवभावः इति औपनिषदाः. अतो दूरे प्राणगतिः अत्रैव. अतो अपां संश्लेषो वक्तव्यः. ‘च’काराद् “विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च” (बृहदा.उप.४।४।२) इति कर्मसहभावं बोधयति श्रुतिः. तस्माद् अदिभः परिष्वक्तो गच्छति॥३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

युक्तिम् आहुः प्राण इत्यादिना. “काममपः पिब आपोमयः प्राणः” (छान्दो.उप.६।७।१) इत्यादौ प्राणाप्यायकत्वम् अपाम् उक्तम्. लोकेऽपि पथिकः स्वाप्यायकं जलं गृहीत्वा गच्छति इति रीत्या युक्तेः लौकिकत्वम्. एवं वाङ्मनसी अपि स्वाप्यायके तेजोऽन्ने गृहीत्वा गच्छतः इति बोध्यम्. जलौकावद् इति. जलौका यथा तृणं प्राप्य सर्वाण्येव अङ्गानि उपसंहरति एवं जीवोऽपि देहान्तरं प्राप्य पूर्वोपार्जितं सर्वं स्वस्मिन् उपसंहरति. अन्यत्र मुक्तिभिन्नस्थले इति अर्थः. पौराणिकाः शुकादयः. दैवभावः देवोपासनया प्राणानां देवभावः इति अर्थः. अत्रैव क्रममुक्त्यादिस्थलएव इति अर्थः॥३॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

लौकिकीम् इति. सूत्रप्रयोजनम् अपाम् इति. जनकत्वाद् इति पूर्वेण अन्वयः. काममयः पिब. “आपोमयः प्राणः पिबतो न विच्छेत्स्यति” इत्यत्र अपां प्राणाधायकत्वं सिद्धम्. पथिकः पथा जलं गृहीत्वा गच्छति तथा प्राणः इति लौकिकीं युक्तिम् आहुः प्राणः इति. ननु निष्कामयज्ञकर्तुः प्राणोत्क्रमणएव विचारो अयम् अत्र को हेतुः? इत्यतः आहुः जलौकावद् इति. अन्यस्यां श्रुतौ पूर्वशरीरावच्छेदेन सा मान्यते. ज्ञानमेव यत्र प्रधानम् उक्तं तस्य तदानीमेव तृणजलौकान्यायेन देहसम्बन्धः उक्तः इति अर्थः. गच्छन्ति इति. देहसम्बन्धएव नास्ति इति अर्थः. अत्र विचारे प्रयोजनम् आहुः अतः इति. अतः कारणाद् इति अर्थः. अत्रैव इति. सद्योमुक्तिं विहाय सर्वत्र देहसम्बन्धः तत्कालएव यज्ञकर्तुस्तु दूरः इति अर्थः. उपसंहरन्ति तस्माद् इति ॥३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

श्रुतिविरोधं परिहरति. परस्परविरोधे व्यवस्था वा बोध्यते. ननु “यत्र अस्य पुरुषस्य मृतस्य अग्निं वागप्येति, वातं प्राणः” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यादिना अग्न्यादिगतिः प्राणानां श्रूयते. नच “ओषधीः लोमानि वनस्पतीन् केशाः” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यत्र प्रत्यक्षविरोधाद् बाधितविषया इयं श्रुतिः इति वाच्यम्. आध्यात्मिकेन्द्रियमध्यपाताद् लोमकेशापि आध्यात्मिकाएव ग्राह्याः यैः कण्डूलावण्यप्रतीतिः. दृश्यमानानितु गोलकस्थानानि. तस्मात् प्राणोत्क्रमण-श्रुतिः अग्न्यादिभावश्रुत्या बाध्यते इति चेद्, न, भाक्तत्वात्. प्रकरणव्यतिरेकेण

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुतिविरोधं प्राणानां सह उत्क्रमणश्रुतिः “अग्निं वागप्येति” (बृहदा.उप.३।२।१३) इति च श्रुतिः तयोः विरोधम्. परिहरति सूत्रेण परिहरति सूत्रकारः. बोध्यते सूत्रेण पक्षद्वयं बोध्यते इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः ननु इत्यादिना. इयं “यत्र अस्य मृतस्य” (तत्रैव) इति श्रुतिः. बाधितविषया इति. तथाहि लोमकेशयोरपि सावयवत्वेन शरीरनाशे नाशसम्भवाद् वनस्पत्यादिप्राप्तिः लयबोधिकैव नतु यथाश्रुतार्था तथा “अग्निं वाग्” इत्यपि श्रुतिः इन्द्रियाणां लयमेव बोधयति नतु यथाश्रुतार्था अतो बाधितविषया इति अर्थः. इति च न वाच्यम् इति उपपादयन्ति आध्यात्मिकेत्यादिना. तथाच आध्यात्मिकलोमकेशयोः औषधिवनस्पति-प्राप्तिसम्भवेन यथाश्रुतार्थैव इयं श्रुतिः इति पूर्वाऽपि यथाश्रुतार्थैव इति पूर्वश्रुत्या उत्क्रमणश्रुतिबाधः इति सिद्धः पूर्वः पक्षः. भाक्तत्वाद् उत्क्रमणश्रुतेः भाक्तत्वाद्. भाक्तत्वं विवृण्वन्ति प्रकरणेत्यादिना. प्रकरणव्यतिरेकेण अमुक्तप्रकरणव्यतिरेकेण.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

बोध्यते इति. श्रुतेः विरोधपरिहारो वा गौणमुख्यभावेन व्यवस्था वा अनेन सूत्रेण बोध्यते इति अर्थः. पूर्वपक्षांशं व्याकुर्वन्ति ननु इति. यत्र इति श्रुतिः बृहदारण्यके आर्तभागब्राह्मणे. श्रुतेः गौणत्वम् आशङ्कते नच इति. बाधितविषयेति. पुरुषस्य लोमानि. ओषधीः अप्येति (अपियन्ति) केशाः वनस्पतीन् इत्यादिना तेषामप्ययकथनम्. तथाच तेषाम् अप्यययोग्यत्वाभावाद् बाधितविषये गौणी इति अर्थः. एतादृशं भाक्तत्वं नास्ति इति निषेधन्ति आध्यात्मिकेति. यैः केशादिभिः अन्यथा आध्यात्मिकानि आहुः दृश्यमानानि इति. तथाच आध्यात्मिकत्वाद् न बाधितविषयेति अर्थः. सूत्रोक्तं भाक्तत्वं वक्तुं हेतुं विशदयन्ति प्रकरणेति. मुक्तप्रकरणं विना

अमुक्तविषये प्रवृत्ता भाक्ता भवति. “अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः प्रपच्छ” (बृहदा.उप.३।२।१) इत्यत्र ग्रहनिरूपणानन्तरं मृत्युं पृष्ट्वा म्रियमाणप्रश्ने, “नामैव न जहाति अन्यद् जहाति” इति प्रतिज्ञाते, प्राणोत्क्रमणप्रश्ने, ‘न’ (तत्रैव ३।२।११) इति प्रतिवचने, वागादीनाम् अग्न्यादिभावानुवादः. ततो *मन्त्रणाजीवस्य ब्रह्मभावो अवगम्यते. सामग्रा गतत्वात्. “तौ ह यदूचतुः” (बृहदा.उप.३।२।१३) इति कर्मप्रशंसा भिन्नप्रश्नोत्तरा, उभयोः वचनविधानात्. ब्रह्मविद्या च गोप्या. उत्क्रमणश्रुतिस्तु “स यत्रायं शारीर आत्मा” (बृहदा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तथाच मुक्तविषया “अग्निं वाग्” इति श्रुतिः उत्क्रमणश्रुतिस्तु अमुक्तविषया इति अविरोधः प्रतिपादितः. व्यवस्थापक्षं व्युत्पादयन्ति अथ इत्यादिना. मृत्युसम्पादिका कास्विद् देवता इति प्रश्नं कृत्वा प्राणोत्क्रमणप्रश्नः कृतो “न उत्क्रामति” इति उत्तरिते तदनन्तरं वागादीनाम् अग्न्यादिभावानुवादः कृतः. तदनन्तरं “कुत्र अयं पुरुषः तिष्ठति” (.....) इति प्रश्ने कृत “आहर सौम्य हस्तम्” (.....) इत्यादिना मन्त्रकरणाद् जीवस्य ब्रह्मभावो अवगम्यते. सामग्रा गतत्वाद् लौकिकभोगसामग्रा गतत्वाद्. ननु मन्त्रव्याख्यानश्रुतौ कर्मप्रशंसायाः कृतत्वाद् मन्त्रणं न जीवब्रह्मभावबोधकम् इत्यतः आहुः तौ ह यद् इत्यादि. भिन्नप्रश्नोत्तरा एतत्प्रश्नभिन्नप्रश्नोत्तरप्रतिपादिका इति अर्थः. उभयोः वचनविधानात् “तौ यदूचतुः” (बृहदा.उप.३।२।१३) इति वाक्येन उभयोः वचनविधानाद् भिन्नप्रश्नोत्तरपरत्वम् इति अर्थः कर्मप्रशंसायाम् इति फलितम्. ननु तर्हि अनुमन्त्रणश्रुतिः कुतो न विवृता? इत्यतः आहुः ब्रह्मविद्या इत्यादि. तस्माद् **एतत् परममुक्तिप्रकरणं सिद्धम्. तथाच अग्न्यादि-

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

व्यवस्थारूपं द्वितीयपक्षं विशदयन्ति अथ इति. विषयवाक्यं विशदयन्ति प्रपच्छ इति. नेति प्रतिवचने इति. उदस्मात् प्राणात् क्रामन्त्याहो न इति प्रश्ने तत्र न इति प्रतिवचने प्रत्युत्तरः इति अर्थः. अनुवादः इति. ततो “यत्र अस्य पुरुषस्य” इत्यादिना अनुवादः. ब्रह्मभावेति. सोम्य हस्तम् इत्यादिना. सामग्रा इति. सांसारिकभोगसामग्रा इति अर्थः. प्रश्नोत्तरेति. प्रश्नोत्तरविषयेति अर्थः. उभयोः इति. “तौ यदूचतुः” इति उक्तं, ननु “तौ यन्मन्त्रयाञ्चक्रतुः” इति उक्तम्. ननु मन्त्रणार्थाः कुतो न विवृता इत्यतः आहुः ब्रह्मविद्या इति.

* ‘मन्त्रणाज्जीवस्य’ इति पुरु.पाठः. ** ‘इदम्’ इति जा पुस्तके.

उप.४।४।१) इति ब्राह्मणे जीवस्य परलोकविहारार्थं “निष्क्रामति चक्षुष्टो वा” (बृहदा.उप. ६।४।२) इत्यादिना प्राणानां विहारसाधकानां निर्गमनम् आह. अतो मुक्तामुक्तविषयभेदस्य व्यवस्थापकस्य विद्यमानत्वाद् अग्न्यादिभावश्रुतिः न उत्क्रमणश्रुतिबाधिका. तस्माद् अन्यत्र सिद्धो धर्मो अन्यत्र अवस्थासाम्याद् योज्यमानो भाक्तो भवति. अतः प्राणोत्क्रमणम् अस्ति. तस्मात् सम्परिष्वक्तो गच्छति इति सिद्धम् ॥४॥

प्रथमेऽश्रवणाद् इति चेद् न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. “असौ वा व लोको गौतमानिः” (छान्दो.उप.५।४।१) इत्यत्र, “देवाः श्रद्धां जुह्वति” (तत्रैव ५।४।२) इति श्रुतेः आपो न सङ्कीर्तिताः. अपां हि पञ्चम्याम् आहुतौ पुरुषवचनम्. श्रद्धा मनोधर्मः. सः कथं हूयते? इति चेद्, न. मनसा सह भविष्यति. तथापि अरुणान्यायेन धर्ममुख्यत्वम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भावश्रुतिः मुक्तविषयोत्क्रमणश्रुतिस्तु अमुक्तविषयेति व्यवस्थापक्षेऽपि न विरोधः ॥४॥

आपो न सङ्कीर्तिताः उपक्रमे आपो न कीर्तिताः इति अर्थः. **पुरुषवचनम्** उपसंहारे अपां पुरुषवचनत्वेन निरूपणम्, उपसंहारस्य च उपक्रमाद् दुर्बलत्वाद् इति अर्थः. ननु श्रद्धा मनोधर्मः सः कथं होतुं शक्यते? इति ‘श्रद्धा’पदेन आपएव ग्राह्याः, श्रद्धाधर्मिक-मनसा होमं भावयति इति अर्थः इत्यतः आहुः **मनसा** इत्यादि. “**मनसा प्रणयति**” (.....) “**इयं वै मनः**” (.....) इत्यत्र ‘इयम्’पदेन श्रद्धासाहित्यग्रहणसम्भवाद् इति अर्थः. ननु मनसो होम्यत्वेन उक्तेः श्रद्धायाः सहभूतत्वेन गौणत्वात् कथं होमकर्मत्वम्? अतः आहुः **तथापि अरुणे**त्यादि. तथाच

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

न उत्क्रमणश्रुतिबाधिका इति. विषयभेदे बाध्यबाधकभावो नास्ति इति अर्थः. विषयवाक्यपर्यालोचनया सुगमम् इदम् ॥४॥

सौत्रं शङ्काभागं विशदयन्ति असौ इति. **सः कथम्** इति. अन्यथानुपपत्त्या जलानां कल्पनम् इति कल्पनया अब्रह्मणम् इति शङ्काकर्तुः आशयः. समाधानम् आहुः **मनसा** इति. मनसा प्रणयति. “**इयं वै मनः**” (.....) इत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद् मनःसाहित्यम् इति अर्थः. ननु एवं चेद् मनसो होम्यत्वेन श्रद्धायाः गौणत्वम् इत्यतः आहुः **तथापि** इति. **अरुणे**ति. सोमक्रये “अरुणया पिङ्गाक्षया

तर्हि कथं प्रश्नोपसंहारौ ? परोक्षवादाद् भविष्यति. चमसवत्. “श्रद्धा वा आपः” (तैत्ति.ब्राह्म.३।२।४।१) इति श्रुतेः शुद्धिहेतुत्वसाम्यात्. “चन्द्रमा मनसो जातः” (ऋग्वेद १०।९०।१३) इति श्रुतिश्च एवम्परा भविष्यति. तस्मात् प्रथमाहुतौ अपाम् अश्रवणाद् न ताभिः सम्परिष्वक्तो गच्छति इति चेद्, न. ता एव आपएव ‘श्रद्धा’शब्देन उच्यन्ते. हि युक्तो अयम् अर्थः. यथा कर्मकाण्डे आपः ‘श्रद्धा’शब्देन उच्यन्ते, तथा प्रकृतेऽपि. परं न उपचारः, उपपत्तेः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

क्रयभावनायां यथा प्राधान्येन आरुण्यादिधर्मान्वयः तथा मनोधर्मश्रद्धायाएव होमो नतु अपाम्, एवं सति उपक्रमोपसंहारयोः अपाम् उक्तिः विरुद्धा इति आहुः तर्हि इत्यादिना. समाधानम् आहुः परोक्षेत्यादिना. तथाच “अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न” (बृहदा.उप.२।२।३) इत्यत्र ‘चमसा’दिशब्दैः गौण्या वृत्त्या यथा शिरःप्रभृतिः उच्यते तथा “श्रद्धा वा आपः” (तैत्ति.ब्राह्म.३।२।४।१) इत्यत्रापि शुद्धिसम्पादकतासाम्याद् ‘आपः’इतिपदेनापि श्रद्धैव उच्यते इति अर्थः. ननु ‘अप्’पदस्य श्रद्धारूपत्वे “श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा भवति” (छान्दो.उप.५।४।२) इति श्रद्धाकार्यत्वेन सोमस्य कथनं विरुद्धम् इति विरोधं परिहरति चन्द्रमा इत्यादिना. एवम्परा चन्द्रमसो ह्यमानश्रद्धाकार्यत्वेन मनसश्च श्रद्धायां सहभावात् “चन्द्रमा मनसो जातः” (ऋग्वेद १०।९०।१३) इतिव्यवहारपरा भविष्यति इति अर्थः. पूर्वपक्षोपसंहारः तस्माद् इत्यादिना उच्यते. न उपचारः न लक्षणया ‘श्रद्धा’शब्दो अपां बोधको वैदिकनिघण्टौ “श्रत् सत्यं शुद्धिं दधाति इति श्रद्धा” इति ‘श्रद्धा’पदस्य अप्सु योगेन प्रवृत्तिसम्भवाद् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

एकहायन्या सोमं क्रीणाति” इति श्रूयते. तत्र अरुणगुणस्य द्रव्यत्वाभावात् क्रयसाधनत्वाभावेऽपि द्रव्यद्वारा इतरगोव्यवच्छेदकतया क्रयसाधने मुख्यत्वं तथा मनोधर्मश्रद्धायाः मुख्यत्वम् इति अर्थः. ननु ‘श्रद्धा’पदेन आपो न गृह्यन्ते चेत् प्रश्ने उपसंहारे च अपां ग्रहणं कथम्? इति शङ्कते तर्हि हि. उत्तरयन्ति परोक्षेति. शुद्धिहेतुत्वम् अपां श्रद्धायाश्च समानम् इति परोक्षवादाद् ‘आपः’शब्देन श्रद्धैव उच्यते इति अर्थः. चन्द्रमा इति. श्रद्धाहोमे मनःसहभावः उक्तः. तस्मात् चन्द्ररूपसोमस्य उत्पत्तिबोधकश्रुतिः अनुकूला इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः न इति. श्रद्धाशब्देन उच्यन्ते इति. श्रद्धा वा आपः. श्रद्धामेव आरभ्य प्रणीपम् आचरति इत्यादिना दर्शपूर्णमासप्रकरणे काण्डे तैत्तिरीयब्राह्मणे तृतीयाष्टके प्रथमे अध्याये उच्यन्ते इति

उपक्रमोपसंहारयोः बलीयस्त्वात्. नतु मध्ये श्रुतेन ‘श्रद्धा’शब्देन उपक्रमोपसंहारौ अन्यथाकर्तुं युक्तौ. श्रद्धासहभावः संस्कारद्वारेण संस्कृतेषु भूतेषु सिद्धः. तेन मनःस्थाने आपएव वाच्याः. “चन्द्रमा मनसो जातः”(ऋग्वेद १०।९०।१३) इतितु भिन्ना सृष्टिः. ‘श्रद्धा’प्रयोगस्तु कामनाकृतव्यावृत्त्यर्थः. तत्र फलएव श्रद्धा, न कर्मणि. “यो यच्छ्रद्धः सएव सः”(भग.गीता १७।३) इति श्रद्धायाः आश्रयस्य विषयभावजनकत्वात् कर्तुः कर्मभावाय ‘श्रद्धा’प्रयोगः. ततः संस्कृता आपो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपपत्तिं विवृण्वन्ति उपक्रमेत्यादिना. तथाच उपसंहारे अपां होम्यत्वश्रवणात् ‘श्रद्धा’शब्देनापि आपएव उपादेया अन्यथा उपक्रमोपसंहारविरोधः स्याद् इति अर्थः. ननु ‘श्रद्धा’पदस्य अप्परत्वे कर्मणि श्रद्धासाहित्यालाभः इत्यतः आहुः श्रद्धासहभावः इति. तथाच पूर्वजन्मनि मृताग्निहोत्रे यजमाने तदुत्तरं च देवेषु होमकर्तृषु श्रद्धासत्त्वात् संस्कारद्वारेण सूक्ष्मभूतेषु श्रद्धासत्त्वाद् “न अश्रद्धया हुतम्” इत्यादिविरोधः इति अर्थः. तेन ‘श्रद्धा’पदस्य अप्सु योगेन उपक्रमोपसंहारानुपपत्त्या श्रद्धासाहित्यलाभेन च इति अर्थः. मनःस्थाने मनःसहकृतश्रद्धाहोमस्थाने. आपएव वाच्याः ‘श्रद्धा’पदेन आपएव वाच्याः इति अर्थः. श्रद्धाप्रयोगः अप्सु ‘श्रद्धा’पदप्रयोगः. तत्र सकामकर्तारि. निष्कामकर्तृस्तु कर्मण्येव श्रद्धा, आश्रयस्य कर्मकर्तुः. विषयभावजनकत्वाद् उद्देशरूपता-सम्पादकत्वात्. श्रद्धाप्रयोगः अप्सु ‘श्रद्धा’पदप्रयोगः॥५॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. “सिंहो देवदत्त”वत् ‘श्रद्धा’पदस्य अप्सु लक्षणा भविष्यति इत्यतः आहुः परम् इति. सत् सत्यं दधाति इति श्रद्धा इति योगेन ‘श्रद्धा’पदस्य जलवाचकत्वं बोध्यम्. कुत्रचिद् वेदे श्रद्धाजनकत्वमपि अपाम् उक्तम् अतो अत्र जलस्यैव ग्रहणम् इति अत्र किं विनिगमकम्? अतः सौत्रं हेतुं विशदयन्ति उपपत्तेः इति. श्रद्धासहभावेति. “यो वै श्रद्धाम् अनारभ्य” (तैत्ति.संहि.....) इति तैत्तिरीयप्रथमाष्टकश्रुत्या पूर्वजन्माग्निहोत्रहोमसंस्कारेण सिद्धः इति अर्थः. भिन्ना सृष्टिः विराट्सृष्टिः. अत्र सः विषयएव न भवति इति पूर्वपक्षिणं प्रत्युक्तिः इति भावः. ननु तर्हि ‘श्रद्धा’पदप्रयोगः किमर्थम्? अतः आहुः श्रद्धा इति. तत्र सकामयष्टरि निष्कामयष्टुः विशेषम् आह यो यद् इति. “यो यद्” (भग.गीता १७।३) इति गीतावाक्यात् श्रद्धायाः अयं स्वभावः स्वं स्वाश्रयं च विषयीकरोति. अतः कर्तुः कर्मात्मकत्वे बोधयितुं ‘श्रद्धा’पदप्रयोगः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः ततः इति ॥५॥

यजमानरूपा हूयमाना भवन्ति इति सिद्धं भवति. तस्मात् प्रथमेऽपि अपाम् अस्ति श्रवणम्॥५॥

अश्रुतत्वाद् इति चेद् न इष्टादिकारिणां प्रतीतेः॥६॥

स्थितम् एतज्जीवः सम्परिष्वक्तो रंहति इति. तत्र विचार्यते : सर्वे जीवाः सम्परिष्वक्ताः गच्छन्ति आहोस्वित् ज्ञानोपयोगिनः ? इति विमर्शः. तत्र पञ्चाहुतिब्राह्मणे न अधिकारिणः श्रुताः. वेदे हि श्रुतानुसारिकल्पना. अतो विशेषस्य अश्रुतत्वात् सर्वेषामेव पञ्चाहुतिप्रकारः इति चेद्, न, इष्टादिकारिणां प्रतीतेः. साधारणपक्षं दूषयति. कुतः ? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः. इष्टादिकारिणः प्रतीयन्ते 'श्रद्धा'पदेन देवकर्तृत्वेन च. सोमभावसाम्याच्च*. इष्टादिकारिणां धूममार्गव्युत्पादने सोमभावः उक्तः. अत्रापि प्रथमाहुतिफलं सोमभावः उच्यते. अतः श्रुतिसाम्यादपि इष्टादिकारिणो रंहन्ति इति सिद्धम्॥६॥

भाक्तं व अनात्मवित्वात् तथाहि दर्शयति॥७॥

किञ्चिद् दूषणं परिहरति. ननु यदि श्रुतिसाम्येन सोमभावाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

न अधिकारिणः श्रुताः पञ्चाहुतिप्रकारेण ज्ञानाधिकारिणो विशेषेण न श्रुता इति अर्थः. 'श्रद्धा'पदेन कर्मणि श्रद्धाप्रतिपादकपदेन, तेन निष्कामकर्तारो लभ्यन्ते. अतएव तादृशानाम् उपकारार्थम् अग्रे होमे देवकर्तृत्वं सोमभावोऽपि तादृशमेव सर्वेषाम् इति अर्थः. अत्रापि ज्योतिरादिमार्गेऽपि॥६॥

तद्दूषणम् आशङ्कामुखेन उद्घाटयन्ति ननु इत्यादिना. तत् सोमरूपम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

स्थितम् इति. निर्णीतम् इति अर्थः. निर्णीतेऽपि विशेषांशे संशये विचारं कुर्वन्ति तत्र इति. न अधिकारिणः इति. न श्रुताः इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहु इष्टेति. यज्ञादिकारिणः इति अर्थः. अत्र हेतुत्रयम् आहुः श्रद्धापदेन इति. “यो वै श्रद्धाम् अनारभ्य यज्ञेन यजते”(.....) इति तैत्तिरीये प्रथमाष्टके प्रतीयन्ते इति अर्थः ॥६॥

दूषणम् आहुः ननु इति. तेषाम् इति. इष्टादिकारिणाम् इति अर्थः.

* 'साम्यत्वाच्च' इति पुरु.पाठः.

इष्टादिकारिणो रंहन्ति इति उच्यते, तदा सोमभावे तेषाम् अनिष्टं श्रूयते, “तद्देवानाम् अन्नं. तं देवा भक्षयन्ति” (छान्दो.उप.५।१०।४) इति. समान-श्रुतौ च “आप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवम् एनांस्तत्र भक्षयन्ति” (बृहदा.उप.६।२।१६) इति चन्द्रदृष्टान्तेन ते च भक्षयन्ते, ततश्च देवाः स्वान्नं पर्जन्ये अग्नौ कथं जुहुवुः? अतः पञ्चाहुत्यभावः इति आशङ्क्य, परिहरति ‘वा’शब्दः. तेषां सोमभावो गौणः. भक्षणं च. प्रकृतेऽपि अङ्गारत्वात् चन्द्रमसः कथम् आहुतिफलं भवेत्? सोमभावस्य भाक्तत्वम् अग्रे निरूपयिष्यामः. इदानीं भक्षणस्य गौणत्वं निरूपयति. अन्नभावे हि मुख्यं भक्षणं भवति. तद् अन्यस्य ‘अन्नभावो न उपपद्यते. ब्रह्मज्ञानेतु भवति. “स सर्वं भवति” (बृहदा. उप.३।४।१०) “तद्वै तत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे ‘अहं मनुरभवं सूर्यश्च’ ” (बृहदा. उप.१।४।१०) इति. प्रकृतेतु तद् न, अनात्मवित्वात्. तथा सति मोक्षएव भवेत्. अतो भक्षणमपि गौणम्. तथाहि. श्रुतिरेव गौणभावं शब्दस्य बोधयति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतान् चन्द्रभावापन्नान्. परिहरति उक्तं दूषणं परिहरति इति अर्थः. प्रकृतेऽपि चन्द्रमसोऽपि. तथाच अङ्गारत्वात् चन्द्रमसोऽपि भक्षणं गौणं किं पुनः तद्भावापन्नानां? कथम् इत्यादि. सोमभावापन्नानां यष्टणां देवैः भक्षणे कृते कथम् आहुतिफलं भवेद्? इति अर्थः. सोमभावस्य यष्टणां सोमभावस्य. भाक्तत्वं गौणत्वम्. अन्यस्य अब्रह्मविदः. अन्यभावः अन्यस्य वस्तुनः स्वस्वरूपतया अनुभवः. तथाच चन्द्रस्य अन्नरूपता अनुपपन्ना इति अर्थः. प्रकृतेतु चन्द्रभावेतु. तथा सति आत्मवित्वे सति.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

दूषणपरिहारम् आहुः तेषाम् इति. कथं गौणत्वम् अतः आहुः प्रकृतेति. कथम् इति. यस्य भक्षणं सः आहुतिफलं कथं भवेद्? इति अर्थः. गौणत्वं कथम्? इत्यतः आहुः सोमभावस्य इति. तदन्यस्य इति. ब्रह्मज्ञानिनो अन्यस्य इति अर्थः. भवति अन्नभावो भवति. कुतः इत्यतः आहुः सः सर्वम् इति. अत्र प्रमाणम् आहुः तद्धैतद् इति. कुतः अनात्मवित्त्वम्? अतः आहुः तथा सति इति. सौत्रं ‘तथाहि’पदं व्याकुर्वन्ति तथाहि इति. “यावत्सम्पातम् उषित्वा” इति श्रुतिः. अत्र श्रौतं दृष्टान्तम् आहुः अथ इति. पशुशब्दः इति. पशुतुल्यत्वबोधको गौणः इति शेषः. भक्षणम् इति. यथा “स्त्रियं भुङ्क्ते” इत्यत्र यथा भोगो, नतु चर्वणम् एवम् अत्रापि. उपचारे प्रयोजनम् आहुः

“अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते” (बृहदा.उप.१।४।१०) इत्यत्र यथा ‘पशु’शब्दः एवम् अत्रापि भक्षणं सहक्रीडनं सेवकभावः. चन्द्रतुल्यापदेशाय तथावचनम्. तथा सति तेषाम् अमरत्वेन तथा श्रुतिः^१ चन्द्रस्य भक्षणन्तु क्षयाद् अनुमीयते श्रुत्या, “प्रथमां पिबते वह्निः” (.....) इत्यादिरूपया. देवानाम् अभक्षणं भगवदवयवानामेव. अशनानशने तस्याविरुद्धे.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

गौणत्वं शब्दस्य उपपादयन्ति अथ इत्यादिना. “योऽन्यां देवताम् उपास्ते स पशुः” (बृहदा.उप.१।४।१०) इत्यत्र ‘पशु’शब्दस्य तत्सदृशो अर्थः तथा ‘अन्नभोजन’-शब्दावपि सदृशार्थो द्रष्टव्यौ. सहक्रीडनं स्त्रीभोगादिवाक्येषु ‘भोग’शब्दस्य क्रीडार्थत्वं नतु चर्वणघटितभोगार्थत्वं तथा प्रकृतेऽपि चन्द्रतुल्यार्थकत्वमेव ग्राह्यम्. तेषां यष्टाणाम्. तथास्तुतिः चन्द्रत्वेन तेषां स्तुतिः. भक्षणं मुख्यं भक्षणं श्रुतिसिद्धम्. ननु “न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति” (छान्दो.उप.३।६।१) इति श्रुत्या विरोधाद् देवानां चन्द्रकला-भक्षणादिरूपं पानमपि गौणमेव भविष्यति इत्यतः आहुः देवानाम् अभक्षणम् इत्यादि. तथाच देवानां यज्ञादिभागभोक्तृत्वस्य सिद्धत्वाद् भौतिकभोक्तृत्वं सिद्धमेव, अभोक्तृत्वन्तु भगवद्रूपपदार्थानामेव इति व्याख्येयम्. तस्य भगवतः अशनं तदभावश्च उभयमपि अविरुद्धं जीवसाक्षिरूपाभ्यां तस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वेन सर्वसम्भवाद्. भक्षणस्य गौणत्वात् सोमभावापन्नयष्टाणां भक्षणस्य गौणत्वाद् देवैः सह रमणरूपत्वाद् इति अर्थः. एतेन वैराग्ययोग्यदेहनिष्पत्तिः इति उभयं साधितम्. केवलवैराग्यार्थत्वे मुख्यभक्षणेऽपि तत्सम्भवाद् गौणत्वप्रतिपादनवैफल्यापत्तेः इति भावः॥७॥१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

चन्द्रेति. तथावचनं गौणत्ववचनम्. तथा सति इति. यथा “अग्निर्माणवकः” इति अयथास्तुतिः एवं चन्द्रः पुनः-पुनः क्षीयते वर्धते एवम् एतेऽपि जीवाः इष्टादिकारिणः आवर्तमानाः अमरतां प्राप्नुवन्ति इति एतदर्थं गौणत्ववचनम् इति अर्थः. अन्यत्र चन्द्रस्य भक्षणं सिद्धम्. गौणस्य चेद् अस्य गौणत्वं वक्तव्यम् इत्यतः आहुः चन्द्रस्य इति. रूपया इति. सोमोत्पत्तिपरिशिष्टया श्रुत्या ज्ञायते इति अर्थः. देवानाम् इति. भगवदवयवीभूतानाम् आधिदैविकानाम् इति अर्थः. कुतः इत्यतः आहुः तस्य इति. ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् इति भावः. अशनमेव इति. कर्मसचिवानां देवताविग्रहाधिकरणन्यायेन विग्रहसिद्धिः. ततश्च हविर्भोक्तृत्वं सिद्धमेव इति अर्थः. न

१. ‘अन्यभावः’ इति रश्मिपाठः इति प्रतिभाति.. २. ‘स्तुतिः’ इति पुरु.पाठः.

आधिभौतिकानां देवानाम् अशनमेव. तस्माद् भक्षणस्य गौणत्वात् सोमभावे न काचित् चिन्ता॥७॥१॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे प्रथमं रंहत्यधिकरणम्॥१॥

कृतात्यये अनुशयवान्

दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतम् अनेवं च॥८॥(३।१।२)

प्रथमाहुतिः सफला विचारिता. द्वितीयां विचारयितुम् अधिकरणारम्भः. सोमस्य पर्जन्यहोमे वृष्टित्वम् इति. सोमाद् वृष्टिभावे रूपरसादीनां हीनतया प्रतीयमानत्वाद् यागस्य अवान्तरफलं तत्र भुङ्क्ते इति निश्चितम्. तत्र संशयः किं सर्वमेव अवान्तरफलं तत्र भुङ्क्ते आहोस्विद् अनुशयवान् वृष्टिः भवति ? इति.

सद्वासनया अग्रिमजन्मनि सदाचारयुक्तएव स्याद् इति. “आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः” (वसि.स्मृ.६।३) इतिबाधोपलब्धेः. अतो विचारः उचितः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सफला सोमभावसम्पादकत्वात् सफला इति अर्थः. **द्वितीयां** पर्जन्याहुतिं, **पर्जन्यहोमे** देवैः कृते पर्जन्यहोमे इति अर्थः. **तत्र संशयः** भोगे संशयः. **अनुशयवान्.** अनु पश्चात् शेते कर्मफलभोगानन्तरं कर्मफलशेषे तिष्ठति इति **अनुशयवान्** भवति इति शेषः. पूर्वविचारस्य प्रयोजनं निरूपयन्ति **वृष्टिः** इत्यादिना. **सदाचारेति.** तथाच पूर्वोक्तरीत्या वृष्ट्यादिद्वारा चेद् जन्म न भवेत् तदानीञ्च योनौ दुःकर्मचारी वा भवेद् इति ज्ञानोपयोगिदेहाय तद्विचारः आवश्यकः इति भावः. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इत्यादिना. तथाच सकामानां कर्मिणां धूममार्गीयाणाम् इदमेव चन्द्रभावरूपं मुख्यं फलं **गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्**

काचित् चिन्ता इति. इष्टाधिकारिणां सोमभावः. तदेषाम् अन्नं भवति इति चिन्ता नास्ति इति अर्थः ॥७॥१॥

द्वितीयाहुतिविचारं कर्तुं कृतात्ययाधिकरणम् आहुः **कृतात्ययेऽनुशयवान्** **दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च.** विचारमेव आहुः **सोमस्य** इति. **अवान्तरफलम्** इति. भोग्ये हीनत्वाद् इति भावः. **तत्र भोगे.** **अनुशयवान्** इति. अनु पश्चात् शेते कर्मभोगानन्तरे तिष्ठति यः शेषः सो अनुशयः तद्वान्. एतद्विचारस्य प्रयोजनम् आहुः **वृष्टिः** इति. किञ्चित् पुण्यशेषत्वे आचारवान् भवति इति भावः. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. **बाधाद्** इति. सकामानां भोगोत्तरम् आवृत्तिः, निष्कामानां वृष्टिभावः भोगः. पूर्वस्य मुख्यं फलम्, अपरस्य अवान्तरं फलम्. तत्र “यावत्सम्पातम् उषित्वा” इति

तत्र अवान्तरफलस्य अवशेषे अवान्तरफलत्वबाधाद् ज्ञानौपयिक-
शरीरभावादेव सदाचारसिद्धेः प्रयोजनाभावाच्च निरनुशयएव द्रष्टिभावं प्राप्नोति
इत्येवं प्राप्ते, उच्यते. **कृतात्यये अनुशयवान्**, कृतस्य सोमभावस्य अत्यये नाशे
सति अनुशयवान्. अवान्तरफलसाधकलेशसहितएव वृष्टिभावं प्राप्नोति. कुतः ?
दृष्ट-स्मृतिभ्याम्. दृष्टं तावद् भोगसाधकमूलद्रव्यनाशेऽपि भोगसाधकतादृश-
देहवस्त्रादिसहितएव तस्मात् स्थानाद् अपगच्छति. अन्यथा सद्यएव देहपातः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

निष्कामकर्मकर्तृणान्तु इदम् अवान्तरं फलं ज्ञानोपयोगि-देहप्राप्तिफलकं तत्र
अवान्तरफलभोगानन्तरं योग्यदेहप्राप्तिः तत्र अवान्तरफलशेषसामग्रीसत्वाङ्गीकारे
भुज्यमानस्य अवान्तरफलत्वमेव न स्यात् तस्य तदेकदेशत्वात् तस्माद् वृष्ट्यग्न्याहुति-
दशायामपि अवान्तरफलभोगएव नतु अनुशयः इति अर्थः. ननु *पूर्वजन्मशेषसामग्र्यभावे
अग्रे सदाचारो न सिध्येद् अतः आहुः **ज्ञानोपायिकेत्यादि**. तथाच देवकृताहुतिक्रमेण
शरीरलाभात् सदाचारादिसिद्धिः इति भावः. **निरनुशयएव** अशेषावान्तरफलएव.
कृतात्यये सोमभावात्यये. अनुशयश्च अत्र अवान्तरफलसामग्रीशेषो बोध्यः. **भोग-
साधकेत्यादि**. द्युलोके चन्द्रभावेन यो भोगः तत्साधकं मूलद्रव्यं पूर्वतनं
स्वदेवताकृताहुतिलक्षणं कर्म **तन्नाशेऽपि** मुख्यफलभोगेन मुख्यकर्मनाशेऽपि. **तादृशः**
भोगानुकूलः. **तस्मात्** चन्द्रलोकात्मकात्. **अपगच्छति** योग्यदेहानुकूलगर्भवासाय

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

श्रुतिप्रामाण्यात् ‘सम्पात’शब्देन कर्मबोधनात् कर्मफलभोगपर्यन्तं तत्र स्थितिः
अपेक्षिता. तत्र यदि सशेषस्य वृष्टिभावे सम्पूर्णफलभोगाभावाद्यवान्तरफलत्वं तत्र न
स्याद् इति अर्थः. ननु जन्मान्तरे सदाचारसिद्धयै शेषो अपेक्षितः इत्यतः आहुः
ज्ञानौपयिकेति. “घटेन जलम् आहर” इत्यत्र यथा छिद्रेतरघटलाभः, एवम्
अनाचारेतरशरीरलाभः इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः **उच्यते** इति. सूत्रं व्याकुर्वन्ति
कृतस्य इति. प्रथमं देवकृतस्य इति अर्थः. **भावस्य** सोमभावस्य इति अर्थः. न कृतस्य
कर्मणः इति अर्थः इति वाच्यं, तस्य सम्पूर्णफलभोगान्तरमेव नाशात्.
‘अनुशय’शब्दार्थम् आहुः **लेशः** इति. कर्मजन्यसामग्रीलेशः इति अर्थः. सौत्रं हेतुं
विशदयन्ति **कुतः** इति. पूर्वजन्मार्जितकर्मणा भोगसाधनं देहद्रव्यवस्त्वादिकम् अस्मिन्
जन्मनि जायते. तत्र द्रव्यनाशस्य कर्मनाश-जन्यत्वं न वक्तव्यम् इति भावः. **अन्यथा**
इति. लेशस्यापि पूर्वकर्मनाशजन्यत्वे स्वीक्रियमाणे सति इति अर्थः. **सद्यएव** इति.

स्यात्. अतो यथा लोके सानुशयः, तथा अत्रापि. स्मृतिश्च “यद्यत्र नः स्वर्ग्यसुखावशेषितं स्विष्टस्य दत्तस्य कृतस्य शोभनं, तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद् वर्षे हरिर्यद् भजतां शं तनोति” (भाग.पुरा.५।२०।२८) इति देवगाथा. अतो ज्ञानौपयिकजन्मः सानुशयवतएव भवति. अन्यथा पूर्वजन्मस्मृत्यभावे विषयासक्तिः प्रसज्येत.

ननु अनुशयसहकृतएव जीवो न अदिभः परिष्वक्तो भवेद्, अत आह यथा इतम्. यथागतम्. अन्यथा प्रश्ननिरूपणयोः बाधः स्यात्. तर्हि तावद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अवतरति. अन्यथा पूर्वकर्मणो ह्यलोकभोगेन समाप्त्या कर्मशेषसामग्र्यभावे. सद्यएव इति “प्रारब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः” (.....) इति वचनात् सद्यएव देहपातः स्याद् ननु भोगसामग्रीसहितः उत्तरेद् इति अर्थः. सानुशयः प्रारब्धशेषसहितः तथा अयमपि इति अर्थः. ननु तथापि कर्मशेषएव अस्तु ननु तज्जन्यसामग्रीशेषः इत्यतः आहुः स्मृतिः इत्यादि. तथाच अत्र स्मृतौ कृतस्य शोभनं कर्मजन्यसामग्रीरूपम् अवशेषितम् इति उक्तं ननु कृतम् अवशेषितम् इति उक्तम् अतः सामग्रेव अवशिष्टा इति अर्थः. अन्यथा पूर्वजन्मकर्मजनितसामग्रीशेषानङ्गीकारे. ननु पूर्वकर्मजसामग्रीशेषरूपानुशयबलादेव तस्य सदाचारस्मृत्याद्युपपत्तेः संस्कृतादिभः परिष्वङ्गो न अङ्गीकार्यः इत्यतः आहुः ननु इत्यादि. यथा इतम् इति. यथा इतं यथा अदिभः परिष्वक्तेन इतो गतं तथैव अदिभः परिष्वक्तस्य आगमनमपि अत्र बोध्यम् इति अर्थः. अन्यथा अदिभः परिष्वक्तस्य आगमनानङ्गीकारे बाधः स्याद् इति. तथाच प्रश्नोत्तरयोः अदिभः परिष्वक्तस्यैव गमनागमने प्रतीयेते तयोः बाधः स्यात् परिष्वक्तानागमने इति अर्थः. इत्थञ्च धूममार्गीयगमनागमनातिरिक्तरित्यङ्गीकारे विरोधः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

“प्रारब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकम्” (.....) इति वचनाद् इति अर्थः. ननु कर्मशेषएव अनुशयो, ननु सामग्रीशेषः इत्यतः आहुः स्मृतीति. ननु “कदाचित् सुकृतं कर्म कूटस्थमिव तिष्ठति, मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद् विमुच्यते” (.....) इति वचनात् कर्माऽपि अनुशयपदार्थः प्रतिभाति इत्यतः आहुः अन्यथा इति. कर्मजन्य-भोगजनकसामग्रीलेशस्य अनुशयपदार्थत्वाभावे इति अर्थः. सूत्रांशम् अवतारयन्ति ननु इति. सोमभावस्य नाशे जाते सति अपामपि साजात्याद् नाशः इति भावः. यथेतम् इत्यस्य अर्थम् आहुः यथागतम् इति. पूर्वं यथा

अवान्तरफलसाधकसहितः स्याद्, अत आह **अनेवं च**. एवम्प्रकारयुक्तागमनं नास्ति, भोगस्य जातत्वात्. ‘**च**’काराद् वैराग्यसहितोऽपि. तस्माद् अनुशयवान् भिन्नप्रकाराद्भिः परिष्वक्तो देवकृपासहितो वृष्टिः भवति इति॥८॥

चरणाद् इति चेद् न उपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः॥९॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु न अत्र उत्तमजन्मार्थम् अनुशयो अपेक्ष्यते, चरणादेव भविष्यति, “**तद् य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत् ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन्**” (छान्दो.उप.५।१०।७) इत्यादिना यः पूर्वजन्मनि विहिताचारं करोति सः उत्तमं जन्म प्राप्नोति. यस्तु निषिद्धाचरणं करोति सः श्वादियोनिं प्राप्नोति इति “**साधुकारी साधुः भवति**” (बृहदा.उप.६।४।५) इत्यादिश्रुत्या च प्रतिपाद्यते, प्रकृते तु तस्य रमणीयचरणस्य **चरणादेव** तस्य सम्यग् जन्म भविष्यति, किम् अनुशयसहभावेन? **इति चेद्, न**. चरणश्रुतौ या योनिः उक्ता, सा **उपलक्षणार्था**, अनेन पूर्वजन्मनि समीचीनं कृतम् इति ज्ञापिका, न तु

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्याद् इति अर्थः. **भिन्नप्रकाराद्भिः** तथाच *भोगसामग्रीकापां भोगसाधनत्वं स्थितम् आगमनकालीनानान्तु अपां वैराग्यसाधकत्वाद् भिन्नप्रकारकत्वम् इति अर्थः॥८॥

आशङ्क्य पूर्वपक्षं परिहरति समाधत्ते सूत्रकारः. **अत्र** योग्यदेहसाधनेषु. **चरणादेव** जन्मान्तरीयोत्तमाचारादेव. **भविष्यति** उत्तमं जन्म भविष्यति. “**अभ्याशो ह**” इति पदं क्षिप्रत्वार्थं, ‘**यत्**’पदं हेतुत्वार्थम्. **इत्यादिना** इति श्रुतिभ्याम्. **उपलक्षणार्था** काकादिज्ञाने तृणादीनामिव पूर्वजन्मसत्कर्मज्ञापिका इति अर्थः. अन्यथा कपूयचरणस्य कपूययोनिनियामकतायाम्. **अनुशयः** कार्ष्णाजिनिमते कर्मशेषरूपो

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भूतैः सम्परिष्वक्तः एवम् अत्रापि अद्भिः परिष्वक्तः इति अर्थः. **साधकसहितः** इति. साधककर्मसहितः इति अर्थः. **भिन्नप्रकाराद्भिः** इति. वैराग्यसाहित्यम् इदानीं, पूर्वन्तु भोगमात्रसाधकत्वम् अपाम् इति प्रकारभेदः इति अर्थः॥८॥

चरणादेव पूर्वजन्मकृताचारादि-सत्कर्माचरणादेव. तत्र श्रुतिप्रमाणम् आहुः **तद्य इह** इति. **अभ्याशो ह** इति. शीघ्रम् इति अर्थः. **यद्** यस्मात् कारणात्. समाधानांशं व्याकुर्वन्ति **न** इति. **उपलक्षणार्था** इति. “**काकवन्तो देवदत्तगृहा**” इत्यत्र यथा उपलक्षकत्वे काकवत्त्वम् उपलक्ष्यते तथा उत्तमजन्मना पूर्वजन्मनि रमणीयाचरणम् अस्य *.**‘गमनसामयिकापाम्’** इति जापुस्तके.

तस्मिन् जन्मनि समीचीनकरणे नियामिका, अन्यथा ब्राह्मणानां निषिद्धकरणं न स्यात्. तस्माद् अनुशयो अपेक्ष्यते ज्ञानोपयोगार्थम् इति कार्ष्णाजिनिः आचार्यो मन्यते. **कार्ष्णाजिनिग्रहणं पञ्चाग्निविद्याया भिन्नप्रकारज्ञापनार्थम्.** तस्माद् अस्य स्वमते भिन्नत्वाद् न शङ्का, न च उत्तरम्. नहि पञ्चाग्निविद्यायां पुरुषाद् अन्यभावः सम्भवति. प्रकरणपरिगृहीता श्रुतिः न अन्यत्र न्यायसम्पादिका ॥९॥

आनर्थक्यम् इति चेद् न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

ननु एवं सति चरणश्रुतिः अनर्थिका, ज्ञापनायां प्रयोजनाभावाद्, अतो विधायकत्वं श्रुतेः, इष्टानिष्टफलबोधकश्रुतिवद्, अतः कर्मतारतम्येन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अनुशयः एतन्मते अस्वरसः ‘**पञ्चाग्नी**’त्यादिना **भिन्नप्रकारेति.** तथाच कर्मशेषातिरिक्त-फलशेषसामग्रीरूपो वैराग्यजनको दृष्टसामग्रीरूपः प्रश्ननिरूपणाभ्यां पुरुषरूपस्य लभ्यते इति अर्थः. **न शङ्का** दृष्टसामग्रीलाभेन न अदृष्टरूपानुशयशङ्का. अतएव **न उत्तरं, पुरुषाद् अन्यभावः** अदृष्टप्रकारेण ज्ञानोपयोगिदेहसिद्धिरूपः. **प्रकरणेत्यादि.** दृष्टप्रकारेण पुरुषदेहबोधकप्रकरणस्था पञ्चाग्निश्रुतिः. **अन्यत्र** अदृष्टप्रकारेण देहसम्पादकन्यायसम्पादिका न इति अर्थः ॥९॥

विधायकत्वं ज्ञानोपयोगिदेहप्राप्तिकामो निष्कामो रमणीयाचरणं कुर्याद् इतिरीत्या श्रुतेः विधायकत्वं कल्पनीयम् इति अर्थः. **इष्टानिष्टेत्यादि.** “**पुण्यः पुण्येन**

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति श्रुत्या ज्ञाप्यते इति अर्थः. एतदेव आहुः **अनेन** इति. **तस्माद् अनुशयेति.** **अनुशयः** कर्मशेषः. कार्ष्णाजिनिमते आचारादिना सत्कर्मणा च ब्रह्मजन्म, नतु ब्रह्मज्ञानं, तत्तु पूर्वजन्मकृतयागाद्यनुष्ठानेन पञ्चाग्निविद्यायां पुरुषभावः. सच कर्मशेषरूपानुशयाद् भवति इति भिन्नः प्रकारः इति अर्थः.

स्वमतम् आहुः **तस्माद्** इति. कार्ष्णाजिनिमतीयानुशयात्. **अस्य** भोगसाधक-सामग्रीशेषरूपफलशेषस्य अनुशयस्य. **न शङ्का** इति. अनुशयस्य कर्मशेषरूपत्वे कर्म-रूपाचरणाद् रमणीयाम् इत्यादिशङ्का उत्तरं च सङ्गच्छते. फलशेषरूपत्वे शङ्कोत्तराभावः इति अर्थः. इदमेव विशदयन्ति **न हि** इति. **प्रकरणपरिगृहीता** इति. प्रश्नोत्तरादि-प्रकरणपरिगृहीता इति अर्थः. **अन्यत्र** रमणीययोनिसाधककर्मन्तरस्थले ॥९॥

सौत्रं पूर्वपक्षांशं विशदयन्ति **ननु** इति. **एवं सति** अनुशयस्य सहभावे स्वीक्रियमाणे सति. **ज्ञापनायां** पूर्वपुण्यज्ञापनायाम्. **अतः** अतः कारणात्. **श्रुतेः**

फलविधानाद् निष्कामकर्मकर्तुः ज्ञानोपयोगिदेहविधानं भविष्यतीति अनुशय-
सहभावो व्यर्थः इति चेद्, न, तदपेक्षत्वात्. धूमादिमार्गस्य तस्याः श्रुतेः
अपेक्षत्वात्. काम्येष्टादिकारिणः फलभोगानन्तरम् उत्पत्तौ “सुखानन्तरं
दुःखम्” इतिन्यायेन पापस्यैव उपस्थितत्वाद् असमीचीनशरीरप्राप्तिः मा भवतु
इति रमणीय अनुष्ठातॄणां रमणीयशरीरप्राप्तिरेव बोध्यते, न न्यायेन असमीचीन-
शरीरम् इति. तस्माद् अन्यनिषेधार्थं सार्थकत्वाद् न अनुशयप्रतिषेधिका.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कर्मणा भवति पापः पापेन” (बृहदा.उप.४।४।५) इति श्रुतिवद् इति अर्थः.
अनुशयसहभावः फलभोगशेष-सामग्रीरूपानुशय-सहभावः. तदपेक्षत्वात्, तस्याः
श्रुतेः रमणीयचरणश्रुतेः अपेक्षत्वाद् अवश्यापेक्षत्वाद् इति अर्थः. धूमादिमार्गे चरणश्रुतेः
आवश्यकतां बोधयन्ति काम्येत्यादिना. सुखानन्तरं पुण्यफल-भोगानन्तरम्.
असमीचीन-शरीरप्राप्तिः धूममार्गेण असमीचीन-शरीरप्राप्तिः धूममार्गीयानेव
उद्दिश्यते इति श्रुतिप्रवृत्तेः तेषामेव चरणश्रुति-सापेक्षत्वाद् इति अर्थः. “पञ्चम्याम्
आहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” (छान्दो.उप.५।३।३) इति उक्तेः धूममार्गस्य
समाप्तत्वेन पञ्चाग्निविद्यायां चरणश्रुतेः अपेक्षाभावाद्, अन्यनिषेधार्थं धूममार्गीणां
निषिद्धयोनि-निरासार्थम्. न अनुशय-प्रतिबन्धिका पञ्चाग्नि-विद्यावतां ज्ञानिदेह-
प्राप्त्यर्थो अनुशयः उक्तसामग्रीरूपः तस्य प्रतिबन्धिका चरणश्रुतिः न इति अर्थः.
सकाम-निष्काम-मार्गद्वयेऽपि अनुशयावश्यकतां चरणश्रुतेः उपलक्षणार्थत्वञ्च

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

चरणश्रुतेः विधायकत्वम् एतज्जन्मविधायकत्वं स्वीकर्तव्यम् इति पूर्वेण अन्वयः. अत्र
दृष्टान्तम् आहुः इष्टेति. “प्रतितिष्ठन्ती ह वा एतात्रीरूपयन्ति” (.....)
इत्यत्र प्रतिष्ठाबोधनेन “रात्रिसत्रं कुर्याद्” (.....) इत्यादौ इष्टं,
“केवलाघो भवति भवति केवलादी” (.....) इत्यत्र अघबोधनेन
“केवलादनं न कुर्याद्” इत्यादौ अनिष्टं बोध्यते इति तद्वद् इति अर्थः. सौत्रं सिद्धान्तं
विशदयन्ति न इति. कथं धूमादिमार्गे अपेक्षा? इत्यतः आहुः काम्येष्ट्यादीति.
उपसंहरन्ति तस्माद् इति. तस्मात् कारणाद् इति अर्थः. अन्यनिषेधार्थं काम्येष्ट्यादि-
कारिणाम् असमीचीनशरीरव्यावृत्त्यर्थम्. न अनुशयः इति. निष्कामकर्मकर्तॄणां
फलसामग्रीरूपशेषरूपानुशयस्य न प्रतिषेधिका इति अर्थः. तथाच धूममार्गम् उपक्रम्य
चरणश्रुतेः पठितत्वात् तत्रैव तदपेक्षा, नतु पञ्चाग्निविद्यायाम् इति भावः.

किञ्च, रमणीययोनिः किम् आकस्मिकी सकारणा वा? न आद्या वेदवादिनां, द्वितीये तु “स्वकर्मणा पितृलोकः” (बृहदा.उप.३।५।१६) इति वस्वादित्यरूपता च वक्तव्या. “प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः” (भाग.पुरा.३।३२।२०) इति च. “त्रैविद्या मां सोमपाः” (भग.गीता ९।२०) इत्यादिना इन्द्रलोकभोगानन्तरं तथैव पुनर्भवनं च वक्तव्यम्. नच सर्वेषाम् ऐक्यम्, भिन्नरूपत्वात्. तस्मात् कर्मकर्तृवैचित्र्येण श्रुतिस्मृतिभेदाः समर्थयितव्याः, नतु एकम् अपरत्र निविशते, उपरोधप्रसङ्गात्. तथाच प्रकृतेऽपि अनुशयाभावे भक्षण-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

साधयन्ति किञ्च इत्यादिना. न आद्या वेदबाह्यमतत्वाद् न आद्या इति अर्थः. द्वितीये रमणीययोनेः सकारणत्वाङ्गीकारे. स्वकर्मणा स्वकर्तृककर्मणा स्वोद्देश्यक-पुत्रादिकृतकर्मणा वा. पितृलोकः कर्मजन्यानुशयद्वारा पितृलोकः. एवम् अग्रेऽपि कर्मजन्यानुशयद्वारैव तत्तत्फलावाप्तिः बोध्या. प्रजाम् इत्यादि कर्मजन्यानुशयद्वारा पौत्रादिभावं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. तथैव वृष्ट्यादिद्वारैव. सर्वेषां कर्तृ-कर्मफलानाम्. ऐक्यम् एकजातीयत्वम्. भिन्नरूपत्वात् तत्तज्जातीयानां त्रिकाणां विजातीयरूपत्वात्. एकम् एकजातीयं त्रिकम्. अपरत्र विजातीयत्रिके. उपरोधप्रसङ्गात् कस्य कारणस्य किं फलम् इति अनिर्णयापत्तेः. तथाच तत्तत्फलनियमार्थम् अवश्यम् अनुशयो वक्तव्यः. प्रकृतेऽपि चरणवाक्यस्थलीये धूममार्गेऽपि. भक्षण-भवनयोः धूममार्गवाक्ये वा

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पक्षान्तरम् आहुः किञ्च इति. वेदवादिनां वेदप्रामाण्याङ्गीकर्तॄणां, नतु बाह्यानाम् इति अर्थः. तथाच आकस्मिकी वक्तुं न शक्यते इति भावः. आवश्यकपक्षे विचारम् आहुः द्वितीयेतु इति. सकारणपक्षे. कारणीभूतकर्मणां फलभेदेन श्रुतिस्मृति-समर्थनम् आहुः स्वकर्मणा इति. वर्णाचारविहितकर्मणा इति अर्थः. तस्य फलद्वयम् आहुः पितृलोकः इति. सपिण्डीकरणान्त-क्रियाफलम् आहुः प्रजाम् इति. पुत्रे पुत्रोत्पत्तिरूपम् इति अर्थः. सकामेष्ट्यादिकारिणां गीतोक्तं फलम् आहुः त्रैविद्या इति. ऐक्यम् इति. फलैक्यम् इति अर्थः. तस्माद् इति. फलभेदकृतकर्मभेदस्य आवश्यकत्वाद् इति अर्थः. समर्थयितव्याः इति. “ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता” (भग.गीता १८।१८) इति गीतोक्तभेदैः इदं वाक्यम् एतादृश-कर्मपरम् एतादृश-कर्तृपरम् इति समर्थयितव्याः इति अर्थः. उपरोधेति. विरोधः इति अर्थः. प्रकृतेऽपि चरणवाक्येऽपि. अनुशये नियामकत्वेन स्वीकार्यः इति अर्थः. न स्याद् इति.

भवन्तयोः नियमो न स्यात्. ब्राह्मणादीनामपि अन्ने बलिहरणे श्व-चण्डालयोः भक्षणम्. ब्राह्मणभक्षणेऽपि मलभावे शूकरभक्षणम्. अनुशयस्य नियामकत्वे तुषादिषु अन्नभावएव यावत् समीचीनरेतोभावः. तस्माद् उपलक्षणतैव चरणश्रुतेः युक्ता. तस्माद् अनुशयसहितएव वृष्टिभावं प्राप्नोति इति सिद्धम्॥१०॥

सुकृत-दुष्कृते एवेति तु बादरिः॥११॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

नानान्नभक्षणस्य नानायोनिभवनस्य च उक्तत्वेन अनुशयाभावे तयोः नियमो न स्याद् इति अर्थः. ननु उत्तमचरणमेव उत्तमभवनभक्षणयोः नियामकं स्याद् अतः आहुः ब्राह्मणानाम् इत्यादि. तथाच वृष्टिद्वारा अन्ने प्रविष्टधूममार्गीयादिजीवानाम् उत्तमैः भक्षितान्नद्वारा उत्तमयोनौ रेतःसेकद्वारा उत्तमजन्मप्राप्तिः अनुशयसाध्यैव ननु उत्तमचरणश्रुत्यर्थज्ञानसाध्या. अनुशयस्य अनियामकत्वेतु ब्राह्मणान्नस्य श्व-श्वपाकादिभक्षितस्य मध्यएव तेषां जीवानां गमनं कुतो न स्याद्? अनुशयस्य नियामकत्वेतु किमपि भक्षजातीयम् अस्तु अनुशयादेव उत्तमोत्पत्तिः भविष्यति॥१०॥

इतःपरं भगवद्रूपकर्मात्मकस्य फलशेषसामग्रीरूपस्य कियत्कालम् अनुवृत्तिः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

चरणवाक्यात् पूर्वं धूमादिमार्गवाक्येन अन्नानां भक्षणस्य नानायोनीनां च नियमो न स्याद् इति अर्थः. नियामकत्वमेव विशदयन्ति ब्राह्मणादीनाम् इति. अन्ने इति. भक्षणयोग्ये अन्ने इति अर्थः. बलिहरणे कृते सति इति अर्थः. मलभावे इति. केवलमलभावएव, ननु रेतोभावः इति अर्थः. तथाच रमणीययोनि-चरणयोः कार्यकारणभावं स्वीकृतवतोऽपि अनुशयस्य नियामकत्वाभावे स्वीकृते भक्षितादपि अन्नात् समीचीनं रेतो न स्यात्. तदभावे समीचीनयोनिः न स्याद् इति अर्थः. ननु अन्नभावेऽपि तत्र तुषस्यापि सत्त्वात् ततो रेतोत्पत्तिः नास्ति इत्यतः आहुः अनुशयस्य इति. अन्नभावएव इति. तुषस्य गोप्रभृतिभिः भक्षणे कृते अनन्तरं दुग्धे जाते अद्यते इति अन्नम् इति व्युत्पत्त्या तत्रापि अन्नभावएव इति अर्थः. तस्माद् इति. धूमादिमार्गे नानाफलानाम् उक्तत्वाद् इति अर्थः. उपलक्षणतैव इति. अनुशयोपलक्षणतैव इति अर्थः. तथाच सर्वत्र अनुशयापेक्षा अस्ति इति भावः. उपसंहरन्ति तस्माद् इति ॥१०॥

कीदृशो अनुशयः? कियत्पर्यन्तं तिष्ठति? इति ज्ञापयितुम् आहुः सुकृतेति. आशयो द्विविधः कर्मानुशयः फलानुशयश्च. तत्र निष्कामकर्मकर्तुः मरणानन्तरं कर्मनिवृत्तौ पञ्चाग्निविद्यायां फलानुशयएव तिष्ठति सः निभृतं भगवत्स्मृतियुक्तं

फलांशएव अनुशयः इतितु स्वमतम्. कर्म फलञ्च द्वयमेव ईश्वरेच्छया नियतम्. कर्म पुनः भगवत्स्वरूपमेव ब्रह्मवादे. सोऽभिव्यक्तः फलपर्यन्तं तदादिसंयोगः इति स्वमतम्. अन्तसंयोगपक्षम् आह एकदेशित्वज्ञापनाय. **सुकृतदुष्कृते एव** विहितनिषिद्धकर्मणी अनुशय इति **बादरिः** आचार्यो मन्यते. तेन मोक्षपर्यन्तम् अनुशयो अनुवर्तिष्यते इति सूत्रफलम्. ‘तु’शब्देन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति विवेकार्थं सूत्रम् अवतारयन्ति **फलांशे** इत्यादिना. तथाच **फलं** भगवत्स्मृतियुक्तं जन्म तत्सम्पाद्य अनुशयो निवर्तते, अग्रे स्मृत्यादितो मोक्षः फलम्. **द्वयमेव “एष उ एव”** (कौषी.उप.३।८) इति श्रुत्या द्विविधमेव इति अर्थः. **सः** कर्मात्मको भगवान्, **अभिव्यक्तः** फलरूपेण आविर्भूतः. **तदादिसंयोगः** फलोत्पत्तिपर्यन्तम् आदिकालम् आरभ्य पुरुषे अनुशयसम्बन्धः उत्तरं तिरोधत्ते अनुशयः इति अर्थः. बादरायणाचार्यस्य मतन्तु फलान्तपर्यन्तम् अनुशयः तिष्ठति इति. अनुशयोऽपि एतन्मते कर्मशेषरूपएव नतु भाविफलशेषसामग्रीरूपः. सच न सर्वसम्मतइति एकदेशित्वोक्त्या अस्वरसः सूचितः. सूत्रार्थम् आहुः **सुकृतदुष्कृते** इति. अनारब्धफले **सुकृतदुष्कृते** ‘अनुशय’पदवाच्ये इति **बादरिसूत्रार्थः**. व्यासाभिप्रायस्तु यथाकथञ्चिद् अनुशयावश्यकता. **शब्देन “एष उ**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

जन्मोत्पाद्य निवर्तते. इदं च पञ्चमस्कन्धे देवगाथायां स्पष्टम्. तदनन्तरं भगवानेव सर्वं करोति इति गीतायां **“यत्करोषि”** (भग.गीता ९।२७) इत्यादिना उक्तम्. अयं फलानुशयः स्वमत इति सूचयितुम् आहुः **फलांशएव** इति. **स्वमतं** श्रीमदाचार्यचरणानां मतम्. बादरायणमते कर्मानुशयम् आहुः **कर्म फलं च** इति. नैयायिकमते क्रियारूपस्य कर्मणः चिरस्थायित्वं नास्ति इत्यतः आहुः **कर्म पुनः** इति. **ब्रह्मवादे** इति. द्वितीय-स्कन्धे ब्रह्मवाक्ये **“द्रव्यं कर्म च”** (भाग.पुरा.२।५।१४) इत्यादिना उक्तम्. अतः तस्य स्थायित्वम् आहुः **सः** इति. **सः** कर्मरूपो भगवान्. **फलपर्यन्तम्** इति. तिष्ठति इति शेषः. **तदादीति**. तस्य कर्मणः अभिव्यक्तिम् आरभ्य मोक्षोपयोगिजन्मरूपफल-सम्बन्धः इत्येवंरूपः कर्मानुशयः इति. **स्वस्य** बादरायणस्य मतम्. मोक्षपर्यन्तं कर्मानुशयः तिष्ठति इति एकदेशिबादरिमतम् आहुः **अन्तेति**. अन्तमोक्षपर्यन्तं संयोगः इति अर्थः. बादरिग्रहणम् एकदेशित्वज्ञापनाय. सूत्रार्थं विशदयन्ति **सुकृतेति**. **सूत्रफलम्** इति. सूत्रप्रयोजनम् इति अर्थः. सूत्रोक्त‘तु’शब्द-स्वारस्यम् आहुः **तुशब्देन** इति ॥११॥२॥

निरनुशयपक्षशङ्कैव नास्ति इति उक्तम्. एवं द्वितीयाहुतिः निर्धारिता॥११॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे द्वितीयम् अनुशयाधिकरणम्॥२॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्॥१२॥ (३।१।३)

तुल्यत्वेन विचारे ऐक्ये वा पञ्चाहुति-धूममार्गयोः सोमभावं गतस्य पुनरावृत्युपसंहारे उपलक्षणेनापि पापाचारवताम् उपसंहारदर्शनात् तेषामपि आहुतिसम्बन्धो धूममार्गश्च प्राप्नोति, तन्निराकरणार्थम् अधिकरणारम्भः.

ननु अनिष्टादिकारिणामपि सोमभावः श्रूयते इष्टादिकारिव्यतिरिक्तानां “ये वै के च अस्मात् लोकात् प्रयान्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति” (कौषी.उप.१।२) इति कौषीतकिनः समामनन्ति. अत्र च “कपूयां योनिम् आपद्यन्ते” (छान्दो.उप.७।१०।७) इति पर्यवसानम्. तेन सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्ति.

अयम् आशयः. कर्माकर्मविकर्मेति त्रिविधो कर्मविधायको वेदः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एव” इति शब्देन॥११॥२॥

पूर्वाधिकरणेन गतार्थतायाम् अधिकरणान्तरानर्थक्यमिति सार्थक्यं समर्थयन्ति तुल्यत्वेन इत्यादिना. तुल्यत्वेन पञ्चाग्निविद्यया धूममार्गेण च सोमभावं प्राप्तयोः तुल्यत्वेन. ऐक्येति, अभेदे वा एकजातीयत्वे इति अर्थः. उपसंहारे उपसंहरणबोधक-श्रुतौ. उपलक्षणेनापि “ये वै के” इति श्रुतौ ‘यत्-किं’शब्दयोः मृतमात्रपरत्वेनापि. तन्निराकरणार्थं कपूयचरणानां सोमभावनिराकरणार्थम्. “कपूयचरणाः कपूयां योनिम् आपद्यन्ते” (छान्दो.उप.५।१०।७) इति श्रुत्या निराकरणार्थम् इति अर्थः. पर्यवसानं सोमभावप्राप्त्युत्तरकालीनस्य कथनं पूर्वपक्षे अभिप्रेतम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पापाचारवतां विचारं कर्तुम् अनिष्टाधिकरणम् आहुः अनिष्टेति. अधिकरणारम्भप्रयोजनम् आहुः तुल्यत्वेन इति. पञ्चाग्निविद्यायां धूममार्गे च सोमभावस्य एकरीत्या विचारे कृते इति अर्थः. ऐक्ये वा इति. उभयत्र सोमभावस्य तौल्याद् उभयोः मार्गयोः ऐक्ये वा अङ्गीकृतः इति अर्थः. एवम् उक्त्वा प्रकृतम् आहुः पञ्चाहुतीति. तेषामपि इति. उपसंहारे कपूयचरणानाम् उक्तत्वात् पापिनामपि इति अर्थः. अस्य पूर्वपक्षसूत्रत्वं सूचयितुम् आहुः ननु इति. सर्वेषां चन्द्रगमनम् उक्तं, परन्तु सर्वेषाम् आहुतिसम्बन्धो अस्ति वा नास्ति? इति विचारं कर्तुम् आशयं प्रकटीकुर्वन्ति अयम् आशयः इति. कर्मेति. विधायको वेदः त्रिविधः इति अन्वयः. त्रयाणां क्रमेण

“अग्निहोत्रं जुहुयात्” (मैत्रा.उप.६।३६),

“यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम्” (कौषी.उप.२१।२७),

“न हिंस्याद् भूतजातानि” (भाग.पुरा.६।१८।४७).

ब्राह्मणादीनामपि त्रिविधकरणं सम्भवति. न हि सर्वोऽपि एकान्ततो विहितं वा प्रतिषिद्धं वा करोति. ततो विहितकर्तुरपि त्रयसम्भवाद् ज्ञानाभावेन फलभोगनैयत्यात् सोमभावानन्तरमेव अकर्मविकर्मभोगो वक्तव्यः. अतएव अविशेषोपसंहारौ तस्मात् सोमभावानन्तरमेव सर्वेषां जन्म इति प्राप्तम्॥१२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अग्निहोत्रम् इति कर्मविधिः. “यस्य वेदश्च वेदी च” (कौषी.उप.२१।२७) इति अकर्मबोधकम्. “न हिंस्याद्” (भाग.पुरा.६।१८।४७) इति विकर्मबोधकम्. तदपि निषेधमुखेनैव. एकान्ततः नियमेन, ततः नियमाभावे सति, ज्ञानाभावेन इति. ज्ञानसत्वेतु ज्ञानाग्निना कर्मफलनाशनाद् न भोगः सम्भवति इति अर्थः. सोमभावानन्तरं कर्मफलभोगानन्तरम्. उपसंहारौ “तद्य इह रमणीयचरणाः...तद्य इह कपूयचरणाः” (छान्दो.उप.५।१०।७) इति वाक्याभ्यां फलद्वयोपसंहारौ कृतौ॥१२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उदाहरणत्रयम् आहुः अग्निहोत्रम् इति. द्वितीयोदाहरणे यस्य इति पूर्वार्धम्. अनन्तरं “स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मबहिष्कृत” (कौषी.उप.२१।२७) इति. अस्यतु कर्माकरणनिन्दया तत्कर्मविधायकत्वम्. तृतीयस्यतु निषिद्धप्रागभाव-परिपालनद्वारा विधायकत्वमेव व्युत्पाद्य प्रकृतम् आहुः ब्राह्मणादीनाम् इति. त्रिविधेति. कर्म अग्निहोत्रादि, अकर्म अग्निहोत्राकरणं, विकर्म विरुद्धकरणं हिंसादिकम् इति अर्थः. कथं सम्भवति इत्यतः आहुः नहि इति. ततः इति. ततः तस्मात् कारणाद् इति अर्थः. तथाच येन विहितं क्रियते तेन निषिद्धमपि क्रियते इत्यपि क्वचित् सम्भवति इति भावः. एवं चेत् किं जातम् अतः आहुः ज्ञानाभावेति. विहितकर्मणो बलिष्ठत्वाद् आहुः सोमेति. वक्तव्यः इति. सच भूम्यामेव भविष्यति इति कपूयादियोनिः इति भावः. अत्र उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. “तद्य इह रमणीयचरणाः ... य इह कपूय चरणाः” (छान्दो.उप.५।१०।७) इत्यत्र ‘यः’ इति उभयोः अविशेषेण उपसंहारौ वेदे उक्तौ. उपसंहरन्ति तस्माद् इति. प्राप्तम् इत्यनेन इदं पूर्वपक्षसूत्रम् इति सूचितम् ॥१२॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषाम् आरोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. विहितव्यतिरिक्तकर्मणां (‘कर्तव्याम्’ इति पुरु.पाठः) संयमने यमसन्निधाने सुखं दुःखं वा अनुभूय आरोहावरोहौ. अनुभवार्थम् आरोहः, अनुभूय अवरोहः इति. कुतः? तद्गतिदर्शनात्. तेषां गतिः विसदृशी दृश्यते. वेदे हि प्रथमं विहिता द्वेधा गतिः, सकामा निष्कामा च इति. सकामा यथाकामम् अनन्तविधा. निष्कामा ज्ञानरहिता द्विविधा, वैदिक-गृह्य-स्मार्तभेदेन. तत्र गृह्य-स्मार्ते यमः. श्रौते सोमभावः. तत्र त्रेताग्निविधानेन “निष्कामानाम् अदम्भानां पुण्यः स्याद्” इति अधिकारिविशेषणाद् विशेषतः सामान्यतश्च प्रायश्चित्तविधानात्. “यदर्वाचीनम् एनो भूणहत्यायाः तस्मान् मुच्यते” (तैत्ति.आर.२।८) इति. “तरति ब्रह्महत्याम्” (तैत्ति.संहि.५।३।१२) इति च सर्वप्रायश्चित्तविधानात्. ब्रह्मानुभवाभावे सोमगतिरेव.

पूर्वजन्मधर्मस्य चित्तशुद्धौ उपयोगः. तदानीन्तनस्य गङ्गास्नानादेः श्रौताङ्गत्वम्. अतः पापस्य अभावात् पुण्यस्य उपक्षीणत्वात् तस्य पञ्चाग्नि-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पक्षं मृतमात्रस्य सोमभावरूपं पूर्वपक्षम्. अनुभवार्थं नानालोकीय-सुखानुभवार्थम्. अनुभूयः सुखत्वम् अनुभूयः इति अर्थः. तेषां विहितकर्मा-तिरिक्तकर्तृणाम्. विसदृशी सोमभावविरुद्धा. वैदिकेति वैदिकी एका, गृह्यस्मार्तीया द्वितीया इति भेदेन इति अर्थः. पूर्वजन्म चन्द्रभावपूर्वतनं जन्म. तथा च अर्धाधानिनां स्मार्तश्रौतोभयधर्मसत्त्वेऽपि अत्रत्यस्मार्तस्य धर्मस्य चित्तशुद्धिद्वारा श्रौतफले चन्द्रभावः उपयोगो नतु तस्य पृथक् फलम्. तदानीन्तनस्य चन्द्रभावपूर्वजन्मनि स्थितस्य.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पक्षं पूर्वपक्षम्. अनुभवार्थं पुण्यफलस्य इति शेषः. अवरोहः इति. तस्मात् स्थानाद् अवरोहः, नतु चन्द्रगतिः. तेषां विहितव्यतिरिक्तकर्तृणां कुत्र कथं दृश्यते इत्यतः आहुः वेदे हि इति. वैदिकेति. श्रौताग्निः इति अर्थः. आहिताग्नीनां गतिम् आहुः श्रौतेति. सोमगतौ हेतुम् आहुः तत्र इति. पुण्यः स्याद् इति. पुण्यलोकः स्याद् इति अर्थः. कदाचित् तस्य पापसत्त्वेतु आहुः विशेषतः इति. उभयत्र श्रुतिद्वयम् आहुः यद् अर्वाचीनेति. इदानीम् अर्वाचीनानां स्मार्तस्यापि सत्त्वाद् यमगतिः स्याद् इत्यतः आहुः पूर्वैति. ननु पञ्चाग्निविद्याप्रकारानन्तरं पापं चेत् कथम् इत्यतः आहुः

प्रकारएव. ज्ञानोपयोगिजन्मनि पापसंश्लेशाभावोपायम् अग्रे वक्ष्यति. पितृमेध-प्रथमाहुतिमन्त्रस्तु मन्त्रत्वात् चमसवद् न गतिनियामकः.

त्रेताग्निविद्यारहितानां पुण्यपापोपभोगो यमएव. “वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजन्ति ते जनाः, ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः” (तैत्ति.आर. ६।५) इति. यमगतेः पञ्चाग्निविद्यायाश्च एषा व्यवस्था. चित्तशुद्धिभावाभा-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रौताङ्गत्वं चन्द्रभावरूपफलाङ्गत्वम्. सिद्धम् आहुः अतः इत्यादिना. उपक्षीणत्वात् चन्द्रभावे उपक्षीणत्वात्. पञ्चाग्निप्रकारएव पञ्चाग्निविद्यायाम् उक्तं ज्ञानोपयोगि-देहप्राप्तिरूपं फलमेव इति अर्थः. अग्रे वक्ष्यति “तदधिगम उत्तरपूर्वाघ-योरश्लेष-विनाशौ” (ब्रह्मसू. ४।१।१३) इति सूत्रे वक्ष्यति इति अर्थः. तदधिगमे ज्ञानोपयोगि-देहोपगमे. ननु ब्रह्मज्ञानवताम् आहिताग्नीनां प्रथमाहुतिरूपानिसंस्कारे चन्द्रभावो ब्रह्मज्ञानां तेषाम् अग्निसंस्कारे यमलोकगतिः इति असङ्गतम् उभयोरपि पितृमेधक्रियायां “वैवस्वतं सङ्गमनम्” (.....) इति मन्त्रे यमलोकप्राप्तिश्रवणाद् इत्यतः आहुः पितृमेधः इत्यादि. प्रथमाहुतिः अग्निसंस्काररूपा. मन्त्रत्वात् सिद्धार्थ-बोधकत्वेनापि विधायकत्वात्. चमसवद् “अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः” (.....) इति अस्य यथा सिद्धार्थबोधकत्वेनापि विधायकत्वं तद्वद् इति अर्थः. तथाच त्रेताग्निरहितानामेव सा गतिः मन्त्रे त्रेताग्निबोधकाभावाद्. एतदेव उपपादयन्ति त्रेताग्निः इत्यादिना. एषा व्यवस्था उक्तपञ्चाग्निविद्यावतां श्रौतानां

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ज्ञानोपयोगेति. वक्ष्यति इति. तदधिगमः उत्तरपूर्वाघयोः अविश्लेष-विनाशौ इति अत्र वक्ष्यति इति अर्थः. ननु ज्ञानरहिताहिताग्नीनाम् और्ध्वदैहिके पितृमेधप्रथमाहुतौ “वैवस्वतं संयमनम्” (.....) इति मन्त्रे यमसम्बन्धस्य उक्तत्वात् कथं सोमगतिः? इत्यतः आहुः पितृमेधेति. चमसवद् इति. यथा ‘चमस’पदम् “अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः” (.....) इति सिद्धार्थबोधकं तथा अयं मन्त्रोऽपीति तस्य न गतिनियामकत्वम् इति अर्थः. केवलम् आहिताग्निविषयएव पक्षान्तरम् आहुः चित्तशुद्धीति. काण्डद्वयेऽपि यत्र अग्नि-यमभेदेन गतिः उक्ता तत्र यस्य आहिताग्नेः चित्तशुद्धिः नास्ति तस्य पूर्वकाण्डोक्ता यमगतिः यस्य अस्ति तस्य उत्तरकाण्डोक्तः पञ्चाग्निसम्बन्धः. अथवा, एकस्य काण्डस्य एतद्गतित्वं वक्तव्यं, यस्य चित्तशुद्धिः अस्ति तस्य पूर्वकाण्डोक्तः पञ्चाग्निसम्बन्धः, यस्य नास्ति तस्य

वाभ्यां वा अवश्यं काण्डद्वयव्यवस्था. एकस्य एतद् वक्तव्यम्. सकामनिःकाम-
भेदो वा. वेदान्तिनामपि पापार्थं यमापेक्षणात् सा गतिः वक्तव्यैव. तस्माद् न
सर्वेषां सोमगतिः॥१३॥

स्मरन्ति च॥१४॥

स्मरन्ति च व्यासादयः. “यमेन पृष्टः तत्राहं देवदेव जगत्पते, पूर्वं त्वम्
अशुभं भुङ्क्ष्व उताहो नृपते शुभम्”(भाग.पुरा.१०।६१। २२) इत्यादि.
‘च’काराद् लोकप्रसिद्धिः॥१४॥

अपि सप्त॥१५॥

‘च’इति अनुवर्तते. पापोपभोगार्थं यमालयगमनम् अङ्गीकर्तव्यम्. यतः
तत्र नरकाः सप्त सन्ति रौरवादयः. सप्तसंख्या संख्याभेदेषु अवरकक्षा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

चन्द्रभावः तदिभन्नानां यमलोकगतिः इतिव्यवस्था इति अर्थः. काण्डद्वयव्यवस्था
चित्तशुद्धिसत्त्वे पञ्चाग्निविद्यायाः उत्तरकाण्डफलम् अन्यथा पूर्वतनकर्मकाण्डफलं
यमलोकादिः इति अर्थः. एकस्य उत्तमाधमफलाधिकारिणोः एकस्मिन् फलं
व्यवस्थापकम् अवश्यं वक्तव्यम् इति अर्थः. ननु उत्तरकाण्डनिष्ठानां ज्ञानाधिकारिणां न
यमलोकार्थं व्यवस्था इत्यतः आहुः वेदान्तिनाम् इत्यादि. तथाच “न हि कश्चित्
क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृद्” (भग.गीता ३।५) इति वचनाद् ज्ञानानिष्पत्तौ तेषामपि
व्यवस्था आवश्यकी इति अर्थः॥१३॥

लोकप्रसिद्धिः शुभकर्मकारिणां यमलोकप्राप्तिः इतिलोकप्रसिद्धिः इति
अर्थः॥१४॥

सर्वथा इत्यादि. तथाच सर्वेषां नरकाणां भोगभावेऽपि अवरसंख्याविशिष्टस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वकाण्डोक्ता यमगतिः. एवम् उत्तरकाण्डेऽपि. अथवा, सकाम-निष्कामभेदेन वा
व्यवस्था वक्तव्या, नो चेद् गतिद्वयं सङ्कीर्णं स्याद् इति अर्थः. काण्डे ज्ञानप्राधान्यात्
किमर्थम् इदं वक्तव्यम्? अतः आहुः वेदान्तिनामपि इति. श्रवणमात्रेण सर्वस्य ज्ञानं
जायते इत्यत्र नियमाभावात्. पापसत्त्वे यमगतिः तवापि वक्तव्या इति अर्थः ॥१३॥

लोकप्रसिद्धिः इति. यमदूतेन भ्रान्त्या कश्चित् पुरुषो नीतः पुनश्च
प्रत्यागतस्य अनुभवः इति पौराणिकसंवादः ॥१४॥

यमगतिः इति. सोमगत्यतिरिक्ता इति शेषः ॥१५॥

सर्वथानिराकरणाभावाय सप्तग्रहणम्. तस्माद् यमगतिः अस्ति॥१५॥

तत्रापि च तद्व्यापाराद् अविरोधः॥१६॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु नरकेषु चित्रगुप्तादयो भिन्नाएव अधिकारिणः सन्ति. तथा सति तृतीयः पक्षः स्यात्. अतः आह तत्र नरकादिषु ये अधिकारिणः ते यमायत्ताः तत्सेवकाः. अतो यमस्यैव तत्रापि व्यापाराद् न तृतीयपक्षप्राप्तिः. ‘च’कारात् सुखदुःखभोगेऽपि तृतीयपक्षएव विरोधः.

अथवा, यमगतेः मन्त्रलिङ्गसिद्धेः पापस्य च पौराणिकत्वे चन्द्रगतिः एकैव स्यादिति विरोधः. तेषां यमसेवकत्वे तु मन्त्रलिङ्गपोषकत्वात् मार्गद्वयसिद्धेः **अविरोधः**. तस्माद् यमगतिः अस्ति इति सिद्धम्॥१६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कस्यचित्तु भोगो भवत्येव इति अनिवार्यत्वं सप्तसंख्यया द्योतितम्॥१५॥

परिहरति सूत्रकारः परिहरति इति अर्थः. **तथा सति** नरकप्राप्त्यङ्गीकारे सति. **तृतीयः पक्षः** सोमभावयमलोकाभ्याम् अतिरिक्तचित्रगुप्ताद्यधिकारको नरकप्राप्तिरूपः तृतीयः पक्षः स्याद् इति अर्थः. **सुखदुःखे**त्यादि. तथाच पुण्यपापयोः सुखदुःखान्यतर-फलजनकत्वनियमात् तृतीयपक्षसत्त्वएव विरोधः इति अर्थः. **मन्त्रलिङ्गसिद्धेः** “वैवस्वतं सङ्गमनम्” (.....) इति मन्त्रलिङ्गसिद्धेः इति अर्थः. **एकैव स्याद्** यमगति-चन्द्रगत्योः श्रुत्युक्तत्वेन एकजातीयत्वमेव स्याद् इति अर्थः. **विरोधः** चन्द्रगतियमगत्योः एकजातीयश्रौतत्वेन पापस्य च पौराणिकत्वेन द्वयोरेव सिद्धेः तृतीयपक्षसत्त्वएव विरोधः इति भावः. **तेषां** चित्रगुप्तादीनाम्. **मन्त्रलिङ्गपोषकत्वाद्** मन्त्रलिङ्गप्राप्तयमगति-पोषकत्वाद् इति अर्थः. **अविरोधः** चन्द्रगतिः अधिकारि-भिन्नानामेव यमगतेः सम्भवाद् अविरोधः इति अर्थः. **यमगतिः अस्ति** इति चन्द्रगतिः

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

परिहरति इति. सूत्रकारः इति शेषः. तृतीयगत्या शङ्का. ताम् आहुः ननु इति. **सन्ति** इति. अनेन यमस्य नरकाधिकारो नास्ति इत्यतः पापिनां यमगतिबोधक-स्मृतिविरोधः इति सूचितम्. परिहारम् आहुः **तत्र** इति. **चकाराद्** इति. **सुखदुःखाभोगेऽपि** इति. तत्र यथा चित्रगुप्ताद्यधिकारिता स्मृत्युक्ता तथा चित्रगुप्ते ममायत्ततापि स्मृत्युक्तेति तृतीयपक्षे स्मृतिविरोधः इति अर्थः. पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इति. **मन्त्रलिङ्गसिद्धेः** इति. तथाच यमगतिरपि श्रौती इत्यतः श्रौतायाः चन्द्रगतेः व्याप्यत्वं यमगतेः वक्तव्यं, पापस्य पौराणिकत्वाद् दुर्बलत्वं, एवञ्च पुण्यगतिः एकैव

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे तृतीयम् अनिष्टादिकारिणाम् इति अधिकरणम् ॥३॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥ (३।१।४)

साधारणत्वाभावाय पूर्वोक्तार्थसाधकम् अधिकरणम् आरभते. ननु “**ये के चास्माद् लोकात् प्रयान्ति^१, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति**” (कौषी.उप.१।२) इत्यस्याः श्रुतेः का गतिः ? पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे वा यमगतिः कुतो न उक्ता ? तस्माद् वेदविरोधाद् न तृतीयपक्षसिद्धिः इति आशङ्कां परिहरति ‘**तु**’शब्दः. अत्र वेदान्ते गौणमुख्यफलदेहार्थं^२ **विद्याकर्मणोरेव** हेतुत्वेन निरूपणम्. विद्याया देवयानं, कर्मणा सोमभावः इति. तयोरेव **प्रकृतत्वात्** कारणत्वात्. तेन कौषीतकिब्राह्मणेऽपि प्रकृतत्वात् कर्मिणएव ‘**सर्वे**’शब्देन उक्ताः. अत्रापि न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अनधिकारिणां *भिन्नगतिः अस्ति इति अर्थः ॥१६॥

साधारणत्वाभावाय सर्वेषामेव मृतानां साधारण्येन चन्द्रलोकप्राप्त्यभावाय इति अर्थः. **पूर्वोक्तार्थसाधकं** यमलोकगत्यधिकारिणां यमलोकसाधकं ‘**तु**’शब्द-व्याख्यानमुखेन यमलोकरूपतृतीयगतिं साधयन्तः सूत्रव्याख्यानम् आहुः ननु इत्यादिना. **का गतिः** यमगत्यङ्गीकारे सर्वेषां चन्द्रगतिविरोधाद् यमगतिः श्रुतिविरुद्धा इति अर्थः. **कुतो न उक्ता** इति. तथाच पञ्चाग्निविद्यावतोऽपि यदि यमगतिः अभिप्रेता स्यात् तदा पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे यमगतिः उक्ता स्यात् तस्माद् विरुद्धत्वाद् न यमगतिसिद्धिः इति भावः. **तृतीयपक्षसिद्धिः** इति. चन्द्रगतिदेवयानपक्षाभ्यां तृतीयः पक्षो यमगतिः सा अत्र सिद्धा इति अर्थः. **फलदेहार्थं** फलभोगोपयोगिदेहार्थम्. **तयोरेव** विद्याकर्मणोरेव.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

स्याद् इति विरोधः इति भावः. चित्रगुप्तादीनां यमसेवकत्वे पौराणिकस्य पापस्य मन्त्रलिङ्गपोषकत्वाद् मार्गद्वयसिद्धिः इति अर्थः ॥१६॥३॥

सूत्रं व्याख्यातुं शङ्काम् उत्थापयन्ति ननु इति. **ये के च** इति श्रुतिः कौषीतकिब्राह्मणस्था. **का गतिः** इति. तस्माद् न यमगतिः इति अर्थः. यमगत्यभावे अन्यदपि साधकम् आहुः **पञ्चाग्नीति**. **कुतः** इति. अनुक्तत्वादेव न यमगतिः इति अर्थः. शङ्कापरिहारं व्याख्यातुम् आहुः **अत्र** इति. **फलदेहार्थम्** इति. मुख्यफलभोगोपयोग्यलौकिकदेहार्थं गौणफलभोगोपयोगिदेहार्थम् इति अर्थः. **प्रकृतत्वाद्** इति. “**तद्य इत्थं विदुः**” (छान्दो.उप.५।१०।१) इत्यादिना विद्यायाः

१. ‘प्रत्यन्ति’, ‘प्रयन्ति’ पाठौ. २. ‘यमगतिः’ इति ‘जा’पुस्तके. ३. “दानार्थं- देहार्थम्” इति पाठौ.

यममार्गः उक्तः. तस्माद् विद्याकर्मणोः मुख्यत्वाद् मार्गद्वयमेव उक्तम्. न एतावता तृतीयबाधः॥१७॥

ननु द्वयोः स्तुत्यर्थं यः तृतीयो मार्गः उक्तः, “अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानि इमानि क्षेत्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति” (छान्दो.उप.५।१०।८) इत्यादिना “जुगुप्सेत” (तत्रैव) इत्यन्तेन तृतीयनिन्दया द्वयोः स्तुतिरिति स एव तृतीयो अस्तु, किं यममार्गेण ? इत्यतः आह.

न तृतीये तथोपलब्धेः॥१८॥*

न तृतीये मार्गे तथा पुण्य-पापयोः उपभोगः उपलभ्यते. यतः समानब्राह्मणे “कीटः पतङ्गाः यदि दन्दशूकम्” (बृहदा.उप.६।२।१६) इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रकृतत्वात् प्रकरणवशप्राप्तत्वात्. कारणत्वाद् देवयानसोमगतिकारणत्वात्. अत्रापि कौशीतकिब्राह्मणेऽपि. न यममार्गः उक्तः अप्रकृतत्वाद् न यममार्गः सर्वेषाम् उक्तः इति अर्थः. एतावता अप्राकरणिकत्वेन अनुक्त्या. तृतीयः यमगतिरूपः॥१७॥

ननु बहुशोगत्यागतिरूप एव तृतीयमार्गो अस्तु नतु यमगतिरूपः इति शङ्कानिराकरणमुखेन यमगतेः तृतीयत्वं साधयन्ति ननु इत्यादिना. द्वयोः चन्द्रगति-देवयानयोः. एतयोः चन्द्रगतिदेवयानयोः. न कतरेण एतद् उभयभिन्नेन. तृतीयनिन्दया बहुशोगत्यागतिरूपतृतीयमार्गनिन्दया. द्वयोः चन्द्रगतिदेवयानयोः. समानब्राह्मणे

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मुख्याङ्गफलार्थं, “य इमेग्नाम्” (.....) इत्यादिना गौणफलार्थं, कर्मणश्च कारणत्वेन प्रकृतत्वात् तयोः उक्तिः. यमगतेः अप्रकृतत्वात् तदनुक्तिः नतु यमगतिरेव नास्ति इति अर्थः. एतदेव विशदयन्ति तेन इति. अत्रापि इति. कौषीतकिब्राह्मणेऽपि. अपिशब्देन पञ्चाग्निविद्यासंग्रहः. तृतीयेति. यममार्गस्य बाधो न भवति इति अर्थः ॥१७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. यत्र उक्तः तां श्रुतिम् आहुः अथ एतयोः इति. इत्यादिना इति. उक्तः इति पूर्वेण अन्वयः. तस्य निन्दाबोधकं वाक्यम् आहुः जुगुप्सेद् इति. स एव इति. द्वयमार्गयोः स्तुत्यर्थं यः तृतीयः श्रुतौ उक्तः स एव इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः न तृतीये इति. तथा इति. यादृशो यममार्गो उपभोगः उपलभ्यते तथा छान्दोग्योक्ते तृतीयमार्गे न इति अर्थः. न उपलभ्यते इत्यत्र उपलब्धेः

*“अतथोपलब्धेः” इति श्रीपुरुषोत्तमानां सम्मतः पाठः, अन्येतु ‘तथोपलब्धेः’ इति पठन्ति.

योनौ निर्वृतेः विद्यमानत्वाद् न महत्पापोपभोगः. नापि कीटादिषु महासुखोपभोगः. एकवाक्यता च उभयोः युक्ता. यद्यपि महाराजादि-राजदण्डादिषु तथा उपभोगः सम्भवति, तथापि रम्भादिसम्भोगे नरके च यथा, तथा न सम्भवति. जडे तु पञ्चम्याहुतिः भरतएव हि ईश्वरेच्छया जन्मद्वयम् अधिकम्. “त्रिभिः” (भाग.पुरा.११।२।१८) इति वचनात्. “भरतोऽहम्” (भाग.पुरा.५।१२।१४) इति प्रतीतेश्च. ततः पूर्वम् अस्मरणाद् बाल्यादिवदेव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उत्तमगतिद्वयप्रतिपादकब्राह्मणे समानब्राह्मणे बृहदारण्यस्थं, कीटाः पतङ्गाः इति. निर्वृतेः तादृशयोनिगत-सुखविशेषस्य विद्यमानत्वात् श्रुतौ श्रूयमाणत्वाद् एकवाक्यता च उभयोः इति. समानब्राह्मणोपादानात् “कीटाः पतङ्गाः” (बृहदा.उप.६।२।१६) इति अस्य चन्द्रगतिदेवयान-प्रतिपादकब्राह्मणेन एकवाक्यता न तु यमगतिबोधकमन्त्रेणापि एकवाक्यता विभिन्नस्थानीयत्वाद् मन्त्रस्य. ननु पञ्चाग्निविद्यावतो भरतस्य अग्रे हरिणब्राह्मण-जन्मद्वयदर्शनेन यममार्गसमानत्वाद् यममार्गः पञ्चाग्निविद्यामार्गएव प्रविशतु एवञ्च असकृदावृत्तिमार्गएव तृतीयो भविष्यति इत्यतः आहुः जडे तु इत्यादि. जन्मद्वयं हरिणब्राह्मण-जन्मद्वयम्. वचनन्तु नारदस्य एकादशस्कन्धे ऋषभान् प्रस्तुत्य “उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः” (भाग.पुरा.११।२।१८) इति. प्रतीतेः पञ्चमस्कन्धे “अहं पुरा भरतो नाम राजा”

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

बृहदारण्यस्य समानब्राह्मणस्थं वाक्यम् आहुः यतः इति. कीटः इति. योनौ इति. योनौ निर्वृतिः महाभारते कीटोपाख्याने ज्ञेया. ननु समानब्राह्मणे यदुक्तं तद् अन्यद् अस्तु इत्यतः आहुः एकवाक्यता इति. उभयोः छान्दोग्य-बृहदारण्यकयोः ‘जायस्व’ इति मार्गे. युक्त्यन्तरम् आशङ्कते यद्यपि इति. महाराजेति. राज्ञि सुखं, राजदण्डे दुःखं तथा उपभोगः. समाधानम् आहुः तथापि इति. रम्भादिसम्भोगे इति. यथा सुखदुःखभोगः तथा राज्ञि राजदण्डे च नास्ति इति अर्थः. ननु यममार्गः पञ्चाग्निमार्गे प्रविशतु तत्रापि देहान्तरप्राप्तिः जडभरते दृश्यते. तथाच ‘जायस्व’ इति मार्गएव तृतीयः, ननु यममार्गः इत्यतः आहुः जडेति. त्रिभिः इति. एकादशस्कन्धे नारदोक्तम्. “स भुक्तभोगां त्यक्त्वा इमाम्” (भाग.पुरा.११।२।१८) इति वचनाद् इति अर्थः. एतेन तस्य यद् वैराग्यं जातं तद् ईश्वरेच्छाज्ञापकम् इति बोध्यम्. प्रतीतेः इति. “अहं पुरा भरतो नाम राजा” (भाग.पुरा.५।१२।१४) इति स्मरणात्. तादृशानुशयवत्त्वस्मृतिः

जन्मत्रयम्. तस्माद् “जायस्व” (छान्दो.उप.७।१०।८) इत्यादिवैलक्षण्याद् अतिरिक्तो यममार्गः. पञ्चाहुतिनियमाभावस्तु ज्ञानोपयोगिदेहेपि अंशावतरणे पुष्टिमार्गत्वाद् न तत्र दोषः॥१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके॥१९॥

साधकान्तरम् आह. अपि च लोकेऽपि मूर्च्छादिषु यमलोकगमन-सम्भाषण-पुनरागमनानि स्मर्यन्ते॥१९॥

दर्शनाच्च॥२०॥

यमपुरुषाः दृश्यन्तेऽपि कैश्चिद् अजामिलप्रभृतिभिः. ‘च’कारात् तेषां वाक्यादिश्रवणम्. तस्माद् वैवस्वतमार्गे न किमपि बाधकम् इति सिद्धम्॥२०॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे चतुर्थं विद्याकर्मणोः इति अधिकरणम्॥४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

(भाग.पुरा.५।१२।१४) इति जडोक्तायाः प्रतीतेः इति अर्थः. इत्थं च नारदवचनेन वैराग्यसम्पद् जडवचनेन च स्मृतिसम्पद् अनुशयफलरूपा जडजन्मन्येव जाता इति फलितम्. ततः पूर्वं जडजन्मनः पूर्वम्. बाल्यादिवदेव इति अस्मरणहेतुः. ननु विदुरार्जुनादौ सोमभावासम्भवात् पञ्चाहुति-नियमभङ्गः इत्यतः आहुः पञ्चाहुतीत्यादि. पुष्टिमार्गत्वाद् भगवदनुग्रहमार्गत्वात्. न तत्र दोषः इच्छाकृतभङ्गस्य इच्छेतरासमाधेयत्वाद् न दोषः इति भावः॥१८॥

साधकान्तरं यमगतेः तृतीयत्वे साधकान्तरम्॥१९॥

सिद्धम् इति. इत्थं च “जायस्व” (छान्दो.उप.५।१०।८) इति मार्गस्यापि यममार्गएव प्रवेशो बोध्यः॥२०॥४॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

मज्जन्मनि अस्ति इति ज्ञापितम् इति अर्थः. ततः इति. भरतदेहात् पूर्वम् इति अर्थः. एवञ्च जन्मत्रयविशिष्टभरतदेहस्य पञ्चमाहुतिफलत्वेन न अत्र क्रमभङ्गः. ज्ञानोपयोगित्वात् च न यममार्गप्रवेशः इति भावः. ननु विदुरार्जुनादौ सोमादिभावो नास्ति, ज्ञानोपयोगिदेहस्तु वर्तते इति पञ्चाहुतिनियमभङ्गः इत्यतः आहुः पञ्चाहुतीति॥१८॥

मूर्च्छादिषु. अनेन मरणे अन्तर्भावो नास्ति इति सूचितम्॥१९॥

स्पष्टार्थम् एतत्. तथाच यममार्गएव ‘जायस्व’ इति मार्गस्य प्रवेशः, नतु अतिरिक्तः इति भावः॥२०॥४॥

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥ (३।१।५)

तृतीयाम् आहुतिं विचारयति तत्र “वृष्टेरन्नं भवति” (छान्दो.उप. ७। ६।२) इति तृतीयाहुतिः सफला. पूर्वद्वयं शब्दैकसमधिगम्यम्. ‘वृष्टेरन्नम्’ इति साधन-फलयोः प्रत्यक्षत्वाद् न वृष्टिमात्रेण अन्नं भवति बीजव्यतिरेकेण. बीजस्य हि फलम्. न निमित्तमात्रेण तद्भावो वक्तुं शक्यते. तस्माद् असङ्गतं ‘वृष्टेरन्नम्’ इति आशङ्क्य आह तृतीयशब्दावरोधः. तृतीयाहुतौ शब्देन शब्दसाम्येन कारणभूतस्य जलस्य अवरोधो ग्रहणम्.

“सदेव सोम्येदम् अग्र आसीद्” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यत्र

“तत् तेज ऐक्षत” (छान्दो.उप.८।२।२),

“बहु स्यां प्रजायेय” (छान्दो.उप.८।२।३) इति,

“तदपो असृजत” (छान्दो.उप.६।२।३),

“तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषः तेजसएव तदध्यापो जायन्ते” (छान्दो.उप.८।२।३)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकरणप्रयोजनं विशदयन्ति तृतीयेत्यादिना. सफला अन्नरूपफल-सम्पादिका. साधनफलयोः अन्नतत्कारणयोः. प्रत्यक्षत्वाद् लोके अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् इति अर्थः. निमित्तमात्रेण समवायिकारणबीजं विना वृष्टिमात्रेण इति अर्थः. शब्दसाम्येन कार्यकारणोभयजलेऽपि ‘जल’शब्दार्थस्य सत्त्वेन जलस्य कारणरूपतायां सम्मतिम् आहुः “सदेव” इत्यादिना. शोचति स्रष्टुम् इच्छति. स्वेदते जलं सृजति. तदधि तेजोधि तेजसः सकाशाद् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु शङ्कासत्त्वे विचारः इत्यतः पूर्वशङ्काम् अवतारयन्ति तत्र वृष्टेः इति. तृतीयाहुतिः सफला इति. अन्नरूपफलसहितश्रुतौ उक्ता इति अर्थः. पूर्वद्वयं पूर्वाहुतिद्वयम् इति अर्थः. बीजस्य इति. अन्नं फलम् इति अर्थः. तद्भावः इति. पूर्व वृष्टिभावः इति अर्थः. तथाच वृष्टेः निमित्तकारणत्वम् इति अर्थः. शङ्कोत्तरार्थं सूत्रव्याख्यानम् आहुः तृतीयेति. तृतीये शब्देन अवरोधः इति समासः. अर्थम् आहुः तृतीयेति. शब्दसाम्येन इति. ‘जल’शब्दः सृष्ट्यादौ यज्जलं वृष्टिरूपं यज्जलं तत्र उभयत्रापि प्रवर्तते इति अर्थः. कथं ग्रहणम् इत्यतः श्रुतिम् आहुः सदेव इति. आपो जायन्ते इत्यन्ता श्रुतिः.

इत्यत्र कारणरूपाणां निरूपणे शोकजत्वम् अपाम् उक्तम्. अग्रे च “तस्माद् यत्र क्व च वर्षति, तदेव भूयिष्ठम् अन्नं भवति” (छान्दो.उप.६।२।४) इति. अतः पञ्चाग्निविद्यायामपि देवहोमात् कारणभूतैव वृष्टिः जातेति न अत्र बीजान्तरापेक्षा. ‘शोक’पदेन “यदश्रुवशीयत तद् रजतं हिरण्यम् अभवद्” (तैत्ति.संहि.१।५।१) इति सहायः सूचितः. यद्यपि तत्र ‘अन्न’शब्देन पृथिवी, तथापि अत्र पृथिव्या अग्निसमिद्रूपत्वाद् अन्नमेव. तस्मात् कारणशक्तियुक्तायाः वृष्टेः अन्नं भवतीति न कापि अनुपपत्तिः॥२१॥

साभा व्यापत्तिरूपपत्तेः॥२२॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु कारणजलरूपवृष्टिः अत्र वक्तुं न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शोकजत्वं कारणेक्षणजन्यत्वम्. **देवहोमात्** पृथिवीरूपाम्नौ वृष्टिरूपाहुतेः देवैःकरणाद् इति अर्थः. ‘शोक’पदेन शोकवाचक‘शोचति’ इति पदस्य श्रुतौ उपादानेन, **सहायः सूचितः** भौतिकजलस्यापि रजतादिकारणतायाः “यदश्रु” इति श्रुतौ प्रतिपादने आध्यात्मिकजलस्य कारणतायां कः सन्देहइति दृष्टान्तः प्रदर्शितः इति अर्थः. तत्र तैत्तिरीयश्रुतौ. **अग्निसमिद्रूपत्वात्** छान्दोग्ये अग्निरूपत्वेन बृहदारण्यके समिद्रूपत्वेन कथनात् तयोरेव आहुतौ योग्यत्वाद् इति अर्थः॥२१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अग्रे च इति. तस्मिन्नेव प्रकरणे अग्रे च इति अर्थः. अतः इति. अतः कारणात्. **बीजान्तरापेक्षा** इति. “यत्र क्व च” (छान्दो.उप.८।२।३) इति श्रुतौ प्रयोगाद् बीजापेक्षा नास्ति इति सूचितम्. तथाच शोकजन्यं कारणीभूतं जलमेव वृष्टिजलम् इति भावः. सूत्रे **संशोकजस्य** इति पदस्य स्वारस्यम् आहुः **शोकपदेन** इति. यदश्रुवः शीर्यन्ते इति वाक्यं प्रथमाष्टके संहितायां पञ्चमप्रपाठके प्रथमतएव “देवासुराः संयता आसन्” (तैत्ति.ब्राह्म.१।५।...) इत्यारभ्य “तस्माद् बर्हिषि न देयम्” (तैत्ति.ब्राह्म.१।५।...) इत्यन्ते मध्ये उक्तं “सोरोदीद् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्रुवः शीर्यन्ते तद् रजतं हिरण्यम् अभवत्” (तैत्ति.ब्राह्म.१।५।...). तस्माद् इति. अग्निसमिद्रूपत्वाद् इति. छान्दोग्ये अग्निरूपत्वं (त्वाद्) बृहदारण्यके समिद्रूपत्वाद् इति अर्थः॥२१॥

आशङ्काम् आहुः ननु इति. कुतो न शक्यते? इत्यतः आहुः यतः इति श्रीप्रकाशकृतस्तु **ऐक्ये** इति पञ्चाग्निमार्ग-धूममार्गयोः अभेदे. समाने धूमे मार्गे ऐक्ये

शक्यते, यतः समानधूममार्गश्रुतौ वृष्टेः अन्नभावे ऐक्ये वा “तस्मिन् यावत् सम्पातम् उषित्वा अथैतमेव अध्वानं पुनर्निर्वर्तते, यथेतम् आकाशम्” (छान्दो. उप. ५।१०।५) इत्यादिना “तिलमाषा” (तत्रैव ५।१०।६) इति “जायन्ते” (तत्रैव ५।१०।६) इत्यन्तेन. तत्र ‘यथेतम्’ इति आकाशएव. “आकाशात् चन्द्रमसम्” (तत्रैव ५।१०।४) इति पूर्वम् उक्तत्वाद् आकाशस्य मार्गतैव. “वायुर्भूत्वा धूमो भवति” (तत्रैव ५।१०।५) इत्यादिषु तत्तद्भावः श्रूयते. ते च विकृताः, तदनन्तरभावित्वात्. वृष्टिरपि विकृतैव. तस्माद् न कारणत्वम् इति आशङ्क्य परिहरति. सा वाय्वादिरूपापत्तिः आभा व्यापत्तिरेव. वायुवद् आभा आभानम्. मध्ये *वायुमण्डलेन आगच्छन्ती आहुतिः ‘वायुभवन’शब्देन उच्यते,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

समानधूममार्गे पञ्चाग्निविद्यामार्गसमाने धूममार्गः इति अर्थः. ऐक्ये वा पञ्चाग्निविद्याधूममार्गयोः अन्नभावांशे ऐक्ये वा, श्रुतौ श्रुत्युक्ते. तस्मिन् चन्द्रलोके. यावत्सम्पातं ततः पुनःपातपर्यन्तं, तत्तद्भावः वायुधूमादिभावः. ते भावाः. तस्माद् अनन्तरभावित्वाद्. न कारणत्वं न वृष्टिजलस्य कारणरूपजलत्वम्. आहुतिः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

वा वृष्टेः अन्नभावः इति अन्वयः इति प्राहुः. यतः इति. यतः कारणाद् इति अर्थः. अथ वा पञ्चाग्नि-धूममार्गयोः ऐक्यम् इति आशयेन आहुः यतः इति. च्युतौ अवरोहे स्वर्गाच्युतौ इति यावत्. धूममार्गः समानः. तथाच धूममार्गे पञ्चाग्निविद्यायां येन यथा गमनं तेन मार्गेण आगमनम् इति समानम् इति भावः. तस्मिन् इति. तस्मिन् धूममार्गे वृष्टेः अन्नभावे सति. अत्र श्रुतिम् आहुः यावद् इत्यारभ्य जायन्ते इत्यन्तम्. इत्यन्तेन इति. तत्तद्भावः श्रूयते इति अग्रेण अन्वयः. श्रुतिं व्याकुर्वन्ति तत्र इति. मार्गतैव इति. येन मार्गेण गमनं तेनैव मार्गेण आगमनम्. तत्र “आकाशो भूत्वा” इति श्रुतौ न श्रूयते इति कृत्वा तस्य मार्गतैव इति अर्थः. ते च इति. ते चाबादयो विकृता जन्या इति अर्थः. एवं वृष्टेरपि जन्यत्वम् आहुः तदनन्तरेति. तस्माद् वृष्टेः जन्यत्वाद् न कारणत्वं न कारणजलत्वम्.

परिहारं व्याकुर्वन्तः सूत्रार्थम् आहुः सा इति. साभा व्यापत्तिरुपपत्तेः इति त्रिपदम् इदं सूत्रम्. सेत्यस्यार्थम् आहुः वाय्वादीति. अस्य अर्थम् आहुः आभा व्येति.

*‘वायुमण्डलमागच्छन्ती’ इति पुरु.पाठः. “वायुमण्डलागच्छन्ती”, “वायुमण्डमागच्छन्ती”, “वायुमण्डले सा गच्छन्ती”, “वायुमण्डले गागच्छन्ती” इत्यपि पाठाः.

आकृतेरेव पदार्थत्वात्. ‘व्यापत्ति’शब्देन च तेजोभावापन्नस्य जलभावापत्तौ कान्तिनाशाद् नाशश्च इति द्योतयति. कुतः? उपपत्तेः. तथैव उपपद्यते चित्रतुरगादिषु. विकारस्य विकारान्तरापत्तौ इयमेव व्यवस्था. उपासनायां न तदपि. नच “भूत्वा” (छान्दो.उप.५।१०।५) श्रुतेः बाधः. प्रतिनियतपदार्था हि ते. भवनावरोहाभ्यामेव तथावचनात्. अन्यस्य अन्यभावं वदन्ती श्रुतिरेव गौणत्वं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वृष्टिरूपाहुतिः. आकृतेरेव वायुधूमादिभिन्नस्य जलस्यैव प्रकृत आकृतिसत्त्वात् तत्तदाकारेण प्रतीयमानमपि जलमेव उच्यते नतु अन्यद् इति अर्थः. विकारस्य चित्रिततुरगस्य. विकारान्तरापत्तौ वास्तवतुरङ्गत्वेन प्रतीतिरूपापत्तौ. इयमेव व्यवस्था सादृश्यमात्रेणैव प्रतीतेः उपपत्तिरूपा. उपासनायां “वाचं धेनुम् उपासीत” (बृहदा.उप. ५।८।१) इत्यत्र. तदपि आकृतिसाम्यमपि न इति अर्थः. तथाच किञ्चिद् अंशे साम्यस्थलेऽपि उपमेय उपमानवाचकपदप्रयोगे बहुसादृश्यस्थले तादृशे तादृशपदप्रयोगे सुतरां सङ्गतिः. तादृशस्थलेऽपि वस्तुतादात्म्याङ्गीकारे चित्राश्वे क्रियापत्तिः “धन्वन्निव प्रपा असि” (ऋग्वेद १०।४।१) इति अग्निस्तुतौ अग्नौ वा प्रपाधर्मापत्तिः स्याद् इति भावः. ननु वृष्टेः आहुतेः तत्तद्भावानङ्गीकारे “वायुर्भूत्वा” (छान्दो.उप.५।१०।५) इति श्रुतिविरोधः इत्यतः आहुः नच इत्यादि. प्रतिनियतपदार्थाः जीवस्य वृष्टिद्वारा अवरोहे वाय्वादयः तेषां या भावना तत्तदवरोहश्च यो जीवस्य ताभ्यां गौण्या वृत्त्या श्रुत्या

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अस्य अर्थम् आहुः वायुवद् इति. नतु वायुस्वरूपो जीवः इति अर्थः. ननु एवं चेद् अस्य वायुभवनं कथम्? इत्यतः आहुः मध्येति. ननु एवं चेत् स्ववायुपदवाच्यत्वं कथम्? इत्यतः आहुः आकृतेरेव इति. “जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थाः” (गौत.न्यायसू.२।२। ६८) इति न्यायसूत्राद् इति अर्थः. तथाच वायोरिव आकृतिरेव वायुमण्डले तस्य अस्ति इति. तत्र ‘वायु’पदस्य गौणी वृत्तिः इति भावः. एवं जलभावेऽपि ज्ञेयम्. आभा व्यापत्तिः इति अत्र ‘व्यापत्ति’पदस्वारस्यम् आहुः व्यापत्तिः इति. ननु अत्र गौणीसत्त्वे किं गमकम् इत्यतः आहुः चित्रतुरगेति. चित्रे कृतो यः तुरगः इति अर्थः. तथाच तुरगकार्यं चित्रतुरगे नास्ति इति ‘तुरग’पदप्रयोगः तत्र मुख्यो नास्ति इति भावः. उपासनायाम् इति. “वाचं धेनुम् उपासीत” इत्यादौ ‘वाक्’पदस्य गौण्यपि नास्ति इति अर्थः. ननु “वायुः भूत्वा” (छान्दो.उप.५।१०।५) इति श्रुतेः बाधः इत्यतः आहुः नच इति. न हि इति अर्थः. प्रतिनियतेति. तुल्यपदार्थे आहिते जीवेति अर्थः. तथा भूत्वा इत्यस्य॥२२॥

वदति. कारणांशभावव्यतिरिक्तस्थले तथैव प्रतीतेः. तस्मात् तदाकृतिमात्रेण न स्वरूपान्यथाभावः॥२२॥

नातिचिरेण विशेषात्॥२३॥

उपपत्यन्तरम् आह. तद्रूपता च नातिचिरेण न बहुकालं तद्रूपता. कुतः ? विशेषात्. अन्नभावापन्नस्यैव बहुकालश्रवणात्. “अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्” (छान्दो.उप.५।१०।६) इति. प्रापतरं प्रपतरं वा. वर्णलोपः छान्दसः. अतः तृतीयाहुतौ न चिरेण इति आयाति. बहुकालस्थितौ हि तद्रूपता. कारणवशाद् देवानां मनुष्यभाववत्. भिन्नपक्षे न कोऽपि दोषः. ऐक्यपक्षेऽपि ज्ञानवतो गृहस्थस्य दुर्लभत्वाद् एवं वचनम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“भूत्वा” इत्यादिनिर्देशः कृतो नतु वस्तुगत्या जलस्य तत्तद्रूपत्वेन इति अर्थः. कारणांशव्यतिरिक्तस्थले कारणं विना कार्यप्रतीतिस्थले इति अर्थः. तथैव गौण्येव. आकृतिमात्रेण तत्तदाकारतया प्रतीतिमात्रेण॥२२॥

“अतो वै खलु दुर्निःप्रपतरम्”(छान्दो.उप.५।१०।६) अन्नभावाद् पुरुषभवनं दुःप्रापतरं दुर्गमतरं वा इति अर्थः. वर्णलोपः दुःप्रपतरम् इत्यत्रत्य-‘त’कारलोपः. अतः बहुकालस्थित्यभावाद्. न चिरेण इति आयाति तृतीयाहुतौ वृष्टिरूपान्नौ आहुतौ जीवो बहुकालं न तिष्ठतीति न किञ्चिद्रूपता वक्तुं शक्यते इति अर्थः. फलितः. भिन्नपक्षे धूममार्गात् पञ्चाग्निमार्गस्य भिन्नपक्षत्वे. न कोऽपि दोषः धूममार्गिणाम् आगमने यः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र पूर्वसूत्रात् साभा इति अनुवर्तते. तद्रूपता इति. वृष्टिरूपता इति अर्थः. कुत्र विशेषः इत्यतः आहुः अन्नेति. कुत्र श्रवणम् इत्यतः श्रुतिम् आहुः अतः इति. अन्नभावात् पुरुषभवनं दुर्निष्प्रपतरम् इत्यत्र विचारयन्ति प्रापतरम् इति. दुष्प्रापतरम् इति योजनीयम्. द्वितीयार्थम् आहुः प्रपतरम् इति. दुर्गमतरम् इति अर्थः. वर्णलोपः इति. दुर्निष्प्रापतरम् इति वक्तव्ये दुर्निष्प्रतरम् इति उक्तम्. अत्र वर्णलोपः इति अर्थः. एवञ्च वृष्टिरूपत्वं जीवस्य नास्ति इत्यतः आहुः अतः इति. अत्र वृष्टान्तम् आहुः कारणेति. ननु अवरोहे क्लेशस्तु पञ्चाग्नावपि अस्ति इति धूममार्गात् को विशेषः ? इत्यतः आहुः भिन्नेति. धूममार्गात् पञ्चाग्निमार्गो भिन्नः इति पक्षे दोषः इति. धूममार्गोक्तक्लेशरूपो दोषः पञ्चाग्नौ नास्ति इति अर्थः. वचनम् इति. अज्ञानिनं लक्ष्यकृत्य क्लेशवचनं, नतु साधारण्येन इति दोषः इति अर्थः ॥२३॥५॥

तस्माद् वृष्टेः अन्नं भवति इति सिद्धम् ॥२३॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे पञ्चमं तृतीयशब्दावरोधाधिकरणम् ॥५॥

अन्याधिष्ठिते अपूर्ववदभिलापात् ॥२४॥ (३।१।६)

चतुर्थी आहुतिः विचार्यते. ननु “संसर्गजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः” (मनुस्मृ. १२।९) इति कथम् अस्य अन्नत्वम्? अपूर्वान्तत्वेऽपि कण्डन-पाकादिषु क्लेशेन जीवस्य अपगमात् कथं रेतोभावः? चर्वणौदर्यपाकस्तु आवश्यकएव. नच जीवस्य जडभावः, मर्यादाभङ्गप्रसङ्गात्, तस्मात् कथम् अन्नस्य रेतोभावः? इति आशङ्क्य परिहरति. **अन्याधिष्ठिते** वृष्टेः अन्नभावसमयएव अन्यैः जीवैः अधिष्ठितो ब्रीह्यादिः तस्मिन् न पूर्ववत्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

क्लेशः सः तेषां न भवति इति अर्थः तत्र देवानां मनुष्यभावग्रहणं दृष्टान्तः. **वृष्टेः** कारणीभूतजलाद् अविकृतात् ॥२३॥५॥

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः **चतुर्थीत्यादिना**. “अन्नाद् रेतो भवति” (.....) इति चतुर्थ्याहुतेः विचारः प्रयोजनं, “**पुरुषाग्नौ अन्नं जुह्वति**” (.....) इति होम्यत्वम् उक्तम्. अन्नस्य रेतोभावे, जीवस्य अन्नभावे च दोषोद्धाराय विचारयितुं सूत्रम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादिना. पञ्चाग्निप्रकारेण शुद्धस्य **अपूर्वान्तत्वेऽपि** संस्कृतान्तुल्यान्तत्वेऽपि. **मर्यादाभङ्गप्रसङ्गात्** चेतनाचेतनविभाग-व्यवस्थाभङ्गप्रसङ्गाद् इति अर्थः. **परिहरति** तादृशशुद्धजीवस्य अन्नभावे उक्तं दूषणं परिहरति इति अर्थः. **अन्याधिष्ठिते** इति. उप्ते बीजे वृष्टौ जातायां जलभावापन्ना जीवा जलेन महान्नबीजे प्रविशन्ति तत्र अन्यजीवाधिष्ठितब्रीह्यादौ पञ्चाहुतिप्रकारशुद्धो

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

चतुर्थीम् आहुतिं विचारयितुम् अन्याधिष्ठिताधिकरणम् आहुः.

परिहारसूत्रम् अवतारयितुं प्रथमतः शङ्काम् आहुः **ननु** इति. **कथम्** इति. अस्य जीवस्य आहुत्या शुद्धत्वेन पापाभावात् कथं स्थावररूपान्तत्वम् इति अर्थः. **अपूर्वान्तत्वेऽपि** इति. यथा यज्ञादिषु प्रोक्षणादिना ब्रीह्यादीनाम् अपूर्वजनकान्तत्वं तथा आहुतिभिः जीवस्य इति अर्थः. तथापि क्लेशेन यथा शरीराद् जीवापगमः तथा कण्डनादिना अन्नाद् जीवापगमो भविष्यति इति आहुः **कण्डनेति**.

परिहारसूत्रं व्याकुर्वन्ति **अन्याधिष्ठिते** इति. **ब्रीह्यादिः** इति. उप्ते इति शेषः. तथाच यदा वृष्टिः जायते तदैव उप्ते बीजे जलद्वारा जीवः प्रविशति इति अर्थः.

तद्भावापत्तिः, अतिथिवत्. पूर्ववैलक्षण्येन वा. कुतः? **अभिलापात्.**
“ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयः तिलमाषाः”(छान्दो. उप.७।१०।६) इति
 पूर्ववत् तत्तद्भावमात्रं न वदति, किन्तु जगति स्थितब्रीह्यादिभावएव
 अभिलप्यते. तथा सति यथा अन्येषु ब्रीह्यादिषु तदधिष्ठातृदेवतया नियुक्ता
 जीवाः तान् आत्मत्वेन अभिमन्यन्ते एवम् अत्रापीति न कोऽपि दोषः.
 *अधिष्ठाने हि वेदना, मरणानन्तरं कृमिभावस्य दृष्टत्वात्. तस्माद् अन्नस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जीवोऽपि प्रविशति तथापि न **पूर्ववत् तद्भावापत्तिः** वाय्वादिभाववद् अन्नभावापत्तिः
 तादृश-शुद्धजीवे न इति अर्थः. **अतिथिवत्** किन्तु अतिथिवत् स्वकार्यार्थं तिष्ठति.
पूर्ववैलक्षण्येन वा पूर्वे अन्नस्था अभिमानिजीवाः तद्वैलक्षण्येन अधिष्ठानाध्यास-
 शून्यतया वा शुद्धजीवाः अन्ने तिष्ठन्तीति न उक्तदोषगन्धोऽपि इति अर्थः. पूर्वोक्तार्थे
 अभिलापरूपहेतुं व्याकुर्वन्ति ब्रीहीत्यादिना. **पूर्ववद्** वायुधूमादिभाववद् अन्नाभेदबुद्धिं
 शुद्धजीवेषु न वदति इति अर्थः. **ब्रीह्यादिभावएव** ब्रीह्यादिषु स्थितिमात्रमेव.
तत्तदधिष्ठातृदेवतया नियुक्ताः जीवाः ब्रीह्यादेः अधिष्ठातृदेवरूपाः जीवाः इति
 अर्थः. **तान्** ब्रीह्यादीन्. **आत्मत्वेन** स्वाधिष्ठानत्वेन. **एवम् अत्रापि** एवम्प्रकारेणैव
 होम्यब्रीह्यादिषु शुद्धजीवानामपि स्थितिः इति अर्थः. **न कोऽपि दोषः** कण्डन-पेषण-
 पचन-चर्वणादौ उक्तदोषाणां कोऽपि दोषः शुद्धनिष्पापजीवे न भविष्यति इति अर्थः.
 अध्यासाभावादेव च न जडभावोऽपि. तदेव उपपादयन्ति **अधिष्ठाने हि** इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु उप्ते बीजे पूर्वं जीवस्य सत्त्वाद् जीवान्तरप्रवेशे तद्भावापत्तिः स्याद् अतः आहुः न
पूर्ववद् इति. ‘वायुः भूत्वा’इत्यादिवद् इति अर्थः. तर्हि कथं स्थितिः? अतः आहुः
अतिथिवद् इति. कार्यार्थं यथा अतिथेः स्थितिः तथा इति अर्थः. **पूर्ववैलक्षण्येन** इति.
 निरभिमानगृहस्थवद्वा स्थितिः इति अर्थः. अत्र हेतुं सूत्रकारः आह **अभिलापाद्** इति.
 तस्य अर्थम् आहुः **ब्रीहिः** इति. **अत्रापि** इति. होम्ये अन्नेऽपि इति अर्थः. **न कोऽपि**
 इति. पापान्ततः संसर्गदोषः कण्डनादिना अपगमो नास्ति इति अर्थः. ननु वेदनायाः
 सत्त्वात् कथं न अपगमः? इत्यतः आहुः ***अधिष्ठानं हि** इति. अधिष्ठानम् अभिमानः.
 तस्मिन् सत्येव वेदना लोके दृश्यते इति अर्थः. ननु अस्य क्लेशो मास्तु, तथापि कण्डने
 कृते तत्रत्यजीवे गते होम्यजीवोऽपि अपगच्छति इति कथम् अस्य रेतोभावः? इत्यतः
 आहुः **मरणेति** ॥२४॥

रेतोभावो युक्तः॥२४॥

अशुद्धम् इति चेन्न शब्दात्॥२५॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु अन्याधिष्ठाने अङ्गीक्रियमाणे यातनाजीवानाम् अशुद्धत्वाद् अशुद्धम् अन्नं स्यात्. तथाच कथं योग्यदेहः ? इति चेद्, न, शब्दात्. “देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुते रेतः सम्भवति” (छान्दो. उप.५।७।२) इति देवैः आहुतिरूपेण होमवचनात् शुद्धत्वम्. अन्यस्य हि संस्कारेणैव शुद्धिः. अन्यथा यावज्जीवं का गतिः स्यात् ? तस्मात् ‘संस्कार’-शब्दात् शुद्धमेव अन्नम्॥२५॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे षष्ठम् अन्याधिष्ठिते इति अधिकरणम्॥६॥

रेतःसिग्योगो अथ॥२६॥ (३।१।७)

पञ्चमाहुतिं विचारयति. ननु कथं पुरुषे अन्नहोमाद् रेतोभावः ?

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिष्ठाने अधिष्ठानाभेदाध्यासेन स्वस्य अधिष्ठानरूपतानिश्चये. तस्मात् पूर्वोक्तरीत्या क्लेशाभावेन जीवस्य ब्रीह्यादितोपसरणासम्भवात्॥२४॥

अन्याधिष्ठाने अशुद्धजीवाधिष्ठानस्यैव शुद्धजीवाधिष्ठानत्वाङ्गीकारे. अन्यस्य तादृशहोम्यातिरिक्ताशुद्धान्नस्य. का गतिः कथं निर्वाहः इति अर्थः. तस्मात् पूर्वोक्तात् संस्काराद्. “जुह्वति” इति शब्दाद् वा अन्ने शुद्धत्वम् इति अर्थः॥२५॥६॥

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः पञ्चमेत्यादि. पञ्चमाहुतिः रेतःफलिकान्नस्य आहुतिः. विचारांशम् आहुः ननु इत्यादिना. पुरुषे पुरुषाग्नौ. अन्नहोमात्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कृमिभावस्य जीवान्तरस्य अशुद्धम् इति चेद्, न, शब्दाद्. सौत्रशङ्कांशं व्याकुर्वन्ति ननु इति. परिहारं व्याकुर्वन्ति शब्दाद् इति. श्रुतेः इति अर्थः. श्रुतिरेव आहुः अन्नम् इति. अन्यस्य इति. अशुद्धस्य इति अर्थः. का गतिः इति. कुत्सिता गतिः इति अर्थः. शेषं स्फुटम्॥२५॥६॥

पञ्चमाहुतिविचारार्थं रेतःसिगधिकरणम् आहुः पञ्चमीम् इति. फलरहितं केवलाम् इति अर्थः. विचारार्थं प्रथमतः शङ्कां कुर्वन्ति ननु इति. स्पष्टम्. परिहारं व्याकुर्वन्ति पुरुषेति. “पुरुषो वाव गौतमान्” (छान्दो.उप.५।७।१) इति श्रुतौ यत् ‘पुरुष’पदं तस्यैव व्याख्यानं सूत्रे रेतःसिग् इति. तथाच ‘पुरुष’पदस्य अर्थम् आहुः

बाल्य-कौमार-वार्धकेषु व्यभिचारात्. तारुण्येऽपि न हि सर्वम् अन्नं रेतो भवति. जातमपि न नियमेन योनौ सिच्यते. नापि देवापेक्षा, पुरुषप्रयत्नस्य विद्यमानत्वाद् इति आशङ्क्य परिहरति **रेतःसिग्योगः**. 'पुरुष'शब्देन पौरुषधर्मवान् उच्यते. पौरुषं च देशकालसंविधानेन मन्त्रवद् रेतःसेकसामर्थ्यम्. नहि एतत् सर्वजनीनं सार्वत्रिकं वा, तदर्थं देवापेक्षा. तथा सति न कोऽपि व्यभिचारः. कथं 'पुरुष'-शब्दमात्रेण च ज्ञायते? तत्र आह **अथ** आनन्तर्यात्. शरीरार्थमेव देवैः तत्र-तत्र होमः कृतः. तत् कथं पञ्चामाहुतावेव अन्यथा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पञ्चमाहुतिरूपान्नहोमात्. **व्यभिचारात्** तादृशावस्थासु सफलरेतसोदर्शनेन व्यभिचाराद् इति अर्थः. ननु पञ्चान्निविद्यया शुद्धजीवाधिष्ठितं सर्वमेव अन्नं रेतो भवति ननु अनधिष्ठितम् अतः आहुः **जातमपि** इति सर्वं रेतोभावं प्राप्तमपि. **नियमेन** इति तादृशनियमे प्रमाणाभावाद् इति अर्थः. **देवापेक्षा** आहुतिकरणार्थं देवापेक्षा. **पुरुषप्रयत्नस्य** इत्यादि. दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनायाः अन्याय्यत्वाद् इति भावः. 'पुरुष'शब्देन सूत्रे 'रेतःसिक्'पदस्य विषयवाक्ये "पुरुषो वा व गौतमाग्निः" (छान्दो.उप.५।७।१) इत्यत्रत्य 'पुरुष'पदेन तादृश**पौरुषधर्मवान् उच्यते** इति अर्थः.

ननु एतावता कथम् उक्तदोषपरिहारः? इत्यतः आहुः **पौरुषञ्च देशकालसंविधानेन** इत्यादि. **तदर्थं** विधानमन्त्रार्थम्. **तथा सति** तादृशधर्मवति पुरुषे अनौ हुतान्नस्य फलोपधायकरेतस्त्वे सिद्धे सति. अतएव तस्य अन्नस्य रेतोभावो योनौ नियमेन सेकश्च पुत्रमन्थब्राह्मणोक्तरीत्या भवति इति पूर्वोक्तदोषनिरासः. **कथम्** इत्यादि. **पुरुषशब्द-मात्रेण** सर्वस्य अन्नस्य रेतोभावः कथम् अवगम्यते **तत्र आह** इति अर्थः. सिद्धफलितार्थम् आहुः **तस्माद्** इति. 'अन्नम्' इतिपदोत्तरं 'किन्तु' इति शेषो

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पुरुषपदेन इति. सच धर्मः को वा? इत्यतः आहुः **देशेति**. **सामर्थ्यम्** इति. 'पुरुष'पदेन एतादृशो रेतःसिग् इति अर्थः. **देवापेक्षा** इति. एतादृशे पुरुषे प्राणाग्निहोत्रप्रकारेण अन्नहोमार्थं देवापेक्षा इति अर्थः. अन्यथा इन्द्रियाधिष्ठातृदेवप्रसादं विना तथाभोगाभावात्. **तथा सति** इति. एवंरीत्या तस्य अन्नस्य रेतोभावे नियमेन सेके च सति इति अर्थः **कथम्** इति. श्रुतौ 'पुरुष'पदम् अस्ति, तेन कथं व्यभिचारादिवारण-प्रकारो ज्ञायते इति अर्थः. ज्ञाने हेतुः सौत्रः **अथशब्दः**. तस्य अर्थम् आहुः **आनन्तर्याद्** इति. तथाच आनन्तर्ये अन्यथाप्रकारो न भवति इति भावः.

भवेत् ? तस्माद् आनन्तर्यात् पुरुषाहुतिः न अन्नं, रेतःसिग्योगः. ‘योग’शब्देन अत्रापि अन्याधिष्ठानेन रेतःसिग्योगाभावः॥२६॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे सप्तमं रेतःसिग्योगाधिकरणम्॥७॥

योनेः शरीरम्॥२७॥ (३।१।८)

हूयमानं निरूप्य फलं निरूपयति. “तस्या आहुतेः गर्भः सम्भवति” (छान्दो.उप.७।८।२) इति उच्यते.

तत्र सन्देहः. योनौ अन्तःस्थितमेव फलं, बहिः निर्गतं वा ? इति. तत्र ‘गर्भ’शब्देन अन्तःस्थितएव. शरीरपरत्वे(छान्दो.उप.६।८।२)श्रुतिबाधः स्यात्. (तत्रैव६।९।१) उपसंहारोऽपि अग्रे कर्तव्याभावाद् उपपद्यते. ततश्च

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अध्याहार्यः. तथाच पुरुषाग्नौ आहुतिः न अन्नं किन्तु रेतःसिचि यो अन्नयोगः सः इति अर्थः.

ननु अशुद्धानेकजीवाधिष्ठानत्वस्य अन्न उक्तत्वात् तादृशान्नयोगो रेतःसिचि कथम् अभीष्टफलसाधकः ? इत्यतः आहुः योगशब्देन इत्यादि. अन्याधिष्ठानेन जीवान्तराधिष्ठितान्नेन. सहार्थे तृतीया. रेतःसिग्योगाभावः इति. तथाच तादृशान्नेन सह रेतःसिचि योगाभावो लब्धः॥२६॥७॥

हूयमानं रेतःसिच्यन्नयोगरूपां पञ्चमाहुतिं, श्रुतिबाधः गर्भस्य आहुतिफलत्वबोधकश्रुतिविरोधः उपसंहारः पञ्चम्याम् आहुतौ “आपः पुरुषवचसो भवन्ति” (छान्दो.उप.५।९।१) इति श्रुतिरूपः. अग्रे कर्तव्याभावाद् रेतःसेकानन्तरं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

न अन्नम् इति. किन्तु इति शेषं पूरयित्वा पुरुषाहुतिः न अन्नं, किन्तु रेतःसिग्योगः इति अन्वयः. ननु पूर्वाधिकरणे अन्ने अन्याधिष्ठानम् उक्तम्. अतः तज्जन्ये रेतस्यपि अन्याधिष्ठानं स्याद् अतः आहुः योगशब्देन इति. एवञ्च एकएव शुद्धो जीवः तत्र तिष्ठति इति अर्थः ॥२६॥७॥

फलनिरूपणार्थं योन्यधिकरणम् आहुः योनेः इति. सूत्रप्रयोजनम् आहुः हूयमानम् इति. संशयाकारम् आहुः योनौ इति. श्रुतिबाधः इति. गर्भबोधकश्रुति-बाधकः इति अर्थः. उपसंहारोऽपि इति. पञ्चम्याम् आहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति इति उपसंहारः इति अर्थः.

षण्मासानन्तरं गर्भे ज्ञानसम्भवाद् जननानन्तरं न गुरूपसत्यादिः कर्तव्यम् इति आशङ्क्य परिहरति. **योनेः** निर्गतं **शरीरं** 'गर्भ'शब्देन उच्यते, अग्नेः उत्थितस्यैव फलरूपत्वात्. मध्यभावस्य अप्रयोजकत्वात्. मातृपरिपाल्यत्वाय 'गर्भ'वचनम्. कललादिभावे पुरुषवचनत्वाभावाद् उपसंहारानुपपत्तिश्च. 'शरीर'शब्देन वैराग्यादियुक्तः सूचितः नतु स्वयं तदभिमानेन जातः इति. तस्माद् योग्यदेहः साधनसहितो ब्रह्मज्ञानार्थं निरूपितः॥२७॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुरुषकर्तव्यव्यापाराभावादित्यर्थात् तस्यैव फलत्वम् इति आशङ्क्य इति पूर्वपक्ष्य, उत्थितस्य बहिर्निःकासितस्य. यदुक्तं गर्भेस्थितस्यैव स्तुत्याद्युपयोगिज्ञानस्य जातत्वाद् अग्रे मोक्षोपयोगिज्ञानार्थं गुरूपसत्यादि न कार्यं तत्र आहुः मध्यभावस्य इत्यादि. मध्यभावस्य गर्भे जातज्ञानरूपमध्यभावस्य. अप्रयोजकत्वाद् भगवन्मायया अग्रे अपहरणाद् अप्रयोजकत्वम् इति अर्थः. उपसंहारानुपपत्तिः “आपः पुरुषवचसो भवन्ति” (यथापूर्वम्) इति उपसंहारे रेतआहुतेः पुरुषवचःपरिणामित्वोक्तेः अनुपपत्तिः इति अर्थः. वैराग्यादियुक्तः शीर्यमाणत्वेन स्वदेहज्ञानाद् वैराग्यादियुक्तः इति अर्थः. स्वयं पञ्चाग्निविद्यानिष्पन्नो जीवः. तदभिमानेन शरीराभिमानेन. तस्मात् पूर्वोक्तप्रकारेण जन्मशुद्धिनिरूपणात् ॥२७॥८॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

ननु किं कर्तव्यं भवति यस्य अभावः इत्यतः आहुः ततश्च इति. तथाच यद् गुरोः अग्रे ज्ञानार्थं गमनरूपं यत् कर्तव्यं तद् नास्ति इति अर्थः. अतएव उपसंहार उपपद्यते इति भावः. परिहारं व्याकुर्वन्ति योनेः इति. मध्यभावस्य इति. शरीरान्तर्वर्ति-गर्भभावस्य इति अर्थः. एतेन उत्पत्त्यनन्तरं मायया तिरोधानाद् गर्भोत्पन्नं ज्ञानमपि अप्रयोजकम् इति सूचितम्. ननु उक्तं गर्भश्रुतिबाधः इत्यतः आहुः मातृपरिपाल्यत्वाय इति. पूर्वपक्षिमते कलिलरूपगर्भे दूषणम् उद्भावयन्ति कलिलाद् इति. तथाच कलिले 'पुरुष'पदवाच्यत्वं नास्ति इति अतः उपसंहारानुपपत्तिः इति अर्थः. शरीरशब्देन इति. शीर्यते तत् शरीरम् इति व्युत्पत्त्या वैराग्यं सूचितम्. पादार्थम् उपसंहरन्ति तस्माद् इति ॥२७॥ ८॥

इति श्रीमन्मुकुन्दरायसहजमाधुरीपरमानिर्वचनीयसरसवदनतामरससुधाहृदावगाहि

श्रीमदाचार्यपदाब्जकृपापारसारश्रीमत्प्रभुरचनात्मज-

महाराजश्रीयदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामिश्रीगोपालात्मज-गिरिधरविरचिते

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे अष्टमं योनेः शरीरम् इति अधिकरणम्॥८॥
इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्य-विरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
तृतीयाध्यास्य प्रथमः पादः॥३॥१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

॥इति श्रीगोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुत-गोपाललालजीविरचिते अणुभाष्यपदप्रदीपे
तृतीयस्य अध्यायस्य प्रथमः पादः॥१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अणुभाष्यविवरणे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

तृतीयो अध्यायः द्वितीयः पादः

पूर्वपादे अधिकारियोग्यदेहो निरूपितः. द्वितीये जीवस्य मुक्तियोग्यता निरूप्यते. तत्र प्रथमं स्वप्नं निरूपयति. स्वप्नस्य सत्यत्वे तत्कृतगुणदोषसम्बन्धो जीवस्य भवेत्. ततश्च निरूपिता शुद्धिः व्यर्था स्यात्. अतः स्वप्नस्य मिथ्यात्वं प्रदर्शयितुम् अधिकरणारम्भः.

सन्ध्ये सृष्टिराह हि॥१॥ (३।२।१)

तत्र पूर्वपक्षम् आह. **सन्ध्ये** स्वप्ने **सृष्टिः** आह “तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्” (बृहदा. उप. ४।३।९) इति उपक्रम्य, “न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत” (तत्रैव ४।३।१०) इत्यादिना **सृष्टिः** आह. **सन्ध्ये** स्थाने **सृष्टिः** अस्ति. यतः श्रुतिः स्वयमेव आह. युक्तश्च अयम् अर्थः. यथा श्रुतिः वदति तथैव स्वप्ने दृश्यते. देवादिवाक्यानां प्रबोधेऽपि बाधकाभावात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पादयोः एकनिर्वाहकत्वसङ्गतिप्रदर्शनाय आहुः **पूर्वेत्यादि**. तत्र द्वितीयचरणारम्भे. **व्यर्था स्याद्** मोक्षोपयोग्युपदेशानर्हत्वेन तस्मिन् पुरुषे शुद्धिः व्यर्था स्याद् इति अर्थः. अधिकरणप्रयोजनोक्त्यैव स्वप्नसृष्टिः सत्या न वा? इति संशयस्य उक्तप्रायत्वात् पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इत्यादिना. **आह** सृष्टिम् आह इति अर्थः. **बाधकाभावाद्** विषयांशे बाधाभावाद् न मिथ्यात्वम् इति अर्थः. मिथ्यात्वस्य विषयबाधाधीनत्वाद् इति भावः॥१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सङ्गतिप्रदर्शनं कुर्वन्ति **पूर्वेति**. **योग्यता** इति. तथाच जीवे योग्यतां विना उपदेशः स्थिरो न भविष्यतीति योग्यतानिरूपणम् इति अर्थः. **तत्र** इति. योग्यतानिरूपणे. स्वप्ननिरूपणप्रयोजनम् आहुः **स्वप्नस्य** इति. **जीवस्य** इति. ज्ञानाधिकारियोग्य-देहविशिष्टस्य इति अर्थः. **अधिकरणारम्भः** सन्ध्यसृष्ट्यधिकरणारम्भः.

एतेन स्वप्नसृष्टिः मिथ्या वा सत्या वा इति संशयः प्रदर्शितः. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. **सन्ध्यम्** एतल्लोक-परलोकयोः सन्धौ भवम्. नैयायिकैः इयमेव सृष्टिः स्वप्ने स्मर्यते इति स्वीक्रियते. तन्निराकरणार्थम् आहुः **सन्ध्ये स्थाने** इति. प्रबोधेऽपि अनुभवम् आहुः **देवादीति**. श्रुत्युक्तदेववाक्यानाम् इति अर्थः. **बाधकाभावाद्** इति.

नच इयमेव सृष्टिः तत्र दृश्यते. “न तत्र रथाः” (तत्रैव ६।३।१०) इत्यादिना निषेधात्. श्रुतिवादिनां श्रुतिरेव प्रमाणम्, किं पुनः अनुभवसंवादिनी तस्मात् स्वप्ने सृष्टिः अस्ति॥१॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च॥२॥

काठके चतुर्थवल्लीयां श्रूयते. “य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं-कामं पुरुषो निर्ममाणः. तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतम् उच्यते” (कठोप.२।२।८) इति निर्मातारम् एके वदन्ति. यद्यपि “सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर भेदेन” (ब्रह्मसू.१।३।४२) इत्यत्र “न तत्र रथाः” (बृहदा.उप.६।३।१०) इत्यपि ब्रह्मप्रकरणं, तथापि नियतधर्मपक्षे जीवएव कर्ता इति प्रतिभाति. तदर्थं निःसन्दिग्धं वचनम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वसूत्रविषयवाक्येन स्वापनिकसृष्टिसिद्धावपि एतत्सूत्रप्रणयनस्य प्रयोजनं वक्तुम् आहुः यद्यपि इत्यादि. ब्रह्मप्रकरणं सिद्धम् इति शेषः. नियतधर्मपक्षे “कतम आत्मा” (बृहदा.उप.४।३।७) इति प्रश्ने “योयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु” (तत्रैव) इति उपक्रम्य अग्रे “स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय” (४।३।९) इतिकथनात् तस्यैव अग्रे “न तत्र रथाः” (४।३।१०) इत्यादिना विवरणात् तस्यैव अयं धर्मः इति पक्षे, निस्सन्दिग्धं भगवत्कर्तृत्वप्रतिपादनाय एतत्सूत्रम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

स्वप्नानुभवस्य जागरणोत्तरं स्वप्ने “इदं मया भुक्तम्” “इदं मया दृष्टम्” इति अनुव्यवसायो जायते “न मया स्वप्ने स्मृतम्” इति अनुव्यवसायः इति प्रबोधे बाधाभावाद् इति अर्थः. तटस्थः शङ्कते नच इति. निराकुर्वन्ति न तत्र इति. संवादिनी इति. तथाच अनुभवं श्रुतिः यत्र वदति तत्र शङ्कालेशोऽपि नास्ति इति भावः ॥१॥

पूर्वसूत्राद् आह इत्यस्य बहुवचनान्तत्वेन अनुवृत्तौ एके शाखिनः निर्माता-रश्च आहुः. पुत्रादयश्च निर्मातारम् आहुः इति सूत्रार्थः. यद्यपि सृष्टिस्तु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धा तथापि कस्य इयं निर्मिता इति निश्चयार्थं सूत्रप्रणयनम् इति. एके कठाः काण्वाः.

ब्रह्मकर्तृकत्वम् अस्याः सृष्टेः व्यवस्थापयन्ति यद्यपि इत्यादिना. “सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः” (ब्रह्मसू.१।३।४२) इति सूत्रं प्रथमाध्याये तृतीयपादसमाप्तौ. न तत्र इति बृहदारण्ये. उभयथापि ब्रह्मप्रकरणम् इति अर्थः. नियतधर्मपक्षे इति. स्वयंनिर्माणकर्तृत्वपक्षे इति अर्थः. तथाच ‘कतमः आत्मा’ इति प्रश्ने कृते ‘यो अयं विज्ञानमयः’ इति उपक्रमोत्तरं स्वयं निर्माय इति उक्तत्वाद् अदृष्टद्वारा जीवएव कर्ता इति

उदाहरन्ति. भगवन्निर्मितत्वात् स्वप्नस्थस्यापि सत्यत्वम्. नहि कर्तुः स्वापो अस्ति येन भ्रमः स्यात्, “जागर्ति” (कठोप.१।१।२३) इति वचनात्. इच्छापूर्वकं च सर्वं सृजति. “शतायुषः पुत्रपौत्रान्” (कठोप.१।१।२३) इति कामविषयाः पुत्रादयः उक्ताः. ते च निर्मिताः परलोकसाधका इति लोकत्रयकल्पना. ‘च’कारद्वयेन कार्यकारणगताः सर्वे धर्मा उक्ताः. तस्मात् श्रुत्युपपत्तिभ्यां स्वप्नप्रपञ्चस्य सिद्धत्वात् तत्कृतगुणदोषसम्बन्धे पूर्वोक्तदेह-निर्माणं व्यर्थम् इत्येवं प्राप्तम्॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भगवदित्यादि. निर्मितत्वाद् इति स्वप्नस्थविषयान्वयि. सत्यत्वं तृतीयसृष्टित्वेन विद्यमानत्वम्. न हि इत्यादि. तथाच पूर्ववाक्ये “स्वयं निर्माय” इत्यनन्तरं “स्वपिति” इति श्रवणाद् अत्र च ‘सुप्तेषु’ जीवेन्द्रियादिषु ‘जागर्ति’ ब्रह्म जागर्ति इति श्रवणात् “कामं कामम्” इत्यनेनापि इच्छापूर्वकसृष्टिश्रवणाद् भगवत्कर्तृत्वमेव अवसीयते. न हि जीवः इच्छापूर्वकं स्वानिष्टदं सृजति. ‘शतायुषः’ इत्यादि. “शतायुषः पुत्रान् पौत्रान् वृणीष्व” (कठोप.१।२।३) इति. पूर्वं कामविषयाएव पुत्रादयः ऐहिकाः उक्ताः तेऽपि भगवन्निर्मिताएव. भगवन्निर्मितत्वादेव परलोकस्यापि साधकाः. चकारद्वयेन सूत्रस्थचकारद्वयेन. तथाच लोकत्रयनिर्मातृत्वं कारणगतसामर्थ्यापरोक्षोपादानज्ञानादिस्वीकारः कार्यगतसत्यत्वादि-धर्मस्वीकारश्च भगवतएव. श्रुत्युपपत्तिभ्याम् इति. श्रुतिः “न (तत्र) रथा” (बृहदा. उप.४।३।९) इत्यादिरूपा. उपपत्तिः स्वप्नसृष्टेः भगवत्कर्तृत्वे सत्यत्वसाधिका युक्तिः. पूर्वोक्तः पञ्चाग्निविद्यान्यायेन प्राप्तशुद्धिकः. सूत्रार्थस्तु एके निर्मातारम् आहुः ततः पुत्रादयः इति च आहुः इति॥२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रतिभाति इति अर्थः. तन्निराकुर्वन्ति तदर्थम् इति. तन्निराकरणार्थम् इति अर्थः. वचनम् इति. ‘एषः सुप्तेषु जागर्ति’ इति कठवल्लीस्थं वचनम् इति अर्थः. पूर्वपक्षी पूर्वपक्षदाढ्यार्थम् एतस्याः सृष्टेः सत्यत्वम् आह भगवद् इति. जीवनिराकरणार्थम् आह इच्छापूर्वकम् इति. तथाच जीवः स्वक्लेशार्थम् इच्छापूर्वकं न सृजति इति भावः. स्वाप्निकलोकम् आदाय लोकत्रयम् अस्ति इति आह शतायुषः इति. उक्ताः श्रुतौ इति शेषः. सौत्र ‘च’कारद्वयार्थम् आहुः कारणेति. उपादानगोचरापरोक्षज्ञानपूर्वकं सामर्थ्यं कारणगतो धर्मः, कार्यगतश्च सत्यत्वम् इति अर्थः ॥२॥

मायामात्रं तु कात्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्॥३॥

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. स्वप्नसृष्टिः **मायामात्रम्**. तत्र हेतुः **कात्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**. कृत्स्नत्वेन यस्य यादृशं स्वरूपं देशकाल-वस्तुसापेक्षं तथाभिव्यक्तिः कात्स्न्येन अभिव्यक्तिः तदभावात्. अयम् आशयः. श्रुतिः सृष्टिमेव आह, न तस्य सत्यत्वमपि. यथा

“ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं” (छान्दो.उप.६।८।७) इति

“आत्मानं स्वयम् अकुरुत” (तैत्ति.उप.२।७)

“तत् सत्यम् इत्याचक्षते” (तैत्ति.उप.२।६)

“कथम् असतः सज्जायेत” (छान्दो.उप.६।२।२)

इत्यादिश्रुतिसहस्रेभ्यो अस्य सत्यत्वं प्रतीयते, न एवं स्वप्नप्रपञ्चस्य श्रुतिः आह, सत्यप्रयोजनाभावाच्च. स्वमात्रविहारस्तु महामायावित्वात्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति तु शब्दः इत्यादिना. पक्षं स्वप्नस्य सत्यत्वरूपं पूर्वपक्षम्. **मायामात्रं...** देशेत्यादि. तथाच यस्मिन् देशकाले यद्वस्त्वेकवारं यथा प्रतीतं तथैव बहुप्रतीतिगोचरत्वं कालान्तरेऽपि यस्य तस्य ‘कृत्स्न’शब्दवाच्यत्वं, यथा घटादौ, स्वान्निकेषु न एवं, यथा इन्द्रजालिक-नटेन लोकव्यामोहाय प्रदर्श्यते तथा भगवतापि स्वान्निकः प्रपञ्चः क्रियते इति अर्थः. श्रुतिः “न तत्र रथा” (बृहदा.उप.४।३।९) इति श्रुतिः. अस्य बाह्यप्रपञ्चस्य. सत्यप्रयोजनाभावात् स्वप्नदृष्टेः सत्यत्वे प्रयोजनाभावाद् इति अर्थः. महामायावित्वाद् भगवतो महामायावित्वाद् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तसूत्रम् आहुः **मायामात्रं तु कात्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**. पक्षं पूर्वपक्षम्. **मायामात्रम्** इति. भगवतो द्वादशशक्तिमध्ये या व्यामोहजनिका सैव माया इति उच्यते. इदं च निबन्धे स्पष्टम्. प्रथमस्कन्धे च “अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम्, यया सम्मोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकम्” (भाग.पुरा.१।७।४) इति. तन्मात्रं तदेकोपादानम् इति अर्थः. तथाच यथा घट-चक्र-चीवर-मृत्तिकादि-बाह्यसामग्र्यपेक्षा तथा स्वान्निकघटे नास्ति इति भावः. देशकालेति. ‘वस्तु’शब्देन विषयः. इदम् उपलक्षणम्, इन्द्रियव्यापारः अथच प्रतिबन्धकाभावः इति. तथाच सामाजिकव्यामोहार्थं नटसृष्टिः एवं जीवव्यामोहार्थम् ईश्वरसृष्टिः इयम् इति भावः. अत्र स्वप्नविषये मतबाहुल्यं ‘प्रकाशे’ अनुसन्धेयम्. पूर्वपक्षोक्तम् अस्याः सत्यत्वं निराकुर्वन्ति अयम् आशयः इति. यथा इत्यस्य सत्यत्वं प्रतीयते इत्यनेन अन्वयः.

माययापि सिध्यति. नापि भिन्नः प्रपञ्चः, जीवस्य एकत्वात्. “अविद्यया मन्यते” (बृहदा.उप.६।३।२०) इतिवचनाद् न तत्सुख-दुःख-भोगार्थमपि सत्यत्वम् अङ्गीकर्तव्यम्. स्थानद्वयप्रतिज्ञा च विरुद्धयेत. जीवतो मृतांश्च पश्यति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सिध्यति ब्रह्मकर्तृकः मायोपादानकः स्वप्नप्रपञ्चो मिथ्यारूपः सिध्यति इति अर्थः. ननु जीवस्य सुखदुःखहेतुत्वाद् हेतोः असत्त्वे च सुखदुःखरूपकार्यासम्भवात् तादृशकार्यहेतुभूता स्वप्नसृष्टिः सत्यैव आस्ताम् इत्यतः आहुः नापि इत्यादि. भिन्नः एतल्लोक-परलोकाभ्यां भिन्नः तत्समानः सत्यः इति अर्थः. जीवस्य एकत्वाद् अवस्थात्रयेऽपि एकत्वाद्. इदं च संस्कारस्य स्वप्नावस्थोपकारकत्वप्रदर्शनाय उक्तम्. मन्यते स्वान्निकपदार्थान् स्वप्ने सत्यतया मन्यते इति अर्थः. सत्यत्वं स्वप्नप्रपञ्चस्य सत्यत्वम्. स्थानद्वयप्रतिज्ञा “तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः, इदञ्च

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अस्य इति. बाह्यप्रपञ्चस्य इति अर्थः. ननु सृष्टेः विहारार्थं निर्माणम् इति “स वै नैव रेमे” (बृहदा.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुत्या प्रतिपादितम्. तथाच स्वान्निकसृष्टेरपि सृष्टित्वाश्रयत्वाद् विहारार्थत्वाच्च बाह्यसृष्टिवत् सत्यत्वं स्वीकर्तव्यम् इत्यतः आहुः सत्येति. सत्यत्वकल्पनायां प्रयोजनाभावाद् इति अर्थः. ननु विहारसम्भवएव प्रयोजनम् इति आहुः स्वप्नमात्रेति. तथाच स्वान्निकसृष्टेः असत्यत्वेऽपि मायया विहारसिद्धिः इति भावः. ननु स्वान्निकी सृष्टिः द्विविधा स्वीक्रियते, एका “तस्य वा एतस्य” (बृहदा.उप.४।३।९) इत्यादिना जीवोपक्रमाद् जीवसृष्टिः मिथ्यारूपा, अपरा काठकोक्ता ईश्वरसृष्टिः सत्या भवति इत्यतः आहुः नापि इति. एकत्वाद् इति. तथाच एको जीवो द्रष्टा, स्वप्नप्रपञ्चद्वयम्. इदन्तु न घटते. यत् पूर्वस्मिन् दिने दृश्यते तद् अपरस्मिन् दिने न दृश्यते इति एकरूपत्वाभावाद् यद् एकेन दृश्यते तद् अपरेण न दृश्यते इत्यतो भिन्नः सत्यः स्वप्नप्रपञ्चो नास्ति इति भावः. ननु तस्य असत्यत्वे स्वप्ने सुखदुःखानुभवो न स्याद् अतः आहुः अविद्यया इति. वचनाद् इति. अथ यत्र राजेव देवदत्तेत्यादिना सुखम्. “अथ यत्र एनं घ्नन्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्र अविद्यया पश्यति (मन्यते)” (बृहदा.उप.४।३।२०) इति वचनाद् दुःखं पश्यति, न तदर्थं सत्यत्वम् अङ्गीकर्तव्यम् इति अर्थः. स्वप्नस्य मिथ्यात्वे साधकान्तरम् अस्य आहुः स्थानद्वयेति. “तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः” (बृहदा.उप.४।३।९) इत्यादिना प्रतिज्ञायाः कृतत्वाद् न तृतीयं सत्यं

इति लोकद्वयदर्शनम्. अतो लोकद्वयप्रतिच्छायरूपत्वात् मायया क्रीडायाम्
अन्यानुरोधाभावेन अतिसुखत्वाद् भगवत्कृतमात्रवाचकत्वाच्च श्रुतेः अतिरिक्त-
कल्पनायां प्रमाणाभावाद् ज्योतिःशास्त्रनियमाभावाच्च मायामात्रमेव स्वप्नइति
न तत्कृतगुणदोषसम्बन्धः. दीक्षितस्य अन्नभोजनादिप्रायश्चित्तन्तु भगवत्क्रीडा-
यामपि प्रतिच्छायत्वात् क्रियते, तदानीं कर्तृत्वस्य आरोपात्. अन्यदा कर्तृत्वस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

परलोकस्थानञ्चेति” (बृहदा.उप.४।३।९) इति श्रुत्युक्तद्वित्वप्रतिज्ञा. लोकद्वयप्रदर्शनं
“तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च” (यथापूर्वम्)
इत्यनेन उक्तं लोकद्वयदर्शनं लोकद्वयस्थानां दर्शनम् इति अर्थः. प्रतिच्छायरूपत्वात्
प्रतिबिम्बसमानत्वाद् इति अर्थः. गुणदोषसम्बन्धः उक्तम् उक्त्यधिकारिजीवे
गुणदोषसम्बन्धः. अन्नभोजनेत्यादि. स्वप्ने अन्नभोजनादौ प्रायश्चित्ताम्नानं
तद्भोजनारोपस्यैव प्रायश्चित्तमिति तेन न स्वप्नस्य सत्यत्वम् इति अर्थः. अन्यदा स्वप्ने
भोजनान्यकाले इति अर्थः. कर्तृत्वस्य अगम्यागमनापक्वमांसादिभोजनकर्तृत्वस्य.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

स्वप्नस्थानम् इति अर्थः. ननु सन्ध्यं च तृतीयस्थानम् इत्यनया श्रुत्या तृतीयस्थानस्य
उक्तत्वाद् अतः आहुः जीवतः इति. दर्शनम् इति. तथाच तत्र तेषां दर्शनमेव, नतु ते
तत्र सन्ति इति न तस्य स्थानम् इति भावः. ननु यथा कथञ्चित् तृतीयस्य सत्त्वे कथं
लोकद्वयप्रतिज्ञा उक्ता इत्यतः आहुः अतः इति. तथाच अस्य प्रतिच्छायरूपत्वं, नतु
सत्त्वम् इति अर्थः. ननु एतादृशा सत्यसृष्टिना किं प्रयोजनम्? अतः आहुः मायया इति.
तथाच सुखजनकत्वमेव प्रयोजनम् इति अर्थः. ननु बाह्यसृष्टेरिव अस्यापि
भगवत्कृतत्वेन सत्यत्वं कुतो न कल्प्यते? इत्यतः आहुः भगवद् इति. ‘मात्र’पदेन
सत्यत्वव्यवच्छेदः. श्रुतेः इति. काठकश्रुतेः इति अर्थः. ननु मास्तु सत्यत्वं तथापि
तत्कृतगुणदोषसम्बन्धे जीवस्य कुतो नास्ति? इत्यतः आहुः ज्योतिः इति. अमुकराशिगे
सूर्ये एतावती रात्रिः इत्यादि नियमाभावाद् इति अर्थः.

ननु तत्कुलगुणदोषसम्बन्धाभावे स्वीक्रियमाणे दीक्षितेन कृते स्वप्ने
अन्नभोजने प्रायश्चित्तविधानं किमर्थम्? अतः आहुः दीक्षितस्य इति. आरोपाद् इति.
दीक्षितस्य यज्ञकर्मणि एककर्तृत्वं नियमितमिति निषिद्धेऽपि आरोपितकर्तृत्वमपि
दोषजनकम् इति अर्थः. अन्यदा इति. अन्यदा कर्तृत्वस्य स्वप्ने अगम्यागमनकर्तृत्वस्य
अशास्त्रत्वाद् अतएव शास्त्रविहितत्वाभावात् शुभसूचकम् इति उक्तम्. तथाच न तस्य

अशास्त्रत्वाद् न धर्माधर्मजनकत्वम्. देवताज्ञादिस्तु जीवब्रह्मणोः विद्यमानत्वाद् युक्ता. अलौकिकज्ञाने हि प्रतिच्छायत्वात् संवादः. क्वचिद् भगवदावेशे ईषत् संवादोऽपि. तस्मात् स्वतन्त्रसत्यतायां प्रमाणाभावात् मायामात्रं स्वप्नप्रपञ्चः इति सिद्धम् ॥३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अशास्त्रत्वात् स्वाप्तिकस्य तस्य सत्यानुष्ठानविरुद्ध-शुभफलप्रदत्वस्मृत्या शास्त्रोक्त-सत्यपदार्थविरुद्धत्वाद् इति अर्थः.

ननु स्वप्नस्य मिथ्यात्वे देवताज्ञा-देवदर्शनादीनामपि भ्रमविषयत्वं स्याद् अतः आहुः देवता इत्यादि. विद्यमानत्वाद् अन्तर्हृदि विद्यमानत्वाद्. युक्ता प्रामाण्ययुक्ता. तथाच यथा रथादिविषयाणां मायानिर्मितत्वेन तदादिज्ञानानां स्वाप्तिकत्वेन अप्रामाण्यं न तथा देवाज्ञादर्शनादिविषयाणां मायिकत्वम् इति सा प्रमा युक्ता. अलौकिकज्ञाने स्वप्रकाशजीवचैतन्ये. प्रतिच्छायारूपत्वाद् देवदर्शन-तदाज्ञादीनां प्रतिभास-समानत्वात्. संवादः विषयज्ञानयोः द्वयोरपि वास्तविकतया प्रामाण्यात् संवादः. क्वचिद् इत्यादि. तथाच इन्द्रप्रतर्दनसंवादस्थले इन्द्रे भगवदावेशोक्तिप्रामाण्यवत् स्वप्नैकदेशेऽपि क्वचिद् भगवदावेशाद् यत् सम्पन्नं तदंशे प्रामाण्यम् आवेशमहिम्ना नतु स्वप्नेऽपि प्रामाण्यम् अस्ति इति अर्थः ॥३॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सत्यत्वम् इति भावः. ननु स्वप्नप्रपञ्चे देवतादर्शनं तदाज्ञादिश्च मिथ्या स्याद् अतः आहुः देवता इति. विद्यमानत्वाद् इति. “द्वा सुपर्णा” (मुण्ड.उप.३।१।१) इति श्रुत्या उभयोः अन्तर्हृदि विद्यमानत्वात्. तद्द्वारा जीवस्यापि अनुभवो जायते इति तदंशे सत्यता युक्ता इति अर्थः. श्रीप्रकाशकृतस्तु जीवाः इन्द्रादयो योगोत्थसामर्थ्याः, ब्रह्म स्वतएव अतिसमर्थम् अतः समाधाविव स्वप्नेऽपि अन्तर्हृदि प्रविश्य विद्यमानत्वाद् दर्शनाज्ञादिकं ददति इति प्राहुः. ननु तादृशानुभवस्य असत्त्वमेव अस्तु. तथा सति कार्यजनकत्वं कथम्? इत्यतः आहुः अलौकिकेति. बहिः इन्द्रियाजन्यत्वाद् इति हेतुः पूरणीयः. प्रतिच्छायात्वाद् प्रतिबिम्बरूपत्वात्. संवादः अर्थक्रियाकारित्वं, तद्वद् इति अर्थः. युक्त्यन्तरम् आहुः क्वचिद् इति. इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकायाम्. भगवदावेशेति. इन्द्रे भगवदावेशेन उपासनादि-कथनरूपः ईषत्संवादः. एवं स्वप्नेऽपि देवावेशेन कथनं, नतु स्वधर्मः इति न तस्य सत्यत्वम् इति अर्थः. उपसंहरन्ति तस्माद् इति. अधिकन्तु प्रकाशाद् अनुसन्धेयम् ॥३॥

ननु तर्हि जीवसाक्षिकम् एकदेशेन किमिति सृजति ? तत्र आह

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः॥४॥

सूचकः शुभाशुभफलसूचको भवति स्वप्नः. ‘च’कारात् क्वचिद् आज्ञाविशेषदानम्, कलिकालादेः प्रत्यक्षे बाधकत्वात्. युक्तश्च अयम् अर्थः. प्रातः सूचकफलस्यैव दृष्टत्वात्, ननु स्वप्नपदार्थस्य. सूचकत्वे प्रमाणम् आह “यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने” (छान्दो.उप.५।२।९) इत्यादिश्रुतेः. किञ्च, आचक्षते च तद्विदः. स्वप्नाध्यायविदः तथैव आचक्षते. “आरोहणं गो-वृष-कुञ्जराणाम्” इत्यादिना. तस्मात् सूचनार्थं जीवप्रदर्शनम् इति॥४॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध-विपर्ययौ॥५॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु जीवाय भगवान् सृष्टिं करोति,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. जीवसाक्षिकं जीवमात्रप्रतीतिगोचरम्. एकदेशेन देवाज्ञादि-सत्यप्रपञ्चातिरिक्तांशेन. किमिति कुतो हेतोः. सृजति भगवान् स्वप्नसृष्टिं मिथ्याभूतां करोति इति अर्थः. सूचको भवति. तथाच लोकानां शुभाशुभफलसूचनार्थं स्वप्नसृष्टिं करोति स्वस्य च स्वच्छन्दक्रीडार्थम् इति हेतुवर्णनं कृतम्. क्वचित् स्वप्नविशेषे. कलिकालादेः कलिकालादिकृतम्, तेन स्वप्नोत्कर्षोद्योतितः. प्रत्यक्षे बाधकत्वात् स्वप्नप्रत्यक्षविषयीभूते अर्थे जाग्रददशायां कलिकालादेः बाधकदर्शनाद् इति अर्थः. अयं स्वप्ने सूचकत्वरूपः उत्कर्षः. सूचकफलस्यैव इति ‘एव’कारेण प्रमाफलव्यवच्छेदः. ननु स्वप्नपदार्थस्य इति अस्य विभक्तिपरिणामेन दृष्टत्वम् इति अन्वयः॥४॥

जीवाय जीवस्य फलदानार्थम्. प्रदर्शयति जीवाय प्रदर्शयति. स्वस्य इत्यादि. तथाच जीवस्य सकलेन्द्रियविषयकृतो यो भोगः तत्र या भगवदिच्छा सैव

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. एकदेशेन इति. पदार्थशून्यधर्ममात्रेण इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः सूचकः इति. प्रत्यक्षे देवताप्रत्यक्षे. ननु स्वप्नपदार्थस्य इति. दृष्टत्वाद् इत्यनेन अन्वयः. तथाच तस्य असत्यत्वाद् न दर्शनम् इति भावः. श्रुतेः इति. सूत्रांशम् अवतारयन्ति सूचकत्वेति. उत्तरसूत्रांशं व्याकुर्वन्ति किञ्च इति॥४॥

आशङ्काम् आहुः ननु इति. सर्वलीलाम् इति. जीवाय प्रदर्शयति इत्यनेन

प्रदर्शयति च स्वस्य सर्वलीलाम्, अंशश्च अयं, कथम् अस्य दुःखित्वम् ? इति आशङ्क्य परिहरति ‘तु’शब्दः. अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितम्. तत्र हेतुः **पराभिध्यानात्**. परस्य भगवतो अभितो ध्यानं स्वस्य एतस्य च सर्वतो भोगेच्छा, तस्मात्. ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः. ऐश्वर्य-तिरोभावात् दीनत्वं पराधीनत्वम्. वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनम्. यशः तिरोभावात् सर्वहीनत्वम्. श्रीतिरोभावाद् जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम्. ज्ञानतिरोभावाद् देहादिषु अहम्बुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं च अपस्मारसहितस्येव. वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्तिः. **बन्धः** चतुर्णां कार्यो, **विपर्ययो** द्वयोः. तिरोभावादेव एवं, न अन्यथा. युक्तो अयम् अर्थः, एकस्य एकांशप्राकट्येऽपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

‘पराभिध्यान’शब्देन उच्यते. **चतुर्णाम्** ऐश्वर्य-वीर्य-यशःश्रीतिचतुर्णाम्. **द्वयोः** ज्ञान-वैराग्ययोः. **तिरोभावाद् एवं न अन्यथा** इति षड्धर्मतिरोभावाद् बन्धविपर्ययौ न अन्यथा न स्वतः इति अर्थः. युक्तत्वं स्फुटयन्ति **एकस्य** इत्यादिना. **एकस्य** कस्यचिद् भगवदीयस्य. **एकांशेति** पूर्णषड्धर्माणां भगवत्येव सत्वात् षण्णाम्मध्ये एकस्य कस्यचिद्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अन्वयः. अयं जीवः. **कथम्** इति. ‘इति’ हेतोः इति शेषः. परिहारसूत्रं व्याकुर्वन्ति **तिरोहितम्** इति. अतो दुःखित्वम् इति अर्थः. तिरोधाने कारणं **यदभितो ध्यानम्**. तस्य अर्थम् आहुः **स्वस्य एतस्य च** इति. स्वस्य एतस्य जीवस्य च सर्वप्रकारेण भोगो भवतु इत्यादि इच्छा. एवञ्च तिरोधाने भगवदिच्छैव कारणम् इति अर्थः. तदेव आहुः **तस्माद्** इति. केषां धर्माणां तिरोभावः ? इत्यतः आहुः **ऐश्वर्येति**. षण्णां तिरोभावः. तन्मध्ये **चतुर्णाम्** ऐश्वर्यादितिरोभावानां कार्यम् आहुः **बन्धः** इति. ज्ञानवैराग्यतिरोभावयोः कार्यम् आहुः **विपर्ययः** इति. अन्यथाज्ञानम् इति अर्थः. **द्वयोः** इति. द्वयोः तिरोभावः कार्यम् इति पूर्वेण अन्वयः. सौत्रं ‘ततः’ इति पदं व्याकुर्वन्ति **तिरोभावाद्** इति. एवं बन्धविपर्ययौ. **न अन्यथा** इति. नतु स्वतः इति अर्थः. **युक्तः** इति. षण्णां तिरोभावादेव बन्ध-विपर्ययौ, **अयम् अर्थो युक्तः** इति अर्थः. कथं युक्तः ? इत्यतः आहुः **एकस्य** इति. **एकस्य** जीवस्य ऐश्वर्यादीनाम् **एकांशप्राकट्येपि** तथा निश्चयेन बन्धाभावात्. अत्र प्रमाणं “यत्पादपङ्कजे”ति वाक्यम्. तस्माद् युक्तो अयम् अर्थः इति भावः.

ननु षण्णां तिरोभावापेक्षया एकः आनन्दांशतिरोभावएव बन्ध-विपर्ययोः

तथाभावात्. आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितः येन जीवभावः. अतएव काममयः, अकामरूपत्वाद् आनन्दस्य. निद्रा च सुतरां तिरोभावकर्त्री भगवच्छक्तिः. अतो अस्मिन् प्रस्तावे जीवस्य धर्मतिरोभावः उक्तः. अन्यथा भगवतः ऐश्वर्यादिलीला निर्विषया स्यात्. तस्माद् न जीवस्वरूप-पर्यालोचनया किञ्चिद् आशङ्कनीयम्॥५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एकांशेनापि आविर्भावेऽपि **तथाभावाद्** बन्धविपर्ययभावाभावाद् इति अर्थः.

ननु आनन्दांशतिरोभावएव बन्धविपर्ययहेतुः अस्तु इत्यतः आहुः **आनन्दांशस्तु** इत्यादि. **पूर्वमेव** जीवभावात् पूर्वमेव व्युच्चरणकाले इति अर्थः. **अतएव** आनन्दहीनत्वादेव. **काममयः** सुखकामनावान्. **अकामरूपत्वात्** स्वापेक्षयातिरिक्तो-त्कृष्टकाम्यस्य अभावेन अकामरूपत्वाद् इति अर्थः. **निद्रा** निद्रात्वेन उच्यमाना सकलभगवद्भर्मतिरोभावकर्त्यविद्या बोध्या. **अन्यथा** भगवद्भर्माणाम् अतिरोभावे, **निर्विषया स्यात्** षण्णाम्मध्ये प्रत्येकधर्मेण भगवता क्रियमाणा लीला तादृशजीवानाम् अभावे न स्याद् इति अर्थः. **स्वरूपपर्यालोचनया** षड्धर्मतिरोभावलक्षणया इति अर्थः. **किञ्चिद्** दुःखित्वानुपपत्त्यादिकम्॥५॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कारणम् इत्येव कुतो न उच्यते? इत्यतः आहुः **आनन्देति. पूर्वमेव** सृष्टिकालएव. **अतएव** इति. आनन्दस्य तिरोभावादेव जीवः काममयः इति अर्थः. कुतः? इत्यतः आहुः **अकामरूपत्वाद्** इति. स्वरूपानन्दस्य अकामरूपत्वाद् इति अर्थः. तथाच मुक्तापि जीवाः सेवायोग्या इति तेषु स्वरूपानन्दस्य ऐश्वर्यादेश्च तिरोभावो नास्ति इति मुक्तत्वम् इति भावः. अतएव उक्तं प्रकाशे पुरुषोत्तमस्वामिचरणैः द्विविधा हि जीवाः सदा मुक्ताः बन्धयोग्याश्च इति. आद्यस्तु उक्तएव. अपरस्तु सर्वेषां तिरोभावाद् इति.

ननु यथा भगवदिच्छया तिरोधानं जायते तथा निद्रयापि जायते, सा कुतो न उक्ता? इत्यतः आहुः **निद्रा च** इति. **सुतरां** प्रपञ्चस्य सर्वस्य इति अर्थः. तथाच इच्छयातु धर्मस्यैव तिरोभावः इति सएव अत्र उक्तः इति अर्थः.

ननु एवं भगवता किमर्थम् इच्छा कर्तव्या? इत्यतः आहुः **अन्यथा** इति. **अन्यथा** ऐश्वर्यादितिरोभावे. तथाच जवनिकासाध्या यथा नटलीला तद्वद् इति अर्थः. उपसंहरति **तस्माद्** इति. **किञ्चिद्** दुःखित्वादिकम्॥५॥

देहयोगाद् वा सोऽपि॥६॥

ईश्वरेच्छया ऐश्वर्यादितिरोभावं स्वमते निरूप्य, मतान्तरेणापि नियत-धर्मवादेन निरूपयति देहयोगाद् वा. देहसम्बन्धादेव अस्य सर्वतिरोभावः विपर्ययो वा. ‘अपि’शब्दाद् अन्यत्. अस्मिन् पक्षे देहवियोगएव पुनः ऐश्वर्यादिप्राप्तिः. पूर्वस्मिन् कल्पे विद्यमानेऽपि इति विशेषः, नतु ईश्वरेच्छया विकल्पः.

कश्चित् ‘पर’शब्देन देहादिम् आह. तदा अभिध्यान-योगयोः आकस्मिकता स्यात्. “सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति विरोधश्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

नियतधर्मवादेन सूक्ष्मदेहनियतो भगवद्भर्माणां तिरोभावः इति यस्य वादिनो मतं तन्मतेन इति अर्थः. ‘वा’शब्दो अवधारणे. अस्य जीवस्य. *सः सर्वभगवद्भर्म-तिरोभावः. विपर्ययः विपरीतज्ञानम्. अन्यद् बन्धुःखादि. देहवियोगे सूक्ष्मदेह-वियोगे. पूर्वस्मिन् कल्पे ईश्वरेच्छया आनन्दैश्वर्यादितिरोभावो विपरीतज्ञानञ्च इति कल्पे विद्यमानेऽपि. नतु इत्यादि. ईश्वरेच्छया तिरोभावो देहेन वा तिरोभावः इतितु विकल्पो न इति अर्थः. ‘पर’शब्देन “पराभिध्यानाद्”(ब्रह्मसू.३।२।५) इति सूत्रस्थ‘पर’पदेन. देहादिं देहारम्भकादृष्टादिम्. आकस्मिकता स्याद् देहादृष्टादौ अचेतने ध्यानयोगयोः असम्भवाद् आकस्मिकता स्याद् इति अर्थः. इति विरोधश्च इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अपि इति. चतुष्पदम् इदं सूत्रम्. ननु इदं सूत्रं किमर्थम्? अतः आहुः ईश्वरेति. नियतेति. यावत् पर्यन्तं देहः तावत् पर्यन्तं बन्धनरूपो धर्मो नियतः इति वादेन इति अर्थः. तथाच मतान्तराभिप्रायेण इदं सूत्रं देहयोगाद् इति. सूक्ष्मदेहयोगाद् इति अर्थः. अपि इत्यस्य स्वारस्यम् आहुः अपि इति. अन्यद् बन्ध-दुःखादिकम्. तत्पक्षे स्वरसं सूचयन्ति अस्मिन् इति. विशेषः आधिक्यम् इति अर्थः. क्वचिद्देहयोगः क्वचिद् इच्छा इति न अत्र अभिप्रेतम् इति आहुः नतु इति. व्याख्यानान्तरम् आहुः कश्चिद् इति. परशब्देन इति. ‘पराभिध्यानाद्’ इति पूर्वसूत्रे ‘पर’शब्देन इति अर्थः. देहादिम् इति. देहारम्भककर्मादिम् इति अर्थः. दूषयन्ति तदा इति. अभिध्यानयोगयोः इति. पूर्वसूत्रे ‘अभिध्यान’पदस्य अस्मिन् सूत्रे ‘योग’पदस्य इति अर्थः. आकस्मिकता निर्हेतुकता. तथाच “परात् तिरोहितं”, “देहाद्वा सोऽपि” इति एवं सूत्रद्वयं कर्तव्यं स्याद् इति अर्थः. ननु अस्तु तथा सूत्रद्वयं, लाघवं भविष्यति इत्यतः आहुः सर्वस्य इति.

कश्चित् “तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदः” (श्वेता.उप.१।११) इति श्रुत्यनुरोधेन जीवकर्तृकाभिध्यानं मत्वा, अतिरोहितम् इति कल्पयति. ‘विपर्यय’-शब्देन च मोक्षम्. बह्वध्याहारेण च सूत्रद्वयं योजयति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ईश्वरे श्रुत्युक्तसर्वनियन्तृत्वभङ्गरूपो विरोधः इति अर्थः.

कश्चित् शङ्कराचार्यः. श्रुत्यनुरोधेन श्रुतिस्तु श्वेताश्वतरीया “ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्यूपहानिः^१ तस्याभिध्यानात् तृतीयदेहभेदे^२ विश्वैश्वर्यं केवल आत्मकामः” (श्वेता.उप.१।११) इति. देवं परमेश्वरम्. सर्वपाशापहानिः सर्वबन्धकानां निवृत्तिः. क्षीणैः, दग्धैः क्लेशैः अविद्यास्मितादिभिः. जन्ममृत्युपहानिः जन्ममृत्युप्रवाहनिवृत्तिः. तस्य अभिध्यानाद् परमेश्वरविषयक-जीवकर्तृकाभिध्यानात्. तृतीयदेहभेदे इहलोकीयद्युलोकीयदेहभिन्नेति या प्राप्तिः ज्ञानिदेहे तस्य भेदे नाशे सति, विश्वैश्वर्यं प्राप्य ब्रह्मरूपो भवति इति अर्थः. अतिरोहितम् इति कल्पयति पूर्वम् अध्यानात् तिरोहितं ततो अभिध्यानाद् अतिरोहितम् इति कल्पयति इति अर्थः. ‘विपर्यय’शब्देन इत्यादि. तथाच बन्धः पूर्वम् अध्यानात् ततः ईश्वरादेव तिरोधानतदभावौ इति तत्सिद्धान्तः ध्यानात् तस्य विपर्ययो मोक्षः तं कल्पयति इति अर्थः. बह्वध्याहारेण “न तृतीये तथोपलब्धेः” (ब्रह्मसू.३।१।१८) इति सूत्रात् तृतीयाध्याहारेण. सूत्रद्वयं पूर्वसूत्रं “पराभि...” (ब्रह्मसू.३।२।५) इति “देहयोगे”

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कर्माधीनत्वे ईश्वराधीनत्वाभावात् श्रुतिविरोधः इति अर्थः.

शङ्कराचार्यमतम् आहुः कश्चिद् इति. श्वेताश्वतरोपनिषत्स्थं वाक्यम् आहुः तस्य इति. “ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः, तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः” (श्वेता.उप.१।११) इति. अस्य अर्थः : देवज्ञानात् सर्वपाशानाम् अपहानिः, प्रहाणिः जन्म-मृत्यु-प्रवाहहानिः, देहभेदे देहनिवृत्तौ विश्वैश्वर्यं ब्रह्मलोकसम्बन्धैश्वर्यं भवेद् इति अर्थः. तदनन्तरं ब्रह्मभूतः आप्तकामः केवलो भवति इति. श्रुत्यनुरोधेन इति. श्रुतौ सूत्रे च ‘पराभिध्यान’पदं समानम् इति अनुरोधेन इति अर्थः. मत्वा इति. सौत्रत्वेन विचार्येति अर्थः. अतिरोहितम् इति. पूर्वं तिरोहितं ज्ञानाद् अतिरोहितम् इति अर्थः.

१. ‘सः’ सौत्र इतियावत्. २. “तृतीयं देहभेदे” इति ब्रह्मप्रकाशविवरणपाठः. “देहभेदैः” इत्यपि पाठः केषाञ्चन मते.

तद् ब्रह्मवादापरिज्ञानाद् असङ्गते* साधनोपदेशस्य भ्रान्तोक्तमिति उपेक्ष्यम्. निद्रायाः विवेकज्ञानाभावावसरत्वाद् यथाव्याख्यातएव अर्थः॥६॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे प्रथमं सन्ध्याधिकरणम्॥१॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च॥७॥ (३।२।२)

प्रसङ्गाद् जीवस्य अज्ञानं निरूप्य सुषुप्तौ केवलम् अज्ञानं निरूपयितुं स्थान-स्वप्नाभावौ निरूपयति. एवं श्रूयते. नाडीः अनुक्रम्य “तासु तदा भवति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

(ब्रह्मसू.३।२।६) ति च इति सूत्रद्वयम्. ब्रह्मवा-दाज्ञानाद् यदि ब्रह्मवादं जानीयाद् देहसूत्रं सिद्धान्तत्वेन न उरीकुर्याद्. असङ्गतेः ईश्वराभिध्यानस्य तन्मते साधनत्वासङ्गतेः इति अर्थः. उपेक्ष्यं तत्र भ्रान्तोक्तिः हेतुः. स्वोक्तार्थव्याख्यादृढत्वद्योतनाय आहुः निद्रायाः इत्यादि. तथाच अग्रे सुषुप्तेः निरूप्यत्वाद् इदं जीवस्य निद्राप्रकरणम्. निद्रा च भगवदिच्छया उक्तषड्धर्मतिरोभावे सति विवेकस्यापि ज्ञानं तिरोधत्ते, सएव निद्रावसरः इति भगवदिच्छया पुनः विवेकज्ञानाविर्भावएव संसारात्मिकायाः निद्रायाः निवृत्तिः नतु जीवकृतव्यापारबलाद् ईश्वरतो निद्रायाः प्राप्तिः निवृत्तिः वा अतो अस्माभिः व्याख्यातएव अर्थो युक्तः इतिभावः॥६॥१॥

अज्ञानं विपरीतज्ञानजनकम् अज्ञानम्. केवलम् अज्ञानं विपरीतज्ञानाजनकम् अज्ञानम्. स्थानस्वप्नाभावौ सुषुप्तौ अज्ञानस्य स्थानं स्वप्नाभावश्च इति उभौ निरूप्येते इति अर्थः. विषयवाक्यम् आहुः एवम् इत्यादि. तासु नाडीषु. तदा भवति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पराज्ञानज्ञानाभ्यां बन्धमोक्षौ इति तद् दूषयन्ति तद् इति. तथाच “अनेन जीवेनैव करिष्यामि” इति ईश्वरेच्छायाः कारणत्वं स्वीकृतम्. तच्च जीवस्य शरीरसत्त्वएव घटते. एवञ्च देहयोगसूत्रं न सिद्ध्येत इति भावः. दूषणान्तरम् आहुः असङ्गतेश्च इति. अस्मिन् स्वप्नावस्थाप्रकरणे ब्रह्मध्यानस्य साधनत्वोपदेशस्य असङ्गतेः इति अर्थः. स्वोक्तव्याख्यानस्य सामञ्जस्यम् आहुः निद्रायाः इति. स्वप्नावस्था च निद्राप्रकरणं, तस्यां विवेकज्ञानाभावस्य अवसरत्वाद् ज्ञानतिरोभावस्यैव बोधो युक्तः इति अर्थः॥६॥१॥

सुषुप्त्यवस्थां निरूपयितुं तदभावाधिकरणम् आहुः तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च. प्रसङ्गसङ्गतिम् उत्तराधिकरणे सूचयन्ति प्रसङ्गाद् इति. अज्ञानम् इति. विपर्ययजनकम् अज्ञानम् इति अर्थः. स्थानम् इति. अज्ञानाधिकरणम् इति अर्थः.

* ‘असङ्गतेश्च’ इति पुरु.पाठः.

यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति. अथ अस्मिन् प्राणएव एकधा भवति” (कौषी. उप.४।१९) इति. तथा “प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद न आन्तरम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इति.

तत्र संशयः : स्वप्नवत् प्रपञ्चसृष्टिं मायिकीमपि भगवान् करोति न वा ? इति संशयः.

तत्र “य एष सुप्तेषु जागर्ति” (कठोप.२।५।८) इत्यत्र जीवस्वापमात्रे भगवत्सृष्टेः उक्तत्वात् “स्वप्नं न कञ्चन पश्यति” (कौषी.उप.४।१९) इत्यत्रापि दर्शनमात्रनिषेधाद् “न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं” (बृहदा.उप. ४।३।२१) इति च जागरण-स्वप्नप्रपञ्चयोः अविशेषेण अदर्शनकथनात्, सुषुप्तावपि प्रपञ्चनिर्माणम् अस्ति इति अवगन्तव्यम्. ततश्च कस्यामपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जीवःसुषुप्तिमान् भवति तदा. कदा इति आकाङ्क्षायाम् आह यदा इत्यादि. यदा सुप्तो न किञ्चन स्वप्नं पश्यति तदा इति अर्थः. कौषीतकिब्राह्मणवाक्यम् उक्त्वा बृहदारण्य-कस्थज्योतिर्ब्राह्मणवाक्यम् आहुः तथा इत्यादि. संशयः सुषुप्तौ मायिकसृष्टिकरणस्य संशयः. काठके सृष्टिनिर्माणम् उक्तं विषयवाक्ये दर्शनाभावमात्रम् उक्तम् इति सन्देहबीजम्. स्वापमात्रे इति ‘मात्र’पदेन सुषुप्तिस्वापोऽपि आगतः. दर्शन-मात्रनिषेधाद् इति. मात्रपदेन सृष्टिनिषेधो न कृतः इति लभ्यते. अदर्शनकथनाद् इति. तथाच अदर्शनमात्रेण सृष्टिनिर्माणाभावो न निश्चेतुं शक्यः इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विषयवाक्यम् आहुः एवं श्रूयते इति. तासु तदा इत्यारभ्य भवति इत्यन्तं कौषीतकीस्थं, प्राज्ञेन इत्यारभ्य नान्तरम् इत्येतदन्तं बृहदारण्ये ज्योर्तिर्ब्राह्मणस्थं वाक्यद्वयं श्रूयते इति अर्थः. संशयम् आहुः तत्र इति. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. उक्तत्वाद् इति. तथाच स्वप्नावस्थायाम् अस्ति सुषुप्त्यवस्थायां नास्ति इति अनुक्त्वा निद्रावस्थामात्रग्रहणाद् किं ज्ञायते सुषुप्त्यवस्थायामपि सृष्टिः अस्ति इति पूर्वपक्षशयः इति भावः. ननु अस्ति चेद् दर्शनं कुतो न जायते ? इत्यतः आहुः स्वप्नम् इति. अवगन्तव्यम् इति. तथाच श्रुतिद्वयेन अदर्शनम् उच्यते नतु सुषुप्तौ प्रपञ्चौ नास्ति इति उच्यते इति भावः. ननु दर्शनसत्त्वे प्रपञ्चसत्त्वं, तदभावे तदभावः इति अन्वयव्यतिरेकव्याप्त्या प्रपञ्चसत्त्वं, तदभावे तदभावः इति अन्वयव्यतिरेकव्याप्त्या प्रपञ्चासत्त्वं सिद्ध्यति इत्यतः आहुः ततश्च इति. व्यतिरेकाभावाद् इति. प्रपञ्चाभावाभावात्. ननु

अवस्थायां प्रपञ्चव्यतिरेकाभावात् मुक्तावपि स्यात्. स्वाप्ययसम्पत्त्योः अज्ञानमात्रविशेषात्. “सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे” (छान्दो.उप.६।९।२) इति. तस्माद् बाह्यसत्सम्पदोः विद्यमानयोरपि यथाज्ञानाभावाद् अग्रहणम्, एवं प्रपञ्चस्यापि इत्येवं प्राप्ते, उच्यते.

तदभावो नाडीषु. तस्य स्वप्नस्य अभावो नाडीषु. तथा आत्मनि च. कुतः? **तच्छ्रुतेः.** प्रपञ्चाभावश्रुतेः. कामनया हि प्रपञ्चः. सुषुप्तावस्थायाः अकामरूपत्वश्रुतेः. “तद्वा अस्य एतदात्मकामम् आप्तकामम् अकामं रूपम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इति. **नाडीषु आत्मनि च** इति ग्रहणात् सुषुप्तिः द्विविधा इति सूचयति. तथा हि. “हिता नाम नाड्यः” (तत्रैव ४।३।२०) पुरीतत्यन्ता हृदयदेशाद् बाह्याः, आभ्यन्तरः परमात्मा, हृदयदेशस्तु जीवस्य. इन्द्रियाणां च स एव देशः. तत्र निद्रया भगवच्छक्त्या बहिः दृष्ट्याच्छादने भगवल्लीलायां तां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मुक्तावपि स्यात् सृष्टिनिर्माणं स्याद् इति अर्थः. **अज्ञानमात्रविशेषाद्** इति. तथाच ‘स्वाप्ययसम्पत्त्योः’ बाह्यप्रपञ्चनिर्माणं भगवतः तिष्ठति परं जीवो न जानाति इति फलितं पूर्वपक्षः इति अर्थः. **प्रपञ्चाभावश्रुतेः** मायिकप्रपञ्चाभावस्य सुषुप्तौ श्रुतेः, सुषुप्तौ स्वप्नाभावं निरूप्य ज्ञानस्थानं निरूपयन्ति **नाडीषु** इत्यादिना. **हृदयदेशाद् बाह्याः** हृदयबाह्यदेशे स्थिता इति अर्थः. **आभ्यन्तरः** हृदयाभ्यन्तरः. तां स्वाप्निकीं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मुक्त्यवस्थायां प्रपञ्चाभावो अस्ति इति कथम् इदम् उच्यते? इत्यतः आहुः **मुक्तावपि** इति. तत्रापि प्रपञ्चः स्याद् इति एतदर्थम्. तत्रापि स्वाप्ययसम्पदोः अज्ञानमात्रं विशेषेण उच्यते इति अर्थः. यत्र उच्यते तां श्रुतिम् आह **सति** इति. तथाच दर्शनव्याप्तिः अनया श्रुत्या बाध्यते इति सर्वावस्थासु प्रपञ्चसत्त्वम् इति **पूर्वः पक्षः**. समाधानम् आहुः उच्यते इति. **स्वप्नस्य** इति. मायामयप्रपञ्चस्य इति अर्थः. प्रपञ्चस्य मूलं हि कामना साच सुषुप्तौ नास्ति इत्यत्र श्रुतिम् आहुः **तद्वा** इति. बृहदारण्यकस्थं वाक्यम्. सुषुप्तिस्थानद्वैविध्येन द्वैविध्यं श्रुतिप्रतिपाद्यम् इति आहुः **नाडीषु** इति. श्रुतिप्रतिपाद्य-सुषुप्तिसिद्धयेऽपि कामनायाः अभावात् प्रपञ्चाभावः इति प्रतिपादयन्ति **तथाहि** इत्यादिना. हृदयदेशाद् बहिः देशे पुरीतति नाडीं प्राप्य ‘हिता’ नाम नाड्यः सन्ति, हृदये जीवः, अभ्यन्तरे भगवान्. तत्र स्वप्नादिप्रकारम् आहुः **तत्र** इति. **निद्रया** इति. भगवच्छक्तिरूपया निद्रया इति अर्थः. **ताम्** इति. स्वप्निकीं सृष्टिं **पश्यति**. तत्रापि

पश्यति. तत्रापि आच्छादने गाढसुप्तो ज्ञानरहितः क्रियाशक्त्या अन्तर्भगवन्तं वा प्रविशति. बहिः नाडीषु वा सामायाति. अतएव बृहदारण्यकषष्ठे “यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते” (बृहदा.उप.४।३।१९) इति वारद्वयम् आह. “ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यः” (बृहदा.उप.४।३।२०) “तद् वा अस्यैतद् आत्मकामम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इतिभेदेन. सुषुप्तिस्तु उभयत्र, ज्ञानशक्तेः सर्वथातिरोधानात्. तस्मात् सुषुप्तौ न प्रपञ्चसृष्टिः॥७॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयं तदभावो नाडीषु इति अधिकरणम्॥२॥

प्रबोधे सन्देहः. “प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव” (बृहदा.उप.४।३।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भगवल्लीलाम्. सुषुप्तिद्वैविध्ये प्रमाणम् आहुः अतएव इत्यादि. द्वैविध्यमेव स्फुटीकुर्वन्ति “ता वा” इत्यादिना. तथाच जीवस्य सुषुप्तिस्थानं हिता नाम नाड्योन्तर्यामी च इति सुषुप्तेः द्वैविध्यं स्फुटीकृतम्. एवं सुषुप्तिस्थानद्वयेऽपि कामनाभावात् सृष्टिः. अतएव न मुक्तावपि जीवहेतुका सृष्टिः इति भावः॥७॥२॥

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः प्रबोधे इत्यादिना. सन्देहः यत्र स्थाने स्थितः तत्रैव जागर्ति उत समागत्य? इति सन्देहः. “प्रतियोनी”त्यादि. “स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव” (बृहदा.उप. ४।३।१५) इति बृहदारण्यज्योतिर्ब्राह्मणश्रुतिः. अर्थस्तु सः प्रकृतो जीवः वै निश्चयेन एषः स्वयंज्योतिः एतस्मिन् सम्प्रसादे सम्यक् प्रसीदति अस्मिन् इति सम्प्रसादः स्वयंज्योतिः सुषुप्तिस्थानं तत्र रत्वा क्रीडित्वा सता सम्परिष्वज्य चरित्वा तदानन्दं भुक्त्वा दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च, ‘च’कारात् तत्फले, दृष्ट्वा स्वप्ननाडीषु अनुभूय,

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. निद्रया इति शेषः. तथाच स्थानभेदेन सुषुप्तिद्वैविध्यम् इति अर्थः. तत्र प्रमाणम् आहुः अतएव इति. आह इति. श्रुतिः इति शेषः. भेदेन इति. आह इति पूर्वेण अन्वयः. ननु उभयत्रापि, सुषुप्तिः इति अत्र को वा हेतुः? इत्यतः आहुः सुषुप्तिस्तु इति॥७॥२॥

प्रसङ्गात् प्रबोधाधिकरणं रचयाञ्चक्रुः अतः प्रबोधोऽस्माद्. सन्देहनिराशाय विचारं कर्तुं विषयवाक्यं बृहदारण्यकीयज्योतिर्ब्राह्मणस्थम् आहुः प्रतियोनीति. “सः एषः एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वेत्युदक्रम्योक्तं प्रतियोनी” (बृहदा.उप.४।३। १५)ति. तत्र सम्प्रसादेषु सुखम् अनुभूय ततो नाडीषु स्वान्निकं सुखदुःखादिकम् अनुभूय तदनन्तरं यतः सुषुप्तिं गतः तत्स्थानं योनिः. तां प्रति आगच्छति बुद्धान्ताय जागरणाय इति

१५) इति जीवसमानधर्मब्रह्मप्रकरणे निरूपितम्. ततो नाडीभ्यः पुनः हृदयदेशं गत्वा, भगवतो वा समागत्य, जागर्ति इति आहोस्विद् यत्र स्थितः ततएव जागर्ति ? इति. तत्र श्रुत्यनुरोधाद् हृदयदेशम् आगत्य जागर्ति इत्येवं प्राप्ते, उच्यते.

अतः प्रबोधो अस्मात्॥८॥ (३।२।३)

अतो नाडीभ्यएव प्रबोधः. गर्तपतितस्य प्रबोधे हि ततो गमनम्. प्रतियोन्याद्रवणन्तु भगवतः इति. किञ्च प्रबोधो अस्मात्. **अस्माद्** आत्मनः सकाशादेव प्रबोधः. प्रिययेव सम्परिष्वक्तस्य बोधाभावे कथम् आगमनम् ?

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रतियोन्याद्रवति यतः सम्प्रसादे गतः तत्स्थानं **योनिः** तत्स्थानं प्रति **आद्रवति** आयाति **बुद्धान्ताय** जागरणाय इति बोध्यः. **जीवसमानेत्यादि** सुषुप्तिप्रकरणे इति अर्थः. संशयाकारम् आहुः **ततः** इत्यादि. **समागत्य** हृदयदेशं समागत्य इति अर्थः.

नाडीभ्यएव सुषुप्तिस्थानतएव. तत्र युक्तिम् आहुः **गर्तेत्यादि. प्रतियोन्या-द्रवणं** जीवस्य जागरणस्थानं प्रति आगमनम्. **भगवतः भगवतः सकाशाद् इति अर्थः.** **आत्मनः** अन्तर्यामिणः प्रेरणया नाडीस्थानएव **प्रबोधः** इति अर्थः. **कथम् आगमनं**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. **जीवेति.** जीवब्राह्मणोः समानधर्मत्वं यस्मिन् प्रकरणे इति अर्थः. इदं च प्रथमाध्याये तृतीयपादान्ते सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणे निरूपितम्. तत्र संशयाकारम् आहुः **ततः** इति. **गत्वा** इति. **जागर्ति** इत्यनेन अन्वयः. **भगवतः** इति. हृदयदेशम् आगत्य इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. **श्रुत्यनुरोधाद्** इति. **चरित्वा** इति अनुरोधाद् इति अर्थः. तथाच चरित्वा इत्यस्य गमनार्थकत्वं स्वीकृत्य इदम् इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः **उच्यते** इति.

अतः इति. प्रतिकूलागमनरूपा जागरणलिङ्गाद् इति अर्थः. तथाच श्रुतौ आगमनार्थकं प्रतिन्यायम् आद्रवणम् उक्तं तच्च जागरणं विना न सम्भवतीति तत्र स्थितएव जागर्ति इति भावः. अत्र लौकिकदृष्टान्तम् आहुः **गर्तपतितस्य** इति. तादृशपुरुषस्य जागरणं विना गमनं न सम्भवति इति अर्थः. तथाच **चरित्वा** इति. न गमनार्थकं किन्तु 'चर' गति-भक्षणयोः इत्यनेन आनन्दभोगार्थकम् इति भावः. ननु प्रबोधानन्तरं स्वस्थानएव आगमनम् अत्र को वा हेतुः ? अतः आहुः **प्रतियोनीति.** हृदयरूपस्थाने आद्रवणन्तु प्रेरकभगवतः सकाशात् कृतम् इति अर्थः. सौत्रम् 'अतः'पदं व्याख्याय **भगवतो वा समागत्य जागर्ति** इति सौत्रम् अपरं पक्षम् आहुः **किञ्च** इति.

अतएव “सम्परिष्वक्तो” (बृहदा.उप.४।३।२१) निबिडनिद्रः. तस्माद् यत्रैव तिष्ठति ततएव प्रबोधः इति सिद्धम् ॥८॥

सएव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु प्रिययेव प्राज्ञेन आत्मना परिष्वक्तस्य ब्रह्मलोकं गतस्य प्रबोधेन ज्ञाने मुक्तएव भवेद्, नतु पुनः आगच्छेत्, अतो भगवदिच्छया देहनिर्वाहाय तत्स्थाने नियुक्तो अन्यएव जीवः समायातु, अन्यतः प्रबोधेतु सएव, व्यवहारस्तु तावता सेत्स्यति, मुक्त्यर्थं प्रयत्नस्तु न कर्तव्यः इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कथम् आगमनानुकूला क्रिया इति अर्थः. ततएव इति. ततः सुषुप्तिस्थानतएव प्रतिबोधो नतु हृदये आगत्य इति फलितम् ॥८॥

किञ्चिद् आशङ्क्य पूर्वाधिकरणएव किञ्चिद् आशङ्क्य इति अर्थः. अनेन अधिकरणान्तरता निरस्ता. प्रबोधेन स्वतएव प्रबोधेन. देहनिर्वाहाय सुषुप्तस्य देहनिर्वाहाय. तत्स्थाने सुषुप्तजीवदेहे. अन्यतः प्रबोधेतु भगवता सुषुप्तस्य प्रबोधकरणेऽपि इति अर्थः. सएव सुषुप्तान्यजीवएव. व्यवहारस्तु अन्यजीवगमनेऽपि पितृपुत्र-भर्तृभार्या-व्यवहारस्तु. तावता सेत्स्यति भगवता तस्य प्रबोधकरणात् स्वयं भगवान् योगिन्यायेन तस्मिन् प्रविश्य साधयिष्यति इति अर्थः. न कर्तव्यः सुषुप्त्यैव

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र हेतुलौकिकदृष्टान्तेन आहुः प्रिययेव इति. ततएव इति. ‘एव’कारेण हृदयदेशे आगमानन्तरं प्रबोधो व्यावर्त्यते ॥८॥

न इदम् अधिकरणान्तरम् इति सूचयितुम् आहुः किञ्चिद् इति. सूत्रेण समाधानांशं व्याकर्तुं पूर्वं पूर्वं पक्षम् आहुः ननु इति. शङ्कायां पक्षद्वयं, समायातु इत्यन्तम् एकः, अन्यद् इत्यारभ्य द्वितीयः. प्रिययेव इति. “यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्त एवं प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तः” (बृहदा.उप.४।३।२१) तस्य इति अर्थः. ब्रह्मलोकं गतस्य सुषुप्तौ ब्रह्मसम्पत्तौ सत्याम् इति अर्थः. ज्ञानेति. तदनन्तरं प्रबोधेन ज्ञानं जायते इति अर्थः. अन्यएव इति. तथाच शय्यायां पतितस्य देहस्य व्यवहारार्थम् अन्यएव जीवः प्रविशतु तत्र कारणं भगवदिच्छा इति भावः. पक्षान्तरम् आहुः अन्यतः इति. अन्यस्मिन् पक्षे. सएव इति. समायातु इति पूर्वेण अन्वयः. अत्र इच्छायाः कारणत्वकल्पनं नास्ति इति आहुः व्यवहारस्तु इति. लाघवम् आहुः

आशङ्क्य, परिहरति ‘तु’शब्दः.

अस्मादपि प्रबोधे सएव. कुतः? **कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः**. चत्वारो हेतवः. लौकिक-वैदिकयोः ज्ञानकर्मभेदात्. तत्र लौकिके कर्मणि सामिकृत-कर्मणः शेषसमापनात्. न हि कश्चिदपि सुषुप्तप्रतिबुद्धः सामिकृतं न समापयति इति क्वचित् सिद्धम्. तथा अनुस्मृतिः. नहि पूर्वदृष्टं न स्मरति इति क्वचित् सिद्धम्. शब्दाश्च

“पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन” (बृहदा.उप.४।४।५)

“क्वैष तदाभूत्, कुत एतदागात्” (तत्रैव २।१।१६) इति, तथा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सर्वेषां मुक्तिसम्भवाद् न कर्तव्यः इति अर्थः. एवञ्च वेदोक्तमुक्तिसाधनवैफल्यं तद्बोधक-वेदस्यापि इति अर्थः. परिहरति उक्तपूर्वपक्षं परिहरति.

अस्माद् भगवतः सकाशात्. सएव पूर्व सुप्तजीवएव. कर्मेति आरभ्य सिद्धम् इत्यन्तेन लौकिकहेतुद्वयं शब्दाश्च इत्यादिना वैदिकहेतुद्वयं प्रतिपादयन्ति कुतः इत्यादिना. **कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः** इति. सुषुप्तेः पूर्वम् आरब्धानां कर्मणाम् उत्तरकाले समापनात्. पूर्वानुभूतानाम् अग्रे स्मरणाद् वक्ष्यमाणविधिभ्यः पूर्वसुप्तएव जीवः उत्तिष्ठति नतु अन्यः इति भावः. **सामिकृतं** सुषुप्तेः पूर्वम् अर्धकृतम्. पूर्व सुषुप्तेः पूर्वम्. न स्मरति सुषुप्तेः उत्तरं न स्मरति इति अर्थः. “पुण्यः पुण्येन” इति. तथाच सर्वेषामेव सुषुप्तिसम्भवे मुक्तिसम्भवात् सुकृतदुःकृत-फलबोधक-श्रुतिवैयर्थ्यम् इति अर्थः. “क्वैषः” इति श्रुत्यापि “एषः-एतद्” इति पदाभ्याम्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मुक्त्यर्थम् इति. निद्रया कार्यसिद्धेः इति भावः.

सामाधानम् आहुः अस्माद् इति. सूत्रोक्तात् ‘तु’शब्दाद् इति अर्थः. हेतुं व्याकुर्वन्ति चत्वारः इति. लौकिकं द्वयं कर्मणि ज्ञाने, वैदिकं द्वयं कर्मणि ज्ञाने इति चत्वारः इति अर्थः. लौकिकम् आहुः तत्र इति. सामिकृतेति. अर्धकृतेत्यर्थः. ज्ञान आहुः तथा इति. वैदिकं द्वयम् आहुः शब्दाश्च इति. कर्मणि आहुः पुण्यः इति. तथाच सुषुप्तौ मुक्तौ सत्याम् इदं वाक्यं न सङ्गच्छते इति अर्थः. पुनः वाक्यविरोधम् आहुः क्व एषः इति. अस्मिन् वाक्ये ‘एष’पदेन सुप्तम् आगतम् एकमेव वदति श्रुतिः. पुनः श्रुत्यसङ्गतिम् आहुः तथा इति. अस्मिन् वाक्ये सर्वजीवानां सुषुप्तौ अज्ञानम् उच्यते. मुक्तौ अज्ञानोक्तिः असङ्गता इति अर्थः.

“सति सम्पद्य” (छान्दो.उप.८।९।२) इत्यादयश्च. विधयश्च
 “श्वोभूते ब्रह्माणं वृणीते” (आप.श्रौ.सू.४।४।१)
 “श्वोभूते शेषं समाप्नुयात्” (तत्रैव १५।२।३)
 “एकएव यजेत” (तैत्ति.संहि.७।२।१०।३)
 “द्वादश रात्रीर्दीक्षितः स्याद्” (तैत्ति.संहि.७।२।१०।३) इत्यादि,
 “यः कामयेत वीरो म आजायेत” (तैत्ति.ब्राह्म.२।२।३।५) इत्यादयः.
 भगवतैव मर्यादारक्षार्थं तथाकरणात्. पूर्वपक्षयुक्तयोः दुर्बलाः. तस्मात्
 सएव प्रतिबुध्यते॥९॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु यत्र कर्मानुस्मृतयो न सन्ति, तत्र

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एकएव बोध्यते. “सति सम्पद्य” इत्यादयश्च विधयः. सर्वसुषुप्तानाम् अज्ञानं वदति
 श्रुतिः तच्च मुक्ततायां न सम्भवति. “श्वोभूते”त्यादि. तथाच सुषुप्तौ सर्वेषां मुक्तौ
 श्वोवरणं कः कुर्याद्? को वा शेषं समापयेद्? को वा “द्वादशरात्रीर्दीक्षितः स्याद्”
 (मैत्रे.सं.३।६।९) इति श्रुतिविरोधः स्याद् इति अर्थः. तथाकरणात् स्वयं
 जीवप्रबोधनेऽपि मुक्त्यदानाद् इति अर्थः॥९॥

कर्मानुस्मृतयः इति. यत्र यस्मिन् जीवे, पूर्वं सामिकृतकर्मणः सुषुप्त्युत्तरानु-
 सन्धानपूर्वकं समापनं नास्ति, मूर्छारोगादिना पूर्वानुभूतस्य स्मरणमपि तादृशे विकले
 नास्ति, एवं श्वोभूते वरणमपि नास्ति दीक्षापि उक्तानुसन्धानपूर्विका नास्ति, इति अर्थः.
 तत्र तादृशस्थले.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

शब्दानन्तरं विधय आहुः विधयश्च इति. इत्यादयः इति. येन पूर्वदिवसे
 सङ्कल्पः क्रियते तस्यैव अपरस्मिन् दिने ब्रह्मवरणं विधीयते इत्यादि विरुध्यते इति
 अर्थः. एवम् उत्तरत्रापि. किञ्च मुक्त्यनन्तरं कामनाभावेनापि विरोधम् आहुः यः
 कामयेत इति. ननु भगवतः सकाशात् प्रबोधे मुक्तिः कुतो न जायते? अतः आहुः
 भगवतैव इति. मर्यादा इति. वरणरूपसाधनद्वारैव भगवत्प्राप्तिः इति “न अयम्
 आत्मा” (कठोप.२।२३) इति वेदोक्ता मर्यादा इति अर्थः ॥९॥

सूत्रप्रयोजनं वदन्ति किञ्चिद् इति. सूत्रे परिहारस्य उक्तत्वाद् अतः पूर्वं
 शङ्काम् आहुः ननु इति. न सन्ति इति. तथाच यत्र कर्मादिहेतवः सन्ति तत्र गत्यभावात्
 सएव जीवो भवतु नाम, परन्तु यत्र न सन्ति तत्र अन्यसत्त्वे किं बाधकम्? इति अर्थः.

अन्यो भविष्यति, क्वचित् मूर्च्छादिविशेषे सर्वस्मृतिनाशेन मुग्धभावदर्शनात्. तत्र यथा लौकिकवैदिकव्यवहाराः तथा अन्यत्रापि भविष्यन्ति. अनुस्मरणादयश्च बुद्धिवृत्तयः. गङ्गाप्रवाहजलस्य गङ्गावद् यएव चिदंशः तत्र आयाति सएव तथा भवतु ; किं सएव इति निर्बन्धेन ? इति आशङ्क्य परिहरति.

मुग्धे अर्धसम्पत्तिः परिशेषात्॥१०॥

मुग्धे मुग्धभावे अर्धसम्पत्तिरेव, न सर्वा. न हि मुग्धस्य यज्ञादौ

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्यः सुप्तेः आगतो अन्यो जीवो भविष्यति नतु पूर्वं सुप्तः सएव. **मुग्ध-भावदर्शनाद्** बहुषु विकलेषु मुग्धभावस्य अनुभवसिद्धत्वाद् इति अर्थः. **तत्र सर्वानु-**भवसिद्धवैकल्ये. **अन्यत्रापि** सुषुप्त्युत्थितजीवविशेषेऽपि. **बुद्धिवृत्तयः** इति गङ्गाप्रवाहवद् बुद्धिः. सर्वत्र एकैव न नाना, अनुस्मरणादिरूपा बुद्धिवृत्तयस्तु नाना यथा गङ्गाप्रवाहे प्रविष्टानि क्षुद्रनदीजलानि तद्वद् इति अर्थः. **य एव चिदंशः** सुषुप्तापेक्षया अन्यो यः कश्चन चिदंशः इति अर्थः. **तथा भवतु** पूर्वोक्तलौकिकवैदिकसकलव्यवहारकर्ता भवतु इति अर्थः. **किं सएव** इत्यादि. पूर्वसुषुप्तएव आयाति इति **निर्बन्धेन किम्** इति अर्थः.

न सर्वा न स्वाधिकारविहितयावत्कर्मणां कृतिः. अधिकारो अस्ति “अर्थार्थी समर्थो विद्वानधिकारी” (.....) इति तस्य अर्थित्वाभावाद् न अधिकारी इति अर्थः. **जीवनाधिकाराद्** “यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति” (वारा.श्रौ.सूत्र

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु कुत्र न सन्ति ? इत्यतः आहुः **क्वचिद् मूर्च्छादिविशेषे** इति. मूर्च्छा-निवृत्त्यनन्तरम् अतिमुग्धे इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तपुरःसरम् उपपादयन्ति **तत्र यथा** इति. ‘अमरु’नामके मुग्धे सति देहे शङ्कराचार्यजीवप्रवेशे यथा तथा सौप्तिकेऽपि इति अर्थः. युक्त्यन्तरमपि आहुः **अनुस्मरणादयः** इति. **बुद्धिवृत्तयः** इत्यनेन जाग्रत्कालेऽपि तासाम् अनेकभावः सूचितः. एवं चेत् किम् ? अतः आहुः **गङ्गा** इति. **जलस्य** गङ्गाप्रवाहे पतितस्य जलान्तरस्य इति अर्थः. **तथा** इति. बुद्ध्यैक्यम् आदाय बुद्धिवृत्तिप्रवाहस्य तत्रापि सत्त्वेन पूर्वं कर्मसमापनकर्ता सएव भवतु इति अर्थः. तथाच कर्तृत्वं बुद्धिवृत्तौ उपाधौ गतम् इति हृदयम्. **किं सएव** इति. पूर्वएव इति अर्थः.

परिहारं व्याकुर्वन्ति **मुग्धे** इति. **मुग्धभावे** इति. मूर्च्छानन्तरं जीवतएव मुग्धः जायते इति भावः. **अर्धसम्पत्तिः** इति. एकतरनिश्चायिका बुद्धिः न भवति इति अर्धत्वम् इति अर्थः. सम्पत्तौ कथम् अर्धत्वम् ? अतः आहुः **न हि** इति. **पूर्ववृत्तानि** इति.

अधिकारो अस्ति. पूर्वप्रवृत्तानि तु जीवनाधिकारात् क्रियन्ते. लौकिक-व्यवहारोऽपि न अपूर्वः सिध्यति. पूर्वोक्तहेतुसद्भावेतु न कोऽपि दोषः. अतो मुग्धे अर्धसम्पत्तिः पूर्वैव न उत्तरा. कुतः एतत्? **परिशेषात्**. सएव वा न वा इति निश्चयप्रमाणानाम् अभावाद् अर्थात् सन्देहो अवशिष्यते. तस्मात् सन्देहात् मुग्धे अर्धप्रतिपत्तिः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

१।१।१।८६) इति जीवनरूपाधिकारसत्त्वाद् इति अर्थः. **अपूर्वः सिध्यति** इति सावधारणं तेन **अपूर्वः** इष्टसाधनताधीसाध्यो न सिध्यति इति अर्थः. **पूर्वोक्तहेतु-सद्भावे** लौकिकालौकिकभेदेन उक्तहेतुचतुष्टयसद्भावे. **न कोऽपि दोषः** पूर्वसुषुप्त-स्यैव पुनरागमने न कोऽपि दोषः इति अर्थः. **न उत्तरा** न अपूर्वा. **परिशेषाद्** अर्थसम्पत्त्य-तिरिक्तसर्वकार्यकरणसाधकहेतोः अभावाद् इति अर्थः. **प्रमाणानाम् अभावाद्** इति. अमरुशरीरे मूर्छोत्तरं शङ्कराचार्यप्रवेशेन अन्यजीवसमानगमनाद्. एवं ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मखण्डे उपबर्हणगन्धर्वशरीरे मूर्छोत्तरं तस्यैव प्रवेशाद् वसिष्ठोपदिष्टमन्त्रपूजादेः तत्पत्न्या स्मरणेन यथापूर्वावस्थालाभात् सएव जीवः तथाच यत्र पूर्वहेतूनां सत्त्वं तत्र सएव जीवः सर्वा च सम्पत्तिः. मुग्धेतु पूर्वैव न उत्तरा, अन्यजीवप्रवेशस्तु विचारविषयएव

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

अग्निहोत्रादीनि इति अर्थः. अधिकाराद् इति. “**यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयाद्**” (वारा.श्रौ.सू.१।१।१।८६) इति **अधिकाराद्** इति अर्थः. तथाच “**अर्थी समर्थो विद्वान्**” (.....) इति वचनाद् न कर्तृत्वम् उपाधिगतम् इति भावः. **न अपूर्वः** इति. लोके अमरुशरीरे पश्चाद् लोकानाम् अयं वा अन्यो वा इति सन्देहे जाते व्यवहारसिद्धिः न जाता इति लौकिकव्यवहारः पूर्वे जीवएव सिद्ध्यति इत्यतः तस्य व्यवहारस्य पूर्वत्वम्. तथाच न पूर्वभिन्नः सिद्ध्यति इति अर्थः. मुग्धभावानन्तरं कर्मानुस्मृत्यादिकं यत्र जातं तत्र आहुः **पूर्वोक्तेति**. तत्रतु सएव इति निश्चयाद् न कोऽपि शब्दादिविरोधदोषः इति अर्थः. यत्रतु अनुस्मृत्यादीनाम् अभावः तत्र आहुः **अतः** इति. **अतः** उक्तदोषाद् हेतूनां पूर्वैव सम्पत्तिः न उत्तरेति अर्थैव इति अर्थः. **कुतः एतद्** इति. **एतद्** अर्थं कुतः इति अर्थः. अर्धस्य सत्त्वे सौत्रं हेतुं विवृण्वन्ति **सएव वा** इति. **निश्चयेति**. निश्चयजनकप्रमाणानाम् इति अर्थः. **अवशिष्यते** इति. सन्देहः ‘परिशेष’पदवाच्यः इति अर्थः. पञ्चम्यन्त-परिशेषः. पदस्य अर्थम् आहुः **तस्माद्** इति. **अर्धप्रतिपत्तिः** अर्धं ज्ञानं विचारकस्य इति शेषः. किञ्च अत्र ‘प्रतिपत्ति’पदं विहाय

न तत्र प्राणायनविघातकृता मूर्च्छा विचार्यते, तस्याः प्राणधर्मत्वात्, यथा बाल्यं शरीरधर्मः. व्यर्थश्च विचारः. जीवावस्थाएव हि विचार्यन्ते. केवलसाक्षिवादस्तु न ब्रह्मवादः. तस्माद् एकएव जीवः स्वप्नादिदोषसम्बन्ध-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

न इति न कोऽपि दोषः. केचिद् अस्मिन् सूत्रे मूसलाद्यभिघातजन्यां मूर्च्छां विचारयन्ति. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तम् इति तिस्रोवस्थाः पूर्वं विचारिताः. उत्क्रान्तिश्चतुर्थी अग्रे विचार्यते. जाग्रत्स्वप्नयोः न मूसलमूर्च्छायाः अन्तर्भावः, ज्ञानशून्यत्वात् न सुषुप्तौ निमित्तभेदाद् अतः इयं पञ्चमी सूत्रविचारविषया.

तन्मतं दूषयन्ति न तत्र इत्यादिना. प्राणायनविघातकृता मूसलप्रहारेण प्राणानां स्वस्थानत्यागकृता. अत्र सूत्रे न विचार्यते इति अन्वयः. व्यर्थः जीवातिरिक्त-धर्मविचारो व्यर्थः इति अर्थः. नच जीवस्य ब्रह्मरूपत्वेन केवलं साक्षित्वात् सर्वोऽपि विचारो जीवोपाध्यवस्थानमेव इति प्राणावस्थारूपमूसलप्रहाररूपोपाध्यवस्थाविचारे को दोषः? अतः आहुः केवलेत्यादि. न ब्रह्मवादः “सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन” (ब्रह्मसू. १।३।४२) इत्यत्र जीवस्य साक्षिभिन्नत्वेन निरूपणात् साक्षिरूपएव इति ब्रह्मवादएव न सम्भवतीति सर्वोऽपि तन्मतविचारो अब्रह्मवादः इति अर्थः.

तस्मात् पूर्वोक्तरीत्या अस्मदुक्तप्रकारएव पर्यवसानात् सुषुप्तस्यैव

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

‘सम्पत्ति’पदम् उक्तं तेन मूर्च्छिते दुःखाभावमात्रं नतु सुषुप्तिवत् सुखमपि. अतएव कालियनागस्य मूर्च्छानन्तरम् इन्द्रियाणां पुनरागमनम् अर्धसम्पत्त्या इति बोध्यम्. अतएव पूर्वा सम्पत्तिः नतु निश्चयाद् अतः कारणाद् मुग्धदृष्टान्तो न सङ्गच्छते इति अर्थः.

केचिद् इयं मूर्च्छा जाग्रदाद्यवस्थात्रयं मरणावस्था च इति चतुष्टयाद् भिन्नेति सा अत्र विचार्यते इति वदन्ति तद् दूषयन्ति न तत्र इति. प्राणापनयेति. प्राणस्य अपनयः स्थानपरित्यागः, तज्जनको यो विघातः मुशलाभिघातः, तज्जन्येति अर्थः. ननु प्राणधर्मस्य विचारे को दोषः? इत्यतः आहुः व्यर्थश्च इति.

ननु सुषुप्त्याद्यवस्थाविचारः किमर्थम्? अतः आहुः जीवेति. जीवस्य जाग्रदाद्यवस्थासाक्षित्वेन ताएव विचार्या इति अर्थः. ब्रह्मवादे तस्याः विचारे को दोषः? इत्यतः आहुः केवलेति. केवलसाक्षिवादो भिन्नो ब्रह्मवादात्. इदं च उभयोः ऐक्यं “सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन” (ब्रह्मसू. १।३।४२) इति अस्मिन् सूत्रे निवारितम्. सिद्धम् आहुः तस्माद् इति. एकएव इति. यएव सुप्तः सः प्रतिबुद्धः इति अर्थः.

रहितः तादृशजन्मयुक्तो भगवज्ज्ञानरहितो ज्ञानाधिकारी इति सिद्धम्॥१०॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे तृतीयम् अतःप्रबोधः इति अधिकरणम्॥३॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि॥११॥ (३।२।४)

इदानीं विषयनिर्धारार्थं ब्रह्मस्वरूपं विचार्यते. तत्र प्रथमम् अन्योन्य-
विरुद्धवाक्यानां निर्णयः क्रियते. तदर्थम् एतावत् सिद्धम्. समन्वयाविरोधाभ्याम्
एकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यते इति. तत्र यथा कार्यविरोधः परिहृतः, एवं ब्रह्मधर्म-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुनरागमनात्, तादृशजन्म अव्यवहित-पूर्वचरणे विचारं ज्ञानोपयोगि जन्म॥१०॥३॥

प्रकृतग्रन्थसङ्गतिं प्रदर्शयन्तो अधिकरणप्रयोजनम् आहुः **इदानीम्** इत्यादि.
ज्ञानाधिकारिविचारोत्तरं ज्ञानविषयनिर्धारार्थम् इति अर्थः. **विचार्यते** एतत्पादशेषाग्रिम-
पादाभ्यां विचार्यते इति अर्थः. **तत्र** ब्रह्मस्वरूपविचारात् पूर्वम्. **प्रथमं** स्वरूपनिर्णयात्
पूर्वम्. **तदर्थं** ब्रह्मस्वरूपनिर्णयार्थम्. **एतावत् सिद्धम्**. तदेव आहुः **समन्वयेत्यादि**.
तथाच प्रथमे अध्याये सर्वोपनिषद्वाक्यानां समन्वयविचारेण ब्रह्मस्वरूपविचारएव कृतः.
सर्वं कार्यं ब्रह्मणएव न प्रकृत्यादेः इति द्वितीयाध्याये विरोधपरिहारोऽपि ब्रह्मणएव न
अन्यस्य इति परिहारः कृतः. **एवं** ब्रह्मस्वरूपनिर्णयार्थम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

स्वप्नादीति. तस्य मिथ्यात्वाद् इति अर्थः. **तादृशेति**. पूर्वापादोक्तयोग्यशरीरावाप्ति-
युक्तः इति अर्थः. ॥१०॥३॥

पूर्वग्रन्थस्य उत्तरग्रन्थे सङ्गतिं प्रयोजनं च आहुः **इदानीम्** इति. पूर्वं
ब्रह्मज्ञानाधिकारिनिर्णयः कृतः. सच तादृशज्ञानविषय-ब्रह्मस्वरूपनिर्णयं विना न
सम्भवति इति तदर्थम् एतत्सूत्राद् आरभ्य तृतीयपादपर्यन्तम् इदं विचार्यते इति अर्थः.
एतेन अवसरसङ्गतिः प्रयोजनं च उक्तम्. ननु एवं चेत् स्वरूपनिर्णयएव कर्तव्यः किमर्थं
वाक्यविचारः क्रियते? इत्यतः आहुः **तत्र** इति. ब्रह्म सधर्मकं निर्धर्मकं वा इति संशय-
निराकरणं स्वरूपनिर्द्धारिं विना न सम्भवति. सच उभयविधबोधकवाक्यानां निर्णयं विना
न सम्भवतीति प्रथमं तस्य आरम्भः इति अर्थः. एतेन अधिकरणप्रयोजनं दर्शितम्. ननु
पूर्वाध्यायद्वयेन इदं निर्णीतमेवेति किमर्थम् अयम् आरम्भः? इत्यतः आहुः **तदर्थम्** इति.
स्वरूपनिश्चयार्थम् इति अर्थः. तथाच अध्यायद्वयेन उपनिषत्सु ब्रह्मणि एकत्वे
प्रतिपादिते तदनन्तरं स्वरूपनिर्णयः सम्भवति इति भावः. **तत्र** इति. पूर्वाध्यायद्वयेति
अर्थः. **कार्यविरोधः** इति. कार्ये जगति अन्यजन्यत्वकृतो विरोधः परिहरणीयः इति

विरोधोऽपि परिहरणीयः. अन्यथा अबोधकता स्यात्. तत्र स्वगतधर्माणाम् अविरुद्धानाम् अग्रिमपादे विचारः. जड-जीवधर्मत्वेन प्रतीतानाम् अत्र विचारः क्रियते. तत्र क्वचिद् जडजीवधर्माः भगवति बोध्यन्ते, क्वचिद् निषिध्यन्ते. यथा “सर्वकर्मा सर्वकामः” (छान्दो.उप.३।१४।४).

नच एते जीवधर्मा एव न भवन्ति इति वाच्यम्, उच्चावचकर्मणां कामानां च जीवगतत्वप्रतीतेः. “नेतरोऽनुपपत्तेः” (ब्रह्मसू.१।१।१५) इति सर्वत्र वैलक्षण्यस्य उक्तत्वात्. कार्यविशेषधर्माणां कारणे वक्तुम् अशक्यत्वात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्यथा धर्मविरोधपरिहाराभावे. बोधकता न स्यात् सधर्मकं निर्धर्मकं वा जीववत् सदोषं निर्दोषं वा इति निर्णयाभावाद् उपनिषदां ब्रह्मबोधकता न स्याद् इति अर्थः. स्वगताः ब्रह्मगताः. अविरुद्धानां भगवद्धर्मत्वेन निर्णयाद् अविरुद्धानाम्. अग्रिमपादे तृतीयपादे. अत्र द्वितीयपादे. अधिकरणविषयम् आहुः तत्र इत्यादिना. निषिध्यन्ते “अस्थूलम्” (सुबालोप.३।२) इत्यादिश्रुतिभिः निषिध्यन्ते. तथाच संशयः विरुद्धवाक्यद्वयदर्शनाद् ब्रह्म उभयविधलिङ्गम् उत एकविधलिङ्गम् इति फलितम्.

पूर्वक्षम् आहुः नच इत्यादिना. ब्रह्मप्रकरणपठितत्वाद् न जीवधर्माः इति चेद्, न इति अर्थः. तेषां जीवधर्मत्वे हेतुम् आहुः उच्चावचेत्यादि. नच श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वात् प्रतीतेः अप्रामाण्यम् इत्यतः आहुः न इतरः इत्यादि. सर्वत्र सूत्रेषु. वैलक्षण्यस्य जीवब्रह्मणोः तुल्यतापत्त्या व्याससूत्राणां विरोधप्रसङ्गाद् ब्रह्मणि जीव-वैलक्षण्यस्य उक्तत्वाद् इति अर्थः. कार्यविशेषधर्माणां कार्यमात्रधर्माणाम्. वक्तुम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ब्रह्मस्वरूपनिर्धारार्थम् इति शेषः. स्याद् इति. सधर्मकत्वादधर्मकत्वोभयविधवाक्यानां संशयाद् अबोधकता स्याद् इति अर्थः. अस्मिन् पादे अग्रिमपादे च यो विषयः तं विभजन्ते तत्र इति. तत्र विचारावश्यकत्वे प्रतिपाद्ये इदानीं प्रकृताधिकरणविषयम् आहुः तत्र इति. निषिध्यन्ते अस्थूलादिवाक्येषु इति शेषः. वाक्यम् आहुः यथा इति. एतेन इदं जीवलिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं वा इतिसंशयो बोधितः.

पूर्वपक्षम् आहुः नच इति. हेतुम् आहुः उच्चावचेति. प्रतीतेः इति. प्रत्यक्षाद् इति अर्थः. ननु प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वं श्रुतौ इदं वाक्यं ब्रह्मप्रकरणे पठितमिति तस्य प्रबलत्वाद् इत्यतः आहुः नेतरेति. वैलक्षण्यस्य जीववैलक्षण्यस्य. तथाच अस्य ब्रह्मधर्मत्वे जीवसमानधर्मत्वं ब्रह्मणि नास्ति इति सूत्रे प्रतिपादितम् इति सूत्रविरोधः इति भावः. दूषणान्तरम् आहुः कार्येति. वक्तुम् अशक्यत्वाद् इति.

नच कारणधर्माएव सर्वे कार्ये अंशे वा प्रतीयन्ते इति वाच्यम्. “अस्थूलमनणु” (बृहदा.उप.३।८।८) इत्यादिवाक्यैः प्रापञ्चिकसर्वधर्मवैलक्षण्यस्य उक्तत्वात्.

अत्र केचिद् अविरोधम् एवम् आहुः : सर्वत्र कारणत्वाद् भगवान् अस्ति. ततश्च अस्थूले अस्थूलः, अनणावनणुः, उच्चावचकर्तारि उच्चावचकर्ता, उच्चावचकामे उच्चावचकामः, पृथिव्यां सर्वगन्धः, जलादौ अगन्धः. एवं रसादिषु. एवं स्थानतः परस्य उभयलिङ्गम् उपपद्यते.

अथवा, कारणएव रूपम् अरूपञ्च अवच्छेदभेदेन अचिन्त्यसामर्थ्याद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अशक्यत्वात् कार्यकारणभावभङ्गापत्त्या वक्तुम् अशक्यत्वाद् इति अर्थः. प्रापञ्चिकेत्यादि. तथाच ब्रह्मणि धर्मप्रतिपादकवाक्यानि ब्रह्मणि धर्मारोपणोपासन-परतयापि चरितार्थानि स्युः निर्धर्मकब्रह्मप्रतिपादकानितु प्रयोजनान्तरासम्भवाद् ब्रह्मपराण्येव इति आशयः.

सूत्रं व्याख्यातुम् आहुः अत्र इत्यादि. केचिद् ब्रह्मवादिनः ऋषयः. अविरोधम् उभयलिङ्गस्य ब्रह्मणि अविरोधम्. सर्वत्र कारणत्वाद् “यतो वा इमानि” (तैत्ति.उप.३।१) “सदेव सोम्येदम्” (छान्दो.उप.६। २।१) इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मणः समवायिकारणत्वाद् उपादेयमात्राधिकरणतया सर्वत्र भगवतः स्थितिः अस्ति इति भावः. तदेव उपपादयन्ति ततश्च इत्यादिना. रसादिषु इत्यादि. तथाच अन्यत्र यथा कार्यरूपेण तिष्ठति तद्वदगुणेष्वपि तत्तद्रूपतया तिष्ठति इति अर्थः. स्थानतः कार्यरूपत्वतः. परस्य ब्रह्मणः. उभयलिङ्गं विरुद्धधर्मद्वयरूपं लिङ्गम्.

एवम् एकप्रकारेण ब्रह्मणि उभयलिङ्गं व्यवस्थाप्य प्रकारान्तरेण उभयलिङ्गं व्यवस्थापयन्ति अथवा इत्यादि. अवच्छेदभेदेन पृथिव्यप्तजोवच्छेदेन ब्रह्मणि रूपं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कार्यकारणव्यवहारभङ्गापत्तिरूपदोषेण वक्तुम् अशक्यत्वाद् इति अर्थः. अत्र शङ्कते नच इति. उत्तरयन्ति अस्थूलेति. उक्तत्वाद् इति. एवञ्च श्रुतेः प्रबलत्वाद् न एवम् इति. समाधानसूत्रं विवृण्वन्ति अत्र केचिद् इति. केचिद् ऋषयः अविरोधम् उभयलिङ्गाविरोधम् एवं वक्ष्यमाणरीत्या. सर्वत्र इति. कार्येति अर्थः. रीतिम् आहुः ततश्च इति. स्थानतः इति. यथा पृथिवीघटपटादिषु तत्तद्रूपतां धत्ते एवं स्थानतः अस्थूले अस्थूलः इत्येवंरीत्या परस्य ब्रह्मणः उभयलिङ्गम् उपपद्यते इति अर्थः.

मतान्तरम् आहुः अथवा इति. अवच्छेदभेदेन इति. वृक्षे मूलावच्छेदेन कपिसंयोगः अग्रावच्छेदेन तदभावः, एवम् अत्रापि. ब्रह्मणि प्रदेशानङ्गीकारेण

वा. अन्यथा असतः सज्जननप्रसङ्गः इति 'अपि'ना संगृहीतः इति.

एतद् उभयमपि न. कुतः? सर्वत्र हि. सर्वत्र एतादृशं रूपं भगवतः उपदिश्यते. हि युक्तो अयम् अर्थः. भगवत्स्वरूपप्रतिपादकानि हि एतानि वाक्यानि, नतु अनुवादकानि, वैयर्थ्यापत्तेः.

अचिन्त्यत्वे ज्ञानानुदयः. “तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति” (श्वेता.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदन्यावच्छेदेन अरूपत्वम् इत्येवम्प्रकारेण इति अर्थः. एवं पृथिव्यां सर्वगन्धो जलादौ अगन्धः इति एकः पक्षः. अवच्छेदभेदेन इति द्वितीयः. तत्र उभयत्र युक्तिः अचिन्त्य-सामर्थ्यम्. अन्यथा अचिन्त्यानन्तशक्त्यनङ्गीकारेण कार्यात्मकस्थानभूते ब्रह्मणि धर्मानङ्गीकारे असतः धर्मस्य सज्जननप्रसङ्गः उत्पत्तिप्रसङ्गः.

एतद् उभयं पूर्वोक्तपक्षद्वयम्. अपिना इति. तथाच 'स्थानतोऽपि' इति सूत्रभागे पूर्वोक्तो अर्थः सर्वोऽपि सम्पन्नः इति अर्थः. सर्वत्र श्रुतिवाक्येषु. तादृशं सधर्मकं निर्धर्मकञ्च इति अर्थः. एतानि “सर्वकामः” (छान्दो.उप.३।१४।४) “अस्थूलम्” (बृहदा.उप.३।८।८) इत्यादीनि. नतु अनुवादकानि ब्रह्मज्ञानस्यैव “तमेव विदित्वा” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुत्या मोक्षसाधनत्वोक्त्या धर्माणाम् अनुवादे प्रयोजनाभावाद् न अनुवादकानि इति अर्थः. अनुवादके दूषणम् आहुः वैयर्थ्यापत्तेः इति. अनुवादे प्रयोजनाभावात् सधर्मकप्रतिपादकानां वैयर्थ्यापत्तेः इति अर्थः. एवम् अन्यान्यपि गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

हेत्वन्तरम् आहुः अचिन्त्येति. विरुद्धोभयधर्मवत्त्वम् अचिन्त्यसामर्थ्याद् इति अर्थः. पूर्वम् अतः अस्वरसम् आहुः अन्यथा इति. अचिन्त्येति हेत्वनङ्गीकारे असतः इति. स्थाने कार्ये तत्तद्धर्मवत्त्वं कुतः आगतम्? इति विचारे क्रियमाणे ब्रह्मणः सकाशाद् आगतम् इति वक्तव्यम्. तच्च न सम्भवति तत्रतु स्थानतएव सम्भवद् इति कार्ये तस्य असत्त्वात् सत्त्वप्रतीतिः स्वीकर्तव्या स्याद् इति भावः. अपिना इति. स्थानतोऽपि इति पदद्वयम्. तत्र पूर्वपदेन पूर्वमतोक्ताविरोधः संगृहीतः, उत्तरपदेन उत्तरः इति अर्थः. संगृहीतः इति. अविरोधः इति शेषः.

मतद्वयं निषेधति न इति. सर्वत्र इति. सर्वोपनिषत्सु. एतादृशम् “अस्थूलम् अनणुः” एतादृशम् इति अर्थः. सौत्र'हि'पदस्य अर्थम् आहुः हि युक्तः इति. एतानि इति. सर्वकर्मत्वास्थूलत्वबोधकानि इति अर्थः. नतु अनुवादकानि. प्रमाणान्तरेण अवगतं यद् ब्रह्मस्वरूपं तत्प्रतिपादकानि अनुवादकानि, एतादृशानि न भवन्ति इति अर्थः. ननु प्रत्यक्षादिप्रमाणेन अवगतो यः स्थानगतो अस्थूलत्वादिधर्मः तस्य

उप.३।८) “भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि यादृशः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्” (भग.गीता १८।५५) इति ज्ञानानन्तरमेव सायुज्यप्राप्तेः. नच “यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः, अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्” (केनोप.२।११) इति वाच्यं, शास्त्रानारम्भप्रसङ्गात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वाक्यानि “अणोरणीयान्” (कठोप.२।२०) इत्यादीनि जीवातिरिक्तब्रह्मात्मानं विषयीकुर्वन्ति नतु अनुवादकानि, औपाधिकधर्मानुवादेन ब्रह्मज्ञानस्य मुक्तौ अनुपयोगात् स्थानगतधर्मानुवादे वैयर्थ्यापत्तेः इति अर्थः. किञ्च “ज्यायानाकाशाद्” (छान्दो.उप.१।९।१) इत्यादौ अनुवादोऽपि न सम्भवति. यदि लोकप्रसिद्धतादृशज्यायान् चेत् स्यात् तदा तदनुवादोऽपि ब्रह्मपरिचयार्थः स्याद्. नतु एवं, तस्मात् सर्वेषां ब्रह्मप्रतिपादकतैव अवसेया नतु स्थानानुवादकता. यत् च उक्तम् अचिन्त्या या शक्तिः तद्वत्त्वात् स्थाने उभयलिङ्गाविरोधः तदपि न, तथा सति सामर्थ्यस्य अचिन्त्यत्वे तद्वतोऽपि अज्ञानात् सर्वेषाम् अमुक्तत्वापत्तेः. यस्य इत्यादि. यस्य पुंसः, अमतं न ज्ञातं ब्रह्मस्वरूपम् अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन. तस्य पुरुषस्य ज्ञातं ब्रह्मज्ञानविषयीभूतं जातम्. मतं ज्ञातं भवति. यस्य पुंसः स न वेदः न जानाति. तथाच अचिन्त्यशक्तिमत्त्वेन अज्ञानेऽपि ब्रह्म ज्ञानं भविष्यति मुक्तिरपि भविष्यति इति न वाच्यम् इति अर्थः. शास्त्रेत्यादि. तथाच पूर्वोक्तरीत्या विचारं विनैव सर्वेषां ज्ञानमुक्तिसम्भवे व्यासानां

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ब्रह्मधर्मत्वेन प्रतिपादने को दोषः? इत्यतः आहुः वैयर्थ्यापत्तेः इति. औपाधिक-धर्मवत्त्वेन ब्रह्मज्ञाने जाते मुक्तिः न जायते, किन्तु वास्तविकधर्मवत्त्वेन ज्ञाने. एवञ्च मुक्त्यभावात् शास्त्रवैयर्थ्यम् इति भावः. अस्थूलत्वादिवाक्ये अन्ते ज्यायान् आकाशाद् इति उक्तम्. आकाशाद् ज्यायो लोके नास्त्येव स्थानं तद्गतधर्मे ब्रह्मणि अनूद्येत तस्माद् इदं वाक्यम् अनुवादकमेव न भवति इति हृदयम्. एवं पूर्वमतं दूषयित्वा परमतं दूषयन्ति अचिन्त्यत्वेति. सामर्थ्यस्य अचिन्त्यत्वे तद्वतो ब्रह्मणोऽपि अचिन्त्यत्वेन ज्ञानाभावात् “तमेव विदित्वा” (श्वेता.उप.६।८) इति साधनोपदेशो व्यर्थः स्याद् इति अर्थः. एवम् अचिन्त्यत्वाद् भक्तेरपि ज्ञानसाधनत्वं न आयाति इति आहुः भक्त्या इति. शङ्कते नच इति. तथाच अस्मिन् वाक्ये अचिन्त्यत्वेन अमतत्वेऽपि मतत्वं श्रूयते अतो ज्ञानं भविष्यति इति अर्थः.

परिहरन्ति शास्त्रेति. एवं सति विचारे अप्रवृत्तानामपि ज्ञानोदयेन शास्त्रारम्भो

अयं च विरोधः परिहरणीयः. सर्वेहि विरोधा अत्र चिन्त्यन्ते. नापि तत्तदुपादानभूतप्रदेशविशेषेण अविरोधः. अनुवादकत्वेन वैयर्थ्यापत्तेः. नच भगवति भेदो अस्ति. प्रत्यारम्भम् “**एकमेवाद्वितीयम्**” (छान्दो.उप.८।२१) इति वचनात्. अल्पकल्पनायामपि श्रुतिविरोधः सिद्धः. श्रुत्यविरोधार्थमेव हि प्रवृत्तेः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शास्त्रारम्भवैयर्थ्यम् इति भावः. **अयञ्च विरोधः** इति. “**यस्यामतं तस्य मतम्**” (केनोप. २।३) इत्यत्र केन प्रकारेण मतत्वम् अमतत्वञ्च केन प्रकारेण इति प्रकारभेद-ज्ञानाभावेन यो विरोधः सः, अत्र एतत्सूत्रम् आरभ्य पादद्वये. ननु परस्परविरुद्धकार्याणां ये विरुद्धोपादानप्रदेशविशेषाः तेषाम् एकस्मिन् विरोधः तत्परिहाराय उभयलिङ्गवाक्यानि इत्यतः आहुः **नापि** इत्यादि. **अनुवादकत्वेन** पृथिव्यां सिद्धस्य एतादृशोपादानत्वस्य लोकसिद्धत्वेन अनुवादकवाक्यानां वैयर्थ्यापत्तेः इति अर्थः. ननु पृथिव्यादिरूपे भगवति अंशसत्त्वात् तद्भेदेन विरोधपरिहारः. भगवतितु अंशाभावाद् उभयम् असिद्धम् इति विरोधो अतो न अनुवादकत्ववैयर्थ्यम् इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. **भगवति** पृथिवीरूपे तदतिरिक्ते भगवति. **प्रत्यारम्भं** ब्रह्मप्रतिपादनारम्भो वेदे यत्र-यत्र तत्र सर्वत्र इति अर्थः. **अल्पकल्पनायाम्** इति किञ्चिद् अंशेऽपि स्वल्पविरोधकल्पनायामपि इति अर्थः. **प्रवृत्तेः** इति व्यासस्य प्रवृत्तेः इति अर्थः. तथाच स्वल्पविरोधस्यापि अपरिहारे

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

व्यर्थः इति अर्थः. **अयम्** इति. यस्य अमतं तन्मतं कथमिति अयं विरोधोऽपि परिहरणीयः. नो चेत् तद्वाक्यबोधकता न स्याद् इति अर्थः. ननु कुतः परिहरणीयः? इत्यतः आहुः **सर्वेति**. यथा वृक्षमूलाग्ररूपांशभेदेन संयोग-तदभावयोः एकत्र सत्त्वम् एवम् अत्रापि इति शङ्कते **नापि** इति. **तत्तद्** इति. स्थूलत्वास्थूलत्वेति अर्थः. उत्तरयन्ति **अनुवादकत्वेन** इति. प्रदेशस्य पृथिव्यादौ सत्त्वाद् लोकसिद्धानुवादकत्वेन इति अर्थः. ननु पृथिव्यादौ अंशाः सन्ति इति तत्र तथात्वं ब्रह्मणितु तदभावात् प्रदेशएव नास्तीति न अनुवादकत्वम् इति आशङ्क्य निषेधन्ति **नच** इति. **भेदो अस्ति** इति. प्रदेशभेदो अस्ति इति अर्थः. ननु कुतो नास्ति? इत्यतः आहुः **प्रत्यारम्भकम्** इति. यत्र-यत्र ब्रह्मनिरूपणम् आरभ्यते तत्र-तत्र “**एकमेवाद्वितीयम्**” (छान्दो.उप.६।२।१) इति कथनाद् एकरूपता सर्वत्र तस्य स्वीकर्तव्या इति अर्थः. ‘अस्थूला’दिवाक्यप्रामाण्याद् ब्रह्मणो अल्पत्वं कल्प्यते इत्यतः आहुः **अल्पेति**. **श्रुतिविरोधः** ब्रह्मणः एकत्वाद् “महतो महीयान्” इति श्रुतिविरोधः. ननु श्रुतेरेव

तस्माद् न मतान्तरानुसारेण जडजीवधर्माणां सत्त्वासत्त्वे परिहर्तुं शक्ये ॥११॥

न भेदाद् इति चेद् न प्रत्येकम् अतद्वचनात् ॥१२॥

प्रकारान्तरेण समाधानम् आशङ्क्य परिहरति. न भवदुक्तो विरोधः सम्भवति. भेदात् कारणकार्येषु सर्वत्र भेदाङ्गीकारात्. प्रपञ्चविलक्षणं ब्रह्म भिन्नम्. प्रपञ्चधर्मवद् ब्रह्म भिन्नम्. तथा अज्ञातं ज्ञातञ्च. एकस्य भेदस्य अङ्गीकारे सर्वम् उपपद्यते इति चेद्, न, प्रत्येकम् अतद्वचनात्. अभेदवचनात्. “इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु” (बृहदा.उप.२।५।१) इति ब्राह्मणे “अयमेव स यो अयम्” (बृहदा.उप.२।५।१) इति सर्वत्र अभेदवचनात्, कार्यकारणरूपप्रकाराणां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्यासप्रवृत्तिवैयर्थ्यम् इति अर्थः. प्रकारान्तरेण उक्तमतान्तररीत्या, सत्त्वासत्त्वे ब्रह्मणि सत्त्वासत्त्वे विरुद्धोभयलिङ्गत्वेन अभिमतं, परिहर्तुं शक्ये ब्रह्मणि विरुद्धे अतः परिहार्ये इति न इति अर्थः. तथाच मतान्तरोक्तरीत्या न उभयलिङ्गविरोधपरिहारः सिध्यति इति अर्थः ॥११॥

भवदुक्तः इत्यादि. तथाच भवद्भिः ब्रह्मणि पूर्वोक्तरीत्या यो विरोधः उक्तः सः उभयलिङ्गविरोधो अस्मद्वक्ष्यमाणप्रकारे न भवति इति अर्थः. सर्वत्र श्रुतौ स्मृतौ च गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अयम् अपराधः विरुद्धार्थकथनं करोति इत्यतः आहुः. श्रुतीति. प्रवृत्तेः इति. व्यासस्य इति शेषः. तथाच बोधाभावात् श्रोतुरेव अपराधः इति भावः. सिद्धम् आहुः तस्माद् इति. देशभेदेन अंशभेदेन इति मतान्तरानुसारेण इति अर्थः ॥११॥

सूत्रम् अवतारयन्ति प्रकारान्तरेण इति. उभयलिङ्गम् इति वर्तते, तस्य ‘न’ इत्यनेन अन्वयः. तथाच भवता उक्तो यः ‘उभयलिङ्ग’पदेन विरोधः सः न इति अर्थः. कुतः? भेदाद्. एतस्यैव विवरणम् आहुः कारणेति. सर्वत्र लोके वेदे च तथा अज्ञातं ब्रह्म भिन्नं, ज्ञातं भिन्नम्. सिद्धान्तम् आहुः न प्रत्येकम् इति. अतद् इति. न तदभेदवचनम् अतत्. अभेदवचनाद्. कुत्र वचनम् इति आकाङ्क्षायां बृहदारण्ये मधुब्राह्मणस्थानि वाक्यानि उदाहरन्ति इयम् इति. “इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्च अयम् अस्यां तेजोमयो अमृतमयः पुरुषः” (बृहदा.उप.२।५।१) इति उपक्रम्य “अयमेव सो अयम् आत्मा इदम् अमृतम् इदं ब्रह्म इदं सर्वम्” (बृहदा.उप.२।५।१) इत्यादीनि चतुर्दशवाक्यानि. तेषु सर्वत्र “अयमेव सः” इति उक्त्याभेदवचनाद् इति अर्थः. तथाच यत् सिद्धं तद् आहुः कार्येति ॥१२॥

भेदनिषेधात्. तस्माद् न भेदाङ्गीकारेण श्रुतयो योजयितुं शक्याः॥१२॥

अपि चैवमेके॥१३॥

भेदाङ्गीकारे बाधकम् आह. **अपि च एवमेव** अभेदमेव भेदनिषेधेन **एके** शाखिनो वदन्ति. “**मनसैवेदम् आप्तव्यं, नेह नानास्ति किञ्चिन, मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति**”(कठोप.२।१।११) इति भेददर्शननिन्दावचनात्. तस्माद् न भेदाङ्गीकारः कर्तुं शक्यः. ‘इव’ शब्दो “**बहु स्याम्**”(तैत्ति.उप.२।६) इति व्यावृत्त्यर्थः. तस्माद् उपनिषत्सु सर्वप्रकारो अविरोधः सिद्धः॥१३॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे चतुर्थम् उभयलिङ्गम् अधिकरणम्॥१४॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्॥१४॥ (३।२।५)

एकदेशिमतेन समाधानम् आह. कथम् अत्र सन्देहः, विरोधो वा?

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति अर्थः. **भेदनिषेधात्** पूर्वोक्तविधिश्रुतिसहस्रेषु भेदनिषेधाद् इति अर्थः॥१२॥

“**बहु स्याम्**” इति व्यावृत्त्यर्थः इति. तथाच “**बहु स्याम्**” इति इच्छया भगवद्रूपनानापदार्थदर्शने न “**मृत्योः स मृत्युम्**” इत्यादिदोषः किन्तु वस्तुतो ब्रह्मभेद-बोधे मृत्युरूपो दोषः एवं व्यावृत्त्यर्थम् इति अर्थः॥१३॥॥१४॥

पूर्वाधिकरणेन एककार्यकारित्वसङ्गतिं प्रदर्शयन्तो अधिकरणम् अवतारयन्ति **एकदेशिमतेन** इत्यादिना. एतन्मतस्य अग्रे किञ्चिदंशे अङ्गीकार्यत्वाद् आदौ कथनं **कथम् अत्र सन्देहः**. ब्रह्मणि सर्वकर्मत्यादिधर्माणां **कथं** केन प्रकारेण **सन्देहः** इति अर्थः. **अत्र** एतस्मिन् अधिकरणे, इत्थं च पूर्वाधिकरणे उभयलिङ्गवाक्यश्रवणमात्रेण

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

भेदबोधकवेदस्य उच्छिन्नत्वेन नित्यानुमेयवेदमूलत्वं भेदस्य स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **भेदेति**. बृहदारण्यान्तर्गतशारीरब्राह्मणस्थं वाक्यम् आहुः **मनसैव** इति. तथाच निन्दाश्रवणाद् न नित्यानुमेयवेदमूलकभेदस्य सिद्धिः. घटपटादिवद् दर्शननिषेधः, नतु वैलक्षण्येन एकस्यैव नानादर्शननिषेधः इति आहुः **इवेति**. **तस्माद्** इति. भेदाभावेन यस्माद् उभयलिङ्गबोधकश्रुतीनां विरोधाद् अबोधकत्वं प्राप्तं तस्माद् इति अर्थः॥१३॥॥१४॥

एकदेशिमतेन इति. ज्ञानाकारस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चे प्रतिबिम्बेन लौकिक-धर्मकत्वम् एकदेशी स्वीकरोति, तन्मतेन इति अर्थः. पूर्वाधिकरणसन्देहम् आक्षिपति **कथम्** इति. उभयलिङ्गवाक्यश्रवणाद् वा उत **जडजीवधर्माणां** विधिनिषेधयोः विरोधे

जडजीवधर्माणां विधिनिषेधयोः. जडजीवयोः हि जडजीवधर्माः भवन्ति. अन्यत्र तु उपदिश्यमाना उपासनार्था भवन्ति. ननु उक्तो भेदाभावः. सत्यम्. तथापि कार्यकारणांशभावकृतस्य भगवद्विहारार्थं जातस्य भेदस्य निषेद्धम् अशक्यत्वात्. तस्माद् ब्रह्मणि जडजीवधर्माणां निषेधो युक्तः. उपचारात् सर्वकर्मादयः.

विपरीतं किं न स्यात्? अतः आह **अरूपवदेव**. रूप्यते निरूप्यते

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आपाततः सन्देहः. **विरोधो वा** जडजीवधर्माणां ब्रह्मणि विरोधनिश्चयो वा, संशयो विरोधनिश्चयोऽपि किम् उभयलिङ्गश्रवणमात्रेण उत उभयलिङ्गधर्मिणोः भेदनिश्चयाद् वा? तत्र उभयलिङ्गश्रवणमात्रेण सन्देहं निराकुर्वन्ति **जडजीवेत्यादि**. **विधि-निषेधयोः** संशये कोटीभूतयोः **भवन्ति** इति. तथाच जडजीवयोरेव अनयोः धर्माः नतु ब्रह्मणि इति बाधनिश्चयाद् न आपाततः संशयः इति अर्थः. **अन्यत्र** ब्रह्मणि, उभयलिङ्गधर्मिणोः भेदम् अङ्गीकृत्य उभयधर्मयोः विरोधं निश्चित्य आह **ननु उक्तः** इत्यादि. **भेदाभावः, सत्यम्** इत्यादि. **“सर्वं खलु”** (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिश्रुतिभिः भेदाभावप्रदर्शनं सत्यमेव परं रमणेच्छातो बहुभवनेक्षणात् पूर्वमेव सत्यं नतु उत्तरमपि. **अशक्यत्वाद्** रमणान्यथानुपपत्त्या तादृशभेदनिषेधस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् इति अर्थः. **निषेधो युक्तः** इति. तथाच धर्मिणोः भेदाद् धर्मनिषेधो युक्तः. संशयस्तु आपाततएव धर्मिणो भेदाग्रहाद् इति भावः. **उपचाराद्** अभेदक्रमेण गौण्या वृत्त्या इति अर्थः. **विपरीतं** ब्रह्मणि वास्तवं सर्वकर्मत्वादिकम्. तथाच ब्रह्मणः कार्यमात्रोपादानत्वाद्, उपादेये च उपादानधर्माणामेव सम्भवात्, सर्वकर्मत्वादयो धर्माः ब्रह्मण्येव सन्तु विरुद्धधर्माणां श्रुत्या श्रावणात् संशयो वा स्याद् नतु ब्रह्मणि उक्तधर्माणाम् अभावनिश्चयः इति अर्थः. समाधानं वदन्तः सूत्रार्थम् आहुः **रूप्यते** इत्यादि. **ननु**

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

वा सन्देहः इति **कथम्** इति अर्थः. तत्र जडजीवयोः इति. द्वितीयहेतुं निरस्यति **जडजीवयोः** इति. **भवन्ति** इति. तथाच विरोधो नास्ति इति अर्थः. विरोधस्तु भेदनिश्चयात्. सच नास्ति इति पूर्वाधिकरणोक्तसिद्धान्तम् आक्षिपति **ननु** इति. **तथापि** इति. अभेदस्य उक्तत्वेऽपि इति अर्थः. **भगवद्विहारार्थम्** इति. **“स वै नैव रेमे”** (बृहदा.उप.१।४।३) **“बहु स्याम्”** (तैत्ति.उप.२।६) इतिश्रुत्या क्रीडार्थं जातस्य इति अर्थः. एवञ्च सन्देहएव न भविष्यति इति भावः.

(अत्र विवरणे पत्रम् एकं लुप्तम्, अतः उपरितनग्रन्थः आरभ्यते—**आद्यसम्पादकीयम्**)

व्यवहियते इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वं, तद्युक्तं रूपवद् विश्वम्. ब्रह्मातु तद्विलक्षणम्, कार्यकारणांशांशिनोः वैलक्षण्यस्य युक्तत्वात्.

ननु अवैलक्षण्यमपि युक्तं, कारणत्वाद्, अतः आह **तत्प्रधानत्वात्**. तस्य ब्रह्मणः प्रधानत्वात् मुख्यत्वात्. यत्र हि यत् प्रतिपाद्यते तत्र तस्य मुख्यत्वम्. ब्रह्मप्रतिपादने ब्रह्मधर्माणामेव मुख्यत्वं, न अन्यधर्माणाम्. यथा प्रशासनस्य मुख्यत्वं तथा 'सर्वकर्मा' इति लौकिककर्मानुवादेन भगवत्सम्बन्धे स्पष्टमेव अमुख्यत्वम्. विशिष्टबोधनेऽपि 'सर्व'शब्दस्य प्रसिद्धानुवादकत्वाद् अतिरिक्तकल्पनायां गौरवात् प्रमाणाभावाच्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अवैलक्षण्यम् इत्यादि. तथाच अवैलक्षण्ये कार्य-कारणोः अंशांशिनोः वा भेदे कार्य-कारणभावो अंशांशिभावो वा अनुपपन्नएव भवेद् इति अयुक्तता. **कारणत्वाद्** ब्रह्मणो विश्वं प्रति कारणत्वात्. यत्र ब्रह्मणि, यद् विश्वं, तत्र तादृशप्रतिपादनस्थले, तस्य अधिकरणीभूतब्रह्मणः, **ब्रह्मधर्माणाम्** अस्थूलत्वादिधर्माणाम्. न अन्यधर्माणां न विश्वधर्माणां सर्वकर्मत्वादीनां प्राधान्यम् इति अर्थः. तत्र दृष्टान्तम् आहुः यथा इति. **प्रशासनस्य मुख्यत्वम्**. "एतद्वै तदक्षरम्" (बृहदा.उप.३।८।८) इति ब्रह्मैव उद्दिश्य प्रशासनस्य उक्तत्वात् **प्रशासनस्य मुख्यत्वं** मुख्यं ब्रह्मधर्मत्वम्. तथा इति व्यतिरेक-दृष्टान्तः. तथाच अत्र "मनोमयः प्राणशरीरः" (छान्दो.उप.३।१४।२) इति विशिष्टम् उपक्रम्य सर्वकर्मत्वादिधर्माणां पठितत्वात् तेषाम् अनुवादं कृत्वा **भगवत्सम्बन्धे** भगवद्धर्मत्वे उच्यमाने, **अमुख्यत्वम्** आरोपितं भगवद्धर्मत्वम् इति अर्थः. **विशिष्टबोधनेऽपि** 'सर्वकर्मा' - 'सर्वकामः' इत्यादिशब्दैः उक्तधर्मविशिष्टतया ब्रह्मणो बोधनेऽपि, **अतिरिक्तकल्पनायां** ब्रह्मणि लौकिकधर्मसदृशातिरिक्तधर्म-कल्पनायाम्. **गौरवात्** तादृशातिरिक्तधर्मकल्पनायां गौरवात्. **प्रमाणाभावाद्** "निष्कलं...शान्तम्" (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिश्रुत्या धर्माणां बाधप्रदर्शनात्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भगवत्सम्बन्धे इति. उपासनार्थं भगवत्सम्बन्धः इति अर्थः. ननु यत्र वाक्यानां कर्मत्वादिविशिष्टब्रह्मबोधनं तत्र मुख्यत्वम् अस्ति इत्यतः आहुः **विशिष्टबोधनेऽपि** इति. सर्वेषामिव कर्माणि यस्य इति समासेन विशिष्टबोधनं वक्तव्यं, तत् च न सम्भवति इति आहुः **सर्वशब्दस्य** इति. तर्हि कथं विशिष्टबोधनम्? अतः आहुः **यथाकथञ्चिद्** इति. उपचारेण इति अर्थः. **विशिष्टबोधनम्** इति. लक्षणया विशिष्टबोधनम् इति

यथाकथञ्चिद् ^१तद्धर्मवत्त्वेन ज्ञानस्यैव उपयोगाद् लोकधर्मानिव अनूद्य
^२विशिष्टबोधनम् उचितम्. अरूपम् इति वक्तव्ये अरूपवद् इति वचनं,
 भिन्नधर्माणामेव एवं निर्णयः, नतु प्रशासनवद् भगवद्धर्माणाम्. तस्मात् कार्यवत्
 तद्धर्माणामपि कार्यत्वाद् ^३भगवत्त्वं, न भगवद्धर्मत्वम् इति सिद्धम्॥१४॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्॥१५॥

ननु सर्वव्यवहारातीते शास्त्रवैफल्यं, “मनसैव ^४एतद् आप्तव्यम्”

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सधर्मकत्वबोधकश्रुतिभिः तत्र अतिरिक्तधर्मकल्पनायाः कर्तुम् अशक्यत्वाद् इति अर्थः.
 उचितम् उपासनार्थम् उचितम्. ननु अरूपम् इति वक्तव्ये अरूपवद् इति उक्तेः
 अरूपसदृशप्रतीतेः विश्वविलक्षणधर्मवत्तैव बोध्यते इति किं न स्याद् अतः आहुः
 भिन्नेत्यादि. भिन्नधर्माणां विश्वधर्माणां सर्वकर्मत्वादीनाम्. एवं निर्णयः भगवति
 अभावनिरणयः. नतु इत्यादि. तथाच ‘अस्थूला’दिवाक्येव प्रशासनादिधर्मवतो भगवतः
 श्रवणात् तद्धर्मैः व्यवहार्यमेव ब्रह्म नतु सर्वथा अव्यवहार्यमेव इति एतादृशार्थबोधायैव
 अरूपवद् इति उक्तम् इति अर्थः. भगवद्धर्माणाम् इत्यस्य अभावनिरणयः इति अन्वयः.
 कार्यवत् प्रपञ्चवद्, न भगवद्धर्मत्वं प्रपञ्चरूपभगवद्धर्मत्वेऽपि न प्रधानरूप-
 भगवद्धर्मत्वम् इति अर्थः॥१४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. सर्वव्यवहारातीते पूर्वसूत्रे सर्वकर्मत्वादिभिः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. ननु एवं सति सर्वकर्मादिधर्मः भगवति नास्ति इति तन्मते सिद्धम्, एवञ्च
 सर्वव्यवहारातीतत्वाद् ‘अरूपम्’ इति सूत्रकृता कुतो न उक्तम् अतः आहुः अरूपम्
 इति. निर्णयः इति. लाक्षणिकत्वनिर्णयः इति अर्थः. भगवद्धर्माणाम् इति निर्णयः इति
 पूर्वेण अन्वयः. उपसंहरति तस्माद् इति. कार्यवद् इति. प्रपञ्चवद् इति अर्थः.
 भगवत्त्वं भगवद्रूपत्वं न भगवद्धर्मत्वम् इति. नित्यभगवद्धर्मत्वं न इति अर्थः॥१४॥

सूत्रावतरणम् आहुः ननु इति. ननु सर्वव्यवहारातीते ब्रह्मणि स्वीकृते सति को
 दोषः? इत्यतः आहुः शास्त्रेति. शास्त्रजन्यज्ञानविषयत्वाभावाद् इति भावः.
 शास्त्रविरोधमपि आहुः मनसेति. सर्वान्तःपातिमानसिकव्यवहारस्य उक्तत्वाद् इति

१. ‘धर्मवत्त्वेन’ इति पुरु.पाठः. २. ‘वैशिष्ट्य’ इति पुरु.पाठः. ३. “भगवत्त्वं भगवद्धर्मत्वम् इति
 सिद्धम्” इति पुरु.पाठः. ४. “मनसैवेदमाप्तव्यम्” इति पूर्वसूत्रे उद्धृतम्.

(कठोप.२।१।११) इति विरोधश्च न परिहृतः, “तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि” (बृहदा. उप.३।९।२६) “यतो वाचो निर्वर्तन्ते” (तैत्ति.उप.२।४,५) इति च, इत्यतः आह प्रकाशवत्. यथा सौरप्रकाशो व्यवहार्यो अव्यवहार्यश्च, न हि स्वतः सम्पादयितुं शक्यते, स्थापयितुं वा आगतेतु सूर्ये मेघाद्यभावे च सान्निध्य-मात्रेण व्यवहारः कर्तुं शक्यते, तथा लौकिकवाङ्मनोभिः न शक्यते व्यवहर्तुम्, ईश्वरसन्निधानेतु शक्यते इति द्वयम् आह श्रुतिः. कुतः एतद् अवगम्यते ? तत्र आह अवैयर्थ्यात्. अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात्. ‘च’काराद् धर्माणां तथात्वविरोधः परिहृतः. “आसीनो दूरं व्रजति” (कठोप.१।२।२१) “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः” (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादौ अलौकिकाः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वोक्तेः प्रशासितृत्वादिवास्तवभगवद्भर्माणां च अलौकिकत्वेन व्यवहारविषयत्वाभावेन सर्वव्यवहारातीते इति अर्थः. शास्त्रवैफल्यं तादृशस्य ब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वस्यापि असम्भवाद् ब्रह्मबोधकशास्त्रस्य वैयर्थ्यम् इति अर्थः. विरोधः सर्वव्यवहारातीते मनोवेद्यत्वस्यापि असम्भवाद् श्रुतिविरोधः इति अर्थः. इति च इति अनयोरपि श्रुत्योः विरोधः इति अर्थः. स्थापयितुं यथा न गच्छति तथा स्थापयितुम् इति अर्थः. सान्निध्येत्यादि. प्रतिबन्धकाभावाद् व्यवहर्तुं शक्यते इति अर्थः. द्वयं मनोवागविषयत्वं मनोवाग्विषयत्वञ्च इति द्वयं, शास्त्रं “मनसैव एतद् अवाप्तव्यं” (कठोप.४।११) “तमेव विदित्वातिमृत्युमेति” (श्वेता.उप.६।८) इति शास्त्रम्. धर्माणां भगवद्भर्माणाम्. तथात्वविरोधः लौकिकत्वविरोधः. भगवद्भर्माणां लौकिकत्वपरिहारिकां श्रुतिम् आहुः “आसीनः” (कठोप.३।१९) इत्यादि. न

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भावः. वाक्यविरोधमपि आहुः तन्तु इति. चकारेण “आसीनो दूरं व्रजति” (कठोप.२।२१) इत्यादिवाक्यानां संग्रहः. सूत्रार्थम् आहुः प्रकाशवद् इति. अत्र न मतुप् किन्तु तृतीयान्ताद् तुल्यार्थे वतिः. पूर्वसूत्रात् ‘तत्’पदम् अनुवर्तते. तथाच ब्रह्मप्रकाशेन तुल्यम् इति अर्थः. कथं तुल्यम् ? इत्यतः आहुः यथा इति. प्रकाशस्य अव्यवहार्यत्वम् उक्त्वा व्यवहार्यत्वम् आहुः आगतेतु इति. दार्ष्टान्तिके घटयन्ति तथा इति. चार्थम् आहुः चकाराद् इति. तथात्वविरोधः लौकिकत्वविरोधः. परिहारं व्याकुर्वन्ति आसीनः इति. अलौकिकत्वं व्युत्पादयन्ति अकरणकेति तथाच कारणं विनापि दूरव्रजनम् उच्यते, चक्षुर्विनापि दर्शनकर्तृत्वम् उच्यते. तेन च धर्माणाम्

भगवद्भर्माः उच्यन्ते. अकारणकार्यवचनात् *तद्धर्माणां च अकार्यत्वं बोधयति. तस्माद् अव्यवहार्येऽपि न शास्त्रवैफल्यम् ॥१५॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति. ननु अलौकिकानि इन्द्रियाणि विरोधाभावाय कथं न कल्प्यन्ते? अन्यथा अकारणकार्यत्वं, तस्य च नित्यत्वम् अलौकिकत्वं, ततश्च “पश्यत्यचक्षुः” (श्वेता.उप.३।१९) इति विरोधः इति आशङ्क्य परिहरति

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

आह च श्रुतिः स्वयमेव तन्मात्रं प्रज्ञानघनमात्रं “स यथा सैन्धवघनो अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयम् आत्मा अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनएव” (बृहदा.उप.४।५।१३) इति स्वरूपातिरिक्तानाम् इन्द्रियाणाम् अभावात्. नच क्रियाभावोऽपि, वेदविरोधेन तथा कल्पयितुम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शास्त्रवैफल्यम् अव्यवहार्येऽपि पूर्वधर्माणामिव व्यवहारदर्शनाद् विरुद्धधर्माधारत्वस्य भगवदसाधारणत्वाद् न वैफल्यम् इति अर्थः ॥१५॥

ततश्च अलौकिकेन्द्रियकल्पनातश्च. परिहरति अलौकिकेन्द्रियकल्पना-प्रयुक्तो यो “अपाणिपाद” श्रुतिविरोधः तं परिहरति इति अर्थः. ननु लौकिकरीत्या स्वरूपातिरिक्तानामेव इन्द्रियाणां क्रियाजनकत्वदर्शनाद् भगवति च स्वरूपातिरि-क्तेन्द्रियाभावात् क्रियापि न भविष्यति इत्यतः आहुः नच क्रियाभावः इत्यादि. वेदविरोधेन “दूरं व्रजति” (कठोप.२।२०) इति वेदविरोधेन. तथा क्रियाशून्यत्वम्.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

अलौकिकत्वं सूचितम्. अतो लौकिकत्वविरोधो नास्ति. करणं विनापि कार्यत्वबोधनेन अकार्यत्वं नित्यत्वरूपम् उक्तम् इति अर्थः ॥१५॥

आशङ्काम् आहुः ननु इति. लौकिकेन्द्रियकल्पनायां लाघवम् आहुः अन्यथा इति. तथाच इन्द्रियकल्पनापेक्षया पूर्वकल्पनायां लाघवम् इति भावः. पूर्वकल्पनास्वीकारे दोषम् आहुः ततश्च इति. सूत्रार्थम् आहुः आह च इति. श्रुतिः कथम् आह? इत्यतः आहुः स यथा इति. दार्ष्टान्तिके श्रुतिम् आहुः एवम् इति. तथाच ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वेन परिहरन्ति स्वरूपेति. अत्र शङ्कते नच इति. अपिना यथा इन्द्रियाभावः तथा अयमपि इति सूचितम्. परिहरन्ति वेदेति. “दूरं व्रजति” इति

*“धर्माणां च कार्यत्वम्” इति पाठः.

अशक्यत्वात्. वेदनिःश्वासायनभूतसमुत्थानादेः उक्तत्वाच्च. अतो न इन्द्रियाणां परिकल्पना किन्तु सर्वाकारस्वरूपं वस्त्वेव तादृशम् इति मन्तव्यम्, ‘कृत्स्न’-वचनात्. ‘च’कारात् “सर्वेन्द्रियविवर्जितम्” (भग.गीता १३।१४) इति स्मृतिरपि. तस्माद् न इन्द्रियकल्पनया अविरोधः॥१६॥

पुनः प्रकारान्तरेण विरोधम् आशङ्क्य परिहरति. ननु ब्रह्म जगत्कारणम् इति सिद्धम्. तच्च समवायि निमित्तञ्च इतिच. कारणधर्माएव हि कार्ये भवन्ति. असम्भावनायान्तु अन्यथाकल्पनम्. कामादयो धर्माश्च श्रुतौ विहिताः. ते ब्रह्माणएव भवितुं युक्ताः. निषेधिकापि श्रुतिः. न हि वेदवादिनाम् अणुमात्रमपि अन्यथाकल्पनम् उचितम् इति आशङ्क्य परिहरति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु तादृशब्रजनस्य प्रकरणान्तरीयत्वात् शरीरविशिष्टस्यैव सः धर्मोऽनु शुद्धस्यैव इत्यतः आहुः वेदेत्यादि. तथाच वेदनिश्वासरूपक्रियायनत्वस्य भूतसमुत्थान-क्रियायाश्च एतत्प्रकरणेऽपि उक्तत्वात् शुद्धस्यैव क्रियावत्वं सिद्धम् इति अर्थः. कल्पनया विरोधः कल्पनाप्रयुक्तो विरोधः इति अर्थः॥१६॥

सिद्धं “तस्माद् वा”(तैत्ति.उप.२।१।१) “एतस्माद् जायते प्राणः”(मुण्ड-कोप.२।१।३), “यतो वा इमानि”(तैत्ति.उप.३।१) इत्यादिश्रुतिभिः सिद्धम्. इति च इति सिद्धम् इत्यनेन अन्वयि. असम्भावनायां कारणीभूतब्रह्मधर्माणां कार्ये अनङ्गीकरणदशायां विवर्तवादस्य असतः सत्तावादस्य च अङ्गीकारे, अन्यथाकल्पनम् “एकोऽहं बहु स्याम्”(छान्दो.उप.६।२।३) “ऐतदात्म्यम् इदम्”(छान्दो.उप.६।८।७)

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

क्रियाबोधकवेदविरोधेन इति अर्थः. ननु इयं श्रुतिः शरीरविशिष्टबोधेनपरेति अतः परिहारान्तरम् आहुः वेदेति. वेद(निः)श्वासः श्वासोच्छ्वासः. अयनं जगत्स्थापनं भूतसमुत्थानं भूतानां पञ्चमहाभूतानां समुत्थानम् उत्पादनम्. ‘आदि’शब्देन तेषां विनाशनम्. एतेषां क्रियारूपाणाम् उक्तत्वाद् इति अर्थः. श्रुतौ ‘कृत्स्न’पदस्य सूत्रे ‘च’कारस्य च स्वारस्यम् आहुः कृत्स्नेति ॥१६॥

आशङ्काम् आहुः ननु इति. च इति च इति सिद्धम् इति पूर्वेण अन्वयः. असम्भावनायाम् इति. कारणधर्माणां कार्ये सम्भवो न स्वीक्रियते चेद् इति अर्थः. अन्यथाकल्पनम् इति. असतः पदार्थस्य सत्यकल्पनं स्याद् इति अर्थः. तदेव आहुः कामादयः इति. जीवनिष्ठा इति शेषः. निषेधिका इति. अकामः इत्यनेन इति शेषः.

दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते ॥१७॥

दर्शयति श्रुतिरेव जडजीवधर्माणां भगवति अभावः इति. “द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे” (बृहदा.उप.२।३।१) इत्युपक्रम्य, द्वेधा पञ्चभूतानि उक्त्वा, “अथात आदेशो नेति नेति” (बृहदा.उप.२।३।६) इति आह. ‘इति’शब्दः प्रकारवाची. ब्रह्म पञ्चमहाभूतानि भवति, नतु एवम्प्रकारकम्. तत् साधयति ‘न’. न भवत्येव ब्रह्म तादृशम्. ‘हि’ युक्तो अयम् अर्थः. एतस्माद् जातम् इति. न हि कार्यकारणयोः एकः प्रकारो भवति. अतो “नेति” इति प्रकार-निषेधोपसंहारः, नतु समवायित्वमात्रत्वं किन्तु अन्यत्परम् अस्ति इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादिश्रुतिविरुद्धकल्पनम्. इति आशङ्क्य श्रुत्युक्तविधिनिषेधौ ब्रह्मणि इति आशङ्क्य. परिहरति विषयवाक्यम् उपन्यस्य ‘दर्शयति’ इत्यनेन परिहरति इति अर्थः. अभावः इति अस्य दर्शयति इत्यनेन अन्वयः.

द्वे इत्यादि. इदं बृहदारण्यके मूर्तामूर्तब्राह्मणे. तत्र “द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे” (बृहदा.उप.४।३।१) इति उपक्रम्य अधिदैवताध्यात्मभेदेन द्वेधा पञ्चभूतानि उक्त्वा “अथात आदेशो नेति नेति” (तत्रैव ४।३।६) इति निषेधम् आह. द्वेधा मूर्तामूर्तभेदेन द्वेधा. ‘इति’शब्दः प्रथमस्य ‘इति’शब्दः. तत् साधयति प्रथमस्य ‘इति’शब्दस्य प्रकारवाचित्वं “न हि अस्माद् अन्यत्परम् अस्ति” (बृहदा.उप.२।३।६) इति व्याख्यान-श्रुतिस्थप्रथम‘न’कारेण साधयति इति अर्थः. तादृशं मूर्तामूर्तमात्रप्रकारकम्. एतस्माद् ब्रह्मणः सकाशात्. कार्यकारणयोः ब्रह्मप्रपञ्चयोः. प्रकारनिषेधः मूर्तामूर्तप्रकारकम् इतिप्रकारः. उपसंहारः समाप्तिः. व्याख्यानश्रुतौ “न हि” एतद्व्याख्यातम्. “अस्माद् अन्यत्परम् अस्ति” इति श्रुतिभागं व्याख्यातुम् आहुः नतु इत्यादि. तथाच “अथात

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रार्थम् उपन्यस्य परिहारं व्याकुर्वन्ति दर्शयति इति. अत्र बृहदारण्यकीय-मूर्तामूर्तब्राह्मणस्थं विषयवाक्यम् उदाहरन्ति द्वे वावेति. द्वेधा आधिदैविकाध्यात्मभेदेन इति अर्थः. इति आह इति. श्रुतिः इति शेषः. नेति नेति इत्यस्य व्याख्यानम् आहुः इतिशब्दः इति. अत्र नञ्द्वयार्थं विवृण्वन्ति ब्रह्मेति. प्रथमनञर्थम् आहुः नतु एवम्प्रकारम् इति. द्वितीयनञर्थम् अवतारयन्ति तत्साधयति नेति. द्वितीयनञर्थम् आहुः न भवत्येव इति. तादृशम् इति. तादृशप्रकारकम् इति अर्थः. एतेन पूर्वोक्तार्थसाधनं नञा बोध्यते इति सूचितम्. तथाच “द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः” इति द्वयोः प्रकारयोः

रूपं निरूप्य नाम निरूपयति. “सत्यस्य सत्यम्” (बृहदा.उप.२।१।२०) इति. तेन प्रपञ्चातिरिक्तब्रह्मणो विद्यमानत्वात् प्रपञ्चधर्मवचनं तस्मिन् औपचारिकमेव युक्तम्. श्रुत्यैव तथाप्रतिपादनात्. ‘च’कारः पूर्वयुक्त्यनुसन्धानार्थः. अथो इति प्रक्रमभेदोऽपि. “अथात आदेशः” (बृहदा.उप.२।३।६) इति भिन्नप्रक्रमेण

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आदेशो नेति” (बृहदा.उप.४।३।६) ताभ्यां कार्याभ्यां रूपाभ्यां ज्ञाप्यस्य ब्रह्मणः उपदेशः. ‘नेति नेति’ इत्यत्र समवायित्वाद् मूर्तामूर्तप्रकारकं ब्रह्म इति न इति प्रथमं ‘न इति’ इत्यस्य अर्थः. द्वितीयं ‘नेति’ ना ब्रह्मणः एतावन्मात्रता परिहृता बोध्या. व्याख्यानश्रुतितः ‘नेति नेति’ इत्यनेन प्रकारे एतावत्त्वयोः निषेधः फलितः. सर्वनिषेधे रूपद्वयनिषेधे भूतराशयोः निषेधे नञ्द्वयेन तावन्मात्रत्वस्थापने वा सर्वप्रतिपादनस्य प्रक्रमान्तरस्य व्याख्यानश्रुतेश्च अनुपपत्तिः स्याद्. रूपम् इत्यादि. ब्रह्मणो रूपं निरूप्य “सत्यमिति ब्रह्मनाम” नाम निरूपयति इति अर्थः. एतेन नामरूपत्वयोः निरासः कृतः. “सत्यस्य सत्यम्” (बृहदा.उप.४।३।६) इति ब्रह्मनाम. “प्राणा वै सत्यं तेषाम् एष वै सत्यम्” (बृहदा.उप.२।३।६) इति, ‘प्राणाः’ पूर्वोक्ताः अपरब्रह्मरूपाः. ‘सत्यं’ सत्यस्वरूपाः. तत्र हेतुः यतः तेषाम् ‘एषः’ परमात्मा वै ‘सत्यं’ स्वरूपभूतः इति. प्रपञ्चधर्मवचनं प्रपञ्चधर्माणां सर्वकर्मत्वादीनां ब्रह्मणि प्रतिपादनम्. औपचारिकम् अभेदभ्रमेण सादृश्यभ्रमप्रयुक्तगौण्या वृत्त्या इति अर्थः. पूर्वयुक्तिः परब्रह्मणः प्रपञ्चातिरिक्तत्वसाधिका युक्तिः. प्रक्रमभेदे कार्यकारणब्रह्मणोः प्रकरणभेदेऽपि इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

स्थापनं बोध्यतइति अयम् अर्थो न भवति इति भावः. इदानीम् “अथात आदेशो” (बृहदा.उप.२।३।६) इत्यत्र अथ अनन्तरं, अतः ताभ्यां रूपाभ्यां कृत्वा ज्ञाप्यस्य ब्रह्मणः आदेशः उपदेशः नेति नेति इति. एवञ्च अन्यत् परम् अस्ति इति बोध्यते. निषेधस्तु प्रकारैतावत्त्वयोरेव, सर्वनिषेधे प्रतिपादनवैयर्थ्यं स्याद् इति अमुम् अर्थं विशदयन्ति हि युक्तो अयम् अर्थः इति. जातम् इति. जगद् एतस्माद् जातम् इत्येव श्रुत्या उच्यते इत्यर्थः. ननु ‘कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते’ इति न्यायावसरः इत्यतः आहुः न हि इति. श्रुत्या तथा न उक्तम् इति कृत्वा. एकं प्रकारकत्वं न हि इति अर्थः. उपसंहारः इति. नतु द्वयमेव नास्ति इति अर्थः. ‘सत्यस्य’ इति श्रुतिम् अवतारयन्ति नतु इति. प्रपञ्चधर्मेति अर्थः. ‘च’कारः सौत्रः चकारः. अथो इति. सूत्रोक्तम् अथो इति. ननु कथम् इदं ज्ञायते? इत्यतः आहुः अथातः इति. आह इति. श्रुतिः इति शेषः.

आह. श्रुतेः अन्यार्थतानिराकरणाय आह अपि स्मर्यते. “अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते” (भग.गीता १३।१२) इति. सदसतोः क्षेत्रत्वात्. ज्ञेयनिरूपणे निषेधः प्रपञ्चधर्माः भगवति उच्यन्ते वेदादौ, नतु तद्धर्माः भवन्ति इति ज्ञापयति. तस्माद् श्रुतिस्मृतिभ्यामेव तथानिर्णयः॥१७॥

प्रपञ्चधर्माः भगवति उपचाराद् उच्यन्ते इत्यत्र निदर्शनान्तरम् आह

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्॥१८॥

अतएव इममेव निर्णयम् आश्रित्य, “समः प्लुषिणा समो नागेन समो मशकेन सम एभिः त्रिभिः लोकैः समो अनेन सर्वेण” (बृहदा.उप.१।३।२२) इति निरूपमस्य भगवतो यद् उपमानं तत् तद्धर्मसम्बन्धात्. नच अत्र स्वतन्त्र-तादृशधर्मत्वं ब्रह्मणो वक्तुं युक्तम्. ननु इदमपि विरुद्धम् इति आशङ्क्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अर्थः. आह सूत्रकारो अथोऽपि इति शब्देन परमात्मनिरूपणम् आह इति अर्थः. श्रुतेः “न ह्यस्मात्परमस्ति” (बृहदा.उप.२।३।६) इति श्रुतेः अन्यार्थता ईश्वरात्मकम् अपरं ब्रह्म एतदतिरिक्तं परं ब्रह्म एतदर्थतिरिक्तार्थता, सत् प्रत्यक्षगोचरः, असद् अतीतानागतप्रत्यक्षगोचरः. क्षेत्रत्वाद् इतरनिर्माणभूमित्वाद्. ज्ञेयत्वेन मोक्षार्थज्ञान-विषयत्वेन निरूपणे निषेधो नतु सामान्यतो ब्रह्मतायाम् इति अर्थः. तद्धर्माः प्रपञ्चधर्माः. भवन्ति परे ब्रह्मणि भवन्ति इति अर्थः॥१७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति प्रपञ्चेत्यादि. अतएव प्रपञ्चधर्माणाम् औपचारिकत्वादेव. इमम् औपचारिकत्वरूपम् उपमेयधर्मशून्यम्. अस्य “न तत्सम-श्चाभ्यधिकश्च” (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुत्या उक्तस्यतु तत्, तद्धर्मसम्बन्धाद् उपमानानां धर्मरोपात्. इदं निदर्शनम्. विरुद्धं समत्वासमत्वयोः द्वयोरपि श्रुत्युक्तत्वाद्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ननु अयमेव श्रुतेः अर्थम् इति कथं ज्ञायते ? इत्यतः आहुः श्रुतेः इति॥१७॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः प्रपञ्चेति. तत् तद्धर्मसम्बन्धाद् इति. औपचारिक-प्रपञ्चधर्मसम्बन्धात्. दृष्टान्तप्रयोजनम् आहुः ननु इति. विरुद्धम् इति. श्रुत्या “समो मशकेन” (बृहदा.उप.१।३।२२) इति, “न तत्समः” (श्वेता.उप.६।८) इति च प्रतिपाद्यते इति विरुद्धम् इति अर्थः. श्रुत्यर्थम् आहुः यथेतरेति. “यथा हि अयं ज्योतिः” (.....) इति वाक्ये किरणद्वारा जलादिसंश्लिष्टस्य सूर्यादेः ब्रह्मोपमानत्वम् एवं “समःप्लुषिणा” इति वाक्येऽपि प्लुष्यादिसंश्लिष्टस्य

दृष्टान्तम् आह सूर्यकादिवत्. सूर्येण सहितं जलं सूर्यकम्. “यथा हि अयं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैको अनुगच्छन्, एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्” (ब्रह्मवि.उप.१२) इति. यथा इतरसंश्लिष्टस्य उपमान-त्वम्, एवं “समः प्लुषिणा” (बृहदा.उप.१।३।२२) इत्यपि. ‘च’कारस्तु विरोधाभावो वक्तव्यः, अधिकरणं च सम्पूर्णम् एकदेशिनः इति सूचयति. तस्माद् जडजीवधर्माणां भगवति उपचारः, निषेधस्तु मुख्यः इति॥१८॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे पञ्चमम् अरूपवदेव हि इति अधिकरणम्॥५॥

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम्॥१९॥ (३।२।६)

मुख्यसिद्धान्तं वक्तुं एकदेशिनं दूषयति. ‘तु’शब्दः तथासिद्धान्तं व्यावर्तयति. **तथात्वं** *समवायातिरिक्तस्य तद्धर्मयोगात्. जडजीवधर्मयोगात्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विरुद्धं. दृष्टान्तम् आह विरोधपरिहारकं श्रौतं दृष्टान्तम् आह इति अर्थः. **इतरसंश्लिष्टस्य** जलादिसंश्लिष्टचन्द्रस्य. **एवम्** इतरसंश्लिष्टस्य ब्रह्मणः उपमेयत्वमपि इति अर्थः॥१८॥५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति मुख्येत्यादि. पूर्वोक्तएव ब्रह्मणि सर्वकामत्वादि-तदभावयोः संशयः. धर्माणाम् औपचारिकत्वं पूर्वपक्षः, अयमेव पूर्वाधिकरणाद् विशेषः. **एकदेशिनं** धर्माणाम् औपचारिकत्वमतम्. **तथासिद्धान्तं** ‘तथात्वम्’ इत्यादिना वक्ष्यमाणं सिद्धान्तम्. **तथात्वं** विवृण्वन्ति **समवायेत्यादिना**. ***समवाय्यतिरिक्तस्य** इति अर्थः. तथाच पञ्चीकृतजलसमवाय्यतिरिक्तस्य सूर्यादितेजसो यथा

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तदुपमेयत्वम् उच्यतइति न विरोधः इति अर्थः. तथाच उपमारूपं निदर्शनं निश्चायकम् इति भावः. एवम् अस्मिन् अधिकरणे एकदेशिमते स्थानतो जडजीवधर्मवत्त्वं ब्रह्मणः सिद्धम्. वस्तुतः तद्रहितम् इति ‘च’कारेण सूचितम्॥१८॥५॥

एकदेशिमतं दूषयितुम् अम्बुवद् अधिकरणं व्याकुर्वन्ति मुख्येति. कथं ‘तु’शब्दो व्यावर्तयति? इत्यतः आहुः **तथात्वम्** इति. **समवायातिरिक्तस्य** तेजो-ऽबन्नानाम् इति त्रिवृत्कृतजलसमवायिव्यतिरिक्तस्य तेजोरूपस्य सूर्यादेः **तद्धर्मयोगाद्** जलधर्मकम्पादियोगात् **तथात्वं** कम्पनादिमत्त्वम् इति पूर्वेण अन्वयः. तथाच यथा वास्तविकं कम्पादिमत्त्वं सूर्ये नास्ति, एवं सर्वकामत्वादिकं ब्रह्मणि नास्ति इति एकदेशिमतं ‘तु’शब्दो व्यावर्तयति इति आहुः **जडजीवेति**. तथाच सर्वकामत्वादयो

सर्वकामत्वादयो न भवन्ति. कुतः? **अम्बुवदग्रहणात्**. सर्वपरस्य हि प्रतिबिम्बे अधिकरणधर्मत्वम्. तत्र रूपरहितं तत्र विद्यमानं च न प्रतिबिम्बतः इति वक्तव्यम्. तथापि स्वमतविरोधाद् अम्बुवदग्रहणम् इति. स्वच्छम् अम्बु प्रतिबिम्बं गृह्णाति. न हि तथा धर्माः ग्रहीतुं शक्नुवन्ति, धर्मत्वाच्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कम्पादिजलधर्माणां वास्तवयोगाभावः तथा ब्रह्मण्यपि जडसमवाय्यतिरिक्ते सर्वकर्मत्वादजडधर्माणां वास्तवयोगाभावः. अतो हेतोः सर्वकर्मत्वादयो धर्माः ब्रह्मणि न सन्ति इति परमतं, तद् न इति 'न तथात्वम्' इतिसूत्रस्थस्य अर्थः. **सर्वपरस्य** सर्वापेक्षया परस्य ब्रह्मणः, **प्रतिबिम्बे** अधिकरणीभूते ब्रह्मणि प्रतिबिम्बधर्मत्वे वक्तव्ये सति, **अधिकरणधर्मत्वं** जडजीवधर्माणां ब्रह्मधर्मत्वं वक्तुं शक्यते इति अर्थः. **इति वक्तव्यं** वादिनं प्रति दूषणं वक्तव्यम्. **स्वमतविरोधाद्** स्वमतेऽपि विरुद्धधर्मद्वयाधारत्वस्य ब्रह्मणि अङ्गीकारेण व्यापकत्वसर्वत्रविद्यमानत्वधर्मयोः अङ्गीकाराद् ब्रह्मणि लौकिकधर्माभासस्यापि अङ्गीकारात्. तथाच तन्मतमात्रपर्यवसितं दूषणं यथा स्यात् तथा **अम्बुवदग्रहणाद्** इति हेतुं व्युत्पादयन्ति **स्वच्छम्** इत्यादिना. तथाच स्वच्छम् अम्बु सूर्यादिप्रतिबिम्बं गृह्णाति नतु अनेकमलकलुषितं जलं स्वसंश्लिष्टसूर्यप्रतिबिम्बं **ग्रहीतुं** योग्यं भवति. तथाच अस्वच्छम् अम्बु यथा संश्लिष्टप्रतिबिम्बग्रहणासमर्थं तथा सर्वकामादयो धर्मा अपि अस्वच्छा भवतां मते मनोधर्मत्वात् तेषां स्वसंश्लिष्टब्रह्मप्रतिबिम्बग्रहणासामर्थ्यम् अतः तेषां धर्माणां प्रतीतिः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

जडजीवधर्मयोगाद् ब्रह्मणि न भवन्ति किन्तु वास्तविकाएव इति भावः. ब्रह्मणि कुतो न भवन्ति? इत्यत्र **अम्बुवद्** इति. हेतुं व्याकुर्वन्ति **सर्वेति**. **अधिकरणधर्मवत्त्वम्** इति. एकदेशिना सिद्धान्तितम् इति शेषः. तत्र तन्मतनिराकर्तव्ये सति इति अर्थः. निराकरण-प्रकारो द्विविधः स्वासम्मतः स्वसम्मतश्च. तत्र प्रथमम् आहुः **रूपेति**. तत्र इति. यत्र **प्रति** इति. **वक्तव्यम्** इति. उभयमपि न प्रतिबिम्बतः इति लोकप्रसिद्ध्या वक्तव्यम् इति अर्थः. प्रथमे स्वासम्मतिं दर्शयन्ति **स्वमतेति**. स्वमते विरुद्धधर्माश्रयत्वस्वीकारात्. अरूपं तत्र **विद्यमानमपि प्रतिबिम्बतः** इति. **स्वमतविरोधाद्** इति अर्थः. सूत्रकाराः स्वमतदूषणम् आहुः **अम्बुवदग्रहणम्** इति. प्रतिबिम्बाधिकरणस्वभावम् आदाय दूषणं व्युत्पादयन्ति **स्वच्छम्** इति. अधिकरणस्वरूपम् उक्तम्. दूषणम् आहुः **न हि** इति. **तथा धर्माः** इति. यथा कपाले समवेतो धर्मो घटादिकार्यं, तथा अत्रापि 'धर्म'पदेन कार्याणि.

सर्वाधारत्वेन तथोच्यमाने वैयर्थ्यम् इति पूर्वम् अवोचाम. नच भ्रमात् कल्पनं वेदेन उच्यते, अप्रतारकत्वात् सर्वज्ञत्वाच्च. विप्लववादिनाएव एवं वचनं, न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुत्युपपादिता भवन्मते अनुपपन्ना इति अर्थः. **धर्मत्वात् च** इति. ब्रह्मणः कार्यमात्रं प्रत्युपादानकारणत्वात् सत्कार्यमात्रस्य ब्रह्मोपादेयत्वात् समवायिकारणस्य च क्वापि समवायिकार्येप्रतिबिम्बादर्शनाद् ब्रह्मणि धर्मप्रतिबिम्बत्वं सर्वथा अयुक्तम् इति अर्थः. **सर्वाधारत्वेन** ब्रह्मणः सर्वाधारत्वेन. **तथा उच्यमाने** धर्मेषु ब्रह्मप्रतिबिम्बे उच्यमाने. **पूर्वम्** “अरूपवदेव” इति सूत्रव्याख्याने ‘रूपं’ व्यवहारः तद्विषयो न भवति इति ‘अरूपवद्’ इत्यतः सर्वाधारत्वेनापि व्यवहारविषयत्वाद् आधारत्वेन प्रतिबिम्बम् उरीकृत्यापि धर्माणां व्यवहारो ब्रह्मणि न सम्भवति इति सूचनाद् अत्र तदुल्लेखो व्यर्थः इति अर्थः. ननु यथा “**सर्वं खलु**” (छान्दो. उप. ३।१४।१) इति श्रुतौ ब्रह्मणि सर्वभेदभ्रमरूपं कल्पनं कृत्वा उपासनार्थं श्रुत्या उच्यते सर्वाभेदं तथा इहापि सर्वकर्मत्व-कामत्वादिकम् उच्यमानम् अस्तु अतः आहुः **नच** इत्यादि. **अप्रतारकत्वाद्** भगवतो मिथ्यावक्तृत्वाभावाद् इति अर्थः. वाक्यप्रयोगे वाक्यार्थज्ञानस्य हेतुत्वाद् ईश्वरस्य च तादृशभ्रमरूपवाक्यार्थज्ञानासम्भवः, तस्य सर्वज्ञत्वात्. तथाच तादृशभ्रमजनकवेद-वाक्यस्य उत्पत्तिरेव दुर्घटा इति आहुः **सर्वज्ञेत्यादि. एवं वचनं** वेदस्य अप्रमाजनकत्व-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

तथाच “**मनोमयः प्राणशरीरेनेता**” (मुण्ड. उप. २।२।७) इति श्रुतिप्रतिपाद्य-मनःप्रभृतीनि कार्याणि प्रतिबिम्बं ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति इति अर्थः. तथाच धर्मे कार्येण धर्मिणः प्रतिबिम्बो लोकविरुद्धः इति भावः.

ननु प्रथमाध्याये तृतीयपादारम्भे द्युभ्वाद्यधिकरणे सर्वाधारत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्. तथाच मनःप्रभृतीनां सर्वकामत्वादिधर्माणां च तत्रैव प्रतिबिम्बे औपचारिकत्वम् अस्ति इत्यतः आहुः **सर्वेति. तथा उच्यमाने** इति. धर्माणां प्रतिबिम्बत्वेन औपचारिकत्वे उच्यमाने इति अर्थः. **वैयर्थ्यम्** इति. ब्रह्मणो अन्यधर्मत्वेन उपासनया कार्यसिद्ध्यभावाद् वैयर्थ्यम् इति अर्थः. **पूर्वम्** ‘अरूपवत्’ सूत्रभाष्ये. ननु सर्वथा ब्रह्मणो बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्ति इति चेत् कथं जलचन्द्रदृष्टान्तः श्रुतौ उक्तः? इति चेद्, न, एकस्यैव ब्रह्मणः उपाधिभेदेन नानात्वभानाद् अयं दृष्टान्तः इति हृदयम्. ननु सर्वकामत्वादिधर्माणां कल्पित्वेन औपचारिकत्वं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **नच** इति. तदभाववति तत्कल्पनं भ्रमः. कुतः? इत्यतः आहुः **अप्रतारकत्वाद्** इति. स्वयं सम्यग् ज्ञात्वा अन्यं प्रति आरोप्य ब्रूयाद्

वैदिकस्य. “पृथिव्यां तिष्ठन्” (बृहदा.उप.३।७।३) इत्यादिविरोधश्च. तस्माद् ब्रह्मधर्माएव सर्वकामादयो नतु उपाधिसम्बन्धाद् औपचारिका इति॥१९॥

वृद्धि-ह्रास-भाक्त्वम् अन्तर्भावाद् उभयसामञ्जस्याद् एवम्॥२०॥

सिद्धान्तेन विरोधपरिहारम् आह. विरोधो हि परिहरणीयो लोक-वेदाभ्यां तदनुसारेण. महान् अवकाशो अल्पो अवकाशः, “यथावकाशं दश

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वचनम्. जगतो अविद्याकल्पितत्वाङ्गीकारे श्रुतिविरोधम् आहुः पृथिव्याम् इत्यादि. तथाच तन्मते पृथिव्यादीनाम् अविद्याकल्पितत्वे सर्वथा विद्याविद्याशून्यस्य ब्रह्मणः तत्र स्थितिप्रतिपादिका श्रुतिः अप्रमाणं स्याद् इति अर्थः॥१९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति सिद्धान्तेन इत्यादिना. एकदेशिना कृतविरोधपरिहारस्य दूषणेन विरोधएव पर्यवसितो जातः इति सिद्धान्तिमतेन विरोधपरिहारम् आह सूत्रकारः इति अर्थः. तदनुसारेण लोकवेदानुसारेण. लोकवेदानुसारेण व्युत्पादयन्ति महान् इत्यादि ब्रह्मापि एवम् इति अन्तेन. “यथावकाशं दश चमसान्” (आप.श्रौ.सू. १२।२।१०) इति चमसासादनार्था श्रुतिः. एवम् अनिचयनेऽपि “यथावकाशं ग्रहान् यथावकाशं प्रतिग्रहान्”(.....) इति “वाचस्पते विधे नामन्” (.....) इत्यादिमन्त्रोपधेयानां ग्रहसञ्ज्ञकानाम् इष्टकानां तत्तद्-दिङ्मध्ये यो अवकाशः तदविरोधेन उपधानम् उक्तं बोध्यम्. अवकाशपदार्थश्च

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सएव प्रतारकः. वेदस्तु तथा नास्ति इति भ्रमात् कल्पनम् इति एवं वचनं युक्तम् इति अर्थः. ननु ब्रह्मणः ग्रहिलत्वेन भ्रमात् कल्पनं स्वीक्रियते इत्यतः आहुः पृथिव्याम् इति. “पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीम् अन्तरो यमयति यं पृथिवी न वेद” (बृहदा.उप. ३।७।३) इति. इदं च बृहदारण्ये अन्तर्यामिब्राह्मणस्थं वाक्यम्. पृथिव्यादिसर्वप्रपञ्चस्य अविद्याकल्पितत्वे स्वीक्रियमाणे शुक्तिरजततुल्ये प्रपञ्चे निरवद्यस्य ईश्वरस्य स्थित्ययोगाद् श्रुतिविरोधः इति अर्थः. उपसंहरन्ति तस्माद् इति॥१९॥

एकदेशिमते विरोधपरिहारस्य अभावाद् अशक्यत्वं परिहारस्य स्याद् इत्यतः आहुः सिद्धान्तेन इति. तदनुसारेण इति. लोकवेदयोः व्यवहारानुसारेण इति अर्थः. तथाच परिहारे साक्षाद् लोकवेदयोः वचनं तयोः व्यवहारो वा इति उपायत्रयम् इति अर्थः. तदनुसारेण परिहारम् आहुः महान् इत्यादिना ब्रह्मापि एवम् इत्यन्तेन. महानवकाशः इति लोकव्यवहारस्य, यथावकाशम् इति वैदिकव्यवहारस्य उदाहरणम्.

चमसान्” (आप.श्रौत.१२।२।१०) इति लौकिक-वैदिकव्यवहारो वस्तुधर्म-
विरुद्धो दृश्यते. व्यापकत्वं वृद्धि-ह्रासौ च आकाशस्यैव. तत्र यथा करके प्रविष्टः
आकाशः तथाव्यपदिश्यते, तथा सति उभयसामञ्जस्यं भवति, अन्यथा
एकतरबाधो भवति, एवं तत्तदनुप्रवेशाद् ब्रह्मापि एवम्. *नच औपाधिकत्वम्,
जपाकुसुमलौहित्यवद् अन्यधर्मत्वाभावात्. अन्यानुविधायित्वेऽपि स्वधर्माएव ते,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आकाशएव. तत्र ‘यथा’पदेन अल्पत्व-महत्वे उच्येते. तादृशो व्यवहारो वस्तुनः
आकाशधर्मस्य व्यापकस्य विरुद्धः इति अर्थः. आकाशस्यैव आकाशएव तैः रूपैः
प्रतीयते इति अर्थः. उभयसामञ्जस्यं विभुत्वाल्पत्वयोः युक्तिसिद्धत्वम् आदरणीयम्.
एवञ्च आकाशस्य यथा उपाधिसम्बन्धाद् वृद्धिहासभावत्वं तथैव उपाधिसम्बन्धाद्
ब्रह्मणोऽपि सर्वकर्मत्वसर्वकामत्वाद्युपपादनीयम्, “आकाशो ब्रह्म” (छान्दो.उप.
३।१८।१) इति श्रुतेः “आकाश आत्मा”(तैत्ति.उप.१।७।१) इति श्रुतेश्च
एवंविधोपपादनमूलत्वाद्. अन्यतरबाधः विवृद्ध-हसिताकाशयोः मध्ये एकस्य बाधः
स्याद् इति अर्थः. तदनुप्रवेशात् तत्तदुपाधिषु ब्रह्मणो अनुप्रवेशात्. औपाधिकत्वं
ब्रह्मणि सर्वकर्मत्वादिधर्माणाम् औपाधिकत्वम्. अन्यधर्मत्वाभावात् स्फटिकस्य
लौहित्यस्येव ब्रह्मणि सर्वकर्मत्वादिधर्माणां ब्रह्मान्यधर्मत्वाभावाद् इति अर्थः.
अन्यानुविधायित्वेऽपि अन्यगतत्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि. स्वं ब्रह्म. ते सर्वकर्मत्वादयः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

वस्तुधर्मः इति. आकाशस्य यो वस्तुधर्मः स्वाभाविको धर्मो विभुत्वं, तद्विरुद्धो धर्मो
अल्पत्वं तद् दृश्यते इति अर्थः. तदेव आहुः व्यापकत्वम् इति. सर्वत्र विद्यमानत्वम्
इति अर्थः. वृद्धीति. वृद्धिः मठाकाशे, हासः करके इति बोध्यम्. दृष्टान्ते योजयन्ति
तत्र इति. तथा इति अल्पः इति अर्थः. एवं वेदे यथावकाशम् इत्यत्र आकाशस्य
अल्पत्वं च समपरिमाणत्वं व्यपदिश्यते. ननु ब्रह्मणि अस्तु नाम विरुद्धधर्माश्रयत्वम्,
आकाशस्य पुनः किमर्थम् इदम्? इत्यतः आहुः तथा सति इति. एवं स्वीकृते सति इति
अर्थः. उभयसामञ्जस्यं विभुत्वाल्पत्वयोः एकत्र वृत्तित्वरूपं सामञ्जस्यम् इति अर्थः.
ननु उभयसामञ्जस्याभावे को दोषः? इत्यतः आहुः अन्यथा इति. दार्ष्टान्तिके
योजयन्ति एवम् इति. तत्तद् इति. नागमशकादिशरीररूपतत्तदुपाध्यनुप्रवेशाद् इति
अर्थः. एवम् इति. सर्वकामादिधर्मवद् वक्तव्यम् इति अर्थः. ननु सर्वकामादीनाम्
औपाधिकत्वं, तथाच औपचारिकत्वे मन्मतप्रवेशः इत्यतः आहुः *नतु इति. जपेति.

कारणत्वादिवत्. नच आगन्तुकत्वात् तद्धर्माएव न भवन्ति इति वाच्यम्, अन्यधर्मत्वे प्रमाणाभावात्. तद्गतत्वप्रतीतेश्च दृष्टत्वाच्च अविरोधः. अविरोधप्रकारो अयम्. यथा उभयसामञ्जस्यं भवति, प्रकारोऽपि तस्यैव तथा वक्तव्यः. तस्मात् यथा आकाशस्य वृद्धि-ह्रासभाक्त्वं करकादिषु अन्तर्भावात् तथैव उभयसामञ्जस्याद्, एवं ब्रह्मापि. 'वृद्धिह्रास'पदेन शरीरे आकाश-जीवयोः एकम् उदाहरणं बोधयति॥२०॥

दर्शनाच्च॥२१॥

हेत्वन्तरम् आह : भगवति सर्वे विरुद्धधर्माः दृश्यन्ते. न हि दृष्टे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कारणवत् प्रजापत्यादिगतकारणत्ववद् इति अर्थः. उभयसामञ्जस्यात् श्रुत्युक्त-विरुद्धोभयधर्मसमावेशात्. एवं ब्रह्मापि अविकृतमेव आकाशवद् ब्रह्मापि इति अर्थः. एकम् उदाहरणम् इति. तथाच आकाशे यथा व्यापकस्वल्परूपयोः अविरोधः तथा शरीरे जीवस्यापि जीवन्मुक्ततादशायाम् आनन्दस्य आविर्भावे व्यापकत्वस्यापि आविर्भावाद् अणुत्वस्य च वास्तवस्य तत्र सत्वेऽपि उभयोः अविरोधः इति अर्थः॥२०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति हेत्वन्तरम् इत्यादिना. पूर्वम् “उभयसामञ्जस्यादेवम्” इत्यनेन ब्रह्मणि विरुद्धधर्मद्वयाश्रितत्वम् उक्तम्. तत्र हेत्वन्तरं युक्त्यन्तरम् आह इति अर्थः. दृष्टे श्रुत्युक्ते उलूखलबन्धने प्रत्यक्षदृष्टे च इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अल्पधर्मस्य अन्यस्मिन् आरोपे औपचारिकत्वं, तथा प्रकृते नास्ति इति अर्थः. तदेव आहुः अन्येति. यत्र आपाततो विरुद्धो दृश्यते तत्र. सामान्यतो अविरोधप्रकारं दर्शयन्ति अविरोधप्रकारेति. सूत्रार्थं सूचयन्तः सिद्धम् आहुः तस्माद् इति. वृद्धिह्रासभाक्त्वम् इति. विभुत्वालपत्वधर्माश्रयत्वम् इति अर्थः. अनेन प्रसङ्गेन जीवन्मुक्तजीवस्य धर्मविचारम् आहुः 'वृद्धिह्रास'पदेन इति. शरीरे जीवन्मुक्तशरीरे. एकम् उदाहरणम् इति. तच्छरीरप्रविष्टः आकाशे अल्पत्वं वास्तविकं विभुत्वम्, एवं जीवन्मुक्तदशायाम् आनन्दाविर्भावेन व्यापकत्वं “क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः” (बृहदा.उप.२।१।२०) इति श्रुतिप्रामाण्याद् वास्तविकम् अणुत्वम् इति एकम् उदाहरणम् इति अर्थः ॥२०॥

दृश्यन्ते इति. गोवर्धनोद्धारणादीनि कर्माणि दृश्यन्ते. एवञ्च सप्तहायन-बालकार्यं न भवति इति विरुद्धम्. न हि इति.

दृष्टे पदार्थे अनुपपन्नं न किञ्चिद् वक्तव्यं तथा सति नामव्याघातः

अनुपपन्नं नाम, व्याघातात्. तादृशमेव तद्वस्तु इतितु अध्यवसायः प्रामाणिकः. ‘च’काराद् उलूखलबन्धनादिषु प्रत्यक्षमेव उभयसाधकं दृष्टम् इति. “अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य” (भाग.पुरा.१०।८।४०) इति च. तस्मात् श्रुति-स्मृति-प्रत्यक्षैः सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मप्रतीतेः न विरोधः॥२१॥

परमार्थतो विरोधं परिहृत्य युक्त्यापि प्रतिषेधति. ननु सर्वविशेष-धर्माणाम् अस्थूलादिवाक्यैः(बृहदा.उप.८।३।३) निषेधात् कथम् अविरोधः प्रत्येतव्यः ? इति चेत्, तत्र आह

प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः॥२२॥

प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति. प्रकृते यद् एतावत् परिदृश्यमाना यावन्तः पदार्थाः लौकिकाः तेषामेव धर्मान् निषेधति. प्रतीतस्यैव हि निषेधात्. अतो जगद्वैलक्षण्यमेव अस्थूलादिवाक्यैः प्रतिपाद्यते, नतु वेदोक्ताः ब्रह्मधर्माः निषेद्धं शक्यन्ते. कुतः एतद् अवगम्यते ? तत्र आह **ततो ब्रवीति च भूयः.** यत्रैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्याघाताद् भगवति* विरुद्धधर्मानङ्गीकारे सृष्टेः पूर्वं “सो अकामयत” (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतेः उलूखल-बन्धने विरुद्धधर्मदर्शनस्य च व्याघाताद् इति अर्थः. **वस्तु** ब्रह्मस्वरूपम् इति अर्थः. **अध्यवसायो** निश्चयः॥२१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **परमार्थतः** इति. **युक्त्यापि** इत्यादि. यो वस्तुतादृक्त्वं न

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

गोवर्धनोद्धारकः इति नामव्याघातः स्याद् इति अर्थः. **तादृशम्** इति. अतो हेतोः तादृशमेव विरुद्धधर्माश्रयमेव इति अर्थः. **अध्यवसायः** निश्चयः. **उलूखलेति.** तत्र बहुदामभिः स्वरूपवेष्टनाभावः स्वरूपं च अल्पम् इति विरुद्धम् इति भावः. मृदभक्षणलीलायामपि आहुः **अथो** इति. **तस्माद्** इति. “आसीनो दूरं ब्रजति” (कठोप.२।२१) इत्यादयः श्रुतयः. श्रुतदेव-जनकयोः गृहे एककालावच्छेदेन गमनं स्मृत्या बोध्यते. उलूखलबन्धनादिलीलायां प्रत्यक्षम् इत्येतैः प्रमाणैः तादृशमेव ब्रह्म इति न विरोधः इति अर्थः ॥२१॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः **परमार्थतः** इति. वस्तुविचाराद् इति अर्थः. कदाचिद् अद्भुतप्रदर्शकत्वाद् लीलायां नतु वस्तुस्वभावः इति मन्यमानं प्रति युक्तिं बोधयितुं सूत्रांशम् अवतारयन्ति **ननु** इति. तथाच धर्मे सति विरोधः, सएव नास्ति इति भावः. **प्रकृते** इति. गार्गीप्रश्ने बृहदारण्ये विधि-निषेधयोः एकाधिकरणीभूतवाक्यानि उदाहरन्ति

वाक्ये पूर्व निषेधति, तस्मिन्नेव वाक्ये पुनः तमेव विधत्ते. “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्” (तैत्ति.उप.२।९) इति. तथा अस्थूलवाक्येऽपि “एतस्यैव प्रशासने” (बृहदा.उप.३।८।९) “एतद् विदित्वा” (तत्रैव ३।८।१०) “आकाश ओतश्च प्रोतश्च” (तत्रैव ३।८।११) इति. ‘च’काराद् एकवाक्योपाख्यानभेदौ सङ्गृहीतौ. सर्वत्र लौकिकं प्रतिषेधति, अलौकिकं विधत्ते इति युक्त्या निर्णयः. तस्माद् युक्त्यापि अविरोधः ॥२२॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे षष्ठम् अम्बुवदग्रहणाद् इति अधिकरणम् ॥६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अङ्गीकरोति तं प्रति युक्त्या विरोधं परिहरति इति अर्थः. तमेव इत्यादि. एकस्मिन्नेव वाक्ये ज्ञानगोचरत्वं विधत्ते इति अर्थः.

तथा इत्यादि. तथा अस्थूलवाक्येऽपि “अवाङ्मनोऽमुखम्” (बृहदा.उप. ३।८।८) इति प्रशासनं निषिध्य “एतस्यैव प्रशासने” (बृहदा.उप. ३।८।९) इत्यादिना. तत्तद्वाक्येव प्रशासनं विधत्ते. एवं सर्वधर्मनिषेधमुखेन वेद्यत्वं निषिध्य “एतद्विदित्वा” (.....) इत्यनेन वेद्यत्वं विधत्ते. सर्वत्र एकवाक्योक्तविधিনিषेध-स्थले विभिन्नोपाख्यानोक्तविधিনিषेधस्थले च इति अर्थः. युक्त्या निर्णयः ब्रह्मणो वस्तुनः स्वाभाव्याद् विरोधपरिहारम् अमन्वानं प्रति युक्त्या विरोधपरिहारनिर्णयः इति अर्थः ॥२२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

यतो वाचः इति. “यतः” इति वाक्ये वागगोचरत्वेन कारणाभावाद् ज्ञानं निषिध्यते. आनन्दम् इति वाक्ये ज्ञानं विधीयते, अस्थूलवाक्येऽपि इति, एतस्यैव इति. विधानत्रयं बोध्यम्. अस्थूलवाक्ये (बृहदा.उप. ३।८।८). अवाक् अमनः अमुखम् इत्यनेन प्रशासनकारणाभावाद् तन्निषिध्यते. पुनः तस्मिन्नेव वाक्ये “एतस्यैव प्रशासने द्यावापृथिव्यौ तिष्ठतः” (तत्रैव ३।८।९) इत्यनेन प्रशासनं विधत्ते. एवम् अस्थूलवाक्ये सर्वे धर्माः निषिध्यन्ते. पुनः एतद् विदित्वा इत्यादिना वेद्यत्वं विधत्ते. एवम् अस्थूल-वाक्ये “न तदश्नोति कञ्चन” (बृहदा.उप. ३।८।८) इत्यादिना व्याप्तिं निषिध्य पुनः “आकाशः ओतश्च” इत्यादिना व्याप्तिं विधत्ते इति अखण्डार्थः. चार्थम् आहुः चकाराद् इति, एतस्मिन् वाक्ये “न तदश्नाति” द्वयोरपि उपाख्यानयोः विरोधो नास्ति इति अर्थः. सर्वत्र इति. ये वस्तुस्वभावेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं स्वीकुर्वन्ति तान् प्रति सर्वत्र लौकिकस्य प्रतिषेधः, अलौकिकविधानयुक्त्या निर्णयः इति अर्थः. युक्त्यापि इति. अपिना वस्तुस्वभावसंग्रहः. एवञ्च ब्रह्मणि सर्वकामत्वादयो अलौकिका एव सन्ति नतु

तदव्यक्तमाह हि॥२३॥ (३।२।७)

शब्दबलविचारेण विरोधं परिहृत्य अर्थबलविचारेण अविरोधप्रति-
पादनाय अधिकरणम् आरभते. सर्वाणि विरुद्धवाक्यानि उदाहृत्य चिन्त्यन्ते.

“न चक्षुषा गृह्यते” (मुण्ड.उप.३।१।८)

“कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्” (कठोप.२।४।१)

“नापि वाचा” (मुण्ड.उप.३।१।८)

“सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” (कठोप.३।१५)

“अप्राप्य मनसा सह” (तैत्ति.२।९)

“मनसैवैतदाप्तव्यम्” (कठोप.२।१।११)

“अस्पर्शमगन्धमरसं” (कठोप.१।३।१५)

“सर्वरूपः सर्वगन्धः सर्वरसः” (छान्दो.उप.३।१४।२)

“अपाणिपादः” (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादि

“विश्वतश्चक्षुः” (तैत्ति.सं.४।६।२।४) इत्यादि,

“निर्गुणश्च” (श्वेता.उप.६।११)

“यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः” (छान्दो.उप.३।१४।२)

इत्यादिविरुद्धवाक्यानि. न हि वस्तु द्विरूपं सम्भवति. वाक्यद्वयमपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकरणम् अवतारयन्ति शब्दबलेत्यादि. यद्यपि स्वमते शब्दबलप्राधान्यमेव
तथापि ऋष्यन्तरमतानुरोधात् स्वल्पसमापिप्राचुर्यानुरोधात् च एवम् उक्तम् इति भावः.
संशयम् आहुः न हि इत्यादिना. ब्रह्म द्विरूपं न वा इति संशयः. बीजं वाक्येत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अन्यधर्मत्वेन औपचारिका इति हृदयम्. एतेन निर्धर्मकत्वं ब्रह्मणः इति मन्यमानाः
परास्ताः ॥२२॥६॥

अधिकरणप्रयोजनं दर्शयन्ति. शब्दबलेति. अर्थबलेति. अन्यऋषिस्वीकृता-
र्थबलेति अर्थः. तथाच अर्थबलविचारनिराकरणार्थम् अयम् आरम्भः इति भावः.
सर्वाणि इति. तथाच शब्दबलविचारे उक्तानि यानि विरोधवाक्यानि तानि अन्यान्यपि
सर्वाणि इति अर्थः. तेषु वाक्येषु मध्ये प्रथमं प्रमाणाग्राह्यत्वतद्ग्राह्यत्वयोः बोधकानि
आहुः न चक्षुषा इति. धर्मराहित्यतद्वत्त्वयोः आहुः अस्पर्शेति. साकारनिराकारयोः
बोधकम् आहुः अपाणिपादः इति. निर्गुणसगुणबोधकवाक्यद्वयम् आहुः निर्गुणश्च
इति. संशयम् आहुः न हि इति. कदाचिद् वस्तु द्विरूपं न हि स्याद् इति उत्कटकोटिको

प्रमाणम्. तथा सति प्रमाणान्तरानुरोधेन एकस्य स्वार्थे प्रामाण्यम् अन्यस्य उपचरितार्थत्वम् इति युक्तम्. तत्र प्रत्यक्षानुरोधेन निर्णयो विचार्यते.

तत्र पूर्वपक्षम् आह. तद् अव्यक्तम्. तद् ब्रह्म अव्यक्तमेव भवितुम् अर्हति. कुतः? आह हि. श्रुति-प्रत्यक्षाभ्याम्. “नेति नेत्यात्मा अग्राह्यो न हि गृह्यते” (बृहदा.उप.३।९।२६) इति. “न हि गृह्यते” इति अनुभवसाक्षिकं प्रमाणं श्रुतिः आह. न हि केनचिदपि चक्षुषा मनसा वा ब्रह्म दृष्टम् अस्ति. सर्वरूपत्वे तु सर्वैरेव द्रष्टुं शक्येत. तस्मात् सर्वधर्मवत्त्वेन प्रतिपादकानि उपचरितार्थान्येव. अनुभवविरोधाद् इति एवं प्राप्तम् ॥२३॥

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

‘अपि’ इति पूर्वपक्षगर्हायाम्. सर्वथा मूर्खः पूर्वपक्षवादी. यतः संराधने सम्यक् सेवायां भगवतोषे जाते दृश्यते.

“श्रद्धा-भक्ति-ज्ञानयोगाद् अवेहि” (कैव.उप.२)

“यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (कठो.उप.२।२२)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपचारितार्थत्वं, तत्र ब्रह्मणि. प्रत्यक्षानुरोधेन ब्रह्मणः सर्वरूपत्वे सर्वेषां प्रत्यक्षापत्तेः अनुरोधेन इति अर्थः. निर्णयः अर्थतो निर्णयः. तत्र संशयविषये. श्रुतिप्रत्यक्षाभ्याम् इति अस्य ‘नेति नेति’ इति आह इति अन्वयः. फलितार्थम् आह आत्मा इत्यादि ॥२३॥

श्रद्धा इति कैवल्योपनिषत्स्था. द्विविधं साकारं निराकारञ्च इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अयं संशयः. एतादृशसंशये बीजम् आहुः वाक्यद्वयम् इति. शब्दस्य अर्थसापेक्षत्वाद् अर्थस्य प्राबल्यम् इति तदनुसारेण निर्णयम् आहुः तथा सति इति. पूर्वपक्षे प्राबल्यं दर्शयति तत्र इति. शेषं स्पष्टम् ॥२३॥

सूत्रार्थम् आहुः अपि इति. भगवतः सर्वरूपत्वे सर्वैरेव द्रष्टुं शक्येत इत्यत्र गर्हा बोध्या. कथं गर्हा? इत्यतः आहुः यतः इति. तथाच साधनसिद्धचक्षुरेव एतादृशालौकिकप्रत्यक्षे कारणमिति त्वया न ज्ञायते इति गर्हा इति भावः. संराधकप्रत्यक्षानुमानाभ्यां दृश्यते इत्यत्र प्रमाणम् आहुः श्रद्धा इति. इयं कैवल्योपनिषत्स्था श्रुतिः श्रीपुरुषोत्तमैः प्रकाशे परमेष्विना आश्वलायनं प्रति एतेन साधनेन जानीहि इत्यत्र उपदिष्टं ज्ञानविषयं च ब्रह्म सर्वदेवतामयं शिवाकारं च उपदिष्टम् इति व्याख्याता. “यमेवैष” (कठोप.२।२२) इति श्रुतिः काठके. तत्र वरणेतरसाधनासाध्यत्वं दर्शितम्. तत्रैव

“भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहम् एवंविधोऽर्जुन,
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप”

(भग.गीता.११।५४) इति. द्विविधमपि रूपं दृश्यते.

“ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः” (मुण्ड.उप.३।१।८)

“अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्”

(भग.गीता.११।१६)

इति संराधकस्य स्वानुभवः, ध्रुवादीनाम् अनुमापकत्वं च. तस्मात्
प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुति-स्मृतिभ्यां वा ब्रह्म साकारम् अनन्तगुणपरिपूर्णञ्चेति
न अव्यक्तमेव इति निश्चयः. अतो लौकिकालौकिक-प्रत्यक्षविषयत्वाद् उभय-
वाक्यार्थरूपमपि ब्रह्म॥२४॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे सप्तमं तदव्यक्तम् आह हि इति अधिकरणम्॥७॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्॥२५॥(३।२।८)

पुनः प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तमेव स्थिरीकर्तुम् अधिकरणान्तरम् आरभते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“निष्कलं ध्यायमानः पश्यति”(मुण्डकोप.३।१।८) इत्यनेन निराकारस्यापि दर्शनम्
उक्तम् इति अर्थः. अनुमापकत्वं स्मृतिप्रमाणसिद्धं भगवति ध्रुवादिप्रत्यक्षविषयत्वम् इति
अर्थः. प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् इत्यत्र प्रत्यक्षं नारदब्रह्मादीनाम् अनुमानं श्रुतिस्मृति-
समुत्थहेतुभिः अस्मादीनां बोध्यम्. तथाच द्विविधमपि ब्रह्म वस्तुस्वाभाव्यरूप्याद्
अर्थादेव प्रत्यक्षविषयतया श्रुतिसिद्धम् इति अर्थतोऽपि विरोधपरिहारः फलितः॥२४॥७॥

प्रकारान्तरेण संशयान्तरपूर्वपक्षोत्थापनेन. **पूर्वोक्तमेव** ब्रह्मणः
उभयरूपत्वमेव. ब्रह्म संराधकप्रत्यक्षनिर्णयं न वा इति संशयः. तत्र निरूपणीयाधिकरणे.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

“आसीनो दूरं व्रजति”(कठोप.२।२१) इत्यनेन साकारम् अशरीरम् इत्यनेन निराकारत्वं
दर्शितम् इति उक्तम्. श्रीगीतावाक्यं स्मृतिरूपं प्रमाणम् आहुः भक्त्या इति. द्विविधम् इति.
तथाच संराधकप्रत्यक्षेण स्मृत्या च साकारं सिद्ध्यति इति अर्थः. सिद्धम् आहुः तस्माद्
इति. अतः इति. शुद्धमनःसंयोगजं लौकिकं दिव्यदृष्टिजम् अलौकिकम् इति अर्थः.
एवञ्च अर्थबलविचारेणापि केवलम् अव्यक्तत्वं न सिद्ध्यति इति भावः॥२४॥७॥

ननु किमर्थम् इदम् अधिकरणम्? अतः आहुः पुनः इति. पूर्वोक्तं
स्वरूपबलेन उभयरूपत्वम्. अत्र ब्रह्मस्वभावः संराधकप्रत्यक्षेण आकलयितुं शक्यो वा

तत्र सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षद्वयम् आह.

ननु प्रत्यक्षानुरोधेन उभयविधवाक्यसमाधानं न उपपद्यते, वस्तुशक्त्यैव निर्णयः उचितः, ननु श्रुतिप्रत्यक्षाभ्यां, यथा प्रकाशजलसुवर्णादीनाम् अनेक-विधत्वं न अङ्गीक्रियते, सूर्यचन्द्रमणिप्रकाशादिषु उष्णशीतानुभवरूपस्पर्शाः प्रतीयन्ते, न हि तेजसि तावन्तः स्पर्शाः अङ्गीक्रियन्ते, जले च हिमतप्तकुण्डा-दिषु, तथा सुवर्णे वर्णभेदाः, न हि सर्वे स्वाभाविकाः, तेजस्त्वादस्वभावहानि-प्रसङ्गात्, तथा ब्रह्मणोऽपि अवैशेष्यम् अङ्गीकर्तव्यं, निर्विशेषं हि ब्रह्म इति सर्वप्रसिद्धिः. ‘च’काराद् एवं साधकाः “अग्राहो न हि गृह्यते” (बृह.उप.३।१।२६) इत्येवमादयः. ननु उक्तं तस्य तथासाक्षात्कारात् तादृशश्रुतेश्च न एकविधत्वम् अङ्गीकर्तुं शक्यते इति. न एषः दोषः. **प्रकाशश्च कर्मणि.**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रद्वयेन “प्रकाशादि” इति सूत्रेण “अतो नन्तेन” (ब्रह्मसू.३।२।२६) इति सूत्रेण च इति अर्थः. **पूर्वपक्षद्वयं** भक्तप्रत्यक्षेण निर्णयः श्रुत्या च उभयरूपब्रह्मणो न निर्णयः इति सिद्धम्. श्रुत्या निर्णयश्च द्वितीयसूत्रे स्फुटो भविष्यति. **स्पर्शाः** स्पर्शनप्रत्यक्षाणि. **हिमः** हिमस्पर्शः प्रतीयते इति अर्थः. **वर्णभेदाः** इत्यपि प्रतीयन्ते इत्यनेन अन्वेति. **एवंसाधकाः** एकरूपतासाधकाः अन्येऽपि हेतवो बोध्याः इति अर्थः. **तस्य** संराधकस्य. **तथासाक्षात्काराद्** उभयरूपत्वसाक्षात्कारात्. **तादृशश्रुतेः** उभयविधब्रह्मप्रतिपादक-श्रुतेः. **एकविधत्वं** निर्विशेषत्वम्. **अभ्यासात्** तपःप्रभृतिकर्मसु संराधकानाम्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

न वा इति संशयः ऊहनीयः. ननु इति. इतः आरभ्य **ब्रह्म** इति एवम्प्राप्तम् इत्यन्तं सूत्रद्वयोक्तः पूर्वपक्षग्रन्थः. **वस्तुशक्त्यैव** इति. स्वरूपशक्त्यैव इति अर्थः. **वस्तुशक्त्यैव** इत्यत्र सूत्रोक्तं दृष्टान्तं विशदयन्ति यथा इति. **प्रकाशेत्यत्र** द्वन्द्वः. एतस्यैव अर्थम् आहुः **सूर्येत्यादि.** प्रथमो दृष्टान्तः. प्रकाशे दृष्टान्तं घटयन्ति **सूर्यचन्द्रेति.** सूर्यकान्तमणिः चन्द्रकान्तमणिः प्रकाशश्च तेषु. **न हि तेजसि** इति. तेषां तेजोरूपत्वाद् इति अर्थः. जले दृष्टान्तं घटयन्ति **जले च** इति. **तथा** इति. शीतोष्णस्पर्शौ प्रतीयेते. न हि तौ जले अङ्गीक्रियते. सुवर्णे घटयन्ति **सुवर्णे** इति. दार्ष्टान्तिकं घटयन्ति **तथा** इति. सौत्रार्थम् आहुः **चकाराद्** इति. एवं **साधकाः** इति. निर्विशेषत्वसाधकाः इति अर्थः. सूत्रांशम् अवतारयन्ति **ननु** इति. **तादृशश्रुतेः** इति. निर्विशेषश्रुतेः इति अर्थः. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति **तपःप्रणिधानेति.** शेषं स्फुटम् ॥२५॥

तपःप्रणिधानादिकर्मणि भगवतः प्रकाशः. तत्र यथा तेषां कामः तथा प्रकटी-
भवति. ‘च’कारद् अप्रकाशान्यथाप्रकाशौ. तत्र हेतुः अभ्यासाद् आवृत्तेः. यदि
एकवारं प्रकटः स्यात् तदा तद्रूपत्वम् अङ्गीक्रियेतापि. प्रतिभक्तं प्रतिकर्म च
आविर्भावः. अतः प्रकाशोऽपि कृत्रिमएव दीपप्रकाशवत्. अन्यथा सर्वदा स्यात्.
तस्माद् न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णयः॥२५॥

अतो अनन्तेन तथा हि लिङ्गम्॥२६॥

फलितम् आह. अतः अभ्यासात्. अनन्तेन अनन्तरूपेण आविर्भावः. न
हि एकं वस्तु प्रतिक्षणम् अन्यादृशं भवति निमित्तभेदव्यतिरेकेण. क्वचिद्
भक्तकामश्च निमित्तत्वेन प्रतीयते. न हि निमित्तभेदेन जायमानं वस्तु भवति.
किन्तु तथा सति लिङ्गं विग्रहएव भवति. युक्तश्च अयम् अर्थः. “यद् यद्विद्या त
उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनग्रहाय” (भाग.पुरा.३।१।१२)
इति. अतः श्रुत्या प्रत्यक्षेण वा न तथानिर्णयः कर्तुं शक्यः. तस्मात् सर्वाङ्गोचरमेव
ब्रह्म इत्येवं प्राप्तम्॥२६॥

उभयव्यपदेशात् अहिकुण्डलवत्॥२७॥

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. न एवं केवलयुक्त्या लोकदृष्टान्तेन निर्णयः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अभ्यासात्. आवृत्तेः भगवतः प्रकाशस्य आवृत्तेः॥२५॥

अतएवस्य अर्थो अभ्यासाद् इति कर्मणि अभ्यासाद् इति अर्थः. वस्तुभवति
वस्तुत्वाभावे जायमानत्वमेव हेतुः अवसेयः. लिङ्गं जायमानत्वबोधकम् इति अर्थः.
अयम् अर्थः जायमानस्य अवस्तुत्वरूपो अर्थः. अतः नानारूपाणां नैमित्तिकत्वाद्, कर्तुं
शक्यः कर्तुं शक्यः किम् इति अर्थः. तस्माद् ब्रह्मणः श्रुति-प्रत्यक्षयोः अङ्गोचरत्वात्.
सर्वाङ्गोचरं सकलप्रमाणाङ्गोचरम्॥२६॥

पक्षं ब्रह्मनानारूपाणाम् अवास्तवत्वपक्षम्. शास्त्रं व्यासानां वेदार्थविचार-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रत्यक्षेण निर्णयाभावं पूर्वपक्षयित्वा श्रुत्या तदभावं वक्तुं द्वितीयसूत्रम् आहुः.
सूत्रार्थम् आहुः अतः इति. सौत्रं तथाहि इति पदं व्याकुर्वन्ति क्वचिद् इति. तथाहि
इत्यस्य तथा सति इति अर्थः. भक्तकामनया शरीरमेव जायते न तु वस्तु तथा भवति इति
अमुम् अर्थं द्रढयति युक्तश्च इति. तस्माद् इति. निर्विशेषरूपत्वाद् इति अर्थः॥२६॥

पक्षं पूर्वपक्षम्. तदेव आहुः न एवम् इति. वेदादेव इति. इदं च

शक्यते कर्तुम्. अन्यथा इदं शास्त्रं व्यर्थमेव स्यात्. अत्र हि वेदादेव ब्रह्मस्वरूप-
ज्ञानम्. तत् कथं स्वरूपशक्त्या निर्णयः? ब्रह्मातु उभयरूपम्, **उभयव्यपदेशात्**.
उभयरूपेण निर्गुणत्वेन अनन्तगुणत्वेन सर्वविरुद्धधर्मेण रूपेण व्यपदेशात्. तर्हि
कथम् एकं वस्तु अनेकधा भासते? तत्र आह **अहिकुण्डलवत्**. यथा सर्परज्जुः
अनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारम्. भक्तेच्छया तथा
स्फुरति. कल्पनाशास्त्रे हि इदं बाधकम्, अनेककल्पनागौरवं च इति. नतु केवलं
श्रुत्येकसमधिगम्ये. नच शास्त्रवैफल्यम्. एवं साधनार्थत्वात्. अत्रैव हि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शास्त्रम्. अत्र औपनिषदपुरुषप्रश्नोत्तरे. **स्वरूपशक्त्या** लौकिकयुक्तिविषयि-
भूतस्वरूपेण लौकिकयुक्तिविषयिभूतसामर्थ्येन च इति अर्थः. **निर्णयः** ब्रह्म-
स्वरूपधारणम्. **उभयरूपं** सधर्मकं निर्धर्मकञ्च इति. **सर्वविरुद्धधर्मेण** प्रपञ्च-
विरुद्धधर्मेण इति अर्थः. **व्यपदेशाद्** 'अस्थूला' दिवाक्येव "आकाशे ओतः प्रोतश्च"
(बृहदा.उप.३।८।४) इत्यनेन सधर्मकस्य व्यपदेशाद् इति अर्थः. **रज्जुः** मन्थनार्थं वासुकी
रज्जुरूपः सर्वानुभवसिद्धः. **इदं** नानारूपाणां वास्तवत्वम्. **नतु** बाधकं नतु इति अर्थः.
नतु वेदोक्तविरुद्धधर्मवतो यथाश्रुतस्य नानारूपब्रह्मणो अङ्गीकारे व्यासशास्त्रस्य
वैफल्यम् अतः **आहुः न वा** इत्यादि. **एवंसाधनार्थत्वाद्** विरुद्धमतनिराकरणेन नाना-
स्वरूपब्रह्मस्थापनार्थत्वाद् शास्त्रस्य इति अर्थः. वेदोक्तधर्मदर्शनएव **सूरिव्यामोहम्**
आहुः **अत्रैव** इत्यादि. तथाच विरुद्धशास्त्रसिद्धान्तिबुद्धिदोषवारणार्थमेव व्यासशास्त्र-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

जन्माद्यधिकरणे निर्णीतम्. **स्वरूपशक्त्या** इति. तथाच वेदमन्तरेण भगवत्स्वरूपस्य
तच्छक्तेश्च ज्ञानाभावात् कथं निर्णयः इति अर्थः. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति **ब्रह्मेति**. न
केवलं स्वरूपशक्त्या निर्णयः किन्तु वेदोपष्टब्धया इत्यतो हेतोः हेतुं व्याकुर्वन्ति
उभयेति. **उभयेन** विरुद्धधर्मेण **उपदेशः** तस्मात्. तथाच उभयवाक्ययोः समानत्वाद्
उभयरूपं ब्रह्म इति भावः. सूत्रोक्तं दृष्टान्तम् अवतारयन्ति **तर्हि** इति. तथाच
उभयलिङ्गमेव ब्रह्म चेत् साधनसिद्धानां सर्वेषाम् एकरूपमेव भासेत इति शङ्कायां
दृष्टान्तेन निराकुर्वन्ति **यथा** इति. **भक्तेच्छया** इति. तथाच सर्पः कालभेदेन **तथा**
भवति, ब्रह्मतु एकस्मिन्नेव काले भक्तेच्छया इति भावः. **कल्पना** इति. तथाच
न्यायशास्त्रे एवं विरुद्धधर्मविचारः बाधकः इति अर्थः. **नच** इति. यथा श्रुत्या उच्यते तथा
ज्ञातव्यम् इत्येवं चेद् विचारशास्त्रवैफल्यम् इति आशङ्कितुः आशयः. समाधानम्
आहुः **एवम्** इति. **अत्रैव** इति. श्रुतौ विरुद्धधर्मकथनम् अस्ति इति सूरिव्यामोहः इति

सूरिव्यामोहाद् अन्यशास्त्रोत्पत्तिः. अतः सर्वविरुद्धधर्माणाम् आश्रयो भगवान्. न हि प्रमाणश्रुतदृष्टे अनुपपत्तिः अस्ति, यदर्थं युक्त्यपेक्षा. लोकेऽपि शरीरान्तः-करणादीनि परस्परविरुद्धदयामारकत्वादीनि विषयभेदेन एकस्मिन्नपि क्षणे प्रतीयन्ते. तस्मात् सकलविरुद्धधर्माः भगवत्येव वर्तन्तइति न कापि श्रुतिः उपचरिताथा इति सिद्धम्॥२७॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे अष्टमं प्रकाशादिवच्च इति अधिकरणम्॥८॥

धर्मस्वरूपविचारेण पूर्वोक्तपक्षद्वयं स्थापयितुम् अधिकरणारम्भः. ननु धर्माः नाम के ? ब्रह्माणो भिन्नाः तत्कार्यरूपाः, आहोस्वित् ब्रह्मैव इति संशयः. तत्र लोके कार्यस्यैव पटरूपादेः तद्धर्मत्वात् समवेतत्वात् तन्नित्यतायां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रवृत्तिः इति अर्थः. यदर्थं यदनुपपत्तिपरिहाराय इति अर्थः. विषयभेदेन साध्वसाधुरूप-विषयभेदेन. एकस्मिन् इति राजनि क्षणे च इति अर्थः. सकलविरुद्धधर्माः वास्तवाः सकलविरुद्धधर्माः इति अर्थः॥२७॥८॥

पूर्वोक्तपक्षद्वयं धर्मकल्पनां विनैव निर्गुणत्वानन्तगुणत्वयोः ब्रह्मणि स्वीकाररूपपक्षद्वयम्. ब्रह्मधर्मरूपं विषयञ्च आहुः ननु इत्यादिना. संशयः ब्रह्मधर्मेषु ब्रह्मभेदाभेदयोः संशयः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इत्यादि. तद्धर्मत्वात् पटादिधर्मत्वात्. तन्नित्यतायां धर्मनित्यतायाम्. नित्यत्वकल्पनायां नित्यत्वानुमाने इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

भावः. उत्पत्तिः इति. विरुद्धश्रुतिनिवारणं शास्त्रस्य प्रयोजनम् इति अर्थः. प्रमाणश्रुत-दृष्टे इति. प्रमाणाभ्यां श्रुतिसाधकदृष्टिरूपप्रमाणाभ्यां श्रुते दृष्टे च इति अर्थः. ऋजुकुण्डलभावः सर्पस्य एककालावच्छेदेन नास्ति इत्यतः प्रभुचरणैः स्वकीयं लौकिकदृष्टान्तम् उच्यते लोकेऽपि इति. तथाच विषयभेदेन शरीरादेः यथा तथा भक्तभेदेन एककालावच्छेदेन भगवतोऽपि इति भावः. अस्मिन् सूत्रे यद् उच्यते तदेव “श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्” (ब्रह्मसू. २।१।३३) “लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (तत्रैव २।१।२७) इति अत्रापि उक्तम्. एवञ्च “तत्तद्वपुः प्रणयसे” (भाग.पुरा. ३।९।११) इत्यत्र चक्षुः मनोविषये प्रापणं नतु करणम् इति अर्थो बोध्यः॥२७॥८॥

पूर्वोक्तम् इति. कल्पनारहितं ब्रह्म पश्चाद् धर्मयुक्तं भवति इति एकः, विरुद्धधर्माश्रयं ब्रह्म तत्तत्फलदित्सया तं-तं प्रति आविर्भवति इति अपरः, एवं पक्षद्वयम् इति अर्थः. धर्मस्वरूपं विषयम् आहुः धर्माः नाम के इति. संशयः इति. कार्यरूपा वा न वा ब्रह्मरूपा वा न वा इति चतुष्कोटिको अयं संशयः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति.

प्रमाणाभावात् स्वाभाविकत्वमात्रेण नित्यत्वकल्पनायां गौरवापत्तेः “एकमेवा-
द्वितीयम्” (छान्दो.उप.६।२।१) इतिश्रुतिविरोधाच्च धर्माः प्रपञ्चवत् कार्याः.
तथा सति ब्रह्म सर्वकल्पनारहितमेव सेत्स्यति इत्येवं प्राप्ते, इदम् उच्यते.

प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्॥२८॥ (३।२।९)

प्रकाशाश्रयवद् वा. ‘वा’ शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. यथा प्रकाशाश्रयाः
सूर्यादयः प्रकाशेन न भिन्नाः पृथक्स्थित्यभावात् समवेतत्वाच्च. मूलाविच्छेद-
रूपेण तदाधारतया स्थितत्वाच्च. नापि सूर्यएव. भिन्नप्रतीतेः विद्यमानत्वाच्च.
तादृशमेव तद्वस्तुत्पत्तिसिद्धम् इति मन्तव्यम्. कल्पनायामपि यथा सूर्यप्रकाशयोः
कल्पना, एवं ब्रह्मधर्मयोरपि. नहि अन्यथा वेदप्रवृत्तिः निषेधशेषता सत्यज्ञाना-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

गौरवेत्यनेन प्रतिकूलः तर्कः प्रदर्शितः. श्रुतिविरोधाद् द्वितीयधर्मरूपपदार्थसिद्ध्या
श्रुतिविरोधः इति अर्थः. **कल्पनारहितं** कल्पनाविषयीभूतसर्वधर्मरहितम् इति अर्थः.

समवेतत्वात् प्रकाशस्य तेजसि समवेतत्वात्. **स्थितत्वात्** स्थितत्वेन
प्रतीयमानत्वात्. **सूर्यएव** प्रकाशः सूर्यएव. तत्र हेतुः सूर्यसमानाकारप्रकाशकारित्वाद्
इति. हेत्वन्तरम् आहुः **भिन्नेत्यादि.** **तादृशमेव** अविनाशिकन्दाद् उत्पन्नस्थूलसुरणादि-
कन्दवत् सूर्यात् उत्पन्नप्रकाशरूपं वस्तु इति अर्थः. **अन्यथा** ब्रह्मधर्मकतानङ्गीकारे.
वेदप्रवृत्तिः वेदप्रतिपाद्यत्वं धर्मः, **निषेधशेषता** तल्लक्षणो धर्मः. **सामानाधिकरण्यम्**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तन्नित्यतायाम् इति. ब्रह्मधर्माणां नित्यत्वे प्रमाणाभावाद् इति अर्थः. तथाच तद्धर्माणां
नित्यत्वे वैदिकप्रमाणाभावाद् कार्यत्वलिङ्गकानुमानं वक्तव्यम्. तच्च न सम्भवति
कार्यत्वस्य पटरूपादौ सत्त्वात् तत्र नित्यत्वाभावाद् दृष्टान्ताभावाद् इति भावः. ननु मास्तु
कार्यत्वं हेतुः किन्तु स्वाभाविकत्वमेव. तथाच ब्रह्मधर्माः नित्याः स्वाभाविकत्वाद्,
आकाशवद् इति दृष्टान्तः सम्भवति इति लौकिकम् अनुमानमेव प्रमाणम् अस्तु इत्यतः
आहुः **तथासति** इति. एवं सति निर्विशेषमेव ब्रह्म इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः **इदम्** इति.

पक्षं ब्रह्मधर्माणां कार्यत्वपक्षम्. **तादृशमेव** इति. स्वाश्रयाद् भिन्नमेव इति
अर्थः. **मन्तव्यम्** इति. यथा अविद्या इत्यत्र न विद्याभावः किन्तु विद्याविरुद्धं भावरूपम्
अज्ञानं, तथा सूर्य-प्रकाशयोः अभेदोऽपि न भेदाभावः किन्तु भावरूपत्वे सति सूर्यं विहाय
अवर्तमानत्वम्. एवंरीत्या युक्तिभिः अनुचिन्तनीयम् इति अर्थः. एवं कल्पना आवश्यकी
इति आहुः **कल्पनायामपि** इति. ननु सूर्यप्रकाशयोः दृश्यत्वाद् अन्यथानुपपत्त्या तथा

नन्तानन्दपदानां सामानाधिकरण्यं वा सम्भवति. लक्षणायान्तु सुतरामेव धर्मपेक्षा. अतो विशिष्टपदार्थएव तादृशो वेदसिद्धः इति मन्तव्यम्. तत्र हेतुः तेजस्त्वात्. ‘तेजः’शब्दवाच्यत्वात्. बहुदूरव्याप्यर्थमेव हेतुः उक्तः. आतपादेः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति. तथाच सत्यज्ञानानन्दपदार्थतावच्छेदधर्माणां परस्परभिन्नानां ब्रह्मणि अनङ्गीकारे ब्रह्मस्वरूपमात्रपरत्वे घटोघटः इतिवद् अबोधकतापत्तिः दोषः. प्रथमान्तत्रयस्यापि सम्भवति इत्यनेन अन्वयः. सामानाधिकरण्यम् अभेदार्थबोधकता. लक्षणायां ‘सत्यज्ञानानन्द’पदानाम् असत्यभिन्नजडभिन्नअसुखभिन्ने लक्षणायाम्. धर्मापेक्षा लक्षणायाः लक्ष्यतावच्छेदकव्याप्यत्वात् लक्ष्यतावच्छेदकशक्यसम्बन्धरूपयोः धर्मयोः अपेक्षा इति अर्थः. एवं निषेधशेषतापि धर्मत्वाद् ब्रह्मणि न सिध्येत्. विशिष्टः सत्यत्व-ज्ञानानन्दैः विशिष्टः. तादृशः विरुद्धधर्माश्रयः. ‘तेजः’शब्दवाच्यत्वात् “तदेव ज्योतिषां ज्योतिः”(बृहदा.उप.४।४।१६), “यदतः परो ज्योतिर्दीप्यते”(छान्दो.उप. ३।१३।७), “तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति”(कठोप.५।१५) इत्यादौ ब्रह्मतद्धर्मयोः ‘तेजः’पदवाच्यत्वाद् इति अर्थः. बहुदूरव्याप्यर्थं व्यापकत्वद्योतनार्थम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

कल्पनीयं ब्रह्मणितु अन्यथानुपपत्त्यभावात् किमर्थं तथा कल्पते? इत्यतः आहुः नहि इति. अन्यथानुपपत्तिमेव आहुः वेदप्रवृत्तिः इति. “अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदः”(बृहदा.उप.२।४।१०) इति श्रुत्या प्रतिपादितायाः चेतनधर्मरूपायाः वेदप्रवृत्तेः अभावाद् अनुपपत्तेः इति अर्थः. निषेधेति. “नेति-नेति” श्रुतिप्रतिपाद्यं निषेधशेषत्वं धर्मएवेति अनुपपत्तिः इति अर्थः. तृतीयम् आहुः सत्येति. “सत्यं ज्ञानम्” इति “विज्ञानम् आनन्दम्” इति श्रुतौ च एकार्थवाचकत्वरूपं सामानाधिकरण्यं ‘सत्या’दिपदानां सत्यत्वरूपधर्मविशिष्टवाचकत्वाद् न सम्भवति इति अर्थः. ननु ‘सत्या’दिपदानां ब्रह्मणि लक्षणा स्वीक्रियते इत्यतः आहुः लक्षणायान्तु इति. सुतराम् इति. शक्यसम्बन्धस्य धर्मरूपत्वेन सुतराम् इति अर्थः. विशिष्टेति. धर्मविशिष्टेति अर्थः. पदार्थः निर्धर्मकः तादृशः विरुद्धधर्माश्रयः. सौत्रहेतुं व्याकुर्वन्ति तेजःशब्देति तेजोवाचकशब्दवाच्यत्वाद् इति अर्थः. तथाच “अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते”(छान्दो.उप. ३।१३।७) इत्यत्र, अथच “तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति”(मुण्ड.उप.२।२।१०) इत्यत्र ब्रह्म-तद्धर्मयोः ‘तेजः’शब्दवाच्यत्वाद् धर्म-धर्मिणोः अभेदः सिद्ध्यति इति भावः.

ननु ब्रह्मधर्मयोः भिन्नाभिन्नत्वन्तु “प्रकाशाश्रयवद् वा”(ब्रह्मसू.३।२।२८) इति दृष्टान्तेनैव सिद्धं पुनः हेतुपादानं व्यर्थम् अतः आहुः बहुदूरेति. यथा अदृश्यस्य

धर्मत्वेन धर्मित्वेन च प्रतीतेः. अपूर्ववदेव दृष्टत्वात् श्रुतत्वाच्च न धर्मेष्वपि युक्त्यपेक्षा. तस्मात् सिद्धं यथाश्रुतमेव ब्रह्म इति॥२८॥

पूर्ववद् वा॥२९॥

एकदेशिमतेनापि सर्वसमाधानम् आह. अथवा, “अरूपवदेव हि”

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आतपः उष्णस्पर्शवत्तेजः. ‘आदि’पदेन चन्द्रादिज्योत्स्ना. **धर्मत्वेन** चन्द्रसूर्यादिधर्म-
त्वेन. **धर्मित्वेन** चन्द्रसूर्यादिरूपत्वेन. **अपूर्ववद्** इति. तथाच यथा चन्द्रसूर्यादिस्थले
धर्मधर्मिभावो यथा अनुभवसिद्धः तथा ब्रह्मणोऽपि धर्मविशिष्टस्य प्रत्यक्षं भक्तानाम्
उलूखलबन्धनस्थले मुखमध्ये सकलवस्तुदर्शनस्थले च अपूर्वमिव सर्वसिद्धम्. एवं
“चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्” (बृहदा.उप.४।४।१८) इत्यादिश्रुतिरपि अवसेया.
धर्मेष्वपि ब्रह्मणो धर्मेष्वपि. **न युक्त्यपेक्षा** धर्माणाम् अपूर्वतया प्रत्यक्षदृष्टत्वात्
श्रुतिसिद्धत्वात् च न युक्त्यपेक्षा इति अर्थः. **यथाश्रुतं** द्विविधश्रुतिप्रतिपादितं सधर्मकं
निर्धर्मकं च इति अर्थः॥२८॥

सूत्रार्थम् आहुः एकेत्यादि. वाशब्दः पक्षान्तरे. पूर्ववद् “अरूपवदेव हि”

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वह्नेः व्याप्तिः धूमे अस्ति तथा सृष्ट्यादौ अवतारदशायां बहुदूरब्रह्मनिरूपिता व्याप्तिः
तेजस्त्वरूपहेतौ अस्ति इति “यस्य भासा सर्वम् इदं विभाति” (मुण्ड.उप.२।२।१०)
इति श्रुत्युक्तभारूपप्रकाशेन तद्व्यापनार्थं हेतुः उक्तः इति अर्थः. तेजोवाचकशब्दम्
आहुः **आतपादेः** इति. **आदिना** ज्योत्स्नापरिग्रहः. विष्णुपुराणेऽपि उक्तम् “एकदेश-
स्थितस्य इन्दोः ज्योत्स्नाविस्तारिणी यथा, परस्य ब्रह्मणः शक्तिः तथ इदम् अखिलं
जगत्, तत्रापि आसन्नदूरत्वबहुत्वस्वल्पतामयः, ज्योत्स्नाभेदो अस्ति तच्छक्तिः तद्वद्
मैत्रेय वर्तते” (विष्णुपरा.१।२२।५६-७) इति. एवञ्च अनेन धर्मि-धर्मयोः अभेदः,
धर्मयोः परस्परम् अविरुद्धत्वम् इति बोध्यम्. ननु सूर्यप्रकाशयोः प्रत्यक्षगम्यत्वात् तथात्वं
वक्तुम् उचितं ब्रह्मणः तद्धर्मस्य च तथात्वाभावात् कथम् इदम्? इत्यतः आहुः **अपूर्ववद्**
इति. “कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मनम् ऐक्षद्” (कठोप.४।१) इति श्रुत्या कस्यचिद्
भक्तस्यापि प्रत्यक्षं जायते इति ज्ञायते इति अर्थः. कस्यचिद् लोकोत्तरपदार्थस्य दर्शने तस्य
पूर्वम् असत्त्वाद् अपूर्वं दर्शनम् इति उच्यते ब्रह्मणस्तु पूर्वं सत्त्वाद् ‘अपूर्ववद्’ इति
उक्तम्. **श्रुतत्वाद्** इति. “नेह नानास्ति” (कठोप.४।११) “एकमेव अद्वितीयम्”
(छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुत्या श्रुतत्वाद् इति अर्थः॥२८॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः **एकदेशिमतेन** इति. सूत्रस्थ ‘वा’शब्दस्य पक्षान्तरत्वम्

(ब्रह्मसू.३।२।१४) इत्यादिपञ्चसूत्र्या यः सिद्धान्तः कथितः तादृशं वा ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्. अयम् आशयः. वेदस्थापनार्थं हि प्रवृत्तिः. तत्र यथा अक्षरमात्र-स्यापि बाधो न भवति तथा वक्तव्यम्. यदर्थम् उभयरूपता अङ्गीकृता, तत्र धर्माणां स्वरूपनिर्वाहार्थम् अवश्यं ब्रह्मवैलक्षण्यम् अङ्गीकर्तव्यम्. तथा सति “**एकमेवाद्वितीयम्**” (छान्दो.उप.६।२।१) इति बाधः प्रसज्येत. तथाच उत्पत्त्या विचारे निर्धर्मकमेव पूर्वं ब्रह्म इति प्रतिपत्तव्यम्. उपपत्त्यापि विचारः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

(ब्रह्मसू.३।२।१४) इति पञ्चसूत्र्या यो अर्थः उक्तः प्रपञ्चविलक्षणं तत्समवायित्वेऽपि न तथाविधं प्रपञ्चसमवायिकारणत्वेऽपि तन्तुपटवद् न प्रपञ्चमात्रं किन्तु ततोऽपि अधिकं कृत्स्नं चिन्मात्रम् आविर्भावकाले च व्यवहारविषयीभूतं जडजीवधर्माः तत्र उपचारकाः इत्येवंरूपं कारणरूपञ्च ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् इति **पूर्ववद्** इति अर्थः. पूर्वमताङ्गीकारे बीजम् आहुः **अयम्** इत्यादि. पञ्चसूत्र्याम् उक्तार्थस्य यथा उपपत्तिः स्यात् तथा उपपादयन्ति तत्र इत्यादि. तत्र पञ्चसूत्र्यर्थकरणे वेदे वेदाक्षरमात्रस्यापि वैयर्थ्याभावार्थम् **उभयरूपता** ब्रह्मणः सधर्मकता निर्धर्मकता च इति अर्थः. तत्र सधर्मके ब्रह्मणि. **स्वरूपनिर्वाहार्थम्** औपचारिकत्वं धर्माणां दूरीकृत्य नित्यत्वब्रह्मवृत्तित्वयोः निर्वाहार्थं निर्धर्मकापेक्षया सधर्मकस्य वैलक्षण्यम् अङ्गीकार्यम् इति अर्थः. **उत्पत्त्या विचारे**

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

आहुः **अथवा** इति. **तादृशं वा** इति. चिन्मात्रम् इति अर्थः. जडजीवधर्माः तत्र औपचारिकाः. यदा तस्य आविर्भावः तदा व्यवहार्यं भवति इति बोध्यम्. ननु एकदेशि-मतानुसरणं किमर्थम्? अतः आहुः **अयम्** इति. अङ्गीकृतः इति. सधर्मकं निर्धर्मकम् इति एतादृशाङ्गीकारे वेदस्य अक्षरमात्रस्य बाधो न भविष्यति इति अक्षरबाधासहनम् उभयपक्षे बीजम् इति अर्थः. एतदर्थमेव तन्मतानुसरणम् इति भावः. पञ्चसूत्र्या सिद्धो यो अर्थः सोऽपि प्रकृते सम्मतः इति आहुः **तत्र** इति. एकदेशिमते धर्माणाम् अनित्यत्वम् उक्तं, तच्च स्वमते नास्ति इति एतावान् यो विशेषः सएव उपपद्यते इति आहुः **धर्माणाम्** इति. **स्वरूपनिर्वाहार्थम्** इति. वृत्तिमत्त्वं हि धर्मस्वरूपं, तस्य ब्रह्मणि सत्त्वेऽपि निर्वाहो भविष्यति इति एतदर्थम् इति अर्थः. **वैलक्षण्यम्** इति. सविशेषकं निर्विशेषकम् इति विलक्षणत्वं ब्रह्मणि स्वीकर्तव्यम् इति अर्थः. **तथा सति** इति. तथा स्वीकारे सति इति अर्थः. ननु एवं चेत् कथं श्रुत्युपपत्तिः कर्तव्या? इत्यतः आहुः **तथाच** इति **उत्पत्त्या** इति. कारणीभूतब्रह्मसकाशाद् जगद् उत्पत्त्या इति अर्थः. तथाच यदा

पूर्वानुरोधेनैव कर्तव्यः. तत्र धर्माणामपि ब्रह्मत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम् उपपद्यते, न अन्यथा. ततश्च प्रथमं ब्रह्म स्वधर्मरूपेण भवति. तदनु क्रियादिरूपेण प्रपञ्चरूपेण च. तावतैव सर्ववेदार्थसिद्धेः. नच लौकिकी युक्तिः तत्र अपेक्ष्यते येन तादृशस्य कथं सर्वभावः इति पर्यन्ययोगो भवेत्. धर्मकल्पनायामपि “**नैषा तर्केण**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“**निष्कलं शान्तम्**” (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिवाक्यैः विचारे कर्तव्ये सति इति अर्थः. **पूर्वं** सृष्टिकारणात् पूर्वम्. **उपपत्त्या विचारः** सधर्मकत्वस्वीकारेऽपि अद्वैतश्रुतिविरोधो यथा न भवति तथा विचारः. **पूर्वानुरोधेन** निर्धर्मकाभेदानुरोधेन. तथाच ब्रह्म अहिकुण्डलवद् उभयरूपं प्रकाशाश्रयवद् एकम् इति **उपपत्त्या विचारोऽपि** मूलरूपानुरोधेन कर्तव्यः इति अर्थः. **न अन्यथा** धर्माणां ब्रह्मभिन्नत्वाङ्गीकारे अविद्याकल्पितत्वाङ्गीकारे वा न उपपद्यते इति अर्थः. **स्वधर्मेण** इत्यादि. अक्षरकालस्वभावप्रकृतिपुरुषरूपैः आदौ आविर्भवति इति अर्थः. **तदनु** धर्मरूपेण आविर्भावोत्तरम्. **क्रियारूपेण** प्रपञ्चोत्पत्त्यनुकूला या कारणरूपेषु क्रिया **तद्रूपेण** इति अर्थः. **सर्ववेदार्थसिद्धेः** सर्वात्मकाद्वैतसिद्धेः. ननु एकस्य अनेकता इति इन्द्रियस्य सेन्द्रियता लोके परमाणूनाम् अन्यमेलनेन परम्परया सेत्स्यमानान्यपदार्थैः घटादौ दृष्टा घटनाशो तदवयवेषु च अनेकता दृष्टा न तथा ब्रह्मणि सम्भवति अतः आहुः **नच** इत्यादि. **तत्र** ब्रह्मणि. **अपेक्ष्यते** “**तन्तु औपनिषदम्**” (बृहदा.उप.३।९।२६) इति श्रुत्या वेदैकसमाधिगम्यत्वाद् न लौकिकयुक्त्यपेक्षा इति अर्थः. **तादृशस्य** सृष्टिपूर्वदशायां “**निष्कलम्**” (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितस्य. **धर्मकल्पनायां** द्विविधश्रुतिदर्शनाद् विरुद्धधर्माश्रयत्वरूप-

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

मृदि घटो अव्यक्तः तदनन्तरं व्यक्तः. पूर्वन्तु शुद्धा मृदेव. एवम् उत्पत्त्या विचारः इति आशयः. पश्चात् सधर्मकब्रह्म स्वीकर्तव्यम् इति आहुः **उपपत्त्या** इति. अहिकुण्डलवत् सधर्मकम् अधर्मकं च इति उभयरूपम्. धर्माश्च प्रकाशाश्रयवद् भिन्नाभिन्ना इति उपपत्त्या इति अर्थः. **पूर्वानुरोधेनैव** इति. कारणस्वरूपानुरोधेनैव कथं कर्तव्यः? इत्यतः आहुः **तत्र** इति. **ब्रह्मत्वे** इति. ब्रह्मरूपत्वम् इति अर्थः. तथाच औपचारिकत्वम् अनित्यत्वं धर्मेषु न स्वीकर्तव्यम् इति भावः. एवं स्वीक्रियमाणे वेदार्थसिद्धिम् आहुः **ततश्च** इति. ननु निधर्मकस्य स्वधर्मरूपेण भवनं लोकविरुद्धम् अतः आहुः **नच** इति. तथाच वेदागम्ये लोकापेक्षा नास्ति इति भावः. ननु विरुद्धधर्माश्रयत्वमतादरणं किमर्थम्, इदमेव अस्तु इत्यतः आहुः **धर्मकल्पनायामपि** इति. विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपधर्म-

मतिरापनेया” (कठोप.२।९) इति समानम्. उत्पत्त्या च उपपत्त्या च विचारद्वयम्. उपपत्त्या पूर्वनयनं स्वसिद्धान्तः. एकदेशिनः तद्विपरीतम्. उभयमपि सूत्रकारस्य सम्मतम् इति॥२९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

धर्मकल्पनायाम्. **समानं** निर्धर्मकब्रह्मकल्पनेन समानं सधर्मकब्रह्मकल्पनम् इति अर्थः. **उत्पत्त्या** निर्धर्मकप्रतिपादकवाच्यविचारेण. **उपपत्त्या** “अविनाशी अरे अयम् आत्मा अनुच्छित्तिधर्माः” (बृहदा.उप.४।५।१४) इत्यादिना नित्यधर्मवतो नित्यस्य विचारः. **उत्पत्त्या पूर्वनयनं** धर्माणाम् औपचारिकत्वव्यतिरेकेण अहिकुण्डलवद् उपपत्त्या निर्धर्मकेण सधर्मकस्य अभेदोपपादनम्. **स्वसिद्धान्तः** अस्मत्सिद्धान्तः इति अर्थः. **तद्विपरीतम्** अस्मत्सिद्धान्तविपरीतं धर्माणाम् औपचारिकत्वस्य एकदेशिना अङ्गीकाराद् वैपरीत्यम् इति अर्थः. व्याससिद्धान्तापेक्षयापि एकदेशिमतस्य वैपरीत्यं सधर्मकत्व-निर्धर्मकत्वयोः तेन कालभेदेन अविरोधप्रतिपादनाद् धर्माणाम् औपचारिकत्वाङ्गीकारात् च इति अर्थः. **उभयं** धर्माणाम् अनौपचारिकत्वे सति नित्यत्वे सति ब्रह्माभिन्नत्वम् इति सिद्धान्तमतम् एकदेशमतं **च इति उभयं, सम्मतम्** एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः उभयमतेऽपि सूपपादत्वात् सम्मतम् इति भावः॥२९॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

कल्पनायाम् इति अर्थः. **समानम्** इति. उभयत्र लौकिकयुक्ति-तर्कयोः प्रसरो नास्ति इति समानम् इति अर्थः. अतएव उभयादरणम् इति अर्थः. इदानीम् अस्मिन् विचारद्वये सूत्रकारसम्मतम् आहुः **उत्पत्त्या** इति. पूर्वं ब्रह्म निर्धर्मकं पश्चात् सधर्मकम्, ‘अपाणिपादः’ इत्यादिविरुद्धश्रुतीनां पूर्वम् अपाणिपादः पश्चाद् जवनः इति अविरोधः उत्पत्त्या विचारे एतत्सूत्रव्याख्यारूपः. **उपपत्त्या पूर्वनयनम्** इति. पूर्वसूत्रव्याख्यारूपः विरुद्धधर्माश्रयत्वस्वीकाररूपो विचारः. इदं च श्रीप्रभुचरणानां मतम् इति अर्थः. **एकेति.** एकदेशिमते उत्पत्त्या उपपत्त्यापि विचारो नास्ति इति विपरीतम् इति अर्थः. तन्मते धर्माणाम् औपचारिकत्वकथनाद् इति भावः. **उभयम्** इति. एतद् उभयमपि. एतदधिकरणोक्तं **व्यासचरणानां** सम्मतम् इति अर्थः. तैत्तिरीयोपनिषदि “यदेकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्” (महाना.उप.१।५). ‘परस्ताद्’ इत्यनेन प्रपञ्चातीतस्यापि एकत्वादिधर्मवत्त्वम् उक्तम्. यथा इदानीं तथाच अग्रे पश्चादपि एतत् ईदृशम् इति तृतीयस्कन्धेऽपि उक्तम्. “तदेतद् अक्षयं नित्यं जगद् मुनिवर! अखिलम्, आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्” (विष्णुपरा.१।२२।

प्रतिषेधाच्च॥३०॥

एकदेशिमते उपपत्त्यन्तरम् आह. “एकमेव” (छान्दो.उप.६।२।१) इति उक्त्वा पुनः “अद्वितीयम्” (तत्रैव) इति द्वितीयं प्रतिषेधति. सः ‘एव’-कारेणैव सिद्धो व्यर्थः सन् धर्मनिषेधमपि सूचयति. “ऐक्षत” (छान्दो.उप.८।२।१) इति वचनात् तदुत्पत्तिः. ‘च’काराद् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमः परिगृहीतः. तस्माद् न ब्रह्मणि कश्चिद् विरोधः इति सिद्धम्॥३०॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे नवमं प्रकाशाश्रयवद्वा इति अधिकरणम्॥१९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपपत्त्यन्तरम् एकदेशिमते श्रुत्योः उपपत्तिरूपं युक्त्यन्तरम् इति अर्थः. धर्मनिषेधं ब्रह्मणि धर्मनिषेधम्. तदुत्पत्तिः ब्रह्मधर्माणाम् उत्पत्तिः. नच इदम् एवं मतं युक्त्युपन्यासाद्यभिप्रेतम् इति वाच्यम्. ‘प्रकाशाश्रय’सूत्रे ‘अहिकुण्डल’सूत्रे च ब्रह्माभेदस्य धर्मेषु स्वयम् उपपादितत्वाद्.

नच द्वितीयनिषेधश्रुतिविरोधः शङ्क्यः “एकमेव” (छान्दो.उप.८।२।१) इति श्रुतेः. घटे घटान्तरभेदवत् सजातीयभेदनिषेध-परत्वाद्वितीयनिषेधश्रुतेश्च घट-पटयोः प्रसिद्ध-विजातीय-भेदनिषेध-परत्वेनैव उपपत्तेः एवं सति “अनुच्छित्तिधर्मा” (बृहदा.उप.४।५।१४) इति श्रुतिरपि न विरुध्यते अन्यथातु विरुध्येदेव इति अर्थः. “अनुच्छित्तिधर्मा” इत्यस्य अविनाशि-धर्मवान् इति अर्थकरणे नित्यधर्मवत्त्वं न आयाति तथापि ब्रह्माभिन्न-धर्मप्रतिपादक-पूर्वोक्त-श्रुतिसूत्राणां बहूनां बाधापत्तेः अप्रामाणिको अयम् अर्थः इति अर्थः. अनुच्छित्तिधर्मो अविनाशित्वमेव चेत् स्यात् तदा “अविनाशि अरे अयम् आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा” (बृहदा.उप.४।५।१४) इति पौनरुक्त्यमपि दोषो बोध्यः॥३०॥१९॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

६०) इति विष्णुपुराणे प्रथमे अंशे. अधिकन्तु प्रकाशाद् अनुसन्धेयम्॥२९॥

यत्किञ्चिद् दोषसत्त्वेऽपि अनादरो न कर्तव्यः इत्यतः आहुः एकदेशीति. सः इति निषेधः. एवकारेण इति तस्य अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकत्वाद् इति भावः. व्यर्थः सन् इति. व्यर्थः सन् ज्ञापयति इति वचनाद् धर्मनिषेधः ज्ञापयति इति अर्थः. तदुत्पत्तिः धर्मोत्पत्तिः. एकविज्ञानेन इति. एकस्य विज्ञानेन इति अर्थः. उपक्रमः इति. नतु प्रतिज्ञा इति अर्थः. तथाच एतन्मतं स्पष्टं, तस्माद् अन्यद् नास्ति इत्यत्र तात्पर्यं बोध्यम्. अत्र बहुक्तं प्रकाशे. विस्तरभयाद् विरम्यते॥३०॥१९॥

परम् अतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः॥३१॥(३।२।१०)

धर्मि-धर्मविरोधः परिहृतः. धर्म्यन्तरविरोधपरिहारार्थम् अधिकरणम् आरभते. तत्र पूर्वपक्षम् आह परम् अतः. अतोऽपि ब्रह्मणः परम् अन्यद् उत्कृष्टं फलम् अस्ति. तत्र वैदिकहेतवः. सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः. यद्यपि समन्वयएव एते दोषाः परिहृताः, तथापि स्वरूपविरोधपरिहारप्रस्तावात्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

धर्माणां कार्यत्वात् परस्परविरुद्धत्वाच्च निर्धर्मके ब्रह्मणि तेषां वृत्तित्वा-सम्भवः इति पूर्वपक्षरूपः “अरूपवदेव”(ब्रह्मसू.३।२।१४) इत्यारभ्य अधिकरण-चतुष्टयेन विरोधपरिहारपूर्वकं धर्माणां नित्यत्वं व्यवस्थाप्य विरुद्धधर्माश्रयत्वं व्यवस्थाप्य सर्वोऽपि विरोधः परिहृतः इति आहुः धर्मिधर्मेत्यादिना. धर्म्यन्तरेत्यादि ज्ञेयाक्षरब्रह्मणः सकाशात्फलरूपम् अतिरिक्तं ब्रह्म अस्ति ततोऽपि उत्कृष्टम् अन्यद् अस्ति न वा? इति धर्म्यन्तरसन्देहः. सन्देहबीजन्तु “अक्षरात् परतः परः” (मुण्ड.उप.२।१।२), “पुरुषाद् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः”(कठोप.३।१।१) इति प्रसङ्गसङ्गतिः. धर्म्यन्तर-विरोधपरिहारः प्रयोजनम्. अतोऽपि अक्षरोत्तमादपि. तत्र अक्षरोत्तमाद् भिन्नफलरूप-धर्मिरूपब्रह्मसाधने. हेतवः, ‘सेतुव्यपदेशाद्’, ‘उन्मानव्यपदेशात्’, ‘सम्बन्ध-व्यपदेशाद्’, ‘भेदव्यपदेशाद्’ इति चत्वारो हेतवः. यद्यपि इत्यादि. समन्वये प्रथमाध्याये. एते ‘सेत्वा’दिपदोक्ताः. तथापि शब्दबलेन विरोधे परिहृतेऽपि.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः धर्मेत्यादिना. सर्वधर्मशून्यत्वाद् ब्रह्मधर्मो न भवति एवंप्रकारं धर्मिविरोधः, धर्माः ब्रह्मभिन्नाः. जन्याः घनतः परस्परविरुद्धाश्च इति धर्मविरोधः इति अर्थः. परिहृतः इति. अधिकरणचतुष्टयेन इति शेषः. अनेन प्रसङ्गसङ्गतिः सूचिता. धर्म्यन्तरविरोधः इति. ब्रह्मान्तरप्रतिपादक-शास्त्रविरोधम् आशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थः. तत्र “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इति वाक्ये ज्ञानविषयीभूतब्रह्मणः परं फलरूपं ब्रह्म अस्ति इति ज्ञायते. अतः अस्मिन् अधिकरणे अस्मादपि परब्रह्म अस्ति वा न वा इति संशयः. एतद्बीजन्तु पूर्वपक्षादेव अवगम्यते इति संशयम् अनुक्त्वा पूर्वपक्षं सूत्रकारएव वदति इति आहुः तत्र इति. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति अतोऽपि इति. कथम् अस्ति इत्यत्र सौत्रं हेतुवाक्यं प्रदर्शयन्ति तत्र इति. सेतून्मानेति. सेतुश्च उन्मानं सम्बन्धश्च इति. द्वन्द्वः. “द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते” इति वाक्याद् ‘व्यपदेश’पदस्य प्रत्येकम् अन्वयः. यद्यपि

पुनः उच्यन्ते. सर्ववाक्यप्रतिपाद्यम् एकमेव इत्यपि न सिद्धम्. एतैः हेतुभिः परिच्छेदेन धर्मिभेदे सिद्धे न पूर्वाधिकरणसिद्धान्तविरोधः. ननु समन्वयेन ब्रह्मत्वम् उत्तरपादेन ऐक्यं पूर्वाधिकरणेन अविरोधइति व्यर्थम् इदम् अधिकरणम् इति चेद्, न. अर्थबलविचारो अयम्. समन्वये च उत्तरपादे च शब्दबलविचारः. धर्मिविचाराद् न पूर्वेण गतार्थत्वम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्वरूपविरोधपरिहाराय एतेषां धर्माणाम् अर्थबलतो यो विरोधः तत्परिहाराय इति अर्थः. **उच्यन्ते दोषाः** निराकर्तुं पुनः उद्भाव्यन्ते इति अर्थः. **न सिद्धम्** इति समन्वये प्रत्येकं वाक्यार्थनिर्धारणात् सर्ववाक्येषु एकधर्मिनिर्धारकत्वेन सिद्धान्तितम् इति अर्थः. **एतैः** सेत्वादिभिः. **परिच्छेदेन** परिच्छिन्नत्वबोधनेन. **धर्मिभेदे सिद्धे** सधर्मकस्य परिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः सकाशाद् भेदे सिद्धे. **न पूर्वाधिकरणेत्यादि.** पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणः परत्वम् अद्वितीयत्वञ्च यद् व्यवस्थापितं तत् परब्रह्मण्येव पर्यवसितं बोध्यम् अतो **न विरोधः** पूर्वाधिकरणाक्षेपरूपः इति अर्थः. **समन्वयेन** प्रथमाध्यायप्रथमचरणेन. **ब्रह्मत्वं** जगत्कर्तुः ब्रह्मत्वम्. **उत्तरपादेन** प्रथमाध्यायोत्तरपादेन. **ऐक्यं** जगत्कर्त्रा परब्रह्मणः ऐक्यम्. **पूर्वाधिकरणेन** एतदधिकरणपूर्वाधिकरणेन. **अविरोधः** इति सर्वेषां धर्माणाम् अविरोधः. एकधर्मिवृत्तित्वे निर्णीते धर्मिभेदोऽपि निराकृतएव इति अविरोधः सिद्धः इति अर्थः. **धर्मिविचाराद्** इत्यादि. तथाच पूर्वाधिकरणे धर्माणामेव अविरोधो

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति. **समन्वयेति.** प्रथमाध्याये दोषाः ‘सेत्वा’दिपदोक्ताः अवान्तरवर्तित्वादयः. **तथापि** इति. **स्वरूपे** इति. परस्वरूपेति अर्थः. **न सिद्धम्** इति. तत्तद्वाक्येषु तत्तद्रूपाणां प्रतिपादनार्थं न सिद्धम् इति अर्थः. ननु न सिद्धं चेत् पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणः परत्वम् अद्वितीयत्वं च कथं सिद्धान्तितम् इति विरोधः इत्यतः आहुः **एतैः** इति. **परिच्छेदेन** ब्रह्मणो अवान्तरत्वनिश्चयेन **न विरोधः** इति. तस्मिन्नेव ब्रह्मणि परत्वम् अद्वितीयत्वम् आयास्यति इति न विरोधः इति अर्थः. धर्म्यन्तरविरोधपरिहारकम् इदम् अधिकरणं न कर्तव्यम् इति शङ्कते **ननु** इति. **ब्रह्मत्वम्** इति. सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्यात् प्रथमाध्याये ब्रह्मत्वं सिद्धम् इति अर्थः **उत्तरपादेति.** गुणोपसंहारपादे इति अर्थः. **ऐक्यम्** इति. “**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म**” (त्रिपा.महाना.उप.३।३) इति सिद्धम् इति अर्थः. **अविरोधः** इति. ‘अद्वितीयम्’ इति पदेन द्वितीयस्य प्रतिषेधः. तेन च धर्म्यन्तरनिषेधः. एवंरीत्या स्वरूपाविरोधः पूर्वाधिकरणेन प्रतिपादितः इति अर्थः. उत्तरम्

फलतः *साधनतश्च प्रमेयाच्च प्रमाणतः।

विचारेणाबृहत् तच्चेत् कोऽन्यः साधयितुं क्षमः॥१॥

अतो हेतून् बाधकान् आह एकदेशबाधकत्वात्. तत्र फलतो बाधहेतुम् आह सेतुव्यपदेशात्. “अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः”(छान्दो.उप.८।४।१) इति. “दहर उत्तरेभ्यः”(ब्रह्मसू.१।३।१४) इत्यत्र ब्रह्मत्वम् अस्य सिद्धम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विचारितो धर्म्यविरोधस्तु आर्थिको अत्र तु प्राधान्येन धर्म्यविरोधेन विचार्यतइति न गतार्थता इति भावः. फलतः फलविचारितः. साधनतः “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता १८।५५) इति साधनविचारितः. प्रमेयाद् “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति. उप.२।१।१) इत्यादिना प्रमेयविचारितः. प्रमाणतः “वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि” (तत्त्वदी.निब.शा.प्र.७) इत्यादिप्रमाणविचारितः. अबृहद् उक्तविधहेतुभ्यो न परम्ब-ह्मोक्ताधिकरणेषु सिद्धं चेद् इति अर्थः. कोन्यः इत्यादि. फलाद्युक्तहेतुभ्यो अन्यो हेतुः कः परब्रह्मत्वं साधयितुं क्षमः इति अर्थः. बाधकान् परब्रह्मत्वसाधकफलादिहेतु-विरुद्धान् परब्रह्मत्वबाधकान्. एकदेशेत्यादि. परब्रह्मपदार्थैकदेशः परत्वं सेत्वादिहेतूनां तद्बाधकत्वाद् इति अर्थः. फलतः पूर्वाधिकरणेषु विचारितस्य ब्रह्मणः फलतायाम्, अस्य सेतोः सेतुत्वेन अभिमतस्य “सर्वलोके”त्याद्युक्तफलश्रवणात्. फलरूपत-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आहुः अर्थबलेति. धर्मिविचाराद् इति. ब्रह्मणः सकाशाद् धर्मभेदो निवारितः पूर्वाधिकरणे च अर्थबलेन धर्म्यन्तरं नास्ति इति विचारः इति अर्थः.

इदानीं सूत्रे हेतुचतुष्टयम् उक्तं तत्प्रयोजनं कारिकया वदन्ति फलतः फलम् अनुसन्धाय इति अर्थः. “ल्यब्लोपे पञ्चमी”. एवं साधनतः इत्यत्रापि बोध्यम्. तत् पूर्वाधिकरणैः विचारितं ब्रह्म फलानुसन्धानसहितविचारेण हेतुना अबृहच्चेद् ब्रह्म न सिद्धं चेद् कः फलादिव्यतिरिक्तः ब्रह्मत्वं साधयितुं समर्थः इति अर्थः. अतः इति. येन साधकाः न सन्ति. अतः बाधकान् हेतून् आह इति अर्थः. फलतः बाधहेतौ कारणम् आहुः एकदेशेति. “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यस्मिन् वाक्ये फलत्वाद् ब्रह्मणि परब्रह्मत्वम् उक्तम्. तत्र वाक्यान्तरे तस्य सेतुत्वोक्त्या परत्वं न सम्भवति, सेतोः परापेक्षया अर्वाचीनत्वाद् इति एकदेशस्य परत्वस्य बाधः इति अर्थः. तत्र इति. बाधकहेतूनां मध्ये. व्याकुर्वन्ति अथ इति. अस्य

* ‘साधनेभ्यश्च’ इति पुरु.पाठः

“अथ य इहा आत्मानम् अनुविद्य ब्रजन्ति” (छान्दो.उप.८।१।६) इति उपक्रम्य “सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (तत्रैव ८।१।६) इति उक्त्वा, कामान् उपपाद्य, अज्ञानव्यवधानं ज्ञानप्रशंसार्थम् उक्त्वा, ज्ञानानन्तरं संसारसम्बन्धा-भावाय सेतुत्वं वदति पापाब्धितरणार्थम्. यश्च तरति, तद्गताश्च दोषाः गच्छन्ति इति च. अतः संसारफलयोः मध्ये विद्यमानत्वात् तीर्णस्यैव फल-श्रवणात् फलरूपं वस्तु किञ्चिद् अन्यद् अस्ति इति ज्ञायते. निधित्वेन फलवचनम् अवान्तरफलपरं भविष्यति. “एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसङ्क्रम्य” (तैत्ति.उप.३।५) इत्यपि अत्र उदाहरणम्. तथा उन्मानव्यपदेशात्. “तत्रैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

बाधकम् आह अथ इत्यादिना. दोषाः गच्छन्ति “एवं सेतुं तीर्त्वान्धः सन् अनन्धो भवति” (छान्दो.उप.४।२) इति तत्र उक्तेः इति अर्थः. तथाच प्रतिबन्धनिवृत्तावेव सेतोः उपयोगो नतु फलरूपताप्यस्य इति अर्थः. मध्ये विद्यमानत्वात् सेतोः मध्ये विद्यमानत्वाद् इति अर्थः. तीर्णस्यैव सेतुं तीर्त्वागतस्यैव पुरुषस्य इति अर्थः. अन्यत् सेतुभिन्नम्. निधित्वेन वचनं “तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि चरन्तोपि न विन्देयुः” (तत्रैव ८।३।२) इत्यादिना दृष्टान्तेन सेतोः हिरण्यस्येव फलरूपता प्रतिपादिता तथापि तत्प्रतिपादनम् अवान्तरफलपरं हिरण्यस्य यथा परम्परया ब्रह्मप्रापकत्वम् अर्थरूपत्वात् तथा प्रतिबन्धनिवर्तकत्वेन सेतोः अवान्तरफलरूपता इति अर्थः. अत्र उदाहरणम् इति. तथाच निधेः हिरण्यस्योपरि चरन्तो अन्तःस्थितस्य स्वरूपं न जानन्ति तथा अन्नमयादिचतुष्टयस्य अन्तःस्थितम् आनन्दमयमपि निधिरूपं पूर्वम् उपरितनज्ञानवन्तो न जानन्ति इत्येवंरीत्या उदाहरणत्वं, ब्रह्मप्राप्तिसाधनबाधकं हेतुं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति. हेतोः इति अर्थः. कथं सिद्धम्? अतः आहुः अथ इति. किञ्चिद् इति. तथाच फलतो बाधकम् इति भावः. ननु किम् इदम् उच्यते? अस्माद् वाक्यात् पूर्वं “हिरण्यनिधिं निहितम् अक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तोऽपि न विन्देयुः” (छान्दो. उप.८।३।२) इति वाक्यं श्रूयते. तत्र निधिदृष्टान्तेन फलत्वमपि श्रूयते इति अतः फलतो बाधकत्वं नास्ति इत्यतः आहुः निधित्वेन इति. भविष्यति इति. नतु परब्रह्मरूप-फलपरम् इति अर्थः. अवान्तरफले उदाहरणम् आहुः एतम् इति. पूर्वपक्षिमते आनन्द-मयस्य परत्वं नास्ति किन्तु “ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा” (तैत्ति.उप.२।५) इति वाक्यात् पुच्छस्यैव इति भावः. फलतो बाधकम् उक्त्वा साधनतो बाधकहेतुं व्याकुर्वन्ति तथा

यावान् वा अयम् आकाशः तावान् एषो अन्तर्हृदय आकाशः” (छान्दो.उप. ८।१।३) इति साधनयुक्तिप्रश्ने, उन्मानेन परिच्छेदं निरूपयति. दृष्टान्त-
दार्ष्टान्तिकत्वेन ज्ञानं साधनम्. तत्र बहिः आकाशज्ञानमपि साधनं भवति.
चतुष्पाच्च ब्रह्म भूतादिपादाश्च ज्ञातव्याः. तथा सम्बन्धव्यपदेशात्. तत्रैव
प्रमेयनिरूपणप्रस्तावे “उभावस्मिन्” (छान्दो.उप.८।१।३) इत्यादिना

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

निरूपयन्ति. तथोन्मानेत्यादिना. तत्रैव दहरविद्यायामेव. साधनयुक्तिप्रश्ने तत्र हि
दहरपुण्डरीकान्तर्योदहरः आकाशः तदन्तःस्थितस्य ज्ञानार्थं यत्नकरणरूपम् अन्वेषणं
साधनं तस्य युक्तिः विषयावगमानुकूलत्वं तादृशार्थके प्रश्ने “तं चेद् ब्रूयुः” इत्यादिना
कृते तस्योत्तरं वदन् “यावान् वा अयमाकाशः तावान् एषोन्तर्हृदय आकाशः” (छान्दो.
उप.१०।१।३) इति यावत्-तावत्पदाभ्याम् अनुमानेन बाह्याकाशसमानतायाः
दहराकाशे प्रतिपादनेन. परिच्छेदम् “आत्मनः आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१।१)
इत्यादिना बाह्याकाशस्य कालपरिच्छेदात् तत्समानतया उक्तदहराकाशस्यापि काल-
परिच्छेदं निरूपयति उन्मानव्यपदेशः इति अर्थः. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्वेन इत्यादि.
बाह्याकाशदहराकाशयोः समानतया ज्ञानं दहराकाशान्तःस्थितस्य ज्ञाने साधनम् इति
अर्थः. तत्र उभयोः समानताज्ञाने. साधनतः इति अस्यैव उदाहरणान्तरम् आहुः चतुष्पाद्
इत्यादिना. अत्रापि भूतादिपादानाम् अनित्यानां ज्ञानं धर्मिज्ञानसाधनमिति न धर्मिणः
परत्वसिद्धिः इति भावः. तृतीयहेतुम् आहुः तथा सम्बन्धेत्यादि. तत्रैव दहरवाक्ये एते
अत्र “उभावस्मिन्” (छान्दो.उप.१०।१।३) इति वाक्ये. वस्तुपरिच्छेदः वस्तुत्वेन

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

इति. तत्रैव दहराधिकरणएव. साधनयुक्तिः इति. दहराकाशान्तर्गतस्य ज्ञानार्थं यद्
अन्वेषणरूपं साधनं तस्य या युक्तिः योजनं, तदर्थके “तत् चेद् ब्रूयुः” इत्यादिना
कृते प्रश्ने इति अर्थः. उन्मानेति. “यावान् वा आकाशः” (छान्दो.उप.८।१।३)
इत्यादिना दहराकाशस्य परिच्छेदं निरूपयति इति अर्थः. तथाच परिच्छेद-
वाचक‘यावत्’पदेन देशतः परिच्छेदाभावे आकाशस्य स्वमते अनित्यत्वात् कालतः
परिच्छेदसम्भवेन दार्ष्टान्तिके दहराकाशेऽपि परिच्छेदः. एवञ्च उन्मानेन परत्वस्य बाधः
इति भावः. इमं भावं ध्वनयन्ति दृष्टान्तेति. अन्यद् उदाहरणं वदन्ति चतुष्पाद् इति.
भूतादीनां पादानां नित्यत्वाद् इति अर्थः. तृतीयं हेतुम् आहुः तत्र इति. दहराधिकरणे.
निरूपितः इति. आधारत्वेन प्रमेयत्वं नतु सर्वोत्कृष्टत्वेन इति परिच्छेदः. अत्रैव

आधाराधेयसम्बन्धो निरूपितः. अत्रच वस्तुपरिच्छेदो निरूपितः. “प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तः” (बृहदा. उप.४।३।२१) इति च. तथा भेदव्यपदेशात्. “य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते” (छान्दो.उप.४।१५।१) “य एषो अन्तर् अक्षिणि पुरुषो दृश्यते” (तत्रैव.४।१५।१) इत्यत्र स्थानद्वयस्थितयोः पुरुषयोः परस्परं धर्मातिदेशम् आह. अक्षिस्थितनिरूपकम् अतिदेशः प्रमाणम् इति. धर्म्यभेदे तु “सएव अयम्” इति वदेत्. अतो देश-काल-वस्तु-स्वरूपपरिच्छेदात् चतुर्विधपरिच्छेदरहितम् अन्यत् किञ्चिद् अस्ति इति प्रतिपत्तव्यम् इत्येवं प्राप्तम् ॥३१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अभिमतस्य प्रमेयस्य उभयाधिकरणत्वेनैव निरूपणं कृतं नतु परमब्रह्मत्वेनेति परिच्छेदः फलितः इति अर्थः. एतद् हेतावेव उदाहरणान्तरम् आहुः प्राज्ञेत्यादि. तथा अत्रापि जीवभेदनिरूपणेन प्रमेये परिच्छिन्नत्वमेव सिद्धम् इति भावः. चतुर्थं हेतुम् आहुः तथा भेदेत्यादि. धर्मातिदेशम् आह अक्षिपुरुषधर्मातिदेशम् आदित्यपुरुषः आह. तथाहि “तस्य एतस्य तदेव रूपं यद् अमुष्य रूपं यद् अमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम्” (छान्दो.उप.१।७।५) इति आह इति अर्थः. ‘तस्य’ अक्षिपुरुषस्य, ‘अमुष्य’ आदित्यपुरुषस्य, ‘गेष्णौ’ नटनर्तकौ भक्तौ इति अर्थः. अक्षिपुरुषनिरूपकम् इत्यादि अक्षिपुरुषप्रतियोगिकसादृश्यप्रतिपादकम् आदित्यपुरुषे प्रमाणम् उभयोः भेदबोधकम् उक्तम् इति अर्थः. धर्मभेदेन तु धर्म्यभेदे सत्त्वेन तु ॥३१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उदाहरणान्तरम् आहुः प्राज्ञेन इति. सम्परिष्वक्तः इत्यनेन परिच्छेदो बोध्यते. चतुर्थं हेतुं व्युत्पादयन्ति य एषः इति. परस्परम् इति. अक्षिस्थितः पुरुषवद् आदित्यस्थितपुरुषः आदित्यस्थितपुरुषवद् अक्षिस्थितपुरुषः इति परस्परम्. पुरुषनिष्ठा ये प्रज्ञानघनत्वादयो धर्माः तेषाम् अतिदेशं श्रुतिः आह इति अर्थः. प्रमाणम् इति. “तस्य एतस्य देवरूपम्” (.....) इति श्रुतिः अतिदेशप्रमाणम् इति अर्थः. तथाच पूर्वतन्त्रे यथा प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इति अतिदेशः. दर्शपूर्णमासेष्टिः प्रकृतिः, सौर्येष्टिः विकृतिः. तत्र प्रकृतौ ये उक्ताः निर्वापादयो धर्माः ते विकृतौ अतिदिश्यन्ते, तथा अक्षिस्थितिनिरूपके पुरुषे आदित्यस्थितः पुरुषधर्माः अतिदिश्यन्ते. तथाच उभयोः प्रकृति-विकृतिवद्भेदो व्यपदिश्यते इति अर्थः. ननु ब्रह्मरूपधर्मी उभयत्रापि एकएव इत्यतः आहुः धर्मभेदः इति ॥३१॥

सामान्यात्तु॥३२॥

‘तु’शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. समानस्य भावः सामान्यम्. सेत्वाकाशादिशब्दाः तद्धर्मातिदेशार्थम् उच्यन्ते, नतु तद्गतं दोषमपि कल्पयन्ति. संसारसागरोत्तरणोपायत्वात् सेतुत्वम्. निर्लेपाय आकाशत्वम्. कामाभिदोहाय चतुष्पात्त्वम्. अमृतत्वाय षोडशकलत्वम्. अतिदुर्लभत्वाय सम्बन्धः. दिव्यत्वाय धर्मातिदेशः. कुण्डपायिनाम् अयने मासाग्निहोत्रवद् गुणार्थमेव वचनं, न दोषार्थमिति न ततो अन्यशङ्का उत्पादनीया. तस्माद् न पूर्वोक्ताः दोषाः॥३२॥

बुद्ध्यर्थः पादवत्॥३३॥

अन्यसमानधर्मवत्त्वं कुत्र उपयुज्यते? इत्यतः आह बुद्ध्यर्थः. तथा व्यपदेशो बुद्ध्यर्थः. बुद्धिरेव प्रयोजनं यस्य. तथोपासनार्थम् अयुक्तम् इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सिद्धान्तसूत्रार्थः ‘तु’शब्दः इत्यादिना उच्यते. पक्षं पूर्वोक्तहेतुभिः परत्वनिराकरणरूपं पूर्वपक्षम्. तद्गतं दोषम् इत्यादि. पूर्वाधिकरणे विरुद्धधर्माणाम् अविरोधेन धर्मिणि समावेशस्य उक्तत्वाद् न विरोधं कल्पयन्ति इति अर्थः. सूत्रोक्तं सामान्यम् उपपादयन्ति संसारेत्यादिना. सेतुत्वं ब्रह्मणः सेतुत्वेन निरूपणम्. अभिदोहाय सर्वत्र पुरुषार्थचतुष्टयपूरकत्वेन. सम्बन्धः आधारत्वेन निरूपणविषयः. दिव्यत्वाय अलौकिकत्वबोधनाय. धर्मातिदेशः अक्षिपुरुषधर्मातिदेशः. अतिदेशे दृष्टान्तेन गुणार्थताम् आहुः कुण्डपायिनाम् इत्यादिना. तथाच ‘मासाग्निहोत्र’नामके कर्मान्तरे ‘अग्निहोत्र’पदप्रयोगेण अग्निहोत्रगुणाएव बोध्याः॥३२॥

तथा पूर्वोक्तरीत्या, अयुक्तं हीनसाम्यवचनम् अयुक्तम् इति अर्थः. तथा

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति समानस्य इति. कल्पयन्ति इति. पूर्वाधिकरणे अभेदस्य प्रतिपादितत्वाद् भेदरूपं दोषं न कल्पयन्ति इति अर्थः. ननु गुणार्थमेव सामान्यशब्दार्थानां धर्मातिदेशकत्वम् इति उक्तं, तत् कथम्? इत्यतः आहुः संसारेति. ननु गुणार्थम् अतिदेशः कुत्र दृष्टः? इत्यतः आहुः कुण्डपायिनामयने इति. पूर्वतन्त्रे उपसद्भिः चरित्वा “मासम् अग्निहोत्रं जुहोति” (ताण्ड्यब्राह्मण २५।४।१) इति वाक्यं श्रूयते. तत्र अग्निहोत्रनाम्ना तद्गुणाः अतिदिश्यन्ते, एवम् अत्र बोध्यम् इत्यर्थः॥३२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अन्येति. बुद्धिरेव इति. ज्ञानमेव इति अर्थः. दृष्टान्तम् अवतारयन्ति तथा इति. अयुक्तम् इति. उत्तमस्य ब्रह्मणः. अल्पसेतुत्वादिना ज्ञानम्

आशङ्क्य दृष्टान्तम् आह. यथा 'भूतादीनां पादत्वज्ञानम् उपासनार्थं तथा तत्तद्गुणवत्त्वेन ज्ञानार्थं स्वधर्मप्रशंसार्थम् एवम् उच्यते ॥३३॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३४॥

ननु “सएव अयम्” इति अतिदेशोऽपि तथा बुद्धिः ‘सम्पद्येतेवेति व्यर्थो धर्मातिदेशः इति आशङ्क्य, तथोक्तेऽपि समानधर्मत्वज्ञानाभावे हेतुम् आह **स्थानविशेषाद्** इति. धर्म्यैक्येऽपि स्थानविशेषप्राप्त्या न समानधर्मवत्त्वं दृश्यते. अन्यत्र इत्यत्रापि न तथात्वम् आयास्यति इति अतिदेशो धर्माणामपि कृतः इति अर्थः. अस्मिन् अर्थे दृष्टान्तम् आह **प्रकाशादिवद्** इति. “यदादित्यगतं तेजः” (भग.गीता १५।१२) इति वाक्याद् आदित्य-चन्द्राग्निगत-तेजसाम् ऐक्येऽपि न समानप्रकाशत्वं यथा, तथा अत्रापि इति ज्ञानसम्भवाद् इति अर्थः. ‘आदि’पदाद् एकस्यैव कालस्य यथा उपाधिविशेषसम्बन्धाद् उत्तरायणत्वाद् उत्तमधर्मवत्त्वं तद्विपरीतधर्मवत्त्वं तथा इत्यपि संगृह्यते ॥३४॥

उपपत्तेश्च ॥३५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

गुणवत्त्वेन पुरुषार्थचतुष्टयदोहकर्मत्वेन. **स्वधर्मप्रशंसार्थं** ब्रह्मणः उपादानस्य धर्मप्रशंसार्थम् इति अर्थः ॥३३॥

इतः आरभ्य श्रीमद्गोस्वामिचरणानां लेखो बोध्यः.

तथाबुद्धिः उत्कर्षबुद्धिः धर्म्यतिदेशेन इति अर्थः. **तथोक्तेऽपि** धर्म्यतिदेशो-क्तावपि. **समानधर्मत्वाभावः** सकलधर्मिगतैकस्यैव धर्मस्य समानत्वाभावः. **अन्यत्र** स्फटिकादौ वक्ष्यमाणदृष्टान्ते तेजसि च. **न तथात्वं** न धर्माणां समानत्वम् ॥३४॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उपासनार्थम् इति कथनम् अयुक्तम् इति अर्थः. **एवम् उच्यते** इति. अन्यसमानधर्मत्वम् उच्यते इति अर्थः. एवञ्च ज्ञानार्थमेव कथनं, नतु उपासनार्थम् इति अर्थः ॥३३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. **तथा उक्तेऽपि** इति. “सएव अयम्” इति प्रत्यभिज्ञया ऐक्यकथनेऽपि. **अन्यत्र** इति. स्फटिक-हीराकादिस्थले.

अत्र प्रकाशकृद्भिः “इतो आरभ्य प्रभूणाम् उक्तिः इति प्रतिभाति” इति उक्तम्. शेषं सुगमम् ॥३४॥

१. ‘सेत्वादीनाम्’ इति पुरु. पाठः. २. ‘सम्पद्येतेवेति’ इति पुरु. पाठः. ३. “आदित्य’पदाद्” इति पुरु. पाठः

किञ्च, सत्यज्ञानाद्युक्तधर्मविशिष्टब्रह्मणो अन्य उत्तमो अस्ति इति वदता तत्र इतः उत्कृष्टधर्मवत्त्वं वाच्यं, तच्च अशक्यं, प्रमाणाभावात्. साम्येऽपि तथा विशेषाभावो अद्वैतश्रुतिविरोधश्च तस्माद् इतः परस्य अनुपपन्नत्वाद् उक्तरूपमेव परमकाष्ठापन्नं वस्तु इति उपपद्यते इति अर्थः ॥३५॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

यथा सेत्वादयः श्रुत्योक्ताः तथैव “न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुत्यैव ततो अधिकस्य प्रतिषेधात् त्वयापि अस्मदुक्तएव मार्गो अनुसर्तव्यः इति अर्थः. अवतारकाले पूर्वं स्वशक्त्याविर्भावम् अकृत्वा पश्चात् तदाविर्भावे कृते लोकानां पूर्वावस्थातो भगवत्येव आधिक्यमिव प्रतीतं भवति इति अभिप्रायेण ‘अन्य’पदोपादानम् ॥३६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“सत्यं ज्ञानम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यादिना प्रतिपादिताद् अन्यः उत्कृष्टो न इत्यत्र सूत्रद्वयेन उपपत्तिम् आह सूत्रकारः इति आहुः किञ्च इत्यादिना. तत्र एतदपेक्षया उत्कृष्टत्वेन अङ्गीकृते. इतः “सत्यं ज्ञानम्” इत्यादिना उक्तात्. विशेषाभावः इतः उत्कृष्टधर्मसत्त्वे विशेषाभावः इति अर्थः ॥३५॥

तद् सेत्वादिधर्मवान्. ततः उक्तधर्मवतः. अस्मदुक्तप्रकारः “सत्यं ज्ञानम्” (तैत्ति.उप. २।१।१) इत्यादिना उक्तधर्मवतो ब्रह्मत्वस्वीकारः. पूर्वम् अवतारात् पूर्वम्. स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येन. आविर्भावं धर्माविर्भावम्. पूर्वावस्थातः अनवतारावस्थातः. भगवत्येव अवतारावस्थापन्ने पूर्वस्मिन्नेव. आधिक्यमिव पूर्वं सर्वं भगवति स्थितमेव आविर्भूतम् इदानीम् इति इवशब्दः. अन्यपदोपादानम् इति. तथाच “न तत्समः” (श्वेता.उप. ६।८) इति श्रुत्या अन्यप्रतिषेधात् तथा पूर्वरूपम् एवम् इति सूत्रार्थः इति अर्थः ॥३६॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रद्वयेन अस्माद् ब्रह्मणः सकाशाद् उत्कृष्टं ब्रह्म नास्ति इति आहुः किञ्च इति ॥३५॥

सूत्रार्थम् आहुः यथा इति. निषेधिकां श्रुतिम् आहुः न तद् इति. ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धम् अतः सूत्रकथने प्रयोजनम् आहुः अवतारेति. आधिक्यमिव इति. तथाच अधिकं यद् ब्रह्म तत्कृतम् आधिक्यमिति शङ्का न कर्तव्या इति अर्थः ॥३६॥

अनेन सर्वगतत्वम् आयामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

प्रकरणम् उपसंहरन् फलितम् अर्थम् आह. अनेन सेत्वादिव्यपदेशानां मुख्यार्थकत्वनिराकरणेन व्यापकत्वं ब्रह्मणः सिद्धम् इति अर्थः इति केचित्. तद् न. “जन्माद्यस्य यतः” (ब्रह्मसू. १।१।२) इत्यादिना सर्वदेशगतकार्यकर्तृत्वम् उक्तमिति तेनैव व्यापकत्वस्य सिद्धत्वात्. नच अविरोधसाधनप्रकरणत्वात् पूर्वसिद्धं सर्वगतत्वम् अनेन उक्तग्रन्थेन कृत्वा, सेत्वादिवाक्यैः समम् अविरोद्धम् इति अर्थः इति वाच्यम्, अग्रिमपदवैयर्थ्यापत्तेः इति चेद्, अत्र एवं ज्ञेयं : न उक्तकर्तृत्वेन व्यापकत्वम् एकान्ततो ब्रह्मणि रोद्धुं शक्नोति. योगसिद्धदूरश्रवणादिवत् परिच्छिन्नेनापि अनेकदेशगतकार्यकरणसामर्थ्य-विशेषस्य वक्तुं शक्यत्वात्. अन्यथा पूर्वसिद्धव्यापकत्वविरोधेन सेत्वादिव्यपदेशैः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रकरणं धर्मधर्मिविरोधनिरासप्रकरणम्. स्वसिद्धान्तदृढीकरणाय एकदेशिमत् दूषयितुम् उपन्यस्यन्ति अनेन इत्यादि. व्यपदेशानां ‘सेतुविधृत्या’दिपदवाच्यानां ब्रह्मदृष्टान्तानाम्. मुख्यार्थेत्यादि. सधर्मकस्य ब्रह्मत्वनिराकरणेन इति अर्थः. तथाच परब्रह्मत्वनिराकरणेऽपि सोपाधिकस्य ब्रह्मणो व्यापकत्वम् अस्त्येव इति फलितम्. केचिद् मायावादिनः. व्यापकत्वस्य जगत्कर्तुः व्यापकत्वस्य. पूर्वं सिद्धं जन्माद्यधिकरणसिद्धम्. सेत्वादिवाक्यैः समम् इत्यादि. सेत्वादिवाक्यप्रतिपादित-सधर्मकोपक्षीणमेव वाच्यं नतु तत् परब्रह्मव्यापकत्वम् इति अर्थः. अग्रिमेत्यादि. इति चेद् उच्येत तदा अग्रिमपदस्य व्यापकताबोधके ‘आयामशब्दादिभ्यः’ इति पदस्य वैयर्थ्यापत्तेः इति अर्थः. उक्तवैयर्थ्यम् उपपादयन्ति अत्र एवम् इत्यादिना. रोद्धुं निश्चेतुं, शक्नोति सूत्रकारः इति अर्थः. एकान्ततः वास्तवम्. ब्रह्मणि सधर्मके ब्रह्मणि. अन्यथा सधर्मके वास्तवव्यापकत्वाभावे. परत्वं न शङ्केत परिच्छिन्नत्वेन

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रकरणम् इति अर्थः. आह इति सूत्रेण आह इति अर्थः. एकदेशिव्याख्यानम् आहुः अनेन इति. दूषयन्ति तत् न इति. एकदेशी अर्थभेदं कृत्वा शङ्कते नच इति. उत्तरयन्ति अग्रिमेति. चेद् इत्यनेन मुख्यः पक्षो न भवति इति सूचितम्. वैयर्थ्यमेव उपपादयन्ति अत्र एवम् इति. शक्नोति इति. सूत्रकारः इति शेषः. न शक्नोति इत्यत्र गमकम् आहुः अन्यथा इति. ननु विरोधपरिहारः कथम् इत्यतः आहुः विरोधेति.

परिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणो अन्यस्य परत्वं न शङ्केत. विरोधपरिहारायतु
“सामान्यात्तु अविरोधः” इति वदेत्.

तस्माद् एवं सूत्रार्थो ज्ञेयः. अनेन ब्रह्मणो अन्यस्य परत्वनिरासेन
आयामशब्दादिभ्यो व्यापकत्ववाचकश्रुतिवाक्यादिभ्यः साक्षात् सर्वगतत्व-
प्रतिपादकेभ्यएव सर्वगतत्वं सिध्यति, नतु गौतमीयानामिव कर्तृत्वाद्यनुपपत्त्या
इति अर्थः. ते च शब्दाः

“आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” (शत.ब्राह्मण १०।६।३।२१)

“ज्यायान् दिवो ज्यायान् आकाशाद्” (छान्दो.उप.३।१४।३)

“वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस् तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्” (तैत्ति.आर.
१०।१०।३) इत्यादयः. ‘आदि’पदात्. “सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरो-
मुखम्, सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति” (भग.गीता १३।१३)
इत्यादिस्मृतयः सङ्गृह्यन्ते. अनेन ब्रह्मणि श्रुतिरेव मुख्यं प्रमाणम्, अनुमानन्तु
विलम्बोपस्थितिकत्वेन साध्यसिद्धिपराहतमपि इच्छाविशेषेण जननीयं चेद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सधर्मकस्य व्यापकत्वासिद्ध्या परब्रह्मत्वस्यापि असिद्ध्या अन्यस्य परब्रह्मत्वं कथं
शङ्केत इति अर्थः. ननु श्रुतिषु सधर्मकस्यापि ब्रह्मत्वेन प्रतिपादनाद् विरोधपरि-
हारार्थमेव शङ्केति अतः आहुः सामान्येत्यादि. तथाच ‘सामान्यात्तु’ इति सिद्धान्तसूत्रे
इत्थमेव सूत्रं कुर्याद् इति अर्थः. सामान्याद् ब्रह्मसत्तायाः सर्वत्रापि सत्त्वाद्
अपरस्मिन्नपि ब्रह्मत्वम् अविरोद्धम् इति अर्थः स्याद् इति अर्थः. इत्थं च तावतैव उपपत्तेः
इतरवैयर्थ्यम् इति फलितम्. व्यापकत्वेत्यादि. व्यापकत्ववाचकपदघटितश्रुतिः इति
अर्थः. ‘आदि’पदात् सूत्रस्थादिपदात्. विलम्बेत्यादि. व्याप्तिज्ञानपरामर्षादिकृत-
विलम्बेन इति अर्थः. साध्येत्यादि. श्रुत्या ब्रह्मरूपसाध्यसिद्धेः अनुमानवैफल्यम् इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

एकदेशिमतसिद्धसूत्रार्थं निराकृत्य स्वयं सूत्रार्थम् आहुः तस्माद् इति. ‘आयाम’शब्दस्य
व्यापकतार्थकत्वं मनसि निधाय आहुः व्यापकत्वेति. नैयायिकमतं खण्डयति साक्षाद्
इति. समाने विषये शाब्दसामग्र्याः प्रबलत्वाद् आहुः सिद्ध्यति इति. तथाच पर्वते
यावत् पर्यन्तं वह्न्यनुमितिं करोति ततः पूर्वं केनचिद् आप्तेन उक्तं पर्वतो वह्निमान्
इति, तदा शाब्दबोधएव जायते नतु अनुमितिः इति भावः. व्यापकत्ववाचकश्रुति-
वाक्यानि आहुः तच्च इति. ननु “वह्न्यनुमितिः मे जायताम्” इतिवद् इच्छाधरितसा-

अभ्युच्चयमात्रं *पर्यवसास्यति इति भावः ॥३७॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे दशमं परमतः सेतून्मानेति अधिकरणम् ॥१०॥

फलम् अत उपपत्तेः ॥३८॥ (३।२।११)

एवं सर्वोत्तमत्वनिरूपणेन उत्तमाधिकारिणां भजनीयत्वप्रयोजकं रूपम् उक्त्वा तदितराधिकारिणां तद् आह. ते हि फलप्रेप्सवएव भजिष्यन्ति. तच्च फलदातृत्वएव सम्भवतीति तद् आह. अतः ईश्वरादेव फलं भवति यत्किञ्चिद् ऐहिकं पारलौकिकं वा. कुतः? उपपत्तेः. “सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति श्रुतिः वस्तुमात्रेशितृत्वम् असङ्कुचितम् आह. नहि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अर्थः. इच्छाविशेषेण सिसाधयिषाबलात्. अभ्युच्चयमात्रं वृथास्वीकारमात्रम् इति अर्थः ॥३७॥१०॥

अन्ते फलाधिकरणनिरूपणेन अविरोधादिनिरूपणस्य सार्थक्यं निरूपयन् अधिकरणम् आरभते इति आहुः एवम् इत्यादिना. एवं पूर्वाधिकरणोक्तरीत्या. सर्वोत्तमत्वनिरूपणेन ब्रह्मणि सर्वोत्तमत्वनिरूपणेन. इतराधिकारिणां सकामानाम्. तद् आह भजनीयत्वम् आह. ते हि सकामा हि. तच्च सकामभजनीयत्वं च. तद् आह फलदातृत्वम् आह. अतः इत्यादि. अत्र उद्देश्यतत्तद्देवताभ्यः फलम् उत भगवतः? इति संशयः. तेषां-तेषां देवानाम् उद्देश्यतया श्रावणं “सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा. उप.६।४।२२) इति श्रुतिश्च संशयबीजम्. देवान्तराणाम् उद्देश्यत्वात् तेभ्यएव फलम्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

मग्रीसत्त्वे अनुमितिरेव जायते इत्यतः आहुः अभ्युच्चयत्वमात्रम् इति. तथाच इच्छा-सत्त्वे अनुमितिः तदभावः इति कादाचित्कानुमानस्यापि संग्रहः इति भावः ॥३७॥१०॥

इदानीम् ईश्वरादेव फलम् इति सूचयितुं फलोपपत्त्यधिकरणम् आहुः फलमत उपपत्तेः. एवम् इत्यनेन प्रकारेण अविरोधनिरूपणे कृते सर्वोत्तमसिद्धौ सत्याम् इति अर्थः. तदितरेति. मध्यमाधिकारिणाम् इति अर्थः. तद् आह इति. भजनीयप्रयोजकं यद्रूपं फलदातृत्वं तद् आह इति अर्थः. ननु किमर्थम् इदम् उच्यते? इत्यतः आहुः ते हि इति. मध्यमा इति अर्थः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति अतः इति. अस्मिन् अधिकरणे फलम् ईश्वराद् वा तत्कर्मणि तत्तद्देवताभ्यो वा इति संशयः. कर्माङ्गदेवताभ्यः इति पूर्वपक्षः. ईश्वरादेव फलम् इति आहुः सर्वस्य इति.

* ‘पर्यवशिष्यति’ इति पुरु.पाठः.

अन्यस्य वस्तु अन्यो दातुं समर्थः. अतो भगवानेव तथा इति अर्थः.

केचित्तु अत्रैव कर्मणः तत्कार्यापूर्वस्य च फलदातृत्वम् आशङ्क्य, तत्र अनुपपत्तिम् अत्र उपपत्तित्वेन व्याकुर्वन्ति. तत्तु अग्रे जैमिनिमतोपन्यास-स्वमतोपन्यासाभ्यां व्यासएव व्यक्तीकरिष्यतीति अधुनैव अप्राप्तनिराकरणम् अग्रिमसूत्रद्वयवैयर्थ्यं स्याद् इति चिन्त्यम् ॥३८॥

श्रुतत्वाच्च ॥३९॥

पूर्वसूत्रेण श्रुतम् ईशितृत्वं फलदाने उपपत्तित्वेन निरूपितम्. इहतु साक्षात् श्रुतिमेव फलदातृत्ववाचिकां प्रमाणयति. साच “स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदानः” (बृहदा. उप. ४।४।२४) इत्यादिरूपा. ‘च’ कारात् “सुखं दुःखं भवो भावः” (भग. गीता १०।४) इति उपक्रम्य “भवन्ति भावा भूतानां मत्तएव पृथग्विधाः” (तत्रैव १०।५) इत्यादिरूपा स्मृतिः सङ्गृह्यते ॥३९॥

धर्मं जैमिनिरतएव ॥४०॥

अत्र कर्मवादी प्रत्यवतिष्ठते. ननु कर्मणएव फलम् इति पक्षेऽपि उपपत्तिश्रवणे तुल्ये. तथाहि, ईश्वरवादिनापि कर्मनिरपेक्षेण तेन फलम् इति न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति पूर्वः पक्षः. तेषामपि ईशानः परमात्मा इति अतएव फलम् इतिसिद्धान्तः. तत्र अनुपपत्तिम् इत्यादि. तत्पूर्वपक्षसिद्धान्तत्वेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति इति अर्थः ॥३८॥

स्फुटं भाष्यम् ॥३९॥

सूत्रार्थम् आहुः अत्र इत्यादि. उपपत्तीत्यादि. फलतरतमभावे फलतदभावयोः वा उपपादिका युक्तिः उपपत्तिः. श्रावणं कर्मणो ब्रह्मणो वा सकाशात् फलम् इति श्रुतिदर्शनम्. तुल्ये ईश्वरात् फलपक्षे कर्मणः फलपक्षे च ते तुल्ये इति अर्थः. सूत्रार्थस्तु अतएव उपपत्तिश्रावणरूपफलदानहेत्वोः तौल्यादेव. धर्मं फलहेतुं जैमिनिः आह इति.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

एकदेशिमतम् आहुः केचित्तु इति. अत्रैव अस्मिन् सूत्रएव. तत्कार्येति. कर्मजन्यापूर्वस्य इति अर्थः. निराकुर्वन्ति तत्तु इति ॥३८॥

श्रुतम् इति. श्रुतिवाक्यजन्यशाब्दबोधविषयीभूतम् ॥३९॥

अत एव उपपत्तिश्रवणाभ्यामेव. फलकारणं धर्मं मन्यते जैमिनिः इति सूत्रार्थः. कथं तुल्येत्यतः आहुः तथाहि इति.

वक्तुं शक्यम्. विधिवैयर्थ्यप्रवृत्यनुपपत्तिप्रसङ्गाभ्यां, तत्सापेक्षत्वे तदेव अस्तु, कृतं तत्सापेक्षेण तेन. नच अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव कार्यक्षममिति केवलेन तेन न फलं सम्भवति इति वाच्यम्. कर्मस्वरूपं स्वर्गादिकं च न लोकसिद्धं किन्तु श्रुतिसिद्धम्. तत्र च स्वर्गादिफलसाधकत्वेनैव उत्पत्तिवाक्येषु अर्थवादिषु च

“अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत” (आप.श्रौ.सू.१०।२।१)

“अग्निहोत्रं जुहोति प्रजाकामः” (तैत्ति.संहि.१।५।८।१।१८) इत्यादि.

“दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत” (तैत्ति.ब्राह्म. ५।२०।८०,८१)

“परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्,

तेन स परमां काष्ठाम् अगच्छत्” (तैत्ति.संहि.१।६।९)

इत्यादिषु कर्म श्रूयते. सच तत्साध्यत्वेनैव. एवं सति लोके अन्यथा-दर्शनेऽपि धर्मिग्राहकप्रमाणेन तथैव सिद्धत्वाद् न अत्र काचन शङ्का. ईश्वर-वादिनो नित्यज्ञानादिमत्वइव. आमुष्मिकफलत्वेन तत्प्रतिबन्धकापगमे भवति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदेव उपपादयन्ति तथाहि इत्यादिना. प्रवृत्यनुपपत्तिः लोकानां धर्मात् फलाभावे धर्मकरणे प्रवृत्यनुपपत्तिः. तत्सापेक्षत्वे ईश्वरस्य फलदाने कर्मसापेक्षतया उक्तदूषणयोः वारणे. कृतम् अलम्. तत्सापेक्षेण कर्मसापेक्षेण ईश्वरेण. तेन धर्मेण न फलसम्भवः. सच स्वर्गादिश्च. तत्साध्यत्वेन धर्मसाध्यत्वेनैव सिद्धः इति अर्थः. अन्यथादर्शनेऽपि राजादिभ्यः कर्मकरणाभावेऽपि फलदर्शनेऽपि इति अर्थः. धर्मिग्राहकप्रमाणेन कर्म-फलयोः कार्यकारणभावबोधकश्रुतिप्रमाणेन. तथैव सिद्धत्वात् कर्मण्येव फलस्य सिद्धत्वात्. अत्र वेदबोधितकर्म-तत्फलयोः. नित्यज्ञानादिमत्वे इव इति ईश्वरवादिनो नित्यज्ञानादिसिद्धिः यथा धर्मिग्राहकमानेन ईश्वरे तथा ममापि धर्म-फलयोः कार्यकारणभावावगतिः इति अर्थः. ननु धर्मस्य फलहेतुत्वे अव्यवहितोत्तरक्षणे फलं कुतो न उदेति? इत्यतः आहुः आमुष्मिकेत्यादि. तत्प्रतिबन्धकापगमे स्वर्गादौ

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रवृत्तीति. विधिवैयर्थ्य-प्रवृत्यनुपपत्ति-प्रसङ्गाभ्यां तत्सापेक्षत्वे तदेव अस्तु कृतं सापेक्षेण तेन. नच अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव कार्यक्षमम् इति केवलेन तेन फलसम्भवः इति वाच्यम्. उत्तरयन्ति कर्मस्वरूपम् इति. वाक्यानि आहुः अग्निष्टोमेन इति. सच इति. स्वर्गादिश्च इति अर्थः. अन्यथा इति. राज्ञः सकाशात् फलप्राप्तिः जाता इति दर्शनेऽपि इति अर्थः. अत्र वेदबोधिते अर्थे. नित्यज्ञानादिमत्त्वे इति. तथाच

इति आवयोः तुल्यम्. तस्य आशुतरविनाशित्वेऽपि श्रुतिसिद्धकारणतानिर्वाहाय तद्व्यापारो अपूर्व कल्प्यते. अविषमाद् ईश्वराद् विषमफलोत्पत्त्यनुपपत्तिः वैषम्यनैर्घृण्ये च स्याताम्. अतः कर्मणएव फलम् इति जैमिनिः मनुते ॥४०॥

पूर्व तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

‘तु’शब्दः पूर्वपक्षव्युदासार्थः. बादरायणस्तु आचार्य इतः पूर्वोक्तम् ईश्वरमेव फलदत्वेन मनुते. कुतः ? हेतुव्यपदेशात्. हेतुत्वेन श्रुतौ व्यपदेशाद् इति अर्थः. “एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते” (कौषी.उप.३।९) इति श्रुतौ न केवलं कर्मकारयितृत्वम् उच्यते अपितु फलदित्स्या तथा तथात्वम्. अतः फलदत्वम् ईश्वरस्यैव व्यपदिष्टं भवतीति न अनुपपत्तिः काचित्. ननु ईश्वरस्य स्वतः फलदाने समर्थस्य फलदित्स्यायां सत्यां कर्मकारणे को हेतुः, कार्यवैचित्यं च कथम् ? इत्यादि चोद्यं “कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः” (ब्रह्मसू.२।३।४२) इत्यत्र निरस्तम्. विद्वन्मण्डने श्रीविट्ठलेन च. अतः सकामैरपि सएव भजनीयः, न अन्य इति सिद्धम् ॥४१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लौकिकदेहाद्यपगमे इति अर्थः तस्य कर्मणः. स्वमतएव वेदोपपत्तिः न ब्रह्मवादिमते इति आह अविषमाद् इत्यादिः ॥४०॥

सूत्रार्थम् आहुः इतः इत्यादिना. अन्यद् भाष्यं स्फुटम् ॥४१॥११॥

॥इति श्रीद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीमुत-गोपालजीविरचिते

अणुभाष्यप्रदीपे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

धर्मिग्राहकप्रामाण्येन नित्यज्ञानादिमत्त्वं यथा ईश्वरस्य स्वीक्रियते तथा कर्मणः स्वर्गादिफलजनकत्वं तेनैव प्रमाणेन स्वीकर्तव्यम् इति भावः. ननु एवं चेद् अव्यवहितोत्तरं फलं कुतो न जायते ? इत्यतः आहुः आमुष्मिकेति. तौल्येऽपि जैमिनिः स्वमतः आधिक्यं सूचयति अविषमाद् इति ॥४०॥

कस्यां श्रुतौ व्यपदेशः ? इत्यतः तादृशीं श्रुतिम् आहुः एष उ एव इति. अत्र दूषणम् आहुः ननु इति. समाधानम् आहुः कृतप्रयत्नेति. अस्मिन् सूत्रे मया पूर्वमेव निरस्तम्. विद्वन्मण्डने च इति उक्त्या प्रभुचरणानाम् इयम् उक्तिः इति प्रतिभाति ॥११॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे एकादशं फलमत इति अधिकरणम् ॥११॥
इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

इति श्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरी-परमानिर्वचनीय-सरसवदन-तामरस-
रससुधाहृदावगाहि-श्रीमदाचार्यपदाब्ज-कृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजयदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामि-श्रीगोपालात्मजगिरिधर विरचिते
अणुभाष्यविवरणे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

तृतीयो अध्यायः तृतीयः पादः

पूर्वपादे जडजीवधर्मनिराकरणेन शुद्धसच्चिदानन्दविग्रहरूपत्वं ब्रह्मणो निरूपितम्. इहतु ब्रह्मगताएव धर्माः विचार्यन्ते. ते चेद् एकस्मिन् वाक्येव सर्वे पठिता भवेयुः तदा न विचारणीया भवेयुः, विरोधाभावात्. पठिताश्च तत्तदुपासनप्रकरणेषु क्वचित् तएव क्वचिद् भिन्नाः. यथा वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठम् अन्यम् अग्निं पठन्ति. “तस्य अग्निरेव अग्निः” (बृहदा.उप.६।२।१४) इति. छन्दोगास्तु पञ्चसङ्ख्यैव उपसंहरन्ति. “अथ य एतान् एवं पञ्चाग्नीन् वेद” (तत्रैव ५।१०।१०) इति. तथा प्राणसंवादे मुख्यप्राणाद् अन्यान् चतुरः प्राणान् वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि पठन्ति. वाजसनेयिनस्तु तमपि पञ्चमं पठन्ति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

साधनाध्यायस्य द्वितीयचरणानुवादपूर्वकं तृतीयचरणार्थम् आहुः पूर्वपादे इत्यादिना. शुद्धेत्यादि. जडजीवधर्माणां निराकरणेन ब्रह्मणि श्रुतिप्रतिपादितानां ब्रह्मस्वरूपनिरूपणेन विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य श्रुतिबोधितत्वेन च शुद्धसच्चिदानन्दविग्रहत्वं प्रतिपादितम् इति अर्थः. इह तृतीयचरणे. विचार्यन्ते उपासनार्थम् उपसंहारार्थं च विचार्यन्ते इति अर्थः. प्रसङ्गः सङ्गतिः. ते विरुद्धधर्माः. एकस्मिन् “आसीनो दूरं व्रजति” (कठोप.१।२।२१), “अपाणिपादो जवनः” (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादिवद् विरोधाभावात् “स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्” (भाग.पुरा.३।२८।१९) इतिवत् कालभेदेन पर्यायभेदेन च विभावने विरोधाभावाद् इति अर्थः. षष्ठं पञ्चतएव एकम् गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वपादनिरूपितम् अस्मिन् पादे सङ्गतिबोधयितुम् आहुः पूर्वपादे इति. निरूपितम् इति. तथाच एतादृशं ब्रह्म उपनिषद्वाक्यैः बोध्यम् इति भावः. इहतु अस्मिन् पादे तु. विचार्यन्ते इति. उपासनाङ्गत्वेन उपसंहारार्थं विचार्यन्ते इति अर्थः. एवञ्च उपजीव्योपजीवकभावसङ्गतिः बोध्या. ननु साधनाङ्गत्वेन तेषां धर्माणां विचारे प्रयोजनाभावः इत्यतः आहुः ते चेद् इति. विचारणीयत्वे बीजम् आहुः पठिताश्च इति. कुत्र पठिता? इत्यतः आहुः यथा इति. षष्ठम् अन्यम् इति. तथाच पञ्चाग्नयस्तु छान्दोग्योक्ताएव षष्ठम् अन्यम् इति अर्थः. ननु केन वाक्येन पठन्ति इत्यतः आहुः तस्याग्निः इति. इदं वाक्यं बृहदारण्यके पञ्चमप्रपाठके. “अथ य एतान्” (छान्दो.उप. ७।१०।१०) इति वाक्यं छान्दोग्ये सप्तमे प्रपाठके पठितम्. तथा इति. छान्दोग्ये सप्तमे प्रपाठके प्राणसंवादः. वाजसनेयिनः इति. बृहदारण्यके पञ्चमे प्रपाठके तमपि पञ्चमं पठन्ति इति अर्थः.

अपरञ्च, अथर्वोपनिषत्सु क्वचिद् गोकुलवृन्दाकाननसञ्चरद् गोपरूपम् अनल्पकल्पद्रुमप्रसूनविरचितविचित्रस्थलीककालिन्दीसलिलकल्लोलसङ्गिमृदुतर-पवनचलदलकविराजमानगण्डमण्डलद्युतिमण्डितकुण्डलप्रभानुभावितवामांस-मिलन्-मूर्धन्यमहामणिकमुरलिकामुखावलीमिलदतितरलकरकमलयुगलाङ्गुली-वशंवदविविधस्वरमूर्च्छनामोहितव्रजवरनितम्बिनीकदम्बकटाक्षकुवलयार्चितं, क्वचित् कोदण्डमण्डितभुजदण्डखण्डितप्रचण्डदशमुण्डम् अतिविचित्रचरित्राभि-रामं रामस्वरूपं, क्वचिद् अतिकरालवदनवित्रासितकमलाकमलासनवृषभास-नादिकं नृकेसरिरूपं, क्वचिद् उरुक्रमादिरूपं च निरूप्यते. तथाच द्रव्यदेवता-भेदाद् यागभेदवद् धर्माणाम् आवापोद्वापाभ्यां दृष्टादृष्टफलभेदाच्च वेद्यभेदे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकम् इति अर्थः. तं रैतम्. यागभेदवद्. तथाच द्रव्यदेवतात्मकरूपभेदेन यागभेदवद् उपासनाभेदोक्तधर्मभेदे ब्रह्मभेदः स्वीकार्यः इति एका कोटिः संशये. द्वितीयाम् आहुः धर्माणाम् इत्यादिना. मुरलीकोदण्डादिधर्माः साकारस्य. “सदेव” (छान्दो.उप.६।२।१) इति सत्त्वांशास्थूलत्वादयो निराकारस्य तयोः मध्ये एकेषाम् उद्वापेन त्यागेन इतरेषाम् आवापेन स्वीकारेण. दृष्टेत्यादि. दृष्टं फलं दर्शनम्. अदृष्टं पदप्राप्तिब्रह्मत्वादिरूपम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

एतदधिकरणविषयम् आहुः अपरञ्च इति. अथर्वोपनिषद् इति. गोकुलेत्यादिः कुवलयार्चितम् इत्यनेन श्रीकृष्णस्वरूपं, क्वचिद् इत्यादिना रामस्वरूपम् इत्यन्तेन श्रीरामं, क्वचिद् इत्यादिना नृकेसरिरूपम्, उरुक्रमादिरूपम् इति “विष्णोर्नु कम्” (ऋग्वेद२।२।२४।१) इति मन्त्रोक्तम् इति शेषः. ‘आदि’पद-ग्राह्यः श्वेताश्वतरोक्तनारायणरूपं शिवादिरूपं च गृह्यते. ‘च’कारेण विभूतीयं संगृह्यते. एवं विषयम् उक्त्वा संशयम् आहुः तथाच इति. यागभेदवद् इति. पूर्वमीमांसायाम् आमिक्षाधिकरणे “वैश्वदेव्यामिक्षा भवति”(तैत्ति.मैत्रा.सं.१।१०।१) “वाजिभ्यो वाजिनम्” (शत.ब्राह्म.२।४।४।२२) इत्यत्र यथा आमिक्षा वाजिनं च द्रव्यद्वयं विश्वदेवा वाजिनश्च इति देवताद्वयं श्रूयते इति द्रव्यदेवताभेदाद् यागभेदः तथा अत्रापि इति अर्थः. धर्माणाम् इति. मुरलीकोदण्डधरत्वादिप्रापञ्चिकानां तद्विलक्षणानां सदेकरसत्त्वादिरूपधर्माणाम् इति अर्थः. आवापोद्वापाभ्याम् इति. प्रापञ्चिकानाम् आवापेन संग्रहेण दृष्टं तत्पदप्राप्तिरूपं फलं सदेकरसत्त्वादीनाम् उद्वापेन त्यागेन अदृष्टं ब्रह्मभावरूपं फलं जायते इति फलभेदाद् ज्ञेयभेदे प्राप्ते इति अर्थः.

प्राप्ते ब्रह्मानेकत्वापत्तौ श्रुतिविरोधाद् विनिगमकाभावात् सर्वेषाम् उपासना-
विषयाणाम् अब्रह्मत्वम् आपतितम्.

ननु उपासनाविषयाणाम् औपाधिकत्वात् तेषां च अविद्याकल्पितत्वात्
तद्विशिष्टानां तथात्वं युक्तमेव, नच एवं तन्निरूपकाणां वेदान्तानाम् अब्रह्म-
परत्वप्रसङ्गः, शुद्धस्य ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वेन उपाधिविशिष्टोपासनया चित्तशुद्धौ
सत्यां स्वतएव तज्ज्ञानं भविष्यति इति एतत् तात्पर्यकत्वाद् इति चेत्, मैवम्.
समन्वयविरोधापत्तेः, तासां ब्रह्मविद्यात्वहानेश्च, श्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेश्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वेद्यभेदे तत्तदुपासनाप्रकरणोक्तधर्मैः वेद्यभेदे प्राप्ते ब्रह्मानेकत्वापत्तौ ब्रह्मणएव
उपास्यत्वेन ब्रह्मानेकत्वापत्तौ इति अर्थः. श्रुतिविरोधाद् “एकमेवाद्वितीयम्”
(यथापूर्वम्) इति श्रुतिविरोधात्. विनिगमकाभावाद् इत्यादि.

तथाच ब्रह्म सधर्मकम् उत निर्धर्मकम् उपासनाभिः तदिभन्नं वा इति संशयः.
पूर्वपक्षम् आहुः ननु उपासना इत्यादि. तद्विशिष्टानाम् उपासनाव्याक्योक्तधर्म-
विशिष्टानाम्. तथात्वम् अब्रह्मत्वम्. इति चेद् इत्यन्तः एकः पूर्वपक्षः. तं पूर्वपक्षं
दूषयन्त आहुः मा एवम् इत्यादि. समन्वयेत्यादि. तथाच उक्तरीत्या तात्पर्यबोधकत्व-
मात्रे अङ्गीकार्य उपनिषदां शक्त्या तत्सम्बन्धिधर्माः प्रतिपादकत्वेन ब्रह्मणि समन्वयो
अनुपपन्नः तादृशतात्पर्यबोधकत्वेन समन्वयोक्तौतु “सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति”
(कठोप.१।२।१५) “वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः” (भग.गीता१५।१५) इत्यादिश्रुति-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ननु अस्तु किं तावता इत्यतः प्राहुः ब्रह्मानेकत्वेति. श्रुतिविरोधाद् इति.
“एकमेवाद्वितीयम्” (महाना.उप.३।३) इति श्रुतिविरोधाद् इति अर्थः. विनिगमकेति.
उपास्यरूपेषु किं ब्रह्म किं न इति विनिगमकाभावाद् इति अर्थः. तथाच सर्वेषाम्
अब्रह्मत्वं किं वा यागवद् ब्रह्मभेदः अथवा एकमेव इति संशयः.

पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. उपासना च शास्त्रप्राप्ता चिन्तापरपर्याया सविषय-
कज्ञानरूपा मनोवृत्तिः तद्विशिष्टाणां नानाधर्माणाम् औपाधिकत्वेन अविद्याकल्पितत्वम्
अतः तद्विशिष्टस्य अब्रह्मत्वं युक्तम् इति अर्थः. ननु एवं चेद् वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं
त्वन्मते न स्याद् इति पूर्वपक्षिणम् आक्षिपति नच इति. पूर्वपक्षी निवारयति शुद्धस्य
इति. मा एवम् इति. “सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति” (कठोप.२।१५) इति श्रुतिप्रामाण्यात्
सर्वेषां वेदान्तवाक्यानाम् “अस्थूलम् अनणुः” (बृहदा.उप.३।८।८) इत्यादीनां विरुद्ध-

अपरञ्च, “योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा” (महाभा.शान्ति.२२१।२७) इति अन्यथाज्ञानं निन्दन्ती श्रुतिः कथं फलसाधकत्वेन तत्तदुपासनां वदेत्? स्पष्टार्थानां श्रुति-वाक्यानां निर्णयम् अकृत्वा सन्दिग्धार्थानां ‘ज्योतिः’ ‘आकाशा’दिशब्दानां तद्वाचकत्वं न निर्णीयाद् भगवान् व्यासः. एवञ्च सति उक्तरीत्या यागवत् तेषां परस्परं भेदश्च आवश्यकः इति उभयतः पाशारज्जुः इति प्राप्ते, अभिधीयते.

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्॥१॥ (३।३।१)

सर्ववेदान्तप्रत्ययम्. अनेकरूपनिरूपकैः सर्वैः वेदान्तैः प्रत्ययो ज्ञानं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विरोधः. तासाम् उपनिषदाम्. ब्रह्मविद्यात्वहानेः तात्पर्यबोधकतायां तात्पर्यस्य अब्रह्मत्वेन ब्रह्माबोधकत्वम् इति ब्रह्मविद्यात्वहानेः इति अर्थः. प्रतारकत्वापत्तेः ब्रह्मणि अविद्याकार्ये ब्रह्मत्वबोधने अयथार्थवक्तृत्वे प्रतारकत्वापत्तेः इति अर्थः.

दूषणान्तरम् आहुः अपरम् इत्यादिना. स्पष्टार्थानाम् उपनिषद्घटकानां ‘रामकृष्ण’दिपदानाम्. तद्वाचकत्वं ब्रह्मवाचकत्वम्. तथाच येषां ब्रह्मवाचकतायां न सन्देहः तेषां न विचारः कृतो वाचकत्वे सन्दिग्धानान्तु विचारः कृतो अतो वाचकत्वेनैव उपनिषदां समन्वयो व्यासाभिप्रेतः इति अर्थः. तेषां उपासनावाक्यप्रतिपादितधर्म-विशिष्टब्रह्मस्वरूपाणाम्. पाशारज्जुः इति भेदानङ्गीकारः आमिक्षान्यायविरोधो अङ्गीकारः “एकमेव” (छान्दो.उप.६।२।१) इति अद्वैतश्रुतिविरोधः एवं पाशारज्जुः इति अर्थः. अभिधीयते सिद्धान्तः उच्यते इति अर्थः. अनेकेत्यादि. व्यधिकरणबहुव्रीहिणा

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

धर्माश्रयब्रह्मणि तात्पर्यात् तद्विरोधापत्तेः. तासाम् इति. उपासनाविषयाणां ब्रह्मपरत्वाभावे ब्रह्मविद्यात्वहानेः च इति अर्थः. श्रुतेः इति.

प्रतारकत्वमेव आहुः अपरञ्च इति. ततः उपासनाम् इति. उपाधिविशिष्टो-पासनाम् इति अर्थः. अन्यदपि आहुः स्पष्टार्थानाम् इति. तद्वाचकत्वं ब्रह्मवाचकत्वम्. स्वकीयं मतम् आहुः एवञ्च इति. यागवद् इति. आमिक्षावाजिन-यागवद् इति अर्थः. उभयतः इति. भेदस्य आवश्यकत्वे अभेदश्रुतिविरोधः. अनावश्यकत्वे एकदेशमतवद्रूपाणाम् अविद्याकल्पितत्वापत्त्या उभयथापि दोषः इति अर्थः. समाधानम् आहुः अभिधीयते इति.

अनेकेति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः. प्रत्ययः इति. विश्वास-जनकं ज्ञानम्

यस्य तत् तथा. ब्रह्मणो अनन्तरूपत्वेऽपि यानि-यानि रूपाणि विविधैः जीवैः उपासितुं शक्यानि, तानि-तानि रूपाणि तैः-तैः वेदान्तैः निरूप्यन्तइति तावद्रूपात्मकम् एकमेव ब्रह्म इति अर्थः. तत्र हेतुः **चोदनाद्यविशेषाद्** इति. चोद्यते कर्तव्यत्वेन बोध्यते अनेन इति चोदना, विधिवाक्यम् इति यावत्. तस्य अविशेषाद् इति अर्थः. यथा एकस्मिन् अग्निष्टोमे शाखाभेदेऽपि चोदना तथैव भवति **“अग्निष्टोमेन यजेत”** (आप.श्रौत.सू.१०।२।१) इति तथा इहापि सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मत्वेनैव उपासना विधीयतइति तथा. ‘आदि’पदात् साक्षात्-परम्पराभेदेन मोक्षफलकत्वकथनमपि उपासनानाम् अविशिष्टम् इति प्रयोजनसंयोगः संगृह्यते॥१॥

भेदाद् न इति चेद् एकस्यामपि॥२॥

ननु द्रव्यदेवताभेदाद् यागभेदवद् उपास्यानां धर्मभेदेन मिथोभेदाद् उक्तहेत्वसिद्धिं **भेदाद् न इति चेद्**, इत्यनेन आशङ्क्य, तत्परिहारम् आह

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रैकदेशार्थम् आहुः **तत्तथा** इत्यन्तेन. ‘आदि’पदाद् इति. **“एकं वा संयोगरूप-चोदनाख्याविशेषाद्”** (जैमि.सू.२।४।९) इति सूत्रोक्ताः चत्वारो हेतवः अनेकरूपाणाम् ऐक्यसाधकाः बोध्याः. ‘आदि’पदाद् इति. इत्थं च सूत्रे चोदनाश्च आदययश्च इति **चोदनादीति** समाहारद्वन्द्वो अवसेयः. **प्रयोजनसंयोगः** एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि नानाप्रकारैः जातफलानां समुच्चयः॥१॥

धर्मभेदेन एकस्याम् उपासनायाम् उक्तधर्मस्य उपासनान्तरोक्तरूपेषु अभावेन. **हेत्वसिद्धिं** ‘संयोगरूपचोदनाख्याः’ इतिहेतुचतुष्टयमध्ये भेदसाधकरूपात्मकहेतोः असिद्धिम् इति अर्थः. **इत्यनेन आशङ्क्य** इतिसूत्रभागेन आशङ्क्य इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति अर्थः. इदमेव विशदयन्ति **ब्रह्मणः** इति. हेतुं व्याकुर्वन्ति **चोद्यते** इति. **यथा** इति. **इहापि** इत्यस्य अभिप्रायं कथयन्ति **सर्वेषु** इति. ‘आदि’पदग्राह्यं विशदयन्ति **आदिपदाद्** इति. तथाच चोदना च आदिश्च तत्समाहारः चोदनादिः तस्याः **अविशेषः** समानत्वं चोदनाद्यविशेषः तस्माद् इति अर्थः॥१॥

“भेदान्तेति चेन्नैकस्यामपि”. **“भेदान्तेति चेदेकस्यामपि”** इति पाठान्तरम्. सूत्रं व्याकुर्वन्ति **ननु** इति. आग्नेयो अष्टाकपालः पुरोडाशो भवति.

सूत्रकारः **एकस्यामपि** इति सूत्रावयवेन. यथा एकस्यामपि गृहीतषोडशिकायाम् अतिरात्रव्यक्तौ अगृहीतषोडशिकायाः सकाशाद् गुणाधिक्येऽपि न अतिरात्र-भिन्नयागत्वम्, अतिरात्रलक्षणकर्मैव अधिकृत्य तद्ग्रहणाग्रहणयोः विधानाद्, एवम् इहापि ब्रह्मैव अधिकृत्य तत्तद्धर्मवैशिष्ट्यावैशिष्ट्ययोः उक्तत्वाद् न ब्रह्मोपासनाभिन्नत्वम् उपासनासु. तथाच ब्रह्मधर्मत्वेन अभेदस्य विवक्षितत्वात् त्वदुक्तहेत्वसिद्धिः. एवं सति यत्र एकस्मिन् उपास्ये रूपे अन्यस्माद् रूपाद् अधिकाः गुणाः उच्यन्ते तत्र तेषाम् उपसंहारः उचितः इति भावः.

अत्र अयं विशेषो ज्ञेयः : उपासनाविषयेषु अखिलेषु अविशिष्टं ब्रह्मत्वं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

त्वदुक्तहेत्वसिद्धिः ब्रह्मधर्माणां ब्रह्माभिन्नत्वाद् धर्मिभेदसाधकधर्मभेदरूपस्य तव हेतोः ब्रह्मणि असिद्धिः इति अर्थः. **एवं सति** सर्वोपासनाविषयरूपाणां ब्रह्माद्वैते सिद्धे सति इति अर्थः. तत्र न्यूनगुणत्वेन प्रतीयमानोपासनाविषये रूपे. तेषां वाक्यान्तरो-पासनाविषयधर्माणाम्. **उपसंहारः** सामान्यतया श्रुतस्य विशेषे नियमनम्.

अत्र गुणोपसंहारे. **विशेषः** वक्ष्यमाणो विशेषः. **अखिलेषु** ब्रह्मत्वेन

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

यागवद् इति. “सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः” (तैत्ति.मैत्रा.सं.२।२।२) इत्यादौ पुरोडाशचरुभेदाद् अग्निसूर्यरूपदेवताभेदाच्च यागभेदवद् इति अर्थः. **हेत्वसिद्धिम्** इति. रूपभेदाद् हेतोः एकदेशाभावस्वरूपासिद्धिम् इति अर्थः. **एवम् इहापि** इति. “अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति” (ताण्ड्यब्राह्म.१६।१।८) “नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति” (तत्रैव) इत्यादौ उभयथा अतिरात्रौ एकः एवम् इहापि इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तथाच** इति. वेद्याभेदस्य. तथाच क्वचिद् शङ्खचक्रादिधरं क्वचिद् वेणुधरं ध्यायेद् इति अत्र धर्मभेदेऽपि धर्म्यैक्यम् इति भावः. **त्वदुक्तेति**. त्वदुक्तस्य भेदरूप-हेतोः इति अर्थः. एवञ्च गुणोपसंहारे पर्यवसानम् आहुः **एवं सति** इति. बोधैक्ये सति इति अर्थः. **उपसंहारः** इति. उप समीपे संहारः संहरणम्. तथाच तत्र प्रोक्तानां धर्माणां हेतुबलाद् आवापः इति अर्थः. ‘आवापो’ नाम तत्तद्वाक्योक्तानां गुणानाम् एतद्वाक्योक्ते विषये सत्ताम् अनुसन्धाय विषयीकरणम्. एतच्च अग्रे “न वा विशेषाद्” इत्यत्र वक्ष्यते.

ननु एवं चेत् प्राणविद्यायां ब्रह्मत्वेन उपासनायाः अभावेन वेद्यस्य ऐक्याभावात् कथं निर्णयः? इत्यतः सर्वत्रैव अयं निर्णयः इति आशयेन आहुः **अत्र** इति. **अत्र** गुणोपसंहारे **विशेषः** वक्ष्यमाणरूपो ज्ञेयः. प्रयोजकभेदबलाद् इति शेषः.

ज्ञात्वा तेषु एकतरं रूपं यः उपास्ते, तस्य तत्र सर्वे गुणाः उपसंहर्तुम् उचिताः. यस्तु अनन्तेषु विभूतिरूपेषु ‘ॐ’ इति अक्षरादिषु “ॐ इत्येतदक्षरं ब्रह्म” (कठोप.२।१५,१६) इति ज्ञात्वा उपास्ते, तस्य शाखान्तरीयापि एतदक्षरोपासनप्रकरणोक्ताएव उपसंहर्तव्याः, न अन्ये, तद्रूपम् अधिकृत्यैव तेषां गुणानां कथनात्. अन्यथा अतिप्रसङ्गात्. इयन्तु उपासनामार्गीया व्यवस्था उक्ता, भक्तिमार्गीयात् एतद्विलक्षणा, सा अग्रे वाच्या इति॥२॥

ननु अग्निष्टोममेव उद्दिश्य यावन्तो धर्माः तैत्तिरीयके पठ्यन्ते, न तावन्तो वाजसनेयके. तथाच त्वदुक्तरतीत्या वाजसनेयिनां तद्धर्मोपसंहारोऽपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपासनाविषयेषु प्राणोपासनासु च. सर्वेगुणाः सर्वेब्रह्मधर्माः. “एतदक्षरं ब्रह्म” (कठोप.२।१५-१६) इत्यत्र ब्रह्मत्वं गौणीकृत्य वर्णप्राधान्येन उपासनं बोध्यम्. एतद् अक्षरेत्यादि. एवंविधोपासनाबोधकशास्त्रोक्ताः सर्वधर्माः ईदृशः उपास्य उपसंहार्या नतु अन्यविधोपास्यधर्माऽपि अन्यथा तत्प्रकरणातिक्रमेण उपसंहारे. अतिप्रसङ्गात् प्रकरणस्य अङ्गनियामकत्वभङ्गलक्षणातिप्रसङ्गाद् इति अर्थः. अग्रे स्वाध्यायसूत्रादौ॥२॥

स्वाध्यायसूत्रे उपसंहारबाधकथनाद् उपसंहारस्य अग्रे वक्तव्यत्वेऽपि अत्र बाधप्रसङ्गेन स्मरणाद् उपसंहारनिरूपणम् इति बोधनाय सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अखिलेषु अवताररूपेषु. अविशिष्टं तुल्यम् इति अर्थः. ज्ञात्वा वेदान्तवाक्यैः अवधार्य वस्तु इति अर्थः. अन्यथा इति. प्रकरणास्वीकारे प्रकरणविरोधप्रसङ्गाद् इति अर्थः. ननु उपासनावद् ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेन विवक्षित-भक्तिनिर्णयोऽपि अपेक्षितः इत्यतः आहुः भक्तीति. अग्रे “न वा प्रकरणभेदाद्” इत्यस्य द्वितीयव्याख्याने. अतएव गोपालतापनीये “भक्तिः अस्य भजनं, तच्च इहामुत्रोपाधिनैराशयेन अमुष्मिन् सेवया मनःकल्पनम्, इदमेव नैष्कर्म्यम्” (गोपा.पू.ता.उप.१।३) इति उच्यते. “तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेद्” (तत्रैव २।१३) इति समाप्तौ कथनेन ध्यानरूपोपासनातो भक्तिविधानस्य भिन्नत्वेन उक्तम्. श्रुतौ एकस्मिन्नेव प्रकरणे माहात्म्यं प्रियत्वं च उक्तम्. तेन च माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहरूपभक्तावेव तस्याः तात्पर्यम् इति अवगम्यते. नच इह विहिताविहितभेदाद् भक्तेः द्वैविध्यम् उक्तम् इति कस्य व्यवस्था उच्यते इति वाच्यम्. नन्दादीनाम् अविहितभक्त्यापि सिद्धिकथनेन उभयोरपि व्यवस्था इति हृदयम् ॥२॥

अग्रिमं सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. त्वदुक्तरतीत्या इति. एकस्मिन् उपास्ये

न्यायो भवेद्, नतु एवं सः, शिष्टाचारादिविरोधात्, तथा पञ्चाग्निविद्यामेव अधिकृत्य उक्तोऽपि षष्ठो अग्निः न छन्दोगैः शक्यते उपसंहर्तुं, तथैव आथर्वणिकैः न एकस्मिन् रूपे रूपान्तरधर्माः इति प्राप्ते, उत्तरं पठति.

स्वध्यायस्य तथात्वेन

समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः॥३॥

स्वाध्यायो वेदः. स एकमेव कर्म शाखाभेदेन भिन्न-भिन्नप्रकारकं बोधयतीति तत्प्रयुक्तः **सम्यग्** भूते अग्निष्टोमादिलक्षणे **आचारे** तत्तदङ्गाचार-नियमो अन्यानधिककरणलक्षणे इति अर्थः. तावद्भिरेव अङ्गैः यागसम्पत्तेः अधिककरणस्य अप्रयोजकत्वात् तावतामेव अङ्गानां करणम्.

ननु उक्तं तद्धर्माणामपि उपसंहारः त्वदुक्तरीत्या सम्भवति इत्यतः आह **अधिकाराद्** इति. सर्वेषां शाखिनां स्वस्वशाखोक्तकर्मण्येव अधिकारः, न परशाखोक्तेऽपि. अतोऽपि तथा नियमः. ‘**च**’कारात् स्वशाखोक्तात् कर्मणो अतिरिक्ततत्करणे न्यूनकरणे च “**यदस्य कर्मणः**” (आप.श्रौत.सू.३।१२।१)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

रूपान्तरधर्माः इत्यस्य **उपसंहर्तुं** शक्यन्ते इति अन्वयः. सूत्रार्थम् आहुः **स्वाध्यायेत्यादि.** तथात्वेन इत्यस्य अर्थम् आहुः **एकम्** इत्यादिना. **समाचारे** इत्यस्य अर्थम् आहुः **तत्प्रयुक्तः** इत्यादि. **तत्** शाखाभेदभिन्नप्रकारकनिरूपणम्.

अधिकाराद् इत्यादिसूत्रभागं व्याकर्तुम् आशङ्कते ननु इत्यादि. **त्वदुक्तरीत्या** ब्रह्मणि त्वदुक्तधर्मोपसंहाररीत्या इति अर्थः. तथाच तैत्तिरीयशाखोक्ता अग्निष्टोमधर्माः वाजसनेयकानामपि अनुष्ठेयाः **स्युः** इति अर्थः. **तथानियमः** स्वशाखीयानामेव अनुष्ठाननियमः. **तन्नियमे** स्वशाखोक्तयावद्धर्मानुष्ठाननियमे. **अतएव** अधिकारप्राय-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अधिकगुणोपसंहाररीत्या. **तद्धर्मोपसंहारोऽपि** इति. तैत्तिरीयशाखोक्तधर्मोपसंहारोऽपि इति अर्थः. स्थलान्तरेऽपि आहुः **तथा** इति. तथाच रूपान्तरस्य धर्मोपसंहारः उचितो न भवति इति भावः. **उत्तरम्** इति. उपसंहारे शिष्टाचारविरोधः, तदभावे वैदिकसाधनं न सम्भवति इति शङ्कायाम् **उत्तरं पठन्ति** इति अर्थः.

सूत्रार्थम् आहुः **स्वाध्यायः** इति. **तत्प्रयुक्तः** इति. **नियमः** इति अग्रेण अन्वयः. नियमे बीजम् आहुः **तावद्भिः** इति.

इत्यादिप्रायश्चित्तश्रवणमपि तन्नियमे हेतुः समुच्चीयते. अतएव क्वचित् परशाखोक्तमपि व्यवस्थितविकल्पविषयत्वेन कल्पसूत्रे उच्यते. विकल्पे तु उभयस्य अशास्त्रार्थत्वम्, उपसंहारे तु उभयस्यापि शास्त्रार्थत्वम्. अतोऽपि न अत्र उपसंहारशङ्का. अत्र दृष्टान्तम् आह **सववद्** इति. यथा सवा होमाः सप्तसूर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसम्बन्धाद् अथर्वणो-दितैकाग्निसम्बन्धाच्च आथर्वणिकानामेव कार्यत्वेन नियम्यन्ते तथा तत्तच्छाखायाः तथात्वात् तत्तदुक्तएव कर्मणि तत्तच्छाखिनाम् अधिकाराच्च

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्चित्तोपदेशरूपहेत्वोः कर्माङ्गनियामकत्वादेव. **व्यवस्थितविकल्पे**त्यादि. व्यवस्थितविकल्पो नाम उभयोः एककोटिनिर्णायको विकल्पो यथा उदितानुदितहोमकल्पयोः मध्ये एकस्यैव अङ्गीकारः तेनैव च यावद् जीवम् अनुष्ठानं न तु द्वितीयस्य अङ्गीकारो यथा ब्रीहि-यवादिस्थले इति भावः. **विकल्पे** तु ऐच्छिकविकल्पाङ्गीकारे तु. **उभयस्यापि** विकल्पलब्धपक्षद्वयस्यापि. **अशास्त्रार्थत्वम्** अष्टदोषदुष्टत्वेन अशास्त्रार्थत्वम्. **उभयस्यापि शास्त्रार्थत्वं** शास्त्रेण उभयस्यापि प्राप्तिः तथाच एकमपि न स्यात् परस्पर-विरोधाद् इति भावः. **अत्र** अग्निष्टोमादौ. ननु वेदविभागात् पूर्वं शाखाधिकारिभेदानाम् असम्भवात् सकलकर्माङ्गानां सर्वकर्मसु उपसंहारः स्याद् अतः आहुः **अत्र दृष्टान्तम्** इत्यादि. तथाच अविभागदशायामपि तत्तद्वेदे तत्तच्छाखानामपि नियामकानां विद्यमानत्वात् ताभिरेव नियमसम्भवाद् न सर्वकर्मसु सर्वाङ्गोपसंहारः इति अर्थः. **सवा होमाः** आथर्वणिकानां प्रसिद्धाः. **त्रेताग्न्यनभिसम्बन्धात्** सवाहोमेषु अग्नित्रयसम्बन्धाभावात्. **तथात्वात्** तत्तच्छाखोक्तकर्मसु तत्तच्छाखोक्ताङ्गानामेव अनुष्ठानं न तु विरुद्धेतरेषाम् इति अर्थनियामकत्वाद् इति अर्थः. उपासनायामपि

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. **व्यवस्थितेति**. “उदिते जुहोति” (तैत्ति.ब्राह्म.३।८।१६) “अनुदिते जुहोति” (तत्रैव ३।८।१६।४) इति वाक्यद्वयं तैत्तिरीयशाखोक्तम्. तथाच उदितहोमिभिः अनुदिते सूर्ये होमो न कर्तव्यः. एवम् अपरैरपि इत्येव व्यवस्था कल्पसूत्रे उच्यते इति अर्थः. ननु प्रकृते किम् आयातम् अतः आहुः **विकल्पेति**. **अशास्त्रार्थत्वम्** इति. विकल्पस्य अष्टदोषग्रस्तत्वाद् इति भावः. **शास्त्रार्थत्वम्** इति. उपसंहारे उभयस्य शास्त्रार्थत्वेऽपि कर्तुं न शक्यते इति भावः. ‘सर्व’शब्दस्य होमवाचकत्वं स्वीकृत्य आहुः **होमाः** इति. अनेन कर्मणि

स्वस्वशाखोक्ताद् अन्यूनानतिरक्तकर्मकरणनियमः इति अर्थः. प्रकृतेऽपि यद्रूपोपासनाप्रकरणे यावन्तो धर्माः उक्ताः तस्मिन् रूपे तावद् धर्मवत्त्वेनैव उपासना कार्या, तद्बोधकप्रमाणानुरोधाद्, नतु रूपान्तरोपासनप्रकरणोक्ता साधारणधर्मवत्त्वेनापि. तथा सति मत्स्योपासकस्य चाप-शरादिकमपि भावनीयं स्यात्, पुरुषरूपोपासकस्य च लक्षयोजनायामशृङ्गादिकम्.

ननु अथर्वणोपनिषत्सु श्रीरामोपासनायां “यो वै ये मत्स्य-कूर्माद्य-वतारा भूर्भुवःसुवस्तस्मै वै नमोनमः”(रामो.ताप.उप.५) इतिवाक्येन तदितरा-वताररूपत्वम् उच्यते, तेन तद्धर्मवत्त्वमपि आक्षिप्यते. सत्यम्, आक्षिप्यते तद्धर्मवत्त्वम्. तत्र अयम् अभिसन्धिः. परमकाष्ठापन्नं ब्रह्मस्वरूपम् इदम् इति ज्ञात्वा हि उपासना कार्या. तेन एतस्यैव अन्ये अवताराः, तत्तद्रूपेण तानि-तानि कर्माणि अयमेव कृतवान् इति ज्ञेयं परं, नतु तस्मिन्नेव रूपे अन्यावतार-धर्मवत्त्वमपि इति. तथाच तस्मिन् तस्मिन् अवतारे तत्तद्धर्मवान् इति श्रुत्या बोध्यते, नतु सर्वत्र इति. तत्र बाधकम् उक्तमेव. प्राणाद्युपासनासु एतावान्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्तदुपास्यरूपप्रकाराणाम् अबाधकधर्माणामेव उपसंहारे नतु बाधकानामपि इति आहुः प्रकृतेऽपि इत्यादिना. तथा सति तद्बोधकप्रमाणविरोधेन रूपान्तरासाधारणधर्माणाम् उपसंहारे कृते सति इति अर्थः. लक्षेत्यादि. तथाच पुरुषोपासकस्य लक्षयोजनविस्तीर्ण-शृङ्गादि भावनीयं स्याद् इति अन्वयः. अभिसन्धिः समाधानम्. परमकाष्ठापन्नम् अवतारदशापूर्वकालीनम्. इदम् उपासनाविषयीभूतं रूपम्. अयमेव मूलस्वरूपाभिन्न-त्वेन ज्ञात उपासनागोचरएव. इति ज्ञेयं परम् इति मन्त्रे उक्तः इति भावः. नतु सर्वत्र अन्यावतारेषु तदन्यावतारधर्माणाम् उपसंहारस्तु न इति अर्थः. तत्र बाधकम् उक्तं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उपसंहारबाधकम् उक्त्वा उपासनायामपि योजयति प्रकृतेऽपि इत्यादिना. तथा सति इति. रूपान्तरासाधारणधर्मोपसंहारे स्वीकृते सति. चापेति. श्रीरामचन्द्रधर्मम् इति शेषः. शृङ्गादिकम् इति. श्रीमत्स्यावतारधर्मम् इति अर्थः.

तत्तद्धर्मविशिष्टस्यैव उपासनेतु अयं नियमो न स्वीकर्तव्यः इति शङ्कते ननु इति. समाधानम् आहुः सत्यम् इति. कार्येति. विधिविहितत्वाद् इति शेषः. अन्यावतारधर्माभावनहेतुम् आहुः तथाच इति. श्रुत्या इति. अथर्वणवेदेन इति अर्थः. सर्वत्र तत्र अभावे श्रुत्या इति क्रमस्तु उक्तएव. अन्यदपि बाधकम् आहुः तत्र इति.

विशेषः : यथा कर्मणि अतिरेके प्रायश्चित्तश्रवणं बाधकं, श्रीरामस्वरूपाद्यु-
पासनासु च तेन अवतारेण अकृतकर्मणः तत्र भावने अपराधो बाधकः
“योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम्” (महाभा.शान्ति.२२१।२७) इत्यादिवाक्यं च न
तथा प्राणाद्युपासनासु अधिकगुणस्य इतरत्र उपसंहारे किञ्चिद् बाधकं दृश्यतइति
सः कर्तुं शक्यते इति.

ननु पुरुषादिरूपस्य विग्रहस्यैव शुद्धब्रह्मत्वाद् अयमेव अवतारान्तरेष्वपि
लीलाकर्ता इति ज्ञानम् अनुपपन्नम् इति चेद्, मैवम्. धर्मिग्राहकमानेन एकस्यैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रकरणस्य तस्य नियामकत्वे प्रकरणस्य अङ्गतानियामकत्वभङ्गलक्षणातिप्रसक्तिः स्याद्
इति बाधकम् उक्तम् इति अर्थः. ननु एवम् उपासनाविषयप्राणेष्वपि शाखान्तरोक्त-
प्राणधर्मः उपसंहारो न स्याद् इत्यतः आहुः न तथा प्राणेत्यादि. अधिकगुणस्य इत्यादि.
शाखाविशेषोक्तन्यूनसङ्ख्याकप्राणे शाखान्तरोक्ताधिकसङ्ख्योपसंहारे अधिक-
सङ्ख्यायां न्यूनसङ्ख्यायाः सम्भवाद् विरोधाभावाद् न किञ्चिद् बाधकम् इति अर्थः.
शक्यते इति बाधकं सत्कर्तुं न शक्यते इति अर्थः. ननु साकारस्य सर्वादिपुरुषस्यैव
परब्रह्मणः सर्वावताररूपत्वम् उच्यते तद् न सम्भवति धर्मिभेदकानां निरूप्यमाण-
प्रकारभेदानां मूलावताररूपयोः सत्त्वाद् इत्यतः आहुः ननु इत्यादि. अनुपपन्नम्
“अन्यथा सन्तम्” (महाभा.शान्ति.२२१।२७) इति दूषणाद् अनुपपन्नम् इति अर्थः.
धर्मिग्राहकमानस्य “यदेकमव्यक्तम् अनन्तम्” (महाना. उप.१।५) इति श्रुतिरूपस्य
इति अर्थः. तथात्वाद् विरुद्धनानाधर्माश्रयत्वेन श्रुतिसिद्धत्वाद् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

कर्मकाण्डे अग्निष्टोमादिषु तच्छाखीयेतिकर्तव्यता-नियमभङ्गरूपवाचकभिया तथा
स्वीक्रियते, एवम् उपासनायामपि तथा स्वीकार्यम् इति अर्थः. ननु
शाखान्तरोक्तगुणानाम् अन्यशाखोक्ते कर्मणि उपासनायाम् उपसंहाराभावे प्राणाद्युपासने
शाखान्तरोक्तगुणोपसंहारो न स्याद् इत्यतः आहुः प्राणादीति. यथा कर्मणि अतिरेकः,
उपासनायां च अन्यथाभावं न बाधकं तथा प्राणादौ बाधकाभावाद् “अधिकन्तु”
इत्यादिन्यायेन उपसंहारः कर्तव्यः इति अर्थः. शङ्कते ननु इति. अवतारान्तरेषु इति.
मत्स्याद्यवतारान्तरेषु इति अर्थः. अनुपपन्नम् इति. “यो अन्यथासन्तम्” (महाभा.
शान्ति.प.२२१।२७) इति वाक्यादिबाधकसत्त्वाद् इति अर्थः. समादधते मा एवम् इति.
धर्मीति. “यदेकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्” (महाना.उप. १।५) इति धर्मिग्राहकमानेन

शुद्धस्यैव अनन्तरूपत्वेन सिद्धत्वात्, वस्तुनएव तथात्वाद् न काचित् शङ्का. यथा एकस्यैव अन्योन्याभावस्य अनन्तभावप्रतियोगिकतद्रूपत्वं तावत् प्रतियोगिकात्यन्ताभावरूपत्वं च अभावप्रतियोगिकान्योन्याभावः अत्यन्ताभावरूपत्वं च अभावाभावरूपत्वेऽपि अभावरूपत्वमेव च अङ्गीक्रियते, तथा इहापि अस्तु.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भेदकनानाप्रकाराणां सत्त्वेऽपि धर्मिभेदाभावे दृष्टान्तम् आहुः यथा एकस्यैव इत्यादिना. अनन्तभावेत्यादि. तथाच घटान्योन्याभावे विद्यमानाः ये पटान्योन्याभावाः ते पटभेदरूपाएव, अभावाधिकरणकाभावस्य अधिकरणरूपत्वाङ्गीकारात्. तत्तद्रूपत्वं घटभेदस्य पटादिभावप्रतियोगिताकनानाभेदरूपत्वम्. घटात्यन्ताभावाधिकरणकनानाभावप्रतियोगिकाभावानां घटात्यन्ताभावरूपत्वम् आहुः तावत् तद् इत्यादिना. एवं भेदाधिकरणकात्यन्ताभावानां भेदरूपत्वमपि. ननु अभावप्रतियोगिकाभावाधिकरणस्यैव अभावस्य अधिकरणरूपत्वं नतु भावप्रतियोगिकस्यापि इत्यतः आहुः अभावप्रतियोगिकेत्यादि. भावरूपत्वेऽपि इत्यादि. प्रतियोगितत्तावच्छेदकयोः भावरूपत्वेऽपि अभावरूपत्वं प्रतियोगिभेदात्यन्ताभावरूपत्वं च इति अर्थः. लाघवाद् इति शेषः. तथा

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति अर्थः. तथात्वाद् इति. विरुद्धधर्माश्रयत्वेन सर्वाकारत्वाद् इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः यथा इति. तद्रूपत्वम् इति. अनन्तानां घटान्योन्याभावादीनाम् अन्योन्याभावरूपत्वम् इति अर्थः. तावत्प्रतियोगिकेति. घटप्रतियोगिकात्यन्ताभावाघटप्रतियोगिकात्यन्ताभावेषु अत्यन्ताभावो घटो न इति प्रतिपाद्य प्रतियोगिकान्योन्याभावरूपत्वात्. मीमांसकानां मते अभावस्य अधिकरणरूपत्वेन नैयायिकानां मते च अभावाधिकरणकाभावस्य अधिकरणस्वरूपत्वेन च घटादिप्रतियोगिकात्यन्ताभावस्वरूपत्वम् अन्योन्याभावस्य निर्विचारम् इति अर्थः. भावप्रतियोगिकेति. भावो घटः तत्प्रतियोगिको यो अन्योन्याभावः तद्रूपत्वम् अन्योन्याभावस्य इति पूर्वेण अन्वयः. एवञ्च घटभेदाभावरूपत्वम् अन्योन्याभावस्य बोधः. ननु घटभेदाभावस्य घटत्वस्वरूपत्वेन तत्र विद्यमानस्य अन्योन्याभावस्य न तत्स्वरूपत्वम् अभावाधिकरणकत्वाभावाद् अतः आहुः भावाभावेति. भावो घटत्वतद्रूपो यो अन्योन्याभावः. तद्रूपत्वेऽपि घटरूपत्वेऽपि इति यावत्. एवं घटत्वं घटो न इति प्रतीत्या अन्योन्याभावस्य घटत्ववृत्तित्वेऽपि न घटत्वरूपत्वम् अभावाधिकरणकाभावस्यैव अधिकरणस्वरूपाद् अतः आहुः अभावरूपत्वमेव इति. तथाच घटान्योन्याभावाभावस्य

अभावत्वस्य अप्रयोजकत्वात्. धर्मिग्राहकमानस्यैव तथात्वात्. तच्च तैत्तिरीयो-
पनिषत्सु “अतःपरं नान्यदणीयसं हि परात् परं यन् महतो महान्तं, यदेकम्
अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ताद्”(महाना.उप.१।५)
इत्यादिश्रुतिरूपं प्रसिद्धमेव.

अपरञ्च, सर्वसाम् उपासनानां हि ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वेन श्रुतौ
निरूपणं क्रियते. यत्प्रकारिकोपासना विज्ञानहेतुः सः प्रकारश्च निरूप्यते. एवं
सति एकस्यां शाखायां कतिपयगुणनिरूपणं, तदितरस्यां शाखायां
तदतिरिक्तानामपि गुणानाम् इत्यत्र को हेतुः? इति पृच्छामः. उपसंहारेण

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इहापि अस्तु इति सर्वेषामपि अवताराणाम् अवतारिणश्च निरूप्यमाणप्रकारभेदानां
भेदकानां सत्वेऽपि अभेदः स्वीकृतो अस्तु इति अर्थः. **अभावत्वस्य** नानाभावानाम्
अभावरूपत्वस्य प्रतियोगितत्तावच्छेदकयोश्च अभावरूपत्वस्य इति अर्थः.
अप्रयोजकत्वाद् ऐक्यबोधकप्रबलप्रमाणत्वात्. स्वमते ऐक्यबोधकप्रमाणम् आहुः
तच्च इत्यादिना. **तच्च** धर्मिग्राहकप्रमाणञ्च.

ननु एकस्यैव ब्रह्मणः सर्वे अवताराः ब्रह्माभिन्नाश्च तदावताररूपान्तरे
अन्यावतारस्वरूपाभेदेन अन्यावतारधर्मवत्त्वेन विभावनया उपासने दोषो न स्यात् सर्वत्र
उभयलिङ्गाधिकरणे विरुद्धधर्माधारत्वस्य उक्तत्वाद् अतः एवंरीत्या विभावने
श्रुतितात्पर्यविरोधरूपं दोषं वक्तुं वादिनं प्रति आहुः **अपरञ्च** इत्यादि. **विज्ञानहेतुः**
स्वस्य ब्रह्माभेदज्ञानहेतुः. **सः** विज्ञानहेतुभूतः. **निरूप्यते** शाखाभेदेषु भिन्नो-भिन्नो
निरूप्यते. **तत्र को हेतुः** भिन्नरूपैः भिन्नरूपधर्मैश्च एकस्यैव विभावने
ब्रह्मविज्ञानसम्भवे श्रुतिषु नानाधर्मवत्त्वेन नानारूप-निरूपणप्रयासे को हेतुः इति अर्थः.
पृच्छामः एकाकारगुणैः एकरूपतया च अनिरूपणे श्रुतितात्पर्यं पृच्छामः इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अतिरिक्तमेव मीमांसकानां मते. एवञ्च तद्वृत्तिघटान्योन्याभावस्य तत्स्वरूपत्वमेव
अभावप्रतियोगिकाभावाधिकरणकाभावादिकरणस्वरूपत्वाद् इति अर्थः. एवञ्च
अन्योन्याभावस्य घटान्योन्याभावाभावस्वरूपत्वं बोध्यम्.

ननु रूपान्तरेण अयमेव लीलाकर्ता इति ज्ञाने अयमेव रूपान्तरधर्मवान् इति
ज्ञाने को दोषः? इति आशङ्कायां सर्वं विशदयन्ति **अपरञ्च** इति. **विज्ञानहेतुः** इति.
विज्ञानहेतुः इति अर्थः. **निरूप्यते** तत्तच्छाखायाम् इति शेषः. **पृच्छामः** इत्यत्र

प्राप्तिम् अनिरूपणे हेतुं चेद् ब्रवीषि, तत्र वदामः. एवं सति न्यूनगुणनिरूपिका श्रुतिः स्वोक्तानपि गुणान् न वदेत्. तथाहि उपासनानां ब्रह्मविज्ञानफलकत्वस्य निर्णीतत्वात् तस्य च एकजातीयत्वाद् घटवत् क्लृप्ताशेषसाधनसाध्यत्वाद् अशेषतन्निरूपिकैव श्रुतिः निरूपयेत्. अन्यातु उपासनायाः नाम उक्त्वा 'उपासीत' इत्येतावदेव वदेत्. गुणानाम् आक्षेपलभ्यत्वाद् न वदेत्. उपसंहार्यानपि वा वदेत्. निरूपयति च गुणान् न उपसंहार्यान्. नच स्वस्वशाखामात्राध्येतणाम् उपासनासिद्ध्यर्थं सर्वशाखासु उपासनप्रकारोक्तिः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्राप्तिम् एकरूपतायाः उक्तायाः उपास्ये प्राप्तिम्. **अनिरूपणे** सर्वशाखासु एकस्वरूपतायाः अनिरूपणे. **एवं सति** उपसंहारेण अपेक्ष्याद् उपास्यरूपाणाम् एकजातीयतालाभे सति. सर्वशाखासु उपास्यानाम् एकजातीयता अङ्गीकारे न्यूनगुणनिरूपकशाखायां स्वोक्तगुणानाम् अनिरूपणेऽपि उपासनाकरणप्रकारम् आहुः **तथाहि** इत्यादिना. **तस्य** सकलोपासनासाध्यब्रह्मविज्ञानस्य. **एकजातीयत्वात्** त्वन्मते एकजातीयत्वात्. **घटवद्** इति घटो यथा अशेषस्वजनकसमुदायसाध्यः तद्वद् उपासनापि त्वदभिमतरीत्या सकलगुणानुसन्धानसाध्यतो **अशेषगुणनिरूपकैव श्रुतिः निरूपयेद्** इत्यस्य पूर्वोपात्तो **पासनाम्** इत्यनेन अन्वयः. **अन्यातु** अन्यशाखाश्रुतिस्तु इति अर्थः. **न वदेद्** उपासनोपयोगिगुणान् न वदेद् इति अर्थः. **उपसंहार्यान्** इति. त्वन्मते उपासनायाः अशेषगुणसाध्यत्वाद् न्यूनगुणनिरूपिका सकलगुणान् निरूपयेत् स्वोक्तानपि वा न **निरूपयेद्** इति अर्थः. **स्वशाखा** इत्यत्र 'मात्र'पदेन इतरशाखाध्ययनज्ञानयोः निरासः.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

उपसंहारेण इति. उत्तरं समीचीनं न भवति इति आशयेन आहुः **तत्र वदामः** इति. **गुणान्** इति. न्यूनगुणान् इति अर्थः. इदमेव विशदयन्ति **तथाहि** इति. **तस्य च** इति. ब्रह्मज्ञानस्य सर्वगुणोपसंहारेण एकजातीयत्वाद् इति अर्थः. **घटवद्** इति. यथा सर्वसाधनसत्त्वेऽपि घटोत्पत्तिः, एवं सर्वगुणानुसन्धानेऽपि ज्ञानोत्पत्तिः इति अर्थः. **तन्निरूपिकैव** इति. गुणनिरूपकैव इति अर्थः. **निरूपयेद्** इति. तां-ताम् उपासनां निरूपयेद् इति अर्थः. **अन्यातु** इति. न्यूनगुणनिरूपिका श्रुतिः इति अर्थः. **आक्षेपेति**. गुणैः विना उपासनायाः असिद्धेः इति अनुपपत्त्या आक्षेपः इति अर्थः. आक्षेपानङ्गीकारेतु आहुः **उपसंहार्यान्** इति. श्रुतितात्पर्यान्तरम् आशङ्कते **नच** इति. 'मात्र'पदेन शाखान्तराध्ययनव्यवच्छेदः.

इति वाच्यं परशाखाऽज्ञानेन तदुक्तगुणोपसंहारस्यापि असम्भवेन उपासनायाएव असम्भवापातात्. तस्मात् स्वस्वशाखोक्तप्रकारिकोपासनायामेव सर्वेषाम् अधिकारात् तयैव ब्रह्मविज्ञानं भवति. तैत्तिरीयाणां वाजसनेयिप्रभृतीनां च अग्निष्टोमसम्पत्त्या स्वर्गइव. प्रकृते ब्रह्मैक्यात् तत्-तद्विज्ञानं ब्रह्मविज्ञानमेव. न हि रूपरसगन्धादिमत्यां भुवि पुरुषभेदेन एकस्यैव एकैकप्रकारकं यद् भूज्ञानं न तद् भूज्ञानम्. एतेन अनन्तधर्मवत्त्वं ब्रह्मणि ज्ञापितम्. तदुक्तम् “**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**” (श्वेता.उप.६।८) इति. अत्र ‘स्वाभाविकी’ इति विशेषणाद् अविद्याकल्पितत्वं शक्तीनां निरस्तम्.

केचित्तु आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रतापेक्षणाद् अन्येषां तदनपेक्षणाद् विद्याभेदः इति प्राप्ते, उच्यते. स्वाध्यायस्य एष धर्मो न विद्यायाः,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपासनासिद्ध्यर्थम् उपासनाकृतिकारबोधनार्थम्. **परशाखा अज्ञानेन** इत्यत्र अध्ययनाभावो हेतुः बोध्यः. तत् शाखान्तरम्. एतेन अनन्तशाखासु अनन्तगुणानां निरूपणेन. तद् ब्रह्मणि अनन्तधर्मवत्त्वम्.

केचित् शङ्करप्रभृतयः. **स्वाध्यायस्यैव** आथर्वणवेदोपनिषदध्ययनस्यैव इदं शिरोव्रतस्य अध्ययनाङ्गत्वं न विद्याङ्गत्वम् इति कथं ज्ञायते इति हेतुप्रश्नः. उत्तरम् आहुः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उत्तरम् आहुः **परेति**. सर्वशाखोक्तगुणोपसंहारएव उपासनाप्रयोजकम् इति तव मतम् इति भावः. उपसंहरन्ति **तस्माद्** इति. अत्र दृष्टान्तम् आह **तैत्तिरीयाणाम्** इति. **सम्पत्त्या** इति. स्वस्वशाखोक्तकर्मणा यागसम्पत्त्या यथा स्वर्गः तथा उपासनायाः ब्रह्मज्ञानम् इति अर्थः. **तत्तद्विज्ञानम्** इति. स्वस्वशाखोक्त-गुणविशिष्टताज्ञानम् इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः **न हि** इति. **न तद्भूज्ञानम्** इति. न हि इति पूर्वेण अन्वयः. एवञ्च भूज्ञानम् अस्ति इति भावः. **एतेन** इति. तथाच गुणानाम् अनन्तत्वात् सर्वोपसंहारेण ज्ञानाभावाद् उपासना न सिद्ध्येद् इति एतदर्थं तत्तच्छाखोक्तं गुणविशिष्टोपासनायाः फलेन भविष्यति इति भावः. भगवतो अनन्तगुणसत्त्वे प्रमाणम् आहुः **तदुक्तम्** इति.

स्वोक्तसूत्रव्याख्याने संशयं दूरीकर्तुं परोक्तं व्याख्यानं खण्डयितुम् अनुवदन्ति **केचित्तु** इति सूत्रार्थं वदन्ति इत्यन्तेन. **शिरोव्रतेति**. तैत्तिरीये द्वितीयाष्टके अनुवाकचतुष्टयं कारीरीयागविधायकम् अस्ति. तत्रत्यकारीरीवाक्यानि अधीयानाः

कथम् इदम् अवगम्यते? यतः तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशनपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन समामनन्ति, “नैतद-चीर्णव्रतोऽधीते” (मुण्ड.उप.३।२।११) इति च अधिकृतविषयाद् ‘एतत्’-शब्दात् ‘अध्ययन’शब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्मएव एषः इति निर्धार्यते. तस्माद् अनवद्यं विद्यैकत्वम् इति सूत्रार्थं वदन्ति.

स चिन्त्यते. नहि अस्य विद्याधर्मत्वं विद्याभेदकम्, उक्तन्यायेन अन्यत्रापि तदुपसंहारस्य वक्तुं शक्यत्वात्. नच अनुपसंहारार्थमेव अतद्धर्मत्वं बोध्यते इति वाच्यम्. उपक्रमोपसंहाराभ्यां विद्यैकत्वनिर्णयस्यैव दृश्यमानत्वाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

यतः इत्यादि. अधिकृतेत्यादि. आथर्वणोपनिषदध्येतृविषयाद् इति अर्थः. एषः शिरोव्रतधर्मः. वदन्ति सिद्धान्तिनो वदन्ति इति अर्थः.

सः चिन्त्यते सूत्रार्थः. सिद्धान्तिनो निश्चयार्थं विचार्यते. अस्य शिरोव्रतस्य. विद्याधर्मत्वम् इत्यादि. तथाच उक्तरीत्या अध्ययनधर्मत्वेन विद्याधर्मत्वं विद्याभेदकत्वं वा न वक्तुं शक्यते इति अर्थः. उक्तन्यायेन “नैतदचीर्णव्रतः” (मुण्डकोप.३।२।११) इतिरीत्या इति अर्थः. अन्यत्र अध्ययने. उपसंहारस्य शिरोव्रतोपसंहारस्य. अनुपसंहारार्थं विद्याभेदम् अङ्गीकृत्य विद्यान्तरधर्माणां विद्यान्तरे अनुपसंहारार्थम्. अतद्धर्मत्वं शिरोव्रतस्य अध्ययनाभावो विद्याधर्मत्वं च इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

तैत्तिरीया भूमौ भोजनम् आचरन्ति न अन्ये इत्याद्यनेकं विद्याभेदसाधकम् इति अर्थः. उच्यते इति. सूत्रकारैः इति शेषः. स्वाध्यायस्य अध्ययनस्य विद्यायाः, न कर्मविधायक-विद्यायाः. अत्र उपष्टम्भम् आहुः कथम् इति. विद्यैकत्वम् इति. विद्यायाः अध्ययने व्रतभेदः कर्मविधायकविद्याभेदसूचको न भवति इति भावः.

अयं सूत्रकाराभिप्रायो न भवति इति आहुः सः चिन्त्यते इति. हि यस्मात् कारणाद् अतः शिरोव्रतस्य विद्याभेदकं न इति पूर्वेण अन्वयः. तथाच विद्याभेदकं चेद् इदं व्रतम् अध्ययनस्यतु विद्यायाः इति वक्तव्यम्. तदेव नास्ति इति भावः. उक्तन्यायेन इति. “चोदनाद्यविशेषाद्” इति सूत्रेण ब्रह्मविद्यायाः एकत्वन्तु सिद्धमेव. तत्र शिरोव्रतस्य प्राणाद्युपासनायां रेतःप्रभृते “अधिकन्तु प्रविष्टम्” इति न्यायेनेव ब्रह्मविद्यासु उपसंहारस्य वक्तुं शक्यत्वाद् इति अर्थः. तथा विद्याभेदकत्वं तस्य नास्ति इति भावः. पुनः आशङ्कते नच इति. तथाच उपसंहारएव नास्ति इति भावः.

उपेक्ष्यइव भाति. ननु तदुक्तिः यथा तथा अस्तु, अतद्धर्मत्वबोधनस्य अनुपसंहारार्थकत्वे का अनुपपत्तिः ? इति चेद्, उच्यते. सूत्रस्य तदुक्तार्थत्वे हि तत्तात्पर्यकल्पना. सएव च न साधीयान्. तथाहि “**स्वाध्यायो अध्येतव्यः**” (तैत्ति.आर.२।१५) इत्यादिषु ‘स्वाध्याय’शब्दस्य वेदवाचकत्वं प्रसिद्धम्. ‘समाचार’शब्दस्य विहितक्रियावाचकत्वं च. तत्र उभयोरपि मुख्यो अर्थो बाध्यते. तस्मिन् सम्भवति तद्बाधस्तु अयुक्तः. किञ्च, एवं “**ननु अग्निष्टोममेव उद्दिश्य**” इत्यादिना उक्ताशङ्कायाः अनिवृत्तिः इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपेक्ष्यः शिरोव्रतस्य विद्याधर्मत्ववक्ता उपेक्ष्य इति अर्थः. ननु आथर्वणिकानां शिरोव्रतस्य विद्याधर्मत्वं शाबरभाष्ये उक्तं, तेन च विद्याभेदे सिद्धे सर्वोपनिषदां ब्रह्मणि उपसंहारो न स्याद् इति दूषणं भवताम् अभिप्रेतं, तत्र इष्टापत्तिः अस्माकम् अनुपसं-हारार्थमेव च शिरोव्रतस्य विद्याधर्मत्वोक्तिः यथातथास्तु प्रामाणिकत्वेन न उरीक्रियतां तथापि आह **अतद्धर्मैत्यादि**. शिरोव्रतस्य स्वाध्यायधर्मत्वाभावस्य विद्याधर्मत्वस्य च बोधनस्य इति अर्थः. **अनुपसंहारेत्यादि**. सकलोपनिषदां ब्रह्मणि उपसंहाराभावार्थकत्वे इति अर्थः. **का अनुपपत्तिः** को दोषः. **सूत्रस्य** स्वाध्यायसूत्रस्य. **तदुक्तार्थत्वे** शिरोव्रतस्य विद्याधर्मत्वनिर्णयार्थत्वे सम्भवति सति इति अर्थः. **तत्तात्पर्यकल्पना** सूत्रस्य तदुक्तार्थत्वे शिरोव्रतस्य निर्णयार्थत्वे तात्पर्यकल्पना. **सएव** उक्तः सूत्रार्थएव. तदुक्तसूत्रार्थासम्भवम् उपपादयन्ति **तथाहि** इत्यादिना. **तत्र** भगवदुक्तसूत्रार्थ-तात्पर्य-कल्पने. **उभयोः स्वाध्यायपदसमाचारपदयोः**. **तस्मिन्** मुख्यार्थे. **तद्** मुख्यार्थः. ननु तात्पर्यनिर्वाहार्थं मुख्यार्थबाधोऽपि न दोषाय इत्यतः आहुः **किञ्च** इत्यादि. एवं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

समाधानम् आहुः **उपक्रमेति**. अधिकरणस्य इति शेषः. तथाच विद्याभेदस्तु नास्त्येव.

अयं विचारस्तु अजागलस्तनायमानइव भाति इति भावः. पुनः शङ्कते **ननु** इति. **बोधनस्य** इति. शिरोव्रतम् अध्ययनधर्मः, ननु विद्याधर्मः इति बोधनस्य इति अर्थः. समाधानम् आहुः **उच्यते** इति. **तात्पर्यकल्पना** शिरोव्रतोपदेशतात्पर्यकल्पना. **सूत्रस्य** तथा अर्थएव न भवति इति भावः. तदेव विशदयन्ति **तथाहि** इत्यादिना. दूषणान्तरम् आहुः **किञ्च** इति. **अनिवृत्तिः** इति. उक्तरीत्या. उपसंहारस्य आवश्यकत्वे शाखान्तरीये कर्मणि विद्यायां च शाखान्तरीयतद्धर्मस्य अवतारान्तरे धर्मस्य प्राप्तिः इति आशङ्कायाः पूर्वोक्तायाः **अनिवृत्तिः** इति अर्थः. एतावता रूपान्तरगुणानुपसंहारे

ननु आथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते

“स होवाचाब्जयोनिः यो अवताराणां मध्ये श्रेष्ठो अवतारः को भविता, येन लोकाः तुष्टा देवास्तुष्टा भवन्ति, यं स्मृत्वा मुक्ता अस्मात् संसाराद् भवन्ति, कथं च अस्यावतारस्य ब्रह्मता भवति ? स होवाच तं हि नारायणो देव”

(गोपा.उत्त.ता.उप.१)

इति उपक्रम्य, मथुरास्वरूपं निरूप्य निगद्यते “यत्रासौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहितः” (तत्रैव२) इति. तेन अस्य अवतारस्य अशेषाव-
ताराणां मध्ये श्रेष्ठ्यं निरूप्यते. श्रीभागवतेऽपि च “एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” (भाग.पुरा.१।३।२८) इति गीयते. पूर्वोक्तरीत्या तु सर्वतुल्यता प्रतीयतइति न एकतरनिर्धारः सम्भवति. किञ्च, ब्रह्मणो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विद्यैकत्वम् उरीकृत्य मन्त्रोक्तोपासनाधर्माणां ब्रह्मणि उपसंहारानङ्गीकारे. उक्ताशङ्कायाः अग्निष्टोमस्य शाखाभेदेषु उपपादितस्य ऐक्याङ्गीकारे शाखान्त-
रोक्ताग्निष्टोमाङ्गानां तदन्यशाखीयानामपि उपसंहारेण अनुष्ठानापत्तिः इत्याकारिकायाः शङ्कायाः अनुपपत्तिः विद्याभेदः उपासनाधर्माणां भवन्मते अनुपसंहारवत् शाखाभेदे च अग्निष्टोमभेदे प्राप्ते अग्निष्टोमधर्मोपसंहाराशङ्कायाएव अनुदयाद् इति उक्तं स्वरूपभेदं स्फुटीकर्तुम् आरभन्ते ननु आथर्वणेत्यादि. तापनीयश्रुत्यर्थप्रसिद्ध्यर्थं श्रीभागवतवाक्यम् आहुः “एते चांशकलाः” इति. पूर्वोक्तरीत्या “यदेकमव्यक्तम्” (महाना.उप.१।५) इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या. सर्वतुल्यता सर्वेषाम् अवताराणां तुल्यब्रह्मरूपता. एकतर-
निर्धारः एको धर्म्यवतारः इतरे अंशकलावताराः इति एकतरनिर्धारः. “निष्कलं शान्तम्” (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिश्रुत्या अवतारधर्माणाम् उपसंहारानुपसंहारचिन्तैव अपार्था इति आहुः किञ्च इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

रूपभेदस्य नियामकत्वम् उक्तम्.

इदानीं रूपभेदनार्थं ततद्भेदरूपं निरूपयितुं पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. स्पष्टार्था इयम् उपनिषत्. पुराणवाक्यम् उदाहरन्ति श्रीभागवतेति. पूर्वपक्ष्याशयम् आहुः पूर्वोक्तेति. “यदेकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्” (महाना.उप.१।५) इति रीत्या इति अर्थः. तथाच उपनिषदि श्रीकृष्णस्य श्रेष्ठ्यं “यदेकम्” इतिश्रुतौ अनन्तरूपत्वं

निरवयवत्वेन एकस्य अंशित्वम्, अन्येषां तदंशत्वम् इत्यपि वक्तुम् अशक्यम् इति प्राप्ते, अभिधीयते. “सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः” (भाग.पुरा.१०।८६।१५), “विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्” (तत्रैव १०।२४।४) इत्यादिवाक्यैः अप्राकृतो भगवत्स्थानभूतः ‘सत्त्वं’नामा भगवद्भ्रमरूपेण कश्चन अस्ति. यादृशेन रूपेण भगवान् कार्यं कर्तुम् इच्छति तादृग्रूपं तं प्रकटीकृत्य तस्मिन् स्वयम् आविर्भूय अयःपिण्डे वह्निवत् तत्तत्कार्याणि करोति यस्मिन्-यस्मिन् अवतारे सः-सो अंशः इति उच्यते. तत्र हि विग्रहः तत्र आविर्भूतं ब्रह्मस्वरूपं च प्रतीयते. विग्रहस्य सत्त्वात्मकत्वेन धर्मरूपत्वात्, तत्र आविर्भूतस्यैव ब्रह्मत्वात्, समुदितस्य अवतारत्वेन गणनात् तत्र एकस्यैव अंशस्य तद्रूपत्वं यत् तदेव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति प्राप्ते इति पूर्वपक्षे प्राप्ते. विशुद्धसत्त्वं प्राकृतगुणत्रयघटकसत्त्वा-पेक्षयातिरिक्तं ब्रह्मस्वरूपघटकं सत्त्वम्. कार्यं कर्तुम् “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादिश्रुत्युक्तं कार्यं कर्तुम् इति अर्थः. तादृग्रूपं तं स्वरूपघटकं शुद्धसत्त्वम्. प्रकटीकृत्य मूर्तित्वेन आविर्भाव्य. सः-सः इति. सः सो अवतारो ‘अंश’पदेन उच्यते इति अर्थः. तत्र हि अवतारे हि इति अर्थः. समुदितस्य विग्रह-तत्राविर्भूतोभयरूपस्य. तत्र अवतारे. एकस्यैव अंशस्य सत्त्वे शुद्धे आविर्भूतांशस्य. तद्रूपत्वं ब्रह्मस्वरूपत्वम्. तदेव अंशत्वम् एको मूर्तिभागो अपरः आविष्टभागः इति तद्ब्रह्मस्वरूपमेव ‘अंश’पदेन व्यवहियते इति अर्थः. धर्मिस्वरूपपरब्रह्माविर्भावं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रतिपादितम् इति विशेषः. ब्रह्मणः निष्कलत्वेन निरवयवत्वेन अंशांशिभावोऽपि न सङ्गच्छते इति एकतरनिर्द्धारासम्भवात् तद्वद्भूमौपसंहारचिन्तायाः अनुपयोगात् पूर्वोक्तपूर्वपक्षस्य भवन्मतेऽपि तादवस्थ्याद् मतान्तरीयं व्याख्यानं समीचीनम् इति पूर्वपक्ष्याशयः. समाधानम् आहुः अभिधीयते इति. अप्राकृतः इति. सत्त्वरजस्तमसां प्रकृतिगुणानां मध्ये यः सत्त्वगुणः तदन्यतः इति अर्थः. सत्त्वनामा इति. इदमेव विशुद्धसत्त्वम् इति उच्यते. तच्च द्रव्यस्वरूपं स्वसत्ताभासकं द्रव्यं त्रिगुणाद् विलक्षणम् इति उक्तम् सत्त्वरूपधर्मेण अंशान् साधयन्ति यादृशेन इति. ननु अयःपिण्डवह्निरेव तत्त्वं सत्यमितियधमत्रांशत्वतः (?) आहुः तत्र हि इति. यतो देवांशत्वम् इति यः विग्रहः सः सत्त्वं तत्र आविर्भूतं ब्रह्म तस्यैव अंशत्वम् उच्यते इति अर्थः. सत्त्वात्मके शरीरे अलौकिकतेजसः सर्वदा सङ्क्रमः अवतारः. कार्यकाले सङ्क्रमः आवेशः इति निबन्धे

अंशत्वम्. यत्र अधिष्ठानम् अनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्धं साकारं ब्रह्म आविर्भवति भक्तार्थं, सः स्वयं पूर्णो भगवान् उच्यते. एतदेव च श्रेष्ठ्यम्. अतएव सर्वतः पाणिपादान्तत्वं स्वस्मिन् स्फुटं ज्ञापयितुं तोकादिभावेन आविर्बभूव. तेन यादृग् यादृग् लीलाविशिष्टं यद्-यद्बाल्यपौगण्डाद्यवस्थाविशिष्टं तत्तद्रूपं नित्यमेव इति वयं जानीमः. नच एवं सच्चिदानन्दविग्रहोक्तिः सर्वत्र विरुद्धा भवेद् इति वाच्यम्, सत्त्वस्यापि भगवद्धर्मत्वेन सच्चिदानन्दरूपत्वाद् अविरोधात्. मन्त्राद्यधिष्ठातृरूपाणितु विभूतिरूपाणि. एतच्च यथा तथा भक्तिहंसे प्रपञ्चितम्. तत्त्वं च “प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वाद” (ब्रह्मसू.३।२।२८) इति न्यायेन.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

साकारं विवृण्वन्ति यत्र अधिष्ठानेत्यादिना. अतएव यतएव साकारं पूर्णं तद् ब्रह्म अतएव इति अर्थः. तोकादिभावेन इत्यादि. तथाच यदा-यदा यादृग्-यादृक् पाणिपादादिपरिमाणानि प्रतीयन्ते तानि च तथैव ब्रह्मस्वरूपनिष्ठानि इति “सर्वतः” (श्वेता.उप.३।१६) इति श्रुत्या बोध्यते. इदमेव उलूखलबन्धने मुखव्यादाने ब्रह्ममोहे नारदमोहे च प्रत्यक्षतएव श्रुत्युक्तार्थः प्रतीतिगोचरः आस्तिकानाम्. ननु आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिमते नित्यावबोधस्य नित्यतोकादिभावस्य सत्त्वाघटितस्वरूपतया ब्रह्मणः सच्चिदानन्दत्वोक्तिः विरुद्धा स्याद् अतः आहुः नच एवम् इत्यादि. सर्वत्र श्रुतिषु भगवद्धर्मत्वेन इत्यादि. तथाच विशिष्टस्यैव धर्मिरूपत्वाङ्गीकाराद् नतु उभय-रूपत्वानुपपत्तिः इति भावः. मन्त्राधिष्ठानरूपाणि मन्त्रजपादिना जापकपश्यतां प्राप्तानि रूपाणि इति अर्थः. विभूतिरूपाणि परब्रह्मणः इतरानधीनत्वेन मन्त्राद्यधीनत्वासम्भवाद् विभूतिरूपाण्येव इति अर्थः. भक्तिहंसे प्रपञ्चितं भगवतः सर्वात्मत्वेन गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

स्पष्टम्. श्रेष्ठत्वबोधनार्थं केवलं ब्रह्मस्वरूपम् आहुः यत्र अधिष्ठानम् इति. अतएव इति. आविर्भूतस्य साकारब्रह्मत्वादेव तोकादितिवत्सापहरणे, रासे एकमौहूर्तिक-नानास्त्रीवाहे, नारदपरीक्षायां च तोकप्रौढराजभावेन बहुधा प्राकट्याद् इदमेव मूले रूपतत्त्वम् इति ज्ञायते इति अर्थः. सिद्धम् आहुः तेन इति. तोकादिभावे जृम्भाख्या-दानादिलीलाप्रदर्शनेन. आशङ्कते नच इति. एवं सत्याधिष्ठानत्वे सर्वत्र सर्वावतारेषु. समाधानम् आहुः सत्त्वस्यापि इति. तथाच अधिष्ठानस्यापि सच्चिदानन्दस्वरूपत्वाद् इति भावः. विभूतीनां व्यवस्थाम् आहुः मन्त्रादीति. प्रपञ्चितम् इति. श्रीगोस्वामि-कृतभक्तिहंसविवरणेऽपि प्रपञ्चितं ज्ञेयम्. विभूतीनां स्वरूपम् आहुः तत्त्वम् इति. तत्र-

भगवद्धर्माणामपि सच्चिदानन्दरूपत्वाद् हीनाधिकारिणामपि उपासकानां फलप्रेप्सूनां तत्-तत्फलदानार्थम् ऐश्वर्यादिरूपेण तत्र-तत्र स्थितत्वमेव.

ननु एकस्यैव शुद्धस्यैव अनन्तरूपत्वं भवतैव उक्तम्, अतो मत्स्यादिरूपेष्वपि न अधिष्ठानत्वेन सत्त्वं वक्तुं शक्यम्. किञ्च, एवं निराकार-स्वभावत्वं ब्रह्मणः सिध्यतीति सत्त्वाव्यवहितप्राकट्योक्तिरपि अनुपपन्ना इति चेद्, मा एवं, सत्त्वाधिष्ठानत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वेन अनपनोद्यत्वात्. तच्च उक्तं “यदेकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्” (महाना.उप.१।५) इत्यादि. प्राकट्यं हि भक्तिनिमित्तकम्. सा तु बहुविधा इति तदनुरूपं प्राकट्यमपि तथा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्प्रतिपादकैश्वर्यादिभावसम्भवाद् इति प्रपञ्चितम् इति अर्थः. तत्त्वं च विभूतिरूपं च इति अर्थः. तत्र-तत्र उद्गीथादिरूपेषु. स्थितत्वमेव विभूतिरूपत्वमेव इति अर्थः.

क्वचित् शुद्धस्य धर्मिणः क्वचित् कलायाः क्वचिद् अंशस्य अवताररूपता इति प्रकारत्रयम् असहमानः शङ्कते ननु इत्यादिना. एवं धर्म्यवतारः आनन्दस्य आकार-समर्पकतावद् अवतारान्तरेषु सत्वस्य आकारसमर्पकता इत्यस्य अनङ्गीकारे. ब्रह्मणः धर्म्यवतारातिरिक्तावताररूपब्रह्मणः धर्म्यवतारः आनन्दस्यैव आकारसमर्पकत्वाद् इति बोध्यम्. प्राकट्योक्तिः अंशकलावताराणां प्राकट्योक्तिः. समाधानम् आहुः मैवम् इत्यादिना. सत्त्वाधिष्ठानत्वस्य इत्यादि. धर्मिणि सत्वधर्मस्य अधिष्ठानतानन्द-आकारसमर्पकः इतरावतारेषु सत्वमेव अधिष्ठानरूपम् आकारसमर्पकम् इतिरीत्या अनन्तेष्वपि रूपेषु साकारत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वेन साकारानन्तरूपत्वस्य अनपनोद्यत्वात्. तच्च साकारानन्तरूपत्वे प्रमाणं च इति अर्थः. प्राकट्यं हि ब्रह्मस्वरूपाणां प्राकट्यं हि. सा बहुविधा भक्तिः बहुविधा. सकामनिष्कामभेदेन कामानां भेदेन च इति अर्थः. तदनुरूपं भक्त्यनुरूपम्. तथा व्यवहिताव्यवहितभेदेन नानाविधम्. उपाध्यन्तरि-तेत्यादि. तथाच कामनोपाध्यन्तरितस्नेहवत्वात् तेषां तान् प्रति रूपप्रादुर्भावोऽपि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तत्र उद्गीथादिरूपेषु.

एवं रूपत्रयविभागे शङ्कते ननु इति. किञ्च एवम् इति. एवं सत्वस्य अधिष्ठानत्वेन साकारत्वे. सत्त्वाव्यवहितेति. सत्त्वाधिष्ठानत्वेति अर्थः. समाधानम् आहुः मा एवम् इति. प्रमाणम् आहुः तच्च उक्तम् इति. कुत्र कथं प्राकट्यम्? इति आशङ्कायाम् आहुः प्राकट्ये हि इति. तथाच भक्तिप्रभेदाद् रूपभेदः इति भावः. ननु

सर्गादिकार्येषु अधिकृतानां भक्तानाम् इतरासक्तिरपि अस्तीति उपाध्यन्त-
रितस्नेहवत्त्वाच्च अनन्तरूपत्वेन मत्स्यादिरूपोऽपि तदर्थं तद्व्यवहितएव
प्रकटीभवति. येतु भगवत्स्वरूपमात्रासक्ताः तदर्थं स्वयमेव अतद्व्यवधानेन
प्रादुर्भवन्ति. एतेनैव निराकारत्वशङ्कापि निरस्ता. एतेन सोपधिस्नेहवदर्थमेव
मत्स्यादिरूपप्राकट्यस्य प्रमाणसिद्धत्वाद् निरुपधितद्वदर्थमेव श्रीव्रजनाथ-
प्राकट्यस्यापि तथात्वात् सोपाधिस्नेहवत्स्वपि पुरुषार्थदानस्य आनुषङ्गिकत्वात्
“**पुरुषविधः**” (तैत्ति.उप.२।५) इति श्रुतेश्च एतदेव रूपं “**रसो वै सः**” (तैत्ति.
उप.२।७) इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यं निरुपधिस्नेहवतां विषयः. इदमेव च श्रैष्ठ्यम्.
मत्स्यादिरूपन्तु सोपाधितद्ववतामेव तथा. तादृक्तद्ववताम्* अर्थएव प्राकट्याद्
इति अध्यवसीयते. एवं सति गुणभेदस्य अप्रयोजकत्वात् सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सत्वोपाधिव्यवधानेनैव इति बोध्यम् अन्यथा तेषां स्वरूपलाभः स्याद् नतु काम्यफल-
लाभः इति अर्थः. **तद्व्यवहितः** सत्वोपाधिव्यवहितः. **स्वयमेव** आनन्दरूपएव. **अत-**
द्व्यवधानेन मलिनसत्त्वाव्यवधानेन. एतेन अधिकारिभेदेन प्राकट्यभेदनिरूपणेन इति
अर्थः. **निरुपाधितद्वदर्थं** निरुपाधिस्नेहवद् अर्थम्. **तथात्वाद्** निरुपाधिस्नेहवद्
भक्तार्थत्वात्. **तथा** फलदातृ. एवं सति नानाविधभक्तिभेदैः नानारूपैः एकस्यैव
प्रकटीभावे सति इति अर्थः. **गुणभेदस्य** तत्तत्स्वरूपनिष्ठधर्मभेदस्य. अप्रयोजकत्वाद्
धर्मिभेदप्रयोजकत्वासम्भवाद्. **सर्ववेदान्तेति** निखिलनानारूपप्रतिपादकसर्ववेदान्तः।३।

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भक्तिभेदः कथं ज्ञातव्यः? इत्यतः आहुः **सर्गेत्यादि प्रादुर्भवति** इत्यन्तेन. **एतेनैव** इति.
तथाच प्रपञ्चवैलक्षण्यस्य पूर्वपादान्ते उक्तत्वाद् लौकिकाकाराहित्येनैव निराकारत्वं
नतु यथावद् आकारशून्यत्वं ब्रह्मणः इति अवगन्तव्यम्. इदानीं श्रीकृष्णे श्रैष्ठ्यम्
अन्यत्र तदभावं च आहुः **एतेन सोपधीति. अवसीयते** इत्यनेन अन्यः. **तथात्वाद्**
इति. गोपालतापनीयप्रमाणसिद्धत्वात्. ननु कृष्णे सोपधिस्नेहवतां कथम्? इत्यतः आहुः
सोपधिस्नेहवत्सु इति. अवन्तीमथुराद्वारकास्थेषु इति अर्थः. निरुपाधिस्नेहवताम् आहुः
पुरुषेति. तैत्तिरीये आनन्दमयनिरूपणे “**स वा एष पुरुषविधएव**” (तैत्ति.उप.२।२)
इत्यादिना उक्तम्. **इदमेव** इति. अधिष्ठानव्यवहितकेवलानन्दमयतया मुख्याधिकारि-
प्रश्नविषयत्वम् इति अर्थः. **अवसीयते** श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तथाविधोक्त्या निश्चीयते.

* ‘तद्वतोर्य’ इति पुरु.पाठः.

ब्रह्माणो निष्प्रत्यूहम् ॥३॥

दर्शयति च ॥४॥

वेद्यैकत्वेन विद्यानाम् एकत्वं श्रुतिः दर्शयति “सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति” (कठोप. २।१५) इत्यादिना. उपासनाप्रकारभेदेन उपास्यभेददर्शने दोषं च दर्शयति. “यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति” (तैत्ति. उप. २।७) इति. ‘उद्’ इति अव्ययम् अप्यर्थकम्. तथाच, ‘अरम्’ अल्पमपि अन्तरं कुरुते इति अर्थः ॥४॥

उपसंहारो अर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च ॥५॥

ननु पूर्वसूत्रोक्तरीत्या गुणोपसंहारो न क्वचिदपि प्राप्तावसरः इति सिद्धम्. दृश्यते च उपसंहारः श्रीरामोपनिषत्सु “यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवताराः” (रामोत्त. ताप. उप. ५) इत्यादिना उक्तावताररूपत्वस्य श्रीरामे “नमस्ते रघुवर्याय

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विद्यानां नानास्वरूपप्रतिपादकोपनिषदाम्. एकत्वम् एकार्थप्रतिपादकत्वम्. दोषम् “अथ तस्य भयं भवति” (तैत्ति. उप. २।७) इति भयरूपं दोषं संसारसम्बन्धरूपम् ॥४॥

पूर्वसूत्रोक्तरीत्या स्वाध्यायसूत्रोक्तरीत्या. गुणोपसंहारः अवतारान्तर-धर्माणाम् अवतारान्तरेषु उपसंहारः. श्रीरामे इति. तथाच मत्स्यकूर्माद्यवतारत्वस्य श्रीरामे

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धम् आहुः गुणभेदस्य इति. तत्तद्रूपगुणभेदस्य वेद्यभेदाप्रयोजकत्वाद् इति अर्थः ॥३॥

अधिकरणान्तरम् आहुः दर्शयति च इति. सूत्रार्थम् आहुः वेद्यैकत्वेन इति. प्रमाणम् आहुः सर्वेति. दोषे तैत्तिरीयं वाक्यं सप्रमाणम् आहुः यदा इति. उदिति. एतस्मिन् उदरम् इति अत्र उद् अरम् इति पदच्छेदः. उदिति अव्ययम् अप्यर्थकम्, अरम् इति अल्पार्थकम्. तथाच अर्थम् आहुः तथाच इति. अत्र शङ्कराचार्य-रामानुज-तविचारः प्रकाशे अनुसन्धेयः. विस्तरभयाद् विरम्यते ॥४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. उक्तरीत्या इति. कर्मकाण्डे अग्निष्टोमादौ तैत्तिरीयाणां वाजसनेयिकर्मधर्मोपसंहारो नास्ति. एवम् उपासनाकाण्डे एकस्मिन् रूपे रूपान्तरधर्मोपसंहारो नास्ति इति रीत्या इति अर्थः. पूर्वपक्षी वदति दृश्यते इति. रघुवर्यत्वादेः इति. दृश्यते इति. उपनिषत्सु तापनीये. उक्तावताररूपत्वस्य मत्स्यावताररूपत्वस्य श्रीरामे अनुपसंहारो दृश्यते इति पूर्वेण अन्वयः एवं श्रुतौ उक्त्वा पुराणे श्रीभागवते अक्रूरस्तुतौ अस्य आह नमस्ते. रघुवर्यत्वादेः इति पूर्वेण अन्वयः.

रावणान्तकराय च” (भाग.पुरा.१०।४०।२०) इत्यादिषु ‘ते’ इति युष्मच्छब्द-विषये श्रीब्रजनाथे रघुवर्यत्वादेः इति आशङ्क्य, तत्प्रयोजकं रूपम् आह **उपसंहारः** इत्यादिना. उक्तस्थलादिषु यः उपसंहारः, सत्त्वर्थस्य पदार्थस्य भगवत्लक्षणस्य उभयत्रापि अभेदाद् इति अर्थः. ननु एवं सति मत्स्ये शरचापादिकं पुरुषे च शृङ्गादिकं भावनीयं स्याद् इति चेद्, तत्र आह **विधिशेषवद्** इति. यथा विधिविशेषाणाम् अग्निहोत्रादीनाम् अग्निहोत्रत्वादिलक्षणे धर्मे समानेऽपि सति स्वस्वशाखोक्तप्रकारकस्यैव करणं, न अन्यशाखोक्तधर्मोपसंहारः, एवम् इहापि तत्तदवतारोपासकस्य तत्तदसाधारणधर्मवत्वेनैव उपासनं, न अन्यावतारधर्म-वत्वेनापि इति अर्थः. यद्वा मत्वर्थीयो ‘वत्’प्रत्ययो अत्र. तथाच विधिशेषो अर्थवादः, तद्वत् तत्समानञ्च भवति यत्, तत्र च उपसंहारः इति अर्थः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपसंहारात् पूर्वसिद्धं विरुद्धम् इति अर्थः. इति **आशङ्क्य** इति आशङ्कायां प्राप्तायाम्. **तत्प्रयोजकम्** इतरधर्माणाम् अत्र उपसंहारे प्रयोजकम्. **एवं सति** भगवद्रूपार्थम् ऐक्यस्य उपसंहारे प्रयोजकत्वे सति. **विधिविशेषाणां** विधिवाक्यश्रवणानन्तरं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आशङ्क्य पूर्वसूत्रोक्तं सम्यक् न भवति इति आशङ्क्य इति अर्थः. **तत्प्रयोजकम्** इति. उपसंहारप्रयोजकम् इति अर्थः. **उक्तस्थले**ति. रामतापनीये “अभेदाद्” इति स्तुत्यारम्भे अक्रूरस्य भगवति परब्रह्मत्वेन ज्ञानम् उक्तम्. तथाच उभयत्रापि अभेदज्ञानाद् उपसंहारः कार्यः इति अर्थः. अत्र पूर्वोक्तम् आशङ्कते ननु इति. **भावनीयम्** इति. इदम् उपलक्षणम्. अग्निहोत्रादिषु सर्वशाखोक्तधर्मकरणापत्तिः स्याद् इति सूत्रांशव्याख्यानेन आशङ्कां निवर्तयन्ति **यथा** इति. “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” (मैत्रा.उप.३।६।३६) इति विधिः. तस्य शेषाणां “**विद्युदसि**” (.....) इत्यारभ्य “**वृषिरसि**” (.....) इत्यन्तानामपि होत्रादीनां कर्मणाम् इति अर्थः. **समानेऽपि** इति. अग्निहोत्रत्वं सर्वशाखोक्ताग्निहोत्रहोमे वर्तते इति भावः. परन्तु आचरणं भिन्न-भिन्नम् इति आहुः **स्वस्वे**ति. **एवम् इहापि** उपासायामपि इति अर्थः. तथाच श्रीरामे तत्तदवतारत्वम् अस्तु परन्तु उपासकैः यत् कर्तव्यं तद् आहुः **तत्तद्** इति. सुबोधिनीम् आश्रित्य व्याख्यानानन्तरम् आहुः **यद्वा** इति. **मत्वर्थीयः** इति. विधिशेषवान् इति अर्थः. सर्वार्थवादः इति आहुः **तथाच** इति.

* तद्वत् तत्समानम्” इति पुरु.पाठः.

अत्र एवं ज्ञेयम् : एकस्यां श्रुतौ यस्य कर्मणो यत् फलम् उच्यते तदितरस्यां तस्यां तस्यैव कर्मणः तदितरत् फलम् उच्यते. एवं सति द्वितीय-श्रुत्युक्तफलकामनयापि तदेव कर्म कर्तव्यं भवतीति तत्फलसाधकत्वस्य उपसंहारः. यथा “यद् वैश्वदेवेन यजते, प्रजाएव तद् यजमानः सृजते” (तैत्ति. ब्राह्म. १।४।११) इति एका श्रुतिः अस्य यागस्य प्रजाफलकत्वम् आह. “यद् वैश्वदेवेन यजते, अग्निमेव तत् संवत्सरम् आप्नोति, तस्माद् वैश्वदेवेन यजमानः संवत्सरीणां स्वस्तिम् आशास्त इत्याशासीत्” (तैत्ति. ब्राह्म. १।४।११) इति द्वितीया श्रुतिः आह तत्रोक्तरीतिः इति.

यत्तु विधिशेषाणाम् अग्निहोत्रादिधर्माणां तदेव एकम् अग्निहोत्रादिकर्म सर्वत्र इति अर्थाभेदाद् उपसंहारः इति. तद् न साधु, अग्निहोत्रादेः तत्तच्छाखिनां स्वस्वशाखोक्तप्रकारकस्यैव करणाद् अतिरेके प्रायश्चित्तश्रवणाद् न अन्य-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जायमानबोधविषयाणाम्.

तद्वत्समानं च इति. तथाच “धर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजौ” (.....) इत्याद्यर्थवादानां नानाशाखीयदर्शपूर्णमासादिषु यथा स्तावकत्वेन उपसंहारः तद्वद् इति एको अर्थः. अथवा तादृशार्थवादवत् समानं कर्मफलद्वये समानं. तत्र कर्मणि फलद्वयजनकत्वस्य उपसंहारः इति अर्थः. तदेव उपपादयन्ति तत्र उक्तरीतिः इत्यादि.

एवं च ‘अर्थाभेदाद्’ इत्यत्र धर्माभेदाद् इति अर्थः. ‘समाने’ इत्यत्र फलद्वये

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इदमेव विशदयन्ति अत्र एवम् इत्यादिना. तत्फलसाधकत्वस्य इति. इतर-श्रुत्युक्तफलान्तरसाधकत्वस्य पूर्वश्रुत्युक्तकर्मणि उपसंहारः कार्यः इति अर्थः. अत्र उदाहरणम् आहुः यथा इति. इदं श्रुतिद्वयं तैत्तिरीयब्राह्मणप्रथमकाण्डे पठितम्. तत्र ‘चातुर्मास्य’ नामकयागे प्रथमपर्व-‘वैश्वदेवा’ख्यं कर्म तस्य फलद्वयं बोधितं, तत्र उत्तर-फलस्यापि उपसंहारो विहितो यथा तथा उपासायामपि यत्र फलद्वयं श्रूयते तत्रोक्तरीतिः इति अर्थः. वेस्त्वभेदेऽपि ब्रह्मरूपेण भावेन निरूपणप्रकारो बाधकः इति उक्तशङ्कानिवृत्तिः. तत्तद्रूपेण भावेन अनुपसंहारो नास्ति. फलद्वयेऽपि उपसंहारः कार्यः इति सर्वं सुस्थम्.

परोक्तं व्याख्यानम् आहुः यत्तु इति. दूषयन्ति तन्न साधु इति. सतु प्राणादि-विद्यासु पञ्चमस्य इतरतः षष्ठस्य अग्रे उपसंहारो न स्याद् अतः आहुः प्राणादीति. न किञ्चिद् इति. प्रायश्चित्तश्रवणादिकम् इति अर्थः.

शाखोक्तधर्मोपसंहारः शक्यवचनः. प्राणाद्युपासनासु अधिकगुणस्य इतरत्र उपसंहारे न किञ्चिद् बाधकं दृश्यतइति तत्र सः कर्तुं शक्यते इति ‘च’कारेण तदादयः सङ्गृह्यन्ते. वस्तुतस्तु पूर्वसमुच्चयार्थः ‘च’कारः. शाखान्तरोक्त-धर्मोपसंहारप्रयोजनाभावस्य “स्वाध्यायस्य तथात्वेन” (ब्रह्मसू.३।२।३) इत्यत्र निरूपितत्वाद्. उपसंहारबीजम् अनेन सूत्रेण उक्तम्॥५॥

अन्यथात्वं शब्दाद् इति चेद् न अविशेषात्॥६॥

ननु उपासनासु उक्तन्यायेन गुणोपसंहारो हि उपास्यानां ब्रह्मत्वेन ऐक्ये सति भवति. मिथोविरुद्धानां गुणानां शान्तत्व-कूरत्व-तपोभोगादीनाम् उपसंहारे क्रियमाणे स्वरूपाणाम् अन्यथात्वम् अब्रह्मत्वं स्याद् इति अर्थः. तत्र हेतुः शब्दाद् इति. एकत्वैकरसत्वादिधर्मनिरूपकश्रुतेः इति अर्थः. समाधत्ते न अविशेषाद् इति. एकरसत्वं यथा श्रुतिबलाद् निर्णीयते, तथा विरुद्धधर्मवत्त्वमपि ततएव तथा इति अर्थः. तेन वस्त्वेव तत् तादृङ् मन्तव्यम् इति भावः॥६॥

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत्॥७॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

समाने. ‘च’ फलद्वयजनकत्वस्य ‘उपसंहारः’ इति अर्थः. तदादयः प्राणविद्यादयः. संगृह्यन्ते इति. तथाच “अधिकं प्रविष्टं ननु तद्भानिः” इतिन्यायाद् अधिकग्रहणेऽपि मूलसंख्यायाः अबाधने प्रकृतवैगुण्याभावात् संगृह्यन्ते इति अर्थः. पूर्वसमुच्चयार्थः अभेदे उपसंहारसमुच्चयार्थः इति अर्थः॥५॥

अब्रह्मत्वं विरुद्धधर्माणां धर्मिभेदकत्वाद् इति अर्थः॥६॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

वस्तुतस्तु इति. पूर्वसमुच्चयार्थः इति. पूर्वोक्तस्थार्थभेदस्यैव समुच्चयार्थः इति अर्थः. तथाच एतादृश्याः आशङ्कायाः समाचारसूत्रविचारादेव निवृत्तिः इति भावः. ननु पूर्वपादे ब्रह्माभेदस्य सिद्धत्वाद् न तत्साधकोपसंहारः स्याद् अतः आहुः शाखा इति. बीजम् इति. उपसंहारे हेतुभूतं बाधकाभाववैशिष्ट्यं बीजम् इति अर्थः॥५॥

सूत्रांशेन बाधकम् आशङ्क्य परिहरति ननु इति. क्रियमाणे इति. विरुद्धगुणोपसंहारे क्रियमाणे इति अर्थः. अन्यथात्वम् इति. एकरसनिवृत्तिरूपम् अन्यथात्वम् इति अर्थः. तथाच अर्थाभेदरूपहेतोः अभावाद् उपसंहारो न स्याद् इति भावः. समाधानं व्याकुर्वन्ति एकेति. तेन इति. शब्दाद् एकत्वं शब्दादेव स्वेच्छया बहुत्वम् इति वस्त्वेव तादृक् इति अर्थः. तथाच न उपसंहारः इति भावः॥६॥

पूर्वसूत्रोक्ताशङ्कानिराकरणं वा विकल्पेन पूर्वोक्तात् प्रकारान्तरेण कर्तव्यम् इति आह न वा इति. तमेव आह प्रकरणभेदाद् इति. अत्र अयं भावः : श्रुतिप्रामाण्याद् यावत्तदुक्तधर्मवद् ब्रह्म इति मन्तव्यम्. एवं सति यादृशो अधिकारिणो यादृग् वेद्यं रूपं, तादृशस्य तस्य तादृक् तद् निरूपयति प्रकरणभेदेन. तथाच ज्ञानप्रकरणे ज्ञानाधिकारिणो यादृग् रूपं ज्ञेयं, तादृक् तस्मै निरूपयति “अदृश्यम् अग्राह्यम्” (मुण्ड.उप.१।१।६) इत्यादिरूपा श्रुतिः. भक्तिप्रकरणे तु भक्तेः बहुविधत्वाद् यादृग् यादृग् भक्तानां यादृग् यादृक् तदनुभवविषयः, तादृक्-तादृक् तद् निरूपयति आथर्वणोपनिषद् इति. अत्र दृष्टान्तम् आह परोवरीयस्त्वादिवद् इति. “अस्मिन् मे लोके अर्धुकं स्याद्” (तैत्ति.संहि. ६।२।३) इति कामवतः आराग्रावान्तरदीक्षा पूर्वम् उक्ता. तदग्रे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आशङ्कानिराकरणम् “अन्यथात्वं शब्दाद्” (ब्रह्मसू.३।३।६) इति पूर्वसूत्रभागेन कृता या आशङ्का तस्याः अनेन सूत्रेण प्रकारान्तरेण निराकरणं क्रियते इति अर्थः. तदुक्तः श्रुत्युक्तः. आथर्वणोपनिषद् इति. तथाच ब्रह्मस्वरूपं सकल-तद्गुणाश्च सर्वत्र उपास्येषु तिष्ठन्ति तथापि यादृशोपासकं प्रति यावन्तो गुणाः भगवता प्रकटीक्रियन्ते तादृशस्थले श्रुत्या तावन्तएव निर्णीयन्ते इति तथा श्रुतिभिः निरूपणात् तात्पर्यम् अवसीयते इति. अत्र दृष्टान्तम् इत्यादि. एवम् अधिकारिभेदेन श्रुत्या भिन्नप्रकारेण ब्रह्मनिरूपणं कृतं तत्र दृष्टान्तम् आह इति अर्थः. विषयवाक्यम् उक्त्वा दृष्टान्तं विशदयन्ति अस्मिन् इत्यादि. एतच्छ्रुत्यर्थस्तु ‘अहीना’ख्ये सोमयागे ‘अहीन’-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वसूत्रेति. “अन्यथात्वं शब्दाद्” इति सूत्रोक्तेति अर्थः. वा इति अस्य विवरणं विकल्पेन इति. तस्यापि विवरणम् आहुः पूर्वोक्ताद् इति. तथाच अन्यथात्वं प्रकरणभेदाद् वा न इति सूत्रे योजना. सूत्रस्थहेतुं व्याकुर्वन्ति अत्र इति. उपनिषद् इत्यन्तेन. तथाच इति. “अपि संराधने” इति सूत्रे ‘ज्ञानप्रसादेन’ इति श्रुत्या ‘अदृश्ये’ति निष्कलदर्शनं ज्ञानाधिकारिणाम्, अर्जुनादीनां भक्तानान्तु “अनेकबाहूदर” (भग.गीता ११।१६) इति स्मृत्या तद्दर्शनं निरूप(य)ति इति अर्थः. अत्र इति. विनिगमकं दृष्टान्तम् आह इति अर्थः. अस्मिन् मे लोकेति. इदं वाक्यं षष्ठाष्टके तैत्तिरीयद्वितीये प्रपाठके तृतीयानुवाके पठितम्. तथाहि. “आराग्रा अवान्तरदीक्षाम् उपेयाद् यः कामयेत अस्मिन् मे लोकेर्धुकं स्याद् इति एकम् अग्रे अथ द्वौ अथ त्रीन् अथ

“परोवरीयसीमवान्तरदीक्षाम् उपेयाद्, यः कामयेतामुष्मिन् मे लोके अर्धुकं स्यादिति चतुरोग्रे अथ त्रीनथ द्वावथैकमेषा वै परोवरीयस्यवान्तरदीक्षा” (तैत्ति.संहि.६।२।३) इति पठितम्. अस्य दीक्षाप्रकरणे पठितत्वाद् दीक्षां विना उक्तरीत्या व्रतेतु न परोवरीयस्त्वम्, एवं भक्तिप्रकरणीयानाम् अथर्वणोपनिषदाद्युक्तरूपाणां न भक्तिरहितोपास्यत्वम्. ज्ञानसाधनत्वेन विष्णुस्मरणादावपि क्रियमाणे भक्तित्वं न इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सत्रे च उपसदिदनसंख्यां पूर्वं विधाय तेषु दिनेषु अवान्तरदीक्षाङ्गव्रतपानस्तनसंख्यां विधत्ते. तत्र अवान्तरदीक्षा द्विविधा. यो अस्मिन् लोके समृद्धिशीलं फलं कामयते तस्य आराग्रमात्रा अवान्तरदीक्षा. सोमक्रयदिने सायम् एकस्तनम्. अपरेद्युः प्रातः द्वौ स्तनौ, सायं त्रीन् स्तनान्, परेद्युः प्रातः चतुःस्तनान्, एवं पान आराग्रदीक्षा सिध्यति. सा पूर्वम् उक्ता, आरं बलीवर्दप्रतोदनलोहं तद्वद् अग्रं मुखं यस्याः सा आराग्रा, तदग्रे परोवरीयसी वाक्ये अन्या. तत्र विपरीतं व्रतम्. सोमक्रये चतुरः स्तनान् दुह्युः. अपरेद्युः प्रातः त्रीन्, सायं द्वौ, परेद्युः प्रातः एकम् इत्येवं दिनत्रयम्. एवं दोहनक्रमस्थले परोवरीयसी द्वितीया अवान्तरदीक्षा बोध्या. अस्य इत्यादि. अस्य व्रते स्तनपान-क्रमस्य. उक्तरीत्या व्रते स्तनदोहनोक्तक्रमेण व्रते. एवं दीक्षाव्यतिरेकेण क्रियमाणोक्त-व्रते दीक्षात्वाभावद्. न भक्तीत्यादि. भक्तिफलातिरिक्तफलार्थं न उपास्यत्वम् इति अर्थः. भक्तित्वं न इति. भक्त्यतिरिक्तफलार्थं क्रियमाणत्वाद् भक्तित्वं न इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

चतुर एषा वा आरा ग्रावान्तरदीक्षा अस्मिन्नेव अस्मै लोकेर्धुकं भवति” (तैत्ति.संहि.६।२।३) एतदग्रे यत् पठितं वाक्यं तद् आहुः परोवरीयसीति. अत्र विद्यारण्यभाष्यं “बलीवर्दप्रतोदनं लोहमारं तद्वद् अल्पं मुखं यस्याः सा आराग्रा. एतादृशी अवान्तरदीक्षा प्रथमदिने एकस्तनपयःपानम्, एवं रीत्या दिनचतुष्टयेन वृद्धिः. अत्र अस्मिन् लोके आर्धुकं समृद्धिशीलम्, अग्रे परोवरीयसि तत्र प्रथमदिने चत्वारः स्तनाः, अग्रे न्यूनाः, परः श्रेष्ठः उपक्रमो दशमो यस्याः सा परोवरीयसी” (तत्रैव) इति एवं श्रुत्यर्थः. अस्याः श्रुतेः प्रकृते योजनां कुर्वन्ति अस्य इति. अस्य व्रतस्य. पठितत्वाद् इति. ज्योतिष्टोमे दीक्षाप्रकरणे पठितत्वाद् इति अर्थः. उक्तरीत्या इति. प्रथमदिने एकस्तनपयःपानम् इति रीत्या इति अर्थः.

पूर्वसूत्रेण आशङ्कानिवृत्तिः जायते इति सूत्रव्यर्थता स्याद् इति एतदर्थं

अथवा. पूर्वसूत्रेण सर्वरूपेषु मिथः सर्वधर्माणाम् उपसंहारः प्राप्तः. सच ऐकान्तिकभक्तानुभवविरुद्धः इत्यत्र व्यवस्थितविकल्पम् आह न वा इत्यादिना. सर्वेषु अवतारेषु भगवदवतारत्वेन साधारणी भक्तिः यस्य, सः सर्वत्र उपसंहारं करोतु नाम. यस्तु एकान्ती, तस्य स्नेहोत्कर्षेण अन्तःकरणम् एकस्मिन्नेव रूपे पर्यवसितमिति रूपान्तरम् अन्तःकरणारूढं न भवत्येवेति न उपसंहार-सम्भावनापि इति. तदेतद् उच्यते न वा इत्यनेन. तत्र हेतुः प्रकरणभेदाद् इति. श्रुत्यादिषु तत्तदधिकरणम् उद्दिश्य तत्तत्प्रकरणम् उक्तम्. तेन अत्र प्रकरणपदेन* अधिकारः उच्यते. एवं सति उपासकादिभ्यः उक्तरीत्या उत्कृष्टाधिकाराद् इति अर्थः सम्पद्यते, परोवरीयस्त्वादिवद् इति. परस्मात् परश्च, वराच्च वरीयान् इति परोवरीयान् उद्गीथः. तथाच अक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशि-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वसूत्रेण ‘उपसंहारोर्थाभेदाद्’ (ब्रह्मसू. ३।३।५) इति सूत्रेण. व्यवस्थित-विकल्पं ज्ञानिनाम् उपसंहारो, भक्तानां न इत्येवंविधव्यवस्थितविकल्पार्थः इति अर्थः. न वा इत्यन्तेन न वा इतिसूत्रभागेन इति अर्थः. तत्र व्यवस्थायाम्. अधिकारः उच्यते इति. तथाच उत्कृष्टाधिकारे न उपसंहारः इति उच्यते इति अर्थः. एवं सति प्रकरण-भेदाद् इत्यस्य अधिकारिभेदाद् इति अर्थे सिद्धे सति इति अर्थः. उपासकादिभ्यः इति प्रकरणभेदाद् इत्यस्य अर्थः. फलितार्थम् आहुः उक्तेत्यादि. इति अर्थः इति. तथाच प्रकरणभेदाद् व्यवस्था इत्यस्य उत्कृष्टाधिकाराद् न उपसंहारः इति फलितार्थः इति भावः. उत्कृष्टाधिकारस्य अनुपसंहारहेतुत्वं दृष्टान्तेन साधयन्ति परस्माद् इत्यादि. पराद् अक्ष्याद्युद्गीथोपासनापराद्. अतएव वरः श्रेष्ठः. वराच्च वरीयान् वरत्वादेव

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्याख्यानान्तरम् आहुः अथवा इति. व्यवस्थाम् आहुः सर्वेषु अवतारेषु इति. तदेतद् इति. एतद् व्यवस्थितं विकल्पनं तत्र व्यवस्थायाम् उत्कृष्टो अधिकारो अनुपसंहारे हेतुः इति. ज्ञापनाय दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति परस्माद् इति. उद्गीथः इति. छान्दोग्यप्रथमप्रपाठके प्रवाहणेन उक्तम् “आकाशो ह्यवैभ्यो ज्यायान्” (छान्दो. उप. ६।१।९) इति. तथाच अक्ष्यादित्येतद् इति उद्गीथोपासनायामेव अक्ष्यादित्यप्रतीकोपासनापि उक्ता भासते इति. केवलौद्गीथोपासकस्य इति शेषः. एवं प्रकृतेऽपि इति. एकान्तभक्तस्य स्वोपास्ये रूपान्तरगुणसत्त्वेऽपि ते उत्कृष्टाः न भवन्ति इति ज्ञानाद् न उपसंहारः इति प्रकृते

* ‘प्रकरणभेदेन’ इत्यपि पाठः.

ष्टोपासनायापि उद्गीथोपासनत्वेन साम्येऽपि सर्वोत्कृष्टत्वेनैव उद्गीथो भासतइति न हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणोपसंहारः परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टोद्गीथो-पासनायाम्, एवं प्रकृतेऽपि इति॥७॥

सज्ज्ञातश्चेत् तदुक्तम् अस्ति तु तदपि॥८॥

एकान्त्यनेकान्तिनोरपि श्रीरामोपासकत्वादिसज्ज्ञातु अविशिष्टेति एकान्तिनोऽपि उपसंहारो युक्तः इति आशङ्का. उत्तरन्तु “न वा प्रकरणभेदाद्” (ब्रह्मसू.३।३।७) इति अनेनैव उक्तम्. सज्ज्ञातु लौकिकी, अधिकारस्तु आन्तरः. सएव बलीयान् इति. सज्ज्ञैकत्वस्य हेतोः अन्वय-व्यभिचारम् आह अस्ति तु तदपि इति. प्रमितभेदेष्वपि उपासनेषु

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रेष्ठतमः इति अर्थः. उद्गीथः ब्रह्मात्मकरूपः उद्गीथः. इदञ्च छान्दोग्ये उद्गीथ-विद्याकुशलेन प्रवाहणेन उक्तम् उद्गीथविद्यासमाप्तौ. तथाहि “आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणं स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोनन्तः” (छान्दो.उप. १।९।१,२) इति तद्विद्यायामेव अक्ष्यादित्यादिप्रतीकोपासनापि उक्ता इति. साम्येऽपि अक्ष्याद्युद्गीथोपासनस्य आकाशोद्गीथोपासनस्य उद्गीथत्वेन साम्येऽपि इति अर्थः. सर्वोत्कृष्टत्वेन इतरोद्गीथापेक्षया आकाशरूपोद्गीथस्य उत्कृष्टत्वेन. उद्गीथः आकाशरूपोद्गीथः. न हिरण्येत्यादि. अक्ष्याद्युपासनायां विद्यमानहिरण्यश्मश्रुत्वादेः न आकाशोद्गीथोपासनायाम् उपसंहारः इति अर्थः॥७॥

अधिकारिभेदेन उपसंहारानुपसंहारव्यवस्थां पूर्वोक्तां द्रढयितुं किञ्चिद् आशङ्क्य सूत्रं व्याकुर्वन्ति एकान्तीत्यादि. एकान्त्यनेकान्तिनोः ज्ञानि-भक्तयोः. एकान्तिनोऽपि भक्तस्यापि इति अर्थः. इति अनेनैव उक्तम् अधिकारस्य उपसंहारा-नुपसंहारव्यवस्थापनेन उक्तम् इति अर्थः. सज्ज्ञैकत्वस्य इत्यादि. हेतोः उपसंहारहेतोः. अन्वयस्य व्यभिचारः यत्र-यत्र सज्ज्ञैकत्वं तत्र-तत्र सर्वत्र सज्ज्ञिकधर्माणां सज्ज्ञिषु उपसंहारः इति अन्वये व्यभिचारः इति अर्थः. प्रमितभेदेषु निर्णीतभेदेषु. तथाच छान्दोग्ये उद्गीथावयवप्रणवस्य उद्गीथत्वेन एवम् आदित्याक्षिपुरुषस्य प्रतीकस्य उद्गीथत्वेन

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

मन्तव्यम् ॥७॥

पूर्वसूत्रोक्तां व्यवस्थां द्रढयितुं व्याकुर्वन्ति एकान्तीति. सज्ज्ञैकत्वस्य इति. रामोपासकत्वसज्ज्ञैकत्वस्य इति अर्थः. प्रमितेति. छान्दोग्योक्त “ॐ इति एतद् अक्षरम्

परोवरीयस्त्वादिषु सञ्ज्ञैकत्वम् उद्गीथोपासना इति अस्ति इति अर्थः॥८॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम्॥९॥

अथ इदं विचार्यते. उपास्येषु रूपेषु बाल्यपौगण्डादिकमपि उच्यते. तथा सति विग्रहे न्यूनाधिकभावः आपततीति तत्र उक्तं सच्चिदानन्दत्वम् अनुपपन्नं स्यात्, तेषां सदैकरूपत्वात्. प्राकृतत्वे च सर्वम् असमञ्जसं स्याद् इति प्राप्ते, आह व्याप्तेः इति. “सर्वतः पाणिपादान्तम्” (श्वेता.उप.३।३६) इत्यादिश्रुतेः साकारमेव व्यापकम् इति. “च’कारात् “सर्वरसः” (छान्दो.उप.३।१४।२) इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन भक्तानां यादृग्रूपेण लीलारसानुभवः तादृग्रूपं क्रमेण योगमायापसारणेन प्रकटीकरोति इति बाल्यादिभावोपपत्तेः सर्वम् उपपन्नम् इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपासनम् उक्तम्. एवम् आकाशम् उपक्रम्य परोवरीयस्त्वगुणकम् उद्गीथोपासनम् उक्तम्. न हि तत्र सञ्ज्ञैकत्वसत्वेऽपि धर्मोपसंहारो अस्ति इति अन्वयव्यभिचारः इति अर्थः॥८॥

तथा सति ब्रह्मत्वाभिमते बालपौगण्डाद्यवस्था अङ्गीकारे सति. तत्र उक्तं ब्रह्मप्रकरणीयश्रुतिषु उक्तम्. तेषां ब्रह्मनिष्ठसच्चिदानन्दानाम्. सर्वम् इति उपास्यरूपेषु साधितं ब्रह्मत्वं तेषां रूपाणां ब्रह्मत्वेन उपासने श्रुतिविरोधपरिहारादिकञ्च इति अर्थः. इति प्राप्ते उक्तरीत्या अवतारेषु अब्रह्मत्वप्रसक्त्यानुपास्यत्वे प्राप्ते. आह तत्परिहारं सूत्रकारः आह इति अर्थः. यादृशरूपेण यादृश-यादृशरूपेण. क्रमेण भक्तानां लीलारसानुभावक्रमेण. सर्वम् उपपन्नं व्यासैः समञ्जसम् इति उक्तत्वाद् आकाशे परिमाणन्यूनाधिकभानवद् ब्रह्मण्यपि सकलपरिमाणभानोपपत्तेः सर्वम् उपपन्नम् इति अर्थः. तेन “यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्” (महाना.उप.१।५) इति श्रुत्या साकार-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उद्गीथम् उपासीत” (छान्दो.उप.१।१।१) इत्याद्यनेकभेदेषु इति अर्थः. तथाच उपसंहारे क्रियमाणे विद्यायां वेद्यस्य च अभेदो नास्ति इति. तत्र उपसंहारः इति व्यवस्थाभागो न भवति इति भावः. एतावता चतुःसूत्र्या उपसंहारोनुपसंहारौ निर्णीतौ ॥८॥

इदानीं ब्रह्मगतानेव धर्मान् विचारयति इति सूत्रम् अवतारयन्ति अथ इति. तेषां सच्चिदानन्दानाम्. प्राकृतत्वेति. विग्रहस्य इति. सूत्रार्थम् आहुः सर्वतः इत्यादिना. योगमाया इति. सच्चिदानन्दावरणभूतयोगामायापसारणेन इति अर्थः. गीतायामपि उक्तं “नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः” (भग.गीता ७।२५)

अर्थः. तेन यावदुक्तधर्मवद् ब्रह्म इति सिद्धम् ॥९॥

ननु ब्रह्मधर्मत्वेन* ते सर्वे नित्याः वाच्याः, ते च तत्तद्भक्तविशिष्टाः, तत्रच एकस्यैव भक्तस्य पौर्वापर्येण अनेकलीलासम्बन्धित्वं श्रूयते, तथाच पूर्वलीलायाः नित्यत्वेन तत्सम्बन्धिभक्तस्यापि तथात्वं वाच्यम्. एवं सति तस्यैव अग्रिमलीलासम्बन्धो अशक्यवचनः. तथावचनेतु पूर्वलीलायाः नित्यत्वं भज्येत. नित्यत्वेतु अग्रिमलीलासम्बन्धिनो भिन्नत्वं स्यात्. तच्च अनुभवतदावेदकमान- विरुद्धम् इत्यतः उत्तरं पठति. (*‘धर्मवत्वेन’ इति पुरु.पाठः)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्यापकब्रह्मरूपाणां प्रतीत्युपपादनेन. यावदुक्तधर्मवद् पूर्वोक्तबाल्यपौगण्डादि- निखिलधर्मवत् ॥९॥

अग्रिमसूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. ते सर्वे बाल्यादिधर्माः. नित्याः “अनुच्छित्तिधर्मा” (बृहदा.उप.४।५।१५) इति श्रुतेः नित्या इति अर्थः. ते च अवस्था- रूपधर्माश्च. तत्तद्भक्तेत्यादि. तत्तदवस्थाविशिष्टोपासकभक्तसहिताः ते धर्माः नित्याः वाच्याः इति अर्थः. श्रूयते “यो नन्दः परमानन्दः” (कृष्णोप.३) इत्यादि कृष्णोपनिषदि श्रूयते. तस्यैव पूर्वलीलानुभवितुः भक्तस्यैव. अशक्यवचनः एकस्मिन् एकदा विरुद्धलीलाद्वयस्य असम्भवाद् एकस्मिन् भक्ते एकदा नानालीलानुभवस्य च असम्भवाद् अशक्यवचनः इति अर्थः. तथावचने तु पूर्वलीलायाः तिरोधानोक्तौतु. नित्यत्वे पूर्वलीलायाः नित्यत्वे. अग्रिमलीलासम्बन्धिनः ब्रह्मणो भक्तस्य च इति अर्थः. भिन्नत्वं स्याद् एकस्मिन् एकदा विरुद्धधर्मद्वयस्य एकस्मिन् एकदा विरुद्धधर्म-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इत्यादिना. तेन इति. बाल्यादिधर्मवच्छुद्धं ब्रह्म इति सिद्धम् इति अर्थः ॥९॥

अग्रिमं सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. ते सर्वे बाल्यादयः. भक्तविशिष्टाः इति. तत्तद्भक्तानुभावानर्थत्वात् तत्क्रीडोपयोगिभक्तविशिष्टाः इति अर्थः. तत्र कृष्णोपनिषदि इति. श्रूयते “सोऽवतीर्णो महीतले, वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सह” (कृष्णोप.७) इति तैः सह क्रीडाकथनात् श्रूयते इति अर्थः. तथात्वं नित्यत्वम्. एवं सति लीलाभक्तयोः नित्यत्वे सति. तथा वचनेतु तस्यैव अग्रिमलीलासम्बन्ध- वचनेतु. भज्येत इति. विरुद्धलीलाद्वयानुभवो युगपद् न सम्भवति इति अग्रिमानुरोधेन पूर्वलीलायाः नित्यत्वं भज्येत इति अर्थः. नित्यत्वे पूर्वस्याः नित्यत्वे सम्बन्धिनः इति. भक्तस्य इति शेषः. तच्च इति. अनुभवविरुद्धम् अनेकलीलानुभवकर्तृभक्तैक्या-

सर्वाभेदाद् अन्यत्रेमे ॥१०॥

लीलामध्यपातिनां सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मणा सह अभेदाद् ब्रह्मणश्च एकत्वात् पूर्वलीलातो अन्यत्र उत्तरलीलायामपि* इमे पूर्वलीलासम्बन्धिन एव ते इति अर्थः. अत्र इदम् आकृतं: “रसो वै सः” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या “सर्व-रसः” (छान्दो.उप.५।१४।२) इति श्रुत्या च सर्वरसात्मकत्वं ब्रह्मणो निर्णीतम्. तथाच यस्य रसस्य ये विभावानुभावादिरूपाः, तैः सः रसः सम्पद्यते. आतानवि-तानात्मकतन्तुभिः पटइव. अतः तत्तादात्म्यं रसस्य इति सर्वाभेदो निष्प्रत्यूहः इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

द्वयानुभवस्य च असम्भवाद् भिन्नत्वं स्याद् इति अर्थः. तच्च सम्बन्धिभिन्नत्वं च. अनुभवतदावेदकमानविरुद्धम् इति. एकस्मिन्नेव नानालीलाः तदनुभवोऽपि एकस्मिन् एकस्यैव इति श्रुत्युक्तानुभवसम्बन्धैक्यबोधकमानविरुद्धम् इति अर्थः.

ब्रह्मणा सह अभेदाद् इति. “तस्मान्न भिन्ना एतास्तु ताभिर्भिन्नो न वै प्रभुः भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासितम्” (कृष्णोप.२५) इति कृष्णोपनिषच्छ्रुतौ सर्वेषां ब्रह्माभेदश्रावणेन तथात्वाद्. अन्यत्र देशविषये. इमे पूर्वलीलासम्बन्धिनः. ते उत्तर-लीलासम्बन्धिनः. ननु श्रुत्या भक्तानाम् अभेदनिश्चयेऽपि सकललीलास्थपदार्थानां कथम् अभेदः? इति आकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति अत्र इदम् इत्यादिना. पूर्वश्रुत्या रसात्मकत्वेन यत् सिद्धं तद् आहुः तथाच इत्यादिना. विभावा इत्यादि. सात्विकादयः आलम्बनविभावरूपाः, भक्ताः उद्दीपनविभावरूपाः, वसन्तादयः सञ्चारिभावाः, गूढानुभववासनादयो अनुभावाः कटाक्षवेणुवादनादयः. तेषां सर्वेषां रसाभेदे सिद्धे सर्वम् उपपद्यते इति तदुपपादयन्ति आतानेत्यादिना. आतानाः दीर्घतन्तवः. वितानाः तेषु

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

वेदयन्मानं कृष्णोपनिषत्स्थश्रुतिः, तद्विरुद्धम् इति अर्थः.

सूत्रं व्याकुर्वन्ति अभेदाद् इति. कृष्णोपनिषत्सु श्रुतात् “तस्माद् न भिन्ना एताः ता आभिः भिन्नो न वै विभुः. भूमावतारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्” (कृष्णोप.२५) इति वाक्याद् अभेदाद् इति अर्थः. ननु तथापि पूर्वाशङ्कानिवृत्तिः न जाता इत्यतः आहुः अत्र इदम् इति. निर्णीतम् इति. श्रुत्या इति शेषः. अधिकन्तु प्रकाशाद् अनुसन्धेयम्. तथा सर्वरसात्मकत्वे च विभावाः इति. यम् आलम्ब्य रसः उत्पद्यते सः आलम्बनविभावः भक्ताः ये रसम् उद्दीपयन्ति ते उद्दीपनविभावाः

*“लीलायाः समीपे” इति पाठः.

ननु विरुद्ध-दिक्कयोः एकजातीयभाववतोः भक्त्यतिशयेन युगपदेकजातीय-लीलासहित-भगवत्प्रादुर्भावे भगवतो व्यापकत्वेन एवम्प्रा-दुर्भावस्य उपपन्नत्वेऽपि लीलापदार्थानाम् अव्यापकत्वाद् युगपदाविर्भावो अनुपपन्नः. भक्तयोः समानत्वाद् भक्तिमार्गविरोधापाताद् विनिगमकाभावाच्च एकत्र मायया प्रदर्शयति इति च न वक्तुं युक्तम् इति आशङ्कापि एताभ्यां सूत्राभ्यां निरस्ता इति ज्ञेयम्. ब्रह्मणो व्यापकत्वाद् लीलायाश्च तेन सह अभेदात् तथात्वाद् एकस्मै भक्ताय यथा ब्रह्मणा सह लीलापदार्थाः आविर्भवन्ति, तथैव तदैव अन्यत्रापि भक्तसमानदेशे आविर्भवन्ति इति सर्वसामञ्जस्यात्॥१०॥

ननु व्यापकत्ववत् पूर्णानन्दैश्वर्यवीर्यादयोऽपि धर्माः तेषु प्रतीता भवेयुः, नच एवम् अस्ति, दुःखसम्भावनायां प्रभुमेव प्रार्थयन्ति यतः, एवं सति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रोततन्तवः. अतः इत्यादि. तथाच पटे तन्तुरूपकारणानां यथा अभेदः तादात्म्यरूपः तथा रसे कारणीभूतनिखिललीलास्थपदार्थानामपि रसतादात्म्यरूपाभेदसिद्ध्या रसत्वेन सर्वेषाम् अभेदाद् भक्तानां पूर्वोत्तरलीलाकरणेऽपि न भेदो अनित्यत्वं वा इति.

इदानीं विरुद्धदेशस्थैकजातीयभक्तलीलास्थपदार्थेषु किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरन्ति ननु इत्यादिना. युगपद् विरुद्धदेशद्वये युगपद् इति अर्थः. उभयत्र भक्ताभ्यां सह लीलाकरणे एकाकारलीलापदार्थानाम् अनाविर्भावेण दूषणम् आहुः भक्तयोः इत्यारभ्य न युक्तम् इत्यन्तेन. भक्तिमार्गेत्यादि. एकत्र मायया कापट्येन लीलापदार्थासम्पादने एकान्तभक्तेषु स्वल्पमपि मे अन्तरं नास्ति इति यो भक्तिमार्गः तस्य विरोध इति अर्थः. निरसनप्रकारम् आहुः ब्रह्मणः इत्यादिना. तथात्वाद् ब्रह्मरूपत्वाद् व्यापकत्वाद् इति अर्थः॥१०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. तेषु भक्तेषु. एवं सति पूर्णानन्दैश्वर्य-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वसन्तादयः. अनुभावाः कटाक्ष-वेणु-वादनादयः इति अर्थः. तत्तादात्म्यम् इति. तेषां विभावनादीनां तादात्म्यम् इति अर्थः.

अत्र आशङ्कते ननु इति. विरुद्धेति. विरुद्धदिक्कयोः तौ विरुद्धदिक्कौ तयोः. प्रादुर्भावः इति. विचार्यमाणः इति. शङ्का लीलापदार्थानाम् अव्यापकता-शङ्का. तथात्वाद् इति व्यापकत्वाद् इति अर्थः ॥१०॥

उत्तरसूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्णेत्यादिना. नियमाद्

व्यापकत्वमपि न वक्तुं शक्यं, तुल्यत्वाद्, अतः उत्तरं पठति.

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥११॥

पूर्णानन्दैश्वर्यादयः प्रधानस्य धर्मिणो ब्रह्मणएव धर्माः. लीलापदार्थास्तु ब्रह्मधर्मत्वेन व्यापकाः उच्यन्ते. व्यापकस्य धर्मिणो अनागन्तुकधर्मस्य व्यापकत्वनियमात्. नहि धर्मेषु पूर्णानन्दत्वादयः सम्भवन्ति. धर्मित्वापत्त्या धर्मत्वव्याहतेः. अतएव अत्र 'प्रधान'पदम् उपात्तं, गुणभावेन लीलापदार्थानाम् आविर्भावः इति ज्ञापयितुम् ॥११॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरूपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

ननु उपासकस्य प्रियत्वादिप्रकारकज्ञानक्रमम् आदाय प्रियत्वादिधर्माणां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वीर्यादीनाम् अभावे सति इति अर्थः. ब्रह्मधर्मत्वेन व्यापकाः इति. धर्मत्वेन व्यापकता च आकाशपरिमाणे प्रसिद्धाः. न हि व्यापकाकाशस्य परिमाणम् आकाश एकदेशे नित्यं वाक्येन विच्छीक्रियते तद्वद् ब्रह्मधर्माऽपि बोध्या इति अर्थः. अनागन्तुकधर्मस्य परिच्छिन्नप्रतीतिविषयत्वप्राकृतत्वप्रतीतिविषयत्वादयो धर्माः ब्रह्मणि आगन्तुकाः लीलासम्बन्धिधर्मास्तु अनागन्तुकाएव, 'अनु'पदोक्तकृष्णोपनिषच्छ्रुतेः इति अर्थः. स्वोक्तार्थे सूत्रकारसम्मतम् आहुः अतएव इत्यादिना. आविर्भावः आनन्दाविर्भावः. एतदन्वयो लीलापदार्थेषु बोध्यः ॥११॥

पूर्वत्रिसूत्या साकारव्यापकत्वादयो भगवद्धर्माः भक्तेष्वपि तिष्ठन्ति, पूर्णानन्दैश्वर्यादयस्तु भगवति धर्मिण्येव तिष्ठन्ति न अन्यत्र इति सिद्धम्. एतत्सूत्रप्रयोजनं वक्तुं सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. भगवन्निष्ठाः द्विविधाः एके उपासकाः एके एकान्तभक्ताः. तत्र उपासकैः यथा प्रियशिरस्त्वादिप्रकारभगवद्विशेष्यकज्ञानैः भगवान्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति. आकाशस्य नित्यत्वात् तत्परिमाणरूपधर्मस्यापि नित्यत्वम् इति रीत्या अन्यत्रापि स्पष्टं प्रतीयते अयं नियमः इति मन्तव्यम्. स्वकीयार्थे व्यासाशयत्वं प्रकटयन्ति अतएव इति. तथाच भक्तेषु गुणभावनिवृत्तिः न जायते. कुतः? भगवद्दानेन तद्धर्माशभूतानां भजनानन्दैश्वर्यादीनां तेषु प्राकट्याद् इति मन्तव्यम्. इदं च पुष्टिप्रवाहमर्यादायां "स्वरूपेण अवतारेण" (पुष्टिप्र.म.भे.१३) इति कारिकायां स्पष्टम्. एवं सूत्रत्रयेण भक्तिप्रकरणस्थ-भगवद्धर्माः विचारिताः ॥११॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. उपासकस्य इति. ज्ञानमार्गीयस्य इति शेषः.

शिरस्त्वादिरूपत्वम् आनन्दमयाधिकरणे निरूपितमिति लीलास्थानामपि प्रियत्वादिज्ञानस्य सत्त्वाद् अत्रापि स्वरूपोपासकस्य प्रियशिरस्त्वादिधर्माणाम् उपसंहारः कार्यः इति आशङ्क्य परिहरति **प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः** इति. चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकं प्रियत्वादिज्ञानं लीलास्थानां चित्तशुद्ध्यपेक्षाभावाद् न सम्भवतीति न तेषाम् अत्र उपसंहारः कार्यः इति अर्थः.

अथवा, ननु आनन्दमयोपासनाम् अथर्वणोपनिषदुक्तपञ्चरात्राद्या-गमोक्तप्रकारेण कुर्वतः पुरुषरूपे पक्षाद्युपसंहारस्य अयुक्तत्वाद् आनन्दमया-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विभाव्यते तथा भक्तानामपि भगवति प्रियत्वस्य भानात् प्रियत्वस्य च शिरस्त्वरूपतायाः **आनन्दमयाधिकरणे** व्यवस्थापितत्वाद् एकान्तभक्तैरपि प्रियशिरस्त्वम् उपसंहृत्य भगवति तेन रूपेण भजनं कर्तव्यम् इति पूर्वपक्षं समाधत्ते **उपासकस्य** इत्यारभ्य **परिहरति** इत्यन्तेन. **स्वरूपोपासकस्य** एकान्तभक्तस्य. **तारतम्यहेतुकं** साधारणशुद्धौ मोदज्ञानम् असाधारणशुद्धौ प्रमोदज्ञानम् इत्यादिरीत्या बोध्यम् इति अर्थः. **चित्तशुद्ध्यपेक्षाभावाद्** निरुपधिस्नेहकारणत्वेन चित्तशुद्धेः अपेक्षाभावाद् इति अर्थः. **तेषां** प्रियशिरस्त्वादि-धर्माणाम्. **अत्र उपसंहारः** भक्तानां भगवद्भजने भगवत्फलसंहारः पूर्वनिरुक्तपक्षे.

एकान्तभक्तानां निर्णयसम्भवेऽपि उपासनामार्गीयाणाम् उपासनानिर्णयस्य असम्भवात् तन्निर्णयार्थं प्रकारान्तरेण व्याख्यानम् आहुः **ननु आनन्दमयेति**. तथाच

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ज्ञानक्रमम् इति. श्रुतिवाक्यजन्यम् अन्नमयाद् आरभ्य आनन्दमयपर्यन्तज्ञानक्रमम् इति अर्थः. **निरूपितम्** इति. केवलोपासकस्य इति शेषः. **स्वरूपोपासकस्य** इति. भक्तिमार्गीयोपासकस्य इति अर्थः. **कार्यः** इति. अधिकस्य तस्य श्रौतत्वे भावनायाः दोषाभावात् कार्यः इति अर्थः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति **चित्तशुद्धीति**. सूत्रार्थस्तु 'प्रधान'पदं पूर्वसूत्राद् अनुवर्तते. एवञ्च चित्तशुद्धितारतम्येन भासमाने प्रधानस्थे भेदे हि यस्माद् **उपचयौ** मोदप्रमोदरूपौ आनन्दोपचयापचयौ इति. लीलास्थानां भक्तानान्तु विशेषम् आहुः **चित्तशुद्धिः** इति. पूर्वाधिकरणे तेषां ब्रह्मतादात्म्यप्रतिपादितत्वापेक्षाभावाद् इति अर्थः. सौत्राप्राप्तिपदस्य अर्थम् आहुः **न सम्भवति** इति. प्रियशिरस्त्वादीनां प्राप्तिरेव न सम्भवति इति अर्थः.

उक्तपक्षे उपासनामार्गोक्तप्रकारः सम्यक्तया न निर्णीतइति प्रकारान्तरेण अवतारयन्ति **अथवा** इति. **कुर्वतः** इति. उपासकस्य इति शेषः. **उक्तत्वाद्** इति.

धिकरणे तद्रूपस्यैव उक्तत्वात् पुरुषरूपः कथम् आनन्दमयः ? तथात्वे वा कथं न उक्तोपसंहारः ? अपरञ्च, मोदप्रमोदयोः उपचितानुपचितानन्दरूपयोः युगपत्-सत्त्वेन देशभेदेनापि भिन्नत्वाद् नित्यानन्दैकरसे ब्रह्मणि तादृशरूपकथनम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य परिहरति प्रियशिरस्त्वादि इति.

‘यदि अथर्वणोपास्यात् प्रियशिरस्त्वादिविशिष्टस्य भेदः स्यात्, तदा तदप्राप्तिः स्यात्, न च तथा इति प्रियशिरस्त्वादिकम् ‘उपासनामार्गीयस्य आथर्वणिकादेः उपसंहार्यमेव इति अर्थः. चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकं प्रियत्वादि-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पक्षिरूपस्य धर्मानुपसंहृत्य पुरुषरूपोपासनां कुर्वतः इति प्रकारः तद्रूपस्यैव उक्तत्वात् “पुरुषश्चक्रे द्विपदः” (बृहदा.उप.२।५।१८) इत्यादिना पक्षिरूपस्यैव उक्तत्वात् तत्र पुरुषत्वेन निरूपणस्य स्त्रीत्वव्यावृत्त्यर्थत्वेन अप्रियतार्थत्वासम्भवाद् इति अर्थः. तथात्वे वस्तुतः पक्षिरूपस्य पुरुषाकारत्वे कथं न उपसंहारः ? पुरुषे पक्षिधर्माणां कथं न उपसंहारः इति एका शङ्का. अपरञ्च इत्यादिना द्वितीया. उपचितानुपचितौ अनत्पात्पभावं प्राप्तौ. युगपद् एकस्मिन् धर्मिणि युगपत्. देशभेदेन दक्षिणोत्तररूप-देशभेदयोः धर्मिणि सत्त्वेन. भिन्नत्वाद् अखण्डानन्दब्रह्मणः सकाशात् पक्षिरूपस्य भिन्नत्वात्. तादृगूपकथनं पक्षिरूपत्वकथनम्. परिहरति उपसंहारे अनुपपत्तिं परिहरति.

तर्कमुखं सूत्रार्थं कुर्वन्ति यदि इत्यादि. आथर्वणोपास्याद् नित्यानन्दैकरस-ब्रह्मणः सकाशात्. प्रियशिरस्त्वादिविशिष्टस्य पक्षिरूपस्य. तदप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वविशिष्टप्राप्तिः. उपसंहार्यं सदानन्दैकरसे उपसंहार्यम्. इत्थं च पक्षिस्वरूपं नित्यानन्दस्वरूपकमेव इति भावः. ननु न्यूनाधिकभावप्राप्तयोः मोद-प्रमोदयोः पक्षिरूपे सत्त्वात् तादृशयोः तयोः नित्यानन्दैकरससम्भवाद् भेदः सिद्धः इत्यतः आहुः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पक्षिरूपस्यैव उक्तत्वाद् इति अर्थः. तथाच तत्र ‘पुरुषविधः’ इति उक्तं स्त्रीत्व-निराकरणार्थम्. अतः ‘एवंविधम्’ इति उक्तम् इति भावः. तथात्वे पक्षिरूपत्वे. न उक्तः इति पक्षादीति अर्थः. अन्याम् आशङ्काम् आहुः अपरञ्च इति. देशभेदेन दक्षिणोत्तरभेदेन. सूत्रार्थम् आहुः यदीति. नच तथा इति. न भेदः इति अर्थः. तथाच विरुद्धधर्माश्रयत्वे पुरुषरूपत्वस्य पक्षिरूपत्वस्य च सत्त्वात् पुरुषरूपे पक्षाद्युपसंहारो युक्तः इति भावः. ननु मोदप्रमोदयोः उपचयापचयरूपत्वे भेदो वर्ततएव इत्यतः आहुः

१. “यद्यपि. अथर्वणोक्तोपास्यात्” इत्यपि पाठः. २. ‘उपासनामार्गीयस्यापि’ इति पाठः.

ज्ञानम् इति पक्षे परोक्षवादपक्षेऽपि तत्र भेदाभावात् मोदप्रमोदयोः न त्वदुक्तरूपत्वम् इति अर्थः. ब्रह्मधर्माएव भिन्ना इति उपासनार्थं तान् आदाय शिरःपाण्यादि निरूप्यतइति तत्रैव निरूपितम् अस्माभिः. यद्यपि आनन्दमयाधिकरणएव अस्य अर्थस्य उक्तत्वाद् न इयं शङ्का सम्भवति, तथापि गुणोपसंहारप्रसङ्गे मिथ्यावादिनः आपाततः शङ्का सम्भवतीति आचार्येण उक्त्वा निरस्ता॥१२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

चित्तशुद्धीत्यादि. तथाच चित्तशुद्धितरतमभावेन भासमानोऽपि आनन्दतरतमभावो न आनन्दन्यूनतां सम्पादयति वस्तुतः तस्य पूर्णत्वात्. **परोक्षे**त्यादि. तथाच **परोक्षवादपक्षे** भक्तानाम् अलौकिकदेहरक्षायै पक्षिरूपो भूत्वा स्वयम् अन्नमयादिरूपः तत्र-तत्र कोशेषु प्रविशति, जीवेतु आनन्दमयः इति **परोक्षवादपक्षे** इति अर्थः. तत्र पक्षद्वये. **भेदाभावात्** पक्षिरूपपुरुषोत्तमयोः भेदाभावाद्. न त्वदुक्तरूपत्वं न उपचिता-नुपचितरूपत्वं किन्तु पूर्णानन्दरूपत्वमेव इति अर्थः. **ब्रह्मधर्माएव भिन्नाः** इति. तथाच **एवकारेण** धर्मिणो भेदो व्यवच्छिद्यते. इत्थञ्च पक्षिरूपस्य अवयवाः भिन्नाएव ते उपासनार्थम् उपासकैः उपसंहार्या, एकान्तभक्तानान्तु तेषु धर्मेषु ब्रह्मधर्मभेदज्ञानाद् न तैः ते उपसंहार्या इति अर्थः. तान् पक्षिरूपब्रह्मधर्मान्. तत्रैव “**पुरुषश्चक्रे द्विपदः**” (यथापूर्वम्) इति श्रुतिविचारएव. **आपाततः शङ्का** पक्षिरूपस्य ब्रह्माभिन्नत्व-शङ्का॥१२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

चित्तेति. प्रियत्वादिज्ञानम् इति पक्षे इति. **मोद-प्रमोदयोः** परिनिष्ठितानन्दपक्षे इति अर्थः. तथा चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकत्वाद् ब्रह्मणि भेदो नास्ति इति भावः. आनन्द-मयाधिकरणे “वस्तुतस्तु” इत्यादिना अभिहितपक्षम् आहुः **परोक्षवादेति.** तत्र निरुपाधिप्रीतिरेव मुख्या इति निरूपिते पक्षे इति अर्थः. तथाष्टरसात्मके रूपे रसात्मकाएव भावा हृदि स्फुरन्ति इति मोदप्रमोदयोः रसरूपे ब्रह्मणि भेदाभावाद् न उपचयापचयरूपत्वम् इति. ननु तथापि प्रियादीनां शिरस्त्वादिविवरणं विरुद्धम् इति अनुपसंहार्यम् इत्यतः आहुः **ब्रह्म** इति. **निरूपितम्** इति. “**पुरुषश्चक्रे द्विपदः**” (बृहदा.उप.१।५।१८) इति श्रुतिविचारे तस्मिन्नेव वर्णके निरूपितम्. एवं यथाधिकारं प्रियादिरूपेण भानात् ते अवयवाः उपासनार्थम् उपसंहार्याः, भक्तिमार्गेषु भेदज्ञानात् ते न तत्र उपसंहार्या इति मन्तव्यम्. **यद्यपि** इति. **न इयम्** इति. मोदादिविषयिणी ॥१२॥

ननु उपास्यरूपस्य अविरुद्धाएव गुणाः उपसंहर्तव्याः, नतु विरुद्धाः.
तथाच पुरुषरूपे पक्षादि विरुद्धमिति न तदुपसंहार्यम् इति आशङ्क्य आह.

इतरे त्वर्थसामान्यात्॥१३॥

इतरे पुरुषरूपे विरुद्धत्वेन ये भासमानाः धर्माः तेऽपि उपसंहर्तव्याः. तत्र
विरोधव्यवच्छेदज्ञापनाय 'तु'शब्दः. तत्र हेतुः अर्थसामान्याद् इति. अर्थः
पदार्थः आनन्दमयत्वलक्षणः तस्य समानत्वाद् एकत्वाद् इति अर्थः॥१३॥

अथ आनन्दमयाधिकरणे उक्तप्रकारेण ये प्रियत्वादिधर्माः, तेषामेव
उपसंहारः कार्यः नतु पुरुषरूपे पक्षादीनामपि इति अग्रिमं पठति.

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥१४॥

आनन्दस्वरूपस्य यावन्तो धर्माः भक्तिमार्गीयाः परोक्षवादेन उच्यन्ते
प्रियत्वप्राधान्यादयः तेषां सर्वेषां ध्यानम् आसमन्ताद् ध्यानं, तदर्थं ये धर्माः
उपयुक्ताः तएव उपसंहर्तव्या, न अन्ये. तत्र हेतुः प्रयोजनाभावाद् इति.
ध्यानपदार्थस्य तावद्भिरेव सिद्धेः अधिकोपसंहारे तथात्वाद् इति अर्थः॥१४॥

अन्येषाम् अनुपसंहारे हेत्वन्तरमपि आह

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वोक्तार्थोपष्टम्भकतया सूत्रान्तरम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. अविरुद्धाः
पुरुषधर्माः. विरुद्धाः पक्षिधर्माः. तेऽपि उपसंहर्तव्याः विरुद्धत्वेन भासमानाः वस्तुतो
अविरुद्धाः पक्षिधर्माः पुरुषे उपसंहर्तव्या इति अर्थः. विरोधव्यवच्छेदो विरोधाभावः.
समानत्वाद् पक्षि-पुरुषरूपयोः विद्यमानत्वस्य एकत्वाद्॥१३॥

प्रियत्वादिधर्माः पक्षिनिष्ठा इति अर्थः. अग्रिमं सूत्रम् इति अर्थः. न अन्ये
पक्षादिरूपाः इति अर्थः. तत्र अनुपसंहारे. तथात्वात् प्रयोजनाभावाद् इति अर्थः॥१४॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

भक्तिमार्गे अनुपसंहारपक्षे हेतुं वदन्ति इति आशयेन अवतारयन्ति ननु इति.
सूत्रं व्याकुर्वन्ति इतरे इति. तत्र परस्वरूपे. तत्र उपसंहारे ॥१३॥

भक्तिमार्गे परस्यैव उपास्यत्वेन उपसंहारस्य आवश्यकत्वात् कुतो न
उपसंहारः? इत्यत्र हेतुं वदन्ति इति आशयेन अवतारणम् आहुः अथ इति. उक्तेति.
पक्षोपपक्षवादप्रकरणकार्यः इत्यनेन अन्वयः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति आनन्देति. ध्यान-
पदार्थस्य इति. भक्तिमार्गः परोक्षवादेन इति शेषः ॥१४॥

आत्मशब्दाच्च॥१५॥

“प्रियमेव”(तैत्ति.उप.२।५) इत्यादिना परोक्षवादेन उक्तानां प्रियप्राधान्यादीनामेव भावना कार्या, नतु यथाश्रुतानां शिरःपक्षादीनां, तेषाम् अविवक्षितत्वात्. तत्र हेतुः आत्मशब्दाद् इति. “आनन्द आत्मा”(तैत्ति.उप.२।५) इत्यनेन पूर्वोक्तानां प्रियप्राधान्यादीनां रसात्मकानाम् आत्मा स्वरूपम् आनन्दः इति उक्तम्. अग्रे “रसो वै सः”(तैत्ति.उप.२।७) इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभावात्मकत्वात् तस्यैव आनन्दमयत्वाच्च प्रियविषयकलीला-मध्यपातिभक्तज्ञानप्रकाराणामपि रसात्मकत्वेन आन्दरूपत्वात् तेषाम् उपासनातु उत्तमाधिकाराभावात् शिरःपक्षादिरूपेण कार्या इति भाववती श्रुतिः तथा न्यरूपयत्. एतेन यत्परम्परासम्बन्धेऽपि उपास्यत्वं तद् अस्य महत्त्वं कियदवधि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्येषां पक्षादीनां “प्रियमेव” इत्यादिना “तस्य प्रियमेव शिरः”(तैत्ति.उप.२।५) इत्यादिवेदवाक्येन. अविवक्षितत्वाद् आनन्दमयात्मध्याने शिरःपक्ष-प्रभृतीनाम् अनुपसंयोगाद् इति अर्थः. अत्र अनुपसंहारे. इति उक्तम् “आत्मानं स्वयमकुरुत”(तत्रैव २।७) इत्यादिश्रुतिभिः उक्तम् इति अर्थः. अग्रे रसमयानन्दमयात्म-निरूपणे. तस्य आत्मस्वरूपस्य. भक्तज्ञानप्रकाराणाम् एकान्तभक्तज्ञानविषय-भगवद्भर्माणाम्. तेषाम् उपासकानाम्. एतेषाम् उपासनाविषयीभूतं रूपं विभूतिरूपमेव नतु मूलरूपं तस्य एकान्तभक्तिमात्रविषयत्वाद्. भाववती भगवत्स्वरूपागाधत्व-ग्राहवती. तथा न्यरूपयद् “यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह”(तत्रैव २।९)

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति अन्येषाम् इति. पक्षादीनाम् इति अर्थः. ‘आत्म’शब्दस्य आकारे तात्पर्यं नास्ति किन्तु आनन्द इत्यत्र किं प्रमाणम्? अतः आहुः अग्रे इति. आनन्दमयविवरणे. वक्ष्यमाणत्वाद् इति. “आत्मानं स्वयमकुरुत”(तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिना इति. तस्य च रसस्य. स्थायीति. निरूपाख्यस्थायिभावात्मकरूपेति अर्थः.

ननु श्रुतौ पक्षादिकथनं किमर्थम्? अतः आहुः प्रियविषयेति. मध्यपाती यो भक्तः तस्य ज्ञाने इति अर्थः. तेषां ज्ञानमार्गीयाणाम् भाववती तात्पर्यवती. ननु उभयोः ब्रह्मपरत्वे तुल्ये अधिकारभेदः कथम्? इत्यतः आहुः एतेन इति. आनन्दमयस्वरूपएव ‘आत्म’पदस्य तात्पर्येण इति अर्थः. परम्परासम्बन्धेऽपि इति. पक्षादिविशिष्टा-

वाच्यम् इति ज्ञाप्यते. एवं सति उपासनामार्गीयोपास्यं विभूतिरूपं, नतु मूल-
रूपम्. “यन्न योगेन” (भाग.पुरा.११।१२।९) इति वाक्याद् इति ज्ञेयम्॥१५॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे प्रथमं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्॥१॥

तैत्तिरीयके अन्नमयादिनिरूपणे पुरुषविधत्वं तेषां निरूप्य, “तस्यैष एव
शारीर आत्मा यः पूर्वस्य” (तैत्ति.उप.२।३) इति सर्वत्र निगद्यते. तत्र आनन्द-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति श्रुतिः पूर्णानन्दे उपासनाविषत्वं न्यरूपयद् इति अर्थः. परम्परासम्बन्धेऽपि
पक्षादिसम्बन्धविशिष्टरूपेति. अस्य मूलधर्मिणः॥१५॥१॥

पूर्वाधिकरणे एकान्तभक्तानां पुरुषोत्तमे पक्षधर्माणाम् अनुपसंहारे “आनन्द
आत्मा” (तैत्ति.उप.२।५) इति ‘आनन्द’पदप्रयोगहेतुः उक्तः इति तत्प्रसङ्गस्मृत्या
आनन्दमय-प्रकरणस्थात्मशब्दयुक्तवाक्यान्तरं सूत्रकारो विचारयति इत्येतद्
अधिकरणवाक्यम् आहुः तैत्तिरीये इत्यादि. तेषाम् अन्नमयादीनाम्. सर्वत्र पञ्चसु.
भवति संशयः एतद्वाक्यार्थे भवति संशयः इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इत्यादिना.
तथाच तस्मिन् वाक्ये प्राणमयम् आरभ्य उच्यते “तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य”
(तैत्ति.उप. २।३) इति. तत्र सर्वापेक्षया पूर्वविचारे अन्नमयः समायाति इति तस्य यो
अभिमानो शारीरः स एव आनन्दमयस्यापि तदभिमानो च जीव एव लोके प्रसिद्धः इति
गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

नन्दमयस्य उपास्यत्वं तस्य सम्बन्धिनः इति अर्थः. ज्ञाप्यते “यतो वाचो निर्वर्तन्ते”
(तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुत्या ज्ञाप्यते इति अर्थः. वाक्याद् इति अर्थः. तत्रैव
रसभाववतामेव प्रशंसापि उक्ता इति वैलक्षण्यं बोध्यम्॥१५॥

पूर्वाधिकरणे “आनन्दः आत्मा” (तैत्ति.उप.२।५) इति ‘आत्म’शब्दप्रयोगो
भक्तिमार्गीयाणां प्रियशिरस्त्वाद्यनुपसंहारे हेतुः उक्तः. तत्प्रसङ्गेन तत्रत्य ‘आत्म’शब्द-
युक्तवाक्यान्तरं विचारयितुम् आत्मगृहीत्यधिकरणम् आहुः आत्मा इति.

तत्रत्यविषयम् आहुः तैत्तिरीयके इति. संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः तत्र
इति. तथा सति इति. तस्य जीवस्य आनन्दमयस्यापि अभिमानित्वे सति. ननु मास्तु
ब्रह्मत्वम् इत्यतः आहुः उच्यते च इति. इति प्राप्ते आह इति. सिद्धान्तम् आह इति
अर्थः. इतरवद् इति. जीवतुल्यः. ‘शारीर’पदसमभिव्याहाराद् इति अर्थः. एवञ्च
उपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मैव इति आहुः तस्यैव इति. यः पूर्वस्य इति. एवञ्च सर्वस्मात्
पूर्वप्रकाशजनकः परः उक्तः सर्वस्य उत्तरः आनन्दमयः इति उपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मैव
आत्मत्वेन ग्राह्यं नतु ‘शारीर’पदेन इतरद् इति अर्थः. अभिमानित्वेन जीवो नास्ति इति

मयपर्यन्तं शारीरात्मत्वकथनाद् भवति संशयः. शरीराभिमानी जीवएव कश्चिद्, उत ब्रह्मैव? तत्र 'शारीर'पदाद् जीवएव भवितुम् अर्हति. तथा सति आनन्द-मयस्यापि ब्रह्मत्वं न उपपद्यते. उच्यते च भार्गव्यां विद्यायां “अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्” (तैत्ति.उप.३।२) इत्यारभ्य आनन्दमयपर्यन्तम् “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्” (तैत्ति.उप.२।६) इत्यन्तया श्रुत्या ब्रह्मत्वम् इति उभयतः पाशारज्जुः इति प्राप्ते, आह.

आत्मगृहीतिर् इतरवद् उत्तरात्॥१६॥ (३।३।२)

इतरवद् जीववद् आत्मगृहीतिः आत्मग्रहणम् “तस्यैष एव शारीर आत्मा” (तैत्ति.उप.२।३) इति यत् तद् उत्तराद् “यः पूर्वस्य” (तैत्ति.उप.२) इति सर्वत्र उक्तत्वात् सर्वेभ्यः उत्तर आनन्दमयः तस्माद् हेतोः इति अर्थः. अनन्मयादिषु सर्वेषु आनन्दमयस्यैव उक्तः तत्तच्छरीराभिमानित्वात् तथा. एतद् यथा तथा आनन्दमयाधिकरणे (१।१।११-१८) प्रपञ्चितम् अस्माभिः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आनन्दमयाभिमानिनोऽपि न ब्रह्मत्वं सेत्स्यति. तत्र इष्टापत्तौ तु अन्नमयम् आरभ्य आनन्दमयपर्यन्तानां ब्रह्मत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधः इति पूर्वः पक्षः. आत्मगृहीतिः “तस्यैष एव शारीर आत्मा” इति श्रुतौ 'शारीर'पदसमभिव्याहाराद् यथा जीवे 'आत्म'पदप्रयोगो लोके प्रसिद्धः तद्वद् अत्र श्रुतावपि अन्नमयादिब्रह्मात्मक-शरीरसम्बन्धाद् उत्तराद् आनन्दमयरूपार्थादपि 'आत्म'शब्दप्रयोगः कृतः इति अर्थः. तदुत्तरात् सर्वोत्तराद् आनन्दमयाभिप्रायाद् इति अर्थः. सर्वत्र उक्तत्वात् सर्वत्र एकस्य प्रवेशनसमर्थस्य अन्यस्य अभावाद् इति अर्थः. उक्ततच्छरीरेत्यादि. तथाच अन्नमयाद्याध्यात्मिकतत्तच्छरीराभिमानी आनन्दमयएव. अभिमानश्च “तद् आत्मानमेव अवैद् अहं ब्रह्मास्मि” (बृहदा.उप.१।४।१०) इति श्रावणेन यथार्थज्ञान-रूपएव नतु अध्यासरूप इति न जीवत्वशङ्का. तथा आनन्दमयएव. प्रपञ्चितं “यः पूर्वस्य” (तैत्ति.उप.२।३) इत्यनेन आनन्दमयएव सर्वात्मना उक्तः इति अर्थः. “तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य” इत्यत्र उक्तः 'आत्मा' यश्च “अन्योन्तरात्मा” (तैत्ति.उप.२।४) इत्यत्र उक्तः 'आत्मा' सः उभयत्रापि उक्तः आनन्दमयएव आत्मा नतु

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सर्वं प्रपञ्चितम् इति अर्थः.

ननु सूत्रे 'आत्मगृही' इति पदम् 'अन्योन्तरः' इति, अस्य शारीर आत्मा इति.

अथवा “अन्योऽन्तर आत्मा” (तैत्ति.उप.२) इति अन्नमयाद् अन्यत्र सर्वत्र उक्तत्वात् पूर्वपूर्वनिरूपितो यः, सः इतरः इति उच्यते. तथाच, “यः पूर्वस्य” इति श्रुत्या इतरवत् पूर्वनिरूपितवत् प्रकृतस्यापि आत्मग्रहणं कथनं यत् तदुत्तराद् इति पूर्ववत्॥१६॥

अन्वयाद् इति चेत् स्याद् अवधारणात्॥१७॥

ननु सर्वत्र “अन्योऽन्तर आत्मा” (तैत्ति.उप.२) इति श्रुत्या प्रत्येकम् अन्नमयादीनां भेदनिरूपणात् ‘शारीर’पदाच्च भिन्नो-भिन्नो जीवएव आत्मा शरीराभिमानी सर्वत्र उच्यते, आनन्दमयेऽपि तथोक्तिः या, सातु आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वेन व्यापकत्वेन सर्वत्र अन्वयात् सर्वेषु शरीरेषु सम्बन्धाद् इति आशङ्क्य, तन्निरासाय उक्ते अर्थे उपपत्तिम् आह स्याद् इत्यादिना. स्याद् आनन्दमयएव उक्तसर्वशरीराभिमानी भवति इति अर्थः. तत्र हेतुः अवधारणाद् इति. “एष

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

‘शारीर’पदाद् जीवोऽपि इति इमम् अर्थं स्फुटीकुर्वन्ति अथवा इत्यादिना. अन्यत्र प्राणमयादिविज्ञानमयान्तेषु. यः सः आनन्दमयः इति अर्थः. फलितम् आहुः तथाच इत्यादिना. पूर्वनिरूपितवद् विज्ञानमयान्तेषु निरूपितात्मवत्. प्रकृतस्य इत्यादि. आनन्दमयेऽपि तस्य स्वस्यैव आत्मत्वेन ग्रहणम् इति अर्थः. उत्तराद् आनन्दमयाभिप्रायात्. पूर्ववद् इति इतरवद् इत्यस्य अर्थो बोध्यः इति अर्थः॥१६॥

भेदनिरूपणात् कोशपञ्चकेऽपि प्रत्येकम् आत्मभेदनिरूपणाद् इति अर्थः. तथोक्तिः आत्मत्वोक्तिः. तन्निरासाय चतुर्षु जीवस्य आत्मत्वनिरासाय इति अर्थः. उक्तशरीराभिमानी अन्नमयादीनां शरीरत्वेन उक्तानाम् अभिमानी इति अर्थः. तत्र अन्नमयादीनाम् आत्मनि परब्रह्मत्वे.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

आत्मा. कीदृशः आत्मा? इत्यत्र विनिगमनाभावात् पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. यः प्राणमयाद् आरभ्य विज्ञानमयपर्यन्तं यः सः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः तथाच इति. पूर्वनिरूपितवद् इति. पूर्वनिरूपितानां प्राणमयादीनामिव. प्रकृतस्य इति. आनन्दमयस्य इति अर्थः. पूर्ववत् पूर्वव्युत्पादितरीत्या आनन्दमयः इति अर्थः. तथाच आनन्दमयएव सर्वत्र शारीरः आत्मा इति मन्तव्यम्॥१६॥

इति आशङ्केय इति. सौत्राशङ्कायाम् इति अर्थः. सर्वभूतस्थितम् एकं विचिन्तयेद् इति बोधितम्. श्रद्धाख्यकला च बाधिता इति॥१७॥२॥

एव” (तैत्ति.उप.२) इति ‘एव’कारेण इतरनिषेधपूर्वकम् आनन्दमयस्यैव आत्मत्वनिर्धारणाद् इति अर्थः॥१७॥२॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे द्वितियम् आत्मगृहीति अधिकरणम्॥२॥

कार्याख्यानाद् अपूर्वम्॥१८॥ (३।३।३)

तैत्तिरीयके पठ्यते “तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१) इति उपक्रम्य महाभूतसृष्टिम् उक्त्वा आमनायते “पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्यो अन्नम्. अन्नात् पुरुषः. स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः” (तैत्ति.उप.२।१) इति. एतदग्रे अन्नस्य उत्पत्ति-स्थिति-लयहेतुत्वम् उक्त्वा, “ये अन्नं ब्रह्मोपासते” (तैत्ति.उप.२।१) इति उच्यते. भृगु-वरुणसंवादे च “अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्” (तैत्ति.उप.३।२) इति उच्यते. तत्र “स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन पूर्वोक्तएव पुरुषः उच्यते, उत तद्भिन्नः? इति भवति संशयः. किम् अत्र युक्तम्? पूर्वोक्तएव इति. यतः पूर्वोक्तस्यैव “स वा एष” इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानं प्रतीयते. तत्र ब्रह्मत्वेन उपासना कार्या इति अभिप्रायेण ब्रह्मत्वेन स्तूयते इति प्राप्ते, आह कार्याख्यानाद् अपूर्वम् इति. पूर्वस्य अन्नकार्यस्य पुरुषस्य आख्यानात् “स वा एष” इत्यनेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवकारेण “तस्यैषएव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य”(तैत्ति.उप.२।३) इति श्रुत्युपात्तैवकारेण. इतरनिषेधः जीवनिषेधः॥१७॥२॥

एतदग्रे “अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते” (तैत्ति.उप.२।२) इति अनुवाके. संशयम् आहुः तत्र इत्यादिना. पूर्वोक्तएव “अन्नाद् पुरुषः” इत्यत्र अन्नजन्यतयोक्त-पुरुषएव. तद्भिन्नः पूर्वोक्तभौतिकपुरुषाद् भिन्नः आध्यात्मिकः इति अर्थः. “स वा एष” इत्यनेन “स वा एष पुरुषोन्नरसमयः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रसङ्गसङ्गत्या अन्नमयादीनां कोशातिरिक्तत्वं बोधयितुम् आहुः कार्याख्यानादपूर्वम्. विषयवाक्यम् आहुः तैत्तिरीयके इति. एतद् अग्रे इति. “अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते” (तैत्ति.उप.२।२) इत्यादौ. तत्र सवा इत्यादिना संशयं वदन्ति. पूर्वोक्तएव इति. अन्नजन्यएव. भिन्नः एकविभूतिरूपः इति संशयम् इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः पूर्वोक्तएव इति.

अग्रिमश्रुतिभिः ब्रह्मत्वेन प्रतिपिपादयिषितम् अन्नरूपमेव उच्यते, नतु पूर्वम् इति अर्थः. “स वा एष” इति प्रत्यभिज्ञानम् इति यद् उक्तं तद् न, “अन्नात् पुरुषः” इत्यन्तेन आधिभौतिकतन्निरूपणात् “स वा एष” इत्यनेन आध्यात्मिकतन्निरूपणाद् उभयोश्च भेदात्. अतएव संशयाभावाय आह. वै निश्चयेन. एष वक्ष्यमाणः पुरुषः सः आध्यात्मिकत्वेन प्रसिद्धो अन्नरसमयः इति. अन्यथा ब्रह्मात्मकतपोलक्षणसाधनेन अधिकारे सम्पन्ने “अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्” (तैत्ति.उप.३।२) इति न वदेत्. *न च तदपि तत् तथात्वेन स्तूयते इति वाच्यम्,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्नरूपमेव कोशात्मकान्नरूपमेव. उच्यते पुरुषो ब्रह्मत्वेन उच्यते इति अर्थः. नतु पूर्वम् नतु भौतिकपुरुषरूपम् इति अर्थः. उभयोः आधिभौतिकाध्यात्मिकयोः. संशयाभावाय भौतिकत्वसंशयाभावाय. आह “अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते” (तत्रैव २।२) इत्यत्र आह इति अर्थः. उत्तरसमयः श्रुतिसङ्केतग्राह्यः इति अर्थः. अन्यथा “स वा एषः” इत्यनेन अन्नकार्यपुरुषस्य उक्तौ “अन्नं ब्रह्म” इत्यनेनापि भौतिकान्नस्य उक्तौ आध्यात्मिककोशरूपान्नस्य पुरुषरूपत्वेन अनुक्तौ “अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्” इत्यनेन अनुक्तौ च इति अर्थः. न वदेद् इति. “अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते” इति उक्त्वा अग्रे “सर्वं वै तेनमाप्नुवन्ति येन ब्रह्मोपासते” (यथापूर्वम्) इति सफलब्रह्मोपासन-मात्रमेव वदेत् तावतैव भौतिकान्नस्य ब्रह्मत्वेन उपासनस्य सिद्धेः नतु तपसः उपदेशेन अधिकारसिद्ध्यनन्तरम् “अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्” (तत्रैव ३।२) इति वदेद् इति अर्थः. इत्थं च तपोरूपसाधनं विना एतद् अन्नस्य अज्ञानाद् एतद् अन्नं भौतिकान्नाद् अतिरिक्तम् आध्यात्मिकं ब्रह्मरूपं भिन्नमेव इति अर्थः सिद्धः. ‘स एष’ इति शब्दयोः प्रत्यभिज्ञाबोधकत्वमपि नास्त्येव. ‘तच्’ छब्दस्य प्रत्यक्षार्थबोधकत्वाद् ‘एतच्’ छब्दस्य च वक्ष्यमाणार्थकत्वात्. तद् भौतिकान्नम्. तथात्वेन ‘ब्रह्मात्मकः’ इत्यारभ्य ‘व्यजानाद्’

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तसूत्रे विशदयन्ति पूर्वम् इति. अग्रे उच्यमानम् अतिरिक्तं नतु तद् इति सूत्रार्थः. आध्यात्मिकाधिभौतिकभेदाद् इति आहुः स वा इति. अस्मिन् अर्थे उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. अन्यथा एतादृशाभिप्रायाभावे न वदेद् इति. भृगुप्रपाठके “स तपो अतप्यत” (तैत्ति.उप.२।६) इत्यनन्तरम् अन्नस्य ब्रह्मत्वेन ज्ञानं वक्ति. तेन आध्यात्मिकः इति ज्ञाप्यते. नच इति. तद् इति. आधिभौतिकम् अन्नमपि इति अर्थः.

* ‘नवा तदपि’ इत्यपि पाठः.

श्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेः. आनन्दमयान्तम् एवमेव निरूपणाच्च. अतएव अस्यापि आत्मा अग्रे निरूपितो “यः पूर्वस्य” इति. सतु आधिदैविक आनन्दमयः.

अथवा, वाजसनेयिशाखायाम् “आत्मेत्येवोपासीत” (बृहदा.उप.१।४।७) इति उपक्रम्य “तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयो अन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यद् अयम् आत्मा” (तत्रैव १।४।८) इति. एतदग्रे अन्यस्य प्रियत्वं निराकृत्य “ईश्वरो हि तथा स्याद् आत्मानमेव प्रियम् उपासीत” (तत्रैव) इति पठ्यते. अत्र आत्मौपाधिकत्वात् सर्वत्र प्रियत्वस्य ‘आत्म’पदेन जीवात्मनएव प्रियत्वेन उपासना विधीयते उत ‘ईश्वर’पदात् परमात्मनः? इति भवति संशयः. किम् अत्र युक्तम्? जीवात्मनएव इति. कुतः? यथा पुत्रादेः आत्मौपाधिक-प्रियत्वोक्त्या जीवात्मनएव प्रियत्वम् उच्यते अन्यत्र श्रुतौ, तथा इहापि “प्रेयः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यन्तेन स्तूयते इति तदपि न वाच्यम् इति अन्वयो बोध्यः. प्रत्यभिज्ञानेन भौतिकान्-श्रुतिपरतया ज्ञापने भौतिकस्य अब्रह्मत्वेन तत्र ब्रह्मत्वबोधकश्रुतेः प्रतारकत्वापत्ति-दोषः स्याद् इति अर्थः. आनन्दमयान्तम् इत्यादि. तथाच आनन्दमयज्ञानपर्यन्तं “तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व” (यथापूर्वम्) इति उक्तेः अन्यत्र वास्तवं ब्रह्मत्वम् अन्नमयः आरोपितं स्तुत्यर्थं श्रुतिः वदति इति विषमव्याख्याने प्रमाणाभावः इति अर्थः. अतएव एतद् अन्नमयस्य भौतिकत्वाभावादेव. सतु अन्नमयस्य आत्मातु.

पूर्वनिरूपितार्थस्य आनन्दमयाधिकरणएव प्रायशः स्फुटत्वाद् न अत्यन्ताव-श्यकता इति अरुच्या प्रकारान्तरेण अधिकरणरचनाम् आहुः अथवा इत्यादिना. विषयवाक्यम् आहुः ‘आत्मा’ इत्यादि. अत्र आत्मनः प्रियत्वप्रतिपादकश्रुतिषु. आत्मौपाधिकत्वाद् आत्ममात्रोद्देश्यकत्वाद् इति अर्थः. सर्वत्र अत्रोक्तश्रुतौ “आत्मनस्तु कामाय” (बृहदा.उप.२।४।५) इत्यादिश्रुतिषु च इति अर्थः. जीवात्मनएव

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तथात्वेन ब्रह्मत्वेन. श्रुतेः ब्रह्मज्ञानार्थं प्रवृत्तश्रुतेः ब्रह्मत्वेन अन्नज्ञाने प्रतारक-त्वापत्तेः इति अर्थः. निरूपणाद् इति. तथाच आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे सन्देहएव नास्ति इत्यतः अन्नमयेऽपि तथा अत्र व्यक्तम् इति भावः. एतेन अन्नमयादयः कोशातिरिक्ता विभूतित्वेन उपास्याः. आनन्दमयः पुरुषोत्तमस्तु विभूतिमत्त्वेन उपास्य इति बोधितम्.

व्याख्याने प्रकारान्तम् आहुः अथवा इति. शाखायाम् इति. बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे. शेषं वाक्यम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः किमत्र इत्यादिना. अन्यत्र

पुत्रात्” (तत्रैव १।४।८) इत्यादिकथनाद् जीवात्मैव भवितुम् अर्हति इति प्राप्ते, आह कार्याख्यानाद् अपूर्वम् इति. इतः पूर्वम् आम्नायते “प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् रूपं पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तानि अस्यैतानि कर्मनामान्येव” (तत्रैव १।४।७) इति. तथाच प्राणन-वदनादिकार्यैः कृत्वा प्राण-वागादित्वेन एकस्यैव आत्मनः आख्यानात् कथनाद् अपूर्वम्, पूर्वन्तु पुत्रवित्ताद्यभिमानदशायां “न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति” (तत्रैव २।४।५) इत्यादिना यत् प्रियत्वेन उच्यते, तस्माद् भिन्नम् ‘आत्म’शब्दवाच्यम् अत्र इति अर्थः. लोके हि प्राणवायुवागिन्द्रियादीनामेव तत्-तच्छब्दवाच्यता नतु जीवस्य, अतएव अग्रे श्रुतिः आह “ईश्वरो हि तथा स्याद्” (तत्रैव १।४।८) इति. अतएव “प्रेयो अन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यद् अयम् आत्मा” (तत्रैव १।४।८) इति आह. अन्तरो जीवात्मा, ततोऽपि अतिशयेन अन्तरम् अन्तरतरं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव भवितुम् अर्हति इति. एतेन विग्रहस्यैव आत्मरूपत्वं सिध्यति. तेन अविकृतत्व-परमानन्दत्वादयोऽपि धर्माः उपसंहर्तव्याः॥१८॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति. जीवस्यैव पुत्राद्यभिमानसम्भवाद् ‘एव’कारेण ईश्वरव्यवच्छेदः. अन्यत्र श्रुतौ “आत्मनस्तु कामाय” इत्यादिश्रुतौ. इतः पूर्वम् “आत्मेत्येव” इत्यस्य पूर्वम् इति अर्थः. एकस्यैव सर्वकर्तुः सर्वात्मकस्य एकस्यैव इति अर्थः. तस्माद् भिन्नं पुत्राद्यभिमानिभिन्नम् अपूर्वशब्दबोध्यम्. अत्र आत्मशब्दार्थमध्ये बोध्यम् इति अर्थः. तत्तच्छब्दः प्राणवागादिशब्दः. अतएव जीवे तत्तच्छब्दवाच्यत्वाभावादेव. पुरुषोत्तमस्वरूपमेव इति ‘एव’कारेण अक्षरस्य स्वरूपाभावेन अनन्तरत्वं व्यवच्छिद्यते. एतेन पुरुषोत्तमस्य आन्तरत्वप्रतिपादनेन॥१८॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

श्रुतौ इति. मैत्रेयीब्राह्मणे. अन्यमपि हेतुम् आहुः आनन्देति. सूत्रे ‘कार्येण’ इति तृतीयाम् अभिप्रेत्य सिद्धान्तम् आहुः इतः पूर्वम् इति. ‘अपूर्वम्’ इत्यस्य अर्थम् आहुः पूर्वम् इति. यद् जीवात्मरूपं वस्तु. आत्मशब्देति. “आत्मानं प्रियम् उपासीत” (बृहदा.उप.१।४।८) इति वाक्ये शेषः.

ननु कार्याख्यानमात्रेण जीवभिन्नः आत्मा उच्यते इत्यत्र किं प्रमाणम्? अतः आहुः लोकेति. अतएव जीवाभिन्नत्वादेव. अतएव ईश्वरत्वादेव. श्रुत्यर्थम् आहुः अन्तरो इति. इदानीं तद्विचारस्य प्रयोजनम् आहुः एतेन इत्यादि. उपसंहर्तव्या इति.

ननु विग्रहे चक्षुःश्रोत्रादीनां वैलक्षण्यप्रतीतेः आत्मनश्च एकरसत्वाद् उक्तकर्मनामवत्वं ब्रह्मणि अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य उत्तरं पठति.

समान एवं च अभेदात् ॥१९॥

चो अप्यर्थे. तथाच एवमपि सति श्रोत्र-चक्षुरादिवैलक्षण्यप्रतीतावपि सति समान एकरूपएव, नतु विषमः. तत्र हेतुः अभेदाद् इति. चक्षुरादीनां ब्रह्मत्वेन परस्परम् अभेदाद् इति अर्थः.

अत्र इदम् आकृतम् : “तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि” (बृहदा.उप. ३। ९२।६) इति श्रुतेः उपनिषद्वेद्यमेव ब्रह्मस्वरूपम्. ताश्च “प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन् वाक्” (तत्रैव १।४।७) इत्यादिरूपाः प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यान् अर्थान् स्वरूपेणैव गृह्णद् ब्रह्म तत्-तच्छब्दवाच्यं भवति इति वदन्ति. तद्वाच्यता च व्यवहार्यत्वे. सच “तदेतत् प्रेयः पुत्राद्” (तत्रैव १।४।८) इत्यादिवाक्यैकवाक्यतया निरुपधिस्नेहवतामेव व्यवहार्यः इति ज्ञाप्यते. सच आविर्भूते अवताररूपएव सम्भवति. एवं सति तत्र भक्तैः भगवद्विग्रहे तत्तदवयवेषु भेदेन यथा-यथा व्यवह्रियते, तथा-तथैव तदेकमेव अखण्डसच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म इति अर्थः सम्पद्यते. एवंविधो लोके न प्रसिद्धः इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तकर्मनामवत्वं ‘प्रणववागा’दिपदवाच्यत्वम्. तत्तच्छब्दवाच्यं ‘प्रणव-वागा’दिशब्दवाच्यम्. तद्वाच्यता श्रुतिवाच्यता. व्यवहार्यत्वे ब्रह्मणः शब्दात्मक-व्यवहारविषयत्वे. सच व्यवहार्यश्च. सच निरुपधिस्नेहवद्व्यवहारश्च. तत्तदवयवेषु भक्तानां स्वस्वानन्दानुभावकतत्तद्भगवदवयवेषु इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

अवतीर्णे स्वरूपे उपसंहर्तव्या इति अर्थः ॥१८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. पठन्ति इति. “तरुर्भिन्नः कुसुमं भिन्नम्” इतिवद् भेदप्रतीतो उत्तरं पठन्ति इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति चोप्यर्थः इति. अभेदमेव व्यवस्थापयन्ति अत्र इति. ताः च इति. श्रुतयः च इति अर्थः. सच इति. उपनिषद्वेद्यः पुरुषश्च. सच इति. व्यवहार्यः च इति अर्थः. तथाच अतीतपादे “आह च तन्मात्रं” “प्रकाशवच्चावैयर्थ्याद्” इति सूत्रद्वयेन उपपादनाद् अप्रामाणिकत्वं व्यवहारस्य नास्ति इति भावः. एवं सति इति. अत्र लौकिकयुक्तः प्रसरो नास्ति इति आहुः एवंविधः इति.

असम्भावना स्याद्. तदभावाय अग्रे श्रुतिः आह “ईश्वरो हि तथा स्याद्” (तत्रैव १।४।८) इति. एतेन आविर्भूतरूपे व्यापकत्वैकरसत्वसच्चिदानन्दत्वादयो धर्माः उपसंहर्तव्या, अनाविर्भूतेऽपि इति स्थितम्. एवं सति आविर्भावे अनाविर्भावे-
 ऽपि ईश्वरः समानः. न हि आविर्भावे कांश्चन् आगन्तुकान् धर्मान् आदाय आविर्भवति इति वक्तुं शक्यम् अनाविर्भूतस्यापि. एवम् आविर्भूतप्रकारेणैव अभेदाद् इत्यपि सूत्रार्थः सूत्रकाराभिमतः इति ज्ञातव्यम्. ‘च’कारेण विरुद्ध-
 सर्वधर्माश्रयत्वं समुच्चीयते. एवं साक्षाद् आविर्भूते भगवद्रूपे पूर्णानन्तधर्माः तदुपासकेन उपसंहर्तव्याः इति सिद्धम्॥१९॥

अथ यत्र कार्यचिकीर्षया जीवे स्वयम् आविशति, तदवेशात् तद्धर्मापि केचित् तस्मिन् आविर्भवन्ति तत्र उपासकेन अखिलब्रह्मधर्मोपसंहारः कर्तव्यः न वा ? इति शङ्कासमाधानं विकल्पेन आह सूत्राभ्याम्. तत्र आदौ विधिपक्षम् आह.

सम्बन्धादेवम् अन्यत्रापि॥२०॥

अन्यत्रापि जीवेऽपि एवं ब्रह्मणीव उपासना कार्या. तत्र हेतुः सम्बन्धाद् इति. अयोगोलके वह्नेरिव तस्मिन् आवेशलक्षणः सम्बन्धो अस्ति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदुपासकेन पूर्णपुरुषोत्तमोपासकेन॥१९॥

आविर्भूते भगवति उपसंहारं विचार्य आवेशे उपसंहारं विचारयति इति आहुः अथ इत्यादि. विधिपक्षं संशये विधिकोटिपक्षम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तथा स्याद् इति. तथाच अवतारः ईश्वरो वा इति सूचितम्. सिद्धम् आहुः एतेन इति.

एतादृशं श्रुत्यभिप्रायम् आदाय प्रकारान्तरेण सूत्रार्थम् आहुः एवं सति इति. एवञ्च “अजोऽपि सन् अव्ययात्मा”(भग.गीता ४।६) इति गीतावाक्याद्, “विश्वतः चक्षुः”(महाना.उप.२।२) “यदेकम् अव्यक्तम्”(तत्रैव.१।५) इति श्रुत्यापि स्वाभा-
 विकएव आकारः पर्यवस्यति इति बोध्यम्. अतएव पूर्वोक्तार्थस्य ‘च’कारस्य अन्यार्थ-
 कत्वम् आहुः ‘च’कारेण इति. साक्षाद् इति. सत्त्वाद्यधिष्ठानम् अनपेक्ष्य इति अर्थः॥१९॥

विचारयन्ति अथ इति. जीव इति. इन्द्रप्रतर्दनसंवादे इन्द्रे. इन्द्रप्रतिमायामपि उपलक्षकम्. “यस्य देवे परा भक्तिः”(श्वेता.उप.६।२३) इत्यादिना गुरौ. विकल्पेन इति. मार्गभेदव्यवस्थितविकल्पेन इति अर्थः. तत्र प्रतिमादौ गुरौ च. सूत्रं व्याकुर्वन्ति अन्यत्रापि इति.

इति, तत्त्वेन व्यपदेशाच्च तथा इति अर्थः.

अत्र एवं ज्ञेयम् : अयन्तु जीवः, अत्र आविष्टं भगवन्तम् अहम् उपास इति जानाति चेत् तदा न सा जीवगामिनि उपासना किन्तु ब्रह्मगामिन्येव. तत्र अखिलधर्मोपसंहारे न किञ्चिद् बाधकम्. यत्र ब्रह्मात्वेनैव ज्ञात्वा उपास्ते तत्रापि “तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्वैतान् भूत्वा अवति” (मुद्गल.उप.१।३) इति श्रुतेः गुर्वादौ जीवत्वबुद्धिनिषेधाच्च तथा. तत्र यादृग् उपासकः तदुपासना-सिद्ध्यर्थं तत्फलदानार्थं च तादृग् रूपो भगवान् आविशति इति च तथा॥२०॥

यस्तु अन्तरङ्गं भगवद्भक्तं हृदि आविर्भूतभगवत्कं ज्ञात्वा “एतद् भजनेन अहं भगवन्तं प्राप्स्यामि” इति ज्ञात्वा तमेव भजते सः भक्तिमार्गीयइति भक्तहृदि आविर्भूते रूपे उपसंहरो धर्माणां तेन न कार्यः इति अग्रिमं पठति.

न वाविशेषात्॥२१॥

अनुपसंहारे हेतुः **अविशेषाद्** इति. अस्य भक्तभक्तत्वेन तद्भजन-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अयन्तु आवेशाधिकरणीभूतस्तु. **तत्रापि** तादृशस्थलीयोपास्ये ब्रह्मण्यपि इति अर्थः. **तथा** उपसंहारः सर्वधर्माणां कार्यः इति अर्थः॥२०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **यस्तु अन्तरङ्गे**त्यादिना. अस्य भक्तभक्तस्य. **तद्भजने**ति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रतिमायाम् आहुः तत्त्वेन इति. अतएव “शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद कर्हिचित्, ज्ञानानन्दात्मको विष्णुर्यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृत्” (स्कन्दपुरा.) इति पाण्डुरङ्गमाहात्म्ये स्कन्दे उक्तम्. उपासनायां व्यवस्थितविधिपक्षबीजं दर्शयन्ति अत्र एवम् इति. एवं प्रकाराभ्याम्. **गुर्वादौ** इति. **निषेधाद्** इति. **आचार्यं माम्** इति. जानीयाद् इति शेषः. यथा भक्तिः तथा उपासनापि इति एकादशस्कन्धे “एवं गुरुपासनयाशितेन” (भाग.पुरा.११।१२।२४) इति उक्ता. एवं प्रकारद्वये ब्रह्मावेशः प्रयोजकः इति ज्ञापनाय आहुः **तत्र** इति. **आविशति** इति. आवेशस्तु अनुभवेन ज्ञेयः. श्रीजगन्नाथादौ तथा अवगन्तव्यम् ॥२०॥

भक्तिमार्गे निषेधपक्षे इति ज्ञापनार्थम् उत्तरसूत्रम् अवतारयन्ति **यस्तु अन्तर-ङ्गम्** इति. श्वेताश्वतरोक्तप्रेमविश्वासयोः उत्कर्षाद् आहुः **सः भक्तिमार्गीयः** इति.

व्याकुर्वन्ति **अनुपसंहारे** इति. तदेव विशदयन्ति अस्य इति. **भक्तभक्तत्वेन**

रसास्वादेन विस्मृततदाविष्टभगवत्कत्वेन तन्निरपेक्षत्वेन वा तदाविष्ट- भगवति गुणोपसंहारे अनुपसंहारे वा भक्तोपासनायां विशेषाभावाद् इति अर्थः. अनुपसंहारस्य अत्र बाधकत्वाभावज्ञापनाय ‘वा’शब्दः. **विशेषाद्** इति वा. पूर्व विहितत्वेन भगवदाकारादिषु भजनं कुर्वन्नपि उक्तरूपभक्तसङ्गेन तद्भजनेन च पूर्वस्माद् विशिष्टं रसम् अनुभूतवानिति रसास्वादे विशेषाद् गुणोपसंहारं स न करोतीति अनुवादः. विहितत्वेन गुणोपसंहारपूर्वकोपासनायां नीरसत्वेन अनादरज्ञापनाय ‘वा’शब्दः. भगवदवताररूपोऽपि बादरायणः प्रासङ्गिकेऽपि भक्तिमार्गस्मरणे तदीयरसावेशपरवशः तद्भावस्वभावम् अनूक्तवान् ॥२१॥

अपिच, उपसंहारो हि तत्र अनुक्तानाम् अन्यत्र उक्तानां गुणानां तत्र सत्त्वेन ज्ञानमात्रम्. उक्तरूपभक्तायतु तद्भजनीये भक्तएव अलौकिकान् अनुभावान् भगवान् प्रत्यक्षं दर्शयतीति न तत्र उपसंहारापेक्षागन्धोऽपि इत्यत्र उत्तरं पठति.

दर्शयति च ॥२२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपास्यभक्तभजनेत्यादि. **तन्निरपेक्षत्वेन** आवेशनिरपेक्षत्वेन. **भजनं कुर्वन्नपि** उपसंहारस्य वैधत्वेन उपसंहारपूर्वकं भजनं कुर्वन्नपि इति अर्थः. **अनादरज्ञापनाय** इति. तथाच एकान्तभक्तानां रसानुभावकस्वरूपएव भजननियमो नतु उपसंहारेऽपि इति भावः. अनुवादप्रयोजनम् आहुः **भगवदवतारे**त्यादिना. तदीयेति भक्तिमार्गीयेत्यादि. **तद्भावस्वभावं** भगवद्भक्तिभावस्वभावम्. **अनूक्तवान्** स्वस्य भक्तातादशायाम् एभिः सूत्रैः स्वयं निरूपितवान् इति अर्थः ॥२१॥

तत्र निरूप्यप्रकरणे. **तद्भजनीये भक्ते** भक्तिमार्गीयभजनीयभक्ते. **अलौकिकान्** रसरूपान् इति अर्थः. यथायोग्यम् **उत्तरं पठति** तादृशभक्तस्य उपसंहारे प्रयोजनाभावे उत्तरं पठति इति अर्थः. विशदीकृतार्थम् एतत् सूत्रम् ॥२२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति. भजनशीलभक्तत्वेन इति अर्थः. अतएव नवमस्कन्धे “तत् प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः, अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः” (भाग.पुरा.९।२१।१८) इति उक्तम्. प्रकारान्तरेण हेतुं व्याकुर्वन्ति **विशेषाद्** इति. ‘वा’शब्दः इत्यन्तम्. **तद्भजनेन** इति. भगवदाकृतिभजनेन. अनुवादप्रयोजनम् आहुः **भगवदवतारे**ति. **अनूक्तवान्** इति. तदुत्कर्षबोधनाय इति शेषः ॥२१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **अपिच** इति. अत्र भाष्यं स्फुटम् ॥२२॥

ननु भक्तभक्तः स्वसेव्ये अत्यलौकिकं वीर्यं दृष्ट्वा तदाविष्टे भगवति तत्सम्भारकत्वस्य इन्द्रादीनामपि तदाज्ञापेक्षित्वं दृष्ट्वा द्युलोकव्यापकत्वस्य उपसंहारं करिष्यति इति आशङ्क्य आह

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः॥२३॥

राणायनीयानां खिलेषु पठ्यते “ब्रह्मज्येष्ठा वीर्यां सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवम् आततान, ब्रह्म भूतानां प्रथमन्तु जज्ञे, तेन अर्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः” (तैत्ति.ब्राह्म.२।४।६) इति. अस्य अर्थस्तु. अन्यैः हि पुरुषैः सहायानपेक्ष्य विक्रमाः सम्भिज्यन्ते. तेन तत्पराक्रमाणां तएव नियतपूर्वभावित्वरूपकारणत्वेन ज्येष्ठाः. ब्रह्मधर्माणान्तु ब्रह्मैव ज्येष्ठम् अनन्यापेक्षं सृष्ट्यादि करोति इति अर्थः. एवं सति ब्रह्म ज्येष्ठं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि वीर्याणि. अत्र छन्दसि बहुवचनस्य डादेशः. किञ्च, अन्येषां वीर्याणां बलवद्भिः मध्ये भङ्गोऽपि भवति. तेन ते स्ववीर्याणि न सम्भिज्यन्ति. ब्रह्मवीर्याणितु ब्रह्मणा सम्भृतानि निष्प्रत्यूहं सम्भृतानि इति अर्थः. तच्च ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे इन्द्रादिजन्मनः प्रागेव दिवं स्वर्गम् आततान व्याप्तवन्नित्यमेव विश्वव्यापकम् इति अर्थः. देशतो अपरिच्छेदम् उक्त्वा कालतोऽपि तम् आह ‘ब्रह्म’ इति. भूतानाम् आकाशादीनां पूर्वमेव जज्ञे. आविर्बभूव इति अर्थः. एतेन वीर्यसम्भृति-द्युव्याप्ति-प्रभृतिमाहात्म्यम् उक्तं भवति.

तथाच सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तयोः समाहारः तथा. एतावपि स तत्र

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रान्तरम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. तत्सम्भारकत्वस्य भगवत्सम्बन्धि-वीर्यादिसमूहस्य द्युलोकादिव्यापकत्वस्य च इति अर्थः.

सूत्रार्थम् आहुः सम्भृतिश्च इत्यादिना. तथा सम्भृतिद्युव्याप्तिशब्दवाच्यः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उत्तरसूत्रम् अवतारयन्ति ननु भक्तेति. अलौकिकं लोकरीतिम् अतिक्रम्य इति अर्थः. तद् इति. वीर्यसम्भारेति अर्थः. उपसंहारम् इति. ऐहिकपारलौकिकार्थम् इति शेषः.

सूत्रं व्याख्यातुं विषयवाक्यम् आहुः राणायनीयेत्यादिना. वाक्यम् उक्त्वा तस्य अर्थम् आहुः अन्यैः हि इत्यादिना उक्तः भवति इत्यन्तेन.

न उपसंहरति. तत्र हेतुः “न वाविशेषाद्” (ब्रह्मसू.३।३।२१) इति सूत्रोक्तएव इति अतिदिशति अतएव इति. एतद् यथा-तथा तत्रैव उक्तम्

विषयवाक्योत्तरार्धोक्तधर्मान् उद्देशेन एवं ज्ञायते भक्तस्य ऐहिक-पारलौकिकोपयोगिधर्मोपलक्षणार्थं द्वयोरेव उद्देशः कृतः इति. ‘च’कारेण दर्शनमपि उक्तं समुच्चीयते. अन्यच्च. स्पर्धाकृतिसम्भावनायां हि तद्योग्यता-निषेधः सम्भवति. साच आविर्भूतएव भगवति सम्भवतीति अखिलशक्त्याविर्भावपूर्वकम् आविर्भूतस्य तस्य एतया श्रुत्या माहात्म्यम् उच्यते इति गम्यते. एवं सति एतद्वाक्योक्तधर्मयोरेव अनुपसंहार्यत्वेन यत् कथनं तत्तु भक्तहृदि आविर्भूतं ब्रह्मापि एवम्भूतमेव इति ज्ञापनाय अतो युक्तएव अनुपसंहारः॥२३॥३॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे तृतीयं कार्याख्यानाद् इति अधिकरणम्॥३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सः भक्तभक्तः. तत्र भक्ते. तत्र अनुपसंहारे. सूत्रोक्तएव उपसंहारे विशेषाभावाद् भक्तकृपयैव ऐहिकामुष्मिकसकलपदार्थानां सिद्धौ उपसंहारे विशेषाभावाद् इति. सूत्रोक्तो अर्थो अवसेयः इति अर्थः.

तत्रैव उक्तं पूर्वसूत्रएव उक्तम्. उत्तरार्धोक्त-धर्मानुद्देशेन सूत्रकारेण विषयवाक्यपूर्वार्धोक्तवीर्यं व्याप्तयोरेव उद्देशः कृतो नतु उत्तरार्धोक्तभूतादित्वेतरास्पर्ध्यत्वयोः तेन इति अर्थः. उपलक्षणार्थम् उभयोः बोधनार्थम्. उद्देशः कृतः सूत्रकारेण उद्देशः कृतः इति अर्थः. चकारेण सूत्रोपात्त-‘च’कारेण. दर्शनं भक्तभक्तस्य भक्तकारितभगवद्दर्शनं पूर्वम् उक्तम्. सम्भावनायां हि भगवता स्पर्धितुं योग्यस्य अन्यस्य सम्भावनायां हि इति अर्थः. एवम्भूतम् अखिलशक्त्याविर्भावपूर्वकं स्वयम् आविर्भूतम्॥२३॥३॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रार्थम् आहुः तथाच इति. तत्रैव उक्तम् इति. अस्य भक्तत्वेन इत्यादिना. त्वया इदं कथं ज्ञायते? इत्यत्र गमकम् आहुः विषयेति. तथा अयमेव सूत्रकाराशयः. ‘च’कारप्रयोजनम् आहुः ‘च’कारेण इति. पूर्वोक्तसूत्रकाराशये शङ्कानिवृत्त्यर्थम् आहुः अन्यच्च इति. साच इति. सम्भावना च इति अर्थः. गम्यते व्यासाशयो निश्चीयते. तथाच प्रकरणम् अप्राप्य विहितानां न उपसंहारः, अनुपयुक्तत्वाद् इति भावः ॥२३॥३॥

पुरुषविद्यायामिव च इतरेषाम् अनाम्नानात्॥२४॥ (३।३।४)

तैत्तिरीयके “सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्, स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलं, पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्” (तैत्ति.संहि.३।१२।१) इत्यादिना पुरुषविद्या निरूप्यते. तत्रैव, “ब्रह्मविदानोति परम्” (तैत्ति.उप.३।१) इति प्रश्ने, “स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः” (तैत्ति.उप.३। २) इत्यारभ्य प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयात्मकं ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते. तत्र सर्वत्र “स च पुरुषविध एव” (तत्रैव) इति च पठ्यते.

अत्र अन्नमयादिषु पुरुषसूक्ते च ‘पुरुष’पदश्रवणाद् अन्नमयादिषु सहस्रशीर्षत्वाद्युपसंहारः कर्तव्यो न वा ? इति भवति संशयः. किम् अत्र युक्तम् ? उपसंहर्तव्यमेव इति. कुतः ? सर्वत्र ब्रह्माणएव उपास्यत्वाद् अत्रापि उपासनोक्तेः ब्रह्मत्व-पुरुषत्वयोः अविशेषाद् विद्यैक्याद् इति प्राप्ते, उच्यते **पुरुषविद्या-यामिव** इति. अन्नमयादिषु सहस्रशीर्षवत्त्वादिकं न उपसंहर्तव्यम्. कुतः ? पुरुषविद्यायां यथा पुरुषस्वरूपं निरूप्यते न तथा **इतरेषाम्** अन्नमयादीनां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवम् अनारभ्य अधीतवाक्योक्तधर्माणाम् अनुपसंहारम् उक्त्वा पूर्णाधिकारिभिः अशेषपूर्णगुणं परं ब्रह्मैव उपास्यं नतु विभूतिरूपम् इति बोधयितुम् उपासनामार्गेऽपि विशेषतो अनुपसंहारं वदति इति आशयेन अधिकरणविषयवाक्यम् आहुः तैत्तिरीयके इत्यादि. तत्र सर्वत्र अन्नमयादिषु पुरुषसूक्ते च इति अर्थः.

अत्रापि अन्नमयादिष्वपि. अविशेषाद् अन्नमयादिषु ब्रह्मत्वस्य पुरुषसूक्ते च पुरुषत्वस्य उक्त्या उभयत्रापि ब्रह्मपुरुषत्वस्य अविशेषाद् इति अर्थः. सूत्रेण गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एतावता प्रकरणमध्येऽपि अविहितानां धर्माणां भक्तिमार्गे अनुपसंहारः उक्तः. उपासनामार्गे उत्तमाधिकारिणां परब्रह्मोपासना विहिता, नतु विभूतिरूपस्य इति बोधयितुं पुरुषाधिकरणम् आहुः पुरुषेति. तत्र अनुपसंहारं वक्तुं विषयम् आहुः तैत्तिरीयके इति. प्रश्ने प्रपाठके. अविशेषाद् इति. भृगुप्रपाठके ब्रह्मत्वं पुरुषसूक्ते पुरुषत्वं तयोः इति अर्थः. तथाच अविशेषादेव विद्यैक्यम् इति अर्थः.

सूत्रार्थम् आहुः अन्नमयादिषु इति. निरूप्यते “सहस्रशीर्षा” (ऋग्वेदमं. १०।९०।१) इति सूक्तेन इति अर्थः. तत्प्रकरणे इति. अन्नमयादिनिरूपणप्रकरणे. तत्र हि पुरुषसूक्ते हि. अन्यथा सहस्रसङ्ख्यापरत्वे. शिरोभ्यः इति. तथाच शिरसो

विज्ञानमयान्तानां स्वरूपं तत्प्रकरणे निरूप्यते. अत्र हि पुरुषत्वम् उच्यते. 'सहस्र'पदम् अनेकत्वोपलक्षकम्. अन्यथा अक्षणां शिरोभ्यो द्वैगुण्यं वदेत्. तेन साकार-व्यापकत्वम् उक्तं भवति. तत्र पुरुषविधत्वं, सच आध्यात्मिकरूपः, तच्छरीराभिमानी आत्मा च अन्यः आधिदैविकः उच्यते, न तथा अत्र. किञ्च, "पुरुष एवेदं सर्वम्" (तैत्ति.संहि.३।१२।१) इत्यादिना प्रपञ्चात्मकत्वं मुक्ति-दातृत्वं च उक्त्वा, न एतावन्मात्रम् अस्य माहात्म्यम्, इतोऽपि महत् माहात्म्यम् अस्ति इति वक्तुं प्रपञ्चरूपं तद्विभूतिरूपम् इति "एतावान् अस्य महिमा" (तत्रैव ३।१२।१) इत्यनेन उक्त्वा ततः आधिक्यम् आह "अतो ज्यायांश्च पूरुषः" (तत्रैव ३।१२।१) इति. एवम् अतिवैलक्षण्यात् 'पुरुष'पद-मात्रसाधर्म्येण न एकविद्यत्वं वक्तुं शक्यं, नच उपसंहारः इति. 'च'काराद् "अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्" (महाना.उप.१।१।१) इत्यादि-श्रुतयः, "सर्वतःपाणिपादान्तम्" (भग.गीता १३।१३) इत्यादिस्मृतयश्च संगृह्यन्ते. एतेन यत्किञ्चिद्भ्रमसाम्येऽपि न मूलभूतब्रह्मरूपत्वम्, अतएव न तत्र उपास्यता तथात्वेन इति ज्ञापितम्. अतएव भृगूपाख्याने अन्नमयादिब्रह्मज्ञानेऽपि जिज्ञासैव उक्ता. भृगोः आनन्दरूपपरब्रह्मज्ञानेतु न उक्ता. तेन अशेषगुणपूर्णं ब्रह्म इति उक्तं भवति. अतः उत्तमाधिकारिभिः तदेव उपासनीयं, न विभूतिरूपम् इति ज्ञापितम् ॥२४॥४॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे चतुर्थं पुरुषविद्यायाम् इति अधिकरणम् ॥४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुरुषेत्यादिना सिद्धान्तम् आहुः अन्नमयादिषु इति. स्वरूपं निरूप्यते सहस्रशीर्ष-वत्त्वादिना पुरुषस्वरूपं निरूप्यते इति अर्थः. तत्र हि पुरुषविद्यायां हि. तत्र अन्नमयाद्युपासनाप्रकरणे. सच अन्नमयादिरूपः पुरुषविधश्च. न तथा अत्र पुरुषोपासनेन आध्यात्मिकोपासनम् इति अर्थः. अतिवैलक्षण्याद् अन्नमयाद्यपेक्षया उपास्यपुरुषस्य अतिवैलक्षण्याद्. मूलभूतब्रह्म पुरुषोत्तमः. न तत्र उपास्यता न विभूतिरूपे तेन रूपेण उपास्यता इति अर्थः. तेन विभूतिवैलक्षणेन ॥२४॥४॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

द्विगुणत्वम् अक्षणाम् अस्ति इति. तथा न उक्तम् अतः अनन्तत्वं बोध्यम्. अन्यदपि वैलक्षण्यं वदन्ति किञ्च इति. सिद्धम् आहुः एवम् इति. ननु वैलक्षण्यबोधनं किमर्थम्? अतः आहुः एतेन इति. तथात्वेन इति. मूलभूतब्रह्मत्वेन इति अर्थः ॥२४॥४॥

अथ निर्दोषत्वं ज्ञात्वा भजनीयम् इति ज्ञापयितुम् अधिकरणान्तरम् आरभते.

वेधाद्यर्थभेदात् ॥२५॥ (३।३।५)

वाजसनेयिशाखायां “द्वया ह प्राजापत्याः” (बृहदा.उप.१।३।१) इति उपक्रम्य तेषां मिथःस्पर्धाम् उक्त्वा उच्यते

“ते ह देवा ऊचुः हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति, ते ह वाचम् ऊचुः त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुद्गायत्, यो वाचि भोगः तं देवेभ्य आगायत्, यत् कल्याणं वदति तदात्मने, तेऽविदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्, स यः स पाप्मा यदेवेदम् अप्रतिरूपं वदति सएव, स पाप्मा” (तत्रैव १।३।१) इति. एवमेव प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-प्रभृतिषु पापवेधम् उक्त्वा उच्यते.

“अथैनम् आसन्नं प्राणमूचस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्, ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्सन्, स यथाश्मानम् ऋत्वा लोष्ठो विध्वंसेतैवं ह वै विध्वंसमाना विष्वज्यो विनेशुः” (तत्रैव १।३।३) इति. छान्दोग्येऽपि प्राणादिषु एवमेव पाप्मवेधम् उक्त्वा आसन्न्येन तथा उच्यते. एतावान् परं विशेषः, वाजसनेयिनां गानकर्तृत्वं, सामगानाम् उद्गीथत्वेन उपास्यत्वम् उच्यते वाक्प्राणादीनाम् इति.

अत्र देहसम्बन्धित्व-गानकर्तृत्वयोः उपास्यत्वस्य च अविशेषेऽपि वागादिषु पाप्मवेधः आसन्न्यप्राणे कुतो न? इति भवति जिज्ञासा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकरणम् अवतारयन्ति अथ इत्यादि. तेषां देवासुराणाम् अत्ययाम् जयेम. ते देवाः. ते असुराः. विष्वज्यो विनेशुः असुराः सर्वतोदिशं विनाशं प्रापुः इति अर्थः. तथा इति उच्यते न पाप्मवेधः उच्यते इति अर्थः.

सन्देहम् आहुः अत्र इत्यादि. अविशेषेऽपि उक्तधर्मत्रयस्य वागादौ आसन्न्ये च तुल्यतायाः सत्वेऽपि इति अर्थः. भवति जिज्ञासा इति. तथाच वागादिषु पाप्मवेधः सत्यो न वा इति भवति विचारः इति अर्थः. पाप्मवेधस्य सिद्धत्वेन उक्तिः सन्देहबीजम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अवतारयन्ति अथ इति. विषयम् आहुः वाजसनेयि इति. आसन्न्यः इति. आसन्न्ये प्राणे न तथा न पाप्मवेधः इति अर्थः.

संशयम् आहुः अत्र इति. जिज्ञासा इति. तथाच वेधः सत्यो वा न वा इति

नच आसन्योपासनायाः विधेयत्वात् तत्स्तुत्यर्थम् अन्येषु पाप्मवेधः उच्यते अस्मिन् इति वाच्यम्. न हि प्रयोजनाय असन्तमपि अर्थं बोधयति श्रुतिः इति वक्तुं शक्यम्, प्रमाणत्वव्याहतिप्रसङ्गात्. एकत्र प्रतारकत्वे सर्वत्रापि तच्छङ्कया तदुक्ते कोऽपि न प्रवर्तेतापि. साक्षात्क्रियार्थत्वाभावेऽपि न असन्निरूपकत्वम् अर्थवादानाम्. वस्तुतस्तु “यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उप-निषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति” (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुतेः, “ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनो अयम् अनुतिष्ठति, विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेद्” (भाग.पुरा.१०।२१।६) इत्यादिवाक्यैः “य एवं वेद” (तैत्ति.उप.२।९) इतिवाक्यैश्च अर्थवादोक्तस्वरूपं ज्ञात्वा कर्मकरणे पूर्णं फलम्, अन्यथा नेति अर्थवादानां फलोपकार्यङ्गनिरूपकत्वाद् न आनर्थक्यम्. अतः उक्ते अर्थे हेतुं न पश्यामः इति प्राप्ते, तमेव आह वेधाद् इति. वाक्-प्राणादिषु यः पाप्मवेधः, ‘आदि’पदाद् दुष्टविषयसम्बन्धश्च. तत्र हेतुः अर्थभेदः. अर्थो भगवान् तस्माद् भेदाद् इति अर्थः. आसन्यस्तु “य एव अयं मुख्यः प्राणः तम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अस्मिन् इति. आसन्ये पाप्मवेधो न इति उच्यते इति अर्थः. प्रयोजनाय आसन्य-स्तुतिरूपप्रयोजनाय इति अर्थः. क्रियार्थत्वं यज्ञार्थत्वम्. फलोपकार्यङ्गेत्यादि. अर्थवादानाम् अर्थः. फलोपकार्यङ्गं तज्ज्ञानसम्पादकत्वेन अर्थवादानां सार्थक्यम् इति अर्थः. उक्ते अर्थे अन्यत्र पाप्मवेधो नास्ति इति उक्ते अर्थे इति अर्थः. दुष्टेत्यादि.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

संशयः. अत्र शङ्कते नच इति. अत्र बाधकम् आहुः न हि इति. तथाच पाप्मवेधो वागादिषु नास्ति. अन्यत्र स्तुत्यर्थं तत्र वदेद् इति चेत् प्रमाणत्वव्याहतिः इति अर्थः. ननु अर्थवादे स्वार्थे प्रामाण्यं च नास्ति इत्यतः च आहुः साक्षाद् इति. तथाच क्रियार्थत्वं नास्ति इत्यतः आहुः साक्षाद् इति. तथाच क्रियार्थत्वं नास्ति इति कृत्वा स्वार्थे प्रामाण्यं नास्ति इति वक्तव्यम् इति भावः. अधिकं प्रकाशे अनुसन्धेयं, विस्तरभयाद् विरम्यते. उत्तरकाण्डे साक्षादेव अर्थवादानां क्रियार्थत्वम् आहुः वस्तुतस्तु इति. य एवं वेद इति. “य एवं वेद स वीर्यैव छन्दोभिः अर्चति यः” (.....) इत्यादिवाक्यैः इति अर्थः. न पश्यामः इति. तथाच अन्येषां पाप्मवेधकारणं न पश्यामः इति प्राप्ते तमेव निर्णयमेव आह सूत्रकारः. हेतुं व्याकुर्वन्ति वाक्प्राणादिषु इति.

ननु आसन्येऽपि अयं वेधो वर्ततएव इत्यतः आहुः आसन्यस्तु इति. ननु सूत्रे

उद्गीथम् उपासीत” (छान्दो.उप.१।२।७) इति छान्दोग्ये उपास्यत्वेन उक्तः.
 “सर्ववेदान्तप्रत्ययम्” (ब्रह्मसू.३।३।१) इतिन्यायाद् वेदान्तेषु उपास्यं
 ब्रह्मातिरिक्तं न उच्यतइति आसन्नोऽपि ब्रह्माभिन्नः. अतएव “अपहतपाप्मा
 ह्येषः” (छान्दो.उप.८।४।१) इति सामगैः पठ्यते. अतः तत्र न पाप्मवेधः इति
 भावः. ब्रह्मणः स्वतन्त्र-पुरुषार्थत्वज्ञापनाय ‘अर्थ’पदेन उक्तिः. एतेन
 विभूतिरूपेऽपि यत्र एवं तत्र मूलभूतब्रह्मणि निर्दोषत्वं किं वाच्यम् इति
 ज्ञापितम्. अथवा, अर्थः प्रयोजनं विषयः इति यावत्. तद्भेदाद् इति अर्थः. अत्र
 इदम् आकृतम् : देवा हि स्वस्य असुरजयाय गानार्थं वागादीन् ऊचुः “त्वं न
 उद्गाय” (बृहदा.उप.३।३।१) इति. गानानन्तरं “यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य
 आगायद्” (तत्रैव १।३।१) इति उच्यते. एवमेव प्राणादिष्वपि स्व-स्वभोगं
 “देवेभ्य आगायद्” इति. एवं सति देवार्थमेव एतद्गानं, नतु भगवदर्थम्.
 यद्यपि आसन्न्येऽपि एवम् उच्यते, “तेभ्य एष प्राण उद्गायत्” (तत्रैव ३।३।३)
 इति, तथापि यथा वागादिषु स्वनिष्ठभोगं “देवेभ्य आगायत्” (तत्रैव ३।३।१)
 इति उक्तं, तथा न आसन्न्ये. तेन उक्तमानैः ब्रह्मात्मकत्वेन असुरजयहेतुः
 भगवत्सम्बन्धएव इति ज्ञात्वा तथैव आगायद् आसन्न्यः इति ज्ञायते. अतएव
 अन्यत्र वेधः उक्तो अत्र तत्करणेच्छायामपि आसुराणां नाशः उक्तः. अग्रे च,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

असुराणां सम्बन्धः इति अर्थः. अर्थपदेन उक्तिः सूत्रे ब्रह्मणो ‘अर्थ’पदेन उक्तिः इति
 अर्थः. यत्र एवं ब्रह्माभेदाद् निर्दोषत्वम्. ‘अर्थ’पदस्य ब्रह्मरूपार्थत्वानङ्गीकारेतु आहुः
 अथवा इत्यादि. तद्भेदाद् आसन्न्यापेक्षया वागादीनां भेदाद् इति अर्थः. तथा न
 आसन्न्ये आसन्न्यः स्वनिष्ठभोगं देवेभ्यो न आगायद् इति अर्थः. तेन अन्यादृशगानेन.
 उक्तमानैः आसन्न्ये वेधासुरसम्बन्धाभावरूपमानैः ब्रह्मात्मकत्वेन गीयमानार्थस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

‘अर्थभेदाद्’ इति किमर्थम् उक्तम्? अतः आहुः ब्रह्मणः इति. ‘अर्थ’पदेन ब्रह्मणः
 उक्तिः इति अन्वयः. कैमुतिकन्यायेन आहुः एतेन इति.

प्रकारान्तरेण आहुः अथवा इति. विषयः इति. वागादीनां विषयः इति अर्थः.
 अत्र इदम् इति. उच्यते बृहदारण्यके इति शेषः. उक्तमानैः इति. आसुरजयहेतुभूतं यद्
 अर्थज्ञानं पाप्मवेधराहित्यम् अथ चोनुपास्यत्वम्, एतैः उक्तमानैः इति अर्थः. अत्र
 युक्तिम् आहुः अतएव इति.

“भवत्यात्मना परास्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद” (बृहदा.उप. १।३।७) इति पठ्यते. तेन परब्रह्म निर्दोषम् इति किमु वाच्यम्. यत्र तद्विभूतिरूपासन्यस्य उक्तरूपतां यो वेत्ति, सोऽपि गुणयुक्तो दोषरहितश्च भवति इति कैमुतिकन्यायः सूचितो भवति. एतेन लोके दोषत्वेन ये धर्माः प्रतीयन्ते, तएव धर्माः भगवति निरूप्यमाणा न दोषत्वेन ज्ञेयाः किन्तु गुणत्वेनैव, वस्तुनएव तथात्वाद् इति भावो ज्ञाप्यते॥२५॥

एवं भगवत्सम्बन्धाभावे दोषसम्बन्धम् उक्त्वा तथा सति गुणहानिं च वदन् तत्र विशेषम् आह.

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्

कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम्॥२६॥

“तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति” (मुण्ड. उप.३।१।३) इति आथर्वणिकैः पठ्यते. ‘परम’पदेन ब्रह्म उच्यते. तथाच

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मात्मकत्वेन इति अर्थः. तथैव स्वस्मिन् भगवत्सम्बन्धार्थं भगवदुद्देशेनैव. अन्यत्र वागादिषु. अत्र आसन्ये. तद् वेधः. तेन भगवत्सम्बन्धाद् अन्येषां निर्दोषत्वेन. सोऽपि आसन्योपासकोऽपि. वस्तुनएव ब्रह्मात्मकवस्तुनएव. तथात्वाद् दोषत्वनिराकरण-पूर्वकगुणत्वसम्पादकत्वाद् इति अर्थः. अतएव “अज्ञत्वं पारवश्यं च विधिभेदादिकं तथा, तथा प्राकृतदेहत्वं देहत्यागादिकं तथा, असुराणां विमोहार्थं दोषा विष्णोर्न हि क्वचिद्” (ब्रह्माण्डपुरा.) इति ब्रह्माण्डवाक्यम्॥२५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इत्यादिना. तथा सति दोषसम्बन्धे सति. सूत्रार्थोपयोगित्वाद् भगवत्सम्बन्धे फलविशेषबोधिकां श्रुतिम् आहुः ‘तदे’त्यादि. एतत्पूर्वार्धन्तु “यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्” (मुण्डकोप. ३।१।३) इति. पठ्यते मुण्डके पठ्यते.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एतादृशार्थकथने फलम् आहुः एतेन इति. अन्यत् स्पष्टम्॥२५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इति. विशेषम् आह इति. गुणप्राप्तिरूपं विशेषम् इति अर्थः. श्रुतिम् आहुः तदा इति. एतत्पूर्वार्धा “यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्” (मुण्ड.उप.३।१।३) इति बोध्यम्. पठ्यते मुण्डके इति शेषः. श्रुत्यर्थम् आहुः परमपदेन इति. निरञ्जनः अविद्यारहितः.

सकार्याविद्यारहितः ‘परमम् उपैति’. तदनन्तरं ‘साम्यम् उपैति’ इति योजना.

तत्र इदं विचार्यते : साम्यं हि समानजातीयधर्मवत्वम्. तच्च कतिपयधर्मैः अशेषतन्निष्ठधर्मैः वा भवति. तत्र अन्यः पक्षो ब्रह्मणा समं न सम्भवति. “न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुति-विरोधात्. अतः आद्येव पक्षो अनुसर्तव्यः. तत्र कैः धर्मैः साम्यम् इह उच्यते ? इति आकांक्षायाम् आह हानौ इति. ब्रह्मणः सकाशाद् विभागो जीवस्य ‘हानि’शब्देन उच्यते. तथाच तस्यां सत्यां ये धर्माः जीवनिष्ठाः आनन्दांशैश्वर्यादयो भगवदिच्छया तिरोहिताः, ते ब्रह्मसम्बन्धे सति पुनः आविर्भूताः इति तैरेव तथा इति अर्थः. भगवदानन्दादीनां पूर्णत्वाद् जीवानन्दादीनाम् अल्पत्वाद् नाम्नैव समैः धर्मैः कृत्वा ब्रह्मसाम्यं जीवे उपचर्यते. “साम्यम् उपैति” इति. वस्तुतस्तु न एतैरपि धर्मैः साम्यम् इति भावः. अतएव “न तत्समः” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतिः अविरोद्धा. अतएव सूत्रकृता “साम्यमुपैति” इति साम्योपायनशब्दमात्रं, नतु साम्यपदार्थः स्वारसिको अत्र अस्ति इति भावप्रकटनाय ‘शब्द’शब्दः उक्तः. ननु तैरेव धर्मैः साम्यं, न इतरैः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सकार्या पुण्यपापरूपस्वकार्यसहिता. आद्यः पक्षः कतिपयधर्मैः साम्यपक्षः. तैरेव तथा आविर्भूतानन्दैश्वर्यांशैरेव साम्यं वाच्यम् इति अर्थः. साम्योपायनं साम्य-प्राप्तिः. तच्छेषत्वाद् तदर्थप्रतिपादकत्वात्. तैरेव धर्मैः व्युच्चरणकालतिरोहितैरेव धर्मैः पुनः प्राप्तैः साम्यम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सौत्रविचारम् आहुः तत्र इदम् इति. समानत्वम् इति अर्थः. आह इति. तान् धर्मान् आह इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः ब्रह्मणः इति. तस्याम् इति. तादृशहानौ सत्याम् इति अर्थः. ब्रह्मसम्बन्धः इति. उपायनं ब्रह्मप्राप्तिः तद्वाचकः शब्दः उपैतिशब्दः तच्छेषत्वं ‘साम्य’शब्दस्य इति अर्थः. तैरेव तथा इति. तैरेव साम्यम् इति अर्थः. ननु एवं चेद् “न तत्समो नाभ्यधिकश्च” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतिविरोधः इत्यतः आहुः भगवद् इति. सौत्रम् उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. हेतुम् अवतारयन्ति ननु इति. तदा ब्रह्मसम्बन्धे. एतस्मादेव हेतोः उक्तैरेव धर्मैः साम्यम् उपैति इति सूत्रार्थः. ननु इति.

इति अत्र को हेतुः? इति आकांक्षायाम् आह **उपायनशब्दशेषत्वाद्** इति. **“परमम् उपैति”** इति यः ‘उपायन’शब्दः तच्छेषत्वात् साम्योपायनस्य इति अर्थः. ब्रह्मसम्बन्धहेतुकत्वाद् आनन्दांशाद्याविर्भावस्य, तदैव साम्योपायन-कथनात् तैरेव धर्मैः साम्यम् अभिप्रेतम् इति भावः. ननु आनन्दादीनां ब्रह्मधर्मत्वात् तैः तत्साम्यकथनं तदभेदमेव गमयति इति आशङ्क्य, तद्धर्मवत्व-मात्रस्य न तदभेदसाधकत्वम् इति अत्र दृष्टान्तम् आह **कुशा...इत्यादि**. कुशा औदुम्बर्यः समिधः ताः अग्निष्टोमादियागेषु प्रस्तोत्रा स्थाप्यन्ते. तदा तत्सम्बन्धि यत् **छन्दःस्तुत्युपगानं तद्वद्** इति अर्थः. तत्र **“अभि त्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः”** (ऋग्वेद ५। ३।२१) इति ऋचि ये वर्णाः, तेषाम् अचएव उपसंहृत्य ‘भ’कारेणैव गानं क्रियते. न हि तदार्चिकवर्णधर्माणाम् अचाम् उपसंहारो अस्ति इति तद् ऋगात्मकत्वं ‘भ’कारस्य सम्भवति. एवं प्रकृतेऽपि ब्रह्मधर्मप्राकट्येन न तदात्मकत्वं जीवस्य सम्भवति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कुशेत्यादीति. तथा कुशाभिः कृत्वा छन्दःस्तुत्युपगानसाधनभकारत्वाद् इति अर्थः. **इत्थं** च ‘भ’कारेण गानकरणेऽपि न ‘भ’कारस्य ऋगन्तःपातित्वं तद्वद् जीवेऽपि ब्रह्मसाम्यम् उक्तमिति न जीवे ब्रह्माभेदः इति अर्थः सूत्रस्य. **तेषाम् अचः** इत्यादि. तथाच ऋग्वर्णाणां ‘भ’कार उपसंहारं कृत्वा ‘नभि’इत्यादिरीत्या ‘भ’कारेण गाने क्रियमाणेऽपि इति अर्थः. **एवं प्रकृतेऽपि** जीवब्रह्मस्थलेऽपि इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्याकुर्वन्ति **कुशा** इति. इदं च ज्योतिष्टोमे उद्गातृत्वप्रयोगे स्पष्टम्. प्रस्तोत्रादौ **“ओवाई-भाभुभाभिभे”**त्यादि-मन्त्रेण कुशासादनं क्रियते. तत्र अयं दृष्टान्तः **यागेषु** इति. तेषु सुत्यायां माध्यन्दिनसवनेषु **स्थाप्यन्ते** इति. सः तिसृभिः रसः एकया इत्यादिरीत्या स्थाप्यन्ते इति अर्थः. **तदा** इति. स्थापनकाले यः कुशसम्बन्धि छन्दः तस्य यतः **उपगानं** ‘भ’कारेण उपगानं **तद्वद्** इति अर्थः. एतदेव विशदयन्ति. **तत्र अयं प्रयोगः**. **“अथ पृष्ठानि रथन्तरम् अभि त्वा शूर नोनमुमो अदुग्धा इव धेनवः ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः आईशानमां २३ पिण्डाश्सूस्प्य २३४ षानुवाअस”** (ऋग्वेद ५।३।२१) इति ऋक्. अत्र **“ओमादुग्धा इव”** इति अत्र **“यः अच् आ इति तत्रभिभभेभभभोभोभमभः सुवा २३ ईशाम्”** इत्याद्युपगानं क्रियते. दृष्टान्तं विशदयन्ति न हि इति. **तदर्चिकेति**. आदुग्धा इवेति ऋक्सम्बन्धिनो ये वर्णाः

ननु “तत्त्वमसि” (छान्दो.उप.६।८।७) आदिवाक्यैः अत्र अभेद-
बोधनाद् अस्तु तथा इति चेत्, तत्र आह तदुक्तम् इति. जीवब्रह्माभेद-
बोधनतात्पर्यम् उक्तम् इति अर्थः. “तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवद्”
(ब्रह्मसू.२।३।२९) इति सूत्रेण इति शेषः.

अपिच, श्रुतौ ब्रह्मोपायनस्य साम्योपायनहेतुत्वोक्त्या तदनुपायनस्य
साम्यानुपायने हेतुत्वम् इति ज्ञाप्यते. तथाच, “पराभिध्यानात् तिरोहितं ततो
ह्यस्य बन्धविपर्ययौ” (ब्रह्मसू.३।२।५) इति सूत्रे जीवस्य ब्रह्मांशत्वेन
आनन्दैश्वर्यादि-ब्रह्मधर्मवत्त्वाद् ब्रह्मणः सकाशाद् विभागे सति तदिच्छया
तद्धर्मतिरोधानस्य संसारित्वे हेतुत्वम् उक्तं यत्, तदपि तदुक्तम् इत्यनेन स्मार्यते
इति न विस्मर्तव्यम्. यथा अन्यशाखोक्तधर्मापि एकस्यां विद्यायाम् उपसंह्रियन्ते,
एवं ब्रह्मनिष्ठाः धर्माः जीवेऽपि एतया श्रुत्या बोध्यन्ते इति एतावत् साम्यम्
अस्ति इति उपसंहारप्रकरणे एतस्य निरूपणं कृतम्॥२६॥५॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे पञ्चमं वेधाद्यधिकरणम्॥५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अस्तु तथा जीव-ब्रह्मणोः अभेदो अस्तु इति अर्थः. जीवेत्यादि.
जीवधर्मोमुक्तिदशायाम् आविर्भूतं निर्दोषत्वं ब्रह्मणि च तत् सार्वदिकं तयोः अभेदः
इत्यत्र तात्पर्यं श्रुतेः इति अर्थः. एतदर्थस्य सूत्रकारसम्मतत्वम् आहुः ‘तद्गुणसारः’
इत्यादिना. ब्रह्मोपायनं ब्रह्मप्राप्तिः. साम्योपायनं साम्यप्राप्तिः. तदनुपायनस्य
ब्रह्मप्राप्तेः व्युच्चरणस्य इति अर्थः. साम्यानुपायनं साम्याभावः. एतया श्रुत्या
“विद्वान् पुण्यपापे विधूय” (मुण्डकोप.३।१।३) इति श्रुत्या॥२६॥५॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

तेषां धर्माः ये अचः तेषाम् उपसंहारो ग्रहणम् अस्ति इत्यतो हेतोः तद्गुणात्मकत्वम्
आदुग्धाइव इतिक्रगात्मकत्वं भकारओवामा इत्यस्य न हि सम्भवति. एवं प्रकृतेऽपि
यत्किञ्चिद्धर्मप्राकट्येन कृष्णात्मकत्वं जीवस्य इति अर्थः. अत्र आशङ्कते ननु इति.

सौत्रं तदुक्तम् इति. पदं व्याकुर्वन्ति जीवेति. ननु गतिसामान्यसूत्रे
ब्रह्मैक्यमेव प्रतिपाद्यते इति चेद्, न, सामान्यपदतुल्यार्थत्वं तत्रैव उक्तम् इति. अन्यदपि
आहुः अपिच इति. ननु इदन्तु वक्तुं न शक्यते गुणोपसंहारे धर्मतुल्यताविचारएव नास्ति
इत्यतः आहुः तथा इति. यथा विद्यायाः एकत्वेन छान्दोग्योक्तायां पञ्चाम्निविद्यायां
कारणोक्तषष्ठान्तेः उपसंहारो क्रियते तथा अत्र वेदे परमसाम्यनिरूपणाद् एकत्वभ्रान्त्या

सम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥२७॥ (३।३।६)

वाजसनेयिशाखायां “स एष नेति नेति इति आत्मा” (बृहदा.उप.३।१।२६) इत्युपक्रम्य, “न व्यथते” (तत्रैव) इत्यन्तेन ब्रह्मस्वरूपम् उक्त्वा, यतः एतादृग्ब्रह्म अतः तद्विदपि विवक्षितरूपः इति अभिप्रायेण अग्रे पठ्यते “अतः पापमकरवम् अतः कल्याणम् अकरवम् इत्युभे ह्येष एते तरति अमृतः” (तत्रैव ४।४।२२) इत्यादिना. अग्रिमया “एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य” (तैत्ति.ब्राह्म. ३।१२।९।७) इति ऋचा च ब्रह्मविदो माहात्म्यम् उक्त्वा पठ्यते.

“तस्माद् एवंविद् शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्. सर्वम् एनं पश्यति, सर्वो अस्य आत्मा भवति, सर्वस्य आत्मा भवति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति” (बृहदा.उप.४।४।२३)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जीवस्य भगवत्सम्बन्धसाधनयोः ज्ञानभक्तयोः मध्ये किं ज्यायः? इति विचारयितुम् अधिकरणारम्भः इति तत्र विषयवाक्यम् आहुः वाजसनेत्यादि, आथर्वणेत्यादि च. एतद्विषयवाक्यात् पूर्वं शारीरब्राह्मणे “मनसैवानुद्गृह्यम्” (बृहदा.उप.४।४।१९) इति ज्ञानसाधनम् उक्तम्. तदनन्तरं “विरजः पर आकाशाद्” (बृहदा.उप.४।४।२०) इत्यादिना विरजस्त्वादिधर्मान् ब्रह्मणि प्रतिपाद्य तदनन्तरं तावन्मात्रत्वं ब्रह्मणो “नेति नेति” (तत्रैव ३।१।२६) इत्यनेन निषेधयित्वा “गृह्यो न हि गृह्यते न व्यथते” (तत्रैव) इत्यादिना लौकिकप्रमाणगोचरत्वं सर्वविलक्षणत्वं च बोधयित्वा ब्रह्मस्वरूपबोधनानन्तरम्. तद्विदपि ब्रह्मस्वरूपविदपि. विवक्षितरूपः पुण्यपापरहितः. एते पुण्यपापे.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ब्रह्मगतधर्माणाम् उपसंहारो जीवे स्यादिति भ्रमनिराकरणार्थम् इदम् उक्तम् इति भावः. एतेन ब्रह्मभूतेन भजनं कर्तव्यं नतु विभूतीच्छा कर्तव्या इति ज्ञापितम् ॥२६॥५॥

इदानीं साधनभूतयोः भक्तिज्ञानयोः मध्ये कस्य आधिक्यम्? इति बोधनाय अधिकरणम् आरभते सम्पराये इति. सूत्रस्थ-तर्तव्याभावलिङ्गकश्रुतिद्वयं विषयः. तत्र आद्या श्रुतिविषयत्वेन आहुः वाजसनेयीति. बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे. ब्रह्म-स्वरूपम् इति. जडविलक्षणं ब्रह्मस्वरूपम् इति अर्थः. विवक्षितरूपः इति. साध्वसाधुविहितकर्म इति अर्थः. उभे इति. साध्वसाधुनी इति अर्थः. उभे हि इति. निश्चयेन यो ब्रह्मविद् अमृतो जीवन्नेव भवति. एषः नित्येति. “एषः नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न कर्मणा

इत्याद्युक्त्वा अन्ते पठ्यते “य एवं वेद” (तत्रैव ४।४।२५) इति. अत्र हि पाप्मतरणादिरूपं ब्रह्मज्ञानमाहात्म्यम् उच्यते, ज्ञानस्य संसारमुक्तिहेतुत्वात्. अथर्वणोपनिषदादिषु तु भगवद्भक्तेः मुक्तिहेतुत्वम् उच्यते. “परं ब्रह्म एतद् यो धारयति” (गोपा.पू.उप.१) इत्युपक्रम्य “भजति सो अमृतो भवति सो अमृतो भवति” (तत्रैव) इति. अग्रेऽपि “मुक्तो भवति संसृतेः” (तत्रैव) इति. एत-
द्विषयव्यवस्थातु पुरैव उक्तेति न अत्र उच्यते.

एतावान् परं सन्देहः. “य एवं वेद स पाप्मानं तरति” (नृसिं.पू.ता. उप.२।१) इति वचनाद् ज्ञानदशायामपि पापसत्त्वं वाच्यम्, अन्यथा तरणासम्भ-
वापत्तेः. एवं सति भक्तिदशायामपि एवमेव न वा ? इति भवति संशयः.

तत्र श्रुतौ अविशेषेण पापनाशश्रवणात् मुक्तिपूर्वकाले पापनाशाव-
श्यम्भावाद् “एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो अपरत्रापि तथा” इति न्यायेन भक्त्या
पापनाशाद् अत्रापि तथैव इति प्राप्ते, आह सम्पराये... इत्यादि. सम्परायः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अत्र उक्तवाक्ये. ब्रह्मज्ञानमाहात्म्यम् अक्षरब्रह्मज्ञानमाहात्म्यम्. ब्रह्मैतत्
पुरुषोत्तमरूपम्. अग्रेऽपि पुरुषोत्तमस्वरूपत्वात् पूर्वमपि. एतद्विषयव्यवस्था उक्त-
श्रुत्योः विषयीभूते ये ज्ञानभक्ती तयोः व्यवस्थाधिकारिभेदेन रूपभेदनिरूपणाद् ज्ञानिभिः
धर्मोपसंहारः कार्यो न भक्तैः इत्येवंरूपा पूर्वोक्ता “न वा प्रकरणभेदाद्” (ब्रह्मसू.
३।३।८) इति सूत्रविवरणेव उक्ता. संशयबीजम् आहुः एतावान् इत्यादिना. एवं सति
ज्ञान-भक्त्योः समानतया मुक्तिसाधनत्वावगमे सति. भक्तिदशायां भक्त्या मुक्तिः इति
कल्पे. एवमेव भक्तिकालेऽपि पापसत्त्वमेव.

तत्र तादृशविषये. अविशेषेण ज्ञानभक्तिमार्गसाधारण्येन. पापनाशः
पुण्यपापतरणम्. ‘सम्पराय’शब्दस्य मुक्त्यर्थत्वे ‘भक्त्या’ इति अध्याहारापत्तेः पक्षान्तरम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

लिप्यते पापकेन” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति सर्ववाक्यस्य तात्पर्यम् आहुः अत्र हि इति.
ब्रह्मज्ञानेति. अक्षरब्रह्मज्ञानेति अर्थः. अपरां भक्तिहेतुत्वबोधिकां श्रुतिम् आहुः
अथर्वणेति. परं ब्रह्म इति. इदं गोपालतापनीयस्थं वाक्यम्. इदानीं संशयं स्फुटीकर्तुम्
आहुः एतद् इति. पुरैव इति. “न वा प्रकरणभेदाद्” (ब्रह्मसू. ३।३।८) इति सूत्रे इति अर्थः.

सन्देहविषयम् आहुः एतावान् इति. पूर्वपक्षम् आहुः

तत्र इति. तथैव इति. पापसत्त्वमेव. सिद्धान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति सम्पराये इति.

परलोकः, तस्मिन् प्राप्तव्ये सति इति अर्थः. अथवा. परः पुरुषोत्तमः तस्य अयो ज्ञानम्. तथाच सम्यग्भूतं पुरुषोत्तमज्ञानं येन सः सम्परायो भक्तिमार्गः इति यावत्. अथवा. परे पुरुषोत्तमे अयनम् अयो गमनं प्रवेशः इति यावत्. तथाच सम्यक् परायो येन सः तथा भक्तिमार्ग इति अर्थः. ज्ञानमार्गे अक्षरप्राप्त्या भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमप्राप्त्या तस्माद् विशेषम् अत्र ज्ञापयितुम् एवं कथनम्. अतो भक्तेः पूर्वमेव पापनाशो युक्तः इति भावः. ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभानन्तरं “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता १८।५५) इति भगवद्वाक्यात् पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञानस्य भक्त्यैकसाध्यत्वात् तथा. एवं सति

“मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः,

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने” (भाग.पुरा.६।१४।५)

“मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्” (ब्रह्मसू.१।३।२)

“जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः,

नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते” (पाण्ड.गीता ४०)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आहुः अथवा इत्यादिना. तथाच ‘सम्पराये’ इत्यत्र सम्परायो लीलाप्रवेशः. एवं कथनं व्यासचरणानाम् एवमर्थक ‘सम्पराय’शब्दकथनम् इति अर्थः. पूर्वमेव ब्रह्मभाव-दशायामेव. एवं सति “जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषध्वजं, वैष्णवत्वं लभेत् कश्चित् सर्वपापक्षयाद् इह” (वारा.पुरा.२०९।८६) इत्यादिवाक्यैः ब्रह्मभावानन्तरमेव भक्तिलाभेन तेन पापनाशाद् भक्तिकाले पापाभावे सति “नराणां क्षीणपापानां कृष्णे

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

यथाश्रुत्यर्थे भक्तिमार्गबोधकपदाध्याहाराभिप्रायः इति अर्थान्तरम् आहुः अथवा इति. तथाच पुरुषोत्तमप्राप्तिः तज्ज्ञानत्वं च भक्त्यैव इति ज्ञापिते न सन्देहो भवति इति भावः.

ननु योगापेक्षया रूढेः बलवत्तरत्वाद् इदं न युक्तम् अतः आहुः ज्ञानमार्गः इति. तस्माद् ज्ञानमार्गात्. एवम् इति. योगिकपदम् इति अर्थः. तथाच अध्याहारापेक्षया योगादरस्य लघुत्वाद् एवम् आशयकथनं युक्तम्. ननु ज्ञानमार्गापेक्षया भक्तिमार्गस्य उत्कर्षत्वे एवं वदेत्. तथातु नास्ति इत्यतः आहुः ब्रह्म इति. ननु भक्तिमार्गे तर्तव्याभावः इत्यतः आहुः एवं सति इति. मुक्तानाम् इति. षष्ठस्कन्धे चतुर्दशाध्याये. नराणाम् इति.

“जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषध्वजं,

वैष्णवत्वं लभेत् कश्चित् सर्वपापक्षयादिह” (वारा.पुरा.२०९।८६)

इत्यादिवाक्यैः पापनाशानन्तरमेव भक्तिसम्भवात् भक्तस्य तर्तव्य-
पापादेः *अभावाद् न ज्ञानमार्गीयतुल्यता इति अर्थः.

ननु “य एवं वेद” (नृसिं.पू.उप.२।१) इतिसामान्यवचनात् पुरुषोत्तम-
विदोऽपि एवमेव इति चेत्, तत्र आह तथाहि अन्ये. तथा ज्ञानानन्तरमपि
पापवन्तो अन्ये भक्तिमार्गीयेभ्यो अन्य इति अर्थः. उक्तवचनरूपोपपत्तिः ‘हि’-
शब्देन ज्ञाप्यते॥२७॥

ननु भक्तिमार्गीयाणामपि गोपस्त्रीणां “दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुता-
शुभाः ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः” (भाग.पुरा.१०।२९।१०)
इतिवचनेन दुष्कृतसुकृतयोरपि हानिश्रवणात् पूर्वोक्तवचनैः विरोधः इति
आशङ्कायाम् उत्तरं पठति.

छन्दत उभयाविरोधात्॥२८॥

छन्द इच्छा. तथाच भक्तिमार्गीयाणामपि पूर्वं पापनाशो यः, सः
भगवदिच्छाविशेषतः. अतो भक्तेः पूर्वमेव पापनाशनिरूपकातन्नाशनिरूपक-
वचनयोः अविरोधाद् हेतोः भक्तेः पूर्वमेव पापनाशः आवश्यकः इति अर्थः. एवं
सति भक्तेः पूर्वमेव तन्नाशः औत्सर्गिकः. सः क्वचिद् विशेषेच्छया अपनोद्यते

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भक्तिः प्रजायते”(पाण्ड.गीता४०) इति उपष्टम्भकम्. सूत्रशेषं व्याख्यातुम्
अवतारयन्ति ननु इत्यादि. अन्ये भक्तिमार्गीयभिन्नाः॥२७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु भक्तीत्यादि. सूत्रार्थम् आहुः छन्दः इच्छा इत्यादिना.
एवं सति भक्तेः पूर्वं पापनाशस्य “नराणां क्षीणपापानाम्”(पाण्ड.गीता ४०) इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पाण्डवगीतायाम् सूत्रशेषावतारम् आहुः ननु इति. उक्तेति. ‘हि’शब्दाद्
लभ्यते इति अर्थः ॥२७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु भक्तीति. पूर्वोक्तेति. पापभाववचनैः इति अर्थः.

सूत्रार्थम् आहुः छन्दः इति. एवं सति पापाभावस्य सिद्धत्वे सति इति अर्थः.
ज्ञापितः इति. इच्छायाः अविरोधकथनेन इति शेषः.

* ‘असम्भवाद्’ इति पाठः.

इति भावो ज्ञापितो भवति. अत्र इच्छाविशेषे वक्तव्यबहुत्वेऽपि किञ्चिद् उच्यते. चिकीर्षितलीलामध्यपातिभक्ता न सोपधिस्नेहवत्यः, न सगुणविग्रहाः, न वा सुकृतादियुक्ताः इति ज्ञापयितुं कतिपयगोपीः तद्विपरीतधर्मयुक्ताः कृत्वा, तस्यां दशायां स्वप्राप्तौ प्रतिबन्धं कारयित्वा, स्वयमेव तां दशां नाशयित्वा, स्वलीलामध्यपातिनीः कृतवान् इति. न हि एतावता सार्वदिकएव अयं भावो भवति. न हि मन्त्रप्रतिबद्धशक्तिः अग्निदाहकइति तत्स्वभावत्वमेव तस्य सार्वदिकम् इति वक्तुं शक्यम्. एतच्च श्रीभागवतदशमस्कन्धविवृतौ प्रपञ्चितम् अस्माभिः॥२८॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे षष्ठं सम्परायाधिकरणम्॥६॥

गतेरर्थवत्त्वम् उभयथा अन्यथा हि विरोधः॥२९॥ (३।३।७)

ननु “सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्” (तैत्ति.उप.२।१) इति “तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यते

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

बहुवचनसिद्धत्वे सति. औत्सर्गिकः अनियतः. सः नियमाभावः. अपनोद्यते नियमाभावापनोदनेन नियमः स्थाप्यते इति अर्थः. सोपधिस्नेहः किञ्चित् प्रयोजनाय स्वयं साधनैः सम्पादितः स्नेहः. सगुणेत्यादि. सगुणाः प्रकृतिगुणसहिताः प्राकृताः. सुकृतेत्यादि. तद्विपरीतेत्यादि. तथाच ऐच्छिकं भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकं यद् लौकिकं प्राकृतगुणसुकृतादि तत्सदृशं यद् गुणसुकृतादि केवलं “लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्रह्मसू.२।१।३३) इति वाक्यात् तद्विशेषान् कृत्वा इति अर्थः. तादृशान् लौकिकसदृशगुणसुकृतादीन्. सार्वदिकः इच्छाविशेषेण सम्पादितः. न हि मन्त्रेत्यादि. तथा च भगवदिच्छासम्पादितभगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकीभूततादृशगुणकृतादिविशिष्टा अपि गोप्यो भगवत्प्राप्तियोग्या न इति न इति अर्थः॥२८॥६॥

पूर्वाधिकरणे ज्ञानिज्ञानाभ्यां भक्तिभक्तयोः उत्कर्षप्रतिपादितः सएव पुनः अधिकरणान्तरेण दृढीकरोति इति प्रतिपादयन्ति ननु इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु इच्छाज्ञानं कथं जायते इत्यतः आहुः अत्र इति. विस्तरभिया न अत्र उपपादितम्. अधिकन्तु प्रकाशे ज्ञेयम् ॥२८॥६॥

इदानीं भक्तेः उत्कर्षहेतुबोधनेन उत्कर्षं दृढीकर्तुं गत्यधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इति. “तमेवम्” इति वाक्यं तैत्तिरीये नारायणे. तत्रैव पूर्वं “वेद अहम् एतं पुरुषं

अयनाय” (तैत्ति.आर.३।१२।७) इत्यादिश्रुतिभिः उक्तरूपब्रह्मज्ञाने सत्येव मोक्षः इति उच्यते. “यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः” (कठोप.२।२२) इतिश्रुत्या आत्मीयत्वेन अङ्गीकारात्मकवरणस्य भक्तिमार्गीयत्वात् तस्मिन् सति भक्तिमार्गे प्रवेशात् भक्त्यैव सः इति उच्यते. किञ्च. “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता१८।५५) इति उक्त्वा, “ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्” (तत्रैव) इति भगवता उक्तमिति भक्तिमार्गेऽपि पुरुषोत्तमज्ञानेनैव मोक्षः उच्यते, ज्ञानमार्गे तु अक्षरज्ञानेन इति विशेषः. “तस्मान् मदभक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह” (भाग. पुरा.११।२०।३१) इतिवचनेन भक्तिमार्गीयस्य ज्ञाननैरपेक्ष्यमपि उच्यते. तथाच एवं मिथः श्रुत्योः स्मृत्योश्च विरोधाद् न एकतरनिर्धारः सम्भवति. नच ज्ञानेनैव मोक्षः, उभयत्रापि तथोक्तेः, ज्ञाननैरपेक्ष्योक्तिस्तु भक्तिस्तुत्यभिप्राय इति वाच्यम्. विषयभेदेन ज्ञानभेदात् मुक्तिसाधनं कतमज्ज्ञानम् इति अनिश्चयात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भक्त्यैव सः मोक्षः. श्रुत्योः विरोधम् उक्त्वा स्मृत्योः विरोधम् आहुः किञ्च इत्यादिना. न एकतरनिर्धारः इति. तथाच ज्ञानेन मोक्षो भक्त्या वा इति संशयः. उभयत्रापि अक्षरपुरुषोत्तमोभयमोक्षौ प्रति. तथोक्तेः ज्ञानस्य साधनत्वोक्तेः. विषयभेदेन पुरुषोत्तमाक्षररूपज्ञानविषयभेदेन इति अर्थः. कतमज्ज्ञानं पुरुषोत्तमस्य अक्षरस्य वा इति संशयाद् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद्” (महाना.उप.४।३) इति पठितम्. अत्र श्रुतिः वदति अहं वेद इति. तमसः अज्ञानाद् आदित्यवर्णं श्यामावदातवर्णम्, आदित्यस्येव प्रकाशज्योतिरूपं, “श्यामात् शबलं शबलात् श्यामम्” (छान्दो.उप.८।१३।१) इति छान्दोग्ये पठितत्वात्. एवञ्च एतादृशपुरुषज्ञानेन मोक्षः इतिश्रुत्या प्रतिपाद्यते. ‘यमेव’- इतिश्रुत्या भक्त्यैव मोक्षः. तत्र भक्ति-ज्ञानयोः समुच्चयो वा विकल्पो वा इति संशयः. किञ्च इति. उक्तम् इति. गीतायाम् इति शेषः. न एकतरनिर्धारः इति. तथाच निर्धाराभावाद् वाक्यानाम् अबोधकत्वम् इति भावः.

शङ्कते नच इति. तथोक्तेः इति. ज्ञाने भक्तावपि ज्ञानेनैव मोक्षः इति उक्तेः. स्तुत्यभिप्रायेति. भक्तेः अयम् अर्थवादः इति अर्थः. उत्तरम् आहुः विषयेति. अनिश्चयाद् अनिर्धारात्.

नच श्रौतत्वाविशेषात् समुच्चयः इति वाच्यम्. ज्ञानिनो अक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयात् समुच्चयासम्भवात्. तर्हि एवं विरोधाभावाद् उपपन्नं सर्वम् इति चेद्, न, पूर्वं ज्ञानमार्गीयज्ञानवतः पश्चाद् भक्तिमार्गीयज्ञानवतो लयस्थाननिर्धारासम्भवात्. अपरञ्च, “ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा” (भग.गीता१८।५५) इति वचनाद् भक्तिमार्गे तत्त्वतो भगवज्ज्ञानमेव प्रवेशसाधनम् इति मन्तव्यम्.

तथाच “मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोबलाः, ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः” (भाग.पुरा.११।१२।१३) इति वाक्याद् ज्ञानमार्गीय-भक्तिमार्गीय-ज्ञानरहितानामपि भगवत्प्राप्तेः तत्साधनत्वनिरूपकश्रुतिविरोधः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रौतत्वाविशेषाद् इति. तथाच “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप. २।१।१) इत्यादिश्रुत्या अक्षरज्ञानस्य “तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति” (श्वेता.उप. ३।८) इति श्रुत्या च पुरुषोत्तमज्ञानस्य मुक्तिसाधकत्वोक्तेः इति अर्थः. समुच्चयासम्भवाद् इति. तथाच “अक्षरात् परतः परः” (मुण्डकोप. २।१।२) इति श्रुतेः “अव्यक्तो अक्षर इत्युक्तः” (भग.गीता८।२१) इत्यनेन च ज्ञानद्वयस्यापि प्राप्यफलभेदोक्तेः एकत्र फले समुच्चयासम्भवाद् इति अर्थः. तर्हि समुच्चयासम्भवे. एवम् अक्षरपुरुषोत्तमयोः प्रत्येकज्ञानस्य प्रत्येकप्राप्तिरूपफलसाधकत्वे. विरोधाभावात् किं ज्ञानात् किं फलम् इति विनिगमनाभावरूपविरोधाभावात् संशयाभावाद् वा उपपन्नं सर्वं संशयाभावाद् अधिकरणं व्यर्थम् इति अर्थः. निर्धाराभावाद् इति. तथाच पूर्वज्ञानस्य वैयर्थ्यनिरासाय अधिकरणसार्थक्यम् इति भावः. ज्ञानमार्गीयेत्यादि. तथाच भक्तिमार्गीयस्य मत्कामनाहेतुभूतस्य रमणत्वादिप्रकारज्ञानस्य च सत्त्वाद् ब्रह्मत्वेन अज्ञानेऽपि न व्यभिचारः. तादृशकामादिप्रत्येकस्यापि पुरुषोत्तमप्रापकत्वाद् ज्ञानमार्गीयेति उक्तम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

नच इति. उत्तरयन्ति ज्ञानिनः इति. समुच्चयासम्भवाद्. तथाच स्थानभेदेन फलभेदात् समुच्चयो न भवति इति भावः. शङ्कते तर्हि एवम् इति. स्थानभेदेन फलभेदे सति इति अर्थः. उपपन्नम् इति. तत्र उभयोः व्यवस्थितत्वाद् वाक्यानां विरोधाभावात् श्रुतिस्मृत्युक्तं सर्वम् उपपन्नमिति व्यर्थम् अधिकरणारम्भः इति अर्थः. उत्तरम् आहुः पूर्वम् इति. निर्धारासम्भवाद् इति. तथाच सन्देहे अधिकरणारम्भः इति अर्थः. तृतीयमार्गोऽपि अस्ति इति आहुः अपरञ्च इति. तत्साधनत्वेति. ज्ञानभक्ति-साधनत्वेति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः तथाच इति.

तथाच क्वचिद् ज्ञानं मुक्तिसाधनत्वेन उच्यते, क्वचिद् भक्तिः, क्वचिद् न उभयमपि इति एकतरसाधनानिश्चयात् मुक्तिसाधने मुमुक्षोः प्रवृत्त्यसम्भवः इति प्राप्ते, आह गतेः अर्थवत्त्वम् इत्यादि. गतेः ज्ञानस्य अर्थवत्त्वं फलजनकत्वम्, उभयथा मर्यादा-पुष्टिभेदेन इति अर्थः.

अत्र अयम् आशयः : “एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति” (कौषी.उप.३।९) इत्यादिश्रुतिभ्यो भगवान् सृष्टिपूर्व-कालएव एतस्मै जीवाय एतत् कर्म कारयित्वा एतत् फलं दास्ये इति विचारित-वानिति तथैव भवति. तत्र उक्तरीत्या मुक्तिसाधनाननुगमे हेतुः अवश्यं वाच्यः. एवं सति कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते. ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः ‘मर्यादा’, तद्रहितानामपि स्वस्वरूपबलेन स्वप्रापणं ‘पुष्टिः’ इति उच्यते. तथाच यं जीवं यस्मिन् मार्गे अङ्गीकृतवान्, तं जीवं तत्र प्रवर्तयित्वा तत्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्साधनत्वं ब्रह्मत्वेन ज्ञानस्य मुक्तिसाधनत्वम्. इति प्राप्ते मुक्तिसाधनानाम् अनिश्चयात् स्वर्गार्थयत्नः कार्यो न मुक्त्यर्थः इति पक्षे प्राप्ते इति अर्थः. मर्यादापुष्टी-त्यादि. तथाच मर्यादिकज्ञानस्य भक्तेश्च मर्यादिकमोक्षं प्रति पुष्टिमार्गीयभक्तेः ज्ञानस्य च पुष्टिमार्गीयमोक्षं प्रति हेतुत्वाद् न विनिगमनाभावो व्यभिचारो वा इति अर्थः सिद्धः. तत्र भगवद्विचारितमध्ये. उक्तरीत्या पुष्टिमर्यादाभेदम् आदाय. साधनानुगमे एतत्फलस्य इदमेव साधनम् इति निश्चये हेतुः. एवं सति इच्छायाः कार्यकारणभाव-नियामकत्वे सति. तद्रहितानाम् अनुग्रहमात्रेण अङ्गीकृतानाम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

आह इति. सिद्धान्तम् आह इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः गतेः इति. विशदयन्ति अत्र अयम् इति. कार्यमात्रं प्रति ईश्वरेच्छायाः कारणत्वबोधिकां श्रुतिम् आहुः एष उ एव इति. साधनानुगमे हेतुः इति. भगवदिच्छा इति शेषः. तथाच ज्ञानभक्तिवरणजारादिबुद्धिः भगवद्विषयककामः. एतेषां साधनानुगमे मार्गे भेदएव हेतुः एकः मर्यादा एकः पुष्टिः इति. मर्यादा च सर्वसाधारणा एतावती कृता एतावद् ईयत इति. पुष्टिस्तु अनुग्रहः. “लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्रह्मसू.२।१।३३) इति न्यायात्. “यमेभ्यो लोकेभ्यः” (कौषी.उप.३।९) इति न्यायात्. उदितानुदितपक्षवद्व्यवस्था. केवलमर्यादायां वृत्तस्य जीवस्य अक्षरे पूर्वपूर्वज्ञानमार्गीयज्ञानवतो लयः. पश्चाद्भक्ति-मार्गीयज्ञानवतः अक्षरे. ततः पुरुषोत्तमे लयस्य सुखेन सम्भवात् श्रुतिस्मृतिविरोधोऽपि

फलं ददाति इति सर्वं सुस्थम्. अतएव पुष्टिमार्गे अङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं, मर्यादायाम् अङ्गीकृतस्य तदपेक्षित्वं च युक्तमेव इति भावः.

अत्र साधकत्वेन विपक्षे बाधकम् आह अन्यथा हि विरोधः इति. अन्यथा मर्यादापुष्टिभेदेन व्यवस्थायाः अकथने विरोधाद् हेतोः तथा इति अर्थः. विरोधस्तु पूर्वपक्षग्रन्थे उपपादितः. एतेनैव ननु श्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च भक्तिः अविशेषेण पापक्षयएव उदेति उत कश्चिद् विशेषो अस्ति तत्र आधुनिकानामपि भक्तानां दुःखदर्शनात् श्रवणादेः पापनाशकत्वश्रवणाच्च अविशेषपक्षस्तु असङ्गतः. अथ श्रवणादिरूपा पापे सत्यपि भवति, प्रेमरूपा तु तन्नाशएव इति विशेषो वाच्यः. सोऽपि प्रेमवतामपि अक्रूरादीनां मणिप्रसङ्गे भगवता समं कापट्यकृतिश्रवणाद् न साधीयान् इत्यपि शङ्का निरस्ता वेदितव्या.

तथाहि. मर्यादापुष्टिभेदेन अङ्गीकारे वैलक्षण्याद् आद्यायाम् अङ्गीकृतानां मुमुक्षयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिः, तद्दातृत्वेनैव भगवति प्रेमापि, नतु निरुपधिः. कदाचिद् वस्तुस्वभावेन मुक्तीच्छानिवृत्तावपि तद्भक्तेः साधन-मार्गीयत्वाद् “अनिच्छतो मे गतिम् अर्णीं प्रयुङ्क्ते” (भाग.पुरा. ३।२५। ३६) इतिवाक्याद् अन्ते मुक्तिरेव भवित्री. अस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सर्वं सुस्थं सर्वोऽपि पूर्वोक्तः पूर्वः पक्षः समाहितः इति अर्थः. अत्र मार्गभेदेन व्यवस्थापक्षे. एतेनैव पुष्टिमर्यादाभेदेन साधनानां व्यवस्थापनेन इति अर्थः. एतस्य “इत्यपि शङ्का निरस्ता” इति अग्रेतनेन अन्वयः. कश्चिद् विशेषः प्रेमलक्षणायाः पापनाशोत्तर-कालीनत्वरूपः. कापट्येति पापं विना कापट्यासम्भवाद् इति अर्थः.

शङ्कानिरसनमेव उपपादयन्ति तथाहि इत्यादिना. आद्यायां मर्यादामार्गीय-भक्तौ. तद् मुक्तिः. वस्तुस्वभावेन वस्तुमाहात्म्यजातप्रेमस्वभावेन इति अर्थः. अर्णीं मुक्तिरूपाम्. अस्मिन् मर्यादाभक्तिमार्गे.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

नास्ति इति सर्वं सुस्थम्. अतएव इति. मार्गवैलक्षण्याद् इति अर्थः. सूत्रशेषम् अवतारयन्ति अत्र इत्यादि. तथा इति. साधने मुमुक्षोः प्रवृत्तिः तस्याः प्रतिबन्धः. साधकीभूतविरोधम् आहुः विरोधस्तु इति. अत्र अधिकं प्रकाशे अनुसन्धेयम्. अस्य अधिकरणस्य प्रयोजनान्तरम् आहुः एतेन इति. निरस्ता वेदितव्या इत्यन्तेन.

शङ्कानिरसनमेव विशदयन्ति तथाहि इत्यादिना वक्तुं शक्यम् इति अन्तेन.

प्रेमोत्पत्तिः, ततो मुक्तिः. पुष्टिमार्गे अङ्गीकृतेस्तु अत्यनुग्रहसाध्यत्वात्, तत्रच पापादेः अप्रतिबन्धकत्वात्, श्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च युगपत् पौर्वापर्येण वा, वैपरीत्येन वा भवत्येव. अत्र श्रवणादिकमपि फलरूपमेव. स्नेहेनैव क्रियमाणत्वाद् न विधिविषयः. न हि अविद्यादिमुक्त्यन्तरूपभजनानन्दात्यन्तरायरूपाभ्रङ्कषा-विरलविविध-महातरुगहनानां दहने लोलुपस्य अनुग्रहानलस्य तदान्तरालिक-पापतूलं प्रतिबन्धकम् इति वक्तुं शक्यम्. तदुक्तं श्रीभागवते “स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः, विकर्म यच्च उत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः” (भाग.पुरा.११।५।४२) इति. ‘विकर्म’ प्राक्तनं, तद्दुःखदम् इति, स्वयं च हरित्वेन दुःखहर्ता इति ‘धुनोति’. उक्तविशेषण-विशिष्टस्य स्वतो विकर्मकृत्यसम्भवात् “सांसर्गिकं मत्तो भूतं नतु मया *कृतम्” इतिवद् वा यत् कृतं ‘विकर्म’ तत् ‘कथञ्चिद् उत्पतितम्’ इति उच्यते. ‘त्यक्तान्य-भाव’त्वेन भगवत्सेवाव्यासङ्गेन ‘इन्द्रद्युम्ना’ख्यपाण्ड्यराजवत् (भाग.पुरा.८।४। ७-९) महदागमनाद्यज्ञानं वा. वक्ता उक्तरूपे भक्ते विकर्मोक्तौ ‘अनुचितत्व-ज्ञापनाय वा ‘कथञ्चिद्’ इति उक्तवान्. तेन तर्कितं विकर्मा अत्र ‘अभिप्रेतम्’ इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

न विधिविषयः पुष्टिमार्गीयश्रवणादि न विधिविषयः. तद्दुःखं कथञ्चिद् उत्पन्नमपि विकर्म दुःखरूपम् इति अर्थः. उक्तविशेषणम् अनुग्रहरूपम्. मत्तो भूतम् इत्यादि नान्तरीयकम् इति अर्थः. अरुचिज्ञापनाय ‘त्यक्तान्यभावे’ अनुगृहीते भक्ते पापान् उत्पत्तिज्ञापनाय इति अर्थः. तर्कितम् इत्यादि. तथाच “कृत्वा चिन्ताम्”

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र एतादृश्याः ईश्वरेच्छायाः सत्त्वे प्रमाणम् आहुः तदुक्तम् इति. तत्र प्रथमं विकर्म विशदयन्ति. हरित्वेन इति. “हरामि अघं यत् स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतुष्वहम्, वर्णश्च मे हरिश्च इष्टः स्तस्माद् हरिः अहं स्मृतः” (महाभा.शान्तिप.१२।३५२) इति भारते.

द्वितीयं विशदयन्ति उक्तेति. मत्तो भूतम् इति. “कामनां विनैव मया कृतं बुद्ध्यापि न कृतम्” इति अर्थः. ततो अतिरिक्तम् आहुः त्यक्तेति. अज्ञानं वा इति. विकर्मस्थानीयम् अज्ञानम् इति अर्थः. गौण्यङ्गीकारे बीजम् आहुः वक्तेति. ‘सर्व’पदतात्पर्यम् आहुः कदाचिद् इति. रन्तिदेवोपाख्याने नवमस्कन्धे, द्वितीयस्कन्धे

* “कृतम्” इति बुद्ध्या” इत्यपि पाठः. १. ‘अरुचि ज्ञापनाय’ इति पाठः. २. ‘अत्रापि’ इति पाठः.

ज्ञायते. एतादृशस्यापि यदि 'विकर्म' भवेत् तदा तन्निवृत्त्यर्थं न तेन अन्यत् कर्तव्यम्. भगवानेव हृदि निविष्टः तद् धुनोति यतः इति. कदाचित् स्वभक्ति-बलस्फूर्त्या सदोषमपि जनं कृतार्थीकरिष्यामि इति अङ्गीकुर्यात् चेत् भक्तः, तदैव तद्धृदिस्थएव तत्संसर्गजं दोषम् अस्य एतद् अङ्गीकारेण तद्दोषमपि धुनोति इति 'सर्व'पदेन उच्यते. चिरकालभोग्यमपि तत्क्षणेनैव नाशयति. तन्नाशने कालादेः अप्रतिबन्धकत्वम् इत्यपि ज्ञापयितुं 'पर'स्य कालादेः ईशत्वम् उक्तम्. अत्र भजनादि-हृन्निवेशान्तानां स्पष्टएव विकर्मणि सत्यपि सम्भवः इति॥२९॥७॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे सप्तमं गतेरर्थवत्वम् इति अधिकरणम्॥७॥

उपपन्नस् तल्लक्षणार्थोपलब्धेः लोकवत्॥३०॥ (३।३।८)

ननु मुक्तेरेव सर्वत्र फलत्वम् उच्यते, युक्तञ्च एतत्, संसृतेः दुःखात्म-कत्वात् तन्निवृत्तेः सर्वेषाम् इष्टत्वात्, पुष्टिमार्गीयभक्तानान्तु तदनपेक्षित्वम् उच्यते. तदुक्तम् अथर्वणोपनिषत्सु. अष्टादशार्णमन्त्रस्वरूपम् उक्त्वा पठ्यते

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादिन्यायेन तादृशविकर्मोत्पत्तिः इति भावः. तद् हृदिस्थः “एनं कृतार्थी करिष्यामि” इति भगवदिच्छाविषयीभूतः. तत्संसर्गजम् अज्ञातं कथञ्चित् संसर्गेण उत्पन्नम्. अस्य भगवतः. एतदङ्गीकारेण ‘एनम्’ इत्यादिना उक्ताङ्गीकारेण. तद्दोषं धुनोति भक्तोऽपि धुनोति इति अर्थः. तत्क्षणेनैव इत्यस्य उदाहरणं “दुःसहप्रेष्ठविरह...” इत्यादौ बोध्यम्. फलितम् आहुः अत्र इत्यादि. तथाच मर्यादाभक्तिमार्गेतर्तव्याभावाद् ज्ञानमार्गतः उत्कर्षः सिद्धः. पुष्टिभक्तिमार्गेतु “स्वपादमूलम्” (भाग.पुरा.११।५।४२) इत्यादिवाक्यानुरोधाद् सत्यपि विकर्मणि भजनादिहृन्निवेशितानां सम्भवो भगवत्कृपयैव विकर्मनाशश्चेति ततोऽपि उत्कर्षः सिद्धः इति फलितम्॥२९॥७॥

मर्यादापुष्टिभक्त्योः तारतम्यं विवरीषवः सूत्रम् अवतारयन्ति ननु मुक्तेः इत्यादि. एतद् मुक्तेः फलत्वं. तदनपेक्षित्वं मुक्त्यनपेक्षित्वम् इति अर्थः. तदुक्तं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

“किरातहृणान्ध...” (भाग.पुरा.२।४।१८) इत्यादिना. तथाच यत् सिद्धं तद् आहुः अत्र इति॥२९॥७॥

पूर्वाधिकरणे भक्तिहेतुबोधनेन भक्तस्य भक्तेश्च सर्वापेक्षया उत्कृष्टत्वं बोधितम्. अस्मिन् अधिकरणे मर्यादापुष्टिभक्त्योः मध्ये पुष्टिभक्तेः उत्कर्षम् आहुः ननु इति. तदनपेक्षितत्वम् इति. मुक्त्यनपेक्षितत्वम् इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आहुः

“परब्रह्म एतद् यो धारयति” (गोपा.पू.उप.१) इत्यादेः अन्ते “सो अमृतो भवति” (तत्रैव) इत्यादि. एतद् अग्रे “किं तद्रूपम्? किं रसनम्? कथं हैतद्भजनम्?” (तत्रैव) इत्यादि प्रश्नोत्तरं पठ्यते. “भक्तिरहस्यभजनं तद् इहामुत्रोपाधिनैराशयेनैव अमुष्यात्मनः कल्पनम् एतदेव नैष्कर्म्यम्” (तत्रैव) इति. एतद् अत्र विचार्यते : मन्त्रावृत्तितदधिष्ठातृरूपध्यानादेः अमृतत्वं फलम् उच्यते. भजनस्वरूपं च यावत्फलनैराशयेन भगवति आत्मनः कल्पनम् इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मुक्त्यनपेक्षित्वम् उक्तम्. एतदग्रे मोक्षनिरूपणोत्तरे भजननिरूपणे. पठ्यते गोपाल-पूर्वतापनीये पठ्यते. भक्तिरक्षणम् उच्यते इति अर्थः. तदेव आह “भक्तिरहस्य-भजनम्” (गोपा.पू.उप.१।३) इति. अत्र ‘भक्ति’शब्दात् छान्दसः सोर्लुक्. ‘रहस्य-भजनम्’ इत्यस्य विवरणं तद् इह इत्यादि. तद् रहस्यभजनम् इहामुत्रोपाधिनैराशयेन ऐहिकामुष्मिकफलकामनाराहित्येन. ‘अमुष्यात्मनो’ भगवदीयजीवस्य. ‘कल्पनम्’ अनन्यतया भगवदीयत्वसम्पादनम्. ‘एतदेव’ निःकामतया भगवदीयत्वसम्पादनमेव. बाह्याभ्यन्तरसेवाभ्यां भगवदीयत्वदृढीकरणत्वम् इति फलितम्. ‘नैष्कर्म्यं’ सन्न्यासः इति अर्थः. तत्र पारलौकिकफलसामान्यमध्ये मुक्तेरपि प्रविष्टत्वात् तन्निरासोऽपि उक्तः इति बोध्यम्. एतद् अत्र विचार्यते इति पूर्वोक्तानि तापनीयवाक्यानि अत्र विचार्यन्ते इति अर्थः. संशयम् उपपादयितुम् आहुः मन्त्रेत्यादि. “अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्तयेद् यः स यात्यनायासतः केवलं तद्” (गोपा.पू.ता.उप.२।१३) इति मन्त्रोक्ता या पञ्चपदस्य अष्टादशमन्त्रस्य आवृत्तिः पुनः-पुनः कथनं तस्मात् “कृष्ण एव परो देवः तं ध्यायेद् तं रसेत् तं भजेद्” (यथापूर्वम्) इति ब्रह्मणोक्तं यत्तदधिष्ठातृध्यानादि तस्य सर्वस्य अमृतत्वं फलम् उच्यते इति अर्थः. वक्ष्यमाणसंशये मुक्तिकोटिगरीयस्त्वम् उपपादयन्ति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

तदुक्तं रहस्यभजनम् इति. अस्य अर्थम् आहुः तद् इह इति. उपाधिनैराशयेन फलेच्छाशून्येन कल्पनं तदीयत्वसमर्थनं अन्तर्बहिःसेवया तद्दृढीकरणम् इति यावत्. नैष्कर्म्यं सन्न्यासः. एतद् अत्र इति. एतत् तापनीयवाक्यद्वयम्. अत्र सूत्रे. विचारम् आहुः मन्त्रेति. “अमुं पञ्चपदं मन्त्रम् आवर्तयेद् यः स याति अनायासतः केवलं तद्” (गोपा.पू.उप.४।१३) इति अष्टादशार्णमन्त्रस्य आवृत्तिः. तदधिष्ठातृरूपेति. मन्त्रा-धिष्ठातृरूपेति अर्थः. उच्यते इति. “यो ध्यायति रसति” (तत्रैव १।३) इत्यादिब्राह्मणः उच्यते इति अर्थः. कल्पनम् इति. समर्पणम् इति अर्थः. अग्रे स्पष्टम्.

उच्यते. नच फलनैराश्येन भजनेऽपि अन्ते मुक्तिरेव भवित्री इति वाच्यम्. “तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति तद्वैतान् भूत्वा अवति” (मुद्ग.उप.३।९) इति श्रुतेः मुक्तिसाधनत्वेन ज्ञात्वा भजतः सैव फलम्. स्वरूपस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थ-त्वम् अनुभवन् यो भजते तस्य तदेव फलम् इति यतो निर्णयः सम्पद्यते. “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्” (भग.गीता४।११) इति भगवद्वाक्याच्च. अतएव रहस्यभजनं लक्ष्यम् उक्तम्. तथाच श्रौतत्व-भगवत्सम्बन्धित्वयोः अविशेषात् कतमो गरीयान् ? इति संशये गूढाभिसन्धिः पठति.

मुमुक्षोः सकाशाद् रहस्यभजनकर्तैव **उपपन्नः** उपपत्तियुक्तः. तमेव उद्घाटयति **तल्लक्षणार्थोपलब्धेः** इति. तल्लक्षणो भगवत्स्वरूपात्मको यो अर्थः स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपः तदुपलब्धेः स्वाधीनत्वेन तत्प्राप्तेः इति अर्थः. यद्यपि पुरुषोत्तमे प्रवेशे तदानन्दानुभवो भवति, तथापि न प्रभोः तदधीनत्वम्, भक्तितिरोभावात्, प्रत्युत वैपरीत्यम्. भजनानन्दस्य ततो आधिक्यन्तु

“मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्” (भाग.पुरा.५।६।१८)

“दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः” (भाग.पुरा.३।२९।१३)

“नारायणपराः लोके” (भाग.पुरा.६।१७।२८) इति उपक्रम्य

“स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः” (भाग.पुरा.६।१७।२८)

इत्यादिवाक्यैः अध्यवसीयते. अतएव सामीप्यवाची उपसर्गः उक्तः. तेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

नच इत्यादिना. **अतएव** स्वरूपस्य फलत्वादेव. **कतमो गरीयान्** मुक्तिस्वरूपफलयोः मध्ये कः पदार्थो गरिष्ठः इति अर्थः. **प्रत्युत वैपरीत्यं** मुक्तिपूर्वदशातोपि वैपरीत्यं मुक्तिदशायाम्. **अतएव** मुक्त्यपेक्षया भजनानन्दाधिक्यस्य व्यासाभिप्रेतत्वादेव. **उपसर्गः**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अतएव भगवतः फलत्वादेव. एतावता यत् सिद्धं तद् आहुः **तथाच** इति. **संशये** पूर्वपक्षरूपे संशये. **पठति** इति. सूत्रं पठति इति अर्थः.

सूत्रार्थम् आहुः **मुमुक्षोः** इति. **तमेव** इति. उपपन्नं भक्तम् अथवा गूढाभिसन्धिम्. ननु स्वरूपानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य आधिक्यं कथम् ? इत्यतः आहुः **यद्यपि** इति. भजनानन्दस्य स्वरूपानन्दापेक्षया आधिक्ये प्रमाणम् आहुः **भजनानन्दस्य** इति. **इत्यादिवाक्यैः** इति. पञ्चमतृतीयषष्ठस्कन्धेषु षष्ठाध्यायरूपभदेवसंवादएकोनत्रिंशाध्यायः कपिलसंवादे सप्तदशाध्यायरुद्रपार्वतीसंवादस्य वाक्यैः इति अर्थः. अयमेव

दासीत्वेन दासत्वेन लीलायां सुहृत्त्वेन प्रभुनिकटे स्थितिः उक्ता भवति. नच महत्पदार्थस्वरूपाज्ञानाद् अल्पएव आनन्दे यथा सर्वाधिक्यं मन्वानः पूर्वोक्तं न वाञ्छति, तथा अत्रापि इति वाच्यं, दीयमानानाम् अर्थानां स्वरूपाज्ञाना-सम्भवात्. अनुभवविषयीक्रियमाणत्वस्यैव अत्र दीयमानपदार्थत्वात्. तदज्ञाने स्वर्गादित्रये तुल्यदर्शित्वासम्भवश्च. “मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्” (भाग.पुरा.३।२९।१३) इतिवाक्ये भक्तेः आधिक्यं स्पष्टमेव उच्यते. तस्माद् न्यूनार्थजिघृक्षोः सकाशात् पूर्णार्थवान् महानिति युक्तमेव अस्य उपप-न्नत्वम्. इममेव अर्थं दृष्टान्तेन आह **लोक्वद्** इति. यथा स्वाधीनभर्तृका नायिका तदवस्थाननुगुणगृहवित्तादिकं दीयमानमपि न उररीकरोति, तथा इति अर्थः.

अथवा. स भगवानेव लक्षणम् असाधारणो धर्मो यस्य स तल्लक्षण उद्भटभक्तिभावः सएव अर्थः स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपः इति. अग्रे पूर्ववत्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तः “**उपलब्धेः**” इति सूत्रे उपसर्गः उक्तः. अन्यथा “तल्लक्षणार्थलब्धेः” इत्येव सूत्रयेद् मुक्त्याधिक्यस्य अभिप्रेतत्वे. तेन सामीप्यबोधकोपोपसर्गप्रयोगेण. **महत्पदार्थो** ब्रह्मलोकमुक्त्यादिरूपः. **अल्पएव आनन्दे** राज्यादिलौकिकानन्दे. **पूर्वोक्तं** मोक्षसुखम्. **तथा अत्रापि** इति मुक्त्यपेक्षया न्यूनं स्वरूपानन्दे भजनानन्दे भक्तो महत्वं जानाति इति अर्थः. **तदज्ञाने** दीयमानभक्ताग्राह्यपदार्थानां भक्तानाम् अज्ञाने. **तस्मात्** पूर्वावाक्येतु मुक्त्यपेक्षया भक्तेः आधिक्यप्रदर्शनाद्. **न्यूनार्थजिघृक्षोः** मुक्तिग्रहणेच्छोः पुरुषात्. **पूर्णार्थवान्** भक्तिमान्. **अस्य** भक्तस्य. **उपपन्नं** महत्वम् उपपन्नम् इति अर्थः. तदवस्थारसिको न उरीकरोति “**भर्तुः स्वमात्राधीनीकरणं त्यजान्यद्वाञ्छितं गृहाण**” (.....)इत्युक्तापि अन्यद् न अङ्गीकरोति यथा तथा इति अर्थः. पूर्वोक्त-पक्षापेक्षयापि आधिक्यम् उपवर्णयन्ति **अथवा** इत्यादिना. **असाधारणः** उद्भटभक्ति-भाववदतिरिक्ते विद्यमानाभावप्रतियोगिरूपः. **स्वतन्त्रे**त्यादि. तथाच फलरूपभक्तेः न मुक्तौ साम्यसम्भवानापि इति भावः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्राशयः इत्यत्र उपलब्धम् आहुः **अतएव** इति. **उपसर्गेति**. उपोपसर्गः इति अर्थः. भक्तस्य चतुर्विधमुक्त्यपेक्षया आधिक्यम् आहुः **तेन** इति. शङ्कासमाधानेन भक्तेः आधिक्यम् आहुः **न वा** इत्यादिना. सर्वापेक्षया भक्तस्य उत्कृष्टत्वं बोधयितुं प्रकारान्तरम् आहुः **अथवा** इति. अत्र सर्वापेक्षया पुष्टिभक्तो अधिकः इति सूचितम्॥३०॥८॥

भगवत्प्रा-कट्यवानेव हि भक्तो भक्तत्वेन ज्ञायते इति तथा. एतेन ज्ञाप्यं हि ज्ञापकाद् अधिकं भवति. एवं सति यज्ज्ञापकं परमकाष्ठापन्नं वस्तु पुरुषोत्तमस्वरूपं सर्वफलरूपं *तन्महित्वं कथं वक्तुं शक्यम् इति सूच्यते॥३०॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे अष्टमम् उपपन्नाधिकरणम्॥८॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्॥३१॥ (३।३।९)

अथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते “परब्रह्म एतद् यो धारयति रसति भजति ध्यायति प्रेमति शृणोति श्रावयति उपदिशति आचरति सो अमृतो भवति सो अमृतो भवति” (गोपा.पू.उप.१) इति. तत्र धारणादीनां समुदितानामेव अमृत-साधकत्वम्, उत प्रत्येकमपि? इति भवति संशयः. अत्र धारणादिसाधन-कलापम् उक्त्वा फलम् उच्यते इति समुदितानामेव मुक्तिसाधकत्वम्. उपलक्षणं च एतत्. श्रवणादिनवविधभक्तीनामपि एवमेव तथात्वम् इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तम् आह अनियमः इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति तथा उक्तहेतोः भक्तस्य महत्वम्. एतेन पूर्वोपपादनेन. ज्ञाप्यं भक्त-महत्वम्. ज्ञापकात् प्रकटमानाद् भगवतः. यज् ज्ञापकं भक्तमहत्वज्ञापकम्. तन्महत्वं भक्तमहत्वम्. कथं वक्तुं शक्यं न कथमपि वक्तुं शक्यम् इति अर्थः॥३०॥८॥

एवं पुष्टिभक्तेः फलत्वं पुष्टिभक्तस्वरूपं च निरूप्य मर्यादाभक्तिसाध्यम् उक्तौ सर्वासां भक्तीनां समुदितानां कारणत्वम् उत इतरनैरपेक्ष्येण एकैकस्याः कारणत्वम् इति विचारयितुम् अधिकरणारम्भः इति विषयादिकम् आहुः अथर्वणेत्यादि. अत्र धारयति पदार्थः सर्वाङ्गध्यानम्. रसति पदार्थो जपात्मकं कीर्तनम्. भजति पदार्थः शारीरी सेवा. ध्यायते पदार्थः एकाङ्गस्य लीलाया वा चिन्तनम्. प्रेमति भगवद्विषयक-प्रेमयुक्तो भवति. उपदिशति मन्त्रद्वारा भगवन्तं बोधयति. आचरति भगवत्प्रा-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

एतावता पुष्टिभक्तेः फलरूपत्वं विचार्य मर्यादाभक्तिजन्यायां मुक्तौ विचारं कर्तुम् अधिकरणम् आरभते अनियमः इति. विषयादिकम् आहुः अथर्वणेति. सर्वाङ्गेषु मनोधाराणां करोति कीर्तयति, सेवते अङ्गलीलां वा चिन्तयति, स्निहयति, द्वौ स्पष्टौ, मन्त्रोपदेशं करोति, भगवद्गुणचरणं करोति इति नवानां यथासङ्ख्येन अर्थः. संशयस्तु स्पष्टएव. पूर्वपक्षम् आहुः अत्र इति.

*‘तन्महत्वम्’ इति शोधितपाठः. १. ‘तथात्वम्’ इत्यपि पाठः.

समुदितानामेव तेषां फलसाधकत्वम् इति नियमो नास्ति इति अर्थः. अत्र उपपत्तिम् आह **सर्वासाम् अविरोधः** इति. “**चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः**” (गोपा.पू.उप.२) इति श्रुत्या चिन्तनमात्रस्य तथात्वम् उच्यते. “**पञ्चपदीं जपन्**” इत्यादि उक्त्वा “**ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्म सम्पद्यते**” (गोपा. पू.उप.१) इति श्रुत्या कीर्तनमात्रस्य तथात्वम् उच्यते. तथाच प्रत्येकपक्षएव सर्वासां श्रुतीनाम् अविरोधः स्यात्. एवं सति “**परब्रह्म एतद् यो धारयति**” (तत्रैव १) इत्यादिषु “**सो अमृतो भवति**” इतिपदं प्रत्येकं सम्बध्यते इति ज्ञेयम्. ननु यथा दण्डादीनां प्रत्येकं घटहेतुत्वोक्तावपि न एकस्यैव तज्जनकत्वम्, एवम् अत्रापि एकैकस्य चिन्तनादेः तथात्वोक्तावपि फलसाधकत्वं समुदितानामेव तेषाम् इति चेद्, मा एवं. यो अर्थो यत्प्रमाणैकसमधिगम्यः सः तेन प्रमाणेन यथा सिध्यति तथा मन्तव्यः. दण्डादेः तथात्वं प्रत्यक्षेण गृह्यतइति तत्र तथा अस्तु, प्रकृतेतु तेषां तथात्वम् अलौकिकशब्दैकसमधिगम्यम्. श्रुतिस्तु उक्तैव. नच उक्तन्यायः श्रुतिष्वपि तात्पर्यनिर्णायको भवति इति वाच्यम्, अलौकिके अर्थे लौकिकस्य असामर्थ्यात्. अन्यथा ब्रह्मणा मनसैव प्रजाजनने निषेकादिकमपि कल्पेत. स्मृतिरपि “**केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः, ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा माम् ईयुः अञ्जसा**” (भाग.पुरा.११।१२।८). “**एतावान् साङ्ख्य-योगाभ्याम्**” (भाग.पुरा.२।१।६) इति उपक्रम्य, “**अन्ते नारायण-**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्यनुकूलधर्मान् इति शेषः. **समुदितानां** पूर्वोक्तानां नवानाम् इति अर्थः. **अमृत-साधकत्वं** मर्यादाभक्तिजन्यमुक्तिसाधकत्वम्. पूर्वपक्षम् आहुः **अत्र** इत्यादि. एवमेव समुदितानामेव कारणम् इति **तथात्वं** पदार्थः. अत्र इतरनैरपेक्षेण एकैकस्याः कारणतायाम्. श्रुतीनाम् अविरोधमेव उपपादयन्ति “**चिन्तयन्...**” इत्यादिना. **प्रत्येकं सम्बध्यते** नवकारणेषु “**सोऽमृतो भवति**” (गोपा.पू.उप.१) इति प्रत्येकं सम्बध्यते इति अर्थः. अत्रापि मुक्तिसाधनविचारेऽपि. **तथात्वोक्तौ** एकैकस्य कारणत्वोक्तौ. **समुदितानामेव तथात्वं** फलोपधायकत्वम्. **उक्तन्यायः** दण्डचक्रादिस्थलीयो न्यायः. **केवलेन** स्वातिरिक्तसाधननैरपेक्षेण.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तं कर्तुं सूत्रव्याख्यानम् आहुः **समुदितानाम्** इति. अत्र आशङ्कते ननु इति. समादधते **मा एवम्** इति. **एवमेव** इति. प्रत्येकपक्षमेव. ननु एवं चेद् यत्र

स्मृतिः” (तत्रैव २।१।६) इत्यादिरूपा एवमेव आह. इममेव अर्थं हृदि कृत्वा आह सूत्रकारः **शब्दानुमानाभ्याम्** इति. श्रुतिस्मृतिभ्याम् इति अर्थः. ते च उक्ते.

एतेन सूत्रकारस्य अन्योऽपि अनुशयो अस्ति इति भाति. यत्र उक्त-साधनस्तोमसम्पत्तिः एकस्मिन् भक्ते अस्ति, तत्र एकेनैव मुक्तौ इतरसाधनत्व-बोधकश्रुतिविरोधात् श्रवण-कीर्तन-स्मरणानां मुक्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे युगपदपि सम्भवाद् अन्यथासिद्धिसम्भवे विनिगमकाभावाद् एकेनैव मुक्तिः इति न नियमः. अतः प्रत्येकसाधकत्वबोधिकानां सर्वासां श्रुतीनां मिथो अविरोधः. तर्हि एकत्र तथात्वे सर्वत्रैव तथा अस्तु इति आशङ्क्य तत्र बाधकम् आह **शब्दानुमानाभ्याम्** इति. पूर्ववत्. तत्र प्रत्येकमपि मुक्तिहेतुत्वम् उच्यते इति न तथा इति अर्थः. यत्र प्रत्येकमपि तथात्वं तत्र किमु वक्तव्यं समुदितानां तथात्वे इति भावः. तेन श्लिष्टः प्रयोगो अयम् इति ज्ञेयम् ॥३१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ते श्रुतिस्मृती. एतेन सूत्रे **शब्दानुमानाभ्याम्** इत्युक्तेन. पूर्ववत् श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रत्येककारणतायाएव व्यवस्थापनेन मिलितानाम् एकत्र कारणत्वे मानाभावेन सकलोक्तकारणानाम् एककार्यं प्रति अनियमः पूर्वम् उक्तः तथा अत्रापि समाधेयम् इति अर्थः. **तत्रानियमः** इति सूत्रभागे. न तथा कारणसमुदायस्थलेऽपि प्रत्येककारणेनैव कार्यसिद्धौ चक्रयोजितद्वित्रादिदण्डजनितैकघटस्थले त्रयाणां कारणत्वेऽपि न हि सर्वत्र द्वित्रादिदण्डानामेव कारणता वक्तुं शक्या. एकदण्डजन्यघटस्थले व्यभिचाराद् न समुदायकारणतानियमः सर्वत्र इति भावः. **प्रत्येकमपि** इति स्वोक्तम् ‘अपि’ शब्दं विवृण्वन्ति यत्र इत्यादिना. **तथात्वं** कार्यजनकत्वम्. **तथात्वे** कार्योपधाने. तथाच “**सम्भेदेन अन्यतरवैयर्थ्यम्**”(.....) इति न्यायो द्योतितः. **श्लिष्टः प्रयोगः**

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भक्तिसमुदायः तत्र कस्य-कस्य कारणता इति आकाङ्क्षां पूरयति एतेन इति. सूत्रे अनियमोक्त्या. अनुशयं व्युत्पादयन्ति यत्र उक्तेति. **अन्यथासिद्धीति**. युगपत्सम्भवः इति कृत्वा अन्यथासिद्धिः सम्भवः इति अर्थः. **विनिगमकेति**. कस्य अन्यथासिद्धिः इत्यत्र विनिगमके नास्ति इति अर्थः. **बाधकम् आह** इति. सुन्दोपसुन्द-न्यायेन कस्यापि भक्तेः कारणत्वम् अस्तु इति आशङ्क्य भक्तीनां मुक्तौ अहेतुत्वे **बाधकम् आह** इति अर्थः. **तत्र** इति. वेदे स्मृतौ च इति अर्थः. विकल्पदोषपरिहारम् आहुः **यत्र प्रत्येकम्** इति. तथा यत्र अनेकभक्तिसत्त्वं तत्र फलशीघ्रतैव इति बोध्यम्. **श्लिष्टः** इति.

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे नवमम् अनियमाधिकरणम्॥९॥

यावदधिकारम् अवस्थितिराधिकारिकाणाम्॥३२॥ (३।३।१०)

पूर्वं मुमुक्षुभिः मुक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणानां भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनप्रकारो विचारितः, अधुना तु भगवान् स्वविचारितकार्यं लौकिकैश्वर्याद्यशक्यं ज्ञात्वा, स्वैश्वर्यादिकं दत्त्वा, येन जीवेन तत् कारयति, स जीवः तैः धर्मैः मुक्तो भवति न वा इति विचार्यते.

तत्र जीवकृतभगवद्विषयकधर्माणां यत्र तत्साधकत्वं, तत्र भगवदीयानां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति. तथाच सूत्रे **अनियम** इति श्लिष्टः प्रयोगः. तेन क्वचित् कारणद्वयेन क्वचित् कारणत्रयेण कार्यजननेऽपि न सर्वत्र नियमः इति श्लेषबोधितो अर्थः फलितः॥३१॥९॥

पूर्वाधिकरणेन सह एतदधिकरणस्यैव निर्वाहकत्वसङ्गतिं प्रदर्शयन्तो अधिकरणम् अवतारयन्ति **पूर्वम्** इत्यादिना. **भगवद्धर्माणां** भजनरूपभगवद्धर्माणाम्. **स्वविचारितकार्यं** सूर्यस्य प्रकाशकत्वम् अग्नेः पाचकत्वं प्रियव्रतादेः तथा राज्यादिकरणम् एवमादि. तत् स्वविचारितम्. **सः जीवो** अधिकारिजीवः. तैः अधिकारकार्यार्थं भगवद्दत्तैः. **मुक्तो भवति न वा** इति कोटिद्वयमध्ये प्रथमपक्षे भक्तेः मुक्तिजनकतायां व्यभिचारः आधिकारिकधर्माणां भक्तित्वाभावाद, द्वितीयः आधिकारिकधर्माणां भागवतानां मुक्तिप्रतिबन्धकत्वापत्तिः अतो विचारविषयता इति अर्थः. इत्थं च भगवद्धर्मा विषयः. ते मुक्तिहेतवो न वा इति संशयः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

‘अनियमः’ इत्ययं प्रयोगः श्लिष्टः इति अर्थः. एकमेव कर्तव्यं न द्वयं त्रयं वा इति अस्य अनियमः इति भावः. अत्र एवं बोध्यम्. यत्र अतिकृपा तत्र सद्योमुक्तिः अन्यत्र अर्चिरादिमार्गः इति सूत्राद्बोध्यम्॥३१॥९॥

पूर्वाधिकरणसङ्गतिम् आहुः **पूर्वम्** इति. अधिकरणप्रयोजनम् आहुः **अधुना** इति. तैः **धर्मैः** अधिकरणप्रयोजनधर्मैः. ते च “**यदादित्यगतं तेजः**”(भग.गीता१५।१२) इति. अथच प्रतर्दनसंवादे इन्द्रेण स्वस्मिन् उक्ता ये धर्माः भगवदीयाः बोध्याः. **विचार्यते** इति. सायुज्यं तस्य भवति न वा इति विचार्यते इति अर्थः. यथा आदित्य-प्रकाशतेजः भगवदीयधर्मः. तेन आदित्यो युक्तो भवति वा न वा इति **संशयः**. यदि भवति तदा भक्तेः हेतुत्वं गतम्. यदि न भवति तदा मुक्तं प्रति तद्धर्माणां प्रतिबन्धकत्वं स्याद् इति विचारः इति भावः. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. **भगवद्विषयकेति**. भक्तिरूपाणां धर्माणाम् इति अर्थः.

धर्माणां तत्साधकत्वं सुतरामेव. तेषां स्वकृत्यसाध्यत्वेन अविधेयत्वात् तत्साधनेषु अप्रवेशोऽपि इति सन्देहे निर्णयम् आह यावद् इत्यादि.

यस्मिन् जीवे यत्कार्यसाधनार्थम् अधिकारो भगवता दत्तः, तत्कार्य-साधनक्षमाः तस्मिन् ये स्वधर्माः भगवता स्थापिताः, ते आधिकारिका इति उच्यन्ते. तत्कार्यसम्पत्तिरेव तदधिकारप्रयोजनमिति तावदेव तेषां तस्मिन् स्थितिः इति अर्थः. एवं सति तत्सम्पत्तौ सोऽपि निवर्ततइति तत्सम्बन्धिनो धर्मापि निवर्तन्तइति मुक्तिपर्यन्तं न तेषां व्यापारसम्भवः, भगवता तथैव विचारितत्वात्. मुक्तिस्तु भक्त्यैव इति भावः. यच्च “ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे, परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्” (कूर्म.पूरा. १२।२६९।) इति वाक्यं, तत्तु आकल्पान्तं येषाम् अधिकारः सप्तर्षिप्रभृतीनां तद्विषयकम् इति ज्ञेयम्. अन्यथा भगवद्दत्ताधिकारसामर्थ्यस्य भरतस्य स्वाधिकारसमाप्तौ मुक्तिं न वदेत्. ‘कृतात्मानः’ इति पदात् तेषामपि भगवति कृतान्तःकरणानामेव ‘परस्य’ भगवतः परपदे व्यापिवैकुण्ठे प्रवेशः उच्यते, न तु आधिकारिकगुणैः॥३२॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे दशमम् आधिकारिकाधिकरणम्॥१०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भगवदीयानाम् आधिकारिकानाम् इति अर्थः. धर्माणां “धारयति रसति भजति” (गोपालपू.ता.उप.१) इत्यादिपूर्वश्रुत्युक्तभगवद्भर्माणाम् इति अर्थः. तेषाम् आधिकारिकानाम् अविधेयत्वाद् मुक्तिसाधनत्वेन विधातुम् अशक्यत्वाद् इति अर्थः. तद् मुक्तिः. धर्माणाम् अधिकारार्थत्वेनैव॥३२॥१०॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति एकः पूर्वपक्षः. अपरम् आहुः तेषाम् इति. तत्साधनेषु इति. मुक्तिसाधनेषु इति अर्थः. तथाच यथा यागादिकं कृतिसाध्यम् इति तत्स्वर्गसाधनम्, आदित्यगतं तेजः कृतिसाध्यं न भवति इति तत्साधनमपि न भवति इति भावः. सिद्धान्तम् आहुः यस्मिन् इति. स्वधर्माः इति. भगवद्भर्माः इति अर्थः. एवं सति इति. यावत्कार्यं तावत्पर्यन्तम् आदित्यः आदित्यगतो धर्मः तेजोरूपम्. अत्र भगवदिच्छैव नियामिकेति मुक्तिजनकतावच्छेदकं भक्तित्वमेव इति भावः. ननु अधिकारान्तेऽपि मुक्तिः उच्यते कुत्रचिद् इत्यतः आहुः यच्च इति. तेषां भक्त्यैव अधिकारमुक्तिः इति भावः. तथा स्वीकारे गमकम् आहुः अन्यथा इति. सामर्थ्यस्य भगवदीयधर्मवतः. सप्तर्षीणामपि तथैव आहुः कृतात्मानः इति॥३२॥१०॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्याम्

औपसदवत् तदुक्तम् ॥३३॥ (३।३।११)

ननु उक्त अथर्वणोपनिषद्वाक्यैः भगवद्भर्माणां मुक्तिसाधनत्वम् उच्यते, श्रुत्यन्तरेषु

“तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय”

(श्वेता.उप.३।८)

“ज्ञानादेव तु कैवल्यम्” (ग.पु.सा.१६।८७)

“तरति शोकम् आत्मवित्” (छान्दो.उप. ७।१।३)

“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” (मुण्ड.उप.३।२।९)

इत्यादिषु ज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वम् उच्यते, श्रुतित्वाविशेषाद् उभयोः तथात्वे कारणवैजात्ये कार्यवैजात्यस्य आवश्यकत्वाद् मुक्तौ च तदसम्भवाद् “भक्त्या मामभिजानाति” (भग.गीता१८।१५) इतिवाक्याद् भक्तौ ज्ञानस्यापि सम्भवाद् ज्ञानेनैव मुक्तिः इति पूर्वपक्षे, ज्ञानसाधनत्वनिरूपकश्रुतितात्पर्यं निरूपयन् पुरुषोत्तमप्राप्तेरेव मुक्तिपदवाच्यत्वात् तद्भजनस्यैव तत्प्रापकत्वम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वाधिकरणे भक्तेरेव मुक्तिः इति निरूप्य अक्षरज्ञानस्य मुक्तिकारणताप्रकारं वक्तुं सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. भगवद्भर्माणां पूर्वश्रुत्युक्तभजनादिरूपाणाम्. अत्र भक्तेः मुक्तिसाधनत्वं विषयो भक्तेः मुक्तिसाधनं ज्ञानस्य वा इति संशयः. श्रुतिद्वैधं संशयबीजम्. श्रुतीत्यादिना पूर्वपक्षः उच्यते. श्रुतित्वाविशेषाद् भक्ति-ज्ञानयोः मुक्तिं प्रति कारणत्वप्रतिपादकश्रुतीनां श्रुतित्वाविशेषाद् इति अर्थः. उभयोः भक्ति-ज्ञानयोः. तथात्वे स्वातन्त्र्येण मुक्तिकारणत्वे. तदसम्भवाद् वैजात्यासम्भवाद्. भक्तौ इति सतिसप्तमी. तत्प्रापकत्वं मुक्तिप्रापकत्वम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एतावता भक्तेरेव मुक्तिहेतुत्वं व्यवस्थापितम्. इदानीम् अक्षरज्ञानस्यापि मोक्षकारित्वं क्वचित् श्रूयते इति एतदर्थम् अक्षराधिकरणम् आहुः अक्षरधियाम् इति. सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. अथर्वणेत्यादिना विषय-संशयौ. पूर्वपक्षम् आहुः श्रुतित्वाविशेषाद् इति. मुक्तौ च तदसम्भवाद् इति. मुक्तौ सर्वमायानिवृत्तिः इति श्वेताश्वतरोपनिषद्युक्तम् अतो वैजात्यं नास्ति इति अर्थः. पूर्वपक्षे इति. सति इति

इति हृदि कृत्वा आह अक्षरधियाम् इत्यादि. 'तु'शब्दः पूर्वपक्षनिरासे. वाजसनेयके श्रूयते “एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलम् अनणु” (बृहदा.उप.३।८।८) इत्यादि. तथा अथर्वणे च “अथ परा यया तदक्षरम् अधिगम्यते” (मुण्ड.उप.१।१।५) इति. तेन ज्ञानमार्गे अक्षरविषयकाण्येव ज्ञानानि निरूप्यन्ते, पुरुषोत्तमविषयकाणि न इति निश्चीयते. “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतौ अक्षरब्रह्मविदो अक्षरात् परस्य प्राप्तिः उच्यते. “अक्षरादपि चोत्तमः” (भग.गीता १८।५५) इति भगवद्-वाक्याच्च अक्षरातीतः पुरुषोत्तमः. “भक्त्या माम् अभिजानाति” (तत्रैव १८।१५) इतिवाक्ये ‘माम्’ इतिपदात् पुरुषोत्तमविषयकं ज्ञानम् उच्यते, नतु अक्षरविषयकम्. किञ्च, ‘ब्रह्मभूत’स्य भक्तिलाभोक्तेः तस्य च आनन्दांशा-विर्भावात्मकत्वात् तस्य च अविद्यानाशजन्यत्वात् तस्य च अक्षरज्ञानजन्यत्वात् पूर्वकक्षाविश्रान्तमेव अक्षरज्ञानम्. एवं सति अक्षरविषयिणीनां धियां श्रुतौ

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वपक्षनिरासे अक्षरज्ञानस्यैव साक्षान्मुक्तिहेतुत्वम् इति पूर्वपक्षनिरासे. भक्ति-लाभोक्तेः “ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति, समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्” (भग.गीता १८।५४) इति वाक्येन भक्तिलाभोक्तेः इति अर्थः. तस्य भक्तिलाभस्य. तस्य आनन्दांशाविर्भावस्य. तस्य अविद्यानाशस्य. पूर्वकक्षा अविद्यानाशरूपा. एवं सति अक्षरज्ञानस्य अविद्यानाशकत्वेन भगवत्सम्बन्धि-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

शेषः. हृदि कृत्वा आह इति. अक्षरज्ञानस्य भक्तिं प्रति कारणत्वम् आह इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः तुशब्दः इति. निरासे ज्ञानेनैव मोक्षः इति पक्षनिरासे इति अर्थः. ज्ञानकारण-श्रुतितात्पर्यं वर्णयन्ति वाजसनेयके इति. तथाच ‘अक्षरज्ञानं’ ‘ब्रह्मज्ञानम्’ इति ब्राह्मणपदेन उक्तम् अत्र इति भावः. निश्चीयते इति. पुरुषोत्तमविषयकाणि न इति ज्ञानविषय-विशेषणबलाद् निश्चीयते इति अर्थः. अक्षरज्ञानस्य फलविचारम् आहुः ब्रह्मविद् इति. नतु अक्षरविषयकम् इति. तथाच जगत्कारणीभूतस्य चेतनस्यैव ‘अक्षर’पदवाच्यत्वाद् जीव-प्रकृत्योः अभावेन श्रुतौ परमयोगेन च पुरुषोत्तमाक्षरयोः ऐक्यासम्भवेन च “भक्त्या माम्” (भग.गीता १८।५५) इति वाक्येन पुरुषोत्तम-विषयकमेव ज्ञानम् इति अर्थः. अक्षरज्ञानेन भक्तिः जायते इति आहुः किञ्च इति. तस्य च ब्रह्मभावस्य च आनन्दाविर्भावस्य च. तस्य च अविद्यानाशस्य च. पूर्वकक्षा इति.

मुक्तिसाधनेषु यः अवरोधः प्रवेशनं गणना इति यावत्, सः सामान्य-
तद्भावाभ्यां हेतुभ्याम्. पुरुषोत्तमसम्बन्धिसम्बन्धे मुक्तिः इति सामान्यम्.
मर्यादामार्गे अङ्गीकृतानां “ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, समः
सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम्” (भग.गीता १८।५४) इति वाक्याद्
ब्रह्मभावानन्तरमेव भगवद्भावसम्भवात् तेन पुरुषोत्तमे प्रवेशात् तत्र
परम्परोपयोगो ब्रह्मभावस्य इति उभाभ्यां हेतुभ्यां तथा इति अर्थः. वस्तुतस्तु
पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव मुक्तिः इति भावः.

ननु अक्षरस्य अविशिष्टत्वेन तदुपासकानामपि तथात्वात् केषाञ्चित्
तत्रैव लयः, केषाञ्चिद् भक्तिलाभः इति कथम् उपपद्यते ? इति आशङ्क्य, तत्र

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सत्सम्बन्धकार्यसम्पादकत्वे सति इति अर्थः. सः प्रवेशः. सामान्यतद्भावाभ्याम् इति
हेतुं विवृण्वन्ति पुरुषोत्तमेत्यादिना. मुक्तिः इति इति साधनसम्पत्तिसम्भवाद् मुक्तिः
इति अर्थः. सामान्यं सामान्यपदार्थरूपः प्रथमो हेतुः इति अर्थः. तद्भावरूपं द्वितीयं हेतुं
विवृण्वन्ति मर्यादा इत्यादिना. ब्रह्मभावस्य सर्वत्र अक्षरात्मत्वेन ज्ञानस्य. तथा
अक्षरज्ञानस्य परममुक्तिसाधकत्वम्. अक्षरस्य परमापरममुक्तिसाधकाक्षरज्ञानस्य.
अविशिष्टत्वेन उभयोः सत्त्वेन. तदुपासकानाम् अक्षरोपासकानाम् अविशिष्टत्वात्
परापरमुक्तिं प्रति अधिकारित्वात्. तत्रैव अक्षरएव. भक्तिलाभः परममुक्तिलाभः इति
अर्थः. कथम् उपपद्यते कारणवैजात्याभावात् कथं कार्यवैजात्यम् इति अर्थः. तत्र

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

परप्राप्तिपूर्वकक्षारूपो अर्थो ब्रह्मभावः तद्विश्रान्तम् इति अर्थः. तथाच ज्ञानकारणता-
निरूपकश्रुत्या अक्षरस्य परमधामत्वात् पुरुषोत्तमाविनाभूतत्वात् तत्प्राप्तः पुनरावृत्ति-
रहितत्वेन ब्रह्मभावात्मकत्वोपपत्तिः इति भावः.

तथाच सिद्धम् आहुः एवम् इति. श्रुतौ तैत्तिरीयश्रुतौ. अवरोधपदार्थम्
आहुः प्रवेशनं गणना इति. सामान्येति. सः अवरोधः. सामान्यं च तद्भावश्च
ताभ्यां गणना इति पूर्वेण अन्वयः. तत्र सामाधानम् आहुः पुरुषोत्तमेति. सः सम्बन्धः
भगवद्भक्तेषु अथवा अक्षरेऽपि समानः इत्यतः तदेव सामान्यम् इति अर्थः. तद्भावम्
आहुः मर्यादा इति. वस्तुतस्तु इति. तथाच अक्षरप्राप्तेः परममुक्तित्वं नास्ति किन्तु
भगवद्धामप्राप्तिः इति भावः.

सूत्रांशम् अवतारयन्ति ननु इति. तत्रैव इति. अक्षरज्ञानेन “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव

हेतुं दृष्टान्तेन आह औपसदवद् इति. 'उपसदा'ख्ये कर्मणि तानूनप्त्रस्पर्शाख्यम् औपसदं कर्म अस्ति. तत्र 'आतिथ्यायां' ध्रौव्यां सुचि चमसे वा यद् आज्यं चतुरवत्तं पञ्चावत्तं वा समवद्यति, तत् तानूनप्त्रम् इति उच्यते. "अनाधृष्टमसि" (तैत्ति.संहि.१।२।१०) इति मन्त्रेण षोडशापि ऋत्विजो यजमानेन सह तानूनप्त्रं समवमृशन्ति, "अनु मे दीक्षाम्" (तत्रैव१।२।१०) इति मन्त्रेण यजमानः "तत् समवमृशन् यम् ऋत्विजं कामयेत, अयं यज्ञयशसम् ऋच्छेद् इति तं प्रथमम् अवमर्शयेद्" (आप.श्रौतसू.१।१।१४) इति श्रूयते श्रुतौ

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कार्यवैजात्ये. औपसदम् उपसत्सम्बन्धि. ध्रौवाद् ध्रुवायां विद्यमानाद्. समवमृशन्ति स्पर्शं कुर्वन्ति. अवमर्शयेद् वृणुयाद् इति अर्थः. तथेच्छा स्वकीययज्ञयशः-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भवति" (मुण्ड.उप.३।२।९) इति वाक्याद् अक्षरे लयः, केषाञ्चिद् भक्तिः इति अर्थः. हेतुम् इति. भगवदिच्छाहेतुरूपं हेतुम् इति अर्थः. उपसदाख्येति. सोमयागे आतिथ्येष्ट्यनन्तरं त्रिषु दिनेषु अनुष्ठीयमाने 'उपसदा'ख्यकर्मणि इति अर्थः. तानूनप्त्र-स्वरूपम् आहुः तत्र इति. पूर्वम् आतिथ्येष्टिः कृता अस्ति. तत्र 'ध्रौवं' नाम ध्रुवाज्यं तस्मात् चतुरवत्तं पञ्चावत्तं वा पञ्चवारं सुचि चमसे वा आज्यं सम्यग् अवद्यति गृह्णाति. तत् तानूनप्त्रम् इति. तस्य आज्यस्य 'तानूनप्त्रम्' इति सञ्ज्ञा. अनाधृष्टम् इति. "आनाधृष्टम् असि अनाधृष्ट्यं देवानाम् ओजो अभिशस्तिपा अनभिशास्ते अन्यम्" (तैत्ति.संहि.१।२।१०) इति. अत्र विद्यारण्यभाष्यं "हे तानूनप्त्राज्य त्वम् इतः पूर्वं केनापि अतिरस्कृतम् असि. इतः परमपि अतिरस्कृत्य देवानाम् ओजः सारम् असि. अभिशस्ते हिंसारूपाद् अन्योन्यविरोधाद् अस्मान् पालयसि. त्वं पुनः अभिशस्तेः अविषयमूतमसि" इति मन्त्रार्थः. समवमृशन्ति इति. परस्परं द्रोहो न कर्तव्यः इत्येतदर्थं शपथं कर्तुं सर्वेऽपि 'तानूनप्त्र'सञ्ज्ञकाज्यं सम्यक् स्पृशन्ति "अनु मे दीक्षाम्" (तैत्ति. सं.१।२।१०) इति. "अनु मे दीक्षां दीक्षापतिः मन्यताम् अनु तपस्तपस्यतिरञ्जसा सत्यम् उपगेषु सुविते मा धा" इति मन्त्रः. अत्र विद्यारण्यभाष्यं "दीक्षणीयेष्टौ यो देवः सः दीक्षापतिः मम इमां दीक्षाम् अनुजानातु. अहं च अञ्जसा सत्यम् उपगेषु आर्जवेन तानूनप्त्रस्पर्शनरूपं शपथं प्राप्तोस्मि. हे तानूनप्त्र, मां सुविते शोभनमार्गे यज्ञकर्मणि स्थापय" इति मन्त्रार्थः. यमृत्विजम् इति. "यजमानो यम् ऋत्विजं कामयेत अयम्

१. 'अतिथ्याया' इति पाठः. २. 'ध्रौवात्' 'ध्रौवाज्याद्' इति पाठौ. 'ध्रौवासुचि' इति पुरु.पाठः.

कल्पे च. अत्र सर्वेषाम् ऋत्विजां तानूनप्त्रित्वाविशेषेऽपि यस्मिन् स्नेहातिशयेन तथेच्छा तत्रैव तथा कृतिः, न इतरेषु. न हि तत्र अविशिष्टेषु कथम् एवं कृतिः इति पर्यनुयोगः सम्भवति, एवम् इहापि इति अर्थः.

ननु श्रवणादेः यथा पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वम्, एवम् अक्षरस्यापि अस्तु इति आशङ्कातु निखिलासुरजीवतमः पुञ्जनिरासकेन यदुवंशो-दयाचलचूडामणिनैव निरस्तेति न स्वतो वक्तुम् उचितेति आशयेन आह तदुक्तम् इति. भगवद्गीतासु इति शेषः. तत्र “यदक्षरं वेदविदो वदन्ति” (भाग.गीता ८।११) इत्युपक्रम्य “सयाति परमां गतिम्” (तत्रैव ८।१३) इत्यन्तेन अक्षरप्राप्तिः उपायम् उक्त्वा, “अनन्यचेताः सततम्” (तत्रैव ८।१४) इत्यादिना स्वप्राप्त्युपायं वैलक्षण्यञ्च उक्त्वा, भक्त्येकलभ्यत्वं स्वस्य वक्तुं पूर्वं क्षराक्षरयोः स्वरूपम् आह “सहस्रयुगपर्यन्तम्” (तत्रैव ८।१७) इत्युपक्रम्य “प्रभवत्यहरागमे” (तत्रैव ८।१८) इत्यन्तेन क्षरस्वरूपम् उक्त्वा, “परः तस्मात् तु भावो अन्यः” (तत्रैव ८।२०) इत्युपक्रम्य, “तद्धाम परमं मम” (तत्रैव ८।२१) इत्यन्तेन अक्षरस्वरूपम् उक्तम्. अत्र पूर्वं क्षरस्वरूपम् उक्तम् इति “परः तस्मात्” (तत्रैव ८।२०) इत्यत्र क्षरादेव परत्वम् उच्यते, ‘तत्’ शब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात्. तस्यैव पूर्वम् उक्तत्वात्. अतएव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सम्पादकत्वप्रकारिका इच्छा. तथाकृतिः मुख्यत्वेन आदौ वरणम्. एवम् इहापि परममुक्तावपि भगवान् भक्तिं दत्त्वा यस्य जीवस्य स्वप्राप्तिम् इच्छति तस्मै भक्तिं ददाति न इतरेभ्यः इति अर्थः. श्रवणादेः सर्वासां भक्तीनाम् इति अर्थः. एवम् अक्षरस्यापि अस्तु अक्षरसम्बन्धिश्रवणादीनाम् अक्षरप्रापकत्वमपि आस्ताम् इति अर्थः. वैलक्षण्यं स्वस्य अक्षराद् वैलक्षण्यम्. तुशब्दः “परस्तस्मात्” (भग.गीता ८।२०) इति ‘तु’ शब्दः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ऋत्विग् यज्ञे यशः प्राप्नोतु” (आप.श्रौ.सू.११।१।४) इति. तमेव ऋत्विजं प्रथमं तानूनप्त्रस्पर्शने आज्ञां ददाति इति अर्थः. कल्पे सूत्रे. अत्र इति. तानूनप्त्रस्पर्शने. तथा इति. अयं प्रथमं तानूनप्त्रस्पर्शनं करोतु इति इच्छा इति अर्थः. तत्रैव इति. तस्मिन्नेव क्रतौ इति अर्थः. तथाकृतिः इति. तानूनप्त्रस्पर्शनानुकूलाकृतिः. न हि इति. सर्वेषां मध्ये एकस्मिन् ऋत्विजि एवं करणं कथम् इति पर्यनुयोगो न सम्भवति. कुतः यजमानेच्छायाः प्रबलायाः इति अर्थः. एवम् इहापि इति. ईश्वरेच्छापि इति अर्थः. सूत्रांशम् अवतारयन्ति ननु इति. तत्र इति. अष्टमाध्याये. अत्र इति. “सहस्रयुग” इत्यादिग्रन्थे.

अक्षरव्यावर्तकः ‘तु’शब्दः उक्तः. एतेन नित्यत्वेन क्षरणाभावाद् ‘अक्षर’शब्देन जीवएव उच्यते, नतु पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतो जीवातीत इति निरस्तम्. “यं प्राप्य न निवर्तन्ते” (तत्रैव ८।२१) इतिवाक्याद् जीवे तथात्वासम्भवात्. नित्यमुक्त-त्वापत्त्या शास्त्रवैफल्यापत्तेश्च. इतएव ज्ञानमार्गिणां तत्प्राप्तिरेव मुक्तिः इति ज्ञेयम्. ततो अनिवृत्तेः. “पुरुषः स परः पार्थ” (तत्रैव ८।२२) इत्यनेन अक्षरात् परस्य स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वम् उक्तम्. तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति सिद्धम्. “यस्यान्तःस्थानि” (तत्रैव ८।२२) इत्यनेन परस्य लक्षणम् उक्तम्. तच्च मृत्नादिप्रसङ्गे श्रीगोकुलेश्वरे स्पष्टम् उच्यते. तेन अक्षरोपासकानां न पुरुषोत्तमोपासकत्वम्, तद्विषयकश्रवणादेः अभावाद् इति भावः. “अव्यक्तो अक्षर इत्युक्तः तम् आहुः परमां गतिम्” (तत्रैव ८।२१) इति वाक्यात् “स याति परमां गतिम्” (तत्रैव ८।२१) इत्यत्र अक्षरमेव याति इति अर्थो ज्ञेयः. किञ्च, तैत्तिरीयोपनिषत्सु पठ्यते “यस्मिन् इदं सञ्च वि चैति सर्वं यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः, तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन्, येन आवृतं खं च दिवम्महीं च येन आदित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च यम् अन्तःसमुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजा” (महाना.उप.१।१,२) इति. अत्र अक्षरात्मकत्वेन क्षरात्मकाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतेन अक्षरपदेन कूटस्थजीवातीतब्रह्मप्रतिपादनेन. नित्यमुक्तत्वापत्त्या “यं प्राप्य न निवर्तन्ते” (तत्रैव ८।२१) एतादृशार्थस्य ‘अक्षर’पदेन प्रतिपादनात् तस्यैव च जीवत्वोक्तौ मुक्तिसाधनवैफल्यापत्तेः इति अर्थः. इतएव “यम्प्राप्य” (तत्रैव) इति वाक्यादेव. पुरुषोत्तमस्य अक्षरोत्तमत्वसिद्धावपि अक्षरस्य लोकत्वं तत्रस्थितत्वं च पुरुषोत्तमस्य इति न वाक्याद् सिद्धम् अतः आहुः किञ्च इति. “यस्मिन् इदम्” (महाना.उप.१।१,२) इति श्रुतौ अक्षरस्य सर्वाधारत्वं सर्वलीलोपयोगिदेवस्थानत्वं सर्वात्मकत्वं पादत्रयेण उच्यते, तुरीयपादेतु पुरुषोत्तमाधारत्वम् उच्यते. एतच्च प्रथमचरणस्य अर्थम् आहुः अत्र अक्षरे

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

मतान्तरम् आहुः एतेन इति. परत्वकथनेन इति अर्थः. अन्यदपि समाधानम् आहुः यम् इति. इतएव अक्षरस्य भगवद्धात्मत्वादेव इति अर्थो ज्ञेयः इति. तथाच अनन्यभक्त्यभावाद् अक्षरस्य परप्राप्तिहेतुत्वं नास्ति इति शङ्का न कर्तव्या इति भावः. ननु अक्षरे स्थित्वं पुरुषोत्तमस्य नास्ति किन्तु ततोऽपि परत्वं श्रुतौ उक्तम् इत्यतः आहुः किञ्च इति. श्रुत्यर्थम् आहुः अत्र इति. ननु भक्तहृदयाकाशमेव ‘परमव्योम’पदार्थः. अत्र किं

आकाशात् परमे व्योम्नि भक्तानां हृदयाकाशे इति यावत्. तत्र प्रकाशमानम् इति अर्थात्. अतएव “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति उपक्रम्य, “सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्” (तत्रैव २।१) इत्येतद् उपनिषत्सर्वे पठ्यते. “यदक्षरे परमे प्रजा” इति पदम् ‘अवयन्ति’ इत्यनेन सम्बध्यते. अत्र ‘प्रजा’ पदाद् व्यापिवैकुण्ठात्मको लोको ‘अक्षर’पदेन उच्यते इति अवगम्यते. अतएव “न यत्र माया” (भाग.पुरा. २।९।१०) इत्यादिना श्रीभागवते तत्स्वरूपम् उच्यते. एतेन अक्षरस्य पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं निश्चीयते. इतोऽपि अक्षरातीतः पुरुषोत्तमः इति अवगम्यते. एवं सति सामान्यं भगवद्विभूतिरूपत्वं, तद्भावः तस्य पुरुषोत्तमस्य भावः सत्ता उक्तरीत्या तत्र स्थितिः इति यावत्, ताभ्यां हेतुभ्यां तथा इत्यपि अर्थो ज्ञेयः ॥३३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादिना. अत्र भक्तानां हृदयाकाशे. प्रकाशमानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वविशिष्टम् अक्षरं प्रकाशमानम् इति अर्थः. ‘परमव्योम’पदस्य भक्तहृदयबोधकतायां मानम् आहुः अतएव इत्यादि. ननु तथापि अक्षरस्य लोकात्मकत्वे किं गमकम्? अतः आहुः “यदक्षर...” इत्यादि. तत्स्वरूपं व्यापिवैकुण्ठात्मकाक्षरस्वरूपम्. इतोऽपि शुक्वाक्यादपि. सामान्यतद्भावाभ्याम् इति सूत्रभागस्य अर्थान्तरं स्वयं व्याख्यातार्थानुकूलम् आहुः एवं सति इत्यादिना. एवं सति पूर्वोक्तरीत्या पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वस्य अक्षरे श्रुतिसिद्धत्वे सति. सामान्यम् इति समानानां भगवद्विभूतिरूपाणां भावः सामान्यम्, अक्षरस्य भगवद्विभूतिरूपत्वम् इति यावद्. उक्तरीत्या “यदक्षरे परमे प्रजा” (महाना.उप.१।३) इति श्रुत्युक्तरीत्या. तत्र स्थितिः ‘तद्भाव’शब्देन सौत्राक्षरे पुरुषोत्तमस्य स्थितिः उक्ता इति अर्थः. तथा अस्मद्व्याख्यातार्थस्य याथार्थ्यम् ॥३३॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रमाणम्? अतः आहुः अतएव इति. ननु एतादृशाक्षरस्य लोकात्मकत्वं कथनम् अतः आहुः यदित्यादि. अत्र ‘प्रजा’पदेन भक्तहृदयाकाशरूपाक्षरस्य लोकात्मकत्वं बोध्यम्. अत्र प्रमाणम् आहुः अतएव इति. इतोऽपि श्रीभागवतवाक्यादपि. ननु भक्तहृदयाकाश-रूपाक्षरे स्थितिः चेत् “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितम्” (छान्दो.उप.९।२४।१) इति कथम्? अतः आहुः एवं सति इति. ‘सामान्यतद्भावाभ्याम्’ इतिहेतुद्वयस्य अर्थम् आहुः सामान्यम् इति. अक्षरब्रह्मणो विभूतिरूपम् इति अर्थः. एवञ्च अक्षरस्य चरणरूपत्वेन भक्तिसामान्यं तत्र स्थितौ स्वप्रतिष्ठितत्वम् अस्ति इति भावः. एतावता प्रबन्धेन भक्तौ

इयद् आमननात्॥३४॥

ननु संसारनिवृत्यानन्दाविर्भावयोः अविशेषाद् अक्षरे ब्रह्मणि लये पुरुषोत्तमे प्रवेशाद् न्यूनता उक्तौ को हेतुः? इति आकांक्षायाम् आह. इयद् इति परिमाणवचनम्. तस्य श्रुतौ कथनात् इति अर्थः.

अत्र इदं ज्ञेयं : तैत्तिरीयोपनिषत्सु “सैषानन्दस्य मीमांसा भवति” (तैत्ति.उप.२।८) इत्युपक्रम्य, मानुषम् आनन्दम् एकं गणयित्वा, तस्माद् उत्तरोत्तरं शतगुणम् आनन्दं गन्धर्वान् आरभ्य प्रजापतिपर्यन्तस्य उक्त्वा, उच्यते. “ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः” (तत्रैव २।८) इति. एवं सति इयद् एतावद् इति अक्षरानन्दस्य सावधिकत्वेन श्रुतौ कथनाद् आनन्दमयत्वेन निरवध्यानन्दात्मकत्वस्य पुरुषोत्तमे कथनात् तथोक्तिः इति॥३४॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे एकादशम् अक्षरधियाम् इति अधिकरणम्॥११॥

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः॥३५॥ (३।३।१२)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु अक्षरात् संसारनिवृत्यानन्दयोः लाभात् पुरुषोत्तमापेक्षया अक्षरस्य न्यूनतायां को हेतुः? इति सूत्रेण प्रदर्शयन्तः सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. तस्य पुरुषोत्तमापेक्षया अक्षरे न्यूनत्वस्य. अत्र इदम् अवधेयम् अक्षरे पुरुषोत्तमापेक्षया न्यूनत्वे प्रमाणं बोद्धव्यम् इति अर्थः. एवं सति अक्षरानन्दस्य एकत्वेन परिच्छेदश्रावणे सति. इयद् इति सूत्रभागार्थम् आहुः इयदेवतावद् इति. परिच्छिन्नानन्दवद् इति हेतोः इति अर्थः॥३४॥११॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

भगवत्प्राप्तिः “मय्यावेश्य मनो ये माम्” (भग.गीता १२।२) इति द्वादशाध्यायस्य गीतावाक्यात्. भक्तौतु ‘औपसदवद्’ इति दृष्टान्तेन इच्छायाएव प्राधान्यं क्वचित् परम्परया कर्मणः भक्तेः ज्ञानस्य च क्वचित् सायुज्यप्रापकत्वम् इति अवसेयम्॥३३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति आनन्देति. उभयत्रापि इति भावः. तथाच यो अक्षरः आनन्दाविर्भावः सएव परः इति अर्थः. परिमाणः इति. परिमाणबोधकवचनम् इति अर्थः. श्रुतौ कथं परिमाणवचनम्? इत्यतः आहुः अत्र इदम् इति. तथाच गणितानन्दो अक्षरे, अगणितानन्दः पुरुषोत्तमे इति विशेषः इति भावः. इति एकादशम्॥३४॥११॥

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः इति अधिकरणम् आहुः अथ इति.

अथ ज्ञानमार्गे यथा स्वात्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानं तथा भक्तिमार्गेऽपि भक्त्या पुरुषोत्तमज्ञाने स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं भवति न वा इति विचार्यते. *सर्वान्तरत्वेन श्रुतौ कथनात् तद् भवति इति पूर्वः पक्षः. तथात्वेऽपि “**सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः**” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतिभिः एवमेव ज्ञानं, नतु तथा इति सिद्धान्तः. अत्र तथाज्ञानाभावस्य आवश्यकत्वार्थं विपरीते बाधकम् आह. पूर्वस्मिन् सूत्रे ब्रह्मानन्दाद् भजनानन्दस्य आधिक्यं निरूपितम्. सतु

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अक्षराभेदविचारेण अभेदज्ञानश्रवणानन्तरं प्रसङ्गसङ्गत्या ज्ञानमार्गे पूर्णज्ञान-सम्पत्तौ यथा स्वात्मब्रह्माभेदानुभावो जायते तथा भक्तिमार्गेभक्त्युत्पत्त्यनन्तरं “**भक्त्या माम् अभिजानाति**” (भग.गीता१८।५५) इत्यादिवाक्योक्तः स्वात्मपुरुषोत्तमाभेदानु-भावो भवति न वा इति विचार्यते अथ इत्यादिना. पूर्वपक्षम् आहुः ***सर्वान्तरत्वेन** इत्यादिना. श्रुतौ कथनाद् “**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीम् अन्तरो यमयति**” (बृहदा.उप.३।७।७) इत्यादिश्रुतौ कथनाद्. सच यस्मिन् तिष्ठति तं स्वान्तः स्थापयति अयोगोलकाग्निवद्. इत्यञ्च अभेदज्ञानं पर्यवसितं सर्वत्र इति भावः. सिद्धान्तम् आहुः **तथात्वेऽपि** इत्यादिना. **तथात्वेऽपि** वस्तुतो जीवानां ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि. **एवमेव ज्ञानं** पुरुषोत्तमभक्तानां सर्ववशित्वेन सर्वेशत्वेनैव पुरुषोत्तमज्ञानम्. नतु **तथा** नतु स्वात्माभेदेन ज्ञानं फलाय इति अर्थः. अत्र पुरुषोत्तमभक्तेषु. **तथाज्ञानाभावस्य** भगवति स्वात्माभेदज्ञानाभावस्य. **विपरीते** तादृशाभेदज्ञाने. **पूर्वस्मिन् सूत्रे “इयदामननाद्”** (ब्रह्मसू.३।३।३५) इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विचार्यते इति. स्वात्मपुरुषोत्तमाभेदात्मिका वृत्तिः भवति न वा इति संशये सति इति शेषः. पूर्वपक्षम् आहुः **सर्वान्तरत्वेन** इति. **श्रुतौ** इति. बृहदारण्यके कहोडप्रश्ने याज्ञवल्केन कथनाद् इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः **तथात्वेऽपि** इति. सर्वान्तरत्वेन ब्रह्मणो जीवाभिन्नत्वेऽपि इति अर्थः. **एवमेव** इति. उत्कटभक्त्या सर्वेशितत्वादिरूपेणैव ज्ञानं, तत्तु स्वात्मप्रकारकत्वेन इति अर्थः. **अत्र तथा** इति. स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानाभावस्य इति अर्थः. **विपरीते** स्वात्मत्वेन ज्ञाते. **पूर्वस्मिन्** इति. “**इयदामननाद्**” इति सूत्रे इति अर्थः. **भगवद्दत्तः** इति. कृपाधिक्येन इति शेषः. तथाच “**स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते**” (बृहदा.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुत्या मुख्यभक्तिमार्गस्य क्रीडाईत्वाद्, अभेदे क्रीडायाः असम्भवाद् इति भावः. **भजनानन्देति**. “**यत्र सर्वम् आत्मैव अभूत् तेन कं पश्येद्**”

भगवद्दत्तः. तद्व्यवधायको अर्थश्च प्रभुणा न सम्पाद्यते. स्वात्मत्वेन ज्ञानञ्च भजनानन्दान्तरायरूपम्. यदि एतत् सम्पादयेत्, तं न दद्याद्, अग्रे अन्यथा-भावाद्, अतः स्वात्मत्वेन ज्ञानं भक्तिमार्गीयस्य न सम्भवति इति आशयेन आह **अन्तरा स्वात्मनः** इति. भगवता भक्तिमार्गे स्वीयत्वेन अङ्गीकृतो यः आत्मा जीवः तस्य यद् आत्मत्वेन ज्ञानं तद् भजनानन्दानुभवे **अन्तरा** व्यवधानरूपमिति भगवता तादृशे जीवे तद् न सम्पाद्यते इति अर्थः. तत् सम्पादनस्य सर्वथैव असम्भावितत्वं हीनत्वं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तम् आह **भूतग्रामवद्** इति. उक्तभक्तस्य विग्रहोऽपि अलौकिकइति तत्र लौकिको भूतग्रामो न सम्भवति, हीनत्वात् तथा इति अर्थः. अथवा लौकिको भूतग्रामः स्त्रीपुत्रपशवादिः ब्रह्मानन्दानुभवे बाधकः, तथा भजनानन्दानुभवे स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानम् इति अर्थः॥३५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रे. सतु भजनानन्दस्तु. तद्व्यवधायकः “स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छद्” (बृहदा.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुतिभ्यो मुख्यभक्तिमार्गस्य रमणार्थत्वावगमाद् अभेदावगमो भजनानन्दव्यवधायकः इति अर्थः. **स्वात्मत्वेन ज्ञानं** “यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येद्” (बृहदा.उप.४।५।१५) इत्यादिरूपम् एतद् अभेदज्ञानम्. अग्रे भेदज्ञानदशायाम्. **अन्यथाभावाद्** रमणासम्भवात्. तादृशे जीवे भजनानन्दयोग्ये जीवे. तद् अभेदज्ञानम्. **उक्तभक्तस्य** भजनानन्दयोग्यभक्तस्य. **तथा** अभेदज्ञानमपि तथा इति अर्थः॥३५॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

(गोपालो.१।१०) इति श्रुत्या भेदविलयाद् विघ्नरूपम् इति अर्थः. **यदि एतद्** इति. आत्मत्वेन ज्ञानम् इति अर्थः. **तम्** इति. भजनानन्दम् इति अर्थः. **अतः** इति. विलयनेन इति शेषः. **न सम्भवति** इति. पूर्णतादशायाम् इत्यादि. **आह** इति. बाधकम् आह इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः **भगवता** इति. ‘अन्तरा’ इत्यस्य अर्थम् आहुः **व्यवधानेति**. भगवता तत्र सम्पाद्यते इति कथं ज्ञायते इत्यतः आहुः **तत्सम्पादनस्य** इति. **उक्तभक्तस्य** इति. पुष्टिभक्तस्य इति अर्थः. **हीनत्वाद्** इति. चिकीर्षितलीला-प्रतिबन्धकत्वेन हीनत्वाद् इति अर्थः. तथाच यथा इह लौकिकशरीरं प्रतिबन्धकं तथा अभेदोऽपि प्रतिबन्धकः इति अर्थः. लौकिकप्रतिबन्धकत्वं संशयग्रस्तम् अतः पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इति. यथा इति अध्याहार्यम्. **भगवज्ज्ञानम्** इति. स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानम् इति अर्थः॥३५॥

अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेद् न उपदेशान्तरवत्॥३६॥

ननु भक्तेष्वपि उद्धवादिषु ज्ञानोपदेशः श्रूयते. सच आत्मब्रह्माभेद-
ज्ञानफलकः इति आत्मत्वेन ज्ञानाभावे तदभेदोपदेशानुपपत्तिः स्यादिति तद् न
मन्तव्यम्. एवं सति भक्तिमार्गाद् ज्ञानमार्गस्य उत्कर्षश्च सिध्यति इति आशङ्क्य,
परिहरति उपदेशान्तरवद् इति. न हि अत्र अभेदज्ञानाय उपदेशः किन्तु यथा
अग्रिमस्वर्गापवर्गाख्यपारलौकिकानन्दफलकालौकिके कर्मणि अधिकाररूपसं-
स्कारार्थं गायत्र्युपदेशः क्रियते, तत्संस्कारसंस्कृतं तच्छरीरादिकमपि भूतादिभि-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु भक्तेषु स्वात्मनि ब्रह्माभेदानुभवस्य भजनानन्दानुभवप्रतिबन्धकत्वे
भगवान् तेषु कथम् अभेदम् उपदिशति? इत्यत्र समाधानं सूत्राकारस्य अवतारयन्ति ननु
इत्यादि. सच उपदेशश्च. तदभेदः स्वात्मनि ब्रह्माभेदः. तद् न मन्तव्यं भक्तानां
फलभोगदशायां स्वात्मनि ब्रह्मभेदज्ञानं न मन्तव्यम् इति अर्थः. एवं सति स्वात्म-
ब्रह्माभेदज्ञानस्य फलदशायां सर्वत्र आवश्यकत्वे सति. परिहरति सूत्रकारः समाधत्ते इति
अर्थः. तत्र सूत्रमध्ये ‘अन्यथा’पदस्य अर्थः आत्मत्वेन ज्ञानाभावे इत्यनेन उक्तः.
अभेदानुपपत्तेः इतिसूत्रभागस्य अर्थः तद् भेदोपदेशानुपपत्तिः इत्यनेन उक्तः. इति
तद् न मन्तव्यमेव इत्यारभ्य परिहरति इत्यन्तेन ‘इति चेत् न’ इतिसूत्रभागस्य अर्थः
उक्तः. परिहरति पूर्वोक्तदृष्टान्तेन सूत्रकारः परिहरति इति अर्थः. अत्र उद्धवे साक्षाद्-
ब्रह्मजाङ्गनासु च उद्धवद्वारा अन्यत्रापि एकान्तभक्तेषु. अभेदज्ञानाय अभेदज्ञानरूप-
फलाय इति अर्थः. भूतादिभिः शरीरनाशकत्वेन अभिमतभूतादिभिः इति अर्थः. तथा

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

एवं सति भक्तेषु स्वात्मत्वेन ज्ञानोपदेशो न स्याद् इति शङ्कां निराकुर्वन् सूत्रं
व्याकुर्वन्ति ननु इत्यादिना. श्रूयते एकादशस्कन्धे. सौत्रान्यथा पदस्य अर्थम् आहुः
सच इति. सौत्रस्य ‘अभेदानुपपत्ति’पदस्य अर्थम् आहुः इति तन्मन्तव्यम् इत्यादिना.
आशङ्क्य इति. उद्धवस्तु अत्यन्तम् अन्तरङ्गः. तस्य आत्मत्वेन उपदेशो भगवता कृतः
इति. तस्य अपार्थक्यत्वे जीवतुल्यता स्याद् इति आशङ्क्य इति अर्थः. परिहरति इति.
दृष्टान्तेन परिहरति इति अर्थः. परिहारमेव आहुः न हि इति. यथा इति. गायत्रीसंस्कार-
संस्कृतं शरीरम् अन्यफलार्थं तथा इति अर्थः. प्रकारान्तरम् आहुः यथा वा इति. न
उपहन्यते इति. “अग्न्यादिभिः न हन्येत मुनेः योगमयं वपुः”(भाग.पुरा.११।१५।२९
) इति एकादशस्कन्धीयवाक्याद् इति अर्थः. संस्कारसंस्कृतम् इति. तथाच उपदेशस्य

रपि न उपहंतं भवति यथा वा योगोपदेशसंस्कृतस्य वपुः अग्न्यादिभिः न उपहन्त्यते, तथा प्रकृते भक्तिभावस्य रसात्मकत्वेन संयोगविप्रयोगभावात्मकत्वाद् द्वितीयस्य प्रलयानलाद् अतिकरालत्वेन कदाचित् तद्भावोदये तेन भक्तवपुरादेः तिरोधाने अग्रिमभजानन्दानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति तन्निवृत्यर्थं ज्ञानोपदेशसंस्कारसंस्कृतं तद्वपुरादिकं भगवता क्रियते, नतु आत्माभेदज्ञानं भगवतो अभिप्रेतम् इति अर्थः. अन्यथा उपदेशानन्तरं बदरीं गच्छन् विदुरं प्रति “इह आगतो अहं विरहातुरात्मा” (भाग.पुरा.३।४।२०) इति न वदेत्. एवमेव अन्येष्वपि भक्तेषु ज्ञेयम्. अत्र ‘उपदेशान्तर’पदं प्रस्तुतोपदेशभिन्नम् ‘उपदेशान्तरम् आह इति प्रस्तुतस्य तस्य अन्यस्य अभावाद् ‘अभेद’पदेन अभेदोपदेशएव उच्यते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रकृते देहक्षार्थम् एकान्तभक्तेषु स्वात्मनि ब्रह्माभेदोपदेशो इति अर्थः. तन्निवृत्यर्थं भक्तदेहानां तिरोभावनिवृत्यर्थम्. ज्ञानोपदेशसंस्कारेति. अत्र स्वात्मनि पुरुषोत्तमाभेदोपदेशो बोध्यो “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता १८।५५) इत्यनेन उक्तो नतु अक्षराभेदोपदेशो भक्तानां तादृशसंस्कारो भवितुम् अर्हति तस्य तादृशविरहदुःखनिवर्तकत्वाद्. अन्यथा भेदोपदेशस्य मोक्षजनकत्वे. न वदेत् मुक्तएव भवेद् इति अर्थः. इत्थं च तादृशविरहातुरात्मनो देहपातएव स्याद् यदि भगवता तादृशोपदेशो न कृतः स्याद् इति भावः. एवमेव विरह उपदेशस्य देहक्षार्थत्वमेव. अन्येष्वपि यथा कुरुक्षेत्रे ब्रजभक्तानां वाक्यम् “आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगीश्वरैर्हृदि विचिन्त्यम् अगाधबोधं, संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषामपि मनस्युदितयाद् सदा न” (भाग.पुरा.१०।८२।४९) इत्यादि. ननु मूले भेदानुपपत्तिरेव उक्ता नतु अभेदोपदेशानुपपत्तिः अभेदोपदेशपरतया भवदीयव्याख्याने किं मानम् इत्यतः आहुः अत्र इत्यादि. ‘उपदेशान्तर’पदं दृष्टान्तप्रतिपादकम् उपदेशान्तरपदम् इति अर्थः. प्रस्तुतस्य दार्ष्टान्तिकस्य. अन्यस्य अभेदोपदेशातिरिक्तस्य. अभेदोपदेशएव उच्यते

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अन्यदेव फलम् इति अतो न ज्ञानमार्गस्य उत्कर्षः इति भावः. अत्र अर्थे गमकम् आहुः अन्यथा इति. भक्तेषु ज्ञेयम् इति. कुरुक्षेत्रप्रसङ्गोत्कण्ठावाक्ये ज्ञेयम् इति अर्थः. ननु सूत्रेतु ‘अभेदोपदेशानुपपत्तिः’ इति न उक्तम् इति कथं ज्ञातव्यम् अयमेव सूत्रकाराशयः इत्यतः आहुः अत्र इति. उपदेशान्तरम् इति. दृष्टान्तकोटिप्रविष्टम् इति दोषः. अभावाद् इति. अतः ‘अभेदानुपपत्ति’पदमलग्नकं स्याद् इति ‘अभेद’पदं लक्षणया

एतेन भगवान् स्वीयानां भक्तिभावप्रतिबन्धनिरासायैव सर्वं करोति इति ज्ञापितं भवति. अथवा. ‘उपदेशान्तरवद्’ इत्यस्य अयम् अर्थः. शरीराद्यध्यासवतः तद्भिन्नः आत्मा तत्त्वं, नतु शरीरादिः इति उपदेशो ज्ञानमार्गे यथा क्रियते, तेन शरीरादौ आत्मबुद्ध्या यः स्नेहादिः, सो अपगच्छति, तथा अत्र सर्वेषाम् आत्मनो हि आत्मा “यः आत्मनि तिष्ठन्” (बृहदा.उप.३।५?) इत्यादिश्रुतिसिद्धो जीवात्मनोऽपि आत्मा पुरुषोत्तमः इति बोध्यते. तेन पुरुषोत्तमे निरुपधिः स्नेहः तत्सम्बन्धित्वेन आत्मनि सः सिध्यति. यद्यपि एवम्भावः पूर्वमपि आसीदेव, तथापि सहजस्य शास्त्रार्थत्वेन ज्ञाने सति प्रमोदो दाढ्यं च भवति इति तथा. न एतावता जीवाभेदः आयाति. अग्रे जीवनसम्पत्तिरेव उपदेशकार्यं, नतु तेन पूर्वभावोपमर्दः सम्भवति इति सारम्. तेन ज्ञाने सर्वाधिक्यं मन्वानाय भक्तिबलप्रदर्शनं च सिध्यति॥३६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

‘अभेद’पदलक्षणया अभेदोपदेशएव उच्यते इति अर्थः. भक्तिभावेत्यादि. भजनानन्दानुभवप्रतिबन्धको यो विरहे देहतिरोभावः तन्निरासायैव स्वाभेदज्ञानोपदेशं तेषु करोति इति अर्थः.

अत्र भक्तिमार्गे. तेन पुरुषोत्तमस्य स्वात्मत्वेन ज्ञानेन. तत्सम्बन्धेन पुरुषोत्तमाभेदसम्बन्धेन. आत्मनि पुरुषोत्तमाभेदेन ज्ञाते जीवात्मनि इति अर्थः. सः परः प्रेमा. एवम्भावः पुरुषोत्तमः आत्मत्वेन प्रेमातिशयरूपो भावः इति अर्थः. पूर्वभावः भजनानन्दानुभवरूपः॥३६॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अभेदोपदेशपरं बोध्यम् इति अर्थः. एतेन इति. उक्ताशङ्कानिरासेन.

‘उपदेशान्तर’पदार्थान्तरम् आहुः अथवा इति. सिद्ध्यति इति. उद्धवं प्रति यो ज्ञानोपदेशः सः पुरुषोत्तमे निरुपधिकस्नेहफलको नतु ब्रह्माभेदज्ञानफलकः इति अर्थः. यद्यपि इति. तथा अवैयर्थ्यम्. न एतावता इति. आत्मत्वोपदेशमात्रेण न जीवस्य ब्रह्माभेदः आयाति इति अर्थः. तेन यत् सिद्धं तदेव दर्शयन्ति अग्रे इति. सारम् इति. तथाच वियोगसहनं यत्र कार्यार्थम् आवश्यकं तत्रैव प्रभुः करोति नतु सर्वत्र इति सर्वं समञ्जसम्॥३६॥

१. ‘उपदेशम् आह’ इति पुरु.पाठः. २. ‘ज्ञानेतिप्रमोदो’ इति पुरु. पाठः

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत्॥३७॥

ननु “तद् यो अहं सो असौ यो असौ सो अहम्” (ऐत.आर.२।१२।२) इति ऐतरेयके, तैत्तिरीयके च “अहम् अस्मि ब्रह्मा अहम्” (महाना.उप.५।१०) इति पठ्यते. अत्र मध्यस्थं ‘ब्रह्मा’ पदम् उभयत्र सम्बध्यते. तेन आवृत्या व्यतिहारः. अतो ब्रह्माभेदः सिध्यति. तथा लीलामध्यपातिभक्तानामपि “कृष्णो अहम् अहं कृष्णः” (भाग.पुरा.१०।१९।२७) इति भावः उल्लेखश्च श्रूयते. अतः तदभेदज्ञानं भक्तिफलम् इति पुम्फुल्यमानं प्रतिवादिनं तत्स्वरूपं बोधयति. रसात्मकत्वाद् भक्तेः संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद् द्वितीयभावोद्रेके यथा इतरे अश्रुप्रलापादयो व्यभिचारिभावाः, तथा अतिविगाढभावेन तदभेदस्फूर्तिरपि एकः, सच न सार्वदिकः, तदा स्वात्मानं तत्त्वेन विशिषन्ति, तं च स्वात्मत्वेन. सो अत्र व्यतिहारपदार्थः इति अर्थः. अपरञ्च. उद्देश्यविधेयभावस्फूर्तौ न हि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु इत्यादि ऐतरेयकवाक्यं जीवस्य आदित्यपुरुषं प्रति तैत्तिरीयवाक्यं जीवस्य जलस्थब्रह्म प्रति, अत्र तैत्तिरीयवाक्ये. उभयत्र अस्मदर्थे विशेषणतया अस्मदर्थे विशेष्यतया च इति अर्थः. आवृत्या ब्रह्मपदस्य आवृत्या इति अर्थः. व्यतिहारो विशेषणविशेष्यभावेन व्यत्ययः इति अर्थः. उल्लेखश्च श्रूयते पञ्चाध्याय्यां भक्तानाम् उल्लेखः श्रूयते इति अर्थः. भक्तिफलं भक्तिजन्यं फलम् इति अर्थः. तत्स्वरूपं भक्तानां व्यतिहारस्वरूपम्. बोधयति सूत्रकारो बोधयति. तदभेदः श्रीकृष्णाभेदः. एकः सः व्यभिचारः. तत्त्वेन श्रीकृष्णत्वेन. विशिषन्ति निरूपयन्ति. तं च श्रीकृष्णं च. अत्र भक्तिमार्गे. उद्देश्यविधेयभावस्फूर्तौ “अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि” (महाना.उप.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. श्रूयते. एकादशस्कन्ध इति शेषः. अत्र तैत्तिरीयोपनिषदि. व्यतिहार इति. आत्मनो ब्रह्मत्वविधानेन ब्रह्मणः स्वात्मत्वविधानेन व्यत्ययः. अतः कारणात्. वादिनम् इति. भक्त्याभेदज्ञानं जायते इति वादिनो हर्षः इति ‘पम्फुल्ल’पदेन द्योत्यते. तत्स्वरूपम् इति. इति शङ्कायां व्यतिहारस्वरूपम् इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः रसात्मकत्वाद् इति. द्वितीयेति. विरहेति अर्थः. एकः इति. व्यभिचारिभावः इति अर्थः. तेन काश्चन ब्रह्मत्वेन तं च भगवन्तं च स्वात्मत्वेन काश्चन विशिषन्ति इति. भिन्नवत् कृतो व्यतिहारो नतु त्वदुक्तः इति अर्थः. भक्त्युत्कर्षं द्रढयन्ति अपरञ्च इति.

अद्वैतज्ञानम् अस्ति, किन्तु भावनामात्रं, भक्तानान्तु विरहभावे तदात्मकत्वमेव अखण्डं स्फुरति, येन तल्लीलां स्वतः कुर्वन्ति. एतद् यथा तथा श्रीभागवतदशमस्कन्धविवृतौ प्रपञ्चितम् अस्माभिः. एवं सति मुख्यं यद् अद्वैतज्ञानं तद् भक्तिभावैकदेश-व्यभिचारिभावेषु एकतरद् इति सर्षपस्वर्णाचल-योरिव ज्ञानभक्तयोः तारतम्यं कथं वर्णनीयम् इति भावः॥३७॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे द्वादशम् अन्तरा भूतग्रामवद् इति अधिकरणम्॥१२॥

सैव हि सत्यादयः॥३८॥ (३।३।१३)

अथ इदं विचार्यते : प्राप्तभक्तेः पुरुषस्य सत्य-शम-दमादयो विधीयन्ते न वा इति. फलोपकार्यन्तरङ्गसाधनत्वात् शुद्धौ सत्यामेव चित्ते *भगवत्प्रादुर्भाव-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

५।१०) इति वाक्यार्थे उद्देश्यविधेयभावस्फूर्तौ इति अर्थः. **तल्लीलां** भगवल्लीलाम्. **प्रपञ्चितं** पञ्चाध्याय्यां प्रपञ्चितम् इति अर्थः. **एवं सति** भगवल्लीलायाः स्वयंकरणे सति. **मुख्यं** स्वस्मिन् भगवद्भर्मातिरिक्ताविषयम्. **भक्तिभावैकदेशो** भक्तिभावयोः संयोग-विप्रयोगयोः मध्ये एकदेशः. एको विभागो अर्धभक्तिभावः इति अर्थः. **एकतरः** इति. तथाच **भक्तिभावैकदेशो** विरहभावः तत्रत्या ये सञ्चारिभावाः तेषामपि एकतरो अभेदानुभवः इति अर्थः. **‘इति’** इति हेतौ. अन्येषां फलमूर्धन्यो यो भावनारूपो अभेदानुभवः तदपेक्षया उत्कृष्टो यो भगवदभेदानुभवः इतरविषयकः सोऽपि फलसाधनीभूत-भक्त्येकदेश-विरहभावीय-व्यभिचारिभावानाम् एकदेशः इति हेतोः इति अर्थः. **कथं वर्णनीयं** न कथमपि वर्णयितुं शक्यम् इति अर्थः॥३७॥१२॥

भक्तेः फलोत्कर्षम् उपपाद्य फलसाधनतोऽपि उत्कर्षं प्रतिपादयन्ति अधिकरणप्रयोजनं वदन्तः सूत्रम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. **विधीयन्ते** भक्तिसिद्ध्युत्तरमपि विधीयन्ते, भक्तस्य फलोद्देशेन विधीयन्ते न वा इति संशयः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

भक्तौ विशेषम् आहुः **भक्तानाम्** इति. सूत्रार्थस्तु **इतरवद्** अश्रुप्रलापादिवत्. **व्यतिहारः** “अहं कृष्णः – कृष्णो अहम्” इति व्यतिहारः व्यभिचारिभावः **हि** यतो हेतोः. आत्मानं कदाचिदेव विशिष्यन्ति न सर्वदा इति॥३७॥१२॥

साधनदशायामपि भक्त्युत्कर्षं साधयितुम् अधिकरणम् आहुः **सैव हि** इति. सूत्रम् अवतारयन्ति **अथ** इति. **फलोपकारीति**. फलस्य भगवत्प्राप्तेः उपकारि मुख्यं

*‘भगवदाविर्भावः’ इति प्रकाशपाठः

सम्भवाद् विधीयन्ते इति पूर्वः पक्षः. तादृशस्य ते न विधीयन्ते इति सिद्धान्तः. तत्र हेतुम् आह हि यस्मात् हेतोः. सैव भक्तिरेव सत्यादिसर्वसाधनरूपा. तस्यां सत्यां सत्यादयो ये ज्ञानमार्गे विहितत्वात् कष्टेन क्रियन्ते मुमुक्षुभिः, ते भक्तहृदि भगवत्प्रादुर्भावात् स्वतएव भवन्तीति न विधिम् अपेक्षन्ते इति अर्थः॥३८॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः॥३९॥

पूर्वसूत्रे शास्त्रोक्ताखिलसाधनरूपत्वं भक्तेः उक्तं तद्दाढ्यार्थम् अधुना मुक्तिप्रतिबन्धकत्वेन हेयत्वेन उक्तानां कामादीनामपि भगवत्सम्बन्धाद् मुक्तिसाधकत्वम् उच्यते. भक्तिस्तु विहिताविहिता च इति द्विविधा. माहात्म्य-ज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका विहिता. अन्यतो अप्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा सातु अविहिता. एवम् उभयविधाया अपि तस्याः मुक्तिसाधकत्वम् इति आह.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शमादिविधिः विषयः फलेत्यादिपूर्वः पक्षः. विधीयन्ते भक्तिसिद्ध्युत्तरमपि विधीयन्ते इति अर्थः. तादृशस्य इति सिद्धभक्तेः. ते शमादयः. तत्र भक्तिसिद्धिमति भक्ते शमाद्यनपेक्षायाम्. भक्तिरेव “भक्त्या त्वनन्यया” (भग.गीता ११।५४) इति वाक्याद् इति अर्थः. “यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यद्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिः इतरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा” (भाग.पुरा.११। २०।३२-३३) इति भगवद्वाक्याद् असहायशूरत्वाद् भक्तिरेव सर्वसाधिकेति भक्तिसिद्धौ न इतरापेक्षा इति सिद्धान्तः॥३८॥

कामादीनाम् इत्यादि. “कामं क्रोधं भयं स्नेहम्” (भाग.पुरा.१०।२९।१५) इत्यादिवाक्याद् मुक्तिसाधकत्वम् इति अर्थः. विहिता तापनीये विहिता इति अर्थः. अन्यतः प्रमाणान्तरतः. कामाद्युपाधिजा “गोप्यः कामाद् भयात् कंसः” (भाग.पुरा. ७।१।३०) इत्यादिवाक्योक्ता इति अर्थः. उभयविधायाः ‘विहिताविहिता’ इत्यनेन

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

साधनं भगवदाविर्भावः, तस्या अन्तरङ्गा चित्तशुद्धिः, तस्याः साधनानि सत्यादीनि तस्मात्. तादृशस्य प्राप्तभक्तेः. विधीयन्ते इति. भक्त्यन्तरमपि इति शेषः. “भक्त्या तु अनन्यया” (भग.गीता ११।५४) इति वाक्ये अन्यसाधनानपेक्षितत्वस्य उक्तत्वात्॥३८॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः पूर्व इति. सूत्रार्थं वक्तुं विभजन्ति भक्तिः इति. अन्यतः इति. शास्त्रातिरिक्त-हेत्वन्तराद् अप्राप्तत्वात्.

इतरत्र विहितभक्तेः इति शेषः. कामाद्युपाधिजस्नेहरूपायां कामाद्येव मुक्तिसाधनम् इति अर्थः, भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वात्. ‘आदि’पदात् पुत्रत्व-सम्बन्धित्वादयः. स्नेहत्वाभावेऽपि अविहितत्वभगवद्विषयकत्वयोः अविशेषाद् द्वेषादिरपि संगृह्यते. तेन भगवत्सम्बन्धमात्रस्य मोक्षसाधकत्वम् उक्तं भवति. तत्र विहितभक्तौ इति अर्थः. शास्त्रे सर्वथा हेयत्वेन उक्ता हि गृहाः. सर्वनिवेदनपूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन तेभ्यएव मुक्तिः भवति इति अर्थः. एतादृशानां गृहा भगवद्गृहाएव इति ज्ञापनाय ‘आयतन’-पदम्, तेषु तथाप्रयोगप्राचुर्यात्. ‘आदि’पदेन स्त्रीपुत्रपश्वादयः संगृह्यन्ते. एतेन ज्ञानादिमार्गाद् उत्कर्षः उक्तो भवति, बाधकानामपि साधकत्वात्. माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहे सत्येव भर्तृत्वेन ज्ञाने कामोऽपि सम्भवति इति ज्ञापनाय ‘च’कारः॥३९॥१३॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे त्रयोदशं सैव हि सत्यादयः इति अधिकरणम्॥१३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तायाः द्विविधयापि इति अर्थः. इतरत्र इति अस्य अर्थम् आहुः कामादि इत्यादिना. चित्तप्रवेशहेतुत्वात् कामाद्युपाधिजातायापि भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वाद् मुक्तिजनकत्वम् इति अर्थः. आदिपदात् कामादित्यादिपदात् सौत्राद् इति अर्थः. स्नेहत्वाभावेऽपि द्वेषादौ स्नेहत्वाभावेऽपि. सौत्र ‘तत्र’पदस्य अर्थम् आहुः विहितभक्तौ इति. सौत्र ‘आयतन’पदस्य अर्थम् आहुः शास्त्रे इत्यादिना. तदुपयोगित्वेन सेवोपयोगित्वेन. तेभ्यः आयतनादिभ्यः. तेषु इत्यादि. तेषु भगवदायतनेषु हृदयादिषु. तथाप्रयोगदर्शनाद् ‘आयतन’इति प्रयोगदर्शनात्. एतेन मुक्तिविरोधित्वेन ज्ञानमार्गेऽपि उक्तानामपि गृहादीनां भक्तिमार्गेऽपि मुक्तिसाधकतया सूत्रे उक्तत्वेन॥३९॥१३॥

पूर्वाधिकरणे सात्त्विकभक्तानां ज्ञानासक्तिवारणाय ज्ञानमार्गाद् भक्तिमार्गस्य फलतः साधनतः स्वरूपतः सम्बन्धतश्च उत्कर्षः प्रतिपादितः. अतः परं राजसानां भक्तानां

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रं व्याकुर्वन्ति इतरत्र इति. अत्र हेतुम् आहुः भगवतीति. सौत्रं ‘तत्र’ इति पदं व्याकुर्वन्ति विहितेति. ‘आयतन’पदम् इति. सूत्रे इति शेषः. प्रयोगप्राचुर्याद् इति. “अण्डम् उत्पादयामासुः ममायतनम् उत्पन्नम्” इति प्रयोगाद् इति अर्थः. ‘च’कारप्रयोजनम् आहुः माहात्म्येति॥३९॥१३॥

इदानीं राजसानां कर्मणि आसक्तानां कर्माकरणनिर्णयार्थम् अधिकरणम्

आदराद् अलोपः॥४०॥ (३।३।१४)

ननु नित्यानां वर्णाश्रमधर्माणां भगवद्धर्माणां च एककाले प्राप्तौ युगपद् उभयोः करणासम्भवाद् अन्यतरबाधे प्राप्ते, कस्य स्याद् न कस्य इति स्यात् संशयः. तत्र कर्मणां स्वस्वकाले विहितानाम् अकरणे प्रत्यवायश्रवणाद् इतरत्र अतथाश्रवणाद् अन्यदापि तत्कृतिसम्भवात् सावकाशत्वेन तेषामेव बाधो युक्तः, नतु निरवकाशानाम् इति पूर्वः पक्षः.

तत्र सिद्धान्तम् आह आदराद् इति. ब्रह्मयज्ञप्रकरणे तैत्तिरीयकैः पठ्यते

“ॐ इति प्रतिपद्यत एतद् वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा

वागेतत् परमम् अक्षरं तदेतद् ऋचाभ्युक्तं ऋचो अक्षरे परमे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कर्मकरणासक्तिं वारयितुं कर्मकरणनिर्णयाधिकरणसूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. कस्य स्याद् बाधः कस्य स्याद् इति अर्थः.

सूत्रार्थम् आहुः ब्रह्मयज्ञेत्यादिना. तैत्तिरीयैः पठ्यते आरण्यके स्वाध्याय-ब्राह्मणे पठ्यते. श्रुत्यर्थस्तु ब्रह्मयज्ञेन वक्ष्यमाण “ॐ इति प्रतिपद्यते” प्रणवाक्षरं प्रथमम् उच्चारयेद्. प्रतिपद्यते इति पञ्चमो लकारः. पूर्वोच्चारणे हेतुः “एतद् वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति”. अयं यजूरूपः प्रणवमन्त्रः त्रयीं विद्यां लक्ष्यीकृत्य प्रतिनिधिरूपो यतो अस्ति. एषा वाक् सर्ववेदबीजत्वात् सर्ववेदमयी प्रणवरूपा वाग् इति अर्थः. तदेतद् ऋचाभ्युक्तम् इति. तदेतत् परमं ब्रह्मस्वरूपम् अक्षरम् ऋचाभ्युक्तम्. अनुपदोक्तर्चा स्पष्टम् उक्तम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

आरभते आदराद् इति. सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. संशयः इति. कस्य बाधः स्याद् न कस्य इति संशयः इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. इतरत्र इति. भगवत्सेवादिधर्मेषु इति अर्थः. निरवकाशानां कर्मणाम् इति शेषः.

सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रार्थम् आहुः ब्रह्मयज्ञेति. प्रकरणे तैत्तिरीयाणाम् आरण्यके स्वाध्यायब्राह्मणे. ॐ इति प्रतिपद्यते इति. अस्य अर्थः. ब्रह्मयज्ञेन वक्ष्यमाणः प्रणवं प्रथमम् उच्चरेत्. तत्र हेतुः एतद् इति. अयं यजूरूपः प्रणवमन्त्रः त्रयीं विद्यां लक्ष्यीकृत्य प्रतिनिधिरूपः. अस्ति इति शेषः. एषा वाग् इति. सर्ववाग्बीजत्वात् सर्ववाग्रूपाम्. एतत्परम् इति. एतदेव अक्षरं ब्रह्म इति अर्थः. एतद् ऋचा अनुपदं वक्ष्यमाणया. ऋग् आहुः ऋचः इति.

व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुर् यस् तन् न वेद
किम् ऋचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासत इति”
(तैत्ति.आर.२।११।१) इति.

अत्र ऋक्सम्बन्धित्वेन वर्णात्मके, वस्तुतस्तु परमव्योमात्मके अक्षरे
ब्रह्मणि ॐकारे वर्तमानं तल्लोकवेदप्रसिद्धं परं ब्रह्म “यो न वेद, स किम् ऋचा
करिष्यति” इत्यनेन तदज्ञाने वेदाध्ययनस्य निष्फलत्वम् उच्यते. एवं सति
तदुक्तकर्मणोऽपि तथात्वम् आयाति. एतेन “भक्त्या माम् अभिजानाति”
(भग.गीता १८।५५) इति वाक्यात् परब्रह्मस्वरूपज्ञानं भक्त्यैव इति भक्ताः
सन्तः पुरुषोत्तमविदो ये, तेषामेव वेदाध्ययनादिकं फलप्रदं, न अन्येषाम् इति
उक्तं भवति. अतएव श्रीभागवतेऽपि उक्तम् “ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसङ्ग-
विमुखा इह सञ्चरन्ति” (भाग.पुरा.३।९।१), ‘संसरन्ति’ इति वा. अन्वये
निदर्शनं ये इद् ईश्वरत्वेन तत् पूर्वोक्तं परं ब्रह्म विदुः, ते इमे भक्ताः सवपिक्षया

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

यस्मिन् प्रणवार्थे अक्षरात्मके लोके. अधि-विश्वे विश्वात्मकम् अक्षरं
लोकम् अधिकृत्य. निषेदुः स्थिता भवन्ति. यः तन्न वेदः यः पुरुषः तत्रत्यं पुरुषोत्तमं न
वेद. किम् ऋचा करिष्यति ? ऋगिति वेदमात्रोपलक्षणम्. स पुरुषो वेदेन किं करिष्यति ?
न किञ्चिद् इति अर्थः. इदिति निर्धारणार्थकम् अव्ययम्. समासते ब्रह्मलोके सम्यग्
आसते इति अर्थः. तद् लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमस्वरूपम्. “अतोऽस्मि लोके वेदे च
प्रथितः पुरुषोत्तमः” (भग.गीता१५।१८) इति गीतावाक्याद् लोकवेदप्रसिद्धम्. एवं
सति पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञाने वेदानां निष्फलत्वनिरवचने सति. तदुक्तकर्मणः उत्कृष्टत्वेन
निर्णीतस्य पुरुषोत्तमसम्बन्धि यत् कर्म तस्य. तथात्वम् उत्कृष्टत्वम् इति अर्थः. अतएव
पुरुषोत्तमस्वरूपाविदां वेदाध्ययनस्य निष्फलत्वादेव “ऋषयोऽपि” इति वाक्यं तृतीय-
स्कन्धनवमाध्यायस्थम्. अन्वये निदर्शनं वेदाध्ययनसत्वेऽपि संसारित्वकथनेन
फलाभावप्रदर्शनम्. वेदाध्ययनसत्वेन संसारित्वकथनेन फलाभावप्रदर्शनाद् अन्वय-
गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

तां व्याकुर्वन्ति अत्र इति. ऋचः ऋक्सम्बन्धित्वेन वर्णात्मके वस्तुतः
परमव्योमात्मके ॐकाराक्षरे वर्तमानं तं पुरुषोत्तमम्. अग्रे स्पष्टम्. ऋषयः इति. इदं
तृतीयस्कन्धे नवमाध्याये. अन्वयेति. अन्वयव्यभिचारे निदर्शनं पूर्वोक्तं
श्रीभागवतवाक्यं श्रुतिं च आहुः. अथवा अन्वयव्याप्तौ निदर्शनम् इतः इति ज्ञायते.

सम्यक्प्रकारेण भगवन्निकटे श्रीगोकुलवैकुण्ठादिषु आसते इति. तेन अन्येषां सम्यग् असत्त्वम् अर्थाक्षिप्तं भवति. पुरःस्थितार्थवाची 'इदं'शब्दप्रयोगेण च अन्येषाम् असत्तुल्यत्वं श्रुतेः अभिमतम् इति ज्ञायते. ऋक्शाखायामपि

**“तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन,
आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्यभिचारप्रदर्शकम् इति अर्थः. पूर्वोक्तश्रुतिशेषं व्याकुर्वन्ति य इत्यादि. तेन उक्त-
श्रुत्यर्थबलेन. अन्येषां पुरुषोत्तमस्वरूपाविदाम्. सम्यग् असत्त्वं ब्रह्मलोके सम्यग्
अगमनम् इति अर्थः. इदंशब्दप्रयोगेण “इमे समासते” इति श्रुतौ भक्तेषु 'इदं'शब्द-
प्रयोगेण इति अर्थः. एतेन वरलभ्यभक्तौ आदरो निर्णीतः. साधनभक्तिरपि श्रुतिसम्मतता
इति आह ऋगित्यादिना. एतच्छ्रुत्यर्थस्तु तं लोकवेदप्रसिद्धं भगवन्तम्. उ इति
सम्बोधनार्थम् अव्ययम्. श्रुतयः आहुः भो स्तोतारो भगवद्वर्णनपराः. तं पूर्व्यं
सर्वकारणकारणम्. यथाविदः यथावद्भगवत्स्वरूपवेत्तारो भवन्तः. ऋतस्य सूनृत-
वाणीस्वरूपस्य वेदस्य. गर्भम् अन्तर्निहितम्. जनुषा यावज्जीवं जन्मना. पिपर्तन
सन्तुष्टं कुरु तदिह इन्द्रियादिसकलस्वीयदार्थानां भगवत्येव विनियोगं कृत्वा सन्तोषयन्तु
इति भावः. इत्थं च श्रुतिरपि सर्वप्रकारैः भगवद्धर्मादरमेव सूचयति स्फुटम्. सर्वप्रकारैः
भगवति प्रपत्या सन्तोषाजनने जन्मवैफल्यं स्याद् अतः उत्तारधेन आनुकूल्यम् आह
आस्य इत्यादि. आ समन्ताद्. अस्य पुरुषोत्तमस्य. नाम जानन्तो अखण्डब्रह्मा-
त्मकत्वेन नामस्वरूपं जानन्तः. विवक्तनः विशेषेण वदतः. नामस्वरूपं ज्ञात्वा तदेव

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

एतेन भक्तानादरो दर्शितः. साधनभक्तौ आदरः श्रुत्यन्तरे दर्शितः ऋगिति. तमु
स्तोतारः इति. हे उ स्तोतारः इति वेदानाम् उक्तिः स्तवनकर्तारः मदुत्कर्षवर्णनपरा इति
यावत्. तं वेदलोकप्रसिद्धं पूर्व्यं पूर्वस्य कारणस्य सम्बन्धि यथाविदः यथावत्-
स्वरूपवेत्तारो भवन्तः ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भम् अन्तर्निहितं जनुषा
पूर्णजन्मना पिपर्तन सन्तोषं कुरुतः. अत्र श्रुतिः 'यथाविदः' इत्यनेन देहेन्द्रिय-
प्राणान्तःकरणजीवविनियोगं दर्शयति भगवत्सन्तोषार्थम्. एतेन श्रुतेः आदरो भगवद्धर्मेषु
दर्शितः. भगवद्धर्मकरणे अशक्तस्य अनुकल्पम् आहुः आस्येति. आसमन्ताद् अस्य
भगवतः नाम जानन्तः अखण्डशब्दस्वरूपत्वेन जानन्तः विवक्तनः विशेषेण वदतः.
अनुकल्पेन सन्तोषार्थं नाम्नः स्वरूपम् आह चिद् इति. उपलक्षणम् एतत्.

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे”

(ऋग्वेद १।१६४।३९) इत्यादि ऋग्भिः अन्येभ्यो धर्मेभ्यः सकाशाद् भगवद्धर्मेषु आदरः श्रूयते इति तेषाम् **अलोप** एव इति अर्थः. एतेन “**अकरणे प्रत्यवायश्रवणाद्**” इत्यादि यद् उक्तं तदपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम्. करणेऽपि वैयर्थ्यात् तदपरिहारात्. एवं सति यद् अकरणे प्रत्यवायकथनं तेन तस्माद् अवकाशं प्राप्य गौणकालेऽपि अकरणे तथा इति तस्य आशयः इति ज्ञायते ॥४०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कीर्तयते इति अर्थः. अनुकल्पेन कथं सन्तोषो अत आह **चिद्** इति. नाम सच्चिदानन्दस्वरूपं भवति इति अर्थः. तथाच नाम्नः सच्चिदानन्दरूपत्वात् तेन भगवत्स्वरूपावबोधात् ततः सन्तोषणमपि भगवतो भवति इति अर्थः. नामस्वरूपाज्ञाने तदुपायम् आहुः **मह** इत्यादिना. हे **विष्णो** ते त्वत्सम्बन्धिनम्. **महः** त्वत्तेजोरूपम्. **सुमतिं** सम्यग्भगवत्स्वरूपं जानन्तं भगवद्भक्तं गुरुं **भजामहे**. तथाच “अन्यो भजतु मा वा वयं तु भजामहे” इति श्रुतयः स्वकृत्यम् आवेदयन्ति. इत्थं च भगवद्धर्मप्राप्त्युपायेषु आदरबोधनाद् भगवद्धर्मेषु अत्यादरो बोधितः श्रुतीनां ज्ञेयः. इत्थं च भगवद्धर्माणाम् अवश्यकर्तव्यताबोधनात् तद्विरुद्धाकरणे प्रत्यवायाभावोऽपि श्रुत्यैव बोधितः इति फलितम्. **करणेऽपि** इत्यादि. श्रुत्या भगवद्धर्माणाम् अनुष्ठेयानां परित्यागेन प्रत्यवायपरिहाराय कृतानां कर्मणां **वैयर्थ्यात्**. श्रुतिविरोधेन वैयर्थ्यात्. **तदपरिहारात्** कर्मणां वैयर्थ्येप्रत्यवायस्यापि अपरिहारः इति अर्थः. **एवं सति** भगवद्धर्माणाम् अवश्यानुष्ठेयत्वे सति. तेन प्रत्यवायकथनेन. **अवकाशं प्राप्य** भक्त्युपयोगिपदार्थान् अनुष्ठाय उत्तरकाले अवकाशं प्राप्य इति अर्थः. **अकरणे** नित्यकर्मणाम् अकरणे. **तथा** प्रत्यवायसम्भवः इति अर्थः. **तस्य आशयः** प्रत्यवायबोधकवाक्यानाम् आशयः इति अर्थः ॥४०॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सच्चिदानन्दरूपम् इति अर्थः. एवञ्च एतादृशज्ञानस्वरूपनामद्वारा भगवज्ज्ञानं भविष्यति इति भावः. नामस्वरूपज्ञान उपायं गुरूपसत्तिरूपम् आहुः **महस्ते** इति. हे विष्णो, ते त्वत्सम्बन्धिनं **महः** तेजोरूपं **सुमतिं** सुबुद्धिं भक्तम्. अन्यो भजतु मा वा वयन्तु **भजामहे** इति श्रुतयः स्वकृतिं दर्शयन्ति. एतेन भगवद्धर्माणाम् अत्यादरत्वं सूचितम्. **इत्याद्यृग्भिः** इत्यादिपदेन प्रतन्ते अद्य शिपिविष्टेत्यादीनाम् ऋचां संग्रहः. प्रत्यवायस्य का गतिः? इति आकाङ्क्षायां ताम् आहुः **एवम्** इति ॥४०॥

ननु एवं तात्पर्यकत्वे श्रुतेः उपनयनादिवत् कर्मोपयोगित्वं भक्ति-
तज्ज्ञानयोः स्यादिति कर्मणएव प्राधान्यं, नतु भक्तेः सिध्यति इति आशङ्क्य,
भक्ति-तज्ज्ञानावश्यकत्व-बोधकश्रुतितात्पर्यम् आह.

उपस्थिते अतः तद्वचनात्॥४१॥

तयोः युगपत्करणे अनुपस्थितेऽपि यदि पूर्वं भगवद्धर्मकरणम् उच्यते,
तदा त्वदुक्तं स्याद्, नतु एवं, किन्तु उभयोः युगपत्करणे **उपस्थितेः** बलाबल-
विचारे क्रियमाणे, **अतः** आदराद् हेतोः **तद्वचनाद्** भगवद्धर्माणां बलवत्त्वेन
अलोपवचनाद् न कर्माङ्गत्वम् एतेषां सिध्यति इति अर्थः॥४१॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे चतुर्दशम् आदरादलोपः इति अधिकरणम्॥१४॥

तन्निर्धारणानियमः तद्दृष्टेः

पृथग् हि अप्रतिबन्धः फलम्॥४२॥ (३।३।१५)

अथ इदं विचार्यते : पुरुषोत्तमविदः कर्म कर्तव्यं न वा इति. तत्र
मार्गत्रयफलात्मके तस्मिन् सम्पन्ने पुनः तस्य स्वतो अपुरुषार्थस्य करणम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रावतरणम् आहुः ननु इत्यादिना. एवं श्रुतिभ्यां भगवद्धर्माणाम्
अवश्यानुष्ठेयत्वेन बोधने कृते तेषाम् अनुष्ठाने कृतएव श्रौतकर्मणां सफलता न अन्यथा
इत्येवं सति इति अर्थः. **कर्मोपयोगित्वं** पूर्वाङ्गवत् कर्मणां साफल्याय कर्मोपयोगित्वम्
इति अर्थः. **तयोः** श्रौतभगवद्धर्मयोः. **अतः आदराद्** उक्तश्रुतिभ्याम् आदरात्. एवं
सूत्रार्थेनैव सर्वं समाहितम्॥४१॥१४॥

मार्गत्रयफलात्मके कर्मज्ञानभक्तिमार्गत्रयं तस्य फलात्मके. **तस्मिन्**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. **तात्पर्यकत्वे** इति. भगवद्धर्मकरणे श्रुत्युक्तानां
कर्मणां सार्थक्यम् अन्यथा न इत्येवं तात्पर्यकत्वम्. **उपनयनादिवद्** इति. यथा
अग्निहोत्रार्थम् उपनयनं तथा कर्मार्थं भक्तिः इति तस्याः अङ्गत्वम् इति अर्थः. सूत्रार्थम्
आहुः **तयोः** इति. **त्वदुक्तम्** इति. उपनयनादिवत् कर्माङ्गत्वं स्याद् इति अर्थः॥४१॥

ननु यथा परमहंसैः न कर्म कर्तव्यम् एवं भक्तैरपि न कर्तव्यम् इति आशङ्क्य
कर्मप्रयोजनं बोधयितुम् अधिकरणम् आहुः **तन्निर्धारणे**ति. संशयपूर्वपक्षौ आहुः **अथ**
इदम् इति. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. **मार्गे**ति. **तस्मिन्** इति. पुरुषोत्तमज्ञाने.
अपुरुषार्थस्य. कर्मणः इति शेषः.

अप्रयोजकमिति न कर्तव्यमेव इति पूर्वः पक्षः.

तत्र सिद्धान्तम् आह तन्निर्धारणेत्यादिना. अत्र इदम् आकूतम् : भक्तिमार्गेहि मर्यादापुष्टिभेदेन अस्ति द्वैविध्यम्. तत्र मर्यादायां पुष्टौ च एतादृशस्य न कर्मकरणं सम्भवति. अतएव तैत्तिरीयकोपनिषत्सु पठ्यते “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति” (तै.उप.२।४). “एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्” (तत्रैव २।९) इति. श्रूयते च उभय-विधानामपि कर्मकरणम् अम्बरीषोद्धव-पाण्डवादीनाम्. एवं सति उभयविधानां मध्ये “मम कर्मकरणे प्रभोः इच्छा अस्ति” इति यो निर्धारयति, स करोति. यः एतद् विपरीतम्, स न करोति, यथा शुकजडादिः. एतन्निर्धारश्च भगवदधीनः, अतो भक्तेष्वपि तन्निर्धारणानियमः, अतः कर्म कर्तव्यमेव अतन्निर्धारणे तु^१ आधुनिकानाम्. एवं सति इच्छाज्ञानवता तत्सन्देहवता च कर्म कर्तव्यम् इति सिद्धम्. तत्र उभयोः फलं वदन् आदौ आद्यस्य आह तद्दृष्टेः. तस्याः भगवदिच्छायाः दृष्टिः ज्ञानं यस्य सः तथा. तस्य जीवकृतकर्मफलात् पृथग् भिन्नम् ईश्वरकृतकर्मणो यत् फलं वेदमर्यादारक्षा लोकसंग्रहश्च तत् फलम् इति अर्थः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुरुषोत्तमज्ञाने. तस्य कर्मणः. एतादृशस्य भगवदानन्दानुभवकर्तुः भक्तस्य. अतएव तादृशभक्तयोः कर्मकरणस्य अनावश्यकत्वादेव. उभयविधानां मर्यादा-पुष्टिभेदेन द्विविधानामपि भक्तानाम्. एतद्विपरीतं कर्मकरणे भगवदिच्छाभावरूपं विपरीतम्. तन्निर्धारणानियमो भगवदिच्छातदभावयोः अनिर्णये कर्मकरणतदभावयोः अनिर्णयाद् अनियमः. कर्तव्यमेव अकरणे प्रत्यवायश्रवणात्. “पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः” इतिन्यायात् कर्म कर्तव्यमेव इति अर्थः. अतन्निर्धारणे भगवदिच्छायाः अनिर्धारणे. इच्छाज्ञानवता कर्म कर्तव्यम् इति इच्छाज्ञानवता. तन्निर्धारणानियमः इतिसूत्रभागं व्याख्याय तद्दृष्टेः पृथग् इति सूत्रभागार्थम् आहुः तत्र इत्यादिना. आद्यस्य कर्मकरणेच्छाज्ञानवतः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति अत्र इदम् इति. एतादृशस्य पुरुषोत्तमज्ञानवतः. श्रूयते इति. गोपालोत्तरतापनीये. एतद्विपरीतम् इति. निर्धारयति इति शेषः. ननु पुरुषोत्तमविदः कर्मणः फलं नास्ति कृतार्थत्वाद् इति आशङ्क्य सूत्रशेषम् अवतारयन्ति तत्र इति. उभयोः ज्ञातेच्छतत्सन्देहवतोः. आद्यस्य निश्चितेच्छस्य.

‘हि’शब्देन “सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत, कुर्याद् विद्वांन् तथासक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्” (भग.गीता ३।२५) इति भगवद्वाक्य-रूपोपपत्तिः सूचिता. द्वितीयस्य मध्यमाधिकारात् कालसङ्गादिजनितचित्तमालि-न्येन भगवत्सान्निध्ये प्रतिबन्धः स्यात्, तन्निवृत्तिः तत्कृतकर्मणः फलम् इति अर्थः.

अथवा. पूर्वसूत्राभ्यां भगवद्भर्मकृतेः आवश्यकत्वम् उक्तम्. सर्वात्म-भाववतो “न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह” (भाग.पुरा.११।२०।३१) इति भगवद्वचनाद् विधेयाभावाद् असम्भवाच्च कर्मज्ञानयोः विहितभक्तेश्च करणं न सम्भवतीति तस्य किं फलम्? इति आकांक्षापूरणाय तद् अनुवदति तन्निर्धारणेत्यादिना. तस्मिन् धर्मिण्येव नतु धर्मेष्वापि दृष्टिः यस्य सः तथा. ‘दृष्टि’पदेन ज्ञानमात्रम् उच्यते. तेन अन्यविषयकदर्शनश्रवणादिज्ञानाभावः उक्तो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

‘हि’शब्देन सौत्र‘हि’शब्देन. द्वितीयस्य करणाकरणविषयकभगवदिच्छा-ज्ञानरहितस्य. तन्निवृत्तिः कालकृतप्रतिबन्धनिवृत्तिः.

साधारणरीत्या सूत्रार्थं व्याख्याय असाधारणार्थं वक्तुं सूत्रस्य अर्थान्तरम् आहुः अथवा इत्यादि. आवश्यकत्वं श्रौतादिनित्यधर्मकरणापेक्षया भगवद्भर्माणाम् आवश्य-कत्वम्. विधेयाभावाद् ज्ञानकर्मवैराग्यादिरूपविधेयाभावात्. असम्भवात् च तस्य भक्तस्य ब्रह्मभावे पुरुषोत्तमातिरिक्तास्फूर्त्या विधेयसामान्यस्य करणासम्भवाच्च इति अर्थः. किं फलम् एकस्यापि साधनस्य अभावाद् न किञ्चित् फलं भविष्यति इति अर्थः. तद् अनुवदति सूत्रकारः तस्य किं फलम् इति पूर्वपक्षं ‘तन्निर्धारणानियमः’ इति सूत्रभागेन अनुवदति. तद्दृष्टेः इति सूत्रभागस्य अर्थम् आहुः तस्मिन् इत्यादिना. तथा

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

द्वितीयस्य आहुः द्वितीयस्य इति. एवञ्च एतादृशोरपि कर्मणः साफल्यम् अस्तीति न पूर्वोक्तविचारवैयर्थ्यम् इति अर्थः.

व्याख्यानान्तरं कर्तुं सूत्रम् अवतारयन्ति अथवा इति. भगवद् इति. मोक्षफलकश्रवणादिकृतेः इति अर्थः. विधेयाभावाद् इति. तं प्रति मोक्षसाधनानां विधेयानां तेषाम् अभावाद् इति अर्थः. असम्भवाद् इति. तद्भावस्वभावत्वेन कर्तुम् अशक्यत्वेन असम्भवाद् इति अर्थः. तद् अनुवदति इति. तस्य फलम् अनेन सूत्रेण अनुवदति इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति तस्मिन् इति.

१. ‘एतावन् निर्धारणम्’ इति पाठः. २. ‘कामसंज्ञा’ इति पाठः.

भवति. एतादृशस्य प्रभुसङ्गममात्रम् अपेक्षितम्. तत्र भगवदुक्तस्वसङ्गमा-
वधिकस्य भक्तस्य सङ्गमसमयनिर्धारो भवति. अतादृशस्य तस्य सः न इति
तन्निर्धारणानियमः. एतेन फलप्राप्तेः प्रागवस्था उक्ता भवति. फलस्वरूपम् आह
पृथक् फलम् इति. अस्य अनिर्वचनीयत्वाद् अनुभवैकवेद्यत्वाद् मोक्षान्तं यत् फलं
शास्त्रे उक्तं तस्माद् भिन्नम् इति उक्तम्. अन्यत्र हि धर्माणां साधनत्वं, यत्र फलमेव
साधनं, तत्फलस्य अनिर्वच्यता युक्तैव इति 'हि'शब्देन आह. ज्ञानमोक्षादिना
तद्भावाप्रतिबन्धश्च फलम् इति अर्थः. प्रासङ्गिकम् एतत् सूत्रम् ॥४२॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे पञ्चदशं तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥१५॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥ (३।३।१६)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

'तद्दृष्टि'पदवाच्यः. **एतादृशस्य** पुरुषोत्तमातिरिक्ताकारशालिज्ञानसामान्यशून्यस्य.
सङ्गमात्रं रासलीलासम्बन्धिसङ्गमात्रम्. **भगवदुक्तम्** "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति
कुतश्चन" (तैत्ति.उप.२।४), "यास्यसे ह्यकुतोभयम्" (भाग.पुरा.११।१२।१५)
इत्यादिना भगवदुक्तम्. **अतादृशस्य** पुरुषोत्तमीयसर्वात्मभावशून्यस्य. **सः** भगवत्प्राप्ति-
समयनिर्धारः. **न इति तन्निर्धारणानियमः** इति सूत्रभागेन अर्थः उक्तः इति अर्थः. एतेन
उक्तरूपसूत्रभागार्थकरणेन. सौत्र'पृथक्'पदस्य अर्थम् आहुः **फलम्** इति. अस्य
सङ्गमरूपफलस्य. **अनिर्वचनीयत्वाद्** "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति.उप.२।९) इत्यनेन
अनिर्वचनीयत्वोक्तेः. **शास्त्रे उक्तं** गणितानन्दत्वेन शास्त्रे उक्तम्, **भिन्नम्** अगणिता-
नन्दरूपम्. **अन्यत्र** अगणितानन्दफलातिरिक्तफले. **फलमेव** परमानन्दस्फूर्तिरेव.
मोक्षादिना इत्यादिपदेन भेदेन अनुभवाभावः. **फलं** सर्वात्मभावस्य अर्थवश-सम्पन्नं
प्रासङ्गिकं फलम् इति अर्थः. **प्रासङ्गिकं** नतु अधिकरणरूपम् इति अर्थः ॥४२॥१५॥

पूर्वाधिकरणद्वयेन राजसभक्तानां कर्मासक्तिं वारयित्वा उत्कृष्टभक्तेः फलं च

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एतेन इति. 'तन्निर्धारणानियम'पदेन इति अर्थः. **अन्यत्र** इति. मोक्षपर्यन्ते
फलान्तरे. **यत्र फलमेव** इति. भगवत्सङ्गानुसन्धानेन तदेकतानस्य "यतो वाचो
निवर्तन्ते" (तैत्ति.उप.२।९) इति श्रुत्युक्तम् अगणितानन्दरूपं फलम् इति अर्थः.
तद्भावाप्रतिबन्धश्च इति. तत्प्राप्तिपूर्वदशायां तद्भावप्रतिबन्धाभावश्च **फलम्**
इति अर्थः. **एतत्सूत्रम्** इति. एतेन अधिकरणम् इदं न भवति इति सूचितम् ॥४२॥

इदानीं मुख्या भक्तिः केन जायते? इति आकाङ्क्षायाम् अधिकरणम् आहुः

अथ इदं विचार्यते : सर्वात्मभावो विहितकर्मज्ञानभक्तिसाध्यो न वा ? इति. तत्र पुराणे “तस्मात् त्वम् उद्धव ! उत्सृज्य” (भाग.पुरा.११।१२।१४) इति उपक्रम्य, “मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां, याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्” (तत्रैव ११।१२।१५) इतिवाक्ये मुक्त्यात्मकाकुतोभयसाधन-रूपशरणगमने प्रकारत्वेन सर्वात्मभावस्य कथनेन स्वप्रयत्नसाध्यत्वं गम्यते. अतः साधनसाध्यः इति पूर्वः पक्षः.

तत्र सिद्धान्तं वक्तुं तदुपदेशस्वरूपम् आह प्रदानवद् इति. यदि अयं साधनोपदेशः स्यात्, तदा साधनत्वेन सर्वात्मभावेन शरणप्राप्तेः स्वकृतिसाध्यत्वं, नतु एवं, किन्तु, तदुक्तं भगवदुक्तम्. प्रदानवत्. प्रकृष्टं दानं प्रदानं वरदानम् इति यावत्, तद्वदेव इति अर्थः. वरेण हि स्वकृत्यसाध्यमपि सिध्यतीति तथा. शत्रुसंहारभयादिनापि शरणाप्तिः भवति, तत्र न तस्याः पुरुषार्थत्वं, किन्तु तन्निवृत्तेरेव. प्रकृतेऽपि सर्वात्मभावे स्वरूपप्राप्तिलिङ्गासहिष्णुत्वेन अत्यातौ स्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्या तदभावस्वाभाव्येन गुणगानादिसाधनेषु कृतेष्वपि अप्राप्तौ स्वाशक्यत्वं ज्ञात्वा प्रभुमेव शरणं गच्छति, एतच्च न स्वकृतिसाध्यम् इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रदर्श्य इतः परं मुख्या भक्तिः केन साधनेन भवति ? इति जिज्ञासायाम् इदम् अधिकरणम् आरभन्ते अथ इत्यादिना. सन्देहम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इत्यादिना. “तस्माद् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां, मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां, याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्” (भाग.पुरा.११।१२।१४) इति वाक्ये इत्यस्य अग्रे कथनेन इत्यत्र अन्वयः. स्वप्रयत्नः शरणगमनानुकूलः स्वप्रयत्नः.

तदुपदेशस्वरूपं सर्वात्मभावेन शरणगमनरूपोपदेशस्वरूपम्. सूत्रार्थेन समाधानम् आहुः तदुक्तम् इति. तदर्थो भगवदित्यादि. तथा सर्वात्मभावेन शरणगमनं स्वकृत्यसाध्यम्. तन्निवृत्तेः भयनिवृत्तेः फलत्वम् इति अर्थः. प्रकृतेऽपि भजनानन्दा-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रदानवद् इति. अथ इति. इदम् इति. इदम् अधिकरणम्. संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति यदि अयम् इति. शत्रुसंहारेति. शत्रुभयं संहारभयं च आदिः यस्य इति अर्थः. तन्निवृत्तेः इति. शत्रुभयनिवृत्तेः इति अर्थः. एतद्वाक्यस्य वरदानतुल्यत्वम् उपपादयन्ति प्रकृतेति. एतत् च इति. एतादृशशरणगमनम् इति अर्थः. ननु अस्य भावस्य वरत्वमेव नतु तत्तुल्यत्वम् अतः आहुः भक्तस्य इति.

सुष्ठुक्तम् प्रदानवद् इति. भक्तस्य ईप्सितो अर्थोहि वरो भवति. सर्वात्मभावस्य अनुभवैकवेद्यत्वेन पूर्वम् अज्ञानेन ईप्सितत्वासम्भवेऽपि स्वतएव कृपया दानमिति वदति इति उक्तम्. अथवा “सर्वात्मभावेन मां याहि” इति सम्बन्धः.

यद्वा. प्रदानवद् इत्यस्य पूर्ववदेव व्याकृतिः. तत्र साधनासाध्यत्वे प्रमाणम् आह तदुक्तम् इति. “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (कठोप.१।२।२३) इति श्रुत्या वरणातिरिक्त-साधनाप्राप्यत्वम् उच्यतइति तत् तथैव इति अर्थः. भगवदुक्ता ‘कुतोभय’पदस्य न मुक्तिः अर्थः, किन्तु “यतो वाचो” (तैत्ति.उप.२।४) इत्यादिना आनन्दस्य स्वरूपम् उक्त्वा “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन” (तत्रैव) इति श्रुत्युक्तं यत् पूर्वोक्तं रसात्मकपुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवोत्तरकालीनम् अकुतोभयं तदर्थः॥४३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

नुभवार्थं सर्वात्मभावेन शरणगमनेऽपि. सर्वात्मभावे सिद्धे इति अर्थः. तद्भावः सर्वात्मभावः. अप्राप्तौ परमानन्दस्वरूपाप्राप्तौ. प्रदानवद् इति पूर्वोक्तशरणगमनं वरप्रदानवदेव इति अर्थः. सर्वात्मभावस्य फलोपहितसर्वात्मभावस्य. वदिति उक्तं फलसमानताप्रदर्शनं पूर्वदशायां कृतम् इति अर्थः. “याहि सर्वात्मभावेन” (तत्रैव) इति वाक्यस्य अर्थम् आहुः अथवा इत्यादिना. ‘शरणम्’ इति ‘माम्’ इत्यस्य विशेषणम्. पुराणवाक्यस्य अत्र विषयत्वेन उपन्यासाद् एतद्विचारस्य अश्रौतत्वशङ्का स्याद् इति तन्निरासाय पूर्वोक्तसूत्रत्रयेऽपि विचारस्य श्रौतत्वप्रदर्शनाय आहुः यद्वा इत्यादि. पूर्ववदेव वरदानत्वेनैव. तत्र वरदाने. तदुक्तं वरदानस्य स्वकृत्यसाध्यत्वम् उक्तम्. तत् तथैव सर्वात्मभावस्य साधनासाध्यत्वम् उक्तं तद् यथार्थमेव इति अर्थः. अकुतोभयं तदर्थः. “रसो वै सः. रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति” (तैत्ति.उप.२।७) इति प्रभृतिश्रुत्युक्तं रसस्वरूपमेव अकुतोभयपदार्थः इति अर्थः॥४३॥१६॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रकारान्तरेण वाक्ययोजनाम् आहुः अथवा इति. कीदृशं मां शरणम् इति योजना. वरणश्रुतिरेव आह इमम् अर्थम् इति सूचयितुं सूत्रांशं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति यद्वा इति. तत्तथैव इति. वरणलभ्यएव सर्वात्मभावः इति अर्थः. इदानीम् अकुतोभयपदार्थम् आहुः भगवद् इति. तदर्थः इति. “न बिभेति कुतश्चन” (तैत्ति.उप.२।९) इति वाक्योक्त-रसरूपब्रह्मानुभवोत्तरकालीनएव ‘अकुतोभय’पदार्थः इति अर्थः॥४३॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे षोडशं प्रदानवद् इति अधिकरणम्॥१६॥

ननु प्रतिबन्धक-कालादृष्टादि-सद्भावेऽपि वरणकार्यं स्याद्, उत तन्निवृत्तौः इति संशये, प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्र हेतुत्वात् तन्निवृत्तावेव तथा इति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तम् आह लिङ्गेत्यादिना.

लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयः तदपि॥४४॥ (३।३।१७)

सामोपनिषत्सु नवमे प्रपाठके सनत्कुमारनारदसंवादे प्रथमतएव मुख्या ब्रह्मविद्योपदेशार्हा न भवति इति ज्ञात्वा, सनत्कुमारो नारदाधिकारं च ज्ञातुं “यद् वेत्थ तेन मोपसीद” (छान्दो.उप.७।१।२) इत्युक्तो नारदः स्वयं विदितम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वाधिकरणे सर्वात्मभावरूपभक्तेः वरणलभ्यत्वम् उपपादितम्. “यमेवैषः” (कठोप.१।२।२३) इति श्रुतौ तु परमात्मनो वरणैकलभ्यत्वं प्रतीयते इतिदूषणं समाधातुम् अधिकरणसूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. उत इति संशयोल्लेखः. कालादृष्ट-स्वभावादिप्रतिबन्धकसद्भावे वरणकार्यसर्वात्मभावो भवति न वा? इति संशयस्वरूपम्. तन्निवृत्तौ इति प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यसामान्यं प्रति कारणतायाः सर्वशास्त्रसम्मतत्वात् तन्निवृत्तावेव इति अर्थः. तथा वरणेन सर्वात्मभावसिद्धिः. सिद्धान्तम् आह सूत्रकारः सिद्धान्तम् आह इति अर्थः.

सिद्धान्तप्रकारोपदर्शनम् आहुः सामेत्यादिना. तथाच सामोपनिषत्सु वरणमेव असहायशूरतया सर्वात्मभावसम्पादकं सर्वात्मभावएव च वरणस्य गमकं लिङ्गम् इति सामोपनिषत्सिद्धान्तो बोध्यः. संवादे “अधीहि भगव” इति “होपससाद” सनत्कुमार-नारद इत्यादिसंवादे ‘अधीहि’ इति ण्यन्तः प्रयोगः. अध्यापय इति अर्थः. प्रथमतएव अधिकारनिर्णयात् पूर्वमेव. यद् वेत्थ इत्यादि. “यद् वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति होवाच” (छान्दो.उप.९।१।२) “यत् त्वं जानासि तत्कथनेन मदुपसन्नो भव इति स्वाधीतं वद ततोतिरिक्तं तुभ्यं कथयिष्यामि” इति उक्तवान्. इति उक्तो नारदः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सर्वात्मभावस्य वरणैकसाध्यत्वं स्थिरीकर्तुं तस्य च पुनः स्वरूपं निरूपयितुं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् आहुः लिङ्गभूयस्त्वेति. अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इति. अदृष्टादीति. ‘आदि’पदेन स्वभावपरिग्रहः. संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः प्रतिबन्धकेति. सूत्रार्थं वक्तुं लिङ्गभूयस्त्वबोधिकां श्रुतिम् आहुः सामोपनिषद् इति. छान्दोग्ये “तं होवाच” इति सनत्कुमारवाक्यस्य तात्पर्यम् आहुः प्रथमतः इति. स्वयम्

ऋग्वेदादिसर्पदेवजनविद्यान्तम् उक्त्वा, “सोहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि” (तत्रैव ७।१।३) इति स्वाधिकारम् उक्त्वा आह “नात्मवित् श्रुतं होवमेव भगवद्-दृशेभ्यः तरति शोकम् आत्मविद् इति, सो अहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु” (तत्रैव ७।१।३) इति नारदेन उक्तः. सनत्कुमारः पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् भूयो वदेति पृष्टः. ‘भूयः’पदम् अधिकार्थकं, नाम-वाङ्-मनःसङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानबलाद् न आपस्तेज-आकाश-स्मराशा-प्राणान् ब्रह्मत्वेन उपासनाविषयत्वेन उक्त्वा, प्राणोपासकस्य अतिवादित्वं सत्यवादित्वेन उक्त्वा, विजिज्ञासितव्यत्वेन सत्यविज्ञानम् अतिश्रद्धानिष्ठाकृतिसुखानि पूर्वपूर्व-कारणत्वेन उत्तरोत्तराणि उक्त्वा, सुखस्वरूपजिज्ञासायाम् आह “यो वै भूमा तत्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सनत्कुमारेण आज्ञप्तः. **उक्त्वा** ऋग्वेदादिपुराणान्तं स्वविदितं सर्वम् उक्त्वा. “न अहम् आत्मविद्” इति महापुरुषाणाम् आप्तानां वचसा स्वस्य शोकेन च ज्ञातं “न अहम् आत्मविद्” इति. **भगव** इति सम्बोधनम्. **पूर्वस्माद्** इत्यादि. उत्तरोत्तरं स्वयं ज्ञानं बाहुल्येन वद इति सनत्कुमारेण नारदः **पृष्टः** इति अर्थः. **उपासनाविषयत्वेन उक्त्वा** त्वया पूर्वोक्तानि यावन्ति तावन्ति नामोपासनाधिकरूपाणि भवन्ति इति उक्त्वा इति अर्थः. तथाच **नाम** भगवतः प्रसिद्धम्. **वाक्** भगवच्चरित्रप्रतिपादिका. ‘**मनः**’पदेन भगवत्सम्बन्धिप्रश्नाद्यनुकूलान्तःकरणव्यापारविशेषः. **सङ्कल्पः** कर्तव्यनिर्णयार्थम् अन्तःकरणीयव्यापारविशेषः. **चित्तं** भूतभविष्यवर्तमानस्वकृतिनिर्णायको अन्तःकरणीयवृत्तिविशेषः. **ध्यानं** निदिध्यासनम्. **ज्ञानं** शास्त्रोक्तविशिष्टज्ञानम्. **बलम्** अन्नभक्षणजं मनसो विज्ञेयविभावनसामर्थ्यम्. **अन्नम् आपः तेज आकाशश्च** प्रसिद्धः. **स्मरः** स्मरणम् अप्रयत्नश्चित्तव्यापारः. **आशा** प्राप्तार्थविषयिणी कामना. एषाम् उत्तरोत्तरम् आधिक्येन **उपासनाम् उक्त्वा** इति अर्थः. **सत्यवादित्वेन उक्त्वा** पूर्वोपासकेभ्यः उत्कृष्टत्वेन उक्त्वा इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. ऋग्वेदाद्यारभ्य सर्पदेवजनविद्यान्तं सर्वं जानामि इति अर्थः. इदं च श्रुतावेव स्फुटम्. एतेन मन्त्रवित्त्वमेव नारदेन ज्ञापितम्. तेन शोकनिवृत्तिः नास्ति इत्यतः आहुः **भगवान्** इति. सनत्कुमारेण उपदेशे प्रारब्धे भूयः आहुः “एतस्माद् अधिकं वद” इति नारदेन उक्ते “प्रथमतौ नाम तदनन्तरं वाग्” इत्यारभ्य “उक्त्वा” इत्यन्तं श्रुतौ प्रसिद्धम्. तदनन्तरं सुखस्वरूपजिज्ञासा जाता. तदनन्तरम् उपदेशम् आहुः **यो वै** इति.

सुखम्” (छान्दो.उप.७।२३।१) इति. भूमनः स्वरूपजिज्ञासायाम् आह “यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् श्रुणोति नान्यद् विजानाति स भूमा” (तत्रैव ७।२४।१) इति. एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेव उक्तं भवति. तत्र विरहभावे अतिविगाढभावेन सर्वत्र तदेव स्फुरति इति “स एवाधस्ताद्” (तत्रैव ७।२५।१) इत्यादिना उक्त्वा, कदाचित् स्वस्मिन्नेव भगवत्स्फूर्तिरपि भवति इति “अथ अहङ्कारादेशः” (तत्रैव ७।२५।१) इत्यादिना ताम् उक्त्वा, एतेषां व्यभिचारिभावत्वेन अनियतत्वं ज्ञापयितुं पुनः सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिम् आह “अथात आत्मादेशः” (तत्रैव ७।२५।२) इत्यादिना. ततः संयोगभावे (अ)सति पूर्वभावेन सर्वोपमर्दिना स्वप्राणादि-सर्वतिरोधानेन अग्रिमलीलानुपयोगित्वं न शङ्कनीयं, यतो भगवत् एव सर्वसम्पत्तिः इति आशयेन “तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यतः” इति उपक्रम्य,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सुखस्वरूपजिज्ञासायां नारदस्य सुखस्वरूपजिज्ञासायाम्. आह सनत्कुमार आह. एतेन स्वरतिविषयान्यस्य अस्फूर्तिनिर्वचनेन. ताम् उक्त्वा स्वरतिविषयस्य अहम्भावेन स्फूर्तिम् उक्त्वा इति अर्थः. एतेषां “नान्यत् पश्यति” (छान्दो.उप.७।२४।१) सर्वत्र दिक्षु तमेव च पश्यति इत्यादिभावानाम्. आत्मादेशः भगवन्मात्रस्फूर्तिः इति अर्थः. ततः पूर्णविरहदशासम्पत्यनन्तरम्. अग्रिमलीलानुप-योगित्वं वरणसम्पादितविरहभावस्य द्वितीयदललीलानुपयोगित्वम्. यतः वक्ष्यमाणो-पपत्तितः. सर्वसम्पत्तिः वरणविरहभावाग्रिमलीलोपयोगिदेहादिरक्षाणां सम्पत्तिः. “तस्य ह वा एतस्य” वरणेन उद्धवं प्रति उक्तसर्वात्मभावपूर्वकप्राप्तशरणभावस्य. एवं पश्यतः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तथाच वरणकार्यम् आहुः एतेन इति. तत्र इति. भूमिं ज्ञाते सति लाभो न जातः इति कृत्वा विरहभावे च सति अतिविगाढभावेन इति. प्रपञ्चविस्मरणपूर्वपरम् आसक्ति-रूपेण इति अर्थः. तदेव आसक्तिविषयीभूतं भगवत्स्वरूपमेव. स्वस्मिन् भगवत्स्फूर्तिः भवति न वा इति संशये आहुः कदाचिद् इति. तां स्फूर्तिम्. एतेषां विरहभावकृत-तत्स्फूर्तिरूपाणां ज्ञानानाम्. पुनः इति. अहङ्कारादेशात् पूर्वं निरूपितस्य आवृत्याम्. “तस्य ह वा एतस्य” (कौषी.उप.१।१, २, ३/छान्दो.उप. ८।३।४) इत्यादिग्रन्थतात्पर्यम् आहुः ततः इति. ततः विरहभावानन्तरं संयोगभावे असति पूर्वभावेन विरहात्मकेन सर्वतिरोधानेन प्राणादिसर्वतिरोधानेन वृथैव इदं सर्वम् इति न शङ्कनीयम् इति अर्थः. सर्वसम्पत्तिः सर्वस्थितिः. तथाच विरहेण सर्वोपमर्दाभावाद् लीलोपयोगसिद्धिः इति

“आत्मत एवेदं सर्वम्” (तत्रैव ७।२६।१) इति उक्तवान्. ततः श्लोकैः तद्भावस्वरूपम् उक्त्वा एतस्य मूलकारणम् आह “आहारशुद्धौ” (तत्रैव ७।२६।२) इत्यादिना. प्राणपोषको हि आहारः. तस्य सदोषत्वे तु न किञ्चित् सिध्यति. एवं सति भगवदतिरिक्तस्य स्वतो निर्दोषत्वाभावाद् भगवानेव चेत् प्राणपोषको

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्वे महिम्नि अक्षरे स्थितं भूमानं पश्यतः. इदं सर्वं वरणादिसंयोगान्तं सर्वम् इति अर्थः. ततो भगवतएव सर्वोपपत्तिः. तद्भावस्वरूपं भक्तभावस्य सर्वात्मभावरूपस्य स्वरूपम्. एतस्य सर्वात्मभावस्य. श्लोकैः इत्यत्र उक्ताः श्लोकास्तु “न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति, त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिप्रतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्षः” (छान्दो.उप.९।२६।२) इति.

अर्थस्तु, पश्यो भूमः पुरुषोत्तमस्य द्रष्टा मृत्युप्रभृतीन् न पश्यति इति अर्थः. सर्वं हि पश्यः पश्यति पश्यः सर्वं भूमात्मकं पश्यति. इदमेव सर्वाणिष्टनिवारणे हेतुः उक्तः. सर्वशः इति सर्वदेशकालेषु इति अर्थः. नानाप्रकारैः आविर्भूय भूमा भक्तेष्टं साधयति इत्यादि. स भूमा. प्रतिलम्भे प्राप्तौ. सत्त्वशुद्धौ मूलकारणम् आहारशुद्धिः. साच “त्वयोपभुक्त-स्रग्गन्ध-वासोलङ्कारचर्चिताः, उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जये महि” (भाग.पुरा.११।६।४६) इति भगवद्दत्तप्रसादेन भवति इति बोध्यम्. सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्षः इति. अविद्याकामकृतानां सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्षो ज्ञानिनोऽपि अपेक्षया उत्कृष्टो मोक्षः इति अर्थः. पूर्वोक्तस्य सर्वस्य तात्पर्यम् आहुः एवं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

भावः. तदेव आहुः ततः श्लोकैः इति. “न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्” (मैत्रा.उप.७।११) इत्यादिश्रुत्युक्तश्लोकैः इति अर्थः. पश्यः उक्तविधभूम-दर्शनवान् मृत्युरोगौ न पश्यति. तद्भावेति. भूमद्रष्टुः भावम् उक्त्वा इति अर्थः. आहारशुद्धौ इति. “त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः, उच्छिष्टभोजिनो दासाः तव मायां जयेमहि” (भाग.पुरा.११।६।४६) इति रीत्या आहारशुद्धौ इति अर्थः. तथाच आहारशुद्धौ सत्याम् अविद्याकामकर्मकृतानां ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः इति ज्ञेयम्. मूलकारणमेव विशदयन्ति एवं सति इति. इदं च सर्वं तत्रत्य उपनिषत्पर्यालोचनया सुगमं

*“स च तथा तेन प्रकारेण इत्यर्थः. तद्वरणं विना” इति पुरु.पाठः.

भवेत्, तदा सर्वं सम्पद्यते. सच सर्वात्मभावे सत्येव भवति. *सच तथा तद्वरणं विना न भवति. तच्च उक्तकार्यानुमेयम् इति वरणलिङ्गं सर्वात्मभावः, तस्यैव भूयस्त्वात् सर्वतो अधिकत्वात् तद्वरणमेव सर्वतः कालादेः **बलीयः** इति अर्थः. यल्लिङ्गमेव सर्वतो अधिकं, तस्य तथात्वे किं वाच्यम् इति कैमुतिकन्यायोऽपि सूचितः. ज्ञानमार्गीयज्ञानेन प्रतिबन्धशङ्कायाम् आह **तदपि** इति. उक्तम् इति शेषः. “**अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः**” (ब्रह्मसू.३।३।३५) इतिसूत्रेण. तच्च उपपादितम् अस्माभिः॥४४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सति इत्यादिना. **एवं सति** श्रुत्या वरणसर्वात्मभावात्मरक्षणदेः प्रतिपादने कृते सति. **सर्वं सम्पद्यते** वरणादिपुरुषोत्तमप्राप्त्यन्तं सर्वं सम्पद्यते इति अर्थः. सूत्रार्थं वक्तुम् आहुः **सच** इत्यादि. **सच** भगवतः प्राणपोषकभावश्च. **सच** सर्वात्मभावश्च. तेन इत्यादि. अनुग्रहेण यद् वरणं तत्प्रकारेण इति अर्थः. **तत्** सर्वात्मभावरूपं कार्यम्. **तत् च** वरणरूपं कारणम्. **उक्तकार्यानुमेयं** सर्वात्मभावरूपकार्यानुमेयम्. **यल्लिङ्गं** सर्वात्मभावरूपं वरणस्य लिङ्गम्. **तस्य** वरणस्य. **तथात्वे** कालाद्यपेक्षया बलिष्ठत्वे. **प्रतिबन्धशङ्कायां** स्वात्मनि ब्रह्माभेदज्ञाने सति विरहभावस्य असम्भवेन प्रतिबन्धकत्वशङ्कायाम् इति अर्थः. **उक्तम्** इति सूत्रेण इत्यत्र अन्वेति. फलपूर्वदशायां विरहभावो भगवता सम्पाद्यते भजनानन्ददित्सायाम् इति सएव प्रतिबन्धं न करिष्यति इति तदधिकरणएव प्रपञ्चितमिति सा शङ्का ततएव निरस्ता बोध्या॥४४॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भविष्यति. विस्तरभिया अस्माद् विरम्यते.

एतावद् उपनिषद्ग्रन्थतात्पर्यम् उक्त्वा सूत्रार्थम् आहुः **सच** इत्यादि. सः भगवान् प्राणपोषकः. **सच** सर्वात्मभावश्च. **तथा** अत्यनुग्रहेण. **तद्वरणं** तस्य जीवस्य वरणम्. **तच्च** वरणं च. **उक्तकार्येति**. भगवत्कृतप्राणपोषणानुमितसर्वात्मभावरूप-कार्यानुमेयम् इति अर्थः. **बलीयः** इति. कालादिप्रतिबन्धकसद्भावेऽपि तत्कार्यं भवत्येव इति अर्थः. ‘हि’शब्देन उक्तम् अर्थम् आहुः **यल्लिङ्गम्** इति. सूत्रांशम् अवतारयन्ति ज्ञानेत्यादिना. **प्रतिबन्धशङ्कायाम्** इति. श्रुतौ आत्मादेशः उक्तः. तेन च अभेदं सर्वमिति सर्वस्य आत्मत्वेन भानम् उक्तम्. एवञ्च स्वात्मनि तदभेदभावे विरहभावो न जायते इति कृत्वा सर्वात्मभावो न भविष्यति इति शङ्कायाम् इति अर्थः. शङ्कानिवारणम् आहुः **अन्तरेति**. **उपपादितम्** इति. “अस्य भजनान्दरूपफलं भवतु” इत्याकारिकायाम् इच्छायां सत्यां

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॥४५॥

तत्र आह, न अत्र वरणलिङ्गभूयस्त्वं निरूप्यते किन्तु आत्मज्ञान-प्रकारविशेषएव. तथाहि. पूर्वप्रपाठके आत्मना सह अभेदः सर्वस्य निरूपितः श्वेतकेतूपाख्यानानेन. अग्रिमे च “सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविद्” (छान्दो.उप.७।१।३) इत्यादिना नारदस्य आत्मजिज्ञासैव उक्ता. एवं सति उत्तरमपि तद्विषयकमेव भवितुम् अर्हति. अतः आत्मप्रकरणत्वाद् उभयोः प्रपाठकयोः पूर्वस्मिन् यद् अभेदः उक्तः, तस्यैव स्वरूपम् “आत्मत एव इदं सर्वम्” (तत्रैव ७।२६।१) इत्यन्तेन उक्तम् इति पूर्वोक्तप्रकाराद् अन्येन प्रकारेण आत्माभेदएव सर्वस्य उक्तः. तदेव आह. **पूर्वस्य** पूर्वप्रपाठकोक्तात्माभेदज्ञानस्य **विकल्पः** प्रकारभेदएव अग्रेऽपि निरूप्यते. तत्र उपपत्तिम् आह **प्रकरणाद्** इति. एतत्तु उपपादितम्. अत्र सिद्धान्तिसम्मतमेव दृष्टान्तम् आह तद्दृढयसंवादार्थं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वोक्तसिद्धान्तं दृढीकर्तुं सूत्रकारः सूत्रद्वयेन आशङ्कते. तद् अवतारयन्ति तत्र आह इत्याद्युक्तम् इति अन्तेन ग्रन्थेन. तत्र आह पूर्वप्रतिपादिते अर्थे वादी पूर्वपक्षम् आह इति अर्थः. अत्र पूर्वसूत्रे निरूपितः इति अर्थः. अग्रिमे नारदोक्ते. तद्विषयकं सर्वस्मिन् ब्रह्माभेदविषयकम्. **पूर्वोक्तप्रकाराद्** वरणादिसर्वात्मभावप्रकाराद्. तदेव आह आत्माभेदज्ञानमेव आह **पूर्वविकल्पः** इतिसूत्रेण सूत्रकारः आह इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः **पूर्वस्य** इत्यादिना. अग्रेऽपि नवमे अस्मिन् प्रपाठकेऽपि. एतदभेदनिरूपणम्. **उपपादितम्** एतत्सूत्रावतरणएव उपपादितम् इति अर्थः. **सिद्धान्तिसम्मतं** पूर्वपक्षे यः सिद्धान्ति तत्सम्मतम् इति अर्थः. आह सूत्रकारः आह. **तद्दृढयसंवादार्थं** वादिहृदयदृढीकरणार्थम्. **अन्यतरस्य** बाह्याभ्यन्तरपूजनयोः मध्ये

गोस्वामिश्रीमदगिरिधरविरचितं विवरणम्

विरहभावो भगवता सम्पाद्यते इति उपपादितम् इति अर्थः ॥४४॥

अत्र सूत्रद्वयेन आशङ्कां पूर्वोक्तार्थदाढ्यार्थम् आहुः पूर्वति. अवतारयन्ति तत्र इति. उक्तः इत्यन्तेन. तत्र उक्ते अर्थे पूर्वपक्षी आह इति अर्थः. **निरूपितः** इति. “तत् त्वम् असि श्वेतकेतो” (छान्दो.उप.६।८।७) “एतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (पूर्ववत्) इति महावाक्ये इति अर्थः. **तद्विषयकमेव** आत्मविषयकमेव. पूर्वोक्तमेव विशदयन्ति एतदेव आह इति. अग्रेऽपि नवमे प्रपाठकेऽपि इति अर्थः. **उपपादितम्** अवतरणग्रन्थे इति शेषः. **बाह्यं तद्** इति. **बाह्यं पूजनम्** इति अर्थः. **तद्भिन्नत्वं** पूजनभिन्नत्वम् ॥४५॥

क्रिया मानसवद् इति. यथा पूजनप्रकरणे बाह्यं तत्क्रियारूपम् उच्यते, आन्तरन्तु मनोव्यापाररूपम् उच्यते. नहि एतावता अन्यतरस्य तदिभन्नत्वं वक्तुं शक्यं, प्रकरणभेदात्. तथा इहापि इति अर्थः ॥४५॥

अतिदेशाच्च ॥४६॥

नामरूपात्मकं हि जगत्, तत् पूर्वं ‘सर्व’शब्देन अनूद्य तस्मिन् ब्रह्माभेदो निरूपितः. अग्रेतु ऋगादिविद्या अनूद्य नामात्मकब्रह्मत्वं तत्र अतिदिश्यते. “नामैव एतन्नामोपास्व” (छान्दो.उप.७।१।४) इति. इतोऽपि हेतोः ज्ञानप्रकारभेदएव अग्रे निरूप्यते इति अर्थः ॥४६॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥४७॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एकस्यापि. तदिभन्नत्वं पूजनभिन्नत्वम्. तथा इत्यादि. तथा प्रकृतेऽपि पूर्वपूर्वकारणत्वेन उत्तरोत्तराणि मुक्तिसाधनत्वेन उक्त्वा “यो वै भूमा तत् सुखम्” (छान्दो.उप.७।२३।१) इत्यनेनापि साधनान्येव उक्तानि “नान्यत् पश्यति” (तत्रैव ७।२४।१) इत्यादिकमपि मुक्तिदशाप्रतिपादनमेव नतु भगवदभिमत-विरहसर्वात्मभाव-प्रतिपादनम् इति अर्थः ॥४५॥

तत् पूर्वं नामरूपात्मकं जगत् पूर्वप्रपाठके. ‘सर्व’शब्देन अनूद्य “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.६।८।७) इति ‘सर्व’शब्देन अनूद्य. अग्रेतु अस्मिन् प्रपाठकेतु. ऋगादिविद्या नारदोक्तर्गादिविद्या. इतोऽपि हेतोः रूपात्मकप्रपञ्चे ब्रह्माभेदः तदतिदेशस्य नामप्रपञ्चे ब्रह्माभेदस्य कृतत्वाद् हेतोः इति अर्थः. तथाच अस्मिन् प्रपाठके ज्ञानप्रकारएव निरूप्यते नतु भवदभिमतभक्तिप्रकारः इति अर्थः ॥४६॥

विद्यैव सर्वात्मभावस्वरूपज्ञानविशेषिका विद्यैव इति अर्थः. निरूप्यते

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रार्थम् आहुः नाम इति. तद् जगत्. पूर्वं पूर्वस्मिन् प्रपाठके. सर्वशब्देन इति. “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.६।८।७) इति ‘सर्व’शब्देन इति अर्थः. अग्रे अस्मिन् प्रपाठके. ऋगादीति. “यद्वै किञ्च अध्यगीष्ठा” (तत्रैव ७।१।३) इत्यादिना नारदोक्ता ऋगादिविद्या अनूद्य इति अर्थः. नामात्मकेति. मनःप्रभृति-रूपात्मकं जगत् ‘तत्’शब्देन अनूद्य तत्तदात्मकब्रह्मत्वं तत्र अतिदिश्यते इति अर्थः. अग्रे अस्मिन् प्रपाठके ॥४६॥

सूत्रार्थेनैव शङ्कां निरस्यन्ति तुशब्दः इति. कथं व्यावर्तयति इत्यतः आहुः

‘तु’शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति. यदुक्तं सनत्कुमार-नारदसंवादे आत्मज्ञानप्रकारविशेषएव निरूप्यते इति, तद् न, किन्तु **विद्यैव** निरूप्यते इति.

अत्र इदम् आकृतम् : **“नायमात्मा”** (कठोप.२।२२) इति श्रुतिः इतर-साधननिषेधपूर्वकं वरणस्य साधनत्वम् उक्त्वा वृतलभ्यत्वे *हेतुं वदन् वरणविषयमपि आह **“तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्”** इति. ‘तस्य’ वृतस्य आत्मनः ‘एषः’ भगवान् ‘आत्मा’, अतएव तत्तनूरूपः सः जीवात्मा. तद्वरणस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

द्वितीयप्रपाठके निरूप्यते नतु मोक्षोपयोगिज्ञानरूपेति अर्थः. **‘विद्या’**पदेन सर्वात्मभावरूपज्ञानविशेषएव इतिनियमः तन्नियमनिर्वाहाय प्रकृतश्रुतीनां वरणश्रुत्येकवाक्यतया तात्पर्यनिर्वाहाय वरणश्रुतिं व्याकर्तुम् आहुः अत्र इत्यादि. **नायमात्मा** इति श्रुतिः इति. **“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः”** (मुण्डकोप.३।२।३) इति. **वरणविषयो** भक्तजीवः. **“तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्”** (तत्रैव) इति. मुण्डके कठवल्ल्यां च एतत् श्रुतिद्वयम् अस्ति. **तस्य** वृतभक्तजीवस्य. **एषः** पुरुषोत्तमः. **सः** जीवः पुरुषोत्तमस्य तनुरूपः. वरणं च भोगार्थम्. तनुविशिष्टस्यैव आत्मनः सर्वत्र भोगदर्शनात्. **अतएव** यतः तज्जीवस्य भगवान् आत्मा अतः तस्य तनुरूपत्वम् इति अर्थः. ननु माध्यन्दिनान्तर्यामिब्राह्मणे **“यस्यात्मा”** (बृहदा.उप.३।७।२) इत्यनेन सर्वजीवानां भगवच्छरीरत्वश्रवणात् कथम् एकान्ततो वृतजीवस्यैव तच्छरीरत्वम् इत्यतः आहुः **तद्वरणस्य** इत्यादि. तथाच **“यः**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

यदुक्तम् इति. अनुद्य **तद्** न इत्यनेन दूषयन्ति. ननु ‘विद्या’शब्देन ज्ञानसामान्यं गृह्यते नतु सर्वात्मभावरूपज्ञानविशेषः इत्यतः तदुपपत्तिं कर्तुं वरणश्रुत्येकवाक्यत्वेन प्रकृतश्रुतितात्पर्यं वक्तुं पूर्ववर्णश्रुतिं व्याकुर्वन्ति अत्र इति. मुण्डकस्था **“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्”** (मुण्ड.उप.३।२।३) इति. **उक्त्वा** इति. पादत्रयेण उक्त्वा इति अर्थः. **अतएव** इति. भगवतो वृतात्मत्वादेव. तथाच तस्य एषः आत्मा सन्नर्थात्तं स्वां तनुं वृणुते इति अन्वयः. ननु वृतस्यैव तत्तनूरूपत्वं कथम्? इत्यतः आहुः **तद्वरणस्य** इति. तथा बृहदारण्ये अन्तर्यामिब्राह्मणे आत्ममात्रस्य ब्रह्मशरीरत्वं यद् उक्तं तत्तु नियन्तव्यतार्थं स्वीक्रियते नतु वृतस्यैव इति शेषः इति भावः. अतएव गीतायाम् उक्तं

*‘हेतुत्वम्’ इति पुरु.पाठः.

आवश्यकत्वज्ञापनाय ‘स्वाम्’ इति. सर्वोहि स्वकीयां तनुम् आत्मीयत्वेन आत्मत्वेन च वृणुते, तद्विशिष्टएव भोगान् भुङ्क्ते. अतएव तैत्तिरीयको-
पनिषत्स्वपि “**ब्रह्मविदानोति परम्**” (तैत्ति.उप.२।१) इति सामान्यतो
ब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिम् उक्त्वा, अग्रिमर्चा विशेषतो अवदन् “**सत्यं ज्ञानम्
अनन्तं ब्रह्म**” (तत्रैव २।१) इति परब्रह्मस्वरूपम् उक्त्वा “**यो वेद निहितं गुहायां
परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**” (तत्रैव २।१)
इति उक्तम्. एतद् यथा तथा आनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितम् अस्माभिः.

किञ्च, पुरुषोत्तमलाभे हेतुभूतन्तु भक्तिमार्गे यद् वरणं स्वीयत्वेन
अङ्गीकाररूपं तदेव, नतु अन्यादृशमपि इति ज्ञापनाय अग्रे वदति “**नायमात्मा
बलहीनेन लभ्यः**” (मुण्ड.उप.३।२।३) इति. ‘बल’ कार्यं हि प्रभुवशीकरणम्.
तच्च “**अहं भक्तपराधीनः**” (भाग.पुरा.९।४।६३) “**वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या**”
(तत्रैव ९।४।६६) इत्यादिवाक्यैः ‘भक्त्यैव’ इति ‘बल’शब्देन भक्तिः उच्यते.
अन्यथा पूर्ववाक्यएव इतरनिषेधस्य कृतत्वात् पुनः बलाभावनिषेधं न कुर्यात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आत्मानम् अन्तरो यमयति” (बृहदा.उप.३।७।३) इति विशेषश्रावणाद् “**यम् आत्मा न
वेदः**” (तत्रैव) इत्यनेन ज्ञाननिवृत्तेश्च भक्तजीवस्यैव वरणावश्यकत्वम् अन्यथा पूर्वार्धेन
“**नायमात्मा**” (मुण्डकोप.३।२।३) इत्यादिना साधनालभ्यत्वोक्तिः अनुपपन्ना स्यात्.
भक्तभिन्नानां साधनेन मुक्तिलाभस्य श्रुतिसिद्धत्वात्. तस्मात् सर्वात्मभावरूपो भगवान्
भक्तानामेव वरणेनैव लभ्यइति तस्यैव वरणावश्यकता इति श्रुतिसिद्धम्. अतएव वरणस्य
भगवता सह सर्वभोगार्थत्वादेव. अन्यादृशं भगवतो अन्तःस्थित्वमात्ररूपम्. अन्यथा
“**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**” (मुण्डकोप.३।२।४) इति अनुपपन्नं स्याद् बलस्य
भगवद्वशीकरणहेतोः भक्तिभिन्नस्य असत्वात्. पूर्ववाक्ये “**नायमात्मा**” (तत्रैव) इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

“**श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः**” (भग.गीता ६।४७) इति.

अस्मिन् अर्थे उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. विशेषरूपेण प्राप्तिपदार्थ-
स्थकामभङ्गरूपत्वम् इति आशयेन आहुः सोऽश्नुते इति. एतद् इति. आनन्दमयाधि-करणे
रसरूपस्यैव परशब्दार्थत्वम् अक्षरस्य तस्य तद्भामत्वं तत्प्राप्तिश्च वरणेनैव इति उक्तम्.
अन्यपदम् आहुः किञ्च इति. अग्रे मुण्डके वदति. लभ्यः इति अनन्तरं “**नच प्रमादात्
तपसो वापि अलिङ्गाद्**” (मुण्ड.उप.३।२।४) इति पूरणीयम्. अत्र ‘बल’-शब्देन कथं

वरणमात्रस्य हेतुत्वम् उक्त्वा बलस्य तथात्वं च न वदेत्. एतादृशस्य हृदि भगवत्प्राकट्यं भवति इति आह “**एतैः उपायैः यतते यस्तु विद्वान् तस्य एष आत्मा विशते ब्रह्मधाम**” (मुण्ड.उप.३।२।४) इति. अस्य अर्थस्तु ‘एषः आत्मा’ आत्मनोऽपि आत्मा पुरुषोत्तमः ‘ब्रह्म’ अक्षरब्रह्मात्मकं धामः विशते इति. ‘धाम’पदं पुरुषोत्तमस्य अक्षरं ब्रह्म सहजं स्थानम् इति ज्ञापनार्थम् उक्तम्, अन्यथा न वदेत्. तेन तद्धृदये स्वस्थानम् आविर्भावयित्वा स्वयं तत्र प्रकटी-भवति इति ज्ञाप्यते. प्रकृते श्वेतकेतूपाख्याने परोक्षवादेन ब्रह्माभेदबोधनेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वयोग्यता ज्ञाप्यते. अग्रे तु न हि एतावतैव अधिष्ठाना-त्मकाक्षराविर्भावो भवति, पुरुषोत्तमस्य वा. तथा सति ज्ञानिनां सर्वेषां परप्राप्तिः स्याद्, न तु एवं, “**भक्त्याहमेकया ग्राह्य**” (भाग.पुरा.११।२४।२१) इत्यादि-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुतौ. बलस्य तथात्वं भगवत्प्राप्त्यभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्वं **बलस्य न वदेद्** इति अर्थः. तथाच वरणलभ्यभक्त्यैव पुरुषोत्तमलाभः, पुरुषोत्तमस्वरूपन्तु “**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**” (तैत्ति.उप.२।१) इति तैत्तिरीयके उक्तम्. प्रथममुण्डकेऽपि “**यद् तददृश्यम् अग्राह्यम्**” (मुण्डकोप.१।१।६) इत्यादिना सर्वकारणत्वेन अक्षरं स्तुतम्. द्वितीय-मुण्डके “**सुदीप्तात् पावकाद्**” (तत्रैव २।१।१) इत्यादिना सजातीयविजातीयकार्य-जनकत्वम् उक्त्वा “**दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सः बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो अक्षरात् परतः परः**” (तत्रैव २।१।२) इत्यनेन अक्षरभिन्नत्वेन निरूपितं बोध्यम्. ब्रह्माभेदबोधनेन अक्षरब्रह्माभेदस्य प्रथमप्रपाठके बोधनेन. एतावतैव अक्षराभेद-ग्रहमात्रेणैव. तथा सति अक्षराभेदग्रहमात्रेण आविर्भावे सति.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

भक्तिलाभः ? इत्यतः आहुः **बलकार्यम्** इति. अत्र गमकम् आहुः **अन्यथा** इति. हेत्वन्तरम् आहुः **वरणेति**. एतद् बलं पुष्टिगार्गीयमेव ग्राह्यम्. भगवदनुग्रहजन्यं भक्तिरूपमेव तद् इति बोध्यम्. एतद् उत्तरार्थम् अवतारयन्ति **एतादृशेति**. व्याकुर्वन्ति **अस्य अर्थः** इति. पूर्वं ब्रह्माभेदपरत्वम् आशङ्कितं तत्र आहुः **प्रकृते** इति. **परोक्षवादेन** अन्यार्थम् अन्यकथनरूपो यः परोक्षवादः तेन. **बोधनेन** इति. जीवस्य इति शेषः. **अग्रे तु** इति. अग्रिमप्रपाठके इति अर्थः. भक्त्यैव पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति आहुः **भक्त्याहम्** इति. सापि भगवदनुग्रहभक्तसङ्गाभ्यां जातायां भक्तौ भवति इति ज्ञापयति इति ज्ञापयितुम् उभयोः

वाक्यैः, किन्तु भगवदनुग्रहेण भक्तसङ्गेन च भक्तौ सत्याम् इति ज्ञापनाय भक्तएव तद्बोधाधिकारी इत्यपि ज्ञापयितुं भक्तस्य नारदस्य भगवदावेशयुक्तस्य सनत्कुमारस्य च संवादः उक्तः. तत्र ‘आत्म’शब्देन पुरुषोत्तम उच्यते. भक्तिमार्गेतु निरुपधिस्नेहविषयः सएव यतः. सतु सर्वात्मभावैकसमाधिगम्यइति सर्वात्मभावएव ‘विद्या’शब्देन उच्यते. परमकाष्ठापन्नं यद् वस्तु, तदेव हि वेदान्तेषु मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यम्. अक्षरब्रह्मादिकन्तु तद्विभूतिरूपत्वेन तदुपयोगित्वेन मध्यमाधिकारिफलत्वेन च प्रतिपाद्यते. तेन तत्र ‘विद्या’शब्दप्रयोगः औपचारिकः, सर्वात्मभावएव मुख्यः. युक्तं च एतत्. अक्षरविषयिण्या विद्यायाः सकाशात् ततः उत्तमविषयिण्याः तस्या उत्तमत्वम्. एवं सति पूर्वप्रपाठकस्य अक्षरप्रकरणत्वाद् उत्तरस्य पुरुषोत्तमप्रकरणत्वात् त्वद्धेतुत्वसिद्धिश्च, अतः उक्तन्यायेन **विद्यैव** अग्रिमप्रपाठके निरूप्यते, नतु पूर्वोक्तात्मज्ञानप्रकारविशेषः. अत्र हेतुम् आह निर्धारणाद् इति. “**सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्**” (छान्दो.उप.७।२२।१) इति उक्त्वा, सुखस्वरूपम् आह “**यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखम् अस्ति, भूमैव सुखं,**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सत्सङ्गेन नारदस्य सनत्कुमारसङ्गेन. तद्बोधाधिकारी सनत्कुमारोक्तो-पदेशाधिकारी. तत्र उभयोः संवादे. सएव पुरुषोत्तमएव. सर्वात्मभावएव इति. ‘एव’कारेण अक्षराभेदनिरासः. तद्विभूतित्वेन पुरुषोत्तमविभूतित्वेन प्रतिपाद्यते इति अर्थः. तदुप...इत्यादि. तथा अक्षरस्य वेदान्तेषु उपपादनं परप्राप्त्युपयोगित्वेन मध्यमाधिकारिफलार्थं वा नतु सर्वोत्तमत्वेन इति अर्थः. औपचारिकः परम्परया विद्या-साधके लाक्षणिकः इति अर्थः. त्वद्धेतुत्वसिद्धिः प्रपाठकद्वयस्यापि भिन्नप्रकरणत्वाद् वाद्युक्तैकप्रकरणे त्वद्धेतोः असिद्धिः इति अर्थः. विद्यैव सर्वात्मभावरूपा विद्यैव. अत्र पुरुषोत्तमस्य सर्वात्मभावस्य विद्यात्वे. आह सूत्रकारः आह इति अर्थः. हेतुं निरूपयन्ति “**सुखं त्वेव**” इत्यादिना. तथाच पूर्वं “**सदेव सौम्य**” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिना अक्षराभेदज्ञानम् उक्तम् अस्मिन् प्रपाठकेतु निरवध्यानन्दरूपम् उच्यते इति स्फुटः प्रकरणभेदः. भूमा गणनाशून्यः. अल्पे गणितानन्दे. ननु भूमो ज्ञानस्य सर्वात्मभाव-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

संवादः उक्तः इति अर्थः. अन्यदपि आहुः परमेति. हेत्वसिद्धिश्च इति. प्रकरणभेदे अतिदेशरूपहेत्वसिद्धिः इति अर्थः. हेतुम् अवतारयन्ति अत्र इति. व्याकुर्वन्ति सुखम् इति.

भूमा त्वेव विजिज्ञा-सितव्यः” (तत्रैव ७।२३।१) इति. अक्षरपर्यन्तं गणितानन्दत्वात् पुरुषोत्तमस्यैव आनन्दमयत्वेन निरवधिसुखात्मकत्वात् सएव भूमा, तस्यैव विजिज्ञासितव्यत्वेन निर्धारणाद् इति अर्थः. भूमनो लक्षणम् अग्रे उच्यते “यत्र नान्यत् पश्यति” (तत्रैव ७।२४।१) इत्यादिना. यस्मिन् ज्ञाते सति “नान्यत् पश्यति” इति अर्थः. तथा सति सर्वात्मभाववतः प्रभुदर्शने सत्यपि लीलोपयोगिवस्तुदर्शनादिकम् अनुपपन्नम् इति शङ्कातु “तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मनः प्राणाः” (तत्रैव ७।२६।१) इत्यादिना निरस्ता वेदितव्या. तैः सह लीलां चिकीर्षतः प्रभुतएव सर्वं सम्पद्यते नतु भक्तसामर्थ्येन इति भावेन तदुक्तेः॥४७॥

दर्शनाच्च॥४८॥

दृश्यते च सर्वात्मभाववतां भक्तानां व्रजसीमन्तिनीप्रभृतीनां पूर्वम् इतरविस्मृतिः भगवत्स्पर्शादिना अग्रे सर्वसामर्थ्यम् इति व्यासः स्वानुभवं प्रमाणत्वेन आह. उक्तं च श्रीभागवते ताभिरेव “चित्तं सुखेन भवता अपहृतं गृहेषु यद् निर्विशति उत करावपि गृह्यकृत्ये, पादौ पदं न चलतः तव पादमूलाद्”

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

रूपत्वे किं नियामकम्? अतः आहुः भूमनः इत्यादि. “नान्यत् पश्यति” (तत्रैव ७।२४।१) इत्यादि सर्वात्मभावस्वरूपम्॥४७॥

शब्देन अन्यादर्शनं साधयित्वा स्वप्रत्यक्षेण समाधिरूपेण अन्यादर्शनं साधयति इति आशयेन आहुः दृश्यते इत्यादि॥४८॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

तथाच पूर्व “सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीद्” (छान्दो.उप.६।२।१) इति सद्रूपम् आत्मानं प्रकृत्य ब्रह्माभेदज्ञानम् उपदिष्टम्. अत्रतु निरवध्यानन्दरूप-जिज्ञास्यत्वेन निर्धारयति. मुख्यसर्वात्मभावरूपैव विद्या उच्यते इति भावः. ननु ‘भूम’पदेन सर्वात्मभावः कथं लभ्यते? इत्यतः आहुः भूमनः इति. तथाच यत्र इति पदेन सर्वात्मभावलाभः इति अर्थः. ननु लक्षणे तदितरदर्शनं निषिध्यते सर्वात्मभाववतान्तु तद् दृश्यते इति तेन तल्लाभः कथम्? इत्यतः आहुः तथा सति इति. सर्वत्र भूमदर्शने सति. तैः सह प्राणादिधर्मैः सह. सम्पद्यते इति. तथाच भगवदिच्छयैव सर्वं भवति इति भावः॥४७॥

पूर्व शब्देन अन्यदर्शनं साधितम्, इदानीं प्रत्यक्षेण साधयति दर्शनाच्च इति. व्याकुर्वन्ति दृश्यते इति. स्वानुभवम् इति. स्वयं समाधौ यद् अनुभूतं तदेव उक्तं

(भाग.पुरा.१०।२९।३४) इत्यादिना. तेन ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-तिरोधानम् उक्तं भवति. अग्रे तदाविर्भावादिकं स्फुटमेव॥४८॥

ननु सनत्कुमार-नारदसंवादात्मकम् एकं वाक्यं, तत्र उपक्रमे “मन्त्रविदेव अस्मि नात्मवित् श्रुतं ह्येवं मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकम् आत्मविद् इति, सोऽहं भगवः शोचामि” (छान्दो.उप.७।१।३) इत्यादिना स्वात्मज्ञानस्यैव उपक्रमाद् उपसंहारोपि तम् आदायैव उचितः. अग्रे चेद् ‘आत्म’पदानाम् ईश्वरपरत्वं स्याद्, वाक्यभेदः उपक्रमविरोधश्च स्यात्. तस्माद् वाक्यानुरोधात् पूर्वज्ञानप्रकारविशेषएव अयम् इति मन्तव्यम् इत्यतः उत्तरं पठति

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः॥४९॥

न एवं वाक्यानुरोधाद् वरणज-सर्वात्मभावलिङ्गभूयस्त्वं बाधितव्यम्. वाक्यापेक्षया श्रुति-लिङ्गयोः बलीयस्त्वात्. एतद्बलीयस्त्वन्तु “श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्” (जैमि.सू.३।३।१३) इति जैमिनीयसूत्रे सिद्धम्. प्रकृते इतरसाधननिषेधपूर्वकं “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्” (मुण्ड.उप.३।२।३) इति श्रुतिः वरणमात्रलभ्यत्वम् आह. एतदग्रे च “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः” (मुण्ड. उप.३।२।३) इति उपक्रम्य, “एतैः उपायैः यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आन्तं समाप्तिपर्यन्तम्. एकवाक्यम् एकार्थकं विभागे साकांक्षं च इति अर्थः. स्वात्मज्ञानस्य स्वात्मना अक्षराभेदज्ञानस्य. तम् उपक्रमम्. अग्रे द्वितीयप्रपाठके. ईश्वरपरत्वम् अक्षरात् परब्रह्मपरत्वम्.

सूत्रम् अवतारयन्ति न एवम् इत्यादि. वाक्यानुरोधाद् वाक्यप्रमाणानुरोधाद् इति अर्थः. वरणजं श्रुतिप्रमाणबोधितं यद् वरणं तज्जम् इति अर्थः. श्रुतिभिः लिङ्गभूयस्त्वं प्रकटं प्रदर्शयन्ति प्रकृते इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

‘दर्शनाच्च’ इति सूत्रेण इति अर्थः ॥४८॥

ननु इत्यादिग्रन्थः स्पष्टएव. उत्तरं पठति इति. सूत्रकारः इति शेषः.

व्याकुर्वन्ति न एवम् इति. वाक्यानुरोधाद् इति. शङ्कास्थवाक्यार्थानुरोधाद् इति अर्थः. कुतो न बाधितव्यम्? इत्यतः आहुः वाक्यापेक्षया इति. सिद्धम् इति. पूर्वमीमांसायाम् इति शेषः. श्रुतिम् आहुः यमेवैषः इति.

विशते ब्रह्मधाम” (मुण्ड.उप.३।२।४।) इति श्रुतिः पठ्यते. एतच्च “विद्यैव तु निर्धारणाद्” (ब्रह्मसू.३।३।४७) इत्यत्र निरूपितम्.

अपरञ्च, “**‘नात्मवित्...तरति शोकम् आत्मविद्’**” (छान्दो.उप.७।१।३) इति नारदाक्यानुवादयोः ‘आत्म’पदम् उत्तमप्रश्नात्मकेन लिङ्गेन पुरुषोत्तमपरम् इति ज्ञायते. सहि सर्वेभ्यः उत्तमो अतो ‘ब्रह्म’ इति उपास्यत्वेन सनत्कुमारोक्तप्रतिरूपं ततः “ततो भूयो अस्ति” इति अपृच्छत्. अन्ते सर्वाधिकत्वेन सुखात्मकत्वेन भूमानं श्रुत्वा तथा न अपृच्छत्, किन्तु तत्प्राप्त्यर्थम् अत्यात्या “**‘कस्मिन् प्रतिष्ठित’**” (छान्दो.उप.७।२।४।१) इति अपृच्छत्. तदा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतत् च वरणम् आरभ्य आत्मप्रवेश-पर्यन्तम् उक्तम् च इति अर्थः. इत्यत्र इति सूत्रव्याख्याने. अपरञ्च विशेषतः पुरुषोत्तमविद्यानिर्णायकं च इति अर्थः. अग्रे उच्यते इति शेषः. “**‘नात्मविद् तरति शोकम् आत्मविद्’**” (छान्दो.उप.९।१।३). अत्र जीवात्मनो दुःखित्वाद् अक्षरात्मनश्च गणितानन्दत्वाद् एतदुभयस्माद् उत्तमात्मज्ञानादेव शोकतरणम् इति श्रुत्यर्थः. नारदाक्यानुवादयोः ‘आत्म’पदम् इति. “**‘नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वां’**” (मुण्डकोप.३।२।३), “**‘नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः’**” (तत्रैव ३।२।४) इति उपक्रम्य “**‘एतैः उपायैः यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम’**” (तत्रैव) इति श्रुतिसमुदायरूपः एको अनुवादः. द्वितीयस्तु “**‘नात्मविद् तरति शोकम्’**” (छान्दो.उप.७।१।३) इति श्रुतिरूपः. एतयोः अनुवादयोः ‘आत्म’पदम् इति अर्थः. लिङ्गेन उक्तश्रुतिसमुदायेन पुरुषोत्तमरूपबोधकलिङ्गेन इति अर्थः. प्रतिरूपम् उक्तापेक्षया उत्तरोत्तरम् अधिकम् इति अर्थः. तथा न अपृच्छद् इतोऽपि अग्रे भूयो अस्ति इति न अपृच्छद् इति अर्थः. इत्यादिना उक्तवान् भक्तानां सर्वदिक्षु

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

लिङ्गम् आहुः अपरञ्च इति. ज्ञापयति उत्तमप्रश्नात्मकेन इति. प्रथमः सनत्कुमारेण न आप्तः. उत्तमत्वम् उक्तम्. ततः “**‘भूयः किम्’**” इति आरभ्य ‘अक्षरपर्यन्तम्’ उक्त्वा ततोऽपि भूमा इति ‘आत्म’पदेन पुरुषोत्तमः उक्तः. सएव ज्ञायते इति अर्थः. अतः ‘आत्म’पदं न जीवाक्षरपदम्, आद्यस्य दुःखित्वाद्, द्वितीयस्य गणितानन्दत्वाद्, वाक्यापेक्षया लिङ्गस्य बलीयस्त्वात् पुरुषोत्तमपरमेव. ननु तथापि सर्वात्मभावबोधकस्य अत्र अदर्शनम् इत्यतः आहुः तदा इति ॥४९॥

सर्वात्मभाववत्स्वेव प्रतिष्ठित इति आशयेन सर्वात्मभावलिङ्गात्मकं भावं “स एव अधस्ताद्” (छान्दो.उप.७।२५।२५) इत्यादिना उक्तवान्॥४९॥

ननु एतया श्रुत्या न सर्वात्मभावलिङ्गात्मको भावः उच्यते, किन्तु व्यापकत्वेन सर्वरूपत्वेन स्वभिन्नाधिकरणाभावाद् अन्यत्र अप्रतिष्ठितत्वमेव उच्यते इत्यतः उत्तरं पठति.

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्॥५०॥

भूमस्वरूपं श्रुत्वा “स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः?” (छान्दो.उप.७।२४।१) इति प्रश्ने “स्वे महिम्नि” (तत्रैव) इति उत्तरम्. तदर्थस्तु स्वीयत्वेन वृते भक्ते यो ‘महिम’रूपः सर्वात्मभावः तस्मिन् इति. स्वरूपात्मके महिम्नि इति वा, भगवदात्मकत्वात् सर्वात्मभावस्य. तदितरस्य साक्षात्पुरुषोत्तमाप्रापकत्वाद् अस्यैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुरुषोत्तमभानाद् सर्वात्मभावमेव सनत्कुमारो नारदं प्रति उक्तवान् इति अर्थः॥४९॥

अग्रिमसूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. एतया श्रुत्या “स एवाधस्ताद्” (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादिना आरभ्य “आत्मैवेदं सर्वम्” (तत्रैव) इत्यन्तेन उक्तद्वितीयप्रश्नश्रुत्या. अन्यत्र स्वात्मक-स्वमहिम्नि. उच्यते सः भूमा “कस्मिन् प्रतिष्ठितः?” (छान्दो.उप.७।२४।१) इति प्रश्ने “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः” (तत्रैव) इति उत्तरं श्रुत्या उच्यते इति अर्थः. तदर्थस्तु “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः” इति श्रुत्यर्थस्तु. ‘स्व’पदस्य आत्मीयरूपम् अर्थम् आदौ उक्त्वा आत्मरूपाधिपरतया व्याख्यानम् आहुः स्वरूपात्मकः इति. तदितरस्य पूर्वोक्तसर्वात्मभावभिन्नस्य अक्षराभेदज्ञानस्य. “ब्रह्मविदानोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या अक्षराभेदज्ञानस्यापि अन्तःकरण-शोधनद्वारा पुरुषोत्तमप्रापकत्वात्. साक्षाद् इति. अयमेव “स एवाधस्ताद्” (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादिश्रुत्युक्तः पुरुषोत्तमसर्वात्मभावएव “ता नाविदन् मय्यनुषङ्ग-

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अग्रिमसूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. अनया श्रुत्या पूर्वम् उपक्रमगत-वाक्यबलेन. किन्तु इति. उत्तरश्रुतौ “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितत्वस्य” उक्त्या सर्वात्मभाववद्भक्तहृदये अप्रतिष्ठितत्वमेव उच्यते. अत्र उत्तरं पठति इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति भूमा इति. सर्वात्मभावो न उच्यते इति यद् उक्तं तत्र उत्तरम् आहुः “स्वे महिम्नि” इति उत्तरम् इति. ‘स्व’पदम् आत्मीयवाचकम् आत्मवाचकं वा. तत्र प्रथमम् आहुः स्वीयत्वेति. द्वितीयम् आहुः स्वरूपेति. तस्य महिमरूपत्वं कथम् इत्यतः आहुः

तत्प्रापकत्वात् परमकाष्ठापन्नमहित्वरूपो अयमेव भावः इति ‘महिम्’शब्देन उच्यते. स तु विप्रयोगभावोदये सत्येव सम्यग् ज्ञातो भवति व्यभिचारिभावैः. ते तु अनियतस्वभावाः इति ज्ञापयितुं त्रिविधाः. “**स एव अधस्ताद्**” (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादिना “**आत्मैव इदं सर्वम्**” (तत्रैव) इत्यन्तेन निरूप्य, भूमप्रतिष्ठा-धिकरणप्रश्ने*, यद् उत्तरितं “**स्वे महिम्नि**” (तत्रैव ७।२४।१) इति, तमेव अनु-बध्नाति, “**स वा एष**” (तत्रैव ७।२५।२) इत्यनेन, ‘तत्’शब्दस्य पूर्वपरामर्शि-त्वात्. एवं सति त्वदुक्तम् अन्यत्र अप्रतिष्ठितत्वं चेद् इह प्रतिपाद्यं स्यात्, तदा उक्तरीत्या अनुबन्धं न कुर्याद्, अहङ्कारादेशादिकं च न कुर्याद्, उक्तप्रश्नोत्तरं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

बद्धधियः स्वमात्मानम् अदस्तथेदम्” (भाग.पुरा.११।१२।१२) इत्यादिस्वरूपः. ते व्यभिचारिभावाः त्रिविधाः तिस्रो विद्याः तदादेशाहङ्कारादेशात्मादेशरूपाः ज्ञापकाः यस्य इति अर्थः. ताश्च तिस्रो विधा “**जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्**” (.....) “**कस्याश्चित् पूतनायन्त्या**” (भाग.पुरा.१०।३०।१५) इत्याद्युदाहरणेषु सर्वेषु च द्रष्टव्याः. “**स्वे महिम्नीति**” इति “**स्वे महिम्नि**” इति श्रुत्या कृत्वा. तमेव पूर्वोक्त-सर्वात्मभावमेव. अनुबध्नाति सर्वात्मभाववद्भक्ते नियमयति. भक्तसर्वात्मभाव-नियामकत्वं पूर्वश्रुतेः अस्ति. तत्र प्रमाणम् आहुः “**स वा एषः**” (छान्दो.उप.१।२५।२) इत्यादिना “**स वा एष एवं पश्यन्**” इत्यत्र शब्दस्य पूर्वोक्तसर्वात्मभाववद्-भक्तपरामर्शकत्वाद् तस्यैव दर्शनाद्युच्यतइति पूर्वोक्तभक्तएव महिमाधिकरणमिति भक्तएव भूम्नः प्रतिष्ठा उक्ता इति फलितम्. इह “**स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः**” इति श्रुतौ.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

तदितरस्य इति. सच कथं ज्ञायते इत्यतः आहुः स तु इति. ते तु इति. व्यभिचारिभावाः इति अर्थः. तमेव इति. ‘महिम्’पदोक्तं भावमेव इति अर्थः. पूर्वैति. उक्तमहिमवद्भक्तेति अर्थः. सूत्रैकदेशे योजनात् इत्थम्. न बाधः इति पूर्वसूत्रस्थम् अत्र अनुवर्तते. अनुबध्नाति इति अनुबन्धः पचाद्यच्. उक्तम् अनुलक्ष्यीकृत्य बध्नाति नियमयति इति अनुबन्धः. “**सः एषः एवं पश्यन्**” इति वाच्यः. सः इति पूर्वपरामर्शः. सच तदादयश्च इति अनुबन्धादयः. द्वन्द्वः. तेभ्यो अनुबन्धादिभ्यः चतुर्भ्यो हेतुभ्यः सर्वात्मभावएव दृढीक्रियते न तस्य बाधः इति.

इदानीं परोक्तं दूषयन्ति एवं सति इत्यादिना. अनुबन्धादिविचारेण श्रुतेः

*‘करणक’ इत्यपि पाठः.

स्वान्यवस्त्वभावाद् न क्वापि इत्येव वदेत्. तस्माद् अस्मदुक्तएव मार्गो अनुसर्तव्यः. ‘आदि’पदात् त्रिविधा ये भावाः उक्ताः, तेषामपि स्वरूपम् “एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्” (तत्रैव ७।२५।२) इति क्रमेण यद् निरूपितं तद् उच्यते. पूर्वं हि अतिविगाढभावेन तदितरास्फूर्त्या तमेव सर्वत्र पश्यति. एतदेव उक्तम् “एवं पश्यन्” इत्यनेन. ततः किञ्चिद् बाह्यानुसन्धाने अहङ्कारादेशो भवति सत्तु अहमेव सर्वतः स्वकृतिसामर्थ्येन तं प्रकटीकरिष्ये इति मनुते. करोति च तथा. अतएव अन्वेषणगुणगाने कृते ताभिः. एतदेव उक्तम् “एवं मन्वानः” इत्यनेन. ततो निरुपधिस्नेहविषयः पुरुषोत्तमः ‘आत्म’ शब्देन उच्यतइति तदादेशो भवति. तदा पूर्वकृतस्वसाधनवैफल्यज्ञानेन अतिदैन्ययुक्तसहजस्नेहजविविधभाववान् भवति. तद् एतत् उक्तम् “एवं विजानन्” इत्यनेन. अतएव उपसर्गः उक्तः. ततो अतिदैन्येन आविर्भावे सति या अवस्थाः ता निरूपिता ‘आत्मरतिः’ इत्यादिना. अत्र ‘आत्म’शब्दाः पुरुषोत्तमवाचका ज्ञेयाः. अन्यथा औपचारिकत्वं स्यात्. मुख्ये सम्भवति तस्य अयुक्तत्वात्. ननु सर्वात्मभावस्यापि मुक्तौ पर्यवसानम्, उत न? इति संशयनिरासाय दृष्टान्तम् आह प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् इति. मुमुक्षुभक्तस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तरीत्या इत्यादि. “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः” इति, “स वा एष एवं पश्यन्” इति श्रुतिभ्यां सर्वात्मभावस्य तादृशदर्शनस्य च तादृशभक्ते नियमनं कुर्याद् इति अर्थः. अहङ्कारेत्यादि. तदादेशाहङ्कारादेशात्मादेशादिरूपाः सर्वात्मभावबोधिकाः तिस्रो अवस्थाश्च न वर्णयेद् इति अर्थः. तस्माद् उक्तश्रुतीनां त्वदुक्तरीत्या व्याख्यानासम्भवात्. ‘आदि’पदात् सूत्र‘स्थादि’पदात्. त्रिविधः तदादेशाहङ्कारादेशात्मादेशादि-शब्दैः बोध्या. तत्र आदौ तदादेशस्य आत्ममात्रस्फूर्तिरूपस्य आदौ स्वरूपं निरूपयन्ति पूर्वं हि अति... इत्यादिना. पूर्वम् अहङ्कारात्मदेशाभ्यां पूर्वम्. तदितरास्फूर्त्या भगवदतिरिक्तास्फूर्त्या. अहङ्कारादेशस्वरूपम् आहहुः ततो निरुपधि इत्यादिना सूत्रांशान्तरव्याख्यानम् आहुः ननु इत्यादि. प्रज्ञान्तरं पृथक्त्ववद्. अन्या प्रज्ञा प्रज्ञान्तरं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सामञ्जस्ये सति. तस्माद् इत्यनेन सम्बन्धः. ‘आदि’पदोक्तानां स्वरूपं व्याख्यातुम् आहुः आदीति. व्याकुर्वन्ति पूर्वम् इति. एतदेव इति. एतादृशं दर्शनमेव. सत्तु इति. अहङ्कारादेशवांस्तु. अग्रिमग्रन्थं योजयन्ति ततो अतीति. सूत्रांशम् अवतारयन्ति ननु इति. दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति मुमुक्षुभक्तस्य इति. एवञ्च अन्या प्रज्ञा इति प्रज्ञान्तरं तत्कृतं

स्वेष्टदातृत्वेन भगवद्विषयिणी या प्रज्ञा, सा सर्वात्मभाववद् भक्तप्रज्ञातः प्रज्ञान्तरम् इति उच्यते. तच्च कर्मज्ञानतदितरभक्तप्रज्ञाभ्यः पार्थक्येन तदिष्टमेव साधयति यथा, तथा सर्वात्मभाववतो भक्तस्य यत्प्रकारिका भगवद्विषयिणी प्रज्ञा, तमेव प्रकारं सः भावः साधयति, न अन्यमिति न मुक्तौ पर्यवसानम् इति अर्थः. अत्र व्यासः स्वानुभवं प्रमाणत्वेन आह **दृष्टश्च** इति. उक्तभाववतो भक्तस्य प्रभुस्वरूप-दर्शनाद्यरिक्तफलाभावो अस्माभिरेव दृष्टः इति अर्थः. एतादृशाः अनेके दृष्टा इति न एकस्य नाम गृहीतम्. अत्र शब्दमपि प्रमाणम् आह **तदुक्तम्** इति. भगवता इति शेषः. श्रीभागवते दुर्वाससं प्रति “**अहं भक्तपराधीनः**” (भाग.पुरा.९।४।६३) इति उपक्रम्य “**वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा**” (तत्रैव ९।४।६६) इति. यो हि यद्वशीकृतः स तदिच्छानुरूपमेव करोति, अतो न सायुज्यादिदानं किन्तु भजनानन्ददानमेव. तेषां मुक्त्यनिच्छातु

“**मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयं,
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतं,
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ-दर्शिनः,
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत,
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः**”

(भाग.पुरा.९।४।६८-६९) इत्यादिवाक्यसहस्रैः निर्णीयते ॥५०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सर्वात्मभाववद्भिन्नपुरुषोत्तममुमुक्षुभक्तप्रज्ञारूपं यस्मिन् यथा अन्यमुमुक्षुप्रज्ञापृथक्त्वं तद्वत् सर्वात्मभावस्यापि मुक्तिपर्यवसायिभिन्नत्वं बोध्यम् इति अर्थः. **तदिष्टं** मोक्षरूपं “तमेव” “सोऽश्नुते सर्वान् कामान्” इत्याद्युक्तमेव रूपम्. **सः भावः** उक्तसर्वात्म-भावः. **अत्र** सर्वात्मभावस्य उक्तरूपफलसार्धकतायाम् ॥५०॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पृथक्त्वं प्रज्ञान्तरपृथक्त्वम्. षष्ठ्यर्थे वतिः. प्रज्ञान्तरफलस्यैव एतत्फलस्यापि पृथक्त्वमेव इति न एतस्य बाधः इति भावः. अग्रिमसूत्रांशम् अवतारयन्ति **अत्र व्यासः** इति. **अस्माभिरेव** इति. व्यासोक्तेः. शेषम् अवतारयन्ति **अत्र शब्दम्** इति. निर्णीयते इति. एवञ्च ज्ञानमार्गे भगवद्दर्शने हृदये ग्रन्थिभेदनं नानावृत्त्यनुदयरूपम्. अत्रतु सर्वग्रन्थिनां विप्रमोक्षो भगवद्विषयकनानावृत्त्युदयेऽपि एकत्वपर्यन्तानिच्छारूपः इति दर्शनभेदाद् फलभेदः तत्क्रतुन्यायादपि उपपन्नः इति भावः ॥५०॥

न सामान्यादपि उपलब्धेः मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१॥

ननु “नान्यत् पश्यति” (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्यारभ्य सर्वस्य प्रपाठकस्य सर्वात्मभावनिरूपकत्वोक्तिः अनुपपन्ना. अतएव ‘आत्म’पदानां पुरुषोत्तमपरत्वोक्तिश्च. यतः तस्य मुक्तावपि कामाभावः प्रतिपाद्यते. अत्रतु तस्य “सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (छान्दो.उप.७।२५।२) इति श्रुतिः पठ्यते. एवं सति न तन्निरूपणम् अत्र इति वा वाच्यं, तद्भाववतोऽपि अन्यकामवत्वम् इति वा. द्वितीयस्य उक्तप्रमाणपराहतत्वेन आद्यपक्षएव आश्रयणीयः इति पूर्वपक्षं निरस्यति न इति. तत्र हेतुम् आह सामान्यादपि उपलब्धेः इति. तत्समान-धर्मयोगादपि तत्प्रयोगः श्रुतौ उपलभ्यते अनेकशो यतः प्रकृतेऽपि विविधानां

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तस्य अन्यदर्शनाभाववतः. मुक्तावपि अक्षरमुक्तावपि इति अर्थः. अत्रतु सर्वात्मभाववद्भक्तिप्रतिपादक-सनत्कुमारवाक्ये. एवं सति अकामकत्वबोधक-कपिलस्मृतेः कामचारबोधकश्रुतिविरोधे सति. न तन्निरूपणं न सर्वात्मभावनिरूपणम्. अत्र सनत्कुमारश्रुतिषु. तद्भाववतः सर्वात्मभाववतः. इति वा न वा. न वाच्यम् इति अर्थः. द्वितीयस्य सकामत्वबोधकश्रुतिवाक्यस्य. उक्तप्रमाणेत्यादि. “दीयमानं न गृह्णन्ति” (भाग.पुरा.३।२९।१३) इति कपिलस्मृतिपराहतत्वेन इति अर्थः. आद्यपक्षो अकामत्वपक्षः. न इति इत्यादि. पूर्वम् उक्तं सर्वात्मभावो अत्र निरूपणीयः इति तद् न इति अर्थः. तत्र सर्वात्मभावस्य सर्वथा निरूपणीये. हेतुम् आह सूत्रकारः हेतुम् आह. हेतुं व्याकुर्वन्ति तत्समानधर्मयोगाद् इति. तथाच लोके सुखभोगरमणादयः प्रसिद्धाः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अवतारयन्ति ननु इति. परत्वोक्तिश्च इति. अनुपपन्ना इति. पूर्वण अन्वयः. यतः कारणात् तस्य सर्वात्मभावः प्रतिपाद्यते श्रीभागवते कपिलवाक्य-रूपस्मृतौ. एवं सति श्रुतिस्मृत्योः विरोधे सति. वाच्यं वक्तव्यम्. द्वितीयपक्षम् आहुः तद्भाववतोऽपि इति. सर्वात्मभावः इति अर्थः. पूर्वपक्षं खण्डयन्ति न इति इति. सौत्रं हेतुवाक्यं विशदयन्ति तद् इति. तत्समानेति. विविधसुखविशिष्टलोकसमानयोगाद् इति अर्थः. तत्प्रयोगाद् इति अर्थः. तत्प्रयोगः भगवत्सम्बन्धिषु पूर्वोक्तेषु रतिक्रीडादिषु सुखरूपेषु पदार्थेषु ‘लोक’पदप्रयोगः इति अर्थः. तथाच “सर्वेषु लोकेषु कामाचारो भवति” (छान्दो.उप.९।२५।२) इति श्रुतौ लोकपदं न इन्द्रादिलोकपरम् इति भावः. अनेकशः इति. “अजाम् एकाम्” (श्वेता.उप.४।५) इत्यादौ “सृष्टीः उपदधाति”

लोकानां विविधसुखप्रधानत्वाद् भगवत्सम्बन्धिषु सर्वेषु सुखेषु कामचारो भवति इति श्रुतेः अर्थो ज्ञेयः. ननु यथाश्रुतएव अर्थो अस्तु, तत्र आह **नहि लोकापत्तिः** इति. सर्वात्मभाववतः इति. प्रकरणाद् **“नान्यत् पश्यति”** इत्यादिधर्मविशिष्टस्य आत्मनः प्राणादिसर्ववतो लोकसम्बन्धो युक्तिसहोऽपि न इति ज्ञापनाय हि शब्दः. किञ्च एतदग्रे, **“न पश्यो मृत्युं पश्यति”** (तत्रैव ७।२६।२) इति श्रुत्या यथा मृत्युनिषेधः क्रियते, तथा **“आत्मतएव इदं सर्वम्”** (तत्रैव ७।२६।२) इति श्रुत्या ‘एव’कारेण आत्मातिरिक्तव्यवच्छेदः क्रियतइति मृत्युवल्लोकोऽपि न सम्बध्यते इति आह मृत्युवद् इति. तत्र रोगादीनामपि दर्शननिषेधे सत्यपि मृत्योरेव यद् निदर्शनम् उक्तं, तेन भक्तानां लोकान्तरसम्बन्धः तत्तुल्यः इति ज्ञाप्यते. अतएव **“नोत दुःखम्”** (तत्रैव ७।२६।२) इति दुःखसामान्यनिषेधो अग्रे कृतः॥५१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तेषां सादृश्यं सर्वात्मभावाद् भक्तानां भगवत्सम्बन्धि-रमणादिष्वपि तिष्ठति इति सर्वलोकसुखापेक्षयापि अस्य सुखस्य उत्कृष्टत्वेन ‘सर्वलोक’पदप्रयोगः कृतो नतु इहापि सुखं लोकसुखं भवतीति हेतुना श्रुतितात्पर्यं प्रदर्शितम्. **यथाश्रुतएव अर्थः** इति. **“सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति”** (छान्दो.उप.७।२५।२) इति श्रुतेः भक्तानां पुरुषोत्तमसम्बन्धिनां सर्वलोकसम्बन्धिसुखानुरूपएव अर्थो भवतु नतु तत्सदृशालौकिक-सुखानुभवरूपो अर्थः इति अर्थः. **आत्मनः** इत्यादि. भगवत्सम्पादितदेहेन्द्रियान्तःकर-णादिसकलधर्मवतः सर्वात्मभाववद्भक्तस्य इति अर्थः. एतद् अग्रे **“नान्यत् पश्यति”** (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्यादिश्रुतेः अग्रे. **“न पश्यो मृत्युं पश्यति”** (तत्रैव ७।२६।२) इति श्रुतिः. तथाच चतुर्मुखलोकपर्यन्तानां पुनरावृत्तिदर्शनाद् एतस्य मृत्युनिषेधाद् लोकातीतत्वम् अवगम्यते. एतदेव आहुः **“आत्मत एवेदं सर्वम्”** (तत्रैव ७।२६।१) इति. **आत्मातिरिक्तव्यवच्छेदः** परमानन्दभोगसाधनेषु आत्मातिरिक्त-व्यवच्छेदः सुखे च इति बोध्यम्. **तत्तुल्यो** रोगदुःखादितुल्यः इति अर्थः॥५१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

(.....) इत्यादौ च. सूत्रांशम् अवतारयन्ति ननु इति. यथाश्रुतार्थग्रहणं न कर्तव्यम् इत्यत्र सौत्रं दृष्टान्तं विशयदन्ति किञ्च इति. व्यवच्छेदः इति. प्रापञ्चिकसर्वस्य इति शेषः॥५१॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः॥५२॥

अत्र हेत्वन्तरम् आह अस्मिन्नेव श्लोके “सर्वम् आप्नोति सर्वशः” (छान्दो.उप.७।२६।२) इति परेण पादेन शब्दस्य श्रुतिवाक्यस्य “आत्मतएव इदं सर्वम्” (तत्रैव ७।२६।२) इति यत् पूर्वं श्रुतिवाक्यं तद्विधितैव प्रतीयतेइति न लोकसम्बन्धो वक्तुं शक्यः इति अर्थः. ननु “आत्मतएव इदं सर्वम्” (तत्रैव) इतिवाक्येनैव एतदर्थलाभे पुनः तदुक्तिः न उचिता इति आशङ्कायां तत्र हेतुम् आह. तुशब्दः शङ्कानिरासे. भूयस्त्वाद् हेतोः. उक्ते अर्थे हेतूनां बाहुल्ये तद्दाढ्यं भवति इति आशयेन उक्तार्थस्यैव श्लोकेन अनुबन्धः कृतः इति अर्थः. अथवा ‘भूयः’पदम् आधिक्यार्थकम्. तथाच स्वकृतसाधनसाधितफलापेक्षया स्वयम् उद्यम्य भगवता साधितफले निरवधिः उत्कर्षः इति ज्ञापनाय पुनः श्लोकेन तथा इति अर्थः॥५२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अत्र भक्तभावानां लौकिकत्वाभावे. अस्मिन् इत्यादि “न पश्यो मृत्युं पश्यति” (छान्दो.उप.७।२६।२) इत्यादिश्लोके. पादान्तरेण तुरीयेण “सर्वम् आप्नोति सर्वशः” (पूर्ववत्) इत्यनेन इति अर्थः. शब्दस्य “सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (तत्रैव ७।२५।२) इति श्रुतिवाक्यस्य. पूर्वं कामचारश्रुतेः “आत्मनएव इदं सर्वम्” इति श्रुतिवाक्यं पूर्वम्. तद्विधितैव आत्मसम्पादितसम्पत्तिमत्तैव. न लोकसम्बन्धो भक्तेषु न लोकसम्बन्धः इति अर्थः. एतदर्थलाभे भक्तसम्बन्धिनिखिलपदार्थानाम् अलौकिक-त्वलाभे. पुनः तदुक्तिः अलौकिकत्वसाधकहेत्वन्तराणां श्रुतिभिः उक्तिः. शङ्कानिरासे हेत्वन्तरोपन्यासः किमर्थम् इति शङ्कायाः निरासे. तथाच “आत्मतएव इदं सर्वम्” इति भावः. ‘भूयः’पदं सूत्रस्थ ‘भूयः’पदम्. हेतुबाहुल्यापेक्षया विशेषतः तुष्टार्थबोधनाय आहुः अथवा इत्यादि. ‘भूयः’पदसूचितार्थम् आहुः तथाच इत्यादिना. स्वकृतं जीवकृतम्. पुनः श्लोकेन पूर्वम् “आत्मतएव इदं सर्वम्” इति श्रुत्या बोधनेऽपि ‘आत्म’पदस्य जीवसाधारण्याद् भगवद्दत्तासाधारण-फललाभसूचनाय “सर्वम् आप्नोति सर्वशः” (तत्रैव ७।२६।२) इति श्रुत्या पुनः फलस्य अनुबन्धः कृतः. तथा अनुबन्धः इति अर्थः॥५२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रं व्याकुर्वन्ति अस्मिन् इति. न लोकसम्बन्धः इति. प्रापञ्चिकेति शेषः. सूत्रशेषम् अवतारयन्ति ननु इति. व्याकुर्वन्ति तुशब्दः इति. अनुबन्धः इति. अनुबध्यते पूर्वोक्तं सम्बध्यते इति अनुबन्धः. अर्थान्तरम् आहुः अथवा इति. तथा इति अर्थः

एक आत्मनः शरीरे भावात्॥५३॥

उक्ते अर्थे श्रुत्यन्तरसम्पत्तिमपि आह एके शाखिनः तैत्तिरीयाः, शरीरे भक्तशरीरे हृदयाकाशे इति यावत्, तत्र आत्मनो भगवतो भावाद् आविर्भावात् तेन सह सर्वकामोपभोगं वदन्तीं श्रुतिं पठन्ति “सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति. अत्र उपक्रमे “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” इतिश्रुतिः अक्षरब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिं सामान्यतः उक्त्वा, विशेषतः कथनार्थं “तद् एषा अभ्युक्ता” (तत्रैव) इति वाक्यं तद् ब्रह्मप्रतिपाद्यत्वेन अभिमुखीकृत्य एषा वक्ष्यमाणा ऋक् परब्रह्मविद्भिः उक्ता इति उक्त्वा एवम् उक्तवती “सत्यं ज्ञानम्” इति. परब्रह्मस्वरूपम् अनुभवैकवेद्यं, न शब्दादिभिः वेद्यम् इति ज्ञापनाय स्वयं तत्तत्त्वप्रतिपादिकापि अन्यमुखेन उक्तवती. अत्र ब्रह्मणा सह सर्वकामोपभोगः उक्तः इति एतदेकवाक्यतायै “सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (छान्दो.उप.७।२५।२) इति श्रुतेरपि उक्तएव अर्थो मन्तव्यः॥५३॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे सप्तदशं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्॥१७॥

व्यतिरेकः तद्भावाभावित्वाद् न तूपलब्धिवत्॥५४॥(३।३।१८)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्ते अर्थे “सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (छान्दो.उप.७।२५।२) इति अर्थस्य अलौकिकस्वरूपे अर्थे. उक्तएव अर्थः “सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तं सर्वकामाशनमेव सर्वलोककामचार-वाक्यस्यापि अर्थः. प्रकटार्थम् अन्यद्॥५३॥१७॥

पूर्वाधिकरणान्ते “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. अनुबन्धः इति अर्थः ॥५२॥

भाष्यम् अत्र स्पष्टार्थम्. अस्मिन् अधिकरणे भक्तिस्वरूपं सर्वात्मभावस्वरूपं सर्वसाधनापेक्षया अधिकम् इति बोधितव्यम्. अत्र सर्वमतविचारस्तु प्रकाशे अनुसन्धेयः ॥५३॥१७॥

पूर्वं “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुतिः सम्मतत्वेन

१. ‘उक्त्वा ताम्’ इति पाठः. ‘इत्युक्तामुक्तवती’ इति पुरु.पाठः. २. ‘शब्दादिवेद्यम्’.

ननु “ब्रह्मविदानोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या अक्षरब्रह्म-विदः परब्रह्मप्राप्तिः उच्यते. तत्र इतरसाधनसापेक्षं ब्रह्मज्ञानं परं प्रापयति, उत तन्निरपेक्षम्? इति भवति संशयः. अत्र श्रुतौ तन्मात्रोक्तेः इतरनिरपेक्षमेव तत् तथा इति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तस्तु, एवं सति ज्ञानमार्गीयाणामपि परप्राप्तिः स्यात्. सा तु अनेकप्रमाणबाधिता इति पूर्वम् अवोचाम. किञ्च, ज्ञानशेषभूत-ब्रह्मापेक्षया फलात्मकस्य परस्य मुख्यत्वात् “तद् एषा अभ्युक्ता” (तैत्ति.उप. २।१) इति श्रुतिः तदेव प्रतिपाद्यत्वेन अभिमुखीकृत्य ‘ऋग् उक्ता’ इति आह. तेन तत्र ब्रह्म-पदे पुरुषोत्तमपरे ज्ञायेते. तथाच गुहायां यदि आविर्भूतं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सम्मतिरूपा उक्ता प्रसङ्गात् तदर्थविचाराधिकरणान्तरम् आरभते इति अवतारयन्ति ननु इत्यादि. तत्र अक्षरब्रह्मज्ञानस्य परब्रह्मप्राप्तिश्च संशयबीजम्. तद् अक्षरज्ञानं तथा पुरुषोत्तमप्रापकम्. एवं सति केवलाक्षरज्ञानस्य पुरुषोत्तमप्रापकत्वे सति. अनेक-प्रमाणेत्यादि. “यमेवैष वृणुते” (मुण्ड.उप.३।२।३), “भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः” (भाग.पुरा.११।१४।२१) इत्याद्यनेकप्रमाणेति अर्थः. ऋगुक्तेति आह इति. श्रोतन् अभिमुखीकृत्य पुरुषोत्तमसाक्षात्कारविद्भिः. एषा “सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्” (तैत्ति.उप. २।१) इति ऋगुक्ता इति अर्थः. तेन पुरुषोत्तमप्रतिपादकतया एतादृङ्निर्वचनेन. तत्र “सत्यं ज्ञानमनन्तम्” इति ऋचि. ‘ब्रह्म’पदे “अनन्तं ब्रह्म” इति ‘ब्रह्म’पदं “सह ब्रह्मणा” इति ‘ब्रह्म’पदम् एते ‘ब्रह्म’पदे इति अर्थः. पुरुषोत्तमपरे तत्र आविर्भूत-पुरुषोत्तम-प्रत्यक्ष-तात्पर्यके. तथाच इत्यादि. एवं सति अग्रे तद्ब्रह्मदयाकाशे

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उक्ता. तदर्थविचारार्थम् अधिकरणम् आरभते व्यक्तिरेकेति. व्याकुर्वन्ति. अवतारयन्ति ननु इति. संशयम् आहुः तत्र इति. पूर्वपक्षम् आहुः अत्र इति. तन्मात्रोक्तेः इति. “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” इति एतावन्मात्रोक्तेः इति अर्थः. पूर्वम् अवोचाम इति. “नायामात्मा बलहीनेन लभ्यः” (मुण्ड.३।२।४), “यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः” (तत्रैव ३।२।३), “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता १८।५५) इति अनेकप्रमाणबाधितेति पूर्वाधिकरणे अवोचाम इति अर्थः. अयम् अर्थः श्रुतेरेव उत्पद्यते इति आहुः किञ्च इति. ज्ञानशेषभूतेति. “ब्रह्मविदानोति परम्” इति वाक्ये ज्ञानविषयीभूतः इति अर्थः. ऋक्प्रतिपाद्यम् आहुः तथाच इति. परमव्योमाविर्भावस्तु न ज्ञानमार्गीयाणाम् इति सूत्राद् अर्थम् आहुः तथाच इति. तत्र हेतुः नास्ति इति आहुः

‘परमं व्योमः पुरुषोत्तमगृहात्मकम् अक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं भवति, तदा तत्र भगवान् आविर्भवतीति तत्प्राप्तिः भवति इति उच्यते “यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्” (तत्रैव २।१) इत्यनेन. तथाच, ज्ञानिनां गुहासु परमव्योमो व्यतिरेक- एव. तत्र हेतुः, तद्भावाभावित्वाद् इति. “यमेवैष वृणुते” (कठोप. २।२२) इति श्रुतेः वरणाभावे भगवद्भावस्य असम्भवाद्, ज्ञानिनां तथावरणाभावाद् भगवद्-विषयको भावो न भावीति तथा इति अर्थः. ननु ज्ञानविषयत्ववद् आविर्भावोऽपि अस्तु, किञ्च, तदतिरिक्तम् आविर्भावमपि न पश्यामः इति आशङ्कायाम् आह न तूपलब्धिवद् इति. उपलब्धिः ज्ञानं, तद्वद् गुहायाम् आविर्भावो न भवति इति अर्थः. यस्मै भक्ताय यल्लीलाविशिष्टं स्वस्वरूपम् अनुभावयिता प्रभुः भवति,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वविशिष्टे ‘परमव्योम’पदवाच्ये अक्षरे आविर्भूते सति “सो अश्नुते” (तैत्ति.उप. २।१) इत्यादिरूपं फलं भवति इति पर्यविसतो अर्थः. तदा वैकुण्ठाविर्भावकाले. तत्र हृदये. पूर्वसूत्रार्थं श्रुत्या उक्त्वा सूत्राक्षरैः व्याख्यानम् आहुः तथाच इत्यादि. गुहासु हृदयेषु. परमव्योमः पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वविशिष्टाक्षरस्य. व्यतिरेकः आविर्भावाभावः. तत्र तादृशानाविर्भावे. तद्भावाभावित्वाद् इति इति. तद्भावस्य अभावित्वं तद्भावाभावित्वम्. तद्भावस्य पुरुषोत्तमाधिष्ठानेषु विशिष्टपरमव्योमाविर्भाव-कारणस्य सर्वात्मभावस्य. अभावित्वाद् “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्” (कठोप. २।२२) इति श्रुतिभ्याम् उक्तवरणरूपकारणस्य अभावेन कार्यभूत-सर्वात्मभावस्य तेषु असम्भावित्वाद् इति अर्थः. ज्ञानविषयवद् इत्यादि. तथाच ज्ञानिनां हृदये यथा अक्षरविषयताशालिज्ञानम् आविर्भवति तथा तादृशपरम-व्योमाविर्भावोऽपि आस्ताम् इति अर्थः. पुरुषोत्तमाधिष्ठानवत्त्वं परमं व्योमापि अक्षरमेव नतु तदतिरिक्तं विशिष्टस्य अनतिरिक्तत्वाद् इति अर्थः. किञ्च इत्यादि. तद्वद्गुहायाम् इत्यादि. ज्ञानाविर्भावविज्ञानिगुहायां तादृशपरमव्योमाविर्भावो न भवति इति अर्थः. ननु पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वविशिष्टाक्षरस्य अतिरिक्तत्वाभावाद् शुद्धाक्षरस्य ज्ञानिगुहायाम्

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

यमेव इति. सूत्रांशम् अवतारयन्ति ननु इति. यथा अक्षरस्य ज्ञानविषयत्वं तथा आविर्भावोऽपि भविष्यति इति अर्थः. तदतिरिक्तम् इति. अक्षरब्रह्मातिरिक्तम् इति अर्थः. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति उपलब्धिः इति. अनाविर्भावे हेतुम् आहुः यस्मै इति.

१. ‘परं’. २. ‘चोपपादितम्’ इति पुरु.पाठः. ३. मायासम्बन्धः.

तद्गुहायां तल्लीलाश्रयभूतम् अक्षरस्वरूपं वैकुण्ठलोकवद् आविर्भावयतीति न उक्तशङ्कालेशोऽपि. यत्र पुरुषोत्तमस्य चाक्षुषत्वं, तत्र ततो अधःकक्षस्य तस्य तथात्वे का शङ्का नाम एतद् उपपादितं पूर्वं, विद्वन्मण्डने च.

ननु ज्ञानिज्ञानविषयभक्तगुहाविर्भूताक्षरयोः भेदो अस्ति न वा ? न आद्यः, मानाभावाद्, एकत्वेनैव सर्वत्र उक्तेः. न द्वितीयः. निरवयवस्य क्वचिद् लोकरूप-त्वात्तद्रूपत्वाभ्याम् एकत्वानुपपत्तेः इति चेद्, मैवम्. लोकरूपत्वस्य पश्चाद्भावित्वे हि इयम् अनुपपत्तिः, नतु एवं, किन्तु अक्षरस्वरूपमेव तथा इति श्रुतिः आह. **“अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्ये”** (तैत्ति.आर.१०।१।१) इत्युपक्रम्य **“तदेव भूतं तदु**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आविर्भावे किम् अवशिष्यते इत्यतः आहुः **यस्मै** इत्यादि. तथाच यादृशी वरण-सर्वात्मभावादिसामग्री यस्य वर्तते तस्मिन् तादृशलीलाविशिष्टमेव आविर्भावयितुम् इच्छति प्रभुः नतु नियमेनेति न कापि अनुपपत्तिः इति भावः. ननु तादृशवैकुण्ठात्मकाक्षरस्य आविर्भावेन भक्तानां दर्शनम् उक्तं तद् अनुपपन्नम्, अक्षरस्य अदृश्यत्वादिगुणकत्वस्य श्रुतौ उक्तत्वाद् इत्यतः आहुः **यत्र** इत्यादि. **तस्य तथात्वे** अक्षरस्य चाक्षुषत्वे. **पूर्वम्** इत्यादि. **“कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृतचक्षुः”** (कठोप.१।१) इति श्रुत्या सति वरणे दिव्यचक्षुःलाभेन अक्षरस्यापि ज्ञानम् उक्तम् इति अर्थः.

अक्षरस्वरूपं विशदीकृत्य प्रदर्शयितुम् आहुः **ननु** इत्यादि. **न आद्यो** न भेदः. **सर्वत्र “एकमेवाद्वयम्”** (अध्यात्मो.६३) इत्यादिश्रुतिषु इति अर्थः. **न द्वितीयो** न

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

लोकवद् इति. लोकविशिष्टम्. तथाच आविर्भावो दर्शनविषयत्व-योग्यता नतु ज्ञानमात्रम्. भगवतो ज्ञानिनां प्रति तदनुभावेनेच्छायाः अभावाद् न परप्राप्तिः. तेषां भक्तिसत्त्वेतु तत्प्राप्तिः इति भावः. ननु समन्वयाध्याये अदृश्यत्वादिगुणकस्य अक्षरस्य उक्तत्वाद् न इदं साधीयः इति आशङ्क्यायाम् आहुः **यत्र** इति. वरणेतु पुरुषोत्तम-चाक्षुषत्वं वरणश्रुतौ उक्तं **“कश्चिद् धीरः”** (कठोप.४।१) इति श्रुत्या. **तस्य** अक्षरस्य. **तत्र ततो अधःकक्षम्** इति कैमुतिकन्यायावतारः साधनसम्पत्तौ. अतः सर्वादृश्यतेऽपि दृश्यत्वे विरोधाभावः इति अर्थः. अक्षरस्वरूपविचारं शङ्कते **ननु** इति. **अक्षरयोः** इति. ज्ञानविषयो भक्तगुहाविर्भूतश्च एतद् उत्तरं लोकस्वरूपतद्भिन्नम् इति अनुपपत्तेः इति अर्थः. समाधानम् आहुः **मा एवम्** इत्यादिना **निर्णीतम्** इत्यन्तेन. **इयम्** इति. भेदो अस्ति वा न वा इति इयम् इति अर्थः. **नतु एवं** न स्वरूपभेदः.

भाव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन्” (तत्रैव १०।१०।१). एतदग्रे च “यमन्तःसमुद्रे कवयोऽवयन्ति यदक्षरे परमे प्रजाः” (तत्रैव १०।१।१) इत्यादिरूपा. स्मृतिरपि

“परस्तस्मात्तु भावो अन्यो अव्यक्तो व्यक्तात् सनातनः,
यः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति,
अव्यक्तो अक्षर इति उक्तः तम् आहुः परमां गतिम्,
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम”

(भग.गीता ८।२०-२१) इत्यादितु गीतासु. श्रीभागवतेऽपि

“दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्,
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्,
यद् हि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता”

(भाग.पुरा.१०।२५।१४/१५) इति दशमे. द्वितीये च

“तस्मै स्वलोकं भगवान् समाहितः सन्दर्शयामास” (भाग.पुरा.२।१।९)

इत्युपक्रम्य, कालत्रिगुणमायादिसम्बन्धराहित्यम् उक्त्वा, भगवत्-पार्षदान् उक्त्वा, विमानप्रमदा उक्त्वा, श्रीः उक्ता. तथाच श्रुतिस्मृत्येकवाक्यतायां तादृक् स्वरूपमेव अक्षरम् इति निर्णयो भवति. एवं सति सच्चिदानन्दत्व-देशकालापरिच्छेदस्वयंप्रकाशत्वगुणातीतत्वादिधर्मवत्वेनैव ज्ञानिनाम् अक्षर-विज्ञानं, भक्तानामेव पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तथा इति ज्ञेयम्. “मल्लानाम् अशनिः” (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इति श्लोकोक्तरीत्या पुरुषोत्तमस्यैव. प्रभुणा ये यथा विचारिताः सन्ति, ते तथा भवन्ति इति तद्विचारएव सर्वेषाम् अधिकाररूपः इति “कृतप्रयत्नापेक्षस्तु” (ब्रह्मसू.२।३।४२) इत्यत्र निर्णीतम्॥५४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भेदाभावः. पश्चाद्भावित्वे कृत्रिमत्वे. इयं भेदाभेदचिन्तारूपा. तथा श्रुत्युक्तं नानाविधात्मकम्. इत्यादिरूपा “यदक्षरे परमे प्रजा” (महाना.उप.१।३) एवमादि-नानाविधा अक्षरप्रतिपादिका इति अर्थः. पुरुषोत्तमस्यैव इति. तथाच एकएव भगवान् अधिकारभेदेन भक्तैः दशधा दृष्टः इति “मल्लानाम् अशनिः” (भाग.पुरा.१०।४३।१३) इति श्लोके निरूपितं तद्वदेव भगवद्दत्ताधिकारेण अक्षरस्वरूपमपि वास्तव-नानाप्रकारैः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इतः आरभ्य भाष्यं स्पष्टार्थम्. निर्णीतम् इति. “कृतप्रयत्नापेक्ष” इति सूत्रे निर्णीतम् इति अर्थः. एवञ्च “मल्लानाम्” (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इति वद् यत्र-

अस्मिन् अर्थे कैमुतिकन्यायकथनार्थं निदर्शनत्वेन उत्तरं पठति.

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

यागे तत्तद् ऋत्विग् नियतकर्तव्यानि अन्वाधानादीनि अङ्गानि. तत्र अवबद्धाः सर्वे एव ऋत्विजो यजमानेन. ‘अवबन्धनं’ नाम “अध्वर्यु त्वां वृणे”, “होतारं त्वां वृणे”, “उद्गातारं त्वां वृणे” इत्यादिरूपं वरणमेव. अन्यथा सर्वकर्मविदुषां तत्कृतिपटूनाम् एकत्र अधिकारः, न अन्यत्र इति नियमो न स्यात्. तस्य-तस्य तथा वरणेतु यजमानेच्छैव हेतुः. ते च तदा न सर्वासु शाखासु विहितानि अङ्गानि कर्तुं सर्वेऽपि शक्ताः, किन्तु यजमानवरणनियमिताएव तथा. तत्र हेतुम् आह हि यतः कारणात् प्रतिवेदं नियमितानि अङ्गानि, “हौत्रम् ऋचा, आध्वर्यवादि यजुषा, उद्गात्रं साम्ना” (आप.परिभा.१।१८-२०) इति. तथाच अलौकिके वैदिके कर्मणि जीवेच्छापि नियामिका भवति यत्र, तत्र किम् वाच्यं प्रतिरोमकूपं सावकाशम् अमितब्रह्माण्डस्थितिम् अतः तदीशितुः इच्छैव नियामिका तत्तत्साधनफलसम्पत्तौ इति ॥५५॥

मन्त्रादिवद् वा अवरोधः ॥५६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

द्रष्टुं शक्यम् इति अर्थः ॥५४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति तस्मिन् इत्यादि. कैमुतिकेत्यादि. अलौकिके वैदिके यज्ञादिकर्मणि यज्ञादौ मनुष्ययजमानवरणेन ऋत्विजां षोडशपदार्थकरणसमर्थानामपि नियतस्वकीयतत्तत्पदार्थानुष्ठानमेव भवति नतु अनियतं तत्र भगवद्वरणेन भक्तानां नाना-विधलीलानां मध्ये यदधिकारिणे यल्लीलाप्रदर्शनं भगवतो अभिप्रेतं तदेव भवति इत्यत्र किं चित्रम् इति कैमुतिकन्यायः. तथा यजमानशाखानियतकर्मकर्तारः. स्फुटम् अन्यद् ॥५५॥

तत्र तेषु तथैव ज्ञानमार्गादि सम्पादयतामेव. तेन न कालभेदेन अन्यत्र वरणम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

यत्र यादृशी भगवदिच्छा तस्य-तस्यैव भानं जायते, अधिकारभेदात्. अक्षरस्वरूपन्तु पूर्वोक्तमेव इति ध्येयम् ॥५४॥

व्याकुर्वन्ति यागे इति. यजमानेन इति. अवबद्धाः इति पूर्वेण अन्वयः. एवञ्च यागे जीवेच्छा यथा नियामिका कैमुतिकन्यायाद् यथाधिकारं भगवतः तथा फलदित्सा नियामिका इति अर्थः ॥५५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. भगवद्वरणम् इति तथाच “तत्तत्कर्म-

ननु पूर्वं कर्मज्ञाननिष्ठानामपि पुंसाम् अग्रे भक्तिमार्गीयत्वं यत्र भवति, तत्र तथैव भगवद्वरणम् इति हि सिद्धान्तः. ऋत्विजस्तु एकस्मिन् यागे एकत्र वृतस्य न अपरत्रापि तथेति विरुद्धो दृष्टान्तः इति अरुच्या निदर्शनान्तरम् आह. यथा एकएव कश्चिद् **मन्त्रो** बहुषु कर्मसु सम्बध्यते, कश्चिद् द्वयोः, कश्चित् एकत्रैव, तथैव विधानात्, तथा अत्रापि इति अर्थः. **आदिपदात्** कर्म उच्यते. यत्र काम्येनैव नित्यकर्मनिर्वाहः, तत्र कामितार्थसाधकत्वे प्रत्यवायपरिहारेऽपि एकमेव तदुपयुज्यते. यथाच सर्वतोमुखे 'अनेकहोतृप्रवरे अध्वर्युप्रवरे च गृह्यमाणे **“देवाः पितरः”** (तैत्ति.ब्राह्म.३।७।५।४) इत्यादिना यजमानकर्तृकानुमन्त्रणम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति समाधानम्. **एकएव** इति. प्रणवव्याहृत्यादिरूपः. **द्वयोः** इति. यथा शनिमन्त्रो मार्जने शनिप्रसादने च उपयुज्यते. **एकत्रैव** यथा **“सूर्यो ज्योतिः”** (तैत्ति.ब्राह्म.२।१।२।९) इति प्रातरग्निहोत्रहोमे. **तथा अत्रापि** इति. तथाच भगवद्वरणस्थलेऽपि एकमेव वरणं क्वचित् कर्मज्ञानद्वारा भक्तिं दत्त्वा **“एनम् उद्धरिष्ये”** इत्याकारकं क्वचिद् एकद्वारा भक्तिं दत्त्वा **“एनम् उद्धरिष्ये”** इत्याकारकमिति न कोऽपि अनुपपत्तिलेशः इति अर्थः. **‘आदि’पदात्** सूत्रस्थादिपदात्. **कर्मोच्यते** इति. यथा अग्निहोत्रादिकर्म स्वर्गप्रत्यवायाभावोभयसाधकम् एवम् अन्यदपि आहुः **यथाच** इत्यादिना. **प्रवरे** गणे. **“देवाः पितरः”** (तैत्ति.ब्राह्म.३।७।५।४) इति तेषाम् **अनुमन्त्रणमन्त्रः**. **सर्वत्र**

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

करणानन्तरम् एनं भक्तिमार्गे प्रवेशं करिष्यामि” इति इच्छया वरणम् इति अर्थः. **ऋत्विजः** इत्यस्य **वृतस्य** इत्यनेन सम्बन्धः. **तथा** इति. विनियोगः इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः **यथा** इति. **कश्चिद्** इति. **“देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे”** (तैत्ति.सं.१।१।६।१) इति मन्त्रः इति अर्थः. **कश्चिद् द्वयोः** इति. गायत्रीमन्त्रः सूर्योपस्थाने मन्देहादिनिवृत्तौ च इति अर्थः. **कश्चिद् एकत्रैव** इति. **“तेजस्वी भूयासम्”** (तैत्ति.आर.) इति मन्त्रः. कर्मोदाहरणम् आहुः **यत्र** इति. ज्योतिष्टोमादिकं श्रौतं, जयन्तीव्रतादिकं स्मार्तम्. **सर्वतोमुखे** इति. एकएव गार्हपत्यः आहवनीयाः चतुर्दिक्षु चत्वारः चत्वारः अध्वर्यादयः चतुर्दिक्षु एवं चतुःषष्टि ऋत्विजः एवं सर्वतोमुखः यज्ञो अस्ति तत्र इति अर्थः. **गृह्यमाणः** इति. कश्यपवद् अवत्सारवद् निधुववद् इति कश्यपसगोत्रिणो यजमानस्य प्रवरग्रहणम् अध्वर्युणा होत्रा क्रियते. **“देवाः पितरः पितरो देवा यो अस्मि स सन्यजैः”** (तैत्तिब्राह्म.३।७।५।४) इति मन्त्रेण अनुमन्त्रणं यजमानेन क्रियते इष्टौ.

एकमेव सर्वत्र सम्बध्यते, तथैव विधेः, तथा अत्रापि तावद्विधं यद् एकमेव वरणं, तेन तत्तन्निष्ठानन्तरं भक्तिनिष्ठेति न दृष्टान्तविरोधः इति अर्थः.

अथवा. ॐ इत्युदाहृत्यैव मन्त्राणाम् उच्चारणाद् **मन्त्रादिः** ‘ॐ’कारः. स यथा ब्रह्मात्मकत्वेन एकएव सर्वमन्त्रेषु सम्बध्यते, तथा वरणमपीति तथा इति अर्थः. यद्यपि इतरनिष्ठानन्तरभूतभक्तिनिष्ठावतोऽपि वरणं तथाभूतम् एकमेवेति न उक्तदोषः, तथापि उत्कृष्टमार्गे वृतस्य नीचकक्षापादनम् अनुचितम् इति मत्वा पक्षान्तरम् उक्तम्. वस्तुतस्तु साधनमर्यादया यत्र भक्तिः दिस्सिता, तत्र तथेति न अनुपपत्तिः काचित् ॥५६॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे अष्टादशं व्यतिरेकाधिकरणम् ॥१८॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अनेकगणे. **तथैव विधेः** एकस्यैव अनेकत्र कार्यत्वसाधकत्वस्य विधिना बोधनात्. **तथा अत्रापि** एकस्यैव वरणस्य नानाप्रकारैः भक्तिप्रदत्वं “यमेवैषः” (मुण्डकोप.३।२।३) इत्यत्र सामान्याकारेण उद्धर्तव्योपदेशाद्. **तावद् विधम्** एकमेव नानाप्रकारकं समूहालम्बनज्ञानवद् इति अर्थः. तेन वरणेन. **तत्तन्निष्ठा** धर्मज्ञानसत्सङ्गादिनिष्ठा.

भौतिकदृष्टान्तम् उक्त्वा आध्यात्मिकदृष्टान्तम् आहुः प्रणवस्य ब्रह्मरूपत्वाद् **अथवा** इत्यादि. तथा ब्रह्मात्मकम् एकम् अनेकधा उपकरोति इति अर्थः. **इतरनिष्ठा** कर्मज्ञानसत्सेवादिनिष्ठा. इतरत्वं च असाधारणभक्तिसाधकोपदेशाद्यपेक्षया. **तथाभूतम्** इतरनिष्ठानन्तरं भक्तिं दास्यामि इत्याकारकम्. **न दोषो** न दृष्टान्तवैषम्यम्. **तथापि उत्कृष्टे**त्यादि. तथाच साक्षाद् मोक्षप्रदस्य प्रणवस्य क्षुद्रकर्माङ्गमन्त्रादौ उपयोगवद् कर्मादिनिष्ठानन्तरभक्तिनिष्ठादानमपि न उचिततरम् इति प्रदर्शनाय **अथवा** इति पक्षान्तरं स्वयं प्रदर्शितम् इति अर्थः. **न अनुपपत्तिः** न हीनता विभावनीया इति अर्थः ॥५६॥१८॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सर्वतोमुखे च अनेककर्तृक-प्रवरग्रहणे यजमानेन देवाः पितरः इति एकवारमेव इति अर्थः. **तावद्विधं** क्रमेण तत्तत्प्रकारकम्.

प्रकारान्तम् आहुः **अथवा** इति. पूर्वव्याख्याने दोषम् आहुः **यद्यपि** इति. **तथाभूतम्** इति. केवलभक्तिमार्गे यादृशं वरणं तादृशम् इति अर्थः. सिद्धान्तेन मुख्यं समाधानम् आहुः **वस्तुतस्तु** इति. **न अनुपपत्तिः** इति. अनुपपत्तिपरिहारस्तु भगवद्दिस्साविचारेण इति अर्थः ॥५६॥१८॥

भूमन्ः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति॥५७॥ (३।३।१९)

ननु सुखस्वरूपजिज्ञासायां “यो वै भूमा तत् सुखम्” (छान्दो.उप. ७।२३।१) इति उक्तं भूमस्वरूपजिज्ञासायां “यत्र नान्यत् पश्यति” (तत्रैव ७।२४।१) इत्यादिना तद् यन्निरूपितं तत् सर्वात्मभावस्वरूपम् इति यद् उक्तं, तद् न उपपद्यते. भूमनो हि सुखरूपता उच्यते. सर्वात्मभावेतु विरहभावे दुःसह-दुःखानुभवः श्रूयते. तेन मोक्षसुखमेव “यो वै भूमा” इत्यादिना उच्यते. “यो वै भूमा तद् अमृतम्” (छान्दो.उप.७।२४।१) इतिवाक्याच्च. अग्रे च, “स वा एष एवं पश्यन्” (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यादिः उक्त्वा, “तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (छान्दो.उप.७।२५।२) इति फलम् उच्यते. तच्च मोक्षानन्तरम् असम्भवि, अतः सः भावो मोक्षो वा अत्र उच्यते इति संशयः. तत्र कामचारोक्तेः मुक्तिपूर्वदशायां तन्माहात्म्यनिरूपणार्थत्वाद् ‘अमृत’शब्दाच्च मुक्तिरेव ‘भूम’पदेन उच्यते इति पूर्वः पक्षः. तत्र ‘भूम’शब्देन सः भावएव उच्यते इति सिद्धान्तः. तत्र दुःखदर्शनानुपपत्त्या सर्वाधिकत्वलक्षणं भूमत्वम् अनुपपन्नम् इति शङ्कां परिहरति. भूमन्ः सर्वात्मभावस्य ज्यायस्त्वं सर्वस्माद् मन्तव्यम्. तत्र उक्तानुपपत्तिपरिहारार्थं दृष्टान्तम् आह क्रतुवद् इति. दर्शपूर्णमासप्रकरणे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मध्ये प्रासङ्गिकं निरूप्य प्रकृतं निरूपयितुं सूत्रयति इति सूत्रम् अवतारयन्तः संशयम् आहुः ननुत्यादिना. तद् यद् इति ‘सर्वात्मभावे’ अन्वेति. तेन इति. तेन “यो वै भूमा तत् सुखम्” (छान्दो.उप.७।२३।१) इत्युक्तसुखरूपत्वस्य सर्वात्मभावे सम्भवेन इति अर्थः. संशयबीजम् आहुः अग्रे च इत्यादिना. तत्र मुक्तौ. तन्माहात्म्येत्यादि. तथाच मुक्तिदशायां मुमुक्षोः सर्वलोककामचारयोग्यता भवति इति अर्थवादएव अयं मुक्तिश्रुतेः ननु कामचारश्रुतिः स्वार्थे प्रमाणम् इति भावः. तत्र सर्वात्मभावदशायाम्. भूमनो ‘भूम’पदवाच्यस्य. तत्र सर्वात्मभावरूपार्थकरणे. उक्तानुपपत्तिः सुखरूप-त्वानुपपत्तिः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिंहावलोकनन्यायेन पुनः भूमि विचारं कर्तुम् अधिकरणम् आहुः भूमन्ः इति. व्याकुर्वन्ति ननु इति. संशयम् आहुः तद् न उपपद्यते इति. मोक्षसुखरूपकोटिः वाक्याच्च इत्यनेन असम्भवीत्यन्तेन सर्वात्मभावकोटिः दर्शिता. सः भावः इति. सर्वात्मभावः इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. सिद्धान्तम् उक्त्वा अवतरणम् आहुः तत्र दुःखेत्यादिः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति भूमन्ः इति.

तैत्तिरीयके पठ्यते “परमेष्ठिनो वा एष यज्ञो अग्र आसीत् तेन स परमां काष्ठां अगच्छद्” (तैत्ति.संहि.१।६।९) इत्युपक्रम्य, “य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते परमामेव काष्ठां गच्छति” (तत्रैव १।६।९) इति. यथा व्रतादिदुःखात्मकत्वेऽपि परमकाष्ठालक्षणफलगमकत्वेन दर्शपूर्णमासयोः सर्वक्रतुभ्यो अधिकत्वं वक्तुम् “अग्रे आसीद्” इति स्तूयते, तथा दुःखहेतुत्वेऽपि अनन्यलभ्यसाक्षात्पुरुषोत्तमानन्द-प्राप्तिहेतुत्वेन सुखरूपत्वम् उच्यतइति अन्येभ्यः सर्वेभ्यो ज्यायस्त्वं मन्तव्यम् इति अर्थः. अत्र उपपत्तिम् आह. तथाहि दर्शयति. श्रुतिस्तु “स एव अधस्ताद्” (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादि उक्त्वा “अथ अहङ्कारादेशः” (तत्रैव) इत्यादि उक्त्वा, “अथ आत्मादेशः” (तत्रैव) इत्यादि उक्तवती. अग्रे च एतादृशस्य “आत्मतएव” (तत्रैव ७।२६।१) प्राणाशास्मरादिसर्वम् इति च दर्शयति. एतत् सर्वात्मभाववत्येव सर्वम् उपपद्यते, नतु

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

व्रतादि कर्माङ्गव्रतादि. तथा दर्शपूर्णमासवद्. दुःखहेतुत्वेऽपि ‘भूम’पदवाच्यसर्वात्मभावस्य विरहात्मकत्वेन दुःखरूपत्वेऽपि. सुखरूपत्वम् असाधारणसुखसाधनत्वेन सुखरूपत्वम् इति अर्थः. अत्र उपपत्तिम् इति. भाविसुखजनकताम् आदाय सुखरूपत्वाङ्गीकाराद् ‘भूम’पदेन सर्वात्मभावएव उच्यते नतु मोक्षः इत्यत्र उपपत्तिम्. श्रुतिस्तु “यो वै भूमा तत् सुखम्” इति श्रुत्यर्थलाभोत्तरम् एतच्छ्रुत्यनन्तरं पठ्यमाना श्रुतिः. “स एव अधस्ताद्” (तत्रैव ७।२५।१) इत्यादिना ब्रह्मातिरिक्तास्फूर्तिः उक्ता. ‘अहङ्कारादेशः’ इत्यनेन किञ्चित् स्वात्मस्फूर्तौ अन्वेषणाद्युपायैः भगवन्तं प्राप्स्यामि इति अन्वेषणाद्युपायः उक्तः. ‘आत्मादेशः’ इत्यनेन स्वकृतयत्नवैफल्ये सम्पन्नेति दीनतायां जातायां भगवदाविर्भावस्य स्वात्मनि जातत्वात् तदनन्तरं स्वयं भगवद्भूमाविःकरणम् उच्यते. एतद् अग्रे उक्तश्रुत्यग्रेतनश्रुतौ. आत्मतएव इति. ‘एव’कारेण प्रकारान्तरनिष्पन्नप्राणाशास्मरणादीनां निरासः उक्तः. एतत् पूर्वोक्तवृत्तित्रितयरूपादेशत्रितयम् आदाय स्मरादिसर्वम् इत्यन्तम्. सर्वात्मभाववत्येव इति ‘एव’कारेण

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पठ्यते. “परमेष्ठिनो वा एषः यज्ञः पठ्यते” (तैत्ति.सं.१।६।९) इति. तैत्तिरीयसंहितायां प्रथमाष्टके षष्ठाध्याये नवमानुवाके पठ्यते इति अर्थः. पाठमेव आहुः परमेष्ठिनः इति. यथा इति. यथा दर्शपूर्णमासौ तथा भाविं सुखं भूमसुखम् इति अर्थः. भाविस्वरूपम् इत्यत्र गमकम् आहुः अत्र इति. श्रुतिस्तु. उक्तवतीति अन्वयः. न वदेद्

मुक्तस्य, वृत्तिभेदाभावात् प्राणाद्यभावाच्च. जीवन्मुक्तिदशायां प्राचीनानामेव सत्त्वात्, “आत्मतः प्राणाः” (तत्रैव ७।२६।१) इत्यादि न वदेत्.

यद्वा. ननु लोकेऽपि शृङ्गाररसभाववति पुंसि नार्या च त्वदुक्त-भावसम्बन्धि-व्यभिचारिभावाः श्रूयन्ते. “सैव सर्वत्र, स एव सर्वत्र” इति. एवं सति लौकिकसधर्मवत्त्वाद् न त्वदुक्तभावस्य अलौकिकज्ञानादिभ्यः आधिक्यं वक्तुं शक्यम्, अलौकिकविषयत्वाद् लौकिकत्वमपि न तथा इति भवति संशयः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मुक्तस्य व्यवच्छेदः. वृत्तिभावाभेदाद् इति “आत्मैव तदिदं सर्वम्” (तत्रैव ७।२५।२), “एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्” (तत्रैव) इत्यनेन तदादेशो ब्रह्माकारवृत्तिः उक्ता. एवम् ‘अहङ्कारादेशः’ इत्यनेन स्वयत्नेन इष्टं साधयिष्ये इति वृत्तिः उक्ता. एवम् आत्मादेशो भगवत्कृत्यनुरूपानुकूला वृत्तिः. एवं तिस्रो वृत्तयः उक्ताः तासां मुक्ते सम्भवाद् इति अर्थः. प्राणाद्यभावाद् भूमलाभतः ‘आत्मतएव’ प्राणाशास्मरादिसर्वम् उक्तं तस्य मुक्ते सम्भवाद् इति अर्थः. ननु परममुक्तः उक्तवृत्तिप्राणादीनाम् असम्भवेऽपि जीवन्मुक्तानामेव ते धर्माः भवन्तु न सर्वात्मभाववताम् इत्यतः आहुः जीवन्मुक्तीत्यादि. प्राचीनानां प्राचीनप्रारब्धार्जितानाम्. न वदेद् “आत्मतएव प्राणाः” (तत्रैव ७।२६।१) इत्यत्र ‘एव’कारेण इतरासम्पादितप्राणादिमत्त्वं न वदेद् इति अर्थः.

उक्तरीत्या विवरणस्य पूर्वाधिकरणसिद्धप्रायत्वात् प्रकारान्तरेण सूत्रार्थं वक्तुं वर्णकान्तरम् आहुः यद्वा इत्यादि. अधिकरणम् आरचयितुं संशयादिकम् आहुः ननु इत्यादिना. त्वदुक्तभावेत्यादि. रसनिरूपकसात्त्विकभावाः. श्रूयन्ते भरतसूत्रादौ श्रूयन्ते इति अर्थः. सैव लौकिकरसरीतिरेव. सर्वत्र सकलरसाधिकारिषु. सएव रसोऽपि लोकसिद्धएव. एवं सति रसनिष्पत्तिप्रकारस्य सर्वत्र एकरूपत्वे सति. त्वदुक्तभावस्य सर्वात्मभावस्य. अलौकिकज्ञानादिभ्यः परममुक्तिजीवन्मुक्तितत्साधकज्ञानादिभ्यः इति अर्थः. अलौकिकविषयत्वात् सर्वात्मभाववदुक्तभावानां ब्रह्मविषयत्वाद् न तथा

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति. तथाच ‘भूम’शब्देन सर्वात्मभावएव ग्राह्यः, नतु जीवन्मुक्त्यवस्था च इति भावः.

प्रकारान्तरेण व्याख्यानं वर्णकम् इति उच्यते इति वर्णकान्तरम् आहुः यद्वा इति. त्वदुक्तेति. सर्वात्मभाव इति अर्थः. श्रूयन्ते भरतसूत्रे. आकारम् आहुः सैव इति. पुरुषस्य सएव इति. नार्याः सैव इति. अलौकिकेति. अक्षरज्ञानम्. ‘आदि’पदेन मुक्तिजीवन्मुक्तिग्रहणम्. संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. तत्र भगवति.

तत्र मनुजत्व-रिपुत्वादि-ज्ञानानामिव कामादिभावेन स्नेहभावस्यापि सम्भवाद् न अस्य अलौकिकत्वम् इति पूर्वः पक्षः.

सिद्धान्तस्तु अस्य भावस्य लौकिकेभ्यो **ज्यायस्त्वं** मन्तव्यम्. ननु उक्तं लोकसाधारण्यं बाधकम् इति शङ्कानिरासाय निदर्शनम् आह **क्रतुवद्** इति. यथा दर्शादिषु दोहनाधिष्ठयणातञ्चनब्रीह्यवघातादिपुरोडाशभक्षणगादीनां लौकिकक्रियातुल्यत्वेन दर्शनेऽपि न लौकिकत्वं लौकिकप्रमाणाप्राप्तत्वाद् अलौकिकतत्प्राप्तत्वात्, तथोक्तप्रमाणरूपवरणलभ्यत्वेन श्रुत्युक्तत्वाद् न लौकिकत्वम् अस्य भावस्य इति दिक्.

वस्तुतस्तु ग्रामसिंहस्य सिंहस्वरूपत्वेऽपि न ताद्रूप्यं वक्तुं शक्यं तथा लौकिकपुंसि नार्या वा तदाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते, तद्दृष्टान्तेन भगवद्भाववद् भक्तरीतिभावनार्थं, नतु ऋषीणां लौकिके तात्पर्यं भवितुम् अर्हति. अत्र उपपत्तिम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वक्तुं शक्यम्. भवति संशयो लौकिकसजातीयत्वाद् लौकिकविषयत्वाभ्यां भवति संशयः इति अर्थः. **पूर्वपक्षम्** आहुः तत्र इत्यादिना. तत्र भगवति. तथाच भगवति रिपुत्वमनुजत्वादिज्ञानानामिव स्नेहस्यापि लौकिकस्य सम्भवाद् लौकिकत्वं स्नेहस्य इति अर्थः. **अस्य भावस्य** सर्वात्मभावस्य. **निदर्शनम्** उक्तभावस्य अलौकिकत्व-साधकदृष्टान्तम्. **तत् प्रमाणम्.** **तथोक्तप्रमाणं** तद्वद् अलौकिकप्रमाणम्. **अत्र उपपत्तिं** सर्वात्मभावस्य अलौकिकत्वे उपपत्तिम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तस्तु इति. सूत्रैकदेशं व्याकुर्वन्ति **यथा** इति. **आतञ्चनेति.** उत्तरस्मिन् दिवसे एन्द्रदधिसिद्धयर्थं पूर्वं किञ्चिद् अधिप्रक्षेपः. दाष्टान्तिके व्युत्पादयन्ति तथा इति. केवलं सादृश्यशङ्का न कर्तव्या इति आशयेन आहुः **वस्तुतस्तु** इति. **ग्रामसिंहस्य** श्वानस्य. **तदाभासः** रसाभासः. **भगवद्भाववद्** इति. भगवति विगाढ-भाववान् यो भक्तः इति अर्थः. **नतु** इति. तथाच कामसूत्रे समाप्तौ वात्स्यायनऋषिणा उक्तम्. तथाहि. “तदेतद् ब्रह्मचर्येण परमेण समाधिना, विहितं लोकयात्रार्थं न रागार्थो अस्य संविधिः, रक्षन् धर्मार्थकामान् स्त्रीन् सम्पश्यन् लोकवर्तनीम्, अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः” (कामसू.) एतच्छास्त्रस्य जितेन्द्रियभवनरूपं फलम् उक्तम्. तेन लौकिके तात्पर्यं नास्ति इति मन्तव्यम्. उपवेदे संगीतशास्त्रेऽपि एवं बोध्यम्. सूत्रांशम् अवतारयन्ति **अत्र** इत्यादिना.

आह तथाहि इत्यादि. पूर्वोक्तभाववतः आत्मतः प्राणादिकं सर्वं दर्शयति श्रुतिः “तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यतः” (छान्दो.उप.७।२६।१) इत्यादिना. इतः पूर्वमपि “स वा एष एवं पश्यन्” (तत्रैव ७।२५।२) इति उपक्रम्य, “आत्मरतिः आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराङ् भवति, सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (तत्रैव ७।२५।२) इति श्रुतिश्च. न हि लोके एवं सम्भवति. ‘आत्म’पदानां भगवद्वाचकत्वाद् इति सर्वोत्तमविषयकभावस्यैव तथात्वं युक्तम् इति च उपपत्तिः हि शब्देन सूच्यते ॥५७॥१९॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे एकोनविंशं भूम्नः इति अधिकरणम् ॥१९॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥ (३।३।२०)

पूर्वाधिकरणैः सर्वात्मभावस्वरूपादिनिर्णयं कृतवान्. अथ मत्स्यादि-रूपाणां भगवदवतारत्वम् अविशिष्टमिति सर्वेषां समस्य उपासना कार्या, उत पार्थक्येन इति विचारयति. अत्र उपास्याभेदेऽपि रूपभेदाद् एकत्र उपासकस्य अन्यत्र अनुपासनलक्षणवज्ञासम्भवाद् अस्यापि असिद्धिसम्भवादपि समस्यैव सा कार्या, इति प्राप्ते, सिद्धान्तम् आह सर्वेषु अवतारेषु नाना एव उपासना कार्या. तत्र हेतुः शब्दादिभेदाद् इति. तत्-तत्स्वरूपवाचकशब्दानां मन्त्राणां च ‘आदि’पदाद् आकारकर्मणां च भेदाद् इति अर्थः. एतेनैव मिथोविरुद्धानाम् आकारकर्मणाम् एकत्र भावनस्य अशक्यत्वम् अयुक्तत्वं च इति भावः सूचितः ॥५८॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे विंशं नानाशब्दादिभेदाद् इति अधिकरणम् ॥२०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वोक्ताभावो ‘भूम’पदवाच्यः सर्वात्मभावः. स्फुटम् अन्यद् ॥५७॥१९॥

पूर्वाधिकरणेन प्रसङ्गसङ्गतिं बोधयन्तः संशयादिकम् आहुः पूर्वोक्त्यादिना. स्वरूपादि इत्यादिपदेन सपरिकरं फलमूर्धन्यं सर्वात्मभावं निरूप्य इति अर्थः. अस्यापि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वोक्तेति. सर्वात्मभावे इति अर्थः. ‘हि’शब्दतात्पर्यम् आहुः सर्वोत्तमेति. अत्र मतान्तरं प्रकाशे अनुसन्धेयम् ॥५७॥२१॥

प्रसङ्गसङ्गतिं बोधयन्ति पूर्वोक्ति. स्वरूपादीति. आदिना उत्कर्षफलाधिकारि-संग्रहः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रार्थम् आहुः सर्वेत्यादि. अवज्ञादोषनिवृत्तिम् आहुः एतेन इति. अयुक्तत्वं च इति. अशक्यस्य अयुक्तस्य

विकल्पो अविशिष्टफलत्वात्॥५९॥ (३।३।२१)

पार्थक्येन उपासनानि कर्तव्यानि इति स्थिते विचार्यते. किम् अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासादिवद् एषां समुच्चयः, उत फलविकल्पः इति. तत्र विधि-फलयोः समानत्वात् समुच्चयः इति प्राप्ते, निर्णयम् आह. उपासनानां विकल्पएव. तत्र हेतुः अवशिष्टफलत्वात्. मुक्तिफलकत्वं हि सर्वेषाम् उपासनानाम् अविशिष्टम्. एवं सति एकेनैव तत्सिद्धौ अपरस्य अप्रयोजकत्वाद् अग्निहोत्रादिवद् नित्यताबोधकश्रुत्यभावात् तदर्थिनो विकल्पएव॥५९॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे एकविंशं विकल्पाधिकरणम्॥२१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. अन्यत्र अनादरणे एकस्यापि फलासम्भवाद इति अर्थः॥५८॥२०॥

पूर्वोक्ताधिकरणार्थानुकूलत्वाद् अग्रिमाधिकरणस्य अर्थस्य इति उपोद्घात-सङ्गत्याधिकरणम् आरचयितुम् आहुः पार्थक्येन इत्यादि. समुच्चयः एकस्य सर्वोपासनाकर्तव्यता. विधि-फलयोः उपासनाविधि-मुक्तिरूपफलयोः. समानत्वाद् सर्वोपासकान् प्रति अविशिष्टत्वाद् इति अर्थः. अविशिष्टेत्यादि. एकैकोपासनायामेव फलपर्याप्तिदर्शनाद् इति अर्थः. ननु एवं सति अग्निहोत्रादीनामपि एकैकस्य फलश्रवणाद् समुच्चयो व्यर्थः इत्यतः आहुः अग्निहोत्रादिवद् इति॥५९॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अकरणे दोषो नास्ति इति अपराधाभावाद् न प्रतिबन्धः इति भावः॥५८॥२०॥

अधिकरणं विचारयन्ति पार्थक्येन इति. संशयम् आहुः किम् इति. अग्निहोत्रमपि कर्तव्यं, दर्शपूर्णमासेष्टिरपि कर्तव्या इति समुच्चयः, तद्वद् अत्रापि इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. विधिफलयोः इति. “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” (मैत्रा.उप.३।६।३६) “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत” (तैत्ति.सं.२।२।५) इति अपूर्वविधिफलयोः इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः निर्णयम् आह इति. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति मुक्तिफलकत्वम् इति. अक्षरविद्योपकोसलविद्या-दहरविद्यादीनाम् इति अर्थः. नित्यस्य अकरणे प्रत्यवायः इत्यतः आहुः अग्निहोत्रादिवद् इति. तदर्थिनः इति. केवलमोक्षार्थिनः इति अर्थः॥५९॥

इदानीं काम्यस्थले पक्षद्वयं समुच्चयपक्षे एकपक्षश्च. अनेककर्मणां भिन्नं-भिन्नं फलम्. यस्य अनेककामना तेन समुच्चयपक्षः कार्यः. यस्य च अनेककामना एकस्यैव

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा पूर्वहेत्वभावात्॥६०॥ (३।३।२२)

येषु तु उपासनेषु भिन्नानि-भिन्नानि फलानि उच्यन्ते, तत्रतु अनेक-
फलार्थिनः तत्तत्फलकोपासनानि समुच्चीयेरन् अविशिष्टफलत्वाभावात्. यत्रतु
एकस्यैव उपासनस्य स्वकामितानेकफलत्वं श्रूयते, तत्र तथैव चेद् उपासनं
करोति, तदा न समुच्चीयेरन् अपि. स्वकामितेषु एकतरस्य तदन्यफल-
वैशिष्ट्येन अविशिष्टफलत्वाभावाद् इति पूर्वहेत्वभावाद् इति श्लिष्टप्रयोगा-
भिप्रायेण उक्तम् इति ज्ञेयम्. अथवा कामैक्ये नियतफलकानि तानि न
समुच्चीयेरन्. अत्र हेतुः स्पष्टः॥६०॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे द्वाविंशम् काम्याधिकरणम्॥२२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

येषु अन्नमयाद्युपासनेषु. अविशिष्टेत्यादि. अनेकफलानाम् एकोपासनातो
असम्भवाद् इति अर्थः. तथैव अनेकफलकामनयैव. न समुच्चीयेरन् इति.
समानफलकोपासनान्तरं न अनुष्ठेयम् इति अर्थः. पूर्वहेत्वभावाद् समुच्चये पूर्वम् उक्तो
यो हेतुः कामितयावत्फलसिद्धिरूपः तदभावाद् असत्त्वाद् इति अर्थः. श्लिष्टप्रयोगो 'न
वा' इत्यनेन सूत्रे श्लिष्टप्रयोगः कृतः. कामनाभेदेन समुच्चयासमुच्चयौ सूत्राभिप्रेतौ इति
आशयेन आहुः अथवा इत्यादि. कामैक्येत्यादि. तथाच नानाकामनायां नानाफलकानां
समुच्चयः कार्यः तत्र एकस्याम् उपासनायां नानाफलानाम् अविशिष्टत्वाभावाद्
एकफलकामनायान्तु तस्य फलस्य तदुपासनायाम् अविशिष्टत्वाद् समुच्चयहेतोः अभावाद्
उपासनान्तराणि न समुच्चयेयानि इति अर्थः. इदमेव आहुः अत्रहेतुः इत्यादिना ॥६०॥२१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उपासनस्य अनेकफलत्वं तेन एकः पक्षः कार्यः. तत्र प्रथमपक्षम् आहुः येषुतु, द्वितीयपक्षम्
आहुः यत्रतु इति. इति श्लिष्टेति. समुच्चयपक्षे फलानाम् अनेकत्वाद् एकस्य फलस्य
अन्यफलविशिष्टत्वाद् अविशिष्टफलत्वाभावो हेतुः इति श्लिष्टप्रयोगाभिप्रायेण इति
अर्थः. श्लेषे क्लेशात् पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. यस्य अनेककामना तेन समुच्चयः
कार्यः. तत्र कर्मणाम् अनेकफलकत्वेन विशिष्टफलत्वस्य सत्त्वाद् अविशिष्टफलत्वाभावो
हेतुः स्पष्टः. यस्यतु एकैव कामना तेन समुच्चयो न कार्यः. तत्र एकमेव फलम् इति
नियतफलकानां तेषाम् अविशिष्टफलकत्वाभावरूपहेतोः फलम् इति अर्थः॥६०॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः॥६१॥ (३।३।२३)

प्रधानेषु निर्णयम् उक्त्वा अङ्गेषु तम् आह. एकार्थसाधकानाम् उपासनानां भेदेन अङ्गभेदेऽपि एकतरोपासने फलैक्याद् अङ्गानि तत्र समुच्चयेरन् न वा इति संशये, निर्णयम् आह. उपासनाङ्गानां तदेव आश्रयः. तथाच यद् अङ्गं यद् उपासनाश्रितं, तत्रैव अस्य भावः इति अर्थः॥६१॥

अत्र हेतुम् आह.

शिष्टेश्च॥६२॥

तत्तदुपासनं तत्तदङ्गविशिष्टमेव वेदे शिष्यते इति तथा इति अर्थः. ‘च’काराद् अतिरिक्तकरणे प्रायश्चित्तोक्तिरपि बाधिका इति सूच्यते॥६२॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे त्रयोविंशम् अङ्गेषु यथाश्रयभावाधिकरणम्॥२३॥

समाहारात्॥६३॥ (३।३।२४)

कर्ममार्गीयोपासने निर्णयम् उक्त्वा ज्ञानमार्गीयोपासने तम् आह. अथर्वोपनिषत्सु नृसिंहोपासनादिषु मत्स्यकूर्मादिरूपत्वेनापि स्तुतिः श्रूयते. श्रीभागवते च “नमस्ते रघुवर्याय” (भाग.पुरा.१०।४०।२०) इत्यादिरूपा स्तुतिः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रसङ्गसङ्गत्या अधिकरणान्तरम् आहुः प्रधानेषु इत्यादि. निर्णयं समुच्चयास-मुच्चयनिर्णयम्. तं निर्णयम्. फलैक्यात् तादृशोपासनानां फलैक्यात्. तत्र अन्योपास-नाङ्गानि अन्यत्र उपासने. तत्रैव इति ‘एव’कारेण अन्यत्र समुच्चयाभावो बोधितः॥६१॥

अत्र अन्योपासनाङ्गानाम् अन्यत्र असमुच्चये॥६२॥२२॥

कर्ममार्गीयोपासने समाध्यङ्गकोपासने. तम् आह सूत्रकारो निर्णयम् आह इति अर्थः. स्तुतिः श्रूयते. तथाहि “यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै नमो

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

विषयान्तरं बोधयितुम् अधिकरणान्तरम् अवतारयन्ति प्रधानेति. एकार्थेति. एकः अर्थः फलम्. भेदेऽपि रूपादिभेदेन भेदेऽपि. सूत्रार्थम् आहुः उपासनाङ्गानाम् इति. तदेव उपासनमेव. यथाश्रयभावः इत्यस्य अयम् अर्थः. आश्रयम् अनतिक्रम्य यथाश्रयं भावः सत्ता ॥६१॥

उत्तानार्थं भाष्यम् ॥६२॥ २२॥

विषयम् आहुः अथर्वेति. उपासना सर्वरूपत्वेन कार्या वा न वा इति संशयः.

ब्रजनाथे. एवं सति रूपभेदेऽपि भगवदवतारस्य अविशिष्टत्वाद् एकस्मिन् रूपे रूपान्तरसमाहारो दृश्यतेइति सर्वरूपत्वेन एकत्र उपासनमपि साधुः इति अर्थः॥६३॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च॥६४॥

ऐश्वर्यवीर्यादिगुणानां सर्वेषु अवतारेषु साधारण्यं श्रूयते. तेन धर्मि-
धर्माणाम् ऐक्यात् पूर्वोक्तं साधु इति अर्थः॥६४॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे चतुर्विंशं समाहाराधिकरणम्॥२४॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः॥६५॥ (३।३।२५)

ननु एवम् उपासनं नित्यम् उत वैकल्पिकम् इति संशये उक्तरीत्या

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

नमः” (नसिं.उत्त.उप.४।३) इति. श्रीरामोपासनायां च “यो वै रामचन्द्रः सः भगवान् ये
च मत्स्यकूर्माद्यवतारास्तस्मै नमो नमः” (श्रीरामोत्त.उप.९।९) इत्येवं श्रूयते इति अर्थः.
एकस्मिन् रूपे परब्रह्मस्वरूपे इति अर्थः. तथाच परब्रह्मत्वेन उपासनायां परब्रह्मणि
सर्वरूपोपसंहारेणापि उपासने बाधकाभावो अवतारितावच्छेदकधर्मावच्छिन्ने
अवतारतावच्छेदकप्रत्येकरूपेण उपासनायान्तु न सर्वरूपसमुच्चयः इति अर्थः. अत्र
अवतारिणि नानाविरुद्धधर्मैः उपासना कार्या न वा इति संशयः. शब्दभेदेन उपासनाभेदस्य
पूर्वम् उक्तत्वाद्, न कार्या, इति पूर्वः पक्षः. समाहारात् सर्वेषां धर्मिणि एकीभावाद्
कार्या इति सूत्रेण समाधानम्॥६३॥

धर्मिरूपेण अनेकावताराणाम् उपासने हेत्वन्तरम् इदम्॥६४॥२३॥

प्रसङ्गसङ्गत्या अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. एवम् उपासनम्
एकस्मिन् अवतारे परब्रह्मत्वेन उपासनीये सर्वावतारस्वरूपाणां क्रमेण समाहारेण अभेदेन
उपासनम्. नित्यं दर्शपूर्णमासाग्निष्टोमानां क्रमिकानुष्ठानवत् सर्वेषां क्रमिकसमाहारेण

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

न कार्या इति पूर्वपक्षः. सिद्धान्तम् आहुः एवं सति इति ॥६३॥

स्पष्टम्. भगवत्प्राधान्येन यत्र उपासनं तत्र सर्वरूपत्वेन उपासनं कार्यं,
तत्तद्रूपप्राधान्येन उपासने तथा न कार्यम् इति न विरोधः ॥६४॥२३॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. एवम् इति. सर्वरूपत्वेन
एकावतारोपासनम्. नित्यम् इति. अग्निहोत्रः, तदनन्तरं दर्शपूर्णमासेष्टिः एवंरीत्या
नित्यम् इति अर्थः. वैकल्पिकम् इति. एकमेव उपासनं यावज्जीवं कर्तव्यम् अथवा

नित्यत्वे प्राप्ते, तन्निषेधम् आह न इति. किन्तु वा, विकल्पएव एवम् उपासन ऐच्छिकः, तत्र हेतुम् आह सहभावाश्रुतेः इति. नियमतः तेषां रूपाणां सहभावश्रवणं चेत् स्यात्, तदा स्यात् तथा उपासनस्य नित्यता, नतु एवम्. अतो विकल्पएव इति अर्थः॥६५॥

दर्शनाच्च॥६६॥

योऽपि रूपान्तरसमाहारपूर्वकम् उपास्ते सोऽपि एकं रूपम् उपास्यत्वेन मत्वा तत् तथा उपास्ते इति फलं तस्य एकस्यैव रूपस्य दर्शनं भवति, नतु सर्वेषाम्. इतोऽपि हेतोः विकल्पएव इति अर्थः. एतद्दृष्टान्तेन यस्मिन् रूपे यादृग्धर्मवत्त्वं श्रूयते, तादृग्धर्मविशिष्टमेव एकं रूपम् उपास्यम् इति व्यासहृदयम् इति ज्ञायते. उपासनानिर्णयान्ते दर्शनात्मकहेतूक्त्या सर्वोपासनानां भगवत्साक्षात्कारः फलम् इति ध्वन्यते. माहात्म्यज्ञापनार्थं परं सर्वावताररूपत्वं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपासनं नित्यम्. वैकल्पिकम् ऐच्छिकविकल्पेन अनुष्ठेयं समाहारांशः इति अर्थः. नित्यत्वे प्राप्ते सर्वावतारेषु गुणानां साधारण्याद् उपासने सर्वाभेदांशे नित्यत्वे प्राप्ते इति अर्थः. सौत्र'वा'शब्दस्य अर्थः. किन्तु इति. सिद्धान्तम् आहुः विकल्पः इत्यनेन, ऐच्छिकः इतरावताराभेदांशः ऐच्छिको विकल्पः इति अर्थः. नियमतः इति. तथाच दर्शपूर्णमासाग्निष्टोमादीनां नित्यतया यथा एकस्मिन् समुच्चयः क्रमेण कर्तव्यताबोधको अस्ति तथा अत्रापि क्रमेण सर्वरूपाभेदेन उपासनं यदि वाचनिकं स्यात् तदा तथा उपासनं नित्यं स्याद् इति अर्थः॥६५॥

मत्वा निश्चित्य. तदेकं रूपम्. तथा सर्वभेदेन. एकस्यैव धर्मित्वेन मुख्योपास्यतया सम्मतस्यैव. माहात्म्येत्यादि. परब्रह्मणः सर्वात्मरूपमाहात्म्यस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सर्वावतारसमुच्चयेन उपासनम् इति विकल्पः इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः उक्तेति. दर्शाग्निहोत्रवत्. सिद्धान्तम् आहुः न इति इति. चेत् स्याद् इति. अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासयोरिव सर्वावतारसहभावश्रवणं चेत् स्याद् इति अर्थः॥६५॥

योऽपि इति. उपासकोऽपि इति अर्थः. तथा समाहारपूर्वकम्. एतद्दृष्टान्तेन इति. तथाच उपास्यरूपं विशिष्टं दर्शयेत् तत्तद्रूपविशिष्टम् एकमेव उपास्यम् एकस्मिन् रूपे सर्वावतारोपासनात्. यथार्थेति. सा अविरोधिनीति दिक्. अधिकन्तु प्रकाशे अनुसन्धेयम्॥६६॥२४॥

यथार्थमेव कैश्चिद् ज्ञाप्यते, यथार्थत्वात् तदपि अविरोधि इति ज्ञेयम्.

तृतीयाध्याये तृतीयपादे पञ्चविंशं न वा तत्सहभावाश्रुतेः इति अधिकरणम् ॥२५॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीमदवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥३॥३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भक्तिपूर्वार्धस्वरूपता-ज्ञापनाय इति अर्थः. कैश्चिद् उपनिषद्वाक्यैः ॥६६॥

॥ इति तृतीयतृतीये चतुर्विंशाधिकरणम् ॥२४॥

इति श्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुतगोपालजीकृते
ब्रह्मसूत्राणुभाष्यपदप्रदीपे तृतीयाध्यायस्य तृतीयः चरणः ॥३॥

गोस्वामिश्रीमदगिरिधरविरचितं विवरणम्

इति श्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरी-परमानिर्वचनीय-सरसवदन-तामरस-
सुधावगाहि श्रीमदाचार्यपदाम्बुज-कृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजयदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामि-श्रीगिरिधरविरचिते अणुभाष्यविवरणे
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

तृतीयो अध्यायः चतुर्थः पादः

पुरुषार्थो 'अतः' शब्दाद् इति बादरायणः ॥१॥ (३।४।१)

उपासनाभेदेऽपि उपास्याभेदात् शाखान्तरोक्तधर्माणामपि उसंहारः कर्तुम् उचितः इति पूर्वपादे निरूपितमिति तन्न्यायेन उत्तरकाण्डप्रतिपाद्यब्रह्म-फलकसर्वात्मभावेऽपि पूर्वकाण्डप्रतिपादितकर्मणाम् उपसंहारः प्राप्नोति न वा इति अधुना विचार्यते. विधिपक्षे तत्सहकृतस्य अस्य फलसाधकत्वम् इति सिध्यति. निषेधपक्षे तु केवलस्य इति. इममेव पक्षं सिद्धान्तत्वेन आह पुरुषार्थः इत्यादिना. सिद्धान्ते ज्ञाते न तत्र पूर्वपक्षसम्भवः इत्यादौ तमेव आह. अतः सर्वात्मभावादेव केवलात् पुरुषार्थः सिध्यति. कुतः? शब्दात्. श्रुतेः इति अर्थः. श्रुतिस्तु “नायमात्मा प्रवचनेन” (कठोप.२।२२) इत्युपक्रम्य, “यमवैष वृणुते” (तत्रैव) इत्यादिका, “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिका, “तमेवं विद्वानमृत इह भवति” (नृसिं.पू.उप.१।६) इति, सनत्कुमार-नारदसंवादे “यत्र नान्यत् पश्यति” (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्याद्यात्मिका छान्दोग्यश्रुतिश्च. एतदादिश्रुतिषु पूर्वोक्तरीत्या केवलस्यैव भगवद्भावस्य फलसाधकत्वं श्रूयत इति तथा. अत्र “फलमत उपपत्तेः”

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रसङ्गसङ्गत्या चरणान्तरम् आरचयितुम् आहुः उपासना... इत्यादि. उपास्याभेदाद् ब्रह्मत्वात्. उपसंहारः समुच्चयेन अनुष्ठानम्. तत् पूर्वकाण्डोक्त-कर्माणि. अस्य सर्वात्मभावस्य. केवलस्य पूर्वकाण्डीयकर्मासहकृतस्य सर्वात्मभावस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सङ्गतिबोधनार्थं पूर्वपादार्थानुवादपूर्वकम् एतत्पादार्थम् आहुः उपासनेत्यादिना. तन्न्यायेन पूर्वपादोक्तन्यायेन. एतेन अङ्गाङ्गिभावसङ्गतिः सूचिता. कर्मणाम् इति. “यज्ञो दानं तपश्चैव” (भग.गीता १८।५) इति गीतावाक्याद् यज्ञादिकर्मणाम् इति अर्थः. “भक्त्या त्वनन्यया” (भग.गीता ११।५४) इत्यनेन साधनान्तरापेक्षाभावाद् आहुः न वा इति. सूत्रम् अवतारयन्ति विधिपक्षे इति. ननु सर्वत्र अधिकरणे प्रथमतः पूर्वपक्षः तदनन्तरं सिद्धान्तः इति वर्तते. अत्र तु सिद्धान्तकथनम् इत्यतः आहुः सिद्धान्ते इति. तमेव सिद्धान्तमेव. सूत्रार्थम् आहुः अतः इति. सूत्रे ‘शब्दाद्’ इति उक्तं, तस्य तात्पर्यम् आहुः अत्र इति. तेन इति. ‘शब्द’-शब्दप्रयोगेन इति अर्थः. यत् सिद्धं तद् आहुः एतेन इति.

(ब्रह्मसू.३।२।३८) इत्यत्रेव उपपत्तिं हेतुत्वेन अनुक्त्वा, ‘श्रुति’पदं च अनुक्त्वा, ‘शब्द’पदं यद् उक्तवान्, तेन श्रुति-स्मृत्यात्मकः सर्वोऽपि प्रमाणशब्दो हेतुत्वेन व्यासाभिमतः इति ज्ञायते. तेन

“केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः, ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा, यन्न योगेन सांख्येन दान-व्रत-तपोऽध्वरैः, व्याख्या-स्वाध्याय-सन्न्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि”

(भाग.पुरा.११।१२।८/९)

इत्यादिरूपा स्मृतिरपि संगृह्यते. एतेन श्रुत्यादिप्रमाणवादिनाम् इदमेव अभिमतं, तद्विरुद्धवादिनाम् इतो अन्यदिति तेषाम् अप्रामाणिकत्वं ज्ञाप्यते. अतएव स्वनाम गृहीतम्. स्वस्य वेदव्यासकतुत्वेन तत्रैव यतो भरः.

अपरञ्च. वैदिकसिद्धान्ते भगवत्स्वरूपस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् प्राप्त-तत्स्वरूपाणां मुक्त्यनिच्छाकथनाद् “मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च” (ब्रह्मसू.१।३।२) मुक्तेः अपरमपुरुषार्थत्वात् सा भवतु नाम अन्यैः साधनैः. वस्तुतः परमपुरुषार्थो यः उक्तरूपः, स तु सर्वात्मभावेनैव इति ज्ञापनाय ‘फल’पदम् अनुक्त्वा ‘पुरुषार्थ’पदम् उक्तम्. एवं सति अस्य सूत्रस्य अर्थान्तरमपि व्यासाभिमतम् इति ज्ञायते. तथा सति अयं श्लिष्टः प्रयोगः. तथाहि पुरुषार्थो भगवानेव. कुतः? अतः शब्दात्. ‘अतः’पदविशिष्टश्रुतिवाक्याद् इति अर्थः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

परब्रह्मप्रापकत्वम्. अतएव उक्ते अर्थे प्रामाण्यातिशयादेव. तत्रैव वेदप्रामाण्यएव. मुक्त्यनिच्छा नृसिंहादिरूपैः मुक्तिवरदाने कृतेऽपि भक्तानाम् अग्रहणेच्छा. अन्यैः सर्वात्मभावातिरिक्तैः. यः उक्तरूपः “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन उक्तपुरुषोत्तमप्राप्तिरूपः. एवं सति उक्तार्थस्य सूत्रतात्पर्यविषयत्वे सति. ‘अतः’पदविशिष्टां श्रुतिम् आहुः अतःपरम् इत्यादिना. सा हि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अप्रामाणिकत्वं प्रमाणीभूत-वेदतात्पर्यानभिज्ञत्वम्. स्वनामग्रहणे तात्पर्यम् आहुः अतएव इति. ‘पुरुषार्थ’पदस्य तात्पर्यं वदन्ति अपरम् इति. सूत्रे ‘पुरुषार्थ’पदं यद् उक्तं तस्य प्रयोजनम् आहुः अपरञ्च इति. अन्यैः इति. मर्यादामार्गीयैः कर्मज्ञान-विहितभक्त्याख्यसाधनैः इति अर्थः. उक्तरूपः इति. पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपः इति अर्थः. व्याख्यानान्तरम् आहुः एवं सति इति. सूत्रे पुरुषार्थपददाने सति. श्लिष्टः प्रयोगः इति.

तैत्तिरीयोपनिषत्सु पठ्यते “अतः परं न अन्यद् अणीयसं हि परात् परं यद् महतो महान्तं, यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ताद्” (महाना. उप.१।१) इति॥१॥

अथ अत्र प्रत्यवतिष्ठते.

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येषु इति जैमिनिः॥२॥

विष्णोः इज्यत्वेन कर्मशेषत्वात् तत्स्वरूपज्ञानपूर्वको यागः फलाति-
शयहेतुरिति तन्माहात्म्यम् उच्यते इति अर्थवादरूपं तत्. अत्र दृष्टान्तम् आह
यथा अन्येषु इति. अन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु. “यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति, न स
पापं श्लोकं शृणोति” (तैत्ति.संहि.३।५।२।७), “यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“अतःपरं नान्यद् अणीयसं हि परात् परं यन् महतो महान्तं यदेकम् अव्यक्तम्
अनन्तरूपम्” (महाना.उप.१।१) इत्यादि॥१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अथ अत्र इत्यादि. पूर्वसिद्धान्तसूत्रे सर्वात्मभावस्यैव
साधनत्वं पुरुषोत्तमप्राप्तेरेव फलत्वम् इति उक्तम्. छान्दोग्ये च कर्माङ्गोपासनानामेव
पूर्वम् उत्क्रान्तत्वाद् अन्योपासनानामपि कर्मशेषतयैव फलोपयोगित्वम्. इत्थं च
पुरुषोत्तमस्यापि कर्मशेषतयैव फलप्रदत्वं नतु सर्वात्मभावमात्राद् कर्मनैरपेक्षतया इति
जैमिनिः प्रत्यवतिष्ठते इति अर्थः. कर्मशेषत्वाद् विष्णोः इज्यात्मकयज्ञशेषत्वाद् इति
अर्थः. तद् विष्णुः. तन्माहात्म्यं फलप्रदत्वाद्युक्तिभिः विष्णुमाहात्म्यम्. तच्छ्रुतिषु

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

‘अतःशब्दाद्’ इति श्लिष्टः प्रयोगः. एतादृशं श्रुतिवाक्यम् आहुः अतः परम् इति. परात्परम्
इत्यनेन अक्षराद् उत्तमत्वं बोध्यते. एतेन अत्र अणीयस्त्वं महीयस्त्वं च इति
विरुद्धधर्माश्रयत्वं बोधितम्. तथाच पुरुषोत्तमएव परमपुरुषार्थः इति सिद्धम्॥१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अथ इति. अत्र उक्ते अर्थे. प्रत्यवतिष्ठते प्रतिकूलतया
अवस्थितो भवति. मीमांसकः इति शेषः. तथाच कर्म कर्तव्यं, कर्माङ्गत्वेन ईश्वरस्य
फलदातृत्वम् इति मीमांसकानाम् आशयः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति विष्णोः इति.
कर्मशेषत्वाद् इति. अथातः शेष-शेषिलक्षणम् इत्यत्र कर्माङ्गत्वेन विष्णोः विधानाद्
इति अर्थः. तद् इति. विष्णोः माहात्म्यकथनम्. द्रव्यसंस्कारो यथा “यस्य पर्णमयी”
(तैत्ति.सं. ३।५।७।२) इति. यजमानसंस्कारो यथा यदाङ्क्ते इति. इयं षष्ठाष्टके

१.जुहु; २.यदाङ्क्ते’ इति पुरु.पाठौ.

वृङ्क्ते यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्या” (तैत्ति.संहि.२।६।१।५) इत्येवंजातीयका फलश्रुतिः अर्थवादः तद्वद् इति अर्थः॥२॥

ननु “तमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रब्राजिनो लोकम् ईप्सन्तः प्रब्रजन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२२). एतदग्रे च “ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वितैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति” (तत्रैव ४।४।२२) इति श्रुतिः भगवज्ज्ञानवतः सर्वत्यागं वदतीति न त्वदुक्तं साधीयः इत्यतः उत्तरं पठति.

आचारदर्शनात्॥३॥

ब्रह्मविदामपि वसिष्ठादीनाम् अग्निहोत्रादिकरणं जैमिनिः पश्यति इति तदाचारं प्रामाणिकं च मनुते इति तन्मतम् अनुवदन् इममपि अनूक्तवान् व्यासः. ब्रह्मविदां त्यागावश्यकत्वे गार्हस्थ्यम् एतेषां न स्याद् इति भावः. उक्तश्रुतिस्तु कर्मणि अशक्तानां तेषां त्यागम् अनुवदति. “लोकैषणायाश्च व्युत्थाय” (बृहदा.उप.३।५।१) इति श्रुतेः लोकसंग्रहार्थं तत्करणम् इति न वक्तुं शक्यम्॥३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विष्णुमाहात्म्यकथनम्. द्रव्यप्रसंशाम् आहुः ‘प्रयाजे’त्यादिना. “यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते कर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्या” (तैत्ति.संहि.२।६।१) इत्यादि. इदं च जैमिनिना चतुर्थतृतीयपादे उक्तं “द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वाद् फलश्रुतिः अर्थवादः स्याद्” (जैमि.सू.४।३।१) इति॥२॥

सूत्रचतुष्टयावतरणम् आहुः ननु “तमेव” इत्यादिना. श्रुतिभिः व्युत्थाय त्यागं कृत्वा. त्वदुक्तं जैमिन्युक्तम्. उत्तरं जैमिन्यभिप्रेतम् उत्तरम्. आचारदर्शनाद्. तन्मतं जैमिनिमतम्. कर्मण्यशक्तानाम् अन्धपंग्वादीनाम् इति अर्थः॥३॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रथमप्रपाठके श्रुतिः॥२॥

उत्तरसूत्रचतुष्टयम् अवतारयन्ति ननु इति. न त्वदुक्तम् इति. भगवज्ज्ञानपूर्वको यागः फलातिशयहेतुः इति न त्वदुक्तम् इति अर्थः. इममपि इति. “यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति” (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुत्या तथा मनुते इति अर्थः. ननु “तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति” (बृहदा.उप.६।४।२२) इति श्रुतेः व्यर्थत्वं स्याद् इत्यतः आहुः उक्तेति॥३॥

१. “तदाचारं च प्रामाणिकं मनुते इति”, “तदाचारं प्रामाणिकं इति च मनुते” इति (पुरु.) पाठौ.

तच्छ्रुतेः॥४॥

ब्रह्मविदः कर्माचारनिरूपकश्रुतेः इति अर्थः. साच “जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेज” (बृहदा.उप.३।१।१) इत्यादिरूपा. तथाच ज्ञानेनैव अर्थ-सिद्धिः चेत् स्यात्, तदा तदवतः आयाससाध्ये कर्मणि प्रवृत्तिः न स्याद् इति भावः ॥४॥

समन्वारम्भणात्॥५॥

“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते” (बृहदा.उप.४।४।२) इति श्रुतिः फलारम्भे विद्या-कर्मणोः साहित्यं दर्शयतीति न स्वातन्त्र्यं विद्यायाम्॥५॥

तद्वतो विधानात्॥६॥

“ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपूर्णमासयोः तं वृणीत” (आप.श्रौत. सू.३।१८।१) इति कल्पश्रुत्या ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेन वरणं विधीयतइति ब्रह्मज्ञानस्य आर्त्विज्याधिकारसम्पादकत्वात् कर्मशेषत्वमेव इति अर्थः॥६॥

ननु “यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेद्, गृहाद् वा प्रव्रजेद् वनाद् वा” (जाबा.उप.४) इत्यादिश्रुतिभ्यो विहितत्वाविशेषात् कर्म-तत्यागयोः ऐच्छिको विकल्पो अङ्गीकार्यः, अतो न शेषि-शेषभावः इत्यतः उत्तरं पठति.

नियमाच्च॥७॥

“आश्विनं धूम्रललामम् आलभेत, यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेद्”

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु लोकैषणाश्रुतेः ‘तमेव’ इत्यादिश्रुतेश्च कर्मानधिकारपरत्वात् कर्मकरण-श्रुतेरपि लोकसङ्ग्रहार्थत्वमेव स्याद् ननु पारमार्थिकत्वफलार्थत्वम् अतः आहुः ‘लोक’ इत्यादि. श्रुतेः श्रुतेरेव इति अर्थः. साच श्रुतिश्च. तद्वतो ब्रह्मज्ञानवतः॥४॥

तं फलार्थकर्मारम्भम्॥५॥

स्फुटार्थम् इदम्॥६॥

न शेषिशेषभावो न ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वम् इति अर्थः. उत्तरं पठति सूत्रकारो

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

कर्मकरणश्रुतेः लोकसंग्रहार्थत्वं स्याद् इत्यतः सूत्रं पठति. “तच्छ्रुतेः”, “समन्वारम्भणाद्”, “तद्वतो विधानाद्” एतत्सूत्रत्रयभाष्यं स्पष्टार्थम्॥४।५।६॥

उत्तरसूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. नियमाच्च इति सूत्रं व्याकुर्वन्ति

(तैत्ति.संहि.२।१।१०),

“ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टम् आलभेत, य आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणः सन् आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति” (तैत्ति.संहि.२।१।१५),

“यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्” (बह्व.ब्राह्म.)

इत्यादिश्रुतिभ्यो यथा कर्मकरणे नियमः श्रूयते, न तथा तत्त्यागेऽति न उक्तपक्षः साधुः इति अर्थः. ‘च’काराद् “नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते, मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः” (भग.गीता १८।७) इत्यादिरूपा स्मृतिः समुच्चीयते. त्यागविधिः अशक्तविषयः इति उक्तम् इति प्राप्ते ॥७॥

प्रतिवदति.

अधिकोपदेशात् बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥८॥

‘तु’शब्दः पूर्वपक्षं व्यवच्छिनत्ति. यदुक्तं “शेषत्वात् पुरुषार्थवादः” (ब्रह्मसू.३।४।२) इति, तन्न उपपद्यते. कुतः? अधिकोपदेशात्. कर्मसाम्य-मपि न वक्तुं शक्यं यत्र, तत्र तच्छेषत्वं दूरापास्तम्. यतः ईश्वरः कर्मणः सकाशाद् अधिकः उपदिश्यते. तथाहि.

“स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः सर्वस्य अधिपतिः सर्वम् इदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च, स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एव असाधुना कनीयान्”

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

जैमिन्युत्तरम् अनुवदति इति अर्थः. कर्मकरणनियमम् उपपादयन्ति “आश्विनम्” इत्यादिना. न उक्तपक्षो ज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसाधकत्वपक्षः. नियतस्य नियततया नित्यतया वेदबोधितस्य ॥७॥

इति प्राप्ते इति पूर्वसूत्रैः पूर्वपक्षे प्राप्ते. प्रतिवदति सूत्रकारः समाधत्ते इति अर्थः. पूर्वपक्षं जैमिनिपूर्वपक्षम्. यत्र ब्रह्मणि. तच्छेषत्वं कर्मशेषत्वम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

आश्विनम् इति ॥७॥

प्राप्ते इति. अनेन प्रकारेण ब्रह्मणो विद्यायाः कर्माङ्गत्वे प्राप्ते इति अर्थः. प्रतिवदति इति. प्रत्युत्तरं सूत्रकारो वदति इति अर्थः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति तुशब्दः इत्यादिना. कर्मसाम्यम् इति. कर्मस्वरूपफलनिरूपितं सादृश्यम् इति अर्थः. “स वा”

(बृहदा.उप.४।४।२२) इत्युपक्रम्य अग्रे पठ्यते

“तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेन अनाशकेन च एतमेव विदित्वा मुनिः भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् अभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति” (तत्रैव)

इत्यादि. एवं सति यज्ज्ञानसाधनत्वं यज्ञे, तस्य यज्ञशेषत्वं कथं स्यात् ? किन्तु यज्ञस्य तद्वेदनशेषत्वम्. एतेन इज्यत्वेन तच्छेषत्वं प्रत्युक्तं वेदितव्यम्. तज्ज्ञानस्य यागपूर्वाङ्गत्वात् तद्विशिष्टस्य तस्य ब्रह्मज्ञानसाधनत्वात्. नच पूर्वं सामान्यतः इज्यज्ञानम् आसीद्, यज्ञेन विशेषतो ज्ञाने सति पुनः यज्ञकरणे पूर्णं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

यज्ज्ञानसाधनत्वं यज्ञादिकर्मणि ब्रह्मज्ञानशेषत्वम्. तस्य ब्रह्मणो ज्ञानस्य. एतेन यज्ञादिना साधनानां ब्रह्मज्ञाने शेषत्वाङ्गीकारेण. तच्छेषत्वम् इज्यादियागशेषत्वम्. ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वाभावे युक्तिम् आहुः तज्ज्ञानस्य इत्यादिना. तद्विशिष्टस्य तस्य इज्यत्वेन यद् ब्रह्मज्ञानं तद्विशिष्टस्य कर्मणः इति अर्थः. इत्थं च ब्रह्मज्ञानाङ्गकर्मणो ब्रह्मज्ञानस्य कारणतायाम् आत्माश्रयप्रसङ्गो अन्योन्याश्रयप्रसङ्गो वा इति भावः. कर्मरूपम् एकम् अन्तराकृत्य ब्रह्मज्ञानस्य स्वस्मिन् सापेक्षत्वाद्. ननु “यदेव विद्यया श्रद्धया उपनिषदा वा करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति” (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुतेः पूर्वं यज्ञाङ्गभूतं ब्रह्मज्ञानं शाब्दं तादृशज्ञानाङ्गक-यज्ञोत्तरं जातं ज्ञानं ब्रह्मसाक्षात्काररूपं तत्साक्षात्काराङ्गक-यज्ञकरणानन्तरं च मोक्षो जनकादीनाम् इति पूर्वोत्तरयोः ज्ञानयोः भेदात् स्वस्मिन् सापेक्षाभावाद् न आत्माश्रयदोषः इत्यतः आहुः नच इत्यादि. पूर्वं मोक्षव्यवहितयज्ञात् पूर्वम्. सामान्यतः शाब्दरूपम्. इज्यज्ञानं ब्रह्मज्ञानम्. यज्ञेन द्वितीययज्ञेन स्वल्पव्यवहितेन. विशेषतो ज्ञाने ब्रह्मसाक्षात्काररूपे ज्ञाने. न तदशेषत्वं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

(बृहदा.उप.६।४।२२) इति श्रुतिः बृहदारण्ये शारीरब्राह्मणे. एवं सति इति. कर्मणां भगवज्ज्ञानशेषत्वे उक्ते सति. ‘अधिकोपदेशाद्’ इतिसूत्रांशेन सिद्धम् आहुः एतेन इति. कथं प्रत्युक्तम् इति तद्विशदयन्ति तज्ज्ञानस्य इति. इज्यत्वेन भगवज्ज्ञानविशिष्टस्य इति अर्थः. तद्विशिष्टस्य इति. तादृशभगवज्ज्ञानविशिष्टस्य इति अर्थः. तस्य यागस्य ब्रह्मज्ञानेति. तथाच यथा स्वर्गज्ञानानन्तरयागे प्रवृत्त्या यागपूर्वाङ्गत्वं स्वर्गस्य सिद्धावपि यागाङ्गत्वं स्वर्गस्य नास्ति तथा ब्रह्मणोऽपि नास्ति इति भावः. पुनः शेषत्वम् आशङ्कते नच इति. पूर्वम् अध्ययनकाले. इज्यज्ञानम् इति. इज्यत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानम्

कर्मफलं 'भवतीति न तदशेषत्वम् इति वाच्यम्. “तमेव विदित्वा मुनिः भवति एतमेव प्रब्राजिनो लोकम् अभीप्सतः प्रव्रजन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति श्रुतेः तद्वेदनस्य गार्हस्थ्यविरोधित्वेन तदसम्भवात्. यश्च साधवसाधुकर्मफल-सम्बन्धरहितः, तस्य कर्तृत्वेन तथात्वम् अनुपपन्नम्, अतो जीवात्मनएव तथात्वं, नतु परस्य. नच एतयोः वास्तवाभेदाद् न एवम् इति वाच्यम्. वास्तवाभेदाद् जीवेऽपि उक्तश्रुतिभ्यः तथात्वस्य सुवचत्वात्. वास्तवाभेदस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मज्ञानस्य न कर्माशेषत्वम् इति अर्थः. तदसम्भवाद् ब्रह्मज्ञानिनः कर्मकरणासम्भवाद् इति अर्थः. ननु “अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते” (भग.गीता १०।८) इतिवाक्यैः भगवतएव यज्ञकरणसम्भवाद् भगवज्ज्ञानस्य च कर्माङ्गत्वसम्भवाद् ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वम् अव्याहतमेव इत्यतः आहुः यश्च इत्यादिना. यश्च ईश्वरश्च. तस्य ईश्वरस्य कर्तृत्वेन यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेन. तथात्वं मोक्षकामनया क्रियमाणयागे मोक्षकामनावतो ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञाङ्गत्वम्. अनुपपन्नं तत्करणस्य लोकसङ्ग्रहार्थत्वेन मोक्षार्थकरणम् अनुपपन्नम् इति अर्थः. तथात्वम् इति. तथात्वं मोक्षार्थं यज्ञकरणम्. यज्ञे जीवीय-ब्रह्मज्ञानस्य अङ्गत्ववचनं कर्तव्यम् इति अर्थः. तच्च दूषितं ‘तदसम्भवाद्’ इति पूर्वग्रन्थेन इति भावः. एतयोः जीवेश्वरयोः. न एवं जीवीयब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गशेषत्वं न इति अर्थः. इति न वाच्यम् इति समुदितार्थः. वादिपक्षहेतुभूतं वास्तवाभेदं निरूपयन्ति वास्तवेत्यादिना. उक्तश्रुतिभ्यो जीवस्य ब्रह्माभेदबोधकश्रुतिभ्यः. तथात्वस्य

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति अर्थः. विशेषतः इति. इज्यब्रह्मज्ञानविशिष्टयज्ञकरणानन्तरं विशेषतो ब्रह्मज्ञानं जायते इति अर्थः. ज्ञाने सति इति. विशेषतो ब्रह्मज्ञाने सति इति अर्थः. पूर्णं फलम् इति. “यदेव विद्यया” (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुत्या यागो वीर्यत्तरो भवति, तेन च पूर्णफलं भवति इति भावः. न तदशेषत्वम् इति. ब्रह्मणो यागाङ्गत्वं न भवतीति न इति अर्थः. आशङ्कां परिहरन्ति तमेव इति. तद्वेदनस्य तादृग्ब्रह्मज्ञानस्य. तदसम्भवाद् इति. यज्ञासम्भवाद् इति अर्थः. तथाच यज्ञं विना फलोत्पादनं कर्तुं न शक्यते इति कर्मशेषत्वं ब्रह्मणो न सम्भवति इति भावः.

ननु ईश्वरस्य यज्ञकर्तृत्वं सम्भवति कुतः, कर्तृत्वात्. कर्तरि च पुनः यज्ञशेषत्वम् अस्ति इति शङ्कते यश्च इति. तथात्वं कर्मशेषत्वं जीवस्यैव इत्यनेन निराकरणम्. एकदेशिमतेन पुनः शङ्कते नच इति. तथात्वस्य कर्मशेषत्वस्य. पूर्वमेव

पूर्वमेव निरस्तत्वात् तम् आदाय ये पूर्वपक्षाः ते पूर्वपक्षाएवेति अलम् उक्त्या.

“न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः, परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते तद् यतयो विशन्ति” (महाना.उप.१०।५) इति श्रुत्या कर्म-प्रजा-धनैः मोक्षाप्राप्तिम् उक्त्वा त्यागेन तत्प्राप्तिः उच्यते. त्यागविषयस्य अन्यस्य अनुक्त्या सान्निध्यात् कर्मादीनामेव त्यागो अभिप्रेतः. तथाच मुक्तोपसृप्यत्वाद् भगवतः उक्तसाधनेन मुक्ताः सन्तो नाकं परेण विद्यमानमपि भक्त्या गुहायां विभ्राजते, तद् “यस्मात् परं नापरम् अस्ति” (तत्रैव) इत्यादिना उपक्रान्तत्वात् पुरुषोत्तमस्वरूपं ‘यतयो’ विरहभावेन तद्विना स्थातुम् अशक्ताः तत्प्राप्त्यर्थं यतमाना ‘विशन्ति’ इति भक्तिमार्गीयाणां फलम् उक्तम्. अग्रे “वेदान्तविज्ञान” (महाना.उप.१०।६) इति ऋचा ज्ञानमार्गीयाणां फलम् उक्तम्, अन्यथा पौनरुक्त्यं स्यात्. एवं कर्म-ज्ञानाभ्याम् अधिको

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मतज्ज्ञानस्येव जीवीयब्रह्मज्ञानस्यापि कर्मशेषत्वस्य वास्तवाभेदं निरूपयन्ति वास्तवाभेदस्य इत्यादिना. वास्तवाभेदो नाम घटाकाशमहाकाशयोरिव औपाधिक-भेदाभावः. सच पूर्वमेव द्वितीयाध्यायतृतीयचरणे “अंशो नानाव्यपदेशाद्” (ब्रह्म.सू. २।३।४३) इति अधिकरणे निरस्तः इति भावः. भक्त्यैव पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति विशेष-प्रतिपादिकां बृहन्नारायणोपनिषदि “अणोरणीयान्” (महाना.उप.८।३) इति अनुवाकस्थां श्रुतिम् आहुः “न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः” (तत्रैव १०।५) इत्यादिकाम्. नाकं मोक्षसुखम्. परेण कृतं सम्पादितम् इति तृतीयार्थः. तद् भक्तिलभ्यं पुरुषोत्तमस्वरूपम्. यस्मात् परं “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति. उप.२।१) इत्यादिश्रुतिबोधनाद् परम् इति अर्थः. फलम् उक्तं तादृशयतीनां फलम् उक्तम् इति अर्थः. अग्रे एतत्फलनिरूपकश्रुतेः अग्रे. अन्यथा उभाभ्यां श्रुतिभ्याम् एकफलनिरूपणे.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. “अंशो नानाव्यपदेशाद्” (ब्रह्मसू.२।३।४३) इति सूत्रे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे निरस्तत्वात्. अंशत्वव्यवस्थापनेन इति शेषः. पुनः कर्मशेषत्वं दूरीकर्तुं श्रुतिम् आहुः न कर्मणा इति. श्रुतिः उत्तानार्था. भक्तिभावस्य फलम् आहुः तथाच इति. ज्ञानमार्गीयाणां फलबोधिकाः श्रुतेः व्यवस्थाम् आहुः अग्ने इति. सूत्रैकदेशम् अवतारयन्ति एवम् इति.

भक्तिमार्गः, तत्प्राप्यः पुरुषोत्तमश्च श्रुतौ उपदिश्यतइति तदेकप्रमाणवादिनो **बादरायणस्य** मतमपि एवं जैमिनिमताद् अधिकम् इति अर्थः. एवं श्रुत्या परमतं निरस्य शिष्यविश्वासार्थं स्वानुभवमपि प्रमाणयति **तद्दर्शनाद्** इति. उक्ताधिक्यवत्त्वेनैव* भगवतो भक्तिमार्गस्य च अनुभवाद् इति अर्थः. “श्रुतयो अधिकम् आत्मानं दर्शयन्ति” इति न व्याख्यानम्. ‘उपदेश’पदेन पौनरुक्त्यापत्तेः. तन्मतम् अनिरस्य तस्मात् स्वमतः आधिक्यमात्रोक्त्या निष्कामकर्मणः चित्तशुद्धिहेतुत्वेन परम्पराज्ञानमार्गोपयोगाङ्गीकारो अत्र सूच्यते. पुष्टिभक्तिमार्गे तु सोऽपि न, “**यन्न योगेन**” (भाग. पुरा.११।१२। ९) इति वाक्यात्. एवं सति क्व कर्मशेषत्वगन्धोऽपि ब्रह्मणि इति भावः॥८॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदेकेत्यादि. श्रुत्येकप्रमाणवादिनः इति अर्थः. **बादरायणस्य** इत्यनेन सूत्रेण ‘बादरायण’पदतात्पर्यम् उक्तम्. एवं पूर्वोक्तरीत्या श्रुत्युक्तपरत्वव्याख्यानेन. **परमतं** ‘पर’पदेन शारीराद् जीवात् परत्वम् इति श्रुत्यर्थवक्तुः मतम्. **उक्तेत्यादि.** उक्तौ यौ कर्मज्ञानमार्गौ तयोः फले च तदपेक्षया **आधिक्यवत्त्वेन** इति अर्थः. श्रुतयो “**न कर्मणा**” (महाना.उप.१०।५), “**परेण नाकं**” (तत्रैव), “**ब्रह्मविदानोति परम्**” (तैत्ति.उप. २।१) इत्याद्याः श्रुतयः. **अधिकम्** अक्षरापेक्षया अधिकम्. **आत्मानं** पुरुषोत्तमम्. **न व्याख्यानं** शारीरजीवापेक्षया आत्मनः आधिक्यं श्रुत्या बोध्यते इति “**न कर्मणा**” इत्यादिश्रुत्या अग्रेतन “**वेदान्तविज्ञान**” (महाना.उप.१०।६) इति श्रुत्या च मुक्तिरेव प्रतिपाद्यते इति च **व्याख्यानं** न वाच्यम् इति अर्थः. तत्र हेतुम् आहुः **‘उपदेश’पदेन** इत्यनेन. तथाच “**न कर्मणा**” इत्यादिश्रुतिष्वपि **उपदेशो** अग्रेतन-“**वेदान्तविज्ञान**” ढतिश्रुतावपि मोक्षोपदेशः इति हेतोः इदं **व्याख्यानं** न समीचीनम् इति अर्थः. **तन्मतम्** अनुपदम् उक्तं वादिमतम्. **अनिरस्य** सूत्रकारेण अनिरस्य. **परम्परया** इत्यादि. चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पादनेन मोक्षे कर्मोपयोगाङ्गीकार इति अर्थः. **सोऽपि** चित्तशुद्धिद्वारा कर्मोपयोगोऽपि. **कर्मशेषत्वगन्धः** परब्रह्मणः कर्मशेषत्वसम्भावना ॥८॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

तद्दर्शनाद् इति. सूत्रैकदेशव्याख्यानं कैश्चित् कृतं तद्दूषयन्ति श्रुतयः इत्यादिना. ‘बादरायण’पदस्य तात्पर्यम् आहुः **तन्मतम्** इति. जैमिनिमतम् इति अर्थः. अग्रे स्पष्टम्॥८॥

* ‘वचनेनैव’ इति पुरु.पाठः

तुल्यं दर्शनम् ॥९॥

यदुक्तम् “आचारदर्शनात् कर्मशेषत्वं ब्रह्मणः” इति, तदपि न साधीयः. तुल्यं यतो दर्शनम्. ब्रह्मविदां शुक्तृतीयजन्मवदार्षभादीनां त्यागदर्शनात्. एतेन यद्विदां कर्मत्यागः, तस्य कर्मशेषत्वं कथं शंकितुमपि शक्यम् इति भावः सूच्यते. एतेन “कर्मणि अशक्तान् प्रति त्यागविधिः” इति निरस्तम्. शुकादीनाम् अतथात्वात् ॥९॥

ननु “जनको ह वैदेह” (बृहदा.उप.३।१।१) इति श्रुतिसाहाय्याद् आचारदर्शनं त्यागदर्शनाद् अधिकबलम् इत्यतः उत्तरं पठति.

असार्वत्रिकी ॥१०॥

ब्रह्मविदां सर्वेषाम् एतद् आचारं चेद् निरूपयेत् श्रुतिः, तदा त्वदुक्तं स्याद्, नतु एवम्. यतः एतादृशी श्रुतिः ब्रह्मवित्सु सर्वेषु न श्रूयते. तथाहि.
“एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मणः इति पदेन ब्रह्म ब्रह्मविद्या च इति द्वयं बोध्यम्. आर्षभादीनाम् ऋषभप्रभृतीनाम् इति अर्थो बोद्धव्यः. त्यागदर्शनात् कर्मत्यागदर्शनाद्. यद्विदां ब्रह्मविद्यावताम्. तस्य ब्रह्मविद्यायाः ब्रह्मणश्च इति अर्थः. एतेन ब्रह्मविद्यावद्भिः शुकादिभिः अतिसमर्थैः कर्मत्यागेन. अतथात्वात् समर्थत्वाभावाद् ॥९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. एतादृशी जनकाचारप्रदर्शकश्रुतिसदृशी. एतद्विद्वांसो ब्रह्मविद्यावन्तः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इदं च सूत्रं विद्यायाः कर्मशेषत्वनिवारकम्. आचारदर्शनाद् इति. विद्यायाः कर्माङ्गत्वे अयं हेतुः. तेन च कर्मशेषत्वम् इति अर्थः. खण्डयन्ति तुल्यम् इति. ब्रह्मविदाम् इति. एवञ्च साधारणत्वाद् अयं हेतुः हेत्वाभासान्तर्गतः इति भावः. जैमिनीयमते या त्यागव्यवस्था तां निरस्यति शुकादीनाम् इति ॥९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. अधिकबलम् इति. श्रुतिः सहायभूता भवति इति अधिकबलम् इति अर्थः. तथाच साधारण्यं नास्ति इति भावः. अतः इति. अतो हेतोः. श्रुतेः साधारणत्वं बोधयितुं सूत्रान्तरम् आहुः असार्वत्रिकी इति. सूत्रार्थम् आहुः ब्रह्मविदाम् इति. एतद्ध स्म इति. इयं श्रुतिः बृहदारण्ये शारीरब्राह्मणे एतदनन्तरं

किमर्था वयम् अध्येष्यामाहे ? किमर्था वयं यक्ष्यामहे ?” (ऐत.आर.३।२।६)
 “एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसो अग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे” (कौषी.उप.२।४),
 “एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च
 लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति” (बृहदा.उप.३।५।१),
 “एतावद् अरे खलु अमृतत्वम् इह उक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज” (तत्रैव ४।५।१५)
 इत्यादिश्रुतयो बह्व्यः तद्विदां कर्मत्यागमेव अनुवदन्ति, अतः
 त्यागपक्षएव बलवान् ॥१०॥

ननु ब्रह्मावित्वाविशेषेऽपि एकेषां कर्मकृतिः, एकेषां तत्यागः इति
 विभागः कुतः ? इति आशङ्क्य तत्र हेतुम् आह.

विभागः शतवत् ॥११॥

“एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति” (बृहदा.
 उप.४।३।३२) इति श्रुतेः मानुषानन्दम् आरभ्य ब्रह्मानन्दपर्यन्तं ये गणिता
 आनन्दाः ते सर्वे पुरुषोत्तमानन्दात्मकाएव. एवं सति येषु यावान् आनन्दो दत्तो
 अस्ति, तावन्तं तं निरूपयन्ति अधिकारतारतम्येन तद्दानम् इति ज्ञापनाय
 शतोत्तरं शतोत्तरम् आनन्दं श्रुतिः न्यरूपयत्. अतएव पुरुषायुःसंख्यासमानसंख्यैव
 उत्कर्षः उक्तः, तेन पुरुषधर्मस्य अधिकारस्यैव उत्कर्षः सूच्यते. एवं प्रकृतेऽपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

त्यागपक्षएव इति. एवकारेण आचारपक्षस्य बलं व्यवच्छिद्यते ॥१०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. एकेषां जनकादीनाम्. एकेषां शुकर्षभादीनाम्.
 तत्र विभागे. गणिताः आनन्दवल्ल्यां गणिताः. निरूपयन्ती श्रुतिः भगवद्दत्तानन्दम्
 अधिकारिभेदेन निरूपयन्ति इति अर्थः. निरूपयन्ति इति स्त्रियां प्रथमा. अतएव कर्म-
 करणतत्यागविभागयोः अधिकारविभागाधीनत्वादेव. उत्कर्षः उक्तः आप्तुः उत्कर्षेण
 आनन्दोत्कर्षः उक्तः इति अर्थः. एवं प्रकृतेऽपि कर्मत्यागविभागेऽपि. अपकृष्टाधिकारे

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

मैत्रेयीब्राह्मणे. बह्व्यः इति. बहुत्वानुगृहीतत्वबोधिका इति अर्थः. एव इति. एतेन
 कर्मकरणपक्षो व्यवच्छिद्यते ॥१०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. एकेषाम् इति. जनकादीनाम्. एकेषां
 शुकादीनाम्. व्याकुर्वन्ति एतस्यैव इति. दत्तोस्ति इति. भगवता इति शेषः. निरूपयन्ति
 इति सुबन्तं ‘श्रुतिः’ इत्यस्य विशेषणम्. अधिकाराभिप्रायादेव. सङ्ख्यासमानेति.

अन्यभावरहित्यतारतम्येन भगवद्भावतारतम्यम्, अत्रतु अनुग्रहएव अधिकाररूपइति तदुत्कर्षे त्यागः, तदनुत्कर्षे न इति अर्थः॥११॥

यच्च उक्तं “तद्वततो विधानाद्” (ब्रह्मसू.३।४।६) इति, तत्र आह.

अध्ययनमात्रवतः॥१२॥

यदुक्तं “ब्रह्मिष्ठो ब्रह्म” (आप.श्रौ.सू.३।१८।१) इत्यादि, तत्र ‘ब्रह्म’शब्देन वेदएव उच्यते, नतु परः. तथाच तं ब्रह्मत्वेन अविकृतशब्दरूपत्वं ज्ञात्वा सततं तदध्ययनमात्रं यः करोति, नतु तेन किञ्चित् कामयते, तस्य अधिकारो ब्रह्मत्वात्विज्य इति उच्यतेइति न ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वम्. प्रत्ययस्य अतिशायनार्थकत्वाद् अतिशयेन ब्रह्मरूपः तदैव भवतीति युक्तं तस्य तदात्विज्यम्. एवं सति ‘ब्रह्म’पदं ब्राह्मण्यपरमपि सङ्गच्छते.

अथवा. वेदाध्ययनमात्रवतः कर्मणि अधिकारः, नतु ब्रह्मविदोऽपि इति अर्थः. न च तदन्तःपातित्वेन वेदान्तानामपि अध्ययनस्य आवश्यकत्वे तत्प्रतिपाद्य-ब्रह्मज्ञानस्यापि अवर्जनीयत्वात् तद्वतएव तत्र अधिकारः इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अत्यागः इति अर्थः. एतदेव उपपादयन्ति अन्यभावेत्यादिना. तथाच भगवदतिरिक्त-भावरहित्ये कर्मत्यागो अन्यभावसत्त्वेत्यागः इति अधिकारविभागेन विभागो बोध्यो ज्ञानमार्गे. अत्रतु भगवन्मार्गेतु. तदुत्कर्षे अनुग्रहोत्कर्षे. त्यागः कर्मत्यागः॥११॥

सूत्रम् अवतारयन्ति यच्च उक्तम् इत्यनेन. तद्वतो ब्रह्मिष्ठत्ववतो ब्रह्मणः. विधानात् कर्मकरणात्विज्यविधानाद्. नतु परो ब्रह्मविद्यावान् चतुर्मुखः. तं ‘ब्रह्म’पदवाच्यं वेदम्. तेन वेदाध्ययनेन. प्रत्ययस्य ‘ब्रह्मिष्ठे’त्यत्रत्य इष्टन्प्रत्ययस्य इति अर्थः. तादृशाध्ययनवतो ब्रह्मत्वेन वरणयोग्यस्य दुर्लभत्वात् कर्मविलोपप्रसङ्गाद् आहुः अथवा इत्यादि. तद्वतएव शाब्दपरोक्षरूपब्रह्मविद्यावतएव. तत्र कर्मणि. एवञ्च

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

शतवर्षम् आयुः तत्समानः इति अर्थः. प्रकृते योजयन्ति एवम् इति. तदुत्कर्षे भगवदनुग्रहोत्कर्षे अथवा अन्यभावरहित्येन भगवद्भावोत्कर्षे॥११॥

सूत्रम् अवतारयन्ति यच्च उक्तम् इति. तद्वतः ब्रह्मज्ञानवतः. विधानाद् इति आत्विज्यविधानात्. व्याकुर्वन्ति यदुक्तम् इति. तं वेदम्. प्रत्ययस्य इति. इष्टन् प्रत्ययस्य इति अर्थः. पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. शङ्कते नच इति. तदन्तःपातित्वेन इति. वेदाध्ययनान्तःपातित्वेन इति अर्थः.

वाच्यम्, शाब्दपरोक्षज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानत्वाभावात्. नहि “सिता मधुरा” इति शाब्दज्ञानमात्रवान् तन्माधुर्यज्ञो भवति. तथा सति पित्तोपशमादिकं तत्कार्यमपि स्यात्, नतु एवम्. अतएव छान्दोग्ये सनत्कुमारेण “यद् वेत्थ तेन मोपसीद” (छान्दो.उप.७।१।१) इत्युक्तो नारदः ऋग्वेदम् आरभ्य सर्पदेवजनविद्यापर्यन्तं स्वाधीतम् उक्त्वा आह “सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि, नात्मविद्” (छान्दो.उप.७।१।३) इति. अतो अपरोक्षब्रह्मज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानम् उच्यते. अतएव तैत्तिरीयो-पनिषत्सु “वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः” (महाना.उप.१०।६) इति पठ्यते. ‘विज्ञानम्’ अनुभवएव, नतु ज्ञानमात्रम्, अतो दूरापास्तं कर्मशेषत्वं ब्रह्मणः. “तं विद्या-कर्मणी” (बृहदा.उप.४।४।२) इत्यादिस्तु संसार्यात्मनः पूर्वदेह-त्यागसामयिकं वृत्तान्तं निरूपयति, नतु ब्रह्मविदः इति “समन्वारम्भणाद्” (ब्रह्मसू. ३।४।५) इति सूत्रम् उपेक्षितम् आचार्येण॥१२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मत्तद्विद्यावतोः कर्मशेषत्वम् अनाकुलमेव इति अर्थः. ब्रह्मज्ञानत्वाभावात् शाब्दपरोक्षस्य प्रथमाध्यायएव खण्डितत्वेन ब्रह्मज्ञानत्वासम्भवाद् इति अर्थः. ‘तुष्यतु’ इतिन्यायाद् दूषणसौकर्याच्च दूषणान्तरम् आहुः न हि इत्यादिना. तथा सति शाब्देन सितारसप्रत्यक्षे सति. अतएव शाब्देन अर्थापरोक्षस्य असम्भवादेव. मन्त्रविदेव आत्मप्रतिपादकशब्दजन्यशाब्दबोधवान्. एवकारेण आत्मप्रत्यक्षं व्यवच्छिद्यते. अनुभवः प्रत्यक्षम्. एवकारेण शाब्दं व्यवच्छिद्यते. अतः उपनिषद्जन्यशाब्दबोधस्य ब्रह्मविद्यात्वाभावाद्. तं पञ्चाग्निविद्यया कर्मफलालौकिकदेहप्राप्त्यर्थं द्युलोकादौ गच्छन्तम्. विद्या कर्मविद्या नतु ब्रह्मविद्या. समन्वारभेते अनुगच्छतः॥१२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

उत्तरयन्ति शब्देति. कुतो नास्ति? इत्यतः आहुः न हि इति. नतु एवं तथातु न दृश्यते इति अर्थः. तथाच प्रकृतेऽपि तादृशज्ञाने सति शुकादिवत् सञ्चरेद् नतु आर्त्विज्यं कुर्याद् इति भावः. अत्र प्रमाणम् आहुः छान्दोग्ये इति. प्रमाणान्तरम् आहुः अतएव इति. ननु तथापि विद्यायाः कर्मशेषत्वम् अस्त्येव. कुतः? “तं विद्याकर्मणि” (बृहदा. उप.४।४।२) इत्यनेन समन्वारम्भणस्य विहितत्वात् कर्मसाहित्येन फलजनकत्वाद् विद्यायाः इति शङ्कायाम् आहुः तं विद्या इति. वृत्तान्तम् इति. संसारिजीववृत्तान्तं निरूपयति शारीरब्राह्मणे श्रुतिः इति. तथाच तत्र ‘विद्या’पदेन विद्वद्वाक्योक्ता विद्या कर्माङ्गीभूता गृह्यते नतु वेदान्तविद्येति न तस्याः कर्मशेषत्वम् इति अर्थः॥१२॥

यच्च उक्तं “नियमाच्च” (ब्रह्मसू.३।४।७) इति तत्र आह.

न अविशेषात्।।१३।

“आश्विनम्” (तैत्ति.संहि.२।१।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः कर्मकृतौ यथा नियमः श्रूयते, न तथा त्यागे इति यदुक्तं, तद् न. कुतः? अविशेषात्. “न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः” (महाना.उप.१०।५) इति श्रुतिः कर्मादिना अमृतत्वाप्राप्तिम् उक्त्वा तत्यागेन तां वदन्ती कर्मत्यागस्य आवश्यकत्वं वदतीति तस्माद् न विशेषो यतः इति अर्थः. तथाच ‘अमृतत्व-मानशुः’ इतिपदात् मुमुक्षोः कर्मत्यागनियमः, अमुमुक्षोः तत्कृतिनियमः इति व्यवस्था इति भावः.

अथवा. ननु क्रमप्राप्ते तुरीयाश्रमे हि कर्मत्यागः, द्वितीये तस्मिन्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति यच्च उक्तम् इत्यादिना. “नियमाच्च” (ब्रह्मसू.३।४।६) इतिसूत्रे नियमः उक्तः तत्र आह इति अर्थः. आश्विनम् इत्यादि. “आश्विनं धूम्रललाममालभेत” (तैत्ति.संहि.२।१।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः इति अर्थः. कर्मकृतौ इत्यादि. तथाच यथा नियमात् कर्मकृतेः आवश्यकता तथा नियमाभावाद् न त्यागावश्यकता इति पूर्वपक्षः. तद् न इति. त्यागे नियमाभावः इति उक्तं तद् न इति अर्थः. अविशेषाद् नियमेन अनुष्ठानांशे कर्मत्यागयोः विशेषाभावाद् इति अर्थः. त्यागे नियमेन अनुष्ठेयत्वम् उपपादयन्ति “न कर्मणा” (महाना.उप.१०।५) इत्यादिना.

ननु औपनिषदब्रह्मात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वाभावेऽपि औपनिषदजीवात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वम् आवश्यकम् इति उपपाद्य निषेधितुम् आहुः अथवा इत्यादि. तस्मिन्

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति यच्च उक्तम् इति. व्याकुर्वन्ति आश्विनम् इति. “आश्विनं धूम्रललामम् आलभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेद्” (तैत्ति.सं.२।१।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः इति अर्थः. नियमः इति. आश्विनपश्वालम्भनाकरणे दौर्ब्राह्मण्यदोषः स्याद् इत्येतदर्थम् अवश्यं सोमे पश्वालम्भनं कर्तव्यम् इति नियमः इति अर्थः. सौत्रं हेतुं व्याकुर्वन्ति न कर्मणा इति. आवश्यकत्वम् इति. कर्मत्याग-पूर्वकमोक्षप्राप्तेः उक्तत्वात् त्यागस्यापि नियमेन आवश्यकत्वम् इति अर्थः. इदमेव विशदयन्ति तथाच इति.

पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. तत्र कर्मणि. तत्स्वरूपज्ञानं कर्तृत्वस्वरूप-

कर्मकरणनियमः. तत्रच कर्तुः अङ्गत्वेन तत्स्वरूपज्ञानम् आवश्यकम्. तच्च वेदान्तैरेव इति कथं न कर्मशेषत्वम् ? इति उत्सूत्रम् आशङ्क्य निषेधति न इति. “यदहरेव विरजेद्” (जाबा.उप.४) इति श्रुतेः “तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता” (भाग.पुरा.११।२०।९) इति भगवद्वाक्याच्च त्यागे वैराग्यस्य च प्रयोजकत्वाद् आश्रमविशेषे विशेषाभावाद् अप्रयोजकत्वाद् इति अर्थः. यत्रापि क्वचित् क्रमप्राप्तिः तत्रापि न तज्ज्ञानं ब्रह्मज्ञानम् इति पूर्वसूत्रएव उक्तम् इति भावः. एतेन वेदाध्ययनादिकमपि अप्रयोजकम् इति ज्ञापितम्. अतएव शुकस्य वैराग्यातिशयाद् उपनयनादेरपि अनपेक्षा उच्यते. एवं सूत्रद्वयेन कर्माधिकारसम्पादकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्य तच्छेषत्वं निरस्तम्॥१३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

गृहाश्रमे इति अर्थः. तत्र कर्मकरणे. आवश्यकं “ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत” () इति वाक्यात् कर्तुः स्वात्मज्ञानम् आवश्यकम् इति अर्थः. कथं न इत्यादि. औपनिषदजीवात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वम् इति अर्थः नेति न अविशेषाद् इति अर्थः. एतत्पक्षे यति-गृहस्थयोः सति वैराग्ये विशेषाभावात् कर्मनेरपेक्ष्येणैव ब्रह्मविद्यासम्भवात् कर्मणाम् अप्रयोजकत्वाद् न कर्मापेक्षा इति भावः. एतदेव उपपादयन्ति “यदहरेव” (जाबालोप.४) इत्यादिना. यत्रापि कर्मभिः चित्तशुद्धिसत्त्वे ज्ञानोदयस्थले. तज्ज्ञानं कर्माङ्गभूतोपनिषदर्थशाब्दं ज्ञानम्. ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मसाक्षात्काररूपं विद्यात्मकं ज्ञानं न भवति इति अर्थः. पूर्वसूत्रेत्यादि. तथाच ब्रह्मणः तद्विद्याया वा न क्वापि कर्माङ्गत्वम् इति अर्थः. एतेन वैराग्यहेतुक-कर्मत्यागमात्रस्यैव विद्याहेतुत्वेन. तच्छेषत्वं कर्मशेषत्वम्॥१३॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ज्ञानम्. उत्सूत्रम् इति. सूत्राद् बहिः इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः यदहरेव इति. सौत्रं हेतुं व्याकुर्वन्ति आश्रमविशेषः इति. ननु अध्ययनजन्य-वेदान्तजन्यायाः विद्यायाः कर्मशेषत्वम् अस्त्येव इति शङ्का पूर्वमेव निराकृता इति आहुः यत्रापि इति. यत्रापि कस्मिंश्चित्पुरुषः इति. क्रमप्राप्तिः अध्ययनादिक्रमेण त्यागप्राप्तिः. न तज्ज्ञानम् इति. शब्दज्ञानस्य मुक्तिसाधनत्वाभावाद् इति भावः. पूर्वसूत्रएव इति. अध्ययनमात्रवतः इति पूर्वसूत्रे इति अर्थः. ननु वेदाध्ययनं कर्म ब्राह्मणस्य आवश्यकं ततो ज्ञाने जाते तस्य कर्माङ्गत्वम् आवश्यकम् इत्यतः आहुः एतेन इति. दृष्टान्तम् आहुः अतएव इति॥१३॥

अथ ग्रहिलतया 'ब्रह्मिष्ठः' इत्यत्र 'ब्रह्म'पदेन परएव उच्यते इति वदसि, तत्रापि वदामः.

स्तुतयेऽनुमतिर्वा॥१४॥

दर्शपूर्णमासौ एतादृशौ यत्र ब्रह्मविदार्त्विज्याधिकारीति तत्स्तुत्यर्थं “ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा” (आप.श्रो.सू.३।१८।१) इत्यनेन ब्रह्मविदोऽपि आर्त्विज्ये **अनुमतिः** क्रियते, नतु तस्य अधिकारित्वम् अभिप्रेतम्, उक्तानुपपत्तिभिः इति अर्थः॥१४॥

कामकारेण चैके॥१५॥

ननु “एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुत्या ब्रह्मविदः कर्मकृतगुणदोषौ निषिध्येते, सच प्राप्तिपूर्वकः इति ब्रह्मविदः कर्मकरणम् आवश्यकम् इति प्राप्ते, उच्यते **कामकारेण** इति. करणं कारः. कामेन इच्छया करणं कामकारः. तथाच परानुग्रहार्थम् इच्छामात्रेण, नतु विधिवशाद्, यत् करणं, तत् कामकारः इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वोक्तैः षड्भिः सूत्रैः जैमिनीयमतं निराकृत्य किञ्चिद् आशङ्क्य निराकरोति इति आशयेन सूत्रम् अवतारयन्ति **अथ** इत्यादि. सूत्रं व्याकुर्वन्ति दर्शेत्यादिना. **एतादृशौ उत्कृष्टौ** इति अर्थः. **तत्स्तुत्यर्थं** दर्शपूर्णमासस्तुत्यर्थम्. **उक्तानुपपत्तेः** नियमेन ब्रह्मनिष्ठानां कर्मत्यागबोधककावषेयश्रुतेः अनुपपत्तेः इति अर्थः॥१४॥

ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदः. **परानुग्रहार्थं** परस्य कस्यचित् प्रार्थनया तदनुग्रहार्थं सर्वभूतहिते रतत्वात् करणम् इति अर्थः. **तत्कृतेति**. कर्मकरणकृतगुणदोषप्रसक्तौ.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पुनः सूत्राद् बहिः किञ्चिद् आशङ्क्य निराकरोति इति अभिप्रायेण अग्रिमं सूत्रम् अवतारयन्ति **अथ** इति. सूत्रं व्याकुर्वन्ति दर्शेति. **तस्य** इति. ब्रह्मज्ञानस्य इति अर्थः. **उक्तानुपपत्तिभिः** इति. शुकाद्याचारकावषेयोक्तबृहदारण्यश्रुतिविरोधत्याग-नियमरूपातिर्व्यबाधकैः इति अर्थः. ब्रह्मनिष्ठस्य आर्त्विज्यं प्रासङ्गिकम् इति बोधयितुं वा शब्दः. तेन च अनादरः सूचितः॥१४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. **सच** इति. निषेधश्च इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः **करणम्** इति. **इच्छामात्रेण** इति. करणम् इति शेषः.

उच्यते. तथाच एवं कृते कर्मणि तत्कृतगुणदोषप्रसक्तौ तत्प्रतिषेधम् एके शाखिनः “एष नित्यः” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिना पठन्ति. नहि एतावता कर्मकृत्यधिकारप्राप्तिः इति भावः.

अथवा. कामेन कारो यस्य सः तथा. तादृशेन कर्मणा प्राप्तवृद्धि-
ह्रासयोः सम्बन्धाभावं ब्रह्मविदि एके पठन्ति इति अर्थः. चकारेण ईश्वराज्ञया
लोकसंग्रहार्थं कृतं कर्म समुच्चीयते. “सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः” (बृहदा.
उप. ४।४।२२) इति श्रुतेः तथा॥१५॥

उपमर्दं च॥१६॥

अनेन कर्माधिकाराभावे हेत्वन्तरम् उच्यते. द्वैतभाने हि यथाकथञ्चित्
कर्मकृतिसम्भावनापि. यस्यतु अखण्डब्रह्माद्वैतभानं ‘ब्रह्म’ इत्येव, नतु “इदं
ब्रह्म” इति सखण्डम्. अत्र उद्देश्यत्वेन प्रपञ्चस्यापि भानात् सखण्डत्वम्. तथाच
अखण्डतद्भाने कर्मतदधिकारादेः उपमर्दं च एके शाखिनः पठन्तीति न
ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वसम्भावनापि इति अर्थः. श्रुतिस्तु “यत्र त्वस्य सर्वम् आत्मैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्प्रतिषेधं गुणदोषप्रसक्तिप्रतिषेधम्. नित्यः इत्यादि. ननु “एष नित्यो महिमा
ब्राह्मणस्य” (बृहदा. उप.४।४।२३) इत्यादि पठन्ति इति अर्थः. एतावता निष्कामतया
अन्यार्थं कर्मकृतिमात्रेण.

पूर्वोक्तव्याख्याने स्वकृतेः दोषासमर्पकत्वेऽपि स्वकृतकर्मणां दोषासमर्पकत्वं
न उपलभ्यते अतः आहुः अथवा इत्यादि. सः तथा कामकारः तेन इति अर्थः.
सम्बन्धाभावं कदाचित् कर्मकरणेऽपि ब्रह्मविदः फलकामनाभावात् फलसम्बन्धाभावम्
इति अर्थः. तथा भगवद्वश्यतया आज्ञया कर्मकरणम् इति अर्थः॥१५॥

अनेन एतत्सूत्रेण. कर्मेत्यादि. ब्रह्मविदः कर्माधिकाराभावे. सखण्डं मध्ये
इदम् अंशस्यापि भानात् सखण्डम् इति अर्थः. अत्र इदं ब्रह्म इति ज्ञाने. सम्भावनापि

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रकारान्तरम् आहुः अथवा इति. स तथा इति. ब्रह्मविद् इति अर्थः. ईश्वरेच्छायां
प्रमाणम् आहुः सर्वस्य इति॥१५॥

उक्तोपष्टम्भार्थं सूत्रार्थं पठति इति सूत्रम् अवतारयन्ति अनेन इति. सूत्रं व्याकुर्वन्ति
द्वैतभाने हि इति. पठन्ति इति उक्तम्. कुत्र पठन्ति? इति आहुः श्रुतिस्तु इति॥१६॥

अभूत्तत् केन कं पश्येत् ?” (बृहदा.उप.४।५।१५) इत्यादिरूपा ॥१६॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥१७॥

अत्र इदं विचार्यते : ब्रह्मचर्यानिन्तरं गार्हस्थ्यमपि श्रुत्या बोध्यते. “ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्” (जाबा.उप.४) इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मचारिणएव प्रव्रजनमपि बोध्यते. एवं सति अविरोधाय “यदहरेव” (तत्रैव ४) इति श्रुतेश्च रागितद्रहितभेदेन विषयभेदो वाच्यः. तत्र ब्रह्मचर्याविशेषेऽपि भगवदनुग्रह-विशेषजचित्तशुद्धिविशेषजवेदान्तार्थपरिज्ञानमेव हेतुः वाच्यः. “वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा” (महाना.उप.१०।६) इति श्रुतिः इममेव अर्थम् आह. तथाच एतादृशाएव ऊर्ध्वरेतसः इति उच्यन्ते. एवं सति ऊर्ध्वरेतस्सु कर्माभावः उक्तरीत्या त्वयापि ऊरीकार्येति ज्ञानरहितानां कर्मण्यधिकारः, तद्वतां सन्न्यासः इति. त्वदुक्ताद् विपरीतो अर्थः सिध्यतीति क्व कर्मशेषत्वसम्भावना ज्ञाने

ननु सन्न्यासेऽपि तदाश्रमीणं कर्म अस्तीति वैराग्यसहकृतं ज्ञानम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. तथाच शाब्दरूपसखण्डब्रह्मज्ञाने कर्मसम्भावनासत्त्वेऽपि साक्षात्काररूपाखण्ड-ब्रह्मज्ञाने कर्मसम्भावनापि न इति अर्थः ॥१६॥

पूर्वसूत्रनिर्णीतार्थाद् अधिकनिर्णयार्थं सूत्रम् अवतारयन्ति अत्र इदम् इत्यादिना. अत्र एतत्सूत्रविषयवाक्ये. रागीत्यादि. तथाच रागिणो ब्रह्मचर्यानिन्तरं गार्हस्थ्यं विरक्तस्य सन्न्यासः इति “यदहरेव विरजेद् तदहरेव प्रव्रजेद्” (जाबालोप.४) इति श्रुतेः विषयभेदेन व्यवस्था कार्या इति अर्थः. तत्र रागि-विरागिणोः. हेतुः वाच्यो वैराग्ये हेतुः वाच्यः. इममेव अनुग्रहादिसम्पत्तिं सन्न्यासे हेतुत्वेन आह इति अर्थः. उक्तरीत्या गार्हस्थ्यभावाद. विपरीतो ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावः.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रं व्याकुर्वन्ति अत्र इदम् इति. श्रुत्या इति. “ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्” (जाबालोप.४) इति जाबालश्रुत्या इति अर्थः. ब्रह्मचर्यादेव इति. “यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा” (पुर्ववत्) इति जाबालश्रुतिभिः इति अर्थः. वैराग्यमेव सन्न्यासप्रयोजकम् इति आहुः एवं सति इति. आश्रमधर्मे कृते चित्तशुद्धौ सत्यां वैराग्यं जायते इत्यतः आहुः तत्र इति.

सूत्रशेषम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. कर्मास्ति इति. शौचाचमनाष्ट-

एतच्छेषभूतं, तदसहकृतं तदग्निहोत्रादिशेषभूतमिति न वैपरीत्यम् इति प्राप्ते, आह शब्दे हि इति. ज्ञानस्वरूपं तत्फलं च न युक्तिसिद्धं, किन्तु वेदमात्रसिद्धम्. तत्रतु “तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति” (नृसिं.पू.उप.१।६) “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) “य एनं विदूः अमृतास्ते भवन्ति” (बृहदा.उप. ४।४।१४) इत्यादिवाक्यैः ब्रह्मज्ञानस्य मोक्षएव फलं श्रूयते, सर्वसाधनानां साक्षात्-परम्पराभेदेन तत्रैव पर्यवसानात्. अतो धर्मिग्राहकमानविरोधात् सन्न्यासाश्रमीण-कर्मशेषत्वमपि न वक्तुं शक्यम् इति अर्थः. ननु एवं सन्न्यासवैयर्थ्यम् इति चेद्, न, ब्रह्मविदतिरिक्तसङ्गस्य भगवद्विस्मारकत्वेन अवश्यत्याज्यत्वेन श्रुत्या कथनात्. अतएव “वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः” (मुण्ड.उप.३।२।६) इति उक्त्वा, “सन्न्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः” (तत्रैव) इति उक्तम्. अत्र पञ्चम्या अन्तःकरणे संस्कारविशेषाधायकत्वं च प्रतीयते सन्न्यासस्य. सः संस्कारः फलोप-कार्यङ्गमिति आवश्यकः सन्न्यासो मर्यादामार्गे. पुष्टिमार्गेतु अन्यैव व्यवस्था. “न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह” (भाग.पुरा.११।२०।३१) इति वाक्यात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तच्छेषभूतं सन्न्यासाश्रमीणकर्माङ्गत्वम्. तदसहकृतं वैराग्यज-ज्ञानासहकृतं ब्रह्मचर्यम्. तत्रतु वेदेतु. धर्मिग्राहकेत्यादि. सकलसाधनानां ज्ञाने पर्यवसानाद् ज्ञानरूपधर्मिणः साक्षाद् मोक्षकारणत्वश्रुतेः ज्ञानस्य कर्मशेषत्वाङ्गीकारे तद्विरोधः इति अर्थः. एवं ज्ञानमात्रस्य मोक्षसाधकत्वे. अत्र श्रुतौ. पञ्चम्या “सन्न्यासयोगाद्” (महाना.उप.१०।६) इति पञ्चम्या. सच रजस्तमोमिश्रीभावदूरीकरणेन शुद्धसत्त्वात्मकः. अन्यैव इत्यादि. केवलानुग्रहाधीना फलव्यवस्था इति अर्थः॥१७॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

ग्रासभक्षणादिः तदाश्रमोक्तं कर्मास्ति इति अर्थः. सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति ज्ञानस्वरूपम् इति. धर्मिग्राहकमानेति. कर्मशेषं वा मुख्यं वा? इति सन्देहविषयीभूतं ज्ञानं धर्मि, तद्ग्राहकमानं श्रुतिः, तस्याः विरोधाद् इति अर्थः. अत्र आशङ्काम् आहुः ननु एवम् इति. एवं केवलस्य ज्ञानस्य कारणत्वे. परिहरन्ति ब्रह्मविद् इति. अत्र पञ्चम्येति. संस्कारः सत्त्वशुद्धिः, तद्विशेषः इति अर्थः. फलोपकार्यङ्गम् इति. फलं साक्षात्कारः, तदुपकारि ज्ञानं तदङ्गम् इति अर्थः. व्यभिचारेण क्वचिद् अनावश्यकत्वसंशयः स्याद् अतः आहुः पुष्टिमार्गेतु इति. मार्गभेदो दोषावहो न भवति इति भावः. चतुर्भिः सूत्रैः आग्रहो नास्ति इति सूचितम्॥१७॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना च अपवदति हि॥१८॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च ज्ञानोक्तेः तस्य मुक्तिफलकत्वोक्तेः “किं प्रजया करिष्यामो येषां नो अयम् आत्मा न अयं लोकः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादि-श्रुतेश्च ब्रह्मप्राप्तावेव सर्वस्याः श्रुतेः तात्पर्यम् इति सिध्यति, तस्याएव सर्वक्लेशापायपूर्वक-परमानन्दरूपत्वाद्, नतु कर्मणि, दुःखात्मकसंसारहेतुत्वात् तस्य. जीवश्रेयोनिमित्तमेव श्रुतिप्राकट्यात्. अन्यथा निषेधविधिः न स्यात्. तथाच कर्मविधिनापि परम्परामोक्षएव फलत्वेन परामृश्यते इति सिद्धम्. तं **परामर्शं** कर्मस्वातन्त्र्यवादी **जैमिनिः** अपवदति बाधते इति अर्थः. मोहकशास्त्रप्रवर्तकः सः इति ईश्वरमेव न मनुते यतः, अतः तत्प्राप्तिः तस्य मते

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ऊर्ध्वरेतसां कर्मत्यागादेव मुक्तिः इति पूर्वोक्तं दृढीकर्तुं सूत्रम् इदम् इति जैमिनिपूर्वपक्षं सिद्धान्तपुरःसरं वदन्तः सूत्रम् अवातरयन्ति ऊर्ध्वेत्यादिना. तस्य ज्ञानस्य. “किं प्रजया करिष्यामो” (बृहदा.उप.४।४।२२), “न कर्मणा” (महाना.उप.१०।५) इत्यादिश्रुतेः इति अर्थः. तस्याएव ब्रह्मप्राप्तेरेव. नतु कर्मणि सर्वश्रुतीनां कर्मफले तात्पर्यं न इति अर्थः. संसारहेतुत्वात् कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वाद् इति अर्थः. “तमेतं वेदानुवचनेन” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिनिष्कामकरणादेः मुक्तौ तात्पर्यावसायाद् एवं गम्यते इति अर्थः. जीवश्रेयो मुक्तिरूपम्. अन्यथा श्रुतीनां जीवश्रेयो अर्थत्वाभावे. निषेधविधिः “न कलञ्जं भक्षयेद्” (.....) इत्यादिरूपो नरकनिवारणार्थः. परम्परया चित्तशुद्ध्या ज्ञानद्वारा. तं परम्परया मोक्षोपयोगिनम्. अपवदति यतो “न कर्मणा” (महाना.उप. १०।५) इत्यादिश्रुतिः अचोदनात्वाद् अर्थवादो अतो अपवदति इति अर्थः. मोहकेत्यादि. तदुक्तं पादमोत्तरखण्डे मोहकशास्त्रगणनाप्रस्तावे “द्विजन्मना जैमिनिना पूर्ववेदमपार्थतः निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्” (पाद्मपुरा.उत्त.खं.) इति. पराशरोपपुराणेऽपि “अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्य-योगयोः, त्याज्यः श्रुतिविरुद्धाशः श्रुत्येकशरणैः नृभिः” (पराष.उपपुरा.). जैमिनीये च इति उक्तम् इति हेतोः मोहकत्वम् उक्तम्. तत्प्राप्तिः ईश्वरप्राप्तिः. जैमिनिमते सन्न्यासाधिकारिणः आहुः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रं व्याकुर्वन्ति ऊर्ध्वेत्येति. तस्य ज्ञानस्य. तस्याः ब्रह्मप्राप्तेः. नतु कर्मणि इति. तात्पर्यम् इति शेषः. परम्परा इति. ज्ञानजननद्वारा. सिद्धम् इति. श्रुतिसन्दर्भ-विचारेण सिद्धम् इति अर्थः. ‘जैमिनि’पदस्वारस्यम् आहुः मोहकेति. तर्हि सन्न्यासस्य

दूरापास्ता. कर्मानधिकारिणाम् अन्धादीनां सन्न्यासविधिविषयत्वम्. अन्यथा “वीरहा वा एष देवानां योग्निम् उद्वासयते” (तैत्ति.संहि.१।१।५।२) इति श्रुतिः न स्यात्. अतो “ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्, गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेद्, यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वनाद् वा” (जाबा.उप.४) इति श्रुतेरपि अङ्गहीनएव सः विषयः, यतः आयुर्भागविभागेन आश्रमाणां विधानम्. तुरीये तस्मिन् देहेन्द्रियादिवैकल्यं नियतम्, अतः कर्मण्येव श्रुतेः तात्पर्यम्. अपि च ज्ञान-कर्मणोः अलौकिकफलसाधकत्वे तत्त्वेन विहितत्वमेव प्रयोजकम्. अपरोक्षब्रह्मज्ञानं च न विधेयम्, साक्षात्स्वकृत्यसाध्यत्वात्. चोदनाबोधक-लिङाद्यभावाच्च ज्ञानस्य न मुक्तिसाधकत्वं वक्तुं शक्यम्. “य एनं विदुः” (बृहदा.उप.४।४।१४) इत्यादिस्तु यागेषु इज्यविष्णु-स्तुतिपरा इति आशयेन आह अचोदना च इति. जैमिनिवत् तत्सहायभूता इयम् अचोदना च परामर्शम् अपवदति इति सम्बन्धः. तथाच विधिसम्बधात् कर्मैव अनुष्ठेयं, न तु मुक्तिसाधनमपि, अतथात्वाद् इति स्थितम्॥१८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥१९॥

बादरायणः अचार्यो जैमिनेरपि गुरुः “तदेव कर्तव्यम्” इति शिष्यसम्मतम् अनुष्ठेयं कर्म अपवदति इति पूर्वेण सम्बन्धः. तत्र हेतुः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कर्मत्यादिना. अन्यथा कर्मसमर्थानां कर्मत्यागं कृत्वा सन्न्यासकरणे. अतः समर्थस्य कर्मकरणावश्यकत्वात्. सः सन्न्यासाधिकारी. सूत्रे चोदना च इति भागं व्याकर्तुम् आहुः अपिच इत्यादि. तत्त्वेन अलौकिकफलसाधकत्वेन. लिङाद्यभावाद् ज्ञानस्य मुक्तिसाधकता-बोधकश्रुतिषु लिङादिविधेः अभावाद् इति अर्थः. स्तुतिपरा अर्थवादरूपा इति अर्थः॥१८॥

जैमिनिसिद्धान्तनिरासकं सूत्रं विवृण्वन्ति बादरायणः इत्यादिना. तदेव कर्मैव. पूर्वेण पूर्वसूत्रस्थेन. सकलाश्रमधर्माणां ज्ञानार्थत्वप्रतिपादिकां श्रुतिम् आहुः वस्तुतस्तु

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्यर्थता स्याद् अतः आहुः कर्मानधिकारिणाम् इति. “वीरहा वा” (तैत्ति.सं. १।१।५।२) इति श्रुतिः प्रथमाष्टके पञ्चमे प्रपाठके. सः विषयः इति. सः पुरुषो विषयः इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः यतः इति. एतावता यत् सिद्धं तद् आहुः अतः इति. ‘अचोदना’ इत्यादिसूत्रांशम् अवतारयन्ति अपि च इति. अत्र भाष्यं स्पष्टम्॥१८॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति बादरायणः इति. कर्मापवदति इति. कर्म अनूद्य

साम्यश्रुतेः. यथा “वीरहा वा एष देवानाम्” (तैत्ति.संहि.१।५।२) इति श्रुत्या कर्मत्यागकर्तुः निन्दा श्रूयते, एवमेव भगवज्ज्ञानरहितस्यापि सा श्रूयते यतः. तथाहि. “असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः, तांस्ते प्रेत्य अभि गच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः” (ईशोप.३), एतद् अग्रे च, “ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवोपयन्ति” (बृहदा.उप.४।४।१४) इत्यादिरूपा. एतच्च निन्दामात्रेण साम्यम् उक्तम् आपाततः. वस्तुतस्तु

“तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेन अनाशकेन च एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् ईप्सन्तः प्रव्रजन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२२)

इति श्रुत्या ज्ञानसाधनत्वेनैव आश्रमकर्मकरणोक्तेश्च न स्वातन्त्र्यं कर्मणो वक्तुं शक्यम्. अतएव शुक्रस्य न ब्रह्मचर्यादिकमपि, फलस्य जातत्वेन तत्साधनानपेक्षणात्. नच ‘स्वर्गकाम’पदश्रवणाद् न एवम् इति वाच्यम्. त्वदभिमतलोकात्मकस्वर्गे “यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्”(आप.श्रौ.....)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यारभ्य “तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेन अनाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् अभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति” (बृहदा.उप. ४।४।२२) इति श्रुत्या कर्मणां ज्ञानार्थत्वबोधनम्. अतएव फलार्थकर्मणाम् अनपेक्षत्वादेव. फलस्य आत्मलाभरूपफलस्य. ‘स्वर्ग’पदश्रवणाद् दर्शपूर्णमासि ज्योतिष्टोमविधायकवाक्ये ‘स्वर्ग’पदश्रवणात्. न एवं कर्मणां ज्ञानद्वारा न मोक्षोपयोगित्वम्. लोकात्म स्वर्गे इदं लोकात्मस्वर्गे. प्रवृत्तिनिमित्तेत्यादि. “यन्न

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

निराकरोति. पूर्वैर्ण पूर्वसूत्रेण. ‘वीरहा’ इति श्रुतिः प्रथमाष्टके पञ्चमे प्रपाठके. अविद्वांसः इत्यनेन कर्मज्ञानशून्यानां ग्रहणं स्याद् इत्यतः आहुः एतदग्रे च इति. शारीरब्राह्मणस्थं वाक्यद्वयम्. वस्तुतः इति. ज्ञानस्यैव सर्वम् इदं साधनम् इति भावः. शुक्रस्य इति. उपनयनाभावाद् आश्रमधर्मरूपं ब्रह्मचर्यादिकम् इति अर्थः. शङ्कते नच इति. “ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत” (आप.श्रौ.सू.१०।२।१) इति वाक्ये श्रवणाद् इति अर्थः. निराकुर्वन्ति त्वदभिमतं. यद् न दुःखेन इति. “यन्न दुःखेन सम्भिन्नं नच ग्रस्तम् अनन्तरम्, अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्”(.....). तत्रोक्तेः इति. “ज्योतिष्टोमेन” (पूर्ववत्) इति वाक्ये उक्तेः इति अर्थः.

इति वाक्यशेषोक्त ‘स्वर्ग’पदप्रवृत्तिनिमित्तधर्माभावाद् आत्मसुखस्यैव तादृशत्वात् तस्यैव तत्र उक्तेः. एवं सति “तमेतं वेदानुवचनेन” (पूर्ववद्) इति श्रुत्येक-वाक्यतापि सम्पद्यते. अन्यथातु विरोधएव.

ननु दृष्टफलकापि कारीरी-चित्रादियागाः श्रूयन्तेइति न एवं निर्णयः इति चेद्, उच्यते. नित्यकर्मणो हि ज्ञानसाधनत्वम् उच्यते. ब्रीहि-पशवादीनां तन्निर्वाहकत्वात् तच्छेषत्वेन तेषां विधानम्. एवं सति “वीरहा” (तैत्ति. संहि. १।५।२) इति श्रुतिः साग्निकस्य गृहिणः आलस्यादिदोषेण तदुद्वासने दोषम् आह, नतु आश्रमान्तरपरिग्रहे इति मन्तव्यम्. अन्यथा तदुच्छेदः तद्विधिवैयर्थ्यं च स्यात्. नच अनधिकृतम् आदाय तत्समाहितिः इति वाच्यम्. अत्र पृच्छामः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

दुःखेन” (.....) इति वाक्योक्तप्रवृत्तिनिमित्तधर्माभावाद् इति अर्थः. तादृशत्वात् तादृशप्रवृत्तिनिमित्तधर्मवत्वात्. तस्यैव आत्मसुखस्यैव. तत्र उक्त-विधिवाक्यस्थ ‘स्वर्ग’पदे. एवं सति कर्मणाम् आत्मसुखसाधकत्वोक्तिसत्त्वे. अन्यथा कर्मणाम् इन्द्रलोकार्थत्वोक्तौ. न एवम् इत्यादि. सकलकर्मणां न ज्ञानार्थत्वनिर्णयः इति अर्थः. एवं सति कर्ममात्रस्य श्रौतस्य ज्ञानार्थत्वे सिद्धे सति. ‘वीरहे’ इति श्रुतिः “वीरहा एव देवानां योग्निम् उद्वासयति” (तैत्ति.संहि.१।५।२) इति श्रुतिः. अन्यथा गृहिणः कर्मकरणावश्यकत्वे. तदुच्छेदो ‘यदहरेव’ इति ‘गृहाद्वा’ इति श्रुत्युक्तसन्न्यासोच्छेदः. तद्विधिः इति तयोः विध्योः इति अर्थः. अनधिकृतं कर्मानधिकृतान्धपङ्गवादिकम्. तत्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एवं सति इति. कर्मणाम् आत्मसुखात्मक-लोकजनकत्वे सति इति अर्थः. कुत्रचित् ‘स्वर्गकाम’पदं नास्ति, यागस्तु विधीयते, तत्र निर्णयो न भवति इति शङ्कते ननु इति. “वृष्टिकामः कारीर्या यजेत” (तैत्ति.मैत्रा.सं.२।४।८) “चित्रया यजेत पशुकामः” (तैत्ति.सं.२।४।६।१) इत्यादौ वृष्ट्यर्थं पश्वर्थं यागो विधीयते इति अर्थः. समाधानम् आहुः उच्यते इति. तेषां ब्रीहिपशवादीनाम्. एवं सति इति. नित्यकर्मणोः ज्ञानजनकत्वे सिद्धे सति. अन्यथा इति. पूर्वोक्तास्वीकारे. तदुच्छेदः सन्न्यासोच्छेदः, सन्न्यासविधिवैयर्थ्यम् इति उभयं स्याद् इति अर्थः. नच इति. अनधिकृतम् इति. “पङ्गोः विष्णोः क्रमोसीति न जायते, अन्धस्य आज्यावेक्षणं न जायते” (.....) इति अन्धपङ्गवादीनां कर्मानधिकाराद् इति भावः. तत्समाहितिः इति. सन्न्यासोच्छेदतद्विधिवैयर्थ्ययोः समाधानम् इति अर्थः. तथाच तैः

अन्धपङ्गवादिभिः प्रव्रजनं कार्यम् इति विधिः अस्ति, आहोस्विद् यावज्जीवम् अग्निहोत्रविधायकप्रव्रजनविधायकवाक्ययोः विरोधाभावाय विषयो भिन्नः कल्प्यते ? न आद्यः, अश्रुतेः. न द्वितीयः “यदहरेव विरजेत्” (जाबा.उप. ४) इति श्रुत्या वैराग्यवतः प्रव्रजनविधानात् तेनैव विषयभेदसिद्धौ तत्कल्पना-नवकाशात्. तेन “न अपुत्रस्य लोको अस्ति” (ऐत.ब्राह्म.७।१३।१२) इति श्रुतिरपि अविद्वद्विषयिणीति न विरोधः. “विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते” (बृहदा. उप.४।४।२२) इति श्रुतेः. एतेन ऋणत्रयापाकरणमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम्, अविद्वद्विषयत्वात्. यदपि उक्तम् ‘अचोदना च’ (ब्रह्मसू.३।४।१८) इति सूत्रावयवेन चोदनाबोधकलिङ्गभावो बाधकः इति. तदपि न साधीयः. श्रुति-साम्यादेव. श्रूयते हि “तस्माद् एवंवित् शान्तोदान्तः उपरतः तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येद्” (बृहदा.उप. ४।४।१४) इति. नच प्रमाणवस्तु-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रुतिविरोधः. तत्कल्पनं यावज्जीवाग्निहोत्रविरोधकल्पनम्. तेन “न कर्मणा न प्रजया” (महाना.उप.१०।५) इति श्रुत्या विदुषः कर्मत्यागनिर्वचनेन “विद्वांसो न कामयन्ते” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यनेन च. ऋणत्रयेत्यादि “ऋणत्रयम् अपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेद्” (.....) इति श्रुत्युक्तम् इति अर्थः. बाधको ज्ञानपक्षे बाधकः. श्रुतिसाम्याद् ज्ञानकर्मपक्षद्वयेऽपि विधिसाम्याद् इति अर्थः. ज्ञानविधिम् आहुः “तस्माद् एवंविद् शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येद्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति. प्रमाणेत्यादि. पुरुषप्रयत्नासाध्यत्वाद् इति भावार्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सन्न्यासः कर्तव्यः इति कर्मवादमतम्. समाधानम् आहुः अत्र इति. अश्रुतेः इति. तादृशविधेः अश्रवणाद् इति अर्थः. तेन इति. तथाच पुत्ररहितस्य विदुषो लोको अस्ति इति भावः. अत्र प्रमाणम् आहुः विद्वांसः इति. एतेन इति. “त्रिभिः ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः” (तैत्ति.सं.६।३।१०) इति श्रुत्या ऋणत्रयापाकरणम् इति अर्थः. ननु चोदनाकृतापवादस्य परिहारो नास्ति, कुतः ? ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेन चोदनाविषयत्वेन अभावाद् इत्यतः आहुः यदपि इति. परिहरन्ति तदपि इति. श्रुतिसाम्यादेव न साधीयः इति अन्वयः. पश्येद् इति. अस्य प्रमाणान्तर-जन्यदर्शनानुवादत्वम् आशङ्कते नच इति.

परतन्त्रत्वाद् न ज्ञानस्य विधेयता इति वाच्यम्. इतरज्ञानस्य तथात्वेऽपि जीवात्मलक्षणे अधिष्ठाने परमात्मनो भगवतो दर्शनस्य अन्यतो अप्राप्तत्वात्, श्रद्धान्तसाधनैः तद्दर्शने स्वरूपयोग्यतासम्पत्तौ आत्मनि अधिष्ठाने परमात्म-दर्शनानुकूलप्रयत्नविधानसम्भवात् श्रवणविधिना श्रुतिवाक्यजशाब्दज्ञानानुकूल-प्रयत्नविधानवत्. एवमेव हि यागविधिनापि क्रियारूपयागस्य स्वानुकूल-प्रयत्नाधीनत्वेन सः प्रयत्नएव विधीयते, अन्याप्राप्तत्वाद्. नतु क्रिया. तत्प्रयत्ने सति तस्याः स्वतएव सम्भवात्.

अथवा. ननु यथा “वीरहा” (तैत्ति.संहि.१।१।५।२) इति श्रुत्या कर्मत्यागो निन्द्यते तथैव “असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः, तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति अविद्वांसो अबुधा जनाः” (ईशोप.३) “ये तद्विदुः अमृतास्ते

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इतरज्ञानस्य ब्रह्मातिरिक्तज्ञानस्य. तथात्वेऽपि पुरुषप्रयत्नसाध्यत्वेऽपि. अन्यतो वेदातिरिक्तप्रमाणतः. नतु क्रिया. तस्याः प्रयत्नासाध्यत्वाद् इति अर्थः. तत्प्रयत्नेति क्रियानुकूलप्रयत्ने. विधिसाम्यम् उपपाद्य निषेधसाम्यम् उपपादयन्ति अथवा इत्यादिना. कर्मत्यागनिन्दिका श्रुतिः ‘वीरहा’ इति. ज्ञानाभावनिन्दिका “असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः, तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति *अविद्वांसो अबुधा जनाः” (ईशोप. १।३), “ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथ इतरे दुःखमेव उपयन्ति” (बृहदा.उप.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

निषेधन्ति इतरज्ञानस्य इति. श्रद्धान्तसाधनैः इति. शमदमवैराग्यदुःख-सहिष्णुत्वश्रद्धान्तसाधनैः इति अर्थः. दर्शनानुकूलप्रयत्नविधानसम्भवाद् इति. तादृशप्रयत्नस्य प्रमाणान्तरेण अप्राप्तत्वाद् विधानस्य सुखेन सम्भवाद् न अनुवादत्वम् इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः श्रवणेति. एवमेव इति. अनेन प्रकारेण इति अर्थः. तत्प्रयत्ने इति. यागानुकूलप्रयत्ने इति अर्थः. इदं च भावार्थाः कर्मशब्दाः इति जैमिनीयसूत्रे द्वितीयाध्यायारम्भे श्रीमदाचार्यकृतभाष्ये विस्तरेण प्रपञ्चितम्. इदं व्याख्यानं “विधिर्वा धारणवद्” (ब्रह्मसू.३।४।१९) इति सूत्रे प्रतिपादनीयम् इति अरुच्या प्रकारान्तरम् आहुः अथवा इति. मिथोविरोधाद् इति. कर्माङ्गं कामः ज्ञानाङ्गं शान्तिः, अनयोः विरोधाद् इति अर्थः. शङ्कते नच इति. समादधते जनकेति. अग्रे स्पष्टम्. अथवा इति पक्षे सूत्रम् आहुः अनुष्ठेयम् इति. हेतुं व्याकुर्वन्ति स्वतः इति.

*“प्रत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः” इति प्रसिद्धपाठः.

भवन्ति अथेतरे दुःखमेव उपयन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२४) इत्यादिश्रुत्या भगवज्ज्ञानाभावो निन्द्यते. एवं सति कर्मज्ञानानुकूलप्रयत्नयोः विधेयत्वे मिथो विरोधाद् अधिकारिभेदेन विधेयत्वं वाच्यम्. नच “तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता” (भाग.पुरा.११।२०।९) इति भगवद्वाक्याद् रागिणः कर्म विधीयते तद्रहितस्य ज्ञानम् इति वाच्यम्. “जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेज” (बृहदा.उप.३।१।१) इति श्रुतेः नीरागत्वेन प्रसिद्धस्यापि तस्य कर्मणि प्रवृत्तिः या, सा न स्याद्, अधिकाराभावात्. अथ जनकदृष्टान्तेन कर्मणो अङ्गित्वं ज्ञानस्य तदङ्गत्वं वाच्यम्. तथाच ज्ञानवता कर्म अनुष्ठेयम् इति प्राप्तं प्रतिवदति अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः. ज्ञानम् अङ्गं तदङ्गित्वेन अनुष्ठेयं कर्म इति मतं बादरायणो अपवदति इति पूर्वेण सम्बन्धः. तत्र हेतुम् आह साम्यश्रुतेः इति. स्वतो अपुरुषार्थं कर्म फलार्थिनैव अनुष्ठेयम्. तथाच “एष नित्यो महिमा” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुत्या ज्ञानवति विहित-निषिद्धयोः कर्मणोः फलाजनकत्वेन साम्यं श्रूयते इति फलार्थिप्रवृत्त्यसम्भवेन ज्ञानिनः तथात्वाभावेन कर्मोच्छेदप्रसक्त्या न ज्ञानस्य अङ्गत्वं वक्तुं शक्यम्. कृषीवलस्य व्रीहीणां वपने भर्जनस्येव. तथाच ज्ञानिनः प्रवृत्त्यसम्भवेन अन्येषां च “अथ इतरे दुःखमेव उपयन्ति” (बृहदा.उप.४।४।१४) इति निन्दाश्रवणेन तथात्वात् सर्वार्थतत्त्वज्ञा श्रुतिः ज्ञानबहिर्भूतं कर्म कथं विदध्याद् ? इति ज्ञानस्य पुरुषार्था-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

४।४।१४) इति. मिथो विरोधाद् कामतदभावरूपशान्त्योः अधिकारिविशेषणयोः विरोधाद् इति अर्थः. सूत्रम् अवतारयन्ति ‘नच तावद् कर्माणि’ इत्यादि. अधिकारा-भावाद् जनकस्य निर्वेदसत्त्वेन सर्वदा भावरूपाधिकाराभावात्. प्रतिवदति सूत्रकारो दूषयति. पूर्वेण पूर्वसूत्रस्थेन. तत्र दूषणे. साम्यश्रुतिं प्रतिपादयन्ति स्वतोपुरुषार्थम् इत्यादिना. तथात्वाभावेन कर्मफलार्थित्वाभावेन. भर्जनस्य इति व्यतिरेकदृष्टान्तः. तथाच वीह्यावापे यथा भर्जनं न अङ्गम् एवं कर्मण्यपि न ज्ञानम् अङ्गम् इति अर्थः. अन्येषां ज्ञानिभिन्नानाम्॥१९॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तथात्वाभावेन कर्मकर्तृत्वाभावेन. स्वोक्तं विभजन्ते तथाच इति. अन्येषां ब्रह्मविषयकज्ञानरहितानां तथात्वाद् कर्मकरणासम्भवात्. ननु एवं निरूपणे किं तात्पर्यम्? अतः आहुः ज्ञानस्य इति॥१९॥

साधकत्वोक्तिम् असहमानेन आचार्येण प्रौढ्या निरूपितम् ॥१९॥

एवं सति पूर्वकाण्डवैयर्थ्यम् आपततीति तत्तात्पर्यम् आह.

विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥

यथा योगशास्त्रे मनःसमाधेरेव साध्यत्वात् तत्साधनत्वेनैव मानस्याः मूर्तेः धारणं विधीयते, नतु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन, मनःसमाधौ तत्यागात्, “ततः किञ्चन न स्मरेत्” (भाग.पुरा.११।१४।४४), “तच्चापि चित्तबडिशं शनकैः वियुंक्ते” (भाग.पुरा.३।२८।३४) इत्यादिवाक्येभ्यः तथा, तथा भक्ति-साधनत्वेनैव अनुष्ठेयम् इति तात्पर्येण कर्मविधिः उच्यते, नतु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन. ननु तत्र समाधिम् अधिकृत्य यमादीनि उक्तानीति तन्मध्य-पातित्वेन धारणस्य तथात्वम् *उच्यते, प्रकृते ज्ञानं भक्तिं वा अधिकृत्य न कर्म विहितमिति दृष्टान्तवैषम्यम् इति चेद्, न, उक्तानुपपत्त्या स्वानिन्द्यमेव कर्म श्रुतिः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इत्यादिना. एवं सति ज्ञानि-तद्भिन्नाभ्यां कर्मकरणासम्भवे सति. तत्साधनत्वेन ततो मनःसमाधिसाधनत्वेन. तत् त्यागाद् मनःसमाधिसिद्धौ मूर्तिधारणत्यागवचनाद्. ततो मनःसमाधिसिद्ध्यनन्तरम्. तथा मूर्तिधारणस्य अन्यार्थत्वं मानसमूर्तिधारणस्य यथा अन्यार्थत्वं तथा इति अर्थः. तत्र योगशास्त्रे. धारणस्य मूर्तिधारणस्य. तथात्वं मनोधारणार्थत्वम्. प्रकृते कर्मणो ज्ञानभक्तिसाधनत्वे. उक्तानुपपत्त्या “एष महिमा ब्राह्मणस्य” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुत्या ज्ञानिनि कर्मणां फलाजनकत्वोक्त्या कर्म निन्दितम्. ज्ञानिभिन्ने च “अथ इतरे दुःखमेव उपयन्ति” (तत्रैव ४।४।१४) इति श्रुत्या कर्माधिकारो निन्दितः. इत्थं च तदुभय-निन्दया कृत्वा या अनुपपत्तिः कर्मणः तत्र इति अर्थः. सानिन्द्यं श्रुत्या निन्दितस्थलीयम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति एवं सति इत्यादिना. सूत्रं व्याकुर्वन्ति यथा इति. “ततः किञ्चन” (भाग.पुरा.२।१।१९) इति वाक्यद्वयम् एकादशस्कन्धीयम्. तथा त्याज्यत्वम्. दृष्टान्तवैषम्यम् आशङ्कते ननु इति. समाधानम् आहुः उक्तेति. पूर्वकाण्ड-वैयर्थ्यप्रसक्तिरूपया अनुपपत्त्या. निन्दायाम् इति. “अथ इतरः” (बृहदा.उप.४।४।१४) इति अविद्वन्निन्दावाक्ये कर्मणां ज्ञानाङ्गत्वम् उक्त्वा भक्त्यङ्गत्वे मानम् आहुः तथाच

*‘तथात्वं युज्यते’ इति पुरु.पाठः.

विदधाति इति अवश्यं वाच्यम्. निन्दायां च इतरपदाद् ज्ञानमध्यपातिनएव तद्विषयस्य प्राप्तेः आवश्यकत्वात्. तथाच भगवज्ज्ञानस्य इतरनिरपेक्षत्वेन स्वरूपोपकारित्वम् अस्य कर्मणो वाच्यम्. तथाच उक्तं “दान-व्रत-तपो-होम-जप-स्वाध्याय-संयमैः, श्रेयोभिः विविधैश्च अन्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते” (भाग.पुरा.१०।४७।२४) इति. “एष नित्यो महिमा” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुतिरपि यज्ज्ञाने सति विहित-निषिद्धकर्म-फलासम्बन्धः तद्वित् स्याद् इति अनुक्त्वा “तस्यैव पदवित् स्यात्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति यद् उक्तवती, तेन पदयोः भक्तिमार्गरूपत्वात्, तत्र च पदयोरेव सेव्यत्वेन मुख्यत्वात्, तज्ज्ञानानु-
नुकूलप्रयत्नमेव पूर्वं विदधे. तेन

“शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः,
त एव पश्यन्ति अचिरेण तावकं भवप्रवाहो परमं पदाम्बुजम्”

(भाग.पुरा.१।९।३६)

इति वाक्याच्च वर्णाश्रमधर्माः आत्मधर्माश्च पदज्ञानसाधनत्वेन कर्तव्या इति सिद्धम्. ‘तस्यैव’ तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वात् लोकवेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तम-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इतरपदाद् ‘अथेतरे’ इत्यनेन ज्ञानिभिन्ननिन्दाबोध ‘केतर’ पदात्. ज्ञानमध्येत्यादि. तथाच प्राप्तज्ञानस्य ‘न कर्मणा’ इति श्रुत्या कर्मत्यागोक्तेः ज्ञानस्वरूपयोग्यस्यैव कर्मश्रुतिविषयस्य अवश्यम् प्राप्तेः इति अर्थः. एतदेव निगमयन्ति तथाच इत्यादिना. भगवज्ज्ञानस्य शुकर्षभादिनिष्ठ-ज्ञानस्य. इतरनिरपेक्षत्वेन फलजनने कर्मादिसहकार्याकाङ्क्षा-
राहित्येन. स्वरूपोपकारित्वं स्वरूपयोग्यस्य अधिकारिणो ज्ञाने अन्तःकरणशोधन-
द्वारोपयोगित्वम् एवं जनकस्य कर्मणां विद्योपकारकतया ज्ञानस्वरूपोपकारित्वम् अवसेयम् इति अर्थः. इत्थं च “तमेतं वेदानुवचनेन” इति श्रुत्यर्थः समर्थितः. फलासम्बन्धः फलासम्बन्धो भवति इति उक्तेति अर्थः. तद्विद् ब्रह्मविद्. विदधे तज्ज्ञानानुकूलः “पदवित् स्याद्” इत्यनेन विदधे इति अर्थः. तस्यैव तच्छब्दस्य इति. “एष नित्यो महिमा

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उक्तम् इति. श्रौतमानम् आहुः एषः नित्येति. “एषः नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य” (बृहदा.उप.४।४।२३) इदं च तृतीयाष्टके ब्राह्मणे समाप्तिप्रपाठके. एतावता यत् सिद्धं तद् आहुः तेन इत्यादिना. स्वल्पोपपादने परितोषाभावात्. विशेषेण श्रुत्यर्थम् आहुः तस्यैव इत्यादिना तच्छब्दस्य इति. “तस्यैव आत्मा पदवित्तं विदित्वा” (बृहदा.उप.४।४।२४)

स्यैव, तत्रापि, ‘पदवि’देव, दीनभावेन भक्तिमार्गीयज्ञानवानेव, स्यादेव इति ‘एव’कारः सर्वत्र अनुषज्यते. तथा सति भक्तौ जातायां स्वतएव भगवज्ज्ञानं भवति इति ज्ञापयितुं “तं विदित्वा” (बृहदा.उप.४।४।२४) इति पश्चाद् उक्तवती इति तदाशयो ज्ञायते. अतएव पूर्व कर्म निरूपितं, साधनत्वात्.

स्याद् एतत्. भक्तिसाधनत्वमेव चेत् कर्मणः श्रुतेः अभिप्रेतं, तदा भगवद्विदि तत्फलासम्बन्धः इति अनुपपन्नम् इति चेद्, मैवम्. कर्मणां हि भक्त्युत्पत्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वमेव. “नायमात्मा” (कठोप.२।२२) इति श्रुतेः कर्मज्ञानाभ्याम् अलभ्यत्वाद् भगवतः स्वरूपयोग्यतापेक्षापि मार्यादिकस्य नतु पौष्टिकस्य, अतएव वाशब्दः उक्तो अनियमवाची. तथा सति भगवदनुग्रहः चेत्, तदा भक्तिः, तथा पुरुषोत्तमज्ञानं, तदा कर्मतत्फलसम्बन्धगन्धोऽपि न इति किम् अनुपपन्नम् एतेन, “तमेव विदित्वा मुनिर्भवति” (बृहदा.उप.४।४।२२) “अग्राह्यो न हि गृह्यते” (बृहदा.उप.३।९।३६) इत्यादिश्रुतीनां मिथो विरोधः परिहृतः, भक्त्या ग्राह्यत्वात् तदितरसाधनाग्राह्यत्वात्. अतएव ‘विविदिषन्ति’, नतु विदन्त्यपि इति आशयवती “तमेतं वेदानुवचनेन” (बृहदा. उप.४।४।२२)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्राह्मणस्य” (तत्रैव ४।४।२३) इति श्रुतौ “तस्यैव पदविद् स्याद्” इत्यत्र ‘तस्य’ इति शब्दस्य इति अर्थः. साधनत्वाद् निष्कामकर्मणां परम्परया भक्तिसाधनत्वात्.

स्याद् एतद् इति. एतद् वक्ष्यमाणम्. तत्फलासम्बन्धः कर्मफलासम्बन्धो ज्ञानिनि. श्रुतौ उक्तम् अनुपपन्नम् इति अर्थः. वाशब्दः उक्तो “न मेधया” इति श्रुतौ वाशब्दः उक्तः. सूत्रे वा. अनियमवाची इति अनुग्रहसत्त्वे प्रवचनादिकं भक्तिः न अपेक्षते अनुग्रहाभावेतु मर्यादाभक्तिः प्रवचनादिकम् अपेक्षते इत्येवंविधा नियमवाची इति अर्थः. एतेन पूर्वोक्तरीत्या विषयव्यवस्थाकरणेन. अतएव साक्षात्साधनाग्राह्यत्वादेव.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इतिश्रुतिः. तत्रत्य ‘तस्यैव’ इति ‘तत्’शब्दस्य इति अर्थः. सर्वत्र पदविच्छब्देऽपि. पूर्व पूर्वाधे. अत्र श्रीप्रकाशकृतस्तु “वस्तुतस्तु तेन” इत्यादिसिद्धार्थकथनात् “पूर्वः तस्यैव” इत्यादिग्रन्थो लेखकभ्रमात् पश्चात् पतितः इति प्रतिभाति इति आहुः.

पुनः आशङ्कते स्याद् एतद् इति. भगवद्विदि भगवज्ज्ञानवति. समाधानम् आहुः मा एवम् इति. उक्तः इति. सूत्रे उक्तः इति अर्थः. एतेन इति. एतादृशार्थ-कथनेन. अतएव इति. ज्ञानविषयत्वे साधनबलाभावादेव. इति आशयवती यज्ञादीनां

इति श्रुतिः पठ्यते.

नच अनुपदमेव, “तमेव विदित्वा मुनिर्भवति” (पूर्ववत्) इति उक्तेः सान्निध्याद् उक्तसाधनैरेव वेदनम् अभिप्रेतम् इति वाच्यम्. वेदानुवचनादीनां सर्वेषां वेदनसाधनत्वे सर्वेषां तत्कर्तॄणां वेदनसम्भवेन ‘मुनिर्भवति’ इति एकत्वं तद्विदि न वदेद्, अतो ज्ञानं कस्यचिद् एकस्य भवति इति ज्ञानस्य दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते. “मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये, यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः” (भग.गीता७।३) इति भगवद्वाक्याच्च. तर्हि वेदानुवचनादिषु निःशङ्का प्रवृत्तिः कथम् ? इत्थम् : “स वा अयमात्मा” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिकया पूर्वश्रुत्या भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा यथाकथञ्चित् तद्वेदनौत्सुक्ये सति सत्सङ्गाभावेन भक्ति-मार्गापरिचयात् कर्ममार्गमात्रम् आश्रमधर्मत्वेन अलौकिकार्थसाधकत्वेनापि पूर्वं ज्ञातम् अस्तीति तदेव भगवद्देवनेऽपि साधनम् इति मन्यमानाः तदेव कुर्वन्ति. ननु वैदिकसाधनानां वैयर्थ्यं कथम् ? इति चेद्, न, भ्रमकृतत्वेऽपि जन्मान्तरीय अक्षर-ज्ञानोपयोगिसंस्काराधायकत्वेन अवैयर्थ्यात् ॥२०॥

स्तुतिमात्रम् उपादानाद् इति चेद् न अपूर्वत्वात् ॥२१॥

ननु साम्यश्रुतेः हेतोः कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य यद् अपास्तं, तद् न उपपद्यते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्कर्तॄणां प्रवचनादिकर्तॄणाम्. तद्विदि ब्रह्मविदि. तर्हि सर्वेषां ज्ञानप्राप्ति-निश्चयाभावे. तदेव कुर्वन्ति इति. तथाच आपाततः औत्सुक्यादेव कुर्वन्ति इति फलितम्. इत्थं च पूर्वकाण्डस्य उत्तरकाण्डशेषत्वं निर्णीतम् इति भावः ॥२०॥

पूर्वोक्तविषयएव किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति इति आशयेन सूत्रे पूर्वपक्षभागम् आहुः ननु इत्यादिना. साम्यश्रुतेः ज्ञानकर्मणोः यौ विधिनिषेधौ तयोः श्रुतौ साम्यदर्शनाद् इति अर्थः. श्रुतिपरत्वाद् इति अर्थः. स्तुतिपरत्वाद् इति. तथाच ज्ञानांशे अर्थवादएव न वास्तवं कर्मसाम्यम् इति अर्थः. तथा अर्थवाद्गोपज्ञानस्तुत्या. स्वीकाराद्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ज्ञाने स्वरूपयोग्यत्वसम्पादकत्वं बोध्यम् इति आशयवती इति अर्थः.

अग्रिमवाक्यविरोधाशङ्कते नच इति. उक्तसाधनैः वेदानुवचनादिसाधनैः. ननु एवरीत्या कस्यचिद् ज्ञानं चेत् तत्र आशङ्कते तर्हि इति. प्रवृत्तिम् उपपादयन्ति इत्थम् इति. वैयर्थ्यम् आशङ्कते ननु इति. समाधानम् आहुः भ्रमेति ॥२०॥

सूत्रस्य पूर्वपक्षभागस्य अर्थम् आहुः ननु इति. ननु निषेधो यः उक्तः सः

साम्योक्तेः ज्ञानस्तुतिरूपत्वात्. अपिच. तया ज्ञानिनोऽपि कर्मोपादानात् कर्मकृतिस्वीकाराद् इत्यावात्. अन्यथा ज्ञानिनां कर्मकृत्यभावेन तत्कृत-
गुणदोषाप्रसक्त्या तन्निषेधानुपपत्तिः स्यात्. तेषामपि तत्कृतगुणदोषसम्बन्धो
अस्त्येव इति ज्ञापनाय **मात्रपदम्**. निषेधेन इतरसाधारण्यं परिह्रियते. तथाच
ज्ञानिनोऽपि कर्मकरणात् कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य निष्प्रत्यूहम् इति चेद्, न एवं वक्तुं
युक्तम्. पदज्ञानस्य कर्मफलासम्बन्धफलकत्वस्य **अपूर्वत्वाद्** विधेयत्वमेव. न हि
यस्य कर्मणो ज्ञानस्य वा यत् फलं तदुक्तिरपि स्तुतिरेव इति युक्तम्, तयोः
उच्छेदापत्तेः. विधिः हि प्रवर्तकः. तस्य पुरुषप्रवृत्त्युपयोग्यर्थकथनेनैव
चारितार्थ्याद् अन्यार्थकथनस्य स्तुतित्वम् अस्तु नाम. न हि एवं प्रकृते. मुमुक्षोः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ज्ञानांशे विधेः अर्थवादत्वात् कर्मार्थत्वावगमाद् ज्ञानस्य कर्मस्वीकारावश्यकत्वाद् इति
अर्थः. अन्यथा ज्ञानिनां कर्मकरणाप्राप्तौ. तत्कृतेति. कर्मकृतिजनितगुणदोषौ.
मात्रपदं सूत्रे मात्रपदं तादृशार्थसूचकम्. निषेधे ज्ञानिनां कर्मकृतगुणदोषनिषेधेन. **इतर-
साधारण्यम्** अज्ञानिनो यथा गुणदोषः तथा ज्ञानिनोऽपि इति साधारण्यम्. **पदज्ञानस्य**
पूर्वश्रुत्युक्तभगवत्पदज्ञानस्य. **कर्मफले**त्यादि. कर्मफलस्य असम्बन्धतादात्म्यं यस्मिन्
तादृशफलत्वस्य पदज्ञानसम्बन्धिनः इति अर्थः. **विधेयत्वमेव** इति 'एव'कारेण
अर्थवादाविषयत्वं बोध्यते. **तदुक्तेः** इति. तथाच ज्ञानकर्मणोः फलसम्बन्ध-
बोधकवाक्यमात्रस्य स्तुतिपरत्वे पदज्ञानस्य फलसम्बन्धबोधकमपि स्तुतिपरमेव इति
भावः. **तयोः** ज्ञानकर्मविध्योः. **उच्छेदापत्तेः** सर्वत्र अधिकारिविधिषु फलबोधनाद्
उच्छेदापत्तेः इति अर्थः. **तस्य** विधेः **प्रवृत्त्युपयोगी**त्यादि. इष्टभावनारूपार्थकथनेन इति
अर्थः. **अन्यार्थे**त्यादि. विधिभिन्नार्थकथनस्य इति अर्थः. **न हि एवम्** इत्यादि. **प्रकृते**
“पदविद् स्याद्” इति मुमुक्षुप्रवृत्तिबोधकविधौ **एवं** प्रवृत्तिप्रयोजकेष्टसाधकत्वान्य-
कथनं **न हि** इति अर्थः. तदेव उपपादयन्ति **मुमुक्षोः** इत्यादिना. **तत्साधनत्वे**ति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

कथम्? इत्यतः आहुः **निषेधेन** इति. **इतरेति**. अज्ञानिनां कर्मजन्यगुणदोषौ ज्ञानिनां न
इति भावः. **कर्मकरणाद्** इति. सन्न्यासाश्रमोक्तकर्मकरणाद् इति अर्थः. सूत्रस्थ-
परिहारभागस्य अर्थम् आहुः **न एवम्** इति. **विधेयत्वमेव** इति. अत्र अयम् अपूर्वविधिः
रात्रिसत्रन्यायेन बोध्यः. इदमेव आहुः **नहि** इति. पूर्वोक्तम् आशङ्क्यम् अनुवदन्ति
यच्च इति. निषेधन्ति **तद् न** इति. **तरणौ** सूर्ये.

कर्मबन्धाभावप्रेप्सोः तत्साधनत्वज्ञानएव प्रवृत्तिसम्भवात्. यच्च कर्मफल-
सम्बन्धनिषेधानुपपत्त्या कर्मसम्बन्धः इति उक्तं, तद् न साधीयः. न हि तरणौ
तमःकार्याभावः इति उक्तेः तत्प्राप्तिरपि सम्भवति.

अथवा. पुरुषोत्तमज्ञानमुख्यफलस्य अतिमहत्त्वेन साक्षाद् वक्तुम्
अशक्यत्वं ज्ञापयन्ती कैमुतिकन्यायेन परम्परया तद् आह अनया ऋचा “तं
विदित्वा ब्राह्मणो भवति” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुतेः ‘ब्राह्मण’ पदेन
ब्रह्मविद् उच्यते. तथाच ‘आद्य’पदेन बुद्धिस्थब्राह्मणमाहात्म्योद्देशे कृते, सः
कः ? इति आकांक्षायाम् आह तं ब्राह्मणं विदित्वा विहितनिषिद्धफलासम्बन्धी भवति
इति लक्षण इति अर्थः. साक्षाद्भगवद्विदः किमु वाच्यम् इति भावः. अतः ‘तस्यैव’
‘तच्’छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वाद् ब्राह्मणस्यैव भगवद्विदो भक्तस्यैव “पदवित्
स्यात्” (बृहदा. उप.४।४।२३) तज्ज्ञानानुकूलप्रयत्नवान् स्यात्, तद् भजेत इति
यावत्. तथाच यत्र *भक्तविद्विषयकज्ञानस्यापि उक्तरीत्या न कर्मशेषत्वं वक्तुं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

बन्धाभावसाधनत्वम्. निषेधेत्यादि. निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वाद् इति भावः. तरणौ सूर्ये
विद्यमानः इति अर्थः. तत्प्राप्तिः सूर्ये विद्यमाने तमःकार्यप्राप्तिः. “आनन्दं ब्रह्मणो
विद्वान् न बिभेति कुतश्चन” (तैत्ति.उप.२।४।१) इति उक्ता अकुतोभयफलकस्य
पुरुषोत्तमज्ञानस्य कर्मबन्धाभावफलकत्वम् अप्रयोजकम् इति आशयेन आहुः अथवा
इत्यादि. मुख्यफलस्य अकुतोभयरूपफलस्य. अनयर्चा इत्यादि. आद्यपदेन ‘तम्’ इति
आद्यपदेन. इतिलक्षणे इत्यनेन ब्रह्मविदः स्वरूपम् उक्तम्. साक्षाद् इत्यादि. तथाच
ब्रह्मविज्ज्ञानाद् एतादृशे फले सति साक्षात्पुरुषोत्तमविदः किं माहात्म्यं वाच्यम् इति
अर्थः. तच्छब्दस्य “तस्यैव पदवित् स्याद्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुतिस्थ-
‘तच्छ’ब्दस्य॥२१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. तद् आह इति. अनया ऋचा महत्त्वम् आह
इति अर्थः. तदेव व्याकुर्वन्ति तं विदित्वा इति श्रुतेः. पदवित् विदित्वा इति श्रुतेः.
भगवद्विषयकेति. भगवज्ज्ञानिज्ञानवतः इति अर्थः. सुस्थम् इति. सन्न्यासाश्रमीण-
कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य नास्ति इति अनवद्यम् इति अर्थः॥२१॥

*‘भगवद्विद्विषयक’ इति पुरु.पाठः.

शक्यं, तत्र भगवज्ज्ञानस्य तथात्वं दूर-दूरतरम् इति सर्वं सुस्थम् ॥२१॥

पारिप्लवार्था इति चेद्, न, विशेषितत्वात् ॥२२॥

अथ प्रकारान्तरेण शङ्कते,

“भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरम् उपससार” (तैत्ति.उप.३।१),

“अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः” (छान्दो.उप.७।१।१),

“प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः इन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम” (कौषी.उप.३।१)

इत्याद्युपाख्यानैः हि ब्रह्मविद्या निरूप्यते. “**सर्वाणि आख्यानानि पारिप्लवे शंसति**” (आप.श्रौ) इति श्रुत्या शंसनशेषत्वं तेषाम् अवगम्यते. शंसने शब्दमात्रस्य प्राधान्येन अर्थज्ञानस्य अतथात्वाद् उपदेशान्ताख्यानप्रतिपाद्यं ज्ञानं मन्त्रार्थवद् अप्रयोजकमिति कर्मशेषत्वमपि न वक्तुं शक्यम्. प्राधान्यन्तु

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतत् त्रिसूत्रारम्भेण आशङ्काविशेषं परिहर्तुम् आहुः **अथ** इत्यादि. **पारिप्लवे** अङ्गभावे. **तेषाम्** उपाख्यानानाम्. **शंसने** उपाख्यानाङ्गके शंसने. **अतथात्वाद्** उपाख्यानानाम् अर्थज्ञानस्य अप्रयोजकत्वात्. **प्राधान्यम्** उपाख्यानार्थ-ज्ञानानां प्राधान्यम्. **धर्मिणो** ज्ञानरूपस्य धर्मिणः. **उक्तरीत्या** इज्यस्तुतित्वेन इज्यायाम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रप्रयोजनम् आहुः **पूर्वसूत्रेण** इत्यादि. सूत्रं व्याकुर्वन्ति **विधिशब्दाद्** इत्यादि. विधिबोधकशब्दाद् इति अर्थः. तादृशशब्दम् आहुः **पदवित्स्याद्** इति. ‘स्याद्’ इति विधौ लिङ्. कुर्यात्, क्रियेत, कर्तव्यं, भवेत्, स्याद् इतिपञ्चकम्. “**एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्**” इति प्राचां स्मरणात् ॥२२॥

(इदं सूत्रं सभाष्यं विवरणपुस्तकस्थाणुभाष्ये दृश्यते शाङ्करभाष्यादिवत्, किन्तु मुद्रिताणुभाष्यपुस्तकेषु हस्तलिखिताणुभाष्यपुस्तकेषु च न दृश्यते. अत्र प्रकाशकाराः आहुः- एतद् अग्रे भावशब्दाच्च इति सूत्रं पठ्यते. ...तच्च “विधिर्वा धारणवद्” (ब्रह्म.सूत्र ३।४।२०) इत्यत्र एतस्यैव स्यात्पदविद् इति श्रुतिव्याख्यानेनैव व्युत्पादितम् अतः प्रयोजनाभावाद् उपेक्षितम् इति प्रतिभाति. लेखकदोषात् त्रुटितं वा इति ज्ञेयम् इति. ^{आद्यसम्पादकीयम्})

सूत्रं व्याकुर्वन्ति **अथ** इति. इदं सूत्रैकदेशपूर्वपक्षावतरणम्. **भृगुर्वै** इति तैत्तिरीयोपनिषदि. “**इति होपससाद**” (छान्दो.उप.९।१।१) इति छान्दोग्ये. **प्रतर्दनेति** कौषीतकिब्राह्मणे. **तेषाम्** उपाख्यानानाम्. **धर्मिणएव असिद्धेः** इति. **धर्मिणः** ज्ञानस्य. **परिहारं** समवतारयन्ति **अत्र** इति.

दूरापास्तम्. धर्मिणएव असिद्धिः इति आह **पारिप्लवार्थ** इति. उक्तरीत्या सर्वाः उपाख्यानश्रुतयः कर्मशेषभूता इति अर्थः. अत्र आचार्यः एवमपि कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य न सम्भवति इति आह **न** इति. कुतः? **विशेषितत्वात्**. कर्मणः सकाशाद् ज्ञानं **विशेषितम्** अधिकधर्मविशिष्टत्वेन उक्तमिति न ज्ञानस्य कर्मशेषत्वम् इति अर्थः. ननु **विशेषितत्वम् आख्यानेष्वेवेति** अप्रयोजको हेतुः इति चेद्, मैवम्, आचार्याशयानवगमात्. तथाहि पूर्वं “तुष्यतु दुर्जन” इति न्यायेन आख्यानानां शंसनशेषत्वम् उपेक्षित्वा उच्यते. नहि आख्यानेष्वेव ज्ञानं निरूप्यते, किन्तु अन्यत्रापि. तथाहि. तैत्तिरीयके पठ्यते “**ब्रह्मविद् आप्नोति परं, तदेषा अभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**” (तैत्ति.उप.२।१) इत्युपक्रम्य, माहात्म्यविशेषज्ञानार्थम् आकाशादिकर्तृत्वम् उक्त्वा, आनन्दमयत्वं रसरूपत्वम् उक्त्वा, “**भीषा अस्माद्**” (तत्रैव) इत्यादिना सर्वनियामकत्वं च उक्त्वा, भगवानेव पूर्णानन्दः इति ज्ञापनाय आनन्दगणनां कृत्वा, आनन्दमयं पुरुषोत्तमं प्राप्तेन अनुभूयमानानन्दस्वरूपं, “**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**” (तत्रैव) इत्यादिना उक्त्वा, तद्विदो माहात्म्यम् उच्यते “**एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु न अकरवं किम् अहं पापम् अकरवम्**” (तैत्ति.उप.२।९) इति. अत्र ज्ञानवान् सच्चिद्रूपदेशकालापरिच्छिन्नं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उपयोगित्वेन. अत्र एतत्सूत्रे. **एवमपि** उक्तप्रकारेणापि. **ज्ञानस्य** उपाख्यानतात्पर्य-विषयीभूतब्रह्मज्ञानस्य. **अधिकधर्मेत्यादि**. आनन्दविषयताविशिष्टत्वेन इति अर्थः. **ज्ञानस्य** उपाख्यानार्थज्ञानस्य. **उपाख्यानेष्वेव** आख्यानार्थज्ञानेष्वेव. **एवकारेण** मन्त्र-ब्राह्मणार्थज्ञानस्य अन्यस्य व्यवच्छेदः **मैवम्** आख्यानार्थज्ञानमात्रे विशेषितत्व-निर्वचनम् इति न इति अर्थः. तत्र हेतुः **आचार्येत्यादि**. **शंसनशेषत्वं** ब्रह्मज्ञानोपयोगि-ज्ञानप्रतिपादनशेषत्वम्. **आख्यानेष्वेव** इति ‘एव’कारव्यवच्छेदार्थम् उपादेयत्वेन उपपादयन्ति **न हि** इत्यादिना. **आनन्दगणनां** शतानन्दाधिकतया आनन्दगणनाम् इति अर्थः. **प्राप्तेन** भक्तेन कृत्वा इति अर्थः. **तद्विदः** पुरुषोत्तमविदः. अत्र भगवन्मार्गे. **ज्ञानवान्** पुरुषोत्तमज्ञानवान्. **आप्नोति** इत्यस्य **तद्वान्** इत्यत्र अन्वयः. **अप्रयोजकत्वं**

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

विशेषितं विशेषो जातो अस्य इति अर्थः. **अधिकेति**. परमानन्दरूप-फलजनकत्वेन इति अर्थः. एतदेव अग्रे उच्यते. शेषं स्फुटम् ॥२३॥

सर्वकर्तारं निरवध्यानन्दात्मकं सर्वनियामकं मनोवागगोचरं पुरुषोत्तमं प्राप्नोति. कर्मतु स्वयं क्लेशात्मकं, तद्वांश्च “अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति” (बृहदा. उप. ४।३।३२) इति श्रुतेः क्षुद्रतरानन्दजनकस्वर्ग-पश्वादि-फलम् आप्नोतीति विहितनिषिद्धकर्मणोश्च अप्रयोजकत्वं तस्मिन् उच्यतइति कर्मणः सकाशाद् ज्ञानस्य निरवधिरेव विशेषः उच्यतइति न धर्म्यसिद्धिः, न वा कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य सिध्यति ॥२२॥

तथापि आख्यानप्रतिपादितविद्यानाम् असिद्धिरेव इति चेत्, तत्र आह.

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥२३॥

यथा केवलश्रुतेः विद्याप्राधान्यं, तथैव उपाख्यानश्रुतीनाम् इति अर्थः. चकारेण प्रश्नोत्तरैः निर्णीतार्थप्रतिपादनम्. महतामेव अत्र प्रवृत्तिः. सापि बह्वायासपूर्विका इति विद्यामाहात्म्यज्ञापनं प्ररोचनं च अधिकम् उपाख्यानानाम् उपाख्यानं विनैव विद्यानिरूपिकायाः श्रुतेः सकाशाद् इति उच्यते. तत्र हेतुः **एकवाक्यतोपबन्धाद्** इति. “आचार्यवान् पुरुषो वेद” (छान्दो. उप. ६।१।४। २) इति श्रुत्या **एकवाक्यताज्ञानम्** आख्यानं विना न भवतीति तदर्थम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

फलाजनकत्वम्. तस्मिन् पूर्वोक्तज्ञानवति. न वा धर्म्यसिद्धिः ज्ञानसिद्धेः श्रुतौ उक्तत्वाद् न धर्म्यसिद्धिः ॥२२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति तथापि इत्यादिना. असिद्धिः आख्यानानां कर्मशेषत्वा-भावस्य असिद्धिः. केवलश्रुतेः “अधीहि भगव इति होपससाद” (छान्दो. उप. ७।१।१) इत्यादिश्रुतेः. **उपाख्यानश्रुतेः** माहात्म्यबोधकश्रुतेः. प्रश्नोत्तरैः महतां नारद-सनत्कुमारादीनाम्. अत्र उपनिषन्मार्गे. सा महतां प्रवृत्तिः. अधिकं केवलविद्या-बोधकश्रुत्यपेक्षया अधिकम्. **एकवाक्यताज्ञानं** केवलविद्याबोधकश्रुतीनाम् एकवाक्यताज्ञानम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अग्रिमसूत्रप्रयोजनं दर्शयन्ति तथापि इति. असिद्धिः इति. कर्मशेषत्वाभावस्य इति शेषः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति यथा इति. प्ररोचनम् इति. इदं च अवान्तरफलम्. एकवाक्यताम् उपपादयन्ति आचार्येत्यादिना.

१. ‘धर्मासिद्धिः’ इति पुरु.पाठः. २. ‘कथोपसम्बन्धाद्’ इति पुरु.पाठः

उपबन्धात् गुरु-शिष्यकथोपबन्धाद्^१ इति अर्थः.

अथवा. उपाख्यानरहितायां श्रुतौ यथा ज्ञानं निरूप्यते, तथैव “अधी हि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः” (छान्दो.उप.७।१।१) इत्याद्याख्यानेष्वपि निरूप्यतइति अनाख्यानश्रुत्या एकवाक्यतयैव आख्याने ज्ञान-स्वरूपोपबन्धात् प्रतिपादनाद् इति अर्थः. नैकट्यवाचिना ‘उप’पदेन ‘वस्तुसती या तत्तद्गुरुतत्तच्छिष्यकथा तत्सामीप्यम् अत्र उच्यते. अन्यथा सामीप्यासम्भवाद् अतः कल्पितत्वशङ्कानिरासः. ननु एवमपि पारिप्लवार्थत्वेन बाधकं पश्याम इति चेद्, उच्यते. अश्वमेधप्रकरणे, “मनुः वैवस्वतो राजा” (शतप.ब्राह्म.१.३।४। ३।३) इत्यादीनि आख्यानानि यत्र पठितानि, तत्र सामान्यतः तेषां विनियोगः, “सर्वाणि आख्यानानि पारिप्लवे शंसति” इत्यनेन उक्तइति ‘सर्व’शब्दः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु गुरुशिष्याख्यानरहितकेवलज्ञानप्रतिपादक “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति. उप.२।१) इत्यादिश्रुतीनाम् आख्यानाकांक्षा नतु आख्यानवतीनामपि इतराकांक्षा इति केवलज्ञानप्रतिपादकश्रुतीनाम् आख्यानवतीषु शेषत्वं स्याद् अतः आहुः अथवा इत्यादि. निरूप्यते ज्ञानं निरूप्यते. तथाच एकवाक्यतया समानैकधर्मिणो ज्ञानस्य उभाभ्यां निरूपणाद् न एकस्यापि अन्यशेषत्वम् इति फलितम्. अन्यथा तत्तद्गुरु-तत्तच्छिष्याणाम् अवस्तुत्वाङ्गीकारे. अतः पूर्वोक्तानां वास्तवत्वेन उपनिबद्धत्वात्. आशङ्कान्तरम् आहुः ननु एवम् इत्यादिना. पारिप्लवार्थत्वेन “सर्वाणि आख्यानानि पारिप्लवे शंसति” (आप.श्रौ.सू.) इत्यनेन. बाधकं सर्वाख्यानानाम् अश्वमेधीयपारिप्लवपदार्थाङ्गत्वाद् न ब्रह्मविद्योपयोगः इति बाधकम्. उच्यते समाधानम् उच्यते इति अर्थः. सर्वाणि आख्यानानि “मनुवैवस्वतः” इत्यादीनि सर्वाणि इति अर्थः. तदाख्यानपरएव

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु आख्यानवतीनां तच्छेषत्वाभावः, किन्तु आख्यानरहितानां तच्छेषत्वं कुतः? आख्यानोक्तार्थाङ्गत्वात्. अतो न उक्तदोषनिवृत्तिः इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. नैकट्येत्यनेन उपसर्गकथनस्य तात्पर्यं सूचितम्. अत्र आशङ्कते ननु एवमपि इति. एवं परस्पराकाङ्क्षया एकवाक्यत्वे समाधानम् आहुः उच्यते इति. एवञ्च अनेनवाक्येन विद्यानां न कर्मशेषत्वसिद्धिः. प्रकरणेन सर्वशब्दार्थसङ्कोचावगमाद् इति भावः. लिङ्गमपि सङ्कोचे मानम् आहुः एवं सति इति. सर्वशब्दार्थसङ्कोचे

१. ‘वस्तुसजातीये’ति रश्मि पाठः व्याख्यातश्च तथा.

तदाख्यानपरएव, नतु आख्यानान्तरपरोऽपि, प्रकरणस्य नियामकत्वात्. एवं सति, यदा पारिप्लवाख्यकर्मप्रस्तावः, तदा विशेषविनियोगः उक्तः. “**पारिप्लवम् आचक्षीत**” (आप. श्रौ.सू.१०।६) इति. तत्र प्रथमे अहनि “**मनुः वैवस्वतो राजा**” (तत्रैव) इति. द्वितीये अहनि “**इन्द्रो वैवस्वत**” (तत्रैव) इति. तृतीये अहनि “**यमो वैवस्वतो राजा**” (शतप.ब्राह्म.१३।४।३।६) इत्यादिः आख्यानविशेषा वाक्यशेषे विनियुज्यन्ते. आख्यानसामान्यपरत्वेतु अहोविशेषः उपाख्यानविशेषविधानं न स्यात्. अतएव **पारिप्लवम्** इति एकवचनम्. अतो न आख्यानान्तरगन्धसम्बन्धोऽपि, प्रापकाभावात्॥२३॥

अतएव च अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥२४॥

एवं “**पुरुषार्थो अतःशब्दाद्**” (ब्रह्मसू.३।२।१) इत्युपक्रम्य ज्ञानस्य फलसाधने कर्मानपेक्षत्वम् उपपाद्य तत्रैव उपपत्यन्तरम् आह. यतो ज्ञानी ज्ञानेन स्वयमेव यज्ञात्मको जातः, **अतएव** जरामर्याग्निहोत्रे अग्निः तदिन्धनं समिदादि, तदादयः आज्यादयः तेषाम् **अनपेक्षा** उक्ता. श्रुतौ तैत्तिरीयके पठ्यते. “**तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरम् इध्मम् उरो वेदिल्लोमानि**

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अश्वमेधप्रकरणे पठितानि यानि “मनुर्वैवस्वत” इत्याद्याख्यानानि तत्पर‘सर्व’शब्दः तेन प्रकरणेन ‘सर्व’शब्दसङ्कोचाद् न ब्रह्मविद्योपाख्यानानाम् अश्वमेधीय-पारिप्लवशेषत्वम् इति फलितम्. **विशेषविनियोगो** यस्मिन् दिने यदाख्यानम् उक्तं तद्वितीयपारिप्लवे तदाख्यानविनियोगः इति अर्थः. **विशेषविधानं न स्याद्** इति. तथाच “सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां, कौण्डिन्येभ्यः तक्रम्” इति विशेषविधानाद् यथा कौण्डिन्येभ्यो दधिनिवृत्तिः तथा इतरोपाख्यानानां पारिप्लवे निवृत्तिः अन्यथा विशेषवाक्यविशेषवैयर्थ्यापत्तेः इति भावः. **अतएव** यतएव एकैकस्मिन् पारिप्लवे एकैकम् आख्यानं नियतम् उक्तं ततएव इति अर्थः॥२३॥

सूत्रार्थम् आहुः **यतः** इत्यादिना. **तेषां** यज्ञोपस्कराणाम्. **उक्ता** ज्ञानिषु उक्ता. **पठ्यते** श्रुतिः पठ्यते. “**तस्य एवंविदुषो यज्ञस्य आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरम्**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

गमकान्तरम् आहुः **अतएव** इति॥२४॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति **एवम्** इति. **तैत्तिरीयके** उपनिषदि अन्ते **पठ्यते** “**तस्यैवं विदुषः**” (तैत्ति.उप.२।७) इत्यत्र जरामर्याग्निहोत्रं पठ्यते इति अर्थः॥२५॥१॥

बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निः” (महाना. उप.२५) इत्यादिः. एतेन यद् अन्यस्य यज्ञतासम्पादकं, तस्य स्वकार्यसाधने कथं यज्ञापेक्षा भवेद् ? इतिभावः सूच्यते ॥२४॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे प्रथमं पुरुषार्थोक्तः शब्दाद् इति अधिकरणम् ॥१॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥२५॥

उक्तन्यायेन ज्ञानं प्रति कर्मणः फलोपकारित्वाभावेऽपि स्वरूपोप-कारित्वम् अस्ति न वा इति चिन्त्यते. तत्र न इति पूर्वः पक्षः, गुरूपसत्ति-तदुपदेशैरेव तत्सम्भवात्. “आचार्यवान् पुरुषो वेद” (छान्दो.उप.६।१४।२) इति श्रुतेः. अत्र सिद्धान्तम् आह सर्वापेक्षा इति. सर्वेषां कर्मज्ञानभक्तीनां पुरुषोत्तम-ज्ञानोत्पत्तौ अस्ति अपेक्षा. अत्र प्रमाणम् आह यज्ञादिश्रुतेः इति. यज्ञादिनिरूपिका श्रुतिरेव प्रमाणं यतः इति अर्थः. इदम् अत्र आकृतम् : पुरुषोत्तमएव स्वतन्त्र-पुरुषार्थरूपः. तत्प्राप्तिरेव फलम्. तत्र प्रेमभक्तिजं तज्ज्ञानमेव साधनम् इति “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिना “एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति” (तत्रैव) इत्यादिश्रुतिसहस्रैश्च प्रतिपाद्यते. “अथ इतरे दुःखमेव उपयन्ति” (बृहदा.उप.४।४।१४) इति श्रुत्या ज्ञानरहितानां दुःखमात्रप्राप्तिः उच्यते. एवं सति स्वतो अपुरुषार्थरूपं यज्ञादिकं सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः यद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इध्मम् उरो वेदिलोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुः तपो अग्निः” (नारा.१८।१) इत्यादि. तस्य ज्ञानस्य ॥२४॥१॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति उक्तन्यायेन इत्यादि. उक्त इति. ज्ञानप्रतिपादक-श्रुतिभ्यां भगवतः तज्ज्ञानस्य वा आधिक्यप्रतिपादनेन इति अर्थः. स्वरूपोपकारि-त्वेत्यादि. तत्सम्भवाद् ज्ञानसम्भवात्. यज्ञादिनिरूपकेत्यादि. “यज्ञो वै विष्णुः” (तैत्ति.ब्राह्म.१।२।५।१) इत्यादिश्रुतेः इति अर्थः. तच्छ्रुत्या यज्ञादिकर्मणां निरूपणं सर्वथाव्यभिचारेण. पुरुषार्थेत्यादि. मर्यादामार्गपद्धत्या पुरुषार्थसाधकत्वेन इति अर्थः. तद् यज्ञादिकर्म. तथा फलोपधायकम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अधिकरणम् अवतारयन्ति उक्तन्यायेन इति. संशयम् आहु स्वरूपेति. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. सिद्धान्तम् आहुः सर्वेषाम् इति. कथं प्रमाणम् अतः आहुः इदम् अत्र इति. एवं सति दुःखप्रापकत्वे सति. मन्तव्यम् इति. निरूपणेन सर्वथा

निरूपयति तत् सर्वथा पुरुषार्थसाधनत्वेनैव इति मन्तव्यम्. तच्च निष्कामतयैव कृतं तथा. अतएव वाजसनेयिशाखायां

“यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति” (बृहदा.उप.६।४।५) इत्युपक्रम्य पठ्यते

“तस्माद् लोकात् पुनः एति अस्मै लोकाय कर्मण इति तु कामयमानो अथ अकामयमानो यो अकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६)

इत्यादि. अत्र “अथ अकामयमानः” कर्ता निरूप्यते इति शेषः. यः पुमान् कर्मकृतौ अकामः ततो निष्कामः सन् आत्मकामो निरुपधिस्नेहवान् प्रभौ, ततो भगवत्प्राप्त्या “आप्तकामो भवति” इति अर्थः. अत्र ‘यथाकारी’ इत्यादिना कर्मकर्तुरिव उपक्रमाद् ‘अथाकामयमानः’ इत्यनेनापि तथाभूतः सएव उच्यते. एवं सति सत्कर्मणि प्रवृत्त्यर्थं विविधफलानि स्वयमेव उक्त्वा जनान् भ्रामितवान् इति स्वोक्तकरणात् चिरेण दयया निष्कामं करोति, सकामतयापि क्रियमाणेन वैदिककर्मणानेकजन्मभिः संस्कारविशेषप्रचयेनापि तथा. “कषाये पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते” (महाभा.शान्तिप.२७६।३९) इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ज्ञानोत्पत्तौ कर्मपेक्षा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पठ्यते सकामस्य अपुरुषार्थप्रतिपादकं पठ्यते इति अर्थः. “इतितु कामयमानः” इत्यत्र उक्तः इति शेषः. “यो अकामः” इत्यादिना निष्कामस्य पुरुषार्थः उच्यते. “यो अकामो निष्कामः” इति श्रुतेः अर्थम् आहुः यः पुमान् इत्यादिना. तथाभूतो निष्कामः. सएव कर्मकर्तैव. सत्कर्मणि इत्यादि. निषिद्धावैदिककर्मनिवृत्तिप्रयोजनक-सत्कर्मणि प्रवृत्त्यर्थम् इति फलितो अर्थः. तथा पुरुषार्थप्राप्तिः. चकारेण सौत्र ‘च’कारेण.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

स्वीकर्तव्यम्. तच्च इति. कर्म च. तथा भगवज्ज्ञानोपयोगि. “अथ अकामयमानः” इति श्रुत्यंशव्याख्यानम् आहुः अथ अकामयमानः इति. तथाभूतः इति. अकामः कर्मकरणे निष्कामः फले. एतावता द्विविधः कर्ता निरूपितः. एतेन यत् सिद्धं तद् आहुः एवं सति इति. अत्र अर्थे स्मृतिं प्रमाणयन्ति कषायेति. अनेन प्रकारेण कर्मपेक्षा या भगवत्साक्षात्कारे निरूपता सा मर्यादामार्गे शरणगमनध्यानादीनां तथा भक्त्युपयोगिनां भजनादीनां च गोपालतापिन्युक्तानामपि अपेक्षा अस्ति. साच अग्रिमसूत्रे व्युत्पादयिष्यते. चकारेण च समुच्चीयते. एतावता ज्ञाने कर्मपेक्षा सिद्धा नतु ज्ञाने भक्तेः अपेक्षा अस्ति

अस्ति इति. ‘च’कारेण पुष्टौ अङ्गीकृतस्य सर्वानपेक्षेति सा समुच्चीयते. अतएव “**नायमात्मा**” (कठोप.२।२३) इत्यादिश्रुतिः न विरुध्यते. ननु ज्ञानद्वारा-कर्मादीनामेव फलसाधकत्वम् अस्तु इति शङ्कानिरासाय दृष्टान्तम् आह **अश्ववद्** इति. यथा स्वेष्टफलसाधकदेशव्यवधानात्मकदेशातिक्रमे अश्वस्य साधनत्वं, नतु तत्तत्फलसिद्धावपि, तथा आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकप्रतिबन्धनिवृत्तावेव तेषां साधनत्वं, नतु भगवत्प्राप्तावपि इति अर्थः. इदं च मुमुक्षुभक्तविषयकम् इति ज्ञेयम्. आत्यन्तिकभक्तिमतां भक्तीतरानपेक्षणात् ॥२५॥

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापितु

तद्विधेः तदङ्गतया तेषाम् अवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२६॥

ननु “**तस्माद् एवंविद् शान्तो दान्तः**” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिना शमादेरेव ज्ञानसाधनत्वम् उच्यते, नतु यज्ञादेः इति चेद्, तत्र आह. **शमदमाद्युपेतो भक्तिमार्गेऽपि स्यादेव** यद्यपि, **तथापि तदङ्गतया “आत्मन्येव आत्मानं पश्येद्”** (बृहदा.उप.६।४।२३) इति ज्ञानमार्गीयज्ञानाङ्गतयैव शमादिविधेः हेतोः ज्ञानमार्गे **तेषाम् अवश्यानुष्ठेयत्वात्** तथाविधिः इति अर्थः. भक्तिमार्गे स्वतएव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

समुच्चीयते सर्वानपेक्षा समुच्चीयते इति अर्थः.

स्वेष्टेत्यादि. स्वस्य इष्टसाधको यो देशः तन्मध्ये व्यवधायकः इष्टदेशप्राप्ति-प्रतिबन्धको यो देशः तदतिक्रमः इति अर्थः. **तत्र** इष्टदेशे. **तेषां** कर्मणाम् ॥२५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादिना. **नतु यज्ञादेः** इति. तथाच पूर्वसूत्रोक्त-यज्ञादीनां ज्ञानभक्त्यादिसाधनतोक्तिः बाधिता इति अर्थः. **तत्र** पूर्वपक्षे प्राप्ते. **आह** बाधनिराकरणम् आह इति अर्थः. **शमदमादीत्यादिपदेन** यज्ञादिसङ्ग्रहः. **तदङ्गतया** ज्ञानाङ्गतया. **तेषां** यज्ञशमदमादीनाम्. **तथा** ज्ञानाङ्गतया. **स्वतएव** ऐहिकामुष्मिक-फलकामनाराहित्येन भगवति चित्तवृत्तिनिरोधरूपायां भक्तौ स्वतएव सम्भवाद् इति अर्थः. **तेषां** यज्ञशमदमादीनाम् इति अर्थः. इत्थं च “**तमेतं वेदानुवचनेन**” (बृहदा.उप.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति तत्कथनप्रयोजनम् आहुः **इदं च** इति. कर्मापेक्षणम् इति अर्थः ॥२६॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **ननु** इति. सूत्रं व्याकुर्वन्ति **शमदमेति. तथाविधिः** इति. साधनत्वेन **विधिः** इति अर्थः. भक्तिमार्गे व्यवस्थाम् आहुः **भक्तीति** ॥२७॥

शमादीनां सम्भवेऽपि आवश्यकत्वं न तेषाम् इति भावः ॥२६॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥२७॥

ननु सत्त्वशोधकत्वेन यज्ञ-शम-दमादेः विधानम् इति मतं न उपपद्यते. “आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः” (छान्दो.उप.७।२६।२) इति श्रुतेः तद्विरुद्धा सर्वान्नभक्षणानुमतिरपि यतः श्रूयते छन्दोगानाम्. “न ह वा एवंविदि किञ्चन अनन्नं भवति” (छान्दो.उप.५।२।१) तथा वाजसनेयिनां, “न ह वा अस्य अनन्नं जग्धं भवति” (बृहदा.उप.६।१।१४) इत्यादि. तस्मात् सत्त्वशुद्ध्यर्थं यज्ञादेः न विधानम् इति प्राप्ते विषयव्यवस्थाम् आह. आहारदौर्लभ्येन प्राणात्यये उपस्थितेः प्राणधारणस्य ज्ञानान्तरङ्गतमसाधनत्वेन आहारस्य देहपोषकत्वे न ततो बहिरङ्गत्वात् तदनुमतिः क्रियते इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आह तद्दर्शनाद् इति. “चाक्रायणः किल ऋषिरापदगत इभ्येन सामिखादितान् कुल्माषान् चखाद्” (छान्दो.उप.१।१०।१) इत्यादिश्रुतिदर्शनाद् इति अर्थः. यद्यपि ज्ञानसाधनत्वेन सत्त्वशुद्धेः अपेक्षितत्वाद्, जाते ज्ञाने तत्साधनापेक्षणात्, “एवंविदि” (छान्दो. उप.५।२।१) इति वचनात् तादृशे सार्वदिक्यपि तदनुमतिः न अनुचिता. “अपि स्मर्यते” (ब्रह्मसू.३।४।२९) इत्यनेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

४।४।२) इत्यादिनिरूपितत्वात् पक्षद्वयेऽपि न यज्ञादिबाधः इति फलितम् ॥२६॥

किञ्चिद् आशङ्क्य परिहर्तुम् इदं सूत्रम् इति अवतारयन्ति ननु इत्यादि. तथाच छान्दोग्य-वाजसनेयिभ्यां शमयज्ञाद्यपवादोऽपि युक्तो भवति सत्त्वशोधकाहार-यज्ञादीनां समानत्वाद् आहारशुद्धि-शमदमयज्ञादिसम्पादनवाक्यानि विद्यास्तावकानि इति अन्नभक्षणश्रुतिभ्याम् अनुमतिः क्रियते इति अर्थः. अत्र बहिरङ्गाहारेण अन्तरङ्गप्राण-रक्षणावश्यकत्वे. तादृशे सिद्धज्ञाने. तदनुमतिः उक्तश्रुतिभ्याम् उक्ताद् न अनुमतिः. न अनुचिता सत्त्वशुद्धिकार्यज्ञानस्य जातत्वाद् अनन्तरानुमतेः कार्याप्रतिबन्धकत्वाद् न अनुचिता इति अर्थः. तथाच विदुषो अनौचित्याभावेऽपि अविदुषो अनौचित्यमेव इत्यतः आहुः अपिच इत्यादि. अतएव अनापदि ज्ञानिनोऽपि वैधत्यागस्य अनौचित्यादेव.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

यत्किञ्चिद् आशङ्कते ननु इति. सूत्रार्थम् आहुः आहारेति. तदनुमतिः क्रियते आहारानुमतिः प्राणधारणार्थं क्रियते इति अर्थः. किञ्चिद् आशङ्कते यद्यपि इति.

अविदुषोऽपि अनुमतेः वक्ष्यमाणत्वाच्च. तथापि आचार्येण अवस्थाविशेष-
विषयकत्वम् उक्तं यत्, तेन ज्ञानिनोऽपि अनापदि विहितत्यागो अविहितकरणं
च चित्तमालिन्यजननेन ज्ञानतिरोधायकम् इति श्रुत्यभिमतम् इति ज्ञाप्यते. अतएव
श्रीभागवते द्वितीयस्कन्धे

“विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितं,
सत्यं पूर्णम् अनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यम् अद्वयं,
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः,
यदा तदेवासत्तर्कैः तिरोधीयेत विप्लुतम्”

(भाग.पुरा.२।६।३९-४०) इति ब्रह्मणा उक्तम्.

“ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा,
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति”(माकण्डे.पुरा.१।५४)
इति मार्कण्डेयेनापि उक्तम्. एषा ज्ञानमार्गीयज्ञानवतो व्यवस्था इति
ज्ञेयम्. भक्तिमार्गीयस्य एवम् आपदसम्भवात्.

“अनन्याः चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते,
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्”(भाग.गीता ९।२२)
इति भगवद्वाक्यात्.

“मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते”(भग.गीता ७।१४)
इत्यत्र ‘एव’कारेण पुरुषोत्तमज्ञानवतएव मायातरणोक्तेः अक्षरमात्र-
ज्ञानवतां तथात्वम् उचितम्॥२७॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

असत्तर्कैः इति. तथाच “नैषा तर्केण मतिरापनेया”(कठोप.१।२।९) इति श्रुत्युक्तत्वाद्
अवैधतर्काणां त्यागः आवश्यकः. एवम् अवैधं सर्वमेव अनापदि त्याज्यम् इति अर्थः.
ननु विदुषां च आपदि उद्धारः उक्तो भक्तानान्तु एतद् उभयान्यत्वात् तेषाम् आपदि
अनुद्धारएव इत्यतः आहुः भक्तीत्यादि. तथाच “योगक्षेमं वहाम्यहम्”(भग.गीता
९।२२) इति भगवत्प्रतिज्ञातः तेषाम् आपदएव न आयाति आगतासु वा सएव
सत्यप्रतिज्ञो रक्षकइति न भक्तानाम् आपत्तिचिन्ता इति अर्थः॥२७॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

परिहरति तथापि इति. भक्तिमार्गे व्यवस्थाम् आहुः भक्तीति. ज्ञानमार्गेतु आपत्तिः अस्ति
इति आहुः मामेव इति. मायातरणाभावाद् आपत्तिः अस्ति इति भावः॥२८॥

अबाधाच्च॥२८॥

आपदि तथा अन्नभक्षणेन चित्ताशुद्ध्यसम्भवेन तज्जनितप्रतिबन्धा-
भावाच्च न दोषः इति अर्थः॥२८॥

अपि स्मर्यते॥२९॥

आपदि अविदुषोऽपि दुष्टान्नभक्षणे पापाभावो यत्र स्मर्यते, तत्र विदुषि
श्रुत्यनुमते का शङ्का इति अर्थः. स्मृतिस्तु “जीवितात्ययम् आपन्नो यो अन्नम्
अत्ति यतः ततः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रम् इव अम्भसा” (मनुस्मृ.१०।१०४)
इति. अथवा. विदुषो दुष्टकर्मसम्बन्धः, “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते
तथा” (भग.गीता ४।३७) इति स्मर्यतेऽपि इति अर्थः॥२९॥

शब्दश्च अतोऽकामकारे॥३०॥

यतो ज्ञानाग्निरेव सर्वकर्मदहनसमर्थ इति फलदशायां कामकारेऽपि न
दोषः, अतएव साधनदशायां तदभावेन “तस्माद् एवंवित् शान्तो दान्त उपरतः
तितिक्षुः” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिरूपः शब्दः कामकार-निर्वर्तकः
श्रूयते इति अर्थः॥३०॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे द्वितीयं सर्वापेक्षा इति अधिकरणम्॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अत्र भाष्यं स्फुटार्थम् ॥२८॥

स्मृतिस्तु सूत्रोक्ता स्मृतिस्तु “जीवितात्ययम् आपन्नो योन्नम् अत्ति यतः
ततो, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिव अम्भसा” (मनुस्मृ.१०।१०४) इति.
अष्टकर्मसम्बन्धः. सन्न्यासाङ्गाष्टश्राद्धादिकर्माकरणे दोषासम्बन्धः इति अर्थः. तत्र
सौत्रं हेतुम् आहुः ज्ञानाग्निः इति॥२९॥

कामकारे ज्ञानिनः आपत्तौ निषिद्धाचरणे. तदभावेन निषिद्धाचारस्य
असम्भवेन. कामकारनिर्वर्तको निषिद्धाचारनिर्वर्तको वैधाचारप्रवर्तकश्च इति अर्थः
॥३०॥२॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

‘अबाधाच्च’ ‘अपिस्मर्यते’ ‘शब्दश्चातोऽकामकारे’ एतत्सूत्रत्रयभाष्यं
स्पष्टम् ॥२९।३०।३१॥ इति द्वितीयाधिकरणम् ॥

विहितत्वाच्च आश्रमकर्मापि॥३१॥ (३।४।३)

एवं ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वे सिद्धे जातज्ञानस्य आश्रमकर्म कर्तव्यं न वा इति चिन्त्यते. तत्र फलस्य जातत्वात् कृतस्यापि नाशयत्वेन अप्रयोजकत्वाद् न कर्तव्यम् इति पूर्वः पक्षः. तत्र सिद्धान्तम् आह. यथा ज्ञानिनामपि अनापदि शिष्टानामेव अन्नं भक्षणीयं, **विहितत्वात्**, तथा **आश्रमकर्मापि** कर्तव्यमेव, नित्यं विहितत्वाद् इति अर्थः. यथा अनापदि अशिष्टान्भक्षणं दोषाय, निषिद्धत्वाद्, एतत् च उपपादितं “**सर्वान्नानुमतिः**”(ब्रह्मसू.३।४।२७) इत्यत्र, तथा नित्यत्यागोऽपि प्रत्यवायजनकइति तत् कर्तव्यमेव इति भावः॥३१॥

यच्च उक्तं “कृतस्यापि नाशयत्वेन अप्रयोजकत्वाद् न कर्तव्यम्” इति तत्र आह.

सहकारित्वेन च॥३२॥

शमदमादीनाम् अन्तरङ्गसाधनानां **सहकारीणि** आश्रमकर्माणीति एतद्रहितैः शमादिभिरपि ज्ञानं न स्थिरीकर्तुं शक्यमिति तानि कर्तव्यान्येव इति अर्थः. संसारवासनाजनकत्वस्वभावो यः कर्मणां सः ज्ञानेन नाशयतइति न सहकारित्वे अनुपपत्तिः काचिद् इति भावः॥३२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

नाशयत्वेन “**ज्ञानाग्निः**” (भग.गीता ४।३७) इति वाक्याद् नाशयत्वेन इति अर्थः. **अप्रयोजकत्वाद्** विहितकरणस्य अप्रयोजकत्वाद्॥३१॥

तानि आश्रमकर्माणि. ननु ज्ञाने कर्मणां नाशसम्भवात् तत्करणं ‘प्रक्षालनाद्धि’ इतिन्यायम् अनुसरति इत्यतः आहुः **संसारेत्यादि**. तथाच संसारजनकसकामकर्मणामेव ज्ञाननाशयत्वम् इति चित्तशोधकानां सहकारित्वे न कापि अनुपपत्तिः इति अर्थः॥३२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अधिकरणप्रयोजनम् आहुः. **एवम्** इति. संशयम् आहुः **जातज्ञानस्य** इति. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. सूत्रार्थम् आहुः **यथा** इति॥३२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **यच्च उक्तम्** इति. ननु ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वं गीतायाम् उक्तम् जातज्ञानस्य ज्ञानम् अस्ति. तेन कर्मनाशे तेषां सहकारित्वं कथं युज्यते? इत्यतः आहुः **संसारेति**. एवञ्च गीतायाम् इन्धनाग्निदृष्टान्तः उक्तो अस्ति. अग्निः यथा एधांसि दहति, तेषां धूमादिजनकस्वभावं नाशयति, स्वस्थितिपर्यन्तम्

एवं ज्ञानमार्गीय-ज्ञानस्थैर्यसाधनम् उक्त्वा भक्तिमार्गीय-साधनानां भगवच्छ्रवणादीनाम् इतो आधिक्यम् आवश्यकतां च आह.

सर्वथापि तएव उभयलिङ्गात्॥३३॥

भगवच्छ्रवणकीर्तनादयः साधनान्तरवद् विहितत्वेन कर्तव्याएव यद्यपि, तथापि सर्वथापि अन्येषां युगपदुपस्थितौ तदनुरोधम् अकृत्वापि तएव भगवद्धर्माएव कर्तव्या इति अर्थः. कुतः? श्रुतिलिङ्गात् स्मृतिलिङ्गाच्च. श्रुतिलिङ्गन्तु “तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः, न अनुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तद्” (बृहदा.उप.४।४।२१) इति. “तमेव एकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः” (मुण्ड.उप.२।२।५) इत्यपि. अत्र ‘एव’कारेण भगवदतिरिक्तं प्रतिषिध्य तद्विषयकज्ञानानुकूलं प्रयत्नं श्रवणात्मकं ‘विज्ञाय’ इति विधाय स्मरणमपि तन्मात्रविषयकमेव “प्रज्ञां कुर्वीत”(पूर्ववद्) इतिवचनेन विधाय तदेकनिष्ठताहेतुभूतानामेव शब्दानाम् आवर्तनम् अर्थानुसन्धानमपि कर्तव्यं, न अन्येषाम् इति “नानुध्यायाद् बहून्” इत्यनेन उक्तवती. अत्र ‘अनु’ इति उपसर्गेण ध्यानस्य पश्चाद्भावित्वम् उच्यते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति एवञ्ज्ञानेत्यादिना. सूत्रभागार्थम् आहुः सर्वथापि इत्यादिना. उभयलिङ्गाद् इति सूत्रभागार्थम् आहुः कुतः इत्यादिना. श्रुती आहुः “तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः, नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तद्” (बृहदा.उप.६।४।२१) इति. “तमेव एकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्य एष सेतुः” (मुण्ड.उप.२।२।५) इति. एवकारेण “तमेव” इति ‘एव’कारेण. अत्र ‘नानुध्यायाद्’ इत्यत्र इति अर्थः॥३३॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अङ्गाररूपेण तत्स्वरूपं स्थापयति, एवम् अत्रापि स्वान्तर्गतमेव कर्मस्वरूपं कृत्वा स्थापयति, अतः सहकारित्वे अनुपपत्तिः नास्ति इति अर्थः ॥३३॥

इदानीं भक्तिमार्गीयाणां भक्तिस्थैर्यप्रकारं दर्शयितुं सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इत्यादिना. सूत्रं व्याकुर्वन्ति भगवद् इति. अन्येषाम् इति. अत्र आश्रमधर्माणाम् इति अर्थः. ननु सूत्रे तएव इति ‘तत्’शब्देन परामृश्यते. पूर्वं च आश्रमधर्माएव उक्ताः. तेतु भगवद्धर्माः इति आशङ्कां हेतुव्याख्याने निरस्यन्ति श्रुतिलिङ्गन्तु इति.

तेन योग्यतया श्रवणकीर्तने एव तत्पूर्वभाविनी प्राप्येते. स्मृतिस्तु

“शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति अभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तव इहितं जनाः,
त एव पश्यन्ति अचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्”

(भाग.पुरा.१।९।३६) इति.

“महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः, भजन्ति अनन्यमनसो
ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययं, सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः, नमस्यन्तश्च
मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते” (भग.गीता९।१३-१४) इति. एतेन भगवद्-
धर्माणाम् आत्मधर्मत्वेन अन्तरङ्गत्वाद् आश्रमकर्मणो देहधर्मत्वेन बहिरङ्गत्वात्
तदविरोधेनैव तत् कर्तव्यम् इति स्थितम्. अतएव भगवद्धर्मन्यधर्मं प्रतिषिध्य
तेषां सर्वेभ्य आधिक्यं ज्ञापयितुं “स वा अयम् आत्मा सर्वस्य वशी” (बृहदा.
उप.६।४।२२) इत्यादिना भगवन्माहात्म्यम् उक्तम् ॥३३॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥३४॥

प्राधान्येन भगवद्धर्मा एव कर्तव्या इत्यत्र उपोद्बलकान्तरम् अनेन
उच्यते. “सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा
तपति” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिना भगवद्धर्मानुरोधेन आश्रमकर्माकरणज-
दोषैः अनभिभवं च श्रुतिः दर्शयति. अतो भगवद्धर्मा एव सर्वेभ्यः उत्तमानि
साधनानि इति अर्थः ॥३४॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३५॥

भगवद्धर्मेभ्यः आश्रमधर्माः हीना इत्यपि अल्पम् उच्यते. अपितु तस्मिन्
पुरुषोत्तमे धर्मिण्येव दृष्टिः तात्पर्यं यस्य पुंसः तस्य आश्रमधर्मा अन्तरा च

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति प्राधान्येन इत्यादिना. स्फुटम् अन्यद् ॥३४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति भगवद्धर्मेभ्यः इत्यादिना. अल्पम् आश्रमकर्माल्पम्. ततः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

स्मृतिलिङ्गम् आहुः स्मृतिस्तु इति. एवञ्च यत् सिद्धं तद् आहुः एतेन इति.
तथाच अस्मिन् सूत्रे ‘तएव’ इति अवधारणम्. तेन च त्रयाणां युगपद् उपस्थितौ
भगवद्धर्माणामेव ग्रहणं ज्ञाप्यते ॥३४॥

अग्रिमा पञ्चसूत्री एतद् उपष्टम्भायैव. “अनभिभवं च दर्शयन्ति” “अन्तरा

फलसिद्धौ व्यवधानरूपाश्च इति श्रुतिः दर्शयति इति पूर्वेण सम्बन्धः. ‘अन्तरा’-शब्दो अत्र अव्ययात्मको व्यवधानवाचकः. तथाच श्रुतिः “एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांस प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नो अयम् आत्मा अयं लोकः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति ऋणापाकरणहेतुत्वेन लौकिकोत्कर्षहेतुत्वेनापि प्रजायाः अभीष्टत्वेऽपि तदुत्पादनव्यासङ्गेन भगवदानन्दानुभवे अन्तरायो भविष्यति इति तद्दृष्ट्या तत्र उपेक्षां दर्शयति ।३५।

अपि स्मर्यते ।।३६।।

‘अपि’शब्देन आश्रमधर्मणां तथात्वं किम् वाच्यं, यतो ज्ञानतत्साधन-वैराग्यादीनामपि अन्तरायरूपत्वं स्मर्यते. “तस्माद् मदभक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह” (भाग.पुरा.११।२२।३९) इति भगवद्वाक्यम् ।।३६।।

विशेषानुग्रहश्च ।।३७।।

‘स्मर्यते’ इति पूर्वेण सम्बन्धः. ज्ञानादेः सकाशाद् भक्तिमार्गे फलतो-ऽपि उत्कर्षम् आह. ज्ञानादिसाधनवत्सु अनुग्रहो मुक्तिपर्यन्तएव, भक्तिमार्गेतु, “अहं भक्तपराधीनो हि अस्वतन्त्र इव द्विजः” (भाग.पुरा.९।४।६३) इत्यादिवाक्यैः विशेषरूपो मुक्तादिभ्योऽपि भक्तानां व्यावर्तको भगवदनुग्रहः स्मर्यते इति अर्थः ।।३७।।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

किम्? अतः आहुः अपितु इत्यादि. अन्तरेत्यादि. तथाच अन्तराशब्दो व्यवधायकार्थवाची कोशे सिद्धः इति अर्थः. एतदर्थोपष्टम्भिकां श्रुतिम् आहुः “एतद्ध स्म” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति. स्फुटम् अन्यत् ।।३५।।

एतत्सूत्रस्य पूर्वं व्याख्यातत्वेऽपि पुनः प्रयोजनान्तर-परतया व्याख्यातुम् अवतारयन्ति अपिशब्देन इत्यादिना. स्मृतिम् आहुः तस्माद् इत्यादिना ।।३६।।

मुक्तिपर्यन्तएव इति ‘एव’कारेण मुक्त्यधिकफलानुग्रहव्यवच्छेदः ।।३७।।

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

चापितु तद्दृष्टेः” “अपि स्मर्यते” “विशेषानुग्रहश्च” एतत्तत्सूत्राणां भाष्यं स्पष्टम्. अनुग्रहस्तु धर्मान्तरं कृपापरपर्यायम्. फलदित्सा ‘अनुग्रह’शब्दार्थो न भवति, “यस्य अनुग्रहम् इच्छामि” (भाग.पुरा.१०।८८।८) इति वाक्यविरोधात्. अयम् अनुग्रहएव

गूढाभिसन्धिम् उद्धाटयन् फलितम् अर्थम् आह.

अतस्तु इतरज्यायो लिङ्गाच्च॥३८॥

अतः इति पूर्वोक्त-श्रुतिस्मृतिपरामर्शः. तथाच **इतरस्याः** मुक्तेरपि भक्तिमार्गीयतदीयत्वमेव **ज्यायः** इति अर्थः. अत्र हेत्वन्तरम् आह **लिङ्गाच्च** इति. मुक्तानान्तु मायाविनिर्मुक्तम् आत्मस्वरूपमेव, नतु देहेन्द्रियादिकमपि अस्ति, येन भजनानन्दानुभवः स्यात्. भक्तानान्तु देहेन्द्रियादिकमपि मायातत्कार्यरहितत्वेन आनन्दरूपत्वेन च भगवदुपयोग्यतोऽपि तत् तथा इति अर्थः. न हि मुक्तात्मनां कश्चन भगवदुपयोगो अस्ति इति भावः. तदुक्तं श्रीभागवते “**न यत्र माया किमुत अपरे हरेः अनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता**” (भाग. पुरा.२।१।१०) इत्यादि, मुक्तोपसृप्यत्वं च उच्यते. अतएव सप्तमस्कन्धे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति गूढेत्यादिना. तदीयत्वं भगवदीयत्वम्. आत्मस्वरूपमेव प्राप्तम् अस्ति इति अन्वयः. तद् ज्यायस्त्वम्. तथा सिद्धं भवति इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

‘पुष्टि’शब्देन उच्यते. “**पोषणं तदनुग्रहः**” (भाग.पुरा.२।१०।४) इतिवाक्यात्. इदं पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणे स्पष्टम् ॥३५-३८॥

मुक्तेः इति. सकाशाद् इति अर्थः. **अत्र** इति. मुक्त्यपेक्षया भक्तिमार्गस्य आधिक्ये **आत्मस्वरूपमेव** इति. केवलम् आत्मस्वरूपमेव अत्र तिष्ठति इति अर्थः. **भजनेति**. “**भजसेवायाम्**”. तथाच सेवानन्दानुभवः इति अर्थः. **देहेन्द्रियादिकमपि** इति. तिष्ठति इति शेषः. ननु मायायाः सत्त्वाद् आधिक्यं कथम्? अतः आहुः **माया** इति. “**उच्छिष्टभोजिनो दासाः तव मायां जयेमहि**” (भाग.पुरा.११।६।४६) इति वाक्याद् मायारहितत्वेन इति अर्थः. **भगवदुपयोगीति**. देहेन्द्रियादिकमपि इति पूर्वेण अन्वयः. **अतोऽपि** इति. अतः कारणादपि इति अर्थः. **तद्** भक्तिमार्गीयतदीयत्वं तथा ज्यायः. **तथाच भजनानन्दानुभवजनकस्य** भगवत्सम्बन्धिस्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयस्य सत्त्वाद् ज्यायस्त्वं भक्तेः इति अर्थः. अतएव उक्तं **निबन्धे** “**सर्वेन्द्रियैः तथा च अन्तःकरणैः आत्मनापि हि, ब्रह्मभावात् तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते**” (तत्त्वदी.निब.शा.प्र.५१). अत्र प्रमाणम् आहुः **तदुक्तम्** इति. **मुक्तोपसृप्यत्वं च** इति. “**मुक्तोपसृप्य-व्यपदेशाच्च**” (ब्रह्मसू.१।३।२) इति सूत्रे मुक्तसेव्यत्वं बादरायणैः उच्यते इति अर्थः. मुक्तौ देहसम्बन्धो नास्ति, अत्रतु देहसम्बन्धः इत्यतः आहुः **अतएव** इति.

“देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्” (भाग.पुरा.७।१।३४) इति उक्तम्. पुरवासित्वे देहादेः आवश्यकत्वाद् निषेधो जडात्मकानामेव इति अवगम्यते. ‘इतरज्यायः’ इति पाठेतु पूर्वोक्ताश्रमकर्मपरामर्शो अतः इत्यनेन उक्तयोरेव वा. एतेन, “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तफलवत्त्वं तस्य सूच्यते ॥३८॥३॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे तृतीयं विहितत्वाच्च आश्रमकर्म इति अधिकरणम् ॥३॥

तद्भूतस्य तु न अतद्भावो जैमिनिरपि

नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥३९॥

अथ इदं विचार्यते : तदीयानामपि कदाचित् सायुज्यम् अस्ति न वा इति. तत्र भक्तिमार्गस्यापि साधनरूपत्वात् तस्य च मुक्तावेव पर्यवसानात् तदीयत्वस्य साधनावस्थायाम् उत्कृष्टावस्थारूपत्वात् तेषामपि मुक्तिः आवश्यकी. तथाच

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

निषेधो देहादीनां निषेधः. उक्तयोः आश्रमकर्मम् उक्तयोः परामर्शेतु इति अर्थः. एतेन उभयापेक्षया भक्तेः उत्कृष्टनिवर्तनेन. तस्य भक्तस्य ॥३८॥३॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. तदीयानां ज्ञानमार्गीयाणाम्. तत्र ज्ञान-भक्तिमार्गयोः मध्ये. तस्य साधनस्य. तदीयत्वस्य साधनरूपभगवदीयत्वस्य. साधनदशायां श्रवणकीर्तनादिकर्तव्यतादशायाम्. उत्कृष्टेत्यादि. सुखरूपत्वेन अनुभवेन उत्कृष्टत्वाद् इति अर्थः. तेषां भक्तानाम्.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

पाठान्तरव्याख्यानम् आहुः इतरद् इति. अतः इत्यनेन इति. अतः इतरद् ज्यायः इत्येव पाठः. अत्र इतरद् भक्तिमार्गीयभगवदीयत्वं ज्यायः इति अर्थः. आश्रमकर्मपरामर्शे स्वारस्याभावाद् आहुः उक्तयोः इति. श्रुति-स्मृत्योः इति अर्थः. तस्य भक्तस्य. तथाच यज्ञादीनाम् आश्रमधर्माणां शमादीनां ज्ञानिनां धर्माणां सेवादीनां भक्तधर्माणां च युगपत् प्राप्तौ भक्तिमार्गीयधर्माणामेव आचरणं गौणकाले त्वन्येषाम्. कुतः? भक्तेः आधिक्यात्. अनभिभवाद् इति. पञ्चसूत्र्या भगवद्धर्माणाम् उत्कर्षस्य प्रदर्शनाच्च इति भावः ॥३९॥३॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति अथ इदम् इति. अस्ति न वा इति. साधनभक्तेः यदा परिपाकः तदा अक्षरसायुज्यम् अस्ति न वा इति सन्देहः इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. तस्य इति. भक्तिमार्गीयसाधनस्य.

फलतो न कश्चिद् विशेषः इति प्राप्ते, उच्यते तद्भूतस्येत्यादि. ‘तु’शब्देन मर्यादामार्गीयव्यवच्छेदः. अत्र विश्वासदाढ्याय आह. अन्यस्य का वार्ता, कर्ममात्रनिरूपकस्य जैमिनेरपि यदि कदाचिद् भगवत्कृपया अयं भावो भवेत्, तदा तद्भूतस्य पुष्टिमार्गीयभगवद्भावं प्राप्तस्य तस्यापि न अतद्भावः उक्तभाव-तिरोधानं न कदाचिदपि इति अर्थः. अत्र हेतून् आह नियमादीन्. तैत्तिरीयके, “ते ते धामान्युष्मसि” (तैत्ति.संहि.१।३।६) इति मन्त्रे “यत्र भूरिशृङ्गा अयासः तदुरुगायस्य परमं पदम्” (तत्रैव) इति उक्त्वा, तदनन्तरं तत्र कृतानि कर्माण्यपि, “विष्णोः कर्माणि पश्यत” (तत्रैव) इति मन्त्रेण निरूप्य, पुनः पूर्वोक्तलीला-स्थानं, “तद् विष्णोः परमं पदम्” (तत्रैव) इति पदेन अनूद्य, तस्य नित्यत्व-निरूपणाय उच्यते “सदा पश्यन्ति सूरयः” (तत्रैव) इति. ‘सूरयो’ विद्वांसः पुरुषोत्तमज्ञानवन्तः इति यावत्. तच्च भक्त्यैव इति ‘सूरि’पदेन भक्ताः उच्यन्ते. तथाच भक्तानां सार्वदिकदर्शनं नियम्यते ‘सदा’ इति पदेन. एवं सति पुष्टिमार्गीयभगवद्भावं प्राप्तस्य मुक्तौ उच्यमानायां तन्नियमो भज्येत इति अर्थः. यच्च उक्तं साधनावस्थायाम् उत्तमावस्थारूपत्वं, परं तदीयत्वस्य फलं मुक्तिरेव इति तत्र आह अतद्रूपेति. उक्तभगवदीयत्वं न साधनरूपम् अपितु मुक्तेरपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

न कश्चिद्विशेषो ज्ञानमार्गापेक्षया भक्तिमार्गेण कश्चिद्विशेषः इति अर्थः. सिद्धान्ते सूत्रं व्याकुर्वन्ति तद्भूतस्य इत्यादिना. व्यवच्छेदो मर्यादामार्गीये पुष्टिमार्गीय-भगवद्भावव्यवच्छेदः. अयं भावः पुष्टिमार्गीयभगवद्भावः. तस्यापि जैमिनेरपि. भगवदीयानां सदा भगवत्साक्षात्काररूपनियमात्मकं हेतुं निरूपयितुम् आहुः तैत्तिरीयके इत्यादि. तत्र परमपदे. तस्य लीलास्थानस्य. तच्च भक्तैः प्राप्यं लीलास्थानं च इति अर्थः. इति मुक्तानां दर्शनसाधनेन्द्रियाणाम् अभावात् सदादर्शननियमस्य भङ्गः इति अर्थः. यच्च उक्तम् एतदधिकरणपूर्वपक्षे उक्तम् इति अर्थः. तद्रूपेति इति. तथाच तद्रूपाभावेभ्यः इत्यस्य तद्रूपं भगवदीयत्वं तस्माद् उत्कृष्टपदार्थानाम् अभावेभ्यः इति सूत्रभागार्थः इति फलितम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तम् आहुः उच्यते इति. सूत्रार्थम् आहुः तु शब्देन इति. अत्र पुष्टिमार्गे. यदीति. भगवत्प्रीत्या कर्माचरेणेन भगवतः सन्तोषे जातः इति अर्थः. नातद्भावः इत्यस्य अर्थम् आहुः उक्तेति. तैत्तिरीयकेति. इयं विद्वन्मण्डने स्पष्टं प्रतिपादिता. भज्येत इति. सार्वदिकदर्शनं भज्येत इति अर्थः. मुक्तेरपि पलरूपम् इत्यत्र

फलरूपम्. “मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः, सुदर्लभः प्रशान्तात्मा” (भाग.पुरा.६।१४।५) इतिवाक्याद्. “यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः, अथ मर्त्यो अमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते” (बृहदा.उप. ४।४।७) इति श्रुत्या अमृतस्य मुक्तस्य ब्रह्मस्वरूपभोगः उच्यते. सच “यमेव एष वृणुते” (कठोप.२।२३) इतिश्रुतेः भगवदीयत्वसाध्यएवेति स्पष्टं फलत्वम् अस्य अतो अतद्रूपत्वम्. किञ्च फलं हि साधनाद् उत्तमं भवति. भगवदीयत्वाद् उत्तमस्य अर्थस्य अभावादपि न मुक्तिः वक्तुम् उचिता. तदुक्तं श्रीभागवते पञ्चमस्कन्धे पूर्व भक्तिस्वरूपं निरूप्य “तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गम् आत्यन्तिकं परम-पुरुषार्थमपि स्वयम् आसादीतं नो एव आद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त-सर्वार्था” (भाग.पुरा.५।६।१७) इति॥३९॥

॥इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे चतुर्थं तद्भूतस्य इति अधिकरणम्॥४॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात्॥४०॥ (३।४।५)

अथ इदं विचार्यते : ध्रुवायेव ब्रह्मादिलोकाधिकारं दत्वा तत्सम्बन्धिफलं ददाति न वा इति. तत्र न इति आह नच इति. तत्र हेतुः पतनानुमानाद् इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तभगवदीयत्वस्य मुक्तापेक्षया आधिक्ये प्रमाणं प्रदर्शयन्ति मुक्तानाम् इत्यादिना. अतो भक्तेः मुक्त्यधिकत्वतः. अतद्रूपत्वं मुक्तिसाधनभिन्नत्वम् इति अर्थः. नतु मुक्तिः उचिता भगवदीयस्य फलं मुक्तिः न उचिता इति अर्थः ॥३९॥४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. ददाति पुष्टिमार्गीयभक्ताय ददाति इति अर्थः. पतनानुमानाद् इति पतनबोधकस्मृत्या पतनबोधकश्रुतेः अनुमानाद् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अपरां शारीरब्राह्मणस्थां श्रुतिं दर्शयति “यदा सर्वे” इति. ब्रह्मणि लयं पूर्वम् उक्त्वा तदनन्तरम् इयं श्रुतिः पठ्यते. अत्र अमृतत्वं प्रथमम् उक्तं तदनन्तरं “ब्रह्म समश्नुते” इति उक्तम्. तेन च मुक्तिफलरूपस्य ब्रह्मस्वरूपभोगस्य उक्तत्वाद् न मुक्तिसाधनत्वं पुष्टिमार्गीयभगवदीयत्वस्य इति अर्थः. सूत्रे अतद्रूपः इति भावप्रधानो निर्देशः इति सूचयितुम् आहुः अतो अतद्रूपत्वम् इति. शेषं स्पष्टम् ॥४०॥४॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. अथ पुष्टिमार्गविचारानन्तरं विचार्यते पुष्टिमार्गे आधिकारिकं फलं विचार्यते. ध्रुवायेव इति. यथा ध्रुवाय ददाति तथा इति अर्थः. सन्देहम् आहुः फलम् इति. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. फलं ददाति

“आब्रह्मभुवनाद् लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन” (भग.गीता ८।१६) इतिस्मृतेः
इति अर्थः. फलस्य सावधित्वाद् इति भावः. किञ्च, तादृशे भगवदीये
पतनायोगादपि न तथा. अथवा. तादृशस्य सदा भक्तिरसानुभवात् तदतिरिक्तस्य
अनपेक्षणाद् अन्येषां फलानां सम्बन्धाभावाद् इति अर्थः ॥४०॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥४१॥

एके भक्ताः आधिकारीके फले पतनमात्रं न हेयत्वप्रयोजकम् इति
वदन्ति, अपितु उपपूर्वं पतनमेव तद् इति वदन्ति, भक्तिभावाच्च्युतेः.
अधिकारसमाप्तौ भगवदनुग्रहाशापि कदाचित् सम्भवति इति उपपतनं तत्.
मुक्तौतु अपुनरावृत्तेः भक्तिरसाशापि न इति महापतनमेव सा इति भावः. तेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ननु एवं सति भगवता ध्रुवाय कथम् आधिकारिकफलं दत्तम्? अतः आहुः किञ्च
इत्यादि. तादृशस्य भगवन्तं प्राप्तस्य पुष्टिमागीयभगवदीयस्य. ध्रुवस्य मर्यादामागीयत्वेन
तथाफलदानम् इति अर्थः. तदयोगाद् इत्यस्य अर्थम् आहुः पतनायोगाद् इति.
पतनायोगाद् इत्यस्य अर्थान्तरम् आहुः अथवा इत्यादिना. तादृशस्य मुक्त्यभिलाषा-
शून्यस्य भगवदीयस्य ॥४०॥

आधिकारिकफले पतनविशेषताप्रदर्शनाय इदं सूत्रम् इत्यर्थकथनाय आहुः एके
इत्यादि. पतनमात्रं सर्वथा पतनमेव. उपपूर्वं पतनम् उपपातनम् इति अर्थः. सा मुक्तिः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति न इति आह इति. हेतौ अनुमानशब्दार्थः
स्मृतिः इति बोधयितुम् आहुः आब्रह्म इति. फलस्य आधिकारिकफलहेतुवन्तरं
विशदयन्ति किञ्च इति. तदयोगाद् इत्यस्य अर्थम् आहुः तादृशे इति. पुष्टिमागीय-
भगवदीये. तथाच भगवान् पुष्टिमार्गे अङ्गीकृतायभक्ताय आधिकारिकं फलं चकाराद्
अधिकारं न ददाति. कुतः? श्रुत्यनुमापकस्मृतेः इति सूत्रार्थः. अथवा इति. तादृशस्य
मर्यादामागीयभक्तस्य. अन्येषाम् इति. आधिकारिकाणाम् इति अर्थः. ननु ध्रुवाय कथं
दत्तम्? इति चेद्, न, “नैच्छन् मुक्तिपतेः मुक्तिं पश्चात्तापम् उपेयिवान्” (भाग.पुरा.
४।९।२९) इति भागवतवाक्याद् ध्रुवस्य मर्यादामागीयत्वं वक्तव्यम्. कुतः?
पुष्टिमागीय-भक्तैस्तु मुक्तेः आकाङ्क्षा नैव क्रियते इति अलम् ॥४१॥

केषाञ्चिद्भक्तानां मतः आधिकारिके फले उपपतनं, मुक्तौतु महापतनम् इति
तदेतद् विशदयन्ति एके भक्ताः इति. अग्रे स्पष्टम्.

निषिद्धकर्मफलतुल्यत्वं ज्ञापितं भवति. अतएव श्रीभागवते “नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः” (भाग.पुरा.६।१८।२८) इति गीयते. भक्तिमार्गे तु साक्षात्सङ्गाभावेऽपि तदीयं भावमात्रमपि अशनवत् साक्षाद् भगवत्स्वरूपभोगवदेव मन्यन्ते. तदुक्तं श्रीभागवते, “अथ ह वाव तव” (भाग.पुरा.६।९।३९) इत्यादिना. साक्षाद्भगवद्भोगो जीवस्य असम्भावितः इति शङ्कानिरासाय आह तदुक्तम् इति. “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति, “अत्र ब्रह्म समश्नुते” (बृहदा.उप.४।४।७) इत्यादिश्रुतिषु साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपसाशनम् उक्तम् इति अर्थः॥४१॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे पञ्चमं नच अधिकारिकम् इति अधिकरणम्॥५॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च॥४२॥ (३।४।६)

अथ इदं चिन्त्यते : प्रचुरभगवद्भावमात्रवतः साक्षात् स्वरूपभोगवतो वा गृहत्यागः कर्तव्यो न वा इति. फलस्य सिद्धत्वाद् न इति पक्षव्यवच्छेदाय, “मद्वातार्थायातयामानां न बन्धाय गृहा मता” (भाग.पुरा.४।३०।१९) इति वाक्याद् बन्धकत्वेन त्याज्यः इति पक्षव्यवच्छेदाय च तुशब्दः भावमात्रे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तेन मुक्तेः महापतनरूपत्वेन. मुक्तेः महापतनरूपत्वे सम्मतिम् आहुः अतएव इत्यादिना. “नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः” (भाग.पुरा.६।१८।२८). अशनवद् इति सूत्रभागार्थम् आहुः भक्तिमार्गे इत्यादिना. अशनवद् भगवत्सम्बन्धिसर्वभोगाशनवद् इति अर्थः॥४१॥५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. संशयम् आहुः प्रचुरेत्यादिना. फलस्य भगवद्भावभगवत्साक्षात्कारान्यतररूपफलस्य. न इति इति. गृहत्यागो न कर्तव्यः इति अर्थः. व्यवच्छेदाय च इति ‘च’कारेण फलस्य सिद्धत्वाद् न त्यागः इति पक्षसमुच्चयः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

श्रीभागवते इति. षष्ठस्कन्धे नवमाध्याय इति शेषः. तदुक्तम् इति. तैत्तिरीयोपनिषदि इति शेषः. तथाच तेषां भगवान् स्वलोके अक्षरात्मकं सेवानुरूपं देहम् अथच अन्तर्भजनानन्दानुभवं ददाति इति भावः॥४२॥५॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति अथ इति. प्रचुरेति. निरन्तरेति अर्थः. कर्तव्यो न वा इति संशयकथनम्. पूर्वपक्षव्यवच्छेदार्थं तुशब्दम् आहुः फलस्य इति. सिद्धान्तम्

साक्षात्प्रभुसम्बन्धे वा, उभयथापि गृहाद् बहिर्गमनं गृहत्यागः इति यावत्. सः आवश्यकः. तत्र प्रमाणम् आह स्मृतेः इत्यादि. “त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु, मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्” (भाग.पुरा. ११। ७।६) इत्यादिस्मृतिः भगवद्भाववतः तत्सङ्गविशिष्टस्यापि बहिर्गमनम् आह. तदाचारोऽपि तथैव श्रूयते, अतः तथा.

अत्र अयम् आशयः : आश्रमधर्मत्वेन गृहत्यागो “यदहरेव” (जाबा.उप. ४) इत्यादिश्रुतिभ्यः पूर्वम् उपपादितोऽपि यद् अधुना पुनः उच्यते, तेन तदतिरिक्तो अयम् इति ज्ञायते. तथाच उक्तवाक्याद् मुमुक्षुमुक्ति-प्रतिबन्धकत्वाभावेऽपि व्यासङ्गस्य तत्र आवश्यकत्वाद् उक्तोभयोरपि अनवरतं प्रभुरसास्वादे प्रतिबन्धकत्वेन तस्य तत्यागस्य विप्रयोगरसानुभावकत्वेन च सः कर्तव्यः. यद्यपि स्वेष्टान्तरायत्वेन स्वतएव तत्यागो भावी, तथापि “आश्रमाद् आश्रमं गच्छेद्” (भाग.पुरा.११।१७।३८) इति वाक्याद् अत्र आश्रमान्तर-त्वाभावेन त्यागस्य अविहितत्वशङ्काभावाय इयम् उक्तिः इति॥४२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्सङ्गो भगवद्भाववतः सङ्गः. तदाचारोऽपि स्मृत्योपदिष्टस्य आचारोऽपि. तथैव उपदेशानुसारेणैव. तथा त्यागावश्यकता. अत्र त्यागे. पूर्वम् “ऊर्ध्वरितः”(बृहसू. ३।४। १६) सूत्रे. व्यासङ्गस्य लौकिकव्यासङ्गस्य. अत्र गृहस्थितौ. उक्तोभयोः केवलभाववत्साक्षाद्भोगवतोः. तस्य उक्तविधभक्तयोः तत्यागस्य. चकारो अप्यर्थः. तथाच प्रतिबन्धकाभावेऽपि रसास्वादाय आवश्यकः इति अर्थः. स्वेष्टान्तरायत्वेन गृहस्य उक्तरसभोगान्तरायत्वेन इति अर्थः. अत्र गृहस्थितौ. सूत्रकारस्य इयम् उक्तिः

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

आहुः भावमात्रः इति. ननु पुनरुक्तिरिव तिष्ठति अतः आहुः अत्र इति. पूर्वम् इति. ऊर्ध्वरितःसूत्रे. प्रतिबन्धकत्वाभावेऽपि इति. “मद्वातार्तायातयामानाम्” (भाग.पुरा. ४।३।१९) इति वाक्यात् प्रतिबन्धकत्वाभावेऽपि इति अर्थः. उक्तोभयोः इति. प्रचुर-भावसाक्षाद्भाववतोः इति अर्थः. तस्य गृहस्य. प्रतिबन्धकत्वेन इति पूर्वेण अन्वयः. रसानुभावकत्वेन इति. वियोगसत्त्वे गृहादिकं सम्यक् न लयतीति त्यागः क्रियते. तेन विप्रयोगस्य पुष्टता जायते इति अनुभावकत्वम्. “विभावानुभावाद् रसनिष्पत्तिः” (भरतसूत्र.....) इति भरतसूत्रात्. इयम् उक्तिः इति. तथाच आश्रमोत्तर-

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४३॥

पुष्टिमार्गीयभक्तस्य विहितत्वादिज्ञानम् अप्रयोजकम्. तत्र हेतुः. तस्य भक्तिमार्गस्वामिनः श्रीगोकुलेशादेव फलस्य श्रुतेः. अतो बहिर्गमनं न साधनत्वेन अत्र कार्यम् इति भावः. अत्र, “यमेव एष वृणुते” (मुण्ड.उप. ३।२।३) इति श्रुतिः अनुसन्धेया. एतद् अनुपदमेव पठ्यते “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः” (मुण्ड. उप. ३।२।४) इति. अत्र भगवद्वरणानन्तरमपि जीवबलं कतमं यदपेक्ष्य भगवत्लाभः? इति जिज्ञासायां सर्वात्मभावएव बलम् इति निर्णीयते. तस्यैव मर्यादाबलोपमर्दकत्वाद् भगवद्वशीकारहेतुत्वाच्च. ब्रजसीमन्तिनीनां प्रभुवचनातिक्रममपि कृत्वा स्वरूपपरिग्रहः तद्बलेनैव यतः इति आत्रेय आचार्यो मनुते.

इदम् अत्र अभिप्रेतम् : सर्वात्मभावस्य यद् बलं, तत् तदात्मकस्य प्रभोरेव, तस्य च अयं स्वभावो यद् अन्यद् न रोचते. अतएव ब्रजपरिवृढवदनेन्दुवचनकिरणप्रचारप्रोच्छलत्केवलभावाम्भोधिवचनवीचयो गीयन्ते “यर्हाम्बुजाक्ष

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति अर्थः ॥४२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति पुष्टीत्यादिना. अप्रयोजकं स्वकर्तव्ये विहितत्वज्ञानं न प्रयोजकम् इति अर्थः. तस्य पुष्टिमार्गीयभक्तस्य. अत्र पुष्टिमार्गीयभक्ते. अत्र स्वामिसकाशादेव फललाभे. कतमं किं रूपम् इति अर्थः. तस्य सर्वात्मभावस्य. अन्यद् भगवदतिरिक्तम्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

रूपगृहत्यागाद् अतिरिक्तो अयं सन्न्यासः इति बोधनाय इयम् उक्तिः इति अर्थः. यद् उक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे पूर्वं त्रिदण्डसन्न्यासः उक्तः तदनन्तरं “ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा” (भाग.पुरा.११।८।) इत्यादिभिः एकादशश्लोकैः अष्टादशाध्याये. इदं च सर्वं ‘सन्न्यासनिर्णये’ स्पष्टमेव उच्यते ॥४३॥

उत्तमस्य त्यागो नास्ति इति आशयेन आहुः पुष्टीत्यादि. अनुसन्धेया इति. गुणोपसंहारपादे प्रतिपादितत्वाद् अत्र अनुसन्धेया इति अर्थः. मर्यादा इति ज्ञानबलोपमर्दकत्वात्. अतएव एकादशस्कन्धे “धर्मः सत्यादयोपेतो विद्या वा तपसान्विता, मद्भक्त्यापेतम् आत्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि” (भाग.पुरा.११।१४।२२) इति. अतएव इति. यतो भगवदतिरिक्तं न रोचते अतएव इति अर्थः. कथं गीयन्ते इत्यतः आहुः “यर्हि अम्बुजाक्ष” (भाग.पुरा.१०।२९।३६) इति. ननु

तव पादतलम् अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षं स्थातुं पारयामः” (भाग.पुरा. १०।२६।३६) इत्यादयः. अतः त्यागः पृष्ठलग्नएव आयातीति न तदर्थं यतनीयम् इति. विष्णववतारत्वेन पुरुषोत्तमभावस्वरूपज्ञो अयम् इति तथा॥४३॥

आर्त्विज्यम् इत्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते॥४४॥

सर्वत्यागपूर्वकं यद् बहिः प्रभुसमीपगमनं भक्तस्य तद् आर्त्विज्यम् ऋत्विक्-कर्मैव इति औडुलोमिः आचार्यो मन्यते.

तस्य अयम् अभिसन्धिः : यजमानो हि स्वेष्टसिद्ध्यर्थम् ऋत्विज आदौ वृणुते. प्रकृते च, “यमेव एष वृणुते” (कठोप.२।२३) इति श्रुतेः “तस्माद् एकाकी न रमते” (बृहदा.उप.१।४।३) इति श्रुतेश्च स्वक्रीडार्थं भगवान् स्वचिकीर्षीततत्तल्लीलानुरूपान् जीवान् वृणुते. “यूनः स्थविरान् वा” (.....) इति विकल्पाद् एकरूपाणां यथा सोमादिषु वरणं, तथा सर्वात्मभाव-वत्त्वेन एकरूपाणामेव अत्र वरणम्. तत्र यथा स्वीयस्वीयतदङ्गमात्रकरणं तेषां, तथा इतरसम्बन्धनिवर्तनपूर्वकं तद्भोग्यसमर्पकत्वम् अत्र. तदुक्तं भगवता “यदा पुमान् त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे” (भाग.पुरा. ११।२९।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पृष्ठलग्नएव सर्वात्मभावस्य पृष्ठलग्नएव. एवकारेण कर्तृताव्यवच्छेदः. ननु एतावद् ज्ञानम् आत्रेयस्य कुतः? इति आकांक्षायाम् आहुः विष्णववतारत्वेन इत्यादि. अत्रये भगवता वरदानाद् विष्णववताररूपएव आत्रेयो जातः इति अर्थः. तथा पुष्टिभावाभिज्ञः॥४३॥

एकरूपाणां यौवनत्ववतां स्थविरत्ववतां वा एकधर्मवतां वरणम् इति अर्थः. तत्र सोमादौ. अत्र पुष्टौ वृते. तदुक्तम् इति “यदा पुमान्” (भाग.पुरा.११।३१।) इति

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

आत्रेयस्य कथम् इदं ज्ञानम्? अतः आह विष्णववतारेति. “अत्रेः अपत्यम् अभिकाङ्क्षतः” (भाग. पुरा.२।७।४) इति द्वितीयस्कन्धे उक्तम् ॥४४॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति सर्वेति. तस्य इति. औडुलोमिः आचार्यस्य इति अर्थः. अभिसन्धिः अभिप्रायः. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति प्रकृते इति. एकरूपाणाम् इति. सर्वेषां यूनत्वं सर्वेषां स्थविरत्वं वा इति विकल्पात् सोमे ऐकरूप्यं तथा प्रकृते सर्वात्मभाववत्त्वम् ऐकरूप्यं बोध्यम्. सोमे यथा तथा अत्रापि इति आहुः तत्र इति. यथा सोमे ऋत्विजां तथा अत्रापि इति अर्थः. तदेव आहुः तथा इति. तदुक्तम् इति. भागवते एकादशस्कन्धे

३४) इति. अत्र ‘पूर्व’पदेन इतरसम्बन्धनिवर्तनोक्त्या सर्वात्मभावः उक्तो भवति. तदनन्तरम् आत्मनिवेदने सति तद्विषयकलीलाकरणेच्छाविषयः सम्भवति. अन्तरङ्ग-लीलाप्रवेशनम् इच्छायां विशेषः. तस्मात् सुष्ठूक्तम् **आर्त्विज्यम्** इति. एतेन, “**न ददाति न पचति**” (आप.श्रौ.सू.१०।१४।६।७) इत्यादिश्रुतेः यथा सोमादौ दीक्षितस्य तद्यागेतरधर्मनिवृत्तिः, सएव परमो धर्मो यतः, तथा पुरुषोत्तमस्य उक्तभक्तैः सह रमणमेव सार्वदिकम्, एतदेव च महन्महत्त्वम् इति सूचितं भवति. प्रकृते भक्तानाम् ऋत्विक्त्वेन निरूपणे हेतुत्वेन तात्पर्यान्तरमपि आह. **तस्मै** यजमानारब्धकर्मसाङ्गत्वाय ऋत्विक् **परिक्रीयते** वरणेन स्वकार्य-मात्रोपयोगित्वाय स्वीयः क्रियते, तथा प्रकृतेऽपि. नच “**क्वचित् कल्याण्यो दक्षिणा**” (आप.श्रौ.त.) इतिप्रश्नवचनात् तदर्थैव तत्प्रवृत्तिः, अत्रतु स्वतःपुरुषार्थत्वेन भगवदर्थं प्रवृत्तिः, अतो वैषम्यम् इति वाच्यम्. नीरागस्यापि वरणसमये तत्प्रश्नस्य आवश्यकत्वात्, तथैव दक्षिणादानमपि, अन्यथा निरङ्गत्वापत्तेः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वाक्यम् एकादशस्कन्धीयः एकोनत्रिंशद् अध्याये भगवता उक्तम्. अत्र एतद्वाक्ये. **एतद्विषयको** निवेदनवाक्यविषयकः. **सः** आत्मनिवेदनकर्ता. **अन्तरङ्गे**त्यादि. तथाच “विचिकीर्षितो म” इत्यत्र व्युपसर्गेण **इच्छायां विशेषलाभः**. **रमणमेव** इति ‘एव’-कारेण सोमयजमानस्येव भगवतोऽपि इतरकरणं व्यवच्छिद्यते. **एतदेव** रमणकरणमेव. **आह** सूत्रकारः आह. **तथा प्रकृतेऽपि** स्वकीयसाङ्गलीलानिष्पादनार्थं भगवतापि भक्ताः त्रियन्ते इति अर्थः. **तदर्थैव तत्प्रवृत्तिः** दक्षिणार्थैव यज्ञादौ प्रवृत्तिः इति अर्थः. अत्रतु भक्तानां वरणस्थलेतु. **वैषम्यम्** अत्र दक्षिणाभावाद् वैषम्यम्. **नीरागस्यापि** यागे दक्षिणाम् अनिच्छतोऽपि. **प्रश्नस्य “क्वचित् कल्याण्यो दक्षिणा”** (आप.श्रौ.) इति प्रश्नस्य **आवश्यकत्वाद्**. **प्रकृतेऽपि** इत्यादि. तथाच यथा वैधत्वमेव प्रश्नादिप्रयोजकं

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

ऊनत्रिंशाध्याय उक्तम् इति अर्थः. एतस्य अर्थम् आहुः अत्र इति. **पूर्वपदेन** त्यक्तसमस्तकर्मेतिपदेन. एतत्प्रश्नोत्तरार्थं यदा एवं भवति तदा वहन्त्ययो-गोलकन्यायेन ब्रह्मभावं प्राप्नोति सर्वान् कामान् भुङ्क्ते इति बोध्यम्. सूत्रांशं व्याकर्तुम् आहुः **प्रकृते** इति. चिकीर्षितलीलासिद्ध्यर्थं भक्तवरणम् इति अर्थः. आर्त्विज्यन्तु स्वार्थं, भजनन्तु भगवल्लीलासिद्ध्यर्थम् इति दृष्टान्तवैषम्यम् आशङ्कते **नच** इति. न हि इति अर्थः. परिहरन्ति **नीरागस्य** इति. याजनेन द्रव्यसम्पादनेच्छारहितस्य इति अर्थः ॥४५॥

प्रकृतेऽपि भक्तानां स्नेहादेव प्रवृत्तिः भगवान् स्वानुभवार्थमेव तान् अनुभावयतीति न वैषम्यम् ॥४४॥

श्रुतेश्च ॥४५॥

अथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते “भक्तिरस्य भजनं तद् इहामुत्रोपाधिनैराशयेनैव अमुष्मिन् मनःकल्पनम् एतदेव च नैष्कर्म्यम्” (गोपा.पू.उप.१) इति.

भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयो बादरायणः,

मानं भागवतं तत्र तेनैवं ज्ञेयमुत्तमैः ॥ ॥४५॥

॥इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे षष्ठं बहिस्तुभ्यथा इति अधिकरणम् ॥६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तथा अत्र स्नेहएव भक्तानां निरुपाधिकः प्रयोजकः. तत्र यथा दक्षिणादानेन कर्मसाङ्गता तथा अत्र भक्तानां साङ्गता इति न वैषम्यम् इति अर्थः ॥४४॥

सूत्रं विवृण्वन्ति आथर्वणेत्यादिना. “भक्तिरस्य भजनम्” (गोपा.पू.उप.१) इति श्रुतिः. तद् भजनम्. अमुष्मिन् भगवति. मानं भागवतं तत्र अवैधव्रजसीमन्तिनीनां सन्यासे वैधोद्धवादिसन्यासे च श्रीभागवतं प्रमाणम् इति अर्थः ॥४५॥६॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रार्थम् आहुः अथर्वणेति. नैष्कर्म्यम् इति. अत्र अयं गूढाभिसन्धिः. द्विविधः सन्यासः, भक्तिमार्ग एको अवैधः, अपरो वैधः. पूर्वस्तु ब्रजभक्तानाम् अत्यन्तसिद्धानां विगाढभावप्राप्तत्वात्. द्वितीयः उक्तः उद्धवादीनां विरहानुभवार्थं क्रियमाणत्वात्. “मद्भक्तो वा अनपेक्षकः सलिङ्गान् आश्रमान् त्यक्त्वा चरेद् अविधिगोचरः” (भाग.पुरा.११।१८।२८) इति वचनाद् वैधः. इदं च सन्यासद्वयं न आश्रमरूपम् इति उक्तम्. ननु विविदिषा-विद्वत्सन्यासभेदेन आश्रमरूपमेव इदं सन्यासद्वयं कुतो न स्वीक्रियते? इत्यतः आहुः भक्तिमार्गेति. मानम् इति. “अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तिभावम् अधोक्षजे” (भाग.पुरा.१।७।६) इति भागवतवाक्यं मानम् इति अर्थः. नच ज्ञानमार्गीय-द्विविधसन्यासः कुतो न आद्रियते? इति वाच्यम्. कालदोषेण अनादरस्य दर्शितत्वात्. अतएव सप्तमस्कन्धे “गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो बटोरपि” (भाग. पुरा.७।१५।३८) इत्यादिना नारदेन उक्तम्. तथा एकादशे “मौनानीहानिलायामाः वाग्देह चेतसाम्” (भाग.पुरा.११।१८।१७) इत्यादिना भगवतापि उक्तम्. एवञ्च एतादृश-सन्यासस्य दुर्घटत्वाद् भक्तिमार्गीयैः उत्तमैः एवं ज्ञेयम् इति अर्थः ॥४६॥६॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥४६॥

ननु “यमेव” (कठोप.२।२२) इति श्रुतिः साधनान्तरनिषेधपूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वम् आह, “तस्माद् एवंविद् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येद्” (बृहदा.उप.६।४।२३) इति श्रुतिः साधनान्तरमपि आह. एवं विरोधे श्रुतिव्याविशेषात् किम् आदरणीयं, किं न? इति संशये, साधनान्तरविधिरेव आदरणीयः अन्यथा शास्त्रवैयर्थ्यं स्याद् इति प्राप्ते, उच्यते **सहकार्यन्तरविधिः** इति. मर्यादा-पुष्टिभेदेन वरणं द्विधा उच्यते. तत्र सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापक्षेण उच्यते. पुष्टौ तु न अन्यापेक्षेति न विरोधगन्धोऽपि. अपरञ्च, साधनं हि कायिकं वाचिकं मानसिकं च विधीयते. तत्र “मनसैव आप्तव्यम्” (कठोप.४।११) इति श्रुतेः तृतीयं मुख्यं, तदपि तावदेव मर्यादिकस्यापि विधेयत्वेन कर्तव्यं, यावत् स्नेहो न भवति. यतः **तद्वतः** स्नेहवतस्तु उक्तं तृतीयं साधनमपि **विध्यादिवत्**. यथा **तद्वतो विधिः** अर्थवादो वा प्रवृत्तौ अप्रयोजकः, तस्य स्वतएव सम्भवात्, तथा भगवत्प्राप्तौ इदम् इति अर्थः. कैमुतिकन्यायेन पूर्वयोः अप्रयोजकत्वम्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भक्तिमार्गीयस्य प्रदर्शितगृहत्यागसमानतया श्रुत्युक्तशमदमादिकमपि कर्तव्यत्वेन प्रसक्तं भवति अतो अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. उच्यते सूत्रेण सिद्धान्तः उच्यते. न अन्यापेक्षा ‘यमेव’ इति श्रुत्या “नायमात्मा” (मुण्डकोप.३।२।३) इति श्रुतिविरोधाद् न अन्यापेक्षा इति भावः इति अर्थः. तदपि मानसिकमपि. तद्वतो भगवति प्रेमवतः. तस्य भगवदनुकूलभक्तेष्टसाधकप्रवृत्तिमात्रस्य. स्वतएव स्नेहतएव. तथा विध्यर्थवादाविव. इदं श्रुतिबोधितशमदमादिकम् अप्रयोजकम् इति विभक्तिविपरिणामेन पूर्वान्वयी इति अर्थः. पूर्वयोः कायिकवाचनिकयोः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

साधनद्वयबोधिकाश्रुतिद्वयव्यवस्थां बोधयितुं सहकार्यन्तराधिकरणम् आहुः सहकारीति. सूत्रं व्याकर्तुं संशयपूर्वकं पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. सिद्धान्तम् आहुः उच्यते इति. ननु शमदमादीनां मानससाधनानां भक्तौ उपयोगो न स्याद् अतः आहुः अपरञ्च इति. विधीयते “शान्तो दान्तः” (सुबालोप.९।१४) इत्यादिवाक्यैः विधीयते. तृतीयम् इति. मानसिकमपि इति अर्थः. विध्यादिवद् इति. विधिरिव

एतच्छेषत्वादेव आयास्यतीति तृतीयमेव उक्तम् ॥४६॥७॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे सप्तमं सहकार्यन्तराधिकरणम् ॥७॥

कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः ॥४७॥ (३।४।८)

ननु “बहिस्तूभयथा” (ब्रह्मसू.३।४।४३) इत्यादिना भगवदीयस्य गृहत्यागः आवश्यकः इति निरूपितम्. *छान्दोग्ये तु “आचार्यकुलाद्” (छान्दो. उप.८।१५।१) इति उपक्रम्य, छान्दोग्योपनिषदन्ते

“आचार्यकुलाद् वेदम् अधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेण अतिसमावृत्य कुटुम्बे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतद् मानसिकम् ॥४६॥७॥

पूर्वाधिकरणोक्तभक्तिमार्गं दृढीकर्तुं किञ्चिद् आशङ्क्य समाधातुं सूत्रम् इदम् इति अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. “आचार्यकुलाद्” (छान्दो. उप.८।१५।१) इत्यादिश्रुत्यर्थस्तु आचार्यकुलाद् गुरुकुलाद्, गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यं समावर्तनीयम् इति ज्ञापयितुं ‘कुल’पदम्. “वेदम् अधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेण” गुरोः सेवारूपं यत् कर्म तत् कृत्वा ततो अतिशेषो अवशेषो यः कालः तेन कालेन वेदाध्ययनं साङ्गं रहस्यार्थज्ञानपुरःसरं सम्पाद्य अभिसमावृत्य जिज्ञासाद्वय-समापनोत्तरम् आचार्यकुलाद् निवृत्य दारान् आहृत्य कुटुम्बे स्थित्वा गार्हस्थ्यविहिते

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थवादश्च इति अर्थः. अत्र इदं बोध्यम्. यस्य यागे इच्छा नास्ति तस्य प्रवृत्तिरेव न जायतइति प्रवर्तको भगवानेव नतु विधिः इति उक्तं निबन्धे. किञ्च यस्य पितरि स्नेहः तस्य स्वतएव सेवायां प्रवृत्तिः, तत्र विधिः अर्थवादश्च न प्रयोजकः. एवञ्च दृढभक्तौ इदं शमादिकं न विधेयं तादृशभक्तीच्छावन्तं प्रति प्रतिविधेयम् इति सर्वं समञ्जसम्. तथा पुष्टिमार्गे वरणमेव साधनम् इति भावः ॥४७॥७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. निरूपितम् इति. पूर्वाधिकरणे इति शेषः. छान्दोग्ये तु इति. गृहिणोपसंहारः कृतः इत्यनेन अन्वयः. कथं कृतः? इत्यतः श्रुतिं पठन्ति आचार्यकुलाद् इति. ‘कुलाद्’ इत्यनेन गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यम् इति ज्ञापितम्. कर्मातिशेषेण इति. वेदम् अधीत्य इति पूर्वेण अन्वयः. गुरोः सेवारूपं यत् कर्म तस्माद् अवशिष्टो यः कालः तेन इति अर्थः. अतिसमावृत्य इति.

* ‘छान्दोग्ये’ इति आरभ्य ‘इदं विषयवाक्यम्’ इत्यन्तं श्रीहस्ताक्षरलिखितमूलपुस्तके नास्ति, तथापि प्रकाशकारैः व्याख्यातत्वाद् उपलब्धेषु आदर्शेषु दश्यमानत्वाच्च अत्र निवेशितम्.

शुचौ देशे स्वाध्यायम् अधीयानो धार्मिकान् विदधद् आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्वाणि भूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खलु एवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते, न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।१५।१) इदं विषयवाक्यम्. ‘ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते’ इति गृहिणोऽपसंहारः कृतः. वाजसनेयिशाखायां च “एतद्ध स्म वै तत्पूर्वं ब्राह्मणा अनूचाना द्विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्युपक्रम्य “अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति” (तत्रैव) इति पठ्यते. एवं सति विकल्पे सम्भवति उपसंहारस्य तात्पर्यग्राहकत्वाद् गृहिणएव यथोक्तकर्तुः ब्रह्मसम्पत्तिः इति श्रुतेः तात्पर्यम्. त्यागोक्तिस्तु ब्रह्म एतादृशं यदर्थं सर्वं त्यज्यते इति स्तुतिपरा इति प्राप्ते,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कर्मणि तिष्ठन् शुचौ देशे वेदम् अधीयानो विविक्तस्वाध्यायब्राह्मणोदितप्रकारे पवित्रे देशे यथावदासीनः आवृत्तिम् अधीतस्य कुर्वन् धार्मिकान् विदधतः पुत्रान् शिष्यान् वा शिक्षणेन धर्मशीलान् कृत्वा. आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अन्तर्यामिणि परे ब्रह्मणि बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियाणि सम्यक् स्थापयित्वा “ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुनतिष्ठति” (भग.गीता १८।१६) इतिन्यायेन तमेव शरणत्वेन ज्ञात्वा कर्माणि तत्र सन्न्यसेद् इति यावद्. अहिंस्यन् सर्वाणि भूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः. तीर्थानि शास्त्रादिष्टानि भिक्षाद्युपायाः तेषु लोकान् अपीडयन्. स खल्वेवं वर्तयन् सो अधिकारी पुत्रादीनपि एवं वर्तयन्. यावदायुषो यावद् जीवम्. ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते देहान्ते ब्रह्मलोकं प्राप्नोति. नच पुनरावर्तते इति आवृत्तिः समाप्तिसूचनाय. गृहिणेत्यादि. गृहिणा सह सर्वधर्माणाम् उपसंहारः श्रुत्या कृतः इति अर्थः. तथाच त्यागं विनैव तस्यैव ब्रह्मफलावाप्तिः उक्ता इति अर्थः. एवं सति श्रुतिद्वयतुल्यत्वे सति. विकल्पे सम्भवति इति. तथाच पूर्वश्रुतिद्वयोक्तस्य विकल्पे उत गृहस्थे प्राप्तं तस्य उपसंहारः इति संशये पूर्वपक्षम् आहुः उपसंहारेत्यादिना. तात्पर्यग्राहकत्वाद् छान्दोग्यश्रुतेः तात्पर्यम्. इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

समावर्तनं कृत्वा इति अर्थः. गुरुकुलाद् निवृत्त्य दारान् आहृत्य इति यावत्. धार्मिकान् कुर्वन् इति अर्थः. आत्मनि हृदये अन्तर्यामिणि ब्रह्मणि. सर्वेति. बाह्याभ्यन्तर इति अर्थः. अन्यत्र इति. तीर्थेभ्यः उपायेभ्यो अन्यत्र इति अर्थः. गृहस्थाश्रमस्यापि त्यागः इत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति वाजसनेयीति. एवं सति इति. उभयविधत्याग उक्ते सति. उपसंहारस्य इति. छान्दोग्योक्तोपसंहारस्य इति अर्थः. त्यागोक्तिस्तु इति.

गृहिणोपसंहारे हेतुत्वेन तात्पर्यम् आह कृत्स्नइति. त्यागे वाङ्-मनसोरेव भगवति विनियोगः, न सर्वेन्द्रियाणाम्. गृहिणस्तु सर्वैः प्रकारैः भजनं भवतीति, परिजनश्च कृतार्थो भवति इति च भजने कृत्स्नता भवतीति तेन **उपसंहारः** कृतः इति अर्थः. अतएव “आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य” इति उच्यते. अत्र **आत्म**’पदं भगवत्परम् इति ज्ञेयम्. कर्ममार्गीयगृहिव्यवच्छेदाय ‘तु’ शब्दः. अत्र इदम् आकृतम् : “**भक्तिमार्गो बहुविधः**” (भाग.पुरा.३।२९।७) इति कपिलदेववाक्यात् केचन भक्ताः स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तः तथैव निर्वृत्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते. तदुक्तं “**मधुद्विदसेवानुरक्तमनसाम् अभवोऽपि फल्गुः**” (भाग.पुरा.५।१४।४४) इति. तेन भगवद्भजने एव, तत्रापि पुष्टिमार्गे एव श्रुतेः भरः इति ज्ञायते. पूर्वम् उक्तकटभगवद्भाववतां तदर्थं त्यागं निरूप्य, **गृहिणो-पसंहारतात्पर्यं** पश्चाद् यद् निरूपितवान्, तेन तादृक्भाववतैव त्यागः कार्यः, तद्रहितेन तु गृहएव उक्तरीत्या प्रभुभजनं कार्यं, तेनैव तल्लाभः इति व्यासहृदयम् इति ज्ञायते, उक्तभावाभावे त्यागधर्मानिर्वाहाद् इति. केचन भक्ताः भाषणादि-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्राप्ते इति पूर्वपक्षे प्राप्ते. **तात्पर्यम् आह** सूत्रकारः छान्दोग्यश्रुतितात्पर्यम् आह इति अर्थः. **कृत्स्नता** सर्वेषां कृतार्थता. अत्र श्रुतौ. तु शब्दः सौत्रः. **तादृक्सर्वात्म-भाववतैव** उक्तकटसर्वात्मभाववतैव. **उक्तरीत्या** भगवत्सेवापरतया उक्तरीत्या इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वाजसनेयिशाखोक्तिः इति अर्थः. **तात्पर्यम् आह** इति. बादरायणः. उक्तश्रुतेस्तु **तात्पर्यम् आह** इति अर्थः. सूत्र व्याकुर्वन्ति त्यागे इति. **कृत्स्नता** इति. सर्वेषाम् इन्द्रियाणां सार्थक्यम् इति अर्थः. तेन इति. गृहिणा इति अर्थः. एवं तात्पर्ये गमकं वदन्ति अतएव इति. **कर्ममार्गीयेति**. जैमिनीयतन्त्रविचारिते कर्ममार्गीये इति अर्थः. पूर्वाधिकरणोक्तत्यागनिरूपणोत्तरं गार्हस्थ्यप्रशंसायां हेतुम् आहुः अत्र **इदम्** इति. **कपिलदेवेति**. तृतीयस्कन्धीयः इति शेषः. **तुच्छां मन्यन्ते** इति. अत्र पञ्चमस्कन्धीय-भवाटवीवर्णनसमाप्तौ शुक्रदेववाक्यं प्रमाणयन्ति **तदुक्तम्** इति. **अभवोऽपि** मुक्तिरपि **फल्गुः** तुच्छेति अर्थः. अतएव भरतस्य पूर्वजन्मनि तथाभावोऽपि उक्तः. तेन इति. गृहिणः सर्वेन्द्रियसम्प्रतिष्ठापनादिकथनेन इति अर्थः. अत्र व्यासतात्पर्यम् आहुः **पूर्वम्** इति. ननु एतादृशदुर्लभत्वे किमर्थम् उक्तम्? अतः आहुः **केचन** इति. एवञ्च

लीलादर्शनं विना स्थातुम् अशक्ताः प्रचुरभावविवशाशया गृहान् त्यक्त्वा वनं गच्छन्ति. आत्रेयौडुलोमिभ्यान्तु भगवदवतारसामयिकभक्तदशा उक्ता. एते सर्वे फलमार्गीयाः. वाजसनेयुक्तास्तु साधनमार्गीयाः इति न अनुपपत्तिः काचित् ॥४७॥

मौनवद् इतरेषामपि उपदेशात् ॥४८॥

किञ्च. सन्यासिनः आवश्यकाः ये धर्माः ततो अधिकाः ते गृहिणः सिध्यन्ति इत्यपि हेतोः तेन उपसंहारः कृतः इति आशयेन आह मौनवद् इत्यादि. 'मौन'पदम् अनीहानिलायामादि-त्रिदण्डिधर्मोपलक्षकम्. यथा वागिन्द्रियमात्र-
*देहमात्र-चित्तमात्र-नियामकाः ते धर्माः उक्ताः न्यासिनः, तथा इतरेषामपि इन्द्रियनियामकानां धर्माणाम् “आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य” (छान्दो. उप. ८।१५।१) इतिश्रुत्या गृहिणः उपदिश्यन्ते इति युक्तो गृहिणोपसंहारः इति अर्थः. तत्र नियमनमात्रम्, अत्रतु भगवति विनियोगाद् आधिक्यम् इति भावः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अर्थः. उक्तभावाभावे तादृशसर्वात्मभावाभावे इति अर्थः. एते सर्वे आत्रेयौडुलो-
म्युक्ताः छान्दोग्यश्रुत्युक्ताः च इति अर्थः ॥४७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति किञ्च इत्यादिना. ये धर्माः कायवाङ्मनोदण्डरूपाः धर्माः. ते ब्रह्मप्रापकाः. इत्यपि हेतोः अतो हेतोः इति अर्थः. तेन भगवत्प्रापकधर्माणाम् गृहस्थे आधिक्येन. उपसंहारः कृतो ब्रह्मप्राप्त्यन्तसाधनकलापस्य गृहस्थे उपसंहारः कृतः. तत्र न्यासिनि. अत्रतु गृहिणितु. तत्रापि न्यासिन्यपि. तथाच अत्र त्रयाणां भगवति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

भगवत्कृपया एतादृशाधिकारे जाते तत्कर्तव्यम् इति भावः. ननु “किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मा नायं लोकः” (बृहदा. उप. ४।४।२२) इति वाजसनेयिब्राह्मणोक्तौ आत्मलोककामनायां गृहत्यागः प्रतीयते, आत्रेयौडुलोमिभ्यान्तु तादृशदशासत्त्वे गृहत्यागः उच्यते इति श्रुतिविरुद्धम् इत्यतः आहुः आत्रेयेति. फलमार्गीया इति. फलमेव मार्गः उपायो यत्र इति एतादृशाः गोपालतापिन्युक्ताः गान्धर्वीप्रभृतयः. तथाच अधिकारिभेदेन इयं व्यवस्था इति भावः ॥४८॥

सूत्रप्रयोजनम् आहुः किञ्च इति. सूत्रार्थम् आहुः मौनपदम् इति. मुनेः भावः इति योगे विचारात्मकं मौनं न भवति किन्तु रूढम् इति भावः. उपसंहारः आधिक्यम्

* 'देहमात्र चित्तमात्रे'ति द्वयं प्राचीनतमादर्शहरितालिकया दूरीकृतं दृश्यते.

वस्तुतस्तु केवलनियमनस्य अप्रयोजकत्वात् तत्रापि भगवति विनियोगएव तात्पर्यम्
इति ज्ञेयम् ॥४८॥

अनाविष्कुर्वन् अन्वयात् ॥४९॥

ननु भगवति सर्वेन्द्रिविनियोगाद् गृहिणोपसंहारः इति न युज्यते,
“शुचौ देशे स्वाध्यायम् अधीयानः” (छान्दो.उप.८।१५।१) इत्यादिकर्म-
मार्गीयसाधनश्रुतेः इति आशङ्क्य तत्तात्पर्यम् आह अनाविष्कुर्वन् इति.
भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव
लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत् इत्येतदाशयेन ते धर्माः उक्ताः.
गोपेन मुख्यं हेतुम् आह अन्वयाद् इति. यतो भगवता समम् अन्वयं सम्बन्धं
प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र व्यबलोपे पञ्चमी. एतेन यावद् अन्तःकरणे
साक्षात्प्रभोः प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिः आविःकरणं भवति, प्राकट्येतु न
तथा सम्भवति इति ज्ञापितम् ॥४९॥

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥५०॥

वैदिककर्मकरणे तात्पर्यम् उक्त्वा लौकिकस्य अनावश्यकत्वेऽपि
तत्समयम् आह. प्रस्तुतं प्रभुभजनं तत्प्रतिबन्धासम्भवेऽपि ऐहिकं कार्यम्. ननु
ऐहिकं कर्म अस्तु, मा वा, अतः तत्समयोक्तिः व्यर्था इति आशङ्क्य आह

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विनियोगेऽपि न सर्वेन्द्रियाणां भगवति विनियोगइति गृहिण्येव उपसंहारः फलितः ॥४८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. आश्रमधर्मैः इति करणे तृतीया.
अनाविःकुर्वन् प्रच्छन्नीकुर्वन्. ते धर्माः आश्रमधर्माः प्रच्छादनार्थम् उक्ताः इति
अर्थः. तथा आश्रमधर्माः आच्छादनार्थाः. अत्र अन्वयाद् इति सूत्रभागे. बहिः
आविःकरणम् आश्रमधर्माणां बहिः आविःकरणम् ॥४९॥

तत्समयो लौकिककर्तव्यकालः. अन्यथा सूत्रकारेण प्रस्तुताबाधेन

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आहुः तत्र इति ॥४९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. सूत्रार्थम् आहुः भगवद्भावस्य इति.
भगवद्भावोद्रेके कीदृशी स्थितिः? इत्यतः आहुः एतेन इति ॥५०॥

सूत्रार्थम् आहुः वैदिकेति. तथाच प्रभुभजनसमयातिरिक्तसमये श्रुत्युक्तं

तद्दर्शनाद् इति. “आचार्यकुलाद्” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति उपक्रम्य अग्रे पठ्यते, “धार्मिकान् विदधद्” (तत्रैव) इति. अतो धार्मिकपुत्रविधानम् ऐहिकं कर्म श्रुतौ दृश्यते. अतः तत्समयोक्तिः आवश्यकी. अन्यथा श्रुतौ उक्तम् अस्ति इति प्रस्तुतबाधेऽपि तत्करणे फलप्रतिबन्धः स्याद् इति भावः॥५०॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे अष्टमं गृहिणोपसंहाराधिकणम्॥८॥

एवं मुक्तिफलानियमः

तदवस्थावधृतेः तदवस्थावधृतेः॥५१॥ (३।४।९)

ननु “तस्य तावदेव चिरं यावद् न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये” (छान्दो. उप.६।१४।२) इति श्रुतौ मुक्त्यनन्तरं ब्रह्मसम्पत्तिः श्रूयते. सा तु पुरुषोत्तमसङ्गे लीलारसानुभवातिरिक्ता वक्तुम् अशक्या, “मुक्तोपसृष्यव्यपदेशाद्” (ब्रह्मसू. १।३।२), “मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने” (भाग.पुरा.६।१४।५) इति स्मृतेश्च, मुक्तेः फलं भक्ति-रसानुभवएव. एवं सति उक्तगृहिणः तत्फलं भवति न वा? इति संशये निर्णयम् आह. एवम्भूतस्य उक्तरूपस्य मुक्तस्य मुक्तेः यत् फलं भक्तिरसानुभवः, तस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लौकिककरणस्य अनुक्तौ॥५०॥८॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. सा मुक्त्युत्तरभाविनी ब्रह्मसम्पत्तिः. उक्तगृहिणः छान्दोग्यश्रुत्युक्तगृहिणः. तत् फलं पुरुषोत्तमलीलानुभवरूपम्. निर्णयम् आह नियमितफलं भवति इति पूर्वपक्षे प्राप्ते सूत्रकारो निर्णयम् आह इति अर्थः. एवम्भूतस्य पूर्वश्रुत्युक्तस्य. उक्तरूपस्य गृहिणः. तस्य लीलारसानुभवस्य. अनियमो मुक्त्यनन्तरं तत्फलं भवत्येव इति नियमो नास्त्येव इति अर्थः. तत्र हेतुम् आहुः तस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

धार्मिकपुत्रविधानं कर्तव्यम्. समयपरिपालनाभावे पुत्रे धार्मिकत्वं न स्याद् इति फलप्रतिबन्धः इति भावः ॥५१॥८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. सा तु इति. ब्रह्मसम्पत्तिस्तु इति अर्थः. लीलारसानुभवएव ब्रह्मसम्पत्तिः इति अत्र प्रमाणम् आहुः मुक्तेति. श्रुतौ व्यपदेशः उक्तः. स्मृतौ आहुः मुक्तानाम् इति. विषयम् उक्त्वा संशयम् आहुः एवम् इति. निर्णयम् आह इति. पूर्वपक्षस्य अर्थसिद्धत्वाद् समाधानम् आह इति अर्थः. सूत्रार्थम्

अनियमः, तस्य भगवदिच्छाधीनत्वात्, साधनाप्राप्यत्वात्. अतएव “**मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्**” (भाग.पुरा.५।६।१९) इति शुक्वाक्यम्. अत्र औत्सर्गिकं हेतुम् आह **तदवस्था** इति. “**न स पुनरावर्तते**” (छान्दो.उप. ८।१५।१) इत्यस्याः आवृत्या मुक्त्यवस्थायाएव सार्वदिकत्वेन निर्धारः क्रियते. यद्यपि एवं मुक्तिफलाभावनियमएव आयाति, नतु तदनियमः, तथापि “**तस्य तावदेव चिरम्**” (तत्रैव ८।१४।२) इत्यादिप्रमाणैः “**न स पुनरावर्तते**” (तत्रैव) इति श्रुत्या समं विरोधाभावाय औत्सर्गिकी **तदवस्था**. तत्फलन्तु कस्यचिद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादिना. “**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येथ सम्पत्स्य**” (छान्दो.उप.६।१४।२) इति श्रुत्युक्तस्य इति अर्थः. श्रुत्यर्थस्तु **तस्य** मोक्षोत्तरभाविपरब्रह्मप्राप्तिरूपफलस्य. **तावदेव चिरं** तावानेव विलम्बो **यावन् न विमोक्ष्ये** मुक्तो न भवेयम् इति. अतएव साधनाप्राप्यत्वादेव. **औत्सर्गिकं** साधनकलापानुसारेण निष्पन्नम्. **आवृत्या** द्विरुक्त्या. **मुक्त्यवस्थायाः** प्रथममुक्त्यवस्थायाः **सार्वदिकत्वेन** सार्वदिकत्वलाभेऽपि. **मुक्तिफलाभावेऽपि** पुरुषोत्तममुक्तिफलाभावे इति अर्थः. तथाच पुरुषोत्तममुक्तेः भेदग्रहसापेक्षत्वात् प्रथममुक्तौ च तदसम्भवाद् द्वितीयमुक्तेः नियमतो लाभेऽपि. **तस्य** इत्यादि. तथाच उक्तश्वेतकेतूपाख्यानश्रुत्या “**न स पुनरावर्तते**” (तत्रैव ८।१५।१) इति श्रुतेः विरोधपरिहारार्थम् **औत्सर्गिकी** साधनवशसम्पन्ना **तदवस्था** पुरुषोत्तममुक्त्यवस्था

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आहुः **एवम्** इति. **उक्तरूपस्य** इति. गृहिणः इति अर्थः. साधनेन अलभ्यत्वे प्रमाणम् आहुः **अतएव** इति. **औत्सर्गिकम्** इति. अधिकारसामान्यतः प्राप्तं हेतुम् आह इति अर्थः. सूत्रे **तदवस्था** इति पदस्य मुक्त्यवस्थापरत्वम् आहुः **न सः पुनः** इति. ननु एवंरीत्या सार्वदिकत्वेन निर्धारं क्रियमाणे मुक्त्यनन्तरं किमपि नास्ति इति आशङ्कते **यद्यपि** इति. नतु **तदनियमः** इति. तथाच नञ्द्वयेन मुक्तिफलाभावः इति अर्थः. परिहरन्ति तथापि इति. “**तस्य तावदेव चिरम्**” (छान्दो.उप.१०।१५।१) इति, अथच “**न स पुनरावर्तते**” (छान्दो.उप. ८।१५।१) इति श्रुतिः. तत्र पूर्वश्रुतौ मोक्षानन्तरं शीघ्रं पुरुषोत्तमप्राप्तिः वर्णिता. इदं च फलं भेदसाध्यम्. उतरत्र श्रुतौ पुनरावृत्तिनिषेधेन एकीभावः प्रतिपादितइति विरोधः. तदभावाय सामान्यविशेषपरत्वं स्वीकर्तव्यम् उभयोः इति अर्थः. **तदवस्था** इति. मोक्षावस्था औत्सर्गिकी तत्फलन्तु विशेषरूपम् इति अर्थः. ननु एवं चेत् सूत्रे **अनियमग्रहणं** किमर्थम्? अतः आहुः **तत्फलन्तु** इति.

अत्यनुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशने भवति इति स्वाभिप्रायं प्रकटीकुर्वता बादरायणेन **अनियमः** इति उक्तम्. एवं सति “न स पुनरावर्तते” इति श्रुतिः प्रपञ्चे पुनरावृत्तिं निषेधति, नतु तदतीतेऽपि इति ज्ञेयम्. समाप्तिज्ञापनाय आवृत्तिः.

अथवा. श्रुतौ **तदवस्थावधृतेः** हेतोः अस्माकमपि तदवस्थावधृतिः यतो अतः फलानियमनिश्चयोऽपि इति अर्थः. एवं सति मुक्तिपर्यन्तं साधनं भगवद्भावः इति निर्णयः सम्पन्नः॥५१॥१॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे नवमं मुक्तिफलानियमः इति अधिकरणम्॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

स्वीकार्या इति अर्थः. नतु तदतीते अक्षरातीते पुरुषोत्तमे पुनर्गमनं न निषेधति इति अर्थः. **समाप्तिज्ञापनाय** अध्यायसमाप्तिज्ञापनाय. **आवृत्तिः** तदवस्थावधृतेः इति अस्य आवृत्तिः.

आवृत्तेः अर्थविशेषं द्योतयितुम् आहुः **अथवा** इत्यादि. श्रुतौ “तस्य तावदेव चिरम्” (तत्रैव ६।१४।२) इति श्रुतौ. **तदवस्थावधृतेः** पुरुषोत्तममुक्त्यवस्थानिर्णयात्. **तदवस्थावधृतिः** पुरुषोत्तममुक्तिनिर्णयः. **फलानियमनिश्चयः** सामग्रीनियम-निश्चयाभावाद् फलानियमनिश्चयः इति अर्थः. **एवं सति** उक्तश्रुत्योः अविरोधे सम्पादिते सति. **मुक्तिपर्यन्तं** पुरुषोत्तममुक्तिपर्यन्तम्. **भगवद्भावे** पुरुषोत्तमीय-सर्वात्मभावे सति सम्भवति न अन्यथा इति अर्थः॥५१॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपं मुक्तिफलम् इति अर्थः. ननु वरणे भेदः सिद्ध्यति तेन च आवृत्तिः सिद्धा इति “न स पुनरावर्तते” इति श्रुतिविरोधः इत्यतः आहुः **एवं सति** इति. एतेन प्रतिपद्यमाना “इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते” (छान्दो.उप.४।१५।६) इति उपकोसल-ब्राह्मणे विशेषनिर्देशात् प्रपञ्चे पुनरावृत्तिनिषेधः नतु प्रपञ्चातीतेऽपि इति अर्थः.

पूर्वव्याख्याने विशेषो नास्ति इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इति. श्रुतौ “न स पुनरावर्तते” इति श्रुतौ. **तदवस्था** इति. मोक्षावस्थावधृतेः इति अर्थः. **इति अर्थः** इति. सूत्रार्थः इति अर्थः. **एवं सति** इति. **भगवद्भावे** इति सप्तमी. एवञ्च भगवद्भावे पुरुषोत्तमप्राप्तौ मुक्तिपर्यन्तसाधनम् इति सिद्धम्॥५२॥

इति श्रीमन्मुकुन्दरायसहजमाधुरीपरमानिर्वचनीयसरसवदनतामरससुधाहृदावगाहि-

श्रीमदाचार्यपदाब्ज-कृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-

ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः
समाप्तो अयम् तृतीयो अध्यायः ॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति श्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुत-श्रीगोपालजीकृते
ब्रह्मसूत्राणुभाष्यपदप्रदीपे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः चरणः ॥४॥
समाप्तो अयं तृतीयो अध्यायः ॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्

महाराजयदुनाथकुलोद्भव-श्रीगोस्वामिश्रीगोपालात्मज-श्रीगिरिधरविरचिते
अणुभाष्यविवरणे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

